

शारीरिक चित्र

ये चित्र अनेक रङ्गों में आफ्लैट प्रेस से बहुत ही आकर्षक तैयार कराये गये हैं। इन चित्रों का साइज एक समान २० इन्च चौड़ाई तथा ३० इन्च लम्बाई है। ऊपर नीचे लकड़ी लगी है, कपड़े पर मढ़े हैं तथा चिकित्सालय में टांगने पर उसकी शोभा बढ़ाने वाले हैं। सभी विवरण हिन्दी में लिखा गया है—

नं० १—अस्थि पञ्जर—इस चित्र में सिर से लेकर पैर तक की सभी अस्थियों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से दर्शाया गया है। हाथ, अंगुली, रीढ़, छाती की सभी अस्थियां स्पष्ट समझ सकते हैं। मूल्य ५.००

नं० २—रक्त परिभ्रमण—इस चित्र में शुद्ध-अशुद्ध रक्त की घमनी एवं शिरायें अपने प्राकृतिक रङ्गों में दर्शाई हैं। अणु में रक्तभ्रमण का प्रथक् चित्रण किया गया है। एक हाथ और एक पैर में शिरायें दर्शाई गई हैं। मूल्य ५.००

नं० ३—वात नाड़ी संस्थान—इस चित्र में सम्पूर्ण वातनाड़ी मंडल (Nervous System) का सुन्दर व स्पष्ट चित्रण किया गया है। ऊर्ध्वग-वात नाड़ी तथा सुपुम्ना और मस्तिष्क सम्बन्ध का चित्रण प्रथक् किया गया है। चित्र अपने ढङ्ग का निराला है। मूल्य ५.००

नं० ४—नेत्र रचना एवं विकृति—इसमें प्रथक्-प्रथक् ६ चित्र हैं। १-दक्षिण चक्षु-इसमें चक्षु के बाह्य अवयव दर्शाये गये हैं। २-पटलों और कोष्ठों को दिखाने के लिये चक्षु का क्षितिज काट ३-चक्षु से सम्बन्धित नाड़ी ४-नेत्र चालनी पेशियां ५-दृष्टिभेद (दर्शन-सामर्थ्य) ६-साधारण स्वस्थ नेत्र एवं दृष्टि विकृति। इन चित्रों से नेत्र विषयक सम्पूर्ण विवरण स्पष्ट समझ में आयेगा। मूल्य ५.००

चारों चित्र एक साथ मंगाने पर मूल्य केवल १६.००

नोट—सादा बिना कपड़ा-लकड़ी लगे चित्र शीशा में मढ़ने के लिये १ चित्र ४.००, चारों मंगाने पर १२.००

वैद्यों के लिये आवश्यक

रोगी रजिष्टर—हर वैद्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने रोगियों का विवरण नियमित रूप से लिखे यह चिकित्सक की अपनी सुविधा तथा कानूनी दृष्टि दोनों प्रकार से आवश्यक है। २०० पृष्ठों के ग्लेज कागज के सजिल्द 'रोगीरजिष्टर' हमने तैयार किए हैं जिनमें आवश्यक कालम दिये हैं। मूल्य ३.५०

रोगी प्रमाणपत्र पुस्तिका—रोगियों को अवकाश प्राप्ति के लिये प्रमाणपत्र देने के फार्म ग्लेज कागज पर दो रङ्गों में तैयार किये हैं। प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.०० मात्र। अंग्रेजी अथवा हिन्दी में बढ़िया कागज पर बड़े साइज में दो रङ्गों में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

स्वस्थ प्रमाणपत्र पुस्तिका—सरकारी कर्मचारी बीमार होने के कारण अवकाश लेते हैं। स्वस्थ होने पर कार्य पर पहुंचने पर उन्हें वे स्वस्थ हैं, इस विषय का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना होता है। वैद्य इस पुस्तिका को मंगाकर स्वस्थ-प्रमाणपत्र आसानी से दे सकेंगे। ५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मूल्य १.००, अंग्रेजी अथवा हिन्दी में बढ़िया कागज पर बड़े साइज में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

रोगी व्यवस्थापत्र—रोगी के लक्षण, तारीख, औषधि आदि इन फार्मों पर लिखकर रोगी को दे दीजिये। वे रोगी रोजाना या जब औषधि लेने आयेंगे आपको यह फार्म दिखा देंगे। इससे जनका पहिला पूरा हाल आपके सामने आ जायगा। साइज २०×३०=३२ पेजी। मूल्य ०.३७ प्रति पैकडा।

आघात प्रमाणपत्र—चोट लग जाने पर चिकित्सक को प्रमाणपत्र देना होता है। इस फार्म पर आप यह प्रमाणपत्र सुगमता से दे सकेंगे। फुलस्केप साइज के ३४ प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मूल्य १.००

तापमान चार्ट-(टेम्परेचर चार्ट)—इससे रोगियों का तापमान अंकित करने में बड़ी सुविधा रहती है। इस चार्ट पर दिन में समय का तापमान १२ दिन तक अंकित किया जा सकेगा। अन्य निदान विषयक आंकड़े भी लिखे जा सकते हैं। मूल्य २५ चार्ट का ५.०० मात्र।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

पठनीय एवं संग्रहणीय

उपयोगी पुस्तकें

निम्नांकित पुस्तकें विद्वान एवं अनुभवी लेखकों द्वारा लिखी हुई एवं बहु प्रचलित हैं। इन पुस्तकों को आयुर्वेद-चिकित्सकों को अपने यहां रखना चाहिये तथा पढ़ कर लाभ उठाना चाहिये।

रसतंत्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह—इस पुस्तक में आयुर्वेद की प्रचलित प्रायः सभी औषधियों के प्रयोग, निर्माण विधि, मात्रा, अनुपान, प्रयोग विधि तथा गुणानुगुण विवेचन विस्तार से दिया है। पुस्तक के अनेक संस्करण हुये हैं तथा इसका प्रचार भी अत्यधिक हुआ है। पुस्तक सभी दृष्टि से उपयोगी और संग्रहणीय है। २ भाग हैं मूल्य—प्रथम भाग सजिल्द ११.०० अजिल्द ६.००, द्वितीय भाग सजिल्द ७.५० अजिल्द ६.००

चिकित्सा तत्वप्रदीप—इस ग्रंथ में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक रोग निदान, रोग सम्प्राप्ति, लक्षण, अवस्था, उपद्रव, चिकित्सोपयोगी सूचना, आयुर्वेदिक चिकित्सा, एलोपैथिक प्रयोग, पश्यापश्या का वर्णन किया है। चिकित्सोपयोगी अन्य विषय भी विस्तार से समझाये हैं। यह विशाल ग्रंथ चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। अनेक चित्र भी दिये हैं। इसके भी २ भाग हैं मूल्य प्रथम भाग सजिल्द १०.५० अजिल्द ६.०० द्वितीय भाग सजिल्द ६.५० अजिल्द ८.००

नेत्र रोग विज्ञान—अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। वयोवृद्ध लेखक ने अपने जीवन के ४० वर्षों के अनुभव एवं अपने उच्च ज्ञान भण्डार को इसमें संजोया है। लगभग २५० चित्र हैं। सजिल्द पुस्तक मूल्य १५.००।

सिद्ध परीक्षा पद्धति—इस ग्रंथ में क्रियात्मक रोग निदान का विस्तार वर्णन है। लगभग १२० चित्र हैं। मूल्य ६.००

गांवा में औषधि रत्न—तीन भाग—इस पुस्तक में सरलता से मिलने वाली बनस्पतियों का विस्तृत वर्णन, विभिन्न रोगों पर सैकड़ों उपयोगी सरल प्रयोगों का संग्रह दिया है। ग्रामीण चिकित्सकों एवं पठित ग्रहस्थियों के लिये उपयोगी पुस्तक है। प्रथम भाग में ८८, द्वितीय भाग में १२८ तथा तृतीय भाग में १४० बनस्पतियों का वर्णन है। मूल्य—प्रथम भाग २.००, द्वितीय भाग ३.५०, तृतीय भाग ४.५०

ज्वर विज्ञान—सभी प्रकार के ज्वर तथा उनसे होने वाले विविध उपद्रवों का विस्तृत वर्णन तथा सफल चिकित्सा विधि जानने के लिए इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। मूल्य ३.००

अन्य उपयोगी पुस्तकें

नित्योपयोगी चूर्ण संग्रह	१.२५	स्वास्थ्य विज्ञान	१.२५
नित्योपयोगी गुटिका संग्रह	२.००	रसोपनिषत्	५.००
नित्योपयोगी काथ संग्रह	१.२५	संक्षिप्त औषधि परिचय	०.६२
रस हृदय तंत्रम्	५.००	श्रीध न्वन्तरि पूजा कथादर्श	०.७५
प्रताप कण्ठाभरण	१.२५	रस शास्त्र प्रवेशिका	२.००
भूलोक में अमृत गाय का दूध	०.५०		
भारतीय जनता का स्वास्थ्य	०.५०	स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विषयक पुस्तकों का	
माधव निदान (मूल मात्र)	१.५०	विशाल संग्रह हमारे यहां है। सूचीपत्र मंगावें।	

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

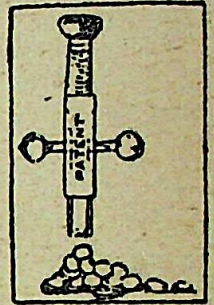
यह सर्जरी बक्स इस उद्देश्य से बनाया गया है कि चिकित्सक बाहर जाते समय इसे अपने साथ ले जा सकें। इसका साइज ७। इंच, चौड़ाई ४। इंच तथा ऊंचाई १ इंच है। इसमें निम्न उपकरण हैं—

चीमटी ४ इंची, चीमटी ५ इंची, चाकू सीधा ५ इंची, चाकू टेढ़े ब्लेड वाला ५ इंची, गला व जवान देखने की जीबी, कैथीटर रबड़ का, कैची ४ इंची, कैची ५ इंची—प्रत्येक एक एक, घाव में डालने की सलाई (एषणी शलाका) दो।

इस प्रकार उपरोक्त दस यंत्र शस्त्र इस बक्स में हैं। बक्स पर ऊपर सुन्दर मजबूत आइल क्लाय चढ़ाया गया है। हरेक चिकित्सक के लिये उपयोगी है। मूल्य उपरोक्त यंत्र शस्त्र सहित केवल १४.००, पोस्ट—पैकिंग व्यय लगभग २.००

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ [अलीगढ़]

निकल पोलिस की हुई बहुत उत्तम, टिकाऊ एवं सुन्दर मशीन निर्माण कराई हैं। इससे तीन साइज की टिकिया (२ रत्ती, ४ रत्ती, ६ रत्ती की) बनाई जा सकती हैं। सामान्य व्यक्ति भी बड़ी आसानी से टिकिया सकते हैं। बड़ी मांग है। आप भी एक मशीन मंगा लीजियेगा मूल्य ११.००, पोस्ट एवं पैकिंग व्यय लगभग १.२५ प्रथक्।



पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ [अलीगढ़]

पत्थर के खरल

साधारण मुलायम औषधियां घोटने के लिये कसौटी पत्थर के खरल उत्तम तथा सस्ते रहते, मोतिया पत्थर के खरल कड़े तथा साधारण दवा घोटने के लिये उपयोगी हैं।

मोतिया से अधिक कड़ा तथा कम घिसने वाला पत्थर तामड़ा होता है। विविध पिण्डी घोटने के लिये इनका उपयोग करें।

तामड़ा पत्थर से भी अधिक उत्तम व न घिसने वाला हंसराज पत्थर सर्वोत्तम है।

—मूल्य तथा साइज का विवरण—

हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी	हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी
३ इंची	×	×	×	१० इंची	३८.००	२४.००	११.००
४ इंची	१२.००	८.००	×	११ इंची	४४.००	२८.००	१५.००
५ इंची	१४.००	९.००	×	१२ इंची	५०.००	३२.००	१८.००
६ इंची	१६.००	११.५०	४.००	१३ इंची	५६.००	३६.००	२४.५०
७ इंची	२३.००	१४.००	५.००	१४ इंची	६४.००	४२.००	२८.५०
८ इंची	२६.००	१७.००	६.५०	१५ इंची	७६.००	४६.००	३५.५०
९ इंची	३३.००	२०.००	८.५०				

हंसराज पत्थर के खरल १२ इंच तक के बना कर तैयार रखे जाते हैं। बड़े खरल का आडर आने पर ११-२ माह में तैयार किया जाता है। १५ इंची से बड़े किसी भी पत्थर के खरल के मूल्य पत्र डालकर मालूम कर लें। खरलों का आर्डर देते समय अपने पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें तथा चौथाई रकम मनीयार्डर से पेशगी भेजें।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

एजेन्सी लीजियेगा

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित अत्युत्तम आयुर्वेदिक और पेटेन्ट औषधियों की एजेंसी लेकर लाभ उठावें। थोड़ा रुपया लगाकर जीविका उपार्जन का उत्तम एवं निरापद साधन है।

- विश्वस्त उपयोगी औषधियां
- सुन्दर पैकिङ्ग
- उचित मूल्य
- लाभप्रद एजेंसी नियम

शीघ्र ही पत्र डालकर नियमादि मंगावें।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

धन्वन्तरि के विशेषांक

धन्वन्तरि के अब तक लगभग ६० विशेषांक प्रकाशित हुए हैं। अपनी उपयोगिता के कारण विशेषांक शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। जो विशेषांक अभी शेष हैं उनका विवरण इसी विशेषांक के अन्त में दिया गया है। उसे पढ़ें तथा जो विशेषांक आपके पास न हों शीघ्र मंगालें। इनके भी शीघ्र समाप्त हो जाने की सम्भावना है। अन्त में लगी सूची में प्रकाशित मूल्य पर धन्वन्तरि के ग्राहकों को (विशेषांकों पर) २५ % कमीशन दिया जाता है।

पोस्ट व्यय पृथक् लगाया जायगा।

शीघ्रता करें

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

पूर्ण विश्वस्त सर्वोत्तम शिलाजीत नं० १

सूर्यतापी

शिलाजीत पत्थर मंगाकर हम अपनी देख-रेख में अत्युत्तम शिलाजीत निर्माण करते हैं। किसी भी प्रकार की शंका न करते हुए आवश्यक-तानुसार शिलाजीत हमारे यहां से मंगाइयेगा।

मूल्य १ सेर ६५.०० ५ तोला ४.२५
बैद्यों के लिये रियायती मूल्य पत्र
डालकर मालूम करें।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

दो उपयोगी पुस्तकें

१. वैज्ञानिक प्राणायाम रहस्य—लेखक श्री प्रो. अशोककुमार सिंह वेदालंकार प्रभाकर एम० ए०।
पृष्ठ संख्या १०८, चित्र संख्या २३ सजिल्द मूल्य २.२५, रियायती मूल्य १.५०

२. स्वप्नदोष और वीर्य—लेखक श्री अमरचंद्र पाण्डेय। स्वप्नदोष और वीर्य का विशद विवेचन और चिकित्सा, पृष्ठ संख्या १३१, चित्र ६, सजिल्द मू० २.००, रियायती मू० १.२५

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

रुदन्ती-फल

यह फल राजयक्षा (तपैदिक) में चिकित्सार्थ प्रयुक्त होते हैं। धन्वन्तरि के सितम्बर एवं अक्टूबर के १६६१ के शब्दों में श्री कविराज जगन्नाथ वैद्य वाचस्पति का लेख 'आधुनिक-रुदन्ती' प्रकाशित किया गया था। उस लेख को पढ़कर अनेक पाठकों ने इसके फलों की मांग की थी लेकिन उस समय यह फल हमारे यहां प्राप्य नहीं थे। अब यह फल हमने मंगा लिये हैं, जिनको आवश्यकता हो वह शीघ्र ही मंगा लें। बहुत थोड़े फल ही हमें प्राप्त हो सके हैं। कीमत ४०.०० रु०/शेर।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]

असली मोतीचूरा

भस्म बनाने के लिए तथा अपनी औषधियों के प्रयोग के लिए मोतीचूरा हमसे मंगाइये और सर्वोत्तम गुणों के साथ-साथ औषधियों की लागत में क़िफायत कीजिये। बम्बई में, मोती बीधते समय जो चूरा निकलता है उसे हम संग्रह कराते हैं। यह निःसन्देह असली मोतियों का ही होता है।

असली मोतीचूरा नं० १—१ तोला १०.००

असली मोतीचूरा नं० २—१ तोला ८.००

पता—दाऊ मंडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

कास रोगांक (लघु विशेषांक)

आगामी वर्ष का लघु विशेषांक 'कास रोगांक' होगा। इसमें कास के विभिन्न प्रकार, रोगों में लक्षण रूप में कास—इन सभी का वर्णन, सफल चिकित्सा विधि एवं उत्तमोत्तम प्रयोगों का वर्णन किया जायगा। विद्वान लेखकों और अनुभवी चिकित्सकों से साग्रह प्रार्थना है कि अपने अनुभवपूर्ण एवं विवेचनापूर्ण लेख भेज कर सदैव की भांति हमको सहयोग देकर आभारी करें।



पक्की सफेद मशीन मेड
शी-शी - बोतल, कार्क
लेबिल कालेण्डर और शोबोर्ड के लिए याद रखिये

श्री-शी-शी कार्क सिस्टीम
के ३५/३५ ग्वालियर साहूजी, वासणसी (उ.प्र.)

सफ़ेद कोढ़ के दाग़

अच्छा वही है जिसको अच्छा कहे जमाना । अनुभव ही सबसे बड़ी सत्यता है ।

सन् १९५३ से हजारों लोगों ने इसका अनुभव करके लाभ उठाया है ।

आप भी इस दवा से लाभ उठावें । दवा का मूल्य ६ रु. । डा. ख. १ रु. । विवरणपत्र मुफ्त मंगावें ।

एक्जिमा—(उकवत, खजूआ, विचर्चिका) पानी बहता हो या सुका हो इस हठीली व्याधि पर यह परीक्षित दवा है । आपने ईस पर कई दवाईयां मंगाकर, लाभ न हुवा तो यह दवा मंगाये । मूल्य ५ रु०

दमा (श्वास)—नया हो या पुराना हो उस पर यह अत्यंत गुणकारी है । हजारों रोगियों को इसीसे लाभ होकर आराम मिला है । मूल्य ५ रु०

वधाशीर की दवा—इस कष्टमय व्याधी पर बहुत गुणकारी है । मू० ५ रु०

वैद्य बी. आर. बोरकर, 'आयुर्वेद भवन (धन्व०)'

मु. पो. मंगरुलपीर जि. अकोला (महाराष्ट्र)

धन्वन्तरि की फाइलें

धन्वन्तरि की पिछले सभी वर्षों की फाइलें समाप्त हो गई हैं । केवल वर्ष २१ (सन् १९४६) की कुछ फाइलें अभी अभी हमको मिल गई हैं । इसमें "रक्त-रोगांक" नामक विशेषांक तथा १० साधारण अङ्क हैं । मू० ५.००, पोस्ट व्यय ०.७५ । ५.७५ मनियार्डर से भेजकर फाइल मंगालें । थोड़ी प्रति शेष हैं ।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़, (अलीगढ़)

केशर-कस्तूरी आदि

उत्तम क्वालिटी, उचित मूल्य

कस्तूरी नं. १ सर्वोत्तम	१ तोला	१००.००
कस्तूरी नं. २ काश्मीरी	१ तोला	६०.००
केशर काश्मीरी	१ तोला	१५.००
केशर चूरा (औषधि निर्माण में डालने के लिये उपयोगी)	१ तोला	८.००
अम्बर	१ तोला	३६.००
गौलोचन	१ तोला	४०.००

एक बार परीक्षा अवश्य करें ।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ अलीगढ़

आयुर्वेद के उत्तमोत्तम पठनीय ग्रन्थ

प्रत्येक ग्रन्थ उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा संपादित है। वैद्यों तथा चिकित्सक-समुदाय को चाहिए कि इन ग्रन्थों की एक-एक प्रति मँगवा कर अवकाश के समय उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अपने चिकित्सा-व्यवसाय में भी पूर्ण उन्नति कर यश के भागी बनें।

प्रत्येक ग्रन्थ पर भारत के मर्मज्ञ विशिष्ट विद्वानों, पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षण-संस्थाओं द्वारा अनेकानेक उत्तम-उत्तम सम्मतियाँ प्राप्त हुई हैं।

—सम्पादक

- १ अगदतंत्र—डा० रमानाथ द्विवेदी एम. ए., ए. एम. एस.। इस छोटी-सी पुस्तिका में लेखक ने विस्तृत ज्ञान भर दिया है। वैद्यों तथा विद्यार्थियों के लिए पठनीय पुस्तक है। सब कालेजों के कोर्स में है ०-७५
- २ अञ्जन निदानम्—सान्त्वय विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित। आयुर्वेद शास्त्र में निदान के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ १-००
- ३ अभिनव वृद्धी दर्पण—(सचित्र) सम्पादक—वनस्पति-विशेषज्ञ श्री रूपलालजी वैश्य। सहज में पहचानने योग्य अनेकानेक चित्रों से विभूषित। वनस्पतियों से चिकित्सा का सर्वोत्तम ग्रन्थ। १०-००
- ४ अभिनव विकृति विज्ञान—(सचित्र) आयुर्वेदाचार्य श्रीरघुवीर प्रसाद त्रिवेदी। २२-००
- ५ अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान—(सचित्र) आचार्य प्रियव्रत शर्मा। इस ग्रन्थ में आधुनिक शरीर-क्रियाविज्ञान के सम्पूर्ण विषयों का वैज्ञानिक शैली से संकलन किया गया है। परिष्कृत संस्करण १०-००
- ६ अष्टाङ्गसंग्रह—आयुर्वेद बृहस्पति श्री गोवर्द्धन शर्मा छांगाणी कृत 'अर्थप्रकाशिका' हिन्दी टीका विशेष वक्तव्य सहित। छांगाणी जी ने वक्तव्य में स्वानुभूत योगों का भी उल्लेख कर दिया है। सूत्रस्थान। ८-००
- ७ अष्टाङ्गहृदयम्—(गुटका) भागीरथी टिप्पणी सहित। ४-००
- ८ अष्टाङ्गहृदयम्—विद्योतिनी हिन्दी व्याख्या विमर्श सहित। व्याख्याकार—श्री अत्रिदेवगुप्त विद्यालङ्कार। आचार्य वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय, द्वारा संशोधित परिवर्द्धित सटिप्पण द्वितीय संस्करण। १५-००
- ९ आयुर्वेद प्रकाश—आचार्य गुलराज शर्मा कृत संस्कृत-हिन्दी-व्याख्या सहित। परिवर्द्धित संस्करण यन्त्रस्थ
- १० आयुर्वेद विज्ञान—विद्योतिनी हिन्दी टीका परिशिष्ट सहित। २-००
- ११ आयुर्वेद में सूत्रोत्पत्ति की कल्पना। (इंग्रेजी) डा० घाणेकर। ०-१५
- १२ आयुर्वेदीय परिभाषा—गिरिजादयाल शुक्ल विरचित अभिनव प्रकाशिका हिन्दी टीका-परिशिष्ट सहित १-२५
- १३ आयुर्वेदीय यन्त्र शस्त्र परिचय—(Ayurvedic Surgical Instruments) ८५ चित्रों से विभूषित। आयुर्वेदाचार्य सुरेन्द्रमोहन बी. ए.। १-७५
- १४ आसवारिष्टसंग्रह—आसव-अरिष्ट की सर्वोत्तम पुस्तक। १-७५
- १५ औपसर्गिक रोग—डा० घाणेकर। इस आवृत्ति में अनेक नये रोग समाविष्ट किये गये हैं। प्रथम भाग १०-००
- १६ काकचण्डीश्वरकल्पतंत्रम्—हिन्दी टीका सहित। यन्त्रस्थ
- १७ कामसूत्रम्—जयमंगला संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित। यन्त्रस्थ
- १८ काय-चिकित्सा—आयुर्वेदाचार्य गङ्गासहाय पाण्डेय ए. एम. एस.। शीघ्र प्रकाशित होगी।
- १९ काय चिकित्सा—आयुर्वेद बृहस्पति श्रीरामरत्न पाठक। शीघ्र प्रकाशित होगी।
- २० काश्यपसंहिता—श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार कृत विद्योतिनी हिन्दी टीका, एवं राजगुरु हेमराज कृत संस्कृत-हिन्दी विस्तृत उपोद्धात सहित। विद्वानों एवं चिकित्सकों के लिए संग्रहणीय है। १६-००
- २१ कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहित)—आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस.। समस्त बाल-रोगों पर प्राच्य-पाश्चात्यचिकित्सा विज्ञान पर आधारित सर्वाङ्गपूर्ण पाठ्य-स्वीकृत ग्रन्थ। ८-००
- २२ क्लिनिकल पैथोलोजी—(बृहत् मल-मूत्र-कफ-रक्तादि परीक्षा)। डा० शिवनाथ खन्ना। १०-००

- २३ काथमणिमाला—आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध समस्त काथों का संग्रह हिन्दी टीकासहित १-५०२
- २४ गूलर गुण विकास—श्री चन्द्रशेखरधरमिश्र । गूलर के विविध गुणों के वर्णन चिकित्सा सहित १-००
- २५ चरकसंहिता—मूल । भागीरथी टिप्पणी सहित । गुटका संस्करण । यन्त्रस्थ
- २६ चक्रदत्त—नवीन वैज्ञानिक भावार्थसन्दीपनी भाषाटीका एवं विविध परिशिष्ट सहित । तृतीय संस्करण १०-००
- २७ चिकित्साशब्दकोश—(Chowkhamba Medical Dictionary) यन्त्रस्थ
- २८ चिकित्सादर्श—वैद्य राजेश्वरदत्त शास्त्री । औषध व्यवस्था लेखन अथवा नुसखा नवीसी का अनुपम ग्रन्थ । १-२ भाग १०-५०
- २९ जीवाणु विज्ञान—डा० घाणेकर । इस पुस्तक में तृणाणु (Bacteria) कीटाणु (Protoza) विषाणु (Virus) इत्यादि जीवाणुओं की विभिन्न श्रेणियों का विवरण उनके प्रकार उनसे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा इत्यादि विषयों का समावेश किया गया है । १०-००
- ३० तापमापन (थर्मामीटर)—डा० राजकुमार द्विवेदी । इस पुस्तक में यन्त्र परिचय तथा उनका पृथक्-पृथक् वर्णन, निर्माण, व्यवहार, तथा ज्वरों में तापक्रम की सारिणी आदि वर्णित है । ०-२५
- ३१ तुलसीविज्ञान—विविध रोगों पर तुलसी के ४३३ सफल सुलभ प्रयोगों का संग्रह । ०-५०
- ३२ क्षोषकारणत्वमीमांसा—आचार्य प्रियव्रत शर्मा एम. ए., ए. एम. एस. १-००
- ३३ द्रव्यगुण मंजूषा—आचार्य शिवदत्त शुक्ल ए. एम. एस. । प्रथम भाग २-००
- ३४ नव परिभाषा—कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास कृत हिन्दी टीका सहित । १-७५
- ३५ नव्य-चिकित्सा-विज्ञान—डा० मुकुन्दरवरूप वर्मा यन्त्रस्थ
- ३६ नव्य रोग निदानम् (माधवनिदान परिशिष्टम्)—इसमें माधवनिदानादि ग्रन्थों में लिखित रोगों के अतिरिक्त सम्पूर्ण नवीन रोगों का निदान सम्प्राप्ति-पूर्वरूप-लक्षण-साध्यासाध्यता आदि का विवेचन है ०-७५
- ३७ नाड़ी परीक्षा—श्री ब्रह्मशंकरमिश्र कृत वैद्यप्रिया हिन्दी टीका सहित । ०-२५
- ३८ नाड़ी विज्ञानम्—आयुर्वेदाचार्य प्रयागदत्त जोशी कृत विबोधिनी विस्तृत हिन्दी टीका सहित । ०-२५
- ३९ नेत्ररोग विज्ञान—(सचित्र) श्रीविश्वनाथ द्विवेदी । इण्डियन मेडिसिन बोर्ड द्वारा पाठ्य स्वीकृत । १०-००
- ४० पञ्चभूत विज्ञान—कविराज उपेन्द्रनाथदास कृत हिन्दी टीका सहित । ४-००
- ४१ पञ्चविध कषाय-कल्पना विज्ञान—डा० अवधविहारी अग्निहोत्री । स्वरस, कर्क, काथ, हिम, फाण्ट इन पञ्चविध कषायों का प्राच्य, पाश्चात्य तथा यूनानी मतानुसार विवेचन ग्रन्थ का मुख्य विषय है । १-५०
- ४२ पदार्थ विज्ञान—डा० वागीश्वरदत्त शुक्ल बी. ए., ए. एम. एस. शीघ्र प्राप्त होगा
- ४३ पदार्थ विज्ञानम्—वैद्य सम्राट, पद्मभूषण, कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी । इस ग्रन्थ में सभी दर्शनों के विशिष्ट शास्त्रार्थों के साथ पदार्थों का विवेचन पढ़ कर आप मंत्रमुग्ध हो उठेंगे । ३-००
- ४४ परिभाषा प्रबन्ध—आयुर्वेद बृहस्पति पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल । परिभाषा सम्बन्धी सभी आवश्यक विषयों का प्राच्य तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण से ग्रन्थ में १७ अध्यायों में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है २-५०
- ४५ प्रत्यक्ष ओषधि निर्माण—आयुर्वेदाचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी । ओषधि बनाने में जो-जो कठिनाइयाँ, हानि, लाभ या विशेषता मालूम होती हैं, विशद रूप से इसमें वर्णित हैं । ३-००
- ४६ प्रसूति विज्ञान—(सचित्र) [A Text book of Midwifery] आयुर्वेदबृहस्पति डा० रमानाथ द्विवेदी । अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक । द्वितीय संस्करण १०-००
- ४७ प्रारम्भिक उद्भिद् शास्त्र—वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर बलचन्त सिंह । आयुर्वेद के विद्यार्थियों एवं वैद्यों को उद्भिद् शास्त्र का जितना ज्ञान होना चाहिए, पर्याप्त वर्णन किया गया है । ४-५०
- ४८ प्रारम्भिक भौतिकी—श्री निहालकरण सेठी । भौतिक विज्ञान की पाठ्य स्वीकृत सर्वोत्तम पुस्तक ५-५०
- ४९ प्रारम्भिक रसायन—प्रो० श्री फूलदेवसहाय वर्मा । यह उन प्रारम्भिक पुस्तकों में है जिनके द्वारा हिन्दी माध्यम से 'रसायन-विषय' का पठन-पाठन किया जाता है । सभी कालेजों में पढ़ाई जाती है । ४-५०

- ५० प्लीहा के रोग और उनकी चिकित्सा—कविराज ब्रह्मानन्द चन्द्रवंशी । आयुर्वेदिक, एलोपैथी एवं
यूनानी मतानुसार रोग का निदान, लक्षण तथा चिकित्सा का सुन्दर वर्णन किया गया है । ०-३५
- ५१ फलसंरक्षण विज्ञान (Fruit Preservation)—डा० युगलकिशोर गुप्त । फलों से संरक्षण-क्रिया के
अतिरिक्त फलों की चटनी, अचार, मुरब्बा आदि बनाने की विधि भी समझाई गई है । १-००
- ५२ वस्तिशलाकाप्रवेश (पनिमा और केथेटर)—पुस्तक छात्रों, वैद्यों तथा इस विषय के अभ्यासियों के
लिए बहुत ही उपयोगी है । ०-४०
- ५३ बीसवीं शताब्दी की ओषधियाँ—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा । शीघ्र प्राप्त होगी
- ५४ भारतीय रसपद्धति—कविराज अग्निदेव गुप्त । भारतीय रसशास्त्र में धातुओं आदि का शोधन मारण एक
महत्त्व का विषय है । इस छोटी-सी पुस्तिका में यह सरलता से समझाया गया है १-५०
- ५५ भावप्रकाश—मूल मात्र । पूर्वाङ्क ३-०० मध्यमोत्तर खण्ड ७-०० संपूर्ण १०-००
- ५६ भावप्रकाश ज्वराधिकार—नवीन वैज्ञानिक विद्योतिनी भाषा टीका परिशिष्ट सहित । ४-००
- ५७ भावप्रकाश निघण्टु—(नवीन संस्करण) सम्पादक—डा० गंगासहाय पाण्डेय ए. एम. एस. । आयुर्वेदिक
कालेजों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर इस निघण्टु भाग की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है । ९-००
- ५८ भिषक् कर्मसिद्धि—डा० रमानाथ द्विवेदी यन्त्रस्थ
- ५९ भेल संहिता—श्री गिरिजा दयालु शुक्ल कृत टिप्पणी सहित । शोधपूर्ण संस्करण । १०-००
- ६० मदनपाल निघण्टु—मूल । टिप्पणी सहित । १-००
- ६१ मर्म-विज्ञान (सचित्र) आचार्य रामरत्न पाठक । आयुर्वेद में वर्णित १०७ मर्मों की सचित्र-विस्तृत
व्याख्या की गयी है । ३-५०
- ६२ माधव निदान—वैद्य उमेशानन्द शास्त्री कृत सुधालहरी संस्कृत टीका सहित । यन्त्रस्थ
- ६३ माधव निदान—सर्वाङ्गसुन्दरी हिन्दी टीका सहित ४-५०
- ६४ माधव निदान—मधुकोप संस्कृत व्याख्या, मनोरमा हिन्दी टीका सहित । ६-००
- ६५ मूत्र के रोग—डा० घाणेकर । (Diseases of urine, urinary system and allied
diseases) मूत्रविज्ञान सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ नवीन प्रकाशन । ६-००
- ६६ यकृत के रोग और उनकी चिकित्सा—वैद्य श्री सभाकान्त झा । इसमें यकृत, उसकी रचना, क्रिया,
उसके विकार, निदान, पूर्वरूप, संप्राप्ति, चिकित्सा, पित्ताशय और उसके विकारों का वर्णन है । २-००
- ६७ योग-चिकित्सा—अग्निदेव गुप्त विद्यालंकार । रोग की कौन सी अवस्था में, कौन-कौन सी ओषधियाँ
किस अनुपान से किस समय व्यवहार की जा सकती हैं यह इस पुस्तक का विषय है । ३-५०
- ६८ योगरत्नाकर—मूल । गुटका संस्करण । ६-००
- ६९ योगरत्नाकर—विद्योतिनी हिन्दी टीका सहित । कायचिकित्सा में जिन-जिन बातों का ज्ञान आवश्यक
है उन विषयों की आश्रय निधि इस ग्रन्थ में भरी पड़ी है । १८-००
- ७० रतिमञ्जरी—गद्य-पद्यात्मक हिन्दी अनुवाद सहित ०-४०
- ७१ रक्त के रोग—डा० घाणेकर । नवीन आवृत्ति । १०-००
- ७२ रसरत्नसमुच्चय—सुरलोज्ज्वला हिन्दी टीका सहित । अभिनव संस्करण । १०-००
- ७३ रसरत्नसमुच्चय—मूल । टिप्पणी सहित । मूल्य सुलभ संस्करण ३-०० उत्तम संस्करण ३-७५
- ७४ रसादि परिज्ञान—त्रयोवृद्ध एवं अनुभवी लेखक आयुर्वेद बृहस्पति पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने इस
पुस्तक में पट्टरसों के संबन्ध में पूर्ण विवेचन तथा उसके क्रमिक विकास का सरल भाषा में
प्रतिपादन किया है २-००

- ७५ रसाध्याय—संस्कृत टीका सहित । यह रसशास्त्र का अतिप्राचीन छोट्टा किन्तु उपयोगी अद्भुत ग्रंथ है १-००
- ७६ रसायन खण्ड (रसरत्नाकर का चतुर्थ खण्ड)—इसके रसायन तथा वाजीकरण तन्त्रों में बहुत से उपयोगी नूतन योगों का वर्णन किया गया है । ०-७५
- ७७ रसार्णव नाम रसतन्त्रम्—भागीरथी बृहद् टिप्पणी एवं विशेष विवरण से युक्त । कीमियागिरी, पारद के बंधन प्रयोग, यंत्र मूषाओं का वर्णन, पारद के संस्कार, रसादि शोधन-मारण आदि बताने वाली प्राचीनतम यह पुस्तक चिकित्सकों तथा छात्रों के लिए अत्यन्त महत्त्व की है ३-००
- ७८ रसेन्द्रसारसंग्रह—बालबोधिनी-भागीरथी टिप्पणी सहित । यन्त्रस्थ ६-००
- ७९ रसेन्द्रसारसंग्रह—(सचित्र) नवीन वैज्ञानिक रसचन्द्रिका हिन्दी टीका विमर्श परिशिष्ट सहित । ६-००
- ८० रसेन्द्रसारसंग्रह—(सचित्र) गूढार्थसंदीपिका संस्कृत व्याख्या सहित । व्याख्याकार-अम्बिकादत्त शास्त्री ५-००
- ८१ राजकीय ओषधियोग संग्रह—आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस. ७-००
- ८२ राष्ट्रिय चिकित्सा सिद्ध योग संग्रह—आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए. एम. एस. । इसमें सिद्ध कपाय, चूर्ण, तैल, घृत, अवलेह, गुटिका, रस आदि के गुण, अनुपान और निर्माण का पूर्ण विवरण है १-५०
- ८३ रोगनामावली कोष—वैद्य दलजीतसिंह । इस ग्रन्थ में आयुर्वेदीय, यूनानी, डाक्टरी रोगों के नाम और परिचय—संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में संग्रह हैं ३-५०
- ८४ रोगनिवारण—(Treatment) डा० शिवनाथ खन्ना ए. एम. बी. बी. एस. । १४-००
- ८५ रोग परिचय (Clinical Medicine)—डा० शिवनाथ खन्ना । इसमें रोगों की व्याख्या, वर्णन, कारक, मरक-विज्ञान, निदान, चिकित्सा आदि का वर्णन किया गया है । १२-७५
- ८६ रोगी परीक्षा (Physical Examinations)—डा० शिवनाथ खन्ना । पुस्तक में नवीन वैज्ञानिक-पद्धति के आधार पर रोगीपरीक्षा की विधियों का चित्रों तथा तालिकाओं द्वारा वर्णन है । ६-००
- ८७ वनौषधि चन्द्रोदय—इस विशाल निष्पण्डु ग्रंथ में भारतवर्ष में पैदा होने वाली समस्त वनस्पतियों, खनिज-द्रव्यों, विष-उपविषों के गुण-धर्मों का सर्वाङ्गीण विवेचन है । प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न भाषाओं में नाम, उत्पत्तिस्थान, आयुर्वेद, यूनानी और आधुनिक चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से उनके गुण-धर्मों का वर्णन, भिन्न-भिन्न रोगों पर उसके उपयोग, उस वस्तु के मेल से बनने वाले सिद्ध प्रयोगों का विवेचन बहुत ही सुन्दर तथा विस्तार से किया गया है । अपने विषय का अद्वितीय ग्रंथ है । पृथक्-पृथक् प्रत्येक भाग का मूल्य ५-०० तथा संपूर्ण ग्रंथ १-१० भाग का मूल्य ४०-००
- ८८ वनौषधि दर्शिका—वनस्पति विशेषज्ञ प्रोफेसर बलवन्त सिंह एम. एस. सी. । इसमें लगभग ३०० वनौषधियों का वैज्ञानिक विवरण संक्षिप्त रूप में दिया गया है । २-५०
- ८९ विषविज्ञान और अगदतन्त्र—डा० युगलकिशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी । इसमें उन विषैले द्रव्यों का वर्णन है जिनसे प्रायः दुर्घटनाएँ होती हैं और जिनका आत्महत्या या परहत्या के लिए व्यवहार किया जाता है । पुस्तक हर वैद्य के लिए पठनीय है । १-७५
- ९० वैद्यक परिभाषाप्रदीप—आयुर्वेदाचार्य प्रयागदत्त जोशी कृत प्रदीपिका हिन्दी टीका सहित द्वितीय संस्करण १-५०
- ९१ वैद्यकीय सुभाषितावली—डा० प्राणजीवन माणिकचन्द मेहता । वेद से लेकर वैद्यजीवन ग्रंथ तक में आये हुए आयुर्वेदिक सुभाषितों का संग्रह । मूल संस्कृत, अंग्रेजी अनुवाद सहित । २-००
- ९२ वैद्यजीवन—अभिनव सुधा हिन्दी टीका टिप्पणी सहित । टीकाकार—श्री कालिकाचरणशास्त्री ए. एम. एस. १-२५
- ९३ वैद्यसहचर—आयुर्वेदाचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी । लेखक के ४० वर्षों के लाभप्रद सिद्धयोगों का संग्रह ३-००
- ९४ व्यवहारायुर्वेद-विषविज्ञान-अगदतन्त्र—डा० युगल किशोर गुप्त एवं डा० रमानाथ द्विवेदी । ४-५०
- ९५ शल्य प्रदीपिका—(सचित्र) डा० सुकुन्दस्वरूप वर्मा । शल्यविज्ञान की उत्तम पुस्तक । १२-५०
- ९६ शल्य तन्त्र में रोगी परीक्षा (Clinical Methods in Surgery)—डा० पी. जे. देशपाण्डे ७-००

- ९७ शाङ्गधर संहिता—नवीन वैज्ञानिक विमर्शोपेत सुबोधनी हिन्दी टीका सहित । परिष्कृत नवीन संस्करण ५-००
- ९८ शालाक्य तन्त्र (निमित्ततन्त्र)—इस पुस्तक के ५ भागों में क्रमशः नासिका, शिर, कान, मुख एवं आँखों के रोगों के हेतु, निदान, सम्प्राप्ति आदि की विस्तृत विवेचना की गई है । २-००
- ९९ शिलाजीत विज्ञान—इसमें शिलाजीत का परिचय, शोधन, मारण, परीक्षण, प्रयोग तथा महत्त्वपूर्ण अनुभूत योगों का विशद वर्णन है । ०-७५
- १०० सिद्धभेषज संग्रह—आचार्य युगल किशोर गुप्त तथा डा० गंगासहाय पाण्डेय ए. एम. एस. । राजसंस्करण २-००
उत्तम संस्करण ८-०० सुलभ संस्करण ७-००
- १०१ सुश्रुतसंहिता—आयुर्वेदतत्त्वसंदीपिका हिन्दी टीका वैज्ञानिक विमर्श सहित । टीकाकार—कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री ए. एम. एस. । टीकाकार ने मूल संहिता के भावों को सरल भाषा में नवीन विज्ञान के साथ तुलना कर विषयों को अधिक स्पष्ट एवं बुद्धिग्राह्य बना दिया है । संपूर्ण ग्रंथ २४-००
- १०२ सुश्रुतसंहिता-शरीर स्थान—नवीन वैज्ञानिक 'प्रभा'-'दर्पण' हिन्दी व्याख्या सहित ३-५०
- १०३ सूचीवेद्य विज्ञान—डा० राजकुमार द्विवेदी । परिष्कृत द्वितीय संस्करण । १-५०
- १०४ सौश्रुती—डा० रमानाथ द्विवेदी । प्राचीन शल्यतन्त्र पर लिखा हुआ यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इस विषय की यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को क्रमबद्ध एवं आधुनिक विज्ञान से आलोकित सरल भाषा में प्रस्तुत किया है । द्वितीय संस्करण ८-५०
- १०५ स्टेथिस्कोप तथा नाडी परीक्षा—(सचित्र) इस पुस्तक में स्टेथिस्कोप की बनावट, परीक्षा, ध्वनिवर्णन आदि तथा नाडीपरीक्षा संबंधी सभी ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है ०-७५
- १०६ स्वस्थवृत्त समुच्चय—चरकाचार्य श्री राजेश्वरदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीका सहित । ६-५०
- १०७ स्वास्थ्य संहिता—हिन्दी टीका सहित । लेखक—कविराज नानकचन्द वैद्य शास्त्री । स्वास्थ्य विज्ञान के सभी सम्भावित प्रश्नों का विवेचन इस पुस्तक में किया गया है । २-५०
- १०८ स्वास्थ्यस्थान (स्वास्थ्यशिक्षापाठावली)—डा० घाणेकर यन्त्रस्थ
- १०९ हैजा (विसूचिका) चिकित्सा—इसमें हैजा का इतिहास, लक्षण, निदान, चिकित्सा और उससे बचने के उपाय तथा कुछ अनुभूत नवीन पेटेंट औषधियों का भी वर्णन किया गया है । ०-७५

आयुर्वेद-प्रदीप

(आयुर्वेदिक-एलोपैथिक गाइड)

(संशोधित, परिचर्चित, नवीन संस्करण)

डा० राजकुमार द्विवेदी, डा० गंगासहाय पाण्डेय
पृ० सं० लगभग ९००, उत्तम कागज, नया टाइप,
मनोरम आवरण । परिष्कृत संस्करण मूल्य १०-००

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राच्य तथा पश्चात्य विषयों का समन्वय, इतिहास, प्रसार अंग तथा धातुपदार्थों की रचना एवं कार्य, विभिन्न परीक्षाएँ, विटामिन, नाना प्रकार के पथ्य एलोपैथिक-आयुर्वेदिक सम्पूर्ण औषधों के निर्माण प्रयोग एवं गुणधर्म-विज्ञान, हिन्दी-अंगरेजी नामावली, रोगों की उभयविध चिकित्सा आदि अनेक विषय वर्णित हैं ।

आयुर्वेद तथा एलोपैथी से संबंधित कोई विषय छूटा नहीं है । सहस्रानुभूत योगों की प्रधानता है । हम-आप इसे 'गागर में सागर कह सकते हैं' ।

द्रव्यगुण-विज्ञान

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इसके प्रथम भाग के द्रव्यखण्ड, कर्मखण्ड एवं कल्प-खण्ड में तत्तद्विषयों का प्राचीन एवं नवीन दृष्टियों से अतिसूक्ष्म विवेचन है । द्वितीय भाग में औद्भिद और जांगम तथा तृतीय भाग में पार्थिव द्रव्यों का समावेश है । प्रत्येक द्रव्य के परिचय (शास्त्रीय गण, वानस्पतिक कुल, वैज्ञानिक नाम, विभिन्न प्रादेशिक नाम, स्वरूप, जातियाँ, उत्पत्तिस्थान, रासायनिक संघटन), गुण (गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव), कर्म (विभिन्न शरीर-दोषों एवं शरीर-संस्थानों पर होने वाले की व्याख्या) तथा प्रयोग (विधि, प्रयोज्य अङ्ग, मात्रा, विशिष्ट योग, अहित प्रभाव, निवारण एवं प्रतिनिधि-) विस्तार के साथ वर्णित हैं । यथास्थल आधुनिक एवं यूनानी विचारों का भी समावेश है ।

१-३ भाग, दो जिल्दों में मूल्य १८-००

(संशोधित परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण)

‘मधुकोश’ तथा सविमर्श ‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत संस्करण में माधवनिदान का मूल पाठ, विशद भाषार्थ, संस्कृत ‘मधुकोश’ टीका, मधुकोष टीका की हिन्दी व्याख्या, वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक विवेचन सहित विशद विमर्श, मूल श्लोकों का ग्रन्थादिनिर्देश एवं नवीन रोगों का परिशिष्ट श्लोकों में भाषार्थ युक्त दिया गया है। प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतियों में एकरूपता स्थापित करने के प्रयास में यह संस्करण अद्भुत सहायक है। सम्पूर्ण ग्रंथ बड़े साईज के हजार पृष्ठों से अधिक है।

मूल्य पूर्वार्द्ध ७-५०, उत्तरार्द्ध ७-५०

स्त्री-रोग-विज्ञान (सचित्र)

(Diseases of Women)

डा० रमानाथ द्विवेदी

इसमें अङ्गव्यापद, रजोव्यापद, योनिव्यापद, उप-सर्गव्यापद, अर्बुदव्यापद तथा शस्त्रकर्म आदि अनेक विषय हैं। परीक्षा का दृष्टिकोण रखते हुए विषय ठोस लिखा गया है। चिकित्सा प्रकरण बहुत ही व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है। सर्वोपरि विशेषता समन्वयात्मक पद्धति का लेखन है जिसमें अत्यन्त प्राचीनकाल के आयुर्वेद से सिद्धान्तों और सूत्रों के उल्लेख से प्रारम्भ करके आधुनिक युग के नवीनतम आविष्कारों से प्रकाशित रोग-विज्ञान तथा चिकित्सा का सङ्कलन हो गया है। मूल्य ३-००

वैद्यसम्राट् श्री सत्यनारायण जी शास्त्री का

अभिनन्दन-ग्रन्थ (सचित्र)

इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के निदान चिकित्सादि विषयों एवं आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धतियों के दोष या उनसे प्राचीन का समन्वय आदि विषयों पर एक से एक बढ़कर विचार देखने को मिलते हैं। आयुर्वेद की सेवा में सम्पूर्ण जीवन को विलीन कर देने वाले शास्त्री जी जैसे परम तपस्वी के जीवन से आयुर्वेद की महत्ता, उपयोगिता, प्राचीनता एवं अनिवार्यता का जो ज्ञान हमें हो सकता है वह दूसरे प्रयत्नों से इतना सुखसाध्य नहीं हो सकता। मानवमात्र के लिए अनुकरणीय शास्त्री जी के जीवनचरित की कतिपय प्रमुख घटनाओं को स्मरण कर भावी पीढ़ी के सदस्यों को कर्मचेत्र में कुशलता प्राप्त करने वाली अनेक रसवती प्रेरणाएँ इस ग्रन्थरत्न में छपी हैं। मूल्य १५-००

भैषज्यरत्नावली-विद्योतिनी टीका

(शोधपूर्ण द्वितीय संस्करण)

इस ग्रन्थ के प्रमुख सम्पादक आयुर्वेदवृहस्पति पंडित राजेश्वरदत्तजी शास्त्री ने अपने अध्यापनानुभव तथा चिकित्सानुभव के अनुरूप इस द्वितीय संस्करण की सविमर्श व्याख्या को आमूल संशोधन-परिवर्तन कर दिया है। इस संस्करण के परिशिष्ट में उन्होंने ‘अनुभूतयोगप्रकरण’ नामक एक मौलिक ग्रन्थ ही जोड़ दिया है, जो भैषज्य-रत्नावली का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। अनुभूत-योगप्रकरण में जितने योग दिये गये हैं वे शास्त्रीजी के स्वतः अनुभूतसिद्धयोग हैं। इस पद्य बद्ध योगों की हिन्दी व्याख्या भी दी गयी है। नवीन, प्राचीन तथा पाश्चात्य-मत्तानुयायी चिकित्सकों के लिए भी यह ‘अनुभूतयोग-प्रकरण’ संग्रहणीय है। मूल्य १६-००

भावप्रकाशः

(शोधपूर्ण नवीन संस्करण)

नवीन वैज्ञानिक ‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या

इसमें गर्भप्रकरण के ऊपर डाक्टरी तथा आयुर्वेदिक मतानुसार समन्वयात्मक परिशिष्ट तथा निघण्टुप्रकरण में सभी वनौषधियों का विस्तृत परिचय, नवीन वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत गुण धर्मों एवं प्रयोगों का विस्तृत वर्णन तथा उपलब्ध वनस्पतियों की असली-नकली की पहचान, सभी भाषाओं में उनके नाम आदि सभी ज्ञातव्य विषयों का विवरण किया गया है। चिकित्सा-प्रकरण में प्रत्येक रोग की डाक्टरी मतानुसार निदानादि के साथ चिकित्सा तथा आयुर्वेदिक और डाक्टरी मतों की समन्वयात्मक टिप्पणी भी दी गई है। मूल्य पूर्वार्द्ध १२-००, उत्तरार्द्ध १५-००

रोगिरोगविमर्श

डा० रमानाथ द्विवेदी

रोगी और रोग की परीक्षा किन-किन विधियों का अनुसरण करते हुए किया जाय, इत्यादि आधुनिक युग के चिकित्सा-विज्ञान की प्रमुख बातें इसमें प्राचीन शास्त्रों के आधार पर लिखी गई हैं। मूल्य २-००

ई० १६६२, ४ फरवरी को महाप्रलयाशंका

युगपरिवर्तन

[कब, क्यों और कैसे]

विशेष विवरण पुस्तक आद्योपान्त निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा। मूल्य १-५०

चरकसंहिता-विद्योतिनी

‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या ‘विमर्श’ परिशिष्टसहित

इसमें पाठान्तर सहित मूलपाठ को छात्रों की सुविधा-नुसार विभाजित कर उसका अनुवाद तथा ‘विमर्श’ नामक विशद व्याख्या दी गई है जिसमें चक्रपाणि की ‘आयुर्वेद-दीपिका’ संस्कृत टीका के अधिकांश भाग एवं आधुनिक चिकित्सा सिद्धान्तों का समावेश तथा समन्वय किया गया है। स्पष्टीकरण के लिए सारणियाँ तथा अंग्रेजी पर्याय भी दिए गए हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सभी आयुर्वेदमहारथियों के सम्पादकत्व में इसका प्रकाशन हुआ है तथा कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी ने तो अपनी भूमिका देकर मानों इसे संपाण बना दिया है।

पूर्वाङ्क (इन्द्रियस्थानपर्यन्त) मूल्य १६-००
उत्तरार्ध भी शीघ्र प्राप्त होगा।

सचित्र इन्जेक्शन

डा० शिवनाथ खन्ना

विषय-विभाग के अनुसार पुस्तक ३ खण्डों में है—

प्रथम खण्ड में इन्जेक्शन देने की सब विधियों का तथा साधारण इन्जेक्शन के अतिरिक्त एनिमा (Enema) लगाना, प्लूरा (Plura) से पीप निकालना, आदि चिकित्सक के प्रतिदिन की आवश्यक क्रियाओं का विस्तार पूर्वक चित्रों सहित वर्णन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में इन्जेक्शन देने की ओपधियों का तथा पेटेंट (Patent) ओपधियों की प्रकृति, प्रयोग, योग, विपाकता, विपाकता की चिकित्सा, मात्रा आदि का वर्णन है।

तृतीय खण्ड में प्रायः १०० प्रमुख रोगों की चिकित्सा का आधुनिक विधि (Allopathy) से संक्षेप में वर्णन है।

प्रत्येक छात्र तथा सामान्य चिकित्सक (General Practitioner) के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं अवश्य संग्रहणीय है। आजकल सूचीवेध का ही अधिक प्रयोग होने लगा है। किन्तु इसमें जितनी सावधानी, विज्ञता और कुशलता की अपेक्षा है वह सभी चिकित्सकों में नहीं पाई जाती हैं। ऐसे महत्वपूर्ण विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का विषय है। मूल्य १०-००

रोगि-परीक्षा-विधि (सचित्र)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इस ग्रन्थ में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक दोनों पद्धतियों से रोगी-परीक्षा का पूर्ण विवरण किया गया है जिससे दुरूह विषय भी करामतकवत् स्पष्ट हो गया है। प्रायः सभी स्थलों पर चित्रों को देकर विषय को और भी सरल तथा स्पष्ट रूप से समझाया गया है। मूल्य ६-००

एलोपैथिक मिश्रण

डा० राजकुमार द्विवेदी

प्रस्तुत पुस्तक में रोग-विवरण के आरम्भ में सामान्य लक्षण एवं मिश्रणों को विशिष्ट क्रम से रखा गया है। इन्जेक्शन के प्रयोग, मात्रा आदि का स्पष्ट निर्देश है। मिश्रण-निर्माण की विधि, स्थान, उपकरण तथा कम्पाउण्डर के जानने योग्य बातों का समावेश स्वतन्त्र अध्याय में ही किया गया है। मूल्य २-००

भैषज्य-कल्पना-विज्ञान

डा० अवधविहारी अग्निहोत्री

इस पुस्तक में आयुर्वेदीय तथा आधुनिक मान (माप, भार व तौल), यन्त्रोपकरण, मूपा, पुट, कोष्ठी, मुद्रा, पञ्चविध कपाय कल्पना (स्वरस, कल्क, काथ, हिम, फाण्ट आदि), रसक्रिया (अवलेह), गुटिका, वटी, वर्ति, स्नेहपाक, आसवारिष्ट, उपनाह, लेप, मलहम, चार आदि की कल्पना से सम्बन्धित विषयों को आधुनिक तथा प्राचीन चिकित्सा-प्रणालियों के समन्वयात्मक सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया है। मूल्य ५-००

गर्भरक्षा तथा शिशु-परिपालन

डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

गर्भ-रक्षा का उपाय गर्भवती स्त्री की दिनचर्या, भोजन, निद्रा, व्यायाम, मानसिक कृत्य आदि पर लेखक ने पूर्ण प्रकाश डाला है। गर्भकाल में उत्पन्न होने वाले रोग, प्रसव की कठिनाइयाँ उनको दूर करने के उपाय, नवजात शिशु, की देख-रेख, उसका पोषण, शारीरिक वृद्धि, अवस्था के अनुसार शिशु के आहार में परिवर्तन, उपरी दूध बनाना और पिलाना, शिशु के वस्त्र, उसका स्नान, व्यायाम आदि का विवेचन पुस्तक में पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मूल्य ४-५०

माधवनिदानम्

(संशोधित परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण)

‘मधुकोश’ तथा सविमर्श ‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत संस्करण में माधवनिदान का मूल पाठ, विशद भाषार्थ, संस्कृत ‘मधुकोश’ टीका, मधुकोष टीका की हिन्दी व्याख्या, वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक विवेचन सहित विशद विमर्श, मूल श्लोकों का ग्रन्थादिनिर्देश एवं नवीन रोगों का परिशिष्ट श्लोकों में भाषार्थ युक्त दिया गया है। प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतियों में एकरूपता स्थापित करने के प्रयास में यह संस्करण अद्भुत सहायक है। सम्पूर्ण ग्रंथ बड़े साईज के हजार पृष्ठों से अधिक है।

मूल्य पूर्वार्द्ध ७-५०, उत्तरार्द्ध ७-५०

स्त्री-रोग-विज्ञान (सचित्र)

(Diseases of Women)

डा० रमानाथ द्विवेदी

इसमें अङ्गव्यापद, रजोव्यापद, योनिव्यापद, उप-सर्गव्यापद, अर्बुदव्यापद तथा शस्त्रकर्म आदि अनेक विषय हैं। परीक्षा का दृष्टिकोण रखते हुए विषय ठोस लिखा गया है। चिकित्सा प्रकरण बहुत ही व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है। सर्वोपरि विशेषता समन्वयात्मक पद्धति का लेखन है जिसमें अत्यन्त प्राचीनकाल के आयुर्वेद से सिद्धान्तों और सूत्रों के उल्लेख से प्रारम्भ करके आधुनिक युग के नवीनतम आविष्कारों से प्रकाशित रोग-विज्ञान तथा चिकित्सा का सङ्कलन हो गया है। मूल्य ३-००

वैद्यसम्राट् श्री सत्यनारायण जी शास्त्री का अभिनन्दन-ग्रन्थ (सचित्र)

इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के निदान चिकित्सादि विषयों एवं आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धतियों के दोष या उनसे प्राचीन का समन्वय आदि विषयों पर एक से एक बढ़कर विचार देखने को मिलते हैं। आयुर्वेद की सेवा में सम्पूर्ण जीवन को विलीन कर देने वाले शास्त्री जी जैसे परम तपस्वी के जीवन से आयुर्वेद की महत्ता, उपयोगिता, प्राचीनता एवं अनिवार्यता का जो ज्ञान हमें हो सकता है वह दूसरे प्रयत्नों से इतना सुखसाध्य नहीं हो सकता। मानवमात्र के लिए अनुकरणीय शास्त्री जी के जीवनचरित की कतिपय प्रमुख घटनाओं को स्मरण कर भावी पीढ़ी के सदस्यों को कर्मक्षेत्र में कुशलता प्राप्त करने वाली अनेक रसवती प्रेरणाएँ इस ग्रन्थरत्न में छपी हैं। मूल्य १५-००

भैषज्यरत्नावली-विद्योतिनी टीका

(शोधपूर्ण द्वितीय संस्करण)

इस ग्रन्थ के प्रमुख सम्पादक आयुर्वेदबृहस्पति पंडित राजेश्वरदत्तजी शास्त्री ने अपने अध्यापनानुभव तथा चिकित्सानुभव के अनुरूप इस द्वितीय संस्करण की सविमर्श व्याख्या को आमूल संशोधन-परिवर्तन कर दिया है। इस संस्करण के परिशिष्ट में उन्होंने ‘अनुभूतयोगप्रकरण’ नामक एक मौलिक ग्रन्थ ही जोड़ दिया है, जो भैषज्य-रत्नावली का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। अनुभूत-योगप्रकरण में जितने योग दिये गये हैं वे शास्त्रीजी के स्वतः अनुभूतसिद्धयोग हैं। इस पद्य बद्ध योगों की हिन्दी व्याख्या भी दी गयी है। नवीन, प्राचीन तथा पाश्चात्य-मत्तानुयायी चिकित्सकों के लिए भी यह ‘अनुभूतयोग-प्रकरण’ संग्रहणीय है। मूल्य १६-००

भावप्रकाशः

(शोधपूर्ण नवीन संस्करण)

नवीन वैज्ञानिक ‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या

इसमें गर्भप्रकरण के ऊपर डाक्टरी तथा आयुर्वेदिक मतानुसार समन्वयात्मक परिशिष्ट तथा निघण्टुप्रकरण में सभी वनौषधियों का विस्तृत परिचय, नवीन वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत गुण धर्मों एवं प्रयोगों का विस्तृत वर्णन तथा उपलब्ध वनस्पतियों की असली-नकली की पहचान, सभी भाषाओं में उनके नाम आदि सभी ज्ञातव्य विषयों का विवरण किया गया है। चिकित्सा-प्रकरण में प्रत्येक रोग की डाक्टरी मतानुसार निदानादि के साथ चिकित्सा तथा आयुर्वेदिक और डाक्टरी मतों की समन्वयात्मक टिप्पणी भी दी गई है। मूल्य पूर्वार्द्ध १२-००, उत्तरार्द्ध १५-००

रोगिरोगविमर्श

डा० रमानाथ द्विवेदी

रोगी और रोग की परीक्षा किन-किन विधियों का अनुसरण करते हुए किया जाय, इत्यादि आधुनिक युग के चिकित्सा-विज्ञान की प्रमुख बातें इसमें प्राचीन शास्त्रों के आधार पर लिखी गई हैं। मूल्य २-००

ई० १६६२, ४ फरवरी को महाप्रलयाशंका

युगपरिवर्तन

[कब, क्यों और कैसे]

विशेष विवरण पुस्तक आद्योपान्त निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा। मूल्य १-५०

‘विद्योतिनी’ हिन्दी व्याख्या ‘विमर्श’ परिशिष्टसहित

इसमें पाठान्तर सहित मूलपाठ को छात्रों की सुविधानुसार विभाजित कर उसका अनुवाद तथा ‘विमर्श’ नामक विशद व्याख्या दी गई है जिसमें चक्रपाणि की ‘आयुर्वेद-दीपिका’ संस्कृत टीका के अधिकांश भाग एवं आधुनिक चिकित्सा सिद्धान्तों का समावेश तथा समन्वय किया गया है। स्पष्टीकरण के लिए सारणियाँ तथा अंग्रेजी पर्याय भी दिए गए हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सभी आयुर्वेदमहारथियों के सम्पादकत्व में इसका प्रकाशन हुआ है तथा कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी ने तो अपनी भूमिका देकर मानों इसे संप्राण बना दिया है।

पूर्वाङ्क (इन्द्रियस्थानपर्यन्त) मूल्य १६-००
उत्तरार्ध भी शीघ्र प्राप्त होगा।

सचित्र इन्जेक्शन

डा० शिवनाथ खन्ना

विषय-विभाग के अनुसार पुस्तक ३ खण्डों में है—

प्रथम खण्ड में इन्जेक्शन देने की सब विधियों का तथा साधारण इन्जेक्शन के अतिरिक्त एनिमा (Enema) लगाना, प्लूरा (Plura) से पीप निकालना, आदि चिकित्सक के प्रतिदिन की आवश्यक क्रियाओं का विस्तार पूर्वक चित्रों सहित वर्णन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में इन्जेक्शन देने की ओपधियों का तथा पेटेंट (Patent) ओपधियों की प्रकृति, प्रयोग, योग, विपाकता, विपाकता की चिकित्सा, मात्रा आदि का वर्णन है।

तृतीय खण्ड में प्रायः १०० प्रमुख रोगों की चिकित्सा का आधुनिक विधि (Allopathy) से संक्षेप में वर्णन है।

प्रत्येक छात्र तथा सामान्य चिकित्सक (General Practitioner) के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं अवश्य संग्रहीय है। आजकल सूचीवेध का ही अधिक प्रयोग होने लगा है। किन्तु इसमें जितनी सावधानी, विज्ञता और कुशलता की अपेक्षा है वह सभी चिकित्सकों में नहीं पाई जाती है। ऐसे महत्वपूर्ण विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत पुस्तक का विषय है। मूल्य १०-००

रोगि-परीक्षा-विधि (सचित्र)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

इस ग्रन्थ में आयुर्वेदिक और एलोपैथिक दोनों पद्धतियों से रोगी-परीक्षा का पूर्ण विवरण किया गया है जिससे दुरुह विषय भी करामतकवत् स्पष्ट हो गया है। प्रायः सभी स्थलों पर चित्रों को देकर विषय को और भी सरल तथा स्पष्ट रूप से समझाया गया है। मूल्य ६-००

एलोपैथिक मिश्रशर्स

डा० राजकुमार द्विवेदी

प्रस्तुत पुस्तक में रोग-विवरण के आरम्भ में सामान्य लक्षण एवं मिश्रणों को विशिष्ट क्रम से रखा गया है। इन्जेक्शन के प्रयोग, मात्रा आदि का स्पष्ट निर्देश है। मिश्रण-निर्माण की विधि, स्थान, उपकरण तथा कम्पाउण्डर के जानने योग्य बातों का समावेश स्वतन्त्र अध्याय में ही किया गया है। मूल्य २-००

भैषज्य-कल्पना-विज्ञान

डा० अवधविहारी अग्निहोत्री

इस पुस्तक में आयुर्वेदीय तथा आधुनिक मान (माप, भार व तौल), यन्त्रोपकरण, मूपा, पुट, कोष्टी, मुद्रा, पञ्चविध कषाय कल्पना (स्वरस, कलक, काथ, हिम, फाण्ट आदि), रसक्रिया (अवलेह), गुटिका, वटी, वर्ति, स्नेहपाक, आसवारिष्ट, उपनाह, लेप, मलहम, चार आदि की कल्पना से सम्बन्धित विषयों को आधुनिक तथा प्राचीन चिकित्सा-प्रणालियों के समन्वयात्मक सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया है। मूल्य ५-००

गर्भरक्षा तथा शिशु-परिपालन

डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

गर्भरक्षा का उपाय गर्भवती स्त्री की दिनचर्या, भोजन, निद्रा, व्यायाम, मानसिक कृत्य आदि पर लेखक ने पूर्ण प्रकाश डाला है। गर्भकाल में उत्पन्न होने वाले रोग, प्रसव की कठिनाइयाँ उनको दूर करने के उपाय, नवजात शिशु, की देख-रेख, उसका पोषण, शारीरिक वृद्धि, अवस्था के अनुसार शिशु के आहार में परिवर्तन, उपरी दूध बनाना और पिलाना, शिशु के वस्त्र, उसका स्नान, व्यायाम आदि का विवेचन पुस्तक में पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। मूल्य ४-५०

रसचिकित्सा

कविराज प्रभाकर चट्टोपाध्याय

इस ग्रन्थ में पारद के १८ संस्कारों का तथा पारद हरिताल आदि की भस्म निर्माण विधि, स्वर्ण घटित मकरध्वज निर्माण प्रकार, अभ्रकादि खनिज धातुओं का आश्चर्यजनक शोधन-भारण तथा सेवन-विधि का विस्तृत विवेचन, सभी प्रकार के ज्वर तथा टायफाइड, न्यूमोनियाँ इन्फ्लुएन्जा, कालाजार, प्लेग, गैष्टिक आलसार, गलस्टोन, हैजा, सुजाक, उपदंश आदि विविध दुःसाध्य रोगों की भी आधुनिक चिकित्सा विधि लिखी गई है मूल्य ६-००

पेटेण्टप्रेस्क्राइबर या पेटेण्ट मेडिसिन्स

डा० रमानाथ द्विवेदी

(संशोधित परिवर्धित नवीन संस्करण)

५५० पृष्ठों के इस विशाल ग्रंथ में ४०० से अधिक रोगों पर हजारों पेटेण्ट दवाओं का प्रयोग बताया गया है। रोग का नाम, उस पर विविध कंपनियों के योग, कंपनियों के नाम, प्रयोगविधि और मात्रा लिखी गई है। ७-००

स्वास्थ्यविज्ञान और सार्वजनिक आरोग्य

डा० भास्करगोविन्द घाणेकर

इस संपरिष्कृत परिवर्धित चतुर्थ संस्करण में मनः-स्वास्थ्य और मनोविकार-प्रतिबन्धन जैसे महत्त्वपूर्ण नये विषय समाविष्ट किए गए हैं। विषय को सुस्पष्ट करने के लिये आयुर्वेद और प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण और तुलनात्मक टिप्पणियाँ अधिक संख्या में विस्तारपूर्वक दी गई हैं। परिभाषा सम्बन्धी कठिनाई दूर करने की दृष्टि से अंग्रेजी-हिन्दी कोष का रूप बदलकर हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोष दे दिया गया है। मूल्य ७-५०

सुश्रुतसंहिता-सम्पूर्ण

डा० कविराज अम्बिकादत्त शास्त्री कृत

‘आयुर्वेदतत्त्वसंदीपिका’ हिन्दीव्याख्या सहित

इस अभिनव व्याख्या में प्रत्येक गूढ़ सूत्र पर वैज्ञानिक शब्दावली द्वारा सुश्रुत का महाभाष्य ही प्रस्तुत किया गया है। विमर्श में प्राचीन एवं नवीन विज्ञान की समप्रमाण तुलना एक ही स्थल पर इस क्रम से उपस्थित की गई है जिससे दोनों विषयों की जानकारी हो जाती है। आधुनिक व्यवहार के यंत्र-शस्त्र, शस्त्रकर्म, बन्धन, रोगि-परिचर्या आदि उपयोगी विषयों का प्राचीन विज्ञान के उपयोगी अंशों के साथ सन्तुलित रूप में विस्तृत वर्णन किया गया है। मूल्य २४-००

क्लिनिकल पैथोलोजी (सचित्र)

(बृहत् मल-मूत्र-कफ-रक्तादि-परीक्षा)

डा० शिवनाथ खन्ना एम० बी० ए० एस०,

यह पुस्तक निदान के लिये अत्युत्तम सहायक है। प्रत्येक परीक्षाविधि सरल हिन्दी में विशद रूप से वर्णित है। पुस्तक के ३ खण्डों में से प्रथम खण्ड में विभिन्न परीक्षाओं का, द्वितीय खण्ड में विभिन्न कृमियों का तथा तृतीय खण्ड में जीवाणुओं का वर्णन है। लगभग ७८ चित्र भी हैं। मूल्य १०-००

भावप्रकाशनिघण्टुः

डा० गंगासहाय पाण्डेय ए० एम० एस०

इस ग्रन्थ में प्रत्येक वनौषधि की सभी उपजातियों एवं विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित तत्सम द्रव्यों का विस्तृत परिचय, नवीन अनुसन्धानों द्वारा आविष्कृत रासायनिक विश्लेषण, गुण-धर्म एवं आमयिक प्रयोगों का वर्णन, तथा औषधियों के अनेक भाषाओं में प्रसिद्ध नाम, उत्पत्तिस्थान तथा आकृति आदि का विशद वर्णन है। वनौषधि का पूर्ण जीवनवृत्त, बीज से लेकर मूल-पत्र-क्राण्ड-पुष्प-फल-निर्यास आदि का स्पष्ट वर्णन वस्तु को प्रत्यक्ष-सा कर देता है। औषधि का उपयोगी अंग, संचय, निर्यास निकालने की विधि तथा पूरा इतिवृत्त-वर्णन प्रस्तुत संस्करण की विशेषता है। मूल्य ९-००

शार्ङ्गधरसंहिता

‘सुबोधिनी’ हिन्दीटीका, विमर्श, परिशिष्ट-सहित।

इसकी हिन्दी टीका तथा टिप्पणी में ग्रंथ के भावों को विशेष प्रयत्नों द्वारा सुरक्षित रखा गया है। विमर्श द्वारा ग्रंथ की गूढ़ ग्रंथियों को भी सरलतापूर्वक स्पष्ट किया गया है। मान आदि के सम्बन्ध में ऐसे मत का संग्रह किया गया है कि प्रत्येक क्रियाओं में कहीं कोई बाधा न हो। इसके लगभग १०० पृष्ठों के परिशिष्ट में ग्रन्थानुक्त रोगों के भी निदान-लक्षण, चिकित्सा आदि का विशद विवेचन किया गया है। मूल्य ५-००

चरकसंहिता का निर्माण-काल

श्री रघुवीरशरण शर्मा

प्रस्तुत पुस्तक में अग्निवेश, जत्कर्ण, परासर, पुनर्वसु, आत्रेय, निमिविदेह, गान्धार जम्भजित्, कृष्णद्वैपायन व्यास आदि के जीवन-काल के निर्णय के द्वारा चरकसंहिता तथा काश्यपसंहिता के निर्माणकाल पर प्रकाश डाला गया है। मूल्य २-००

प्राप्तिस्थान—धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़, अलीगढ़ (यू० पी०)

वैद्यों और फार्मसियों को आकर्षक पैकिंग की सुविधा

हमारे यहां दवाओं के पैकिंग के लिये सर्व प्रकार के कार्डबोर्ड बक्स (खोलियां) एक रंगे व अनेक रङ्गों में छापकर तैयार किये जाते हैं। सादा हर साइज के बक्से भी बिक्री के लिये तैयार रहते हैं। इन्जेक्शन व अन्य प्रकार के डिब्बे भी बनाने का समुचित प्रबन्ध है ब्लाक व डिजाइनिङ्ग की भी व्यवस्था है। इसके साथ ही बीसियों प्रकार के बहुरंगे लेबिल-ट्राक्षासव, अशोकारिष्ट, च्यवनप्राश, नारायण-लाक्षादि तैल, गुलाबजल, शर्बतों के लेबिल, सील देखकर माल खरीदो, नकालों से सांभधान रहो, बालक सुधा आदि के आकर्षक लेबिल तैयार रहते हैं। व्यवस्थापत्र, सूचीपत्र व कलैंडरों की छपाई होती है। रङ्गीन व सादा कार्य बिजली की ओटो-मेटिक मशीनों से होता है। इन कार्यों के लिए कलकत्ते के विशेषज्ञ कारीगर हैं।

साथ ही टीटागढ़ पेपर मिल्स की एजेंसी है। अतः सब प्रकार के कागजों की ग्राहकों को सुविधा रहती है। मिल्स से सब प्रकार के कागजों के अलावा रफ, आर्ट पेपर, कार्डबोर्ड, पैकिंग-पेपर, सेलोलाइट आदि पैकिंग में काम आने वाले सब कागज थोक व खेरीज में मिलते हैं।

फोन नं. १७०

अग्रवाल प्रेस मथुरा

तार: अग्रवाल प्रेस

[कार्ड विभाग]

नया सूचीपत्र मुफ्त मंगाये।

हमको सेवा का अवसर दें।

आज—

जबकि अधिकांश बनौपधियां सुलभ प्राप्य नहीं हैं तब बनौपधि सुरासारौ से परिचय प्राप्त करें, यह चिरस्थायी तथा आशुगुणप्रद होने के कारण अगर एक बार आपके उपयोग में आगये तो यह निश्चित है कि आपकी चिकित्सा का अभिन्न अंग बन जावेंगे।

आज ही पोस्टकार्ड लिखें आपको पर्याप्त जानकारी मिलेगी।

सुरासार मृतसंजीवनी सुरा आदि उच्चतम निर्माण के राज्य नियुक्त निर्माता—

भारत आयुर्वेदिक वर्क्स हाथरस [अलीगढ़]

पञ्चकर्म विज्ञान

लेखक—आयुर्वेदाचार्य पण्डित शिवकुमार “न्यास”

भूमिका—आचार्य श्री पं. उपेन्द्रनाथ दास

चिकित्सा के आधारभूत साधन पञ्चकर्म पर लिखी यह पुस्तक आयुर्वेद के विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा चिकित्सकों के लिए परमोपयोगी रचना है जिसकी श्रेष्ठता को जान कर ही आयुर्वेद के विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

२१० पृष्ठों की सुन्दर सजिन्द पुस्तक का मूल्य केवल ३.०० रु०

मिलने का पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ [अलीगढ़]



हम केवल अपने मासिक पत्र धन्वन्तरि में ही अपनी औषधियों का विज्ञापन प्रकाशित करते हैं। लम्बे-चौड़े पंचाङ्ग, खर्चिले आकर्षक कलैंडर-डायरियों पर भी हम अधिक व्यय नहीं करते। अतएव औषधियों के प्रचार पर अंधाधुंध खर्च न करते हुये हम औषधियों की उत्तमता पर ध्यान देते हैं। उत्तम द्रव्यों से विधिवत् औषधि निर्माण करके और उचित मूल्य पर चिकित्सकों को सप्लाई करते हैं। प्रचार पर अंधाधुंध व्यय करने वाले औषधियों का मूल्य अधिक लेकर या उनको घटिया बना कर उसका दुगुना-तिगुना आप से ही बसूल करते हैं।

इस विषय पर थोड़ा विचार करें, और उत्तम गुणप्रद औषधियां आढम्बर रहित पैकिंग में उचित मूल्य पर प्राप्त करने के लिये हमारी सेवायें स्वीकार कीजिये।

धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

शिशु रोगाङ्क

की

विषयानुक्रमिका



[सम्पूर्ण शिशुरोगाङ्क विषयानुक्रमानुसार छापा गया है। उसी प्रकार क्रमशः प्रकरण देते हुये विस्तृत विषय सूची यहां प्रकाशित कर रहे हैं जिससे कि पाठकों को इच्छित लेख प्राप्त करने में सुविधा रहेगी। लेखकों के पूरे पते प्रत्येक लेख के अन्त में दिए हैं यहां केवल नाम ही प्रकाशित कर रहे हैं। —सम्पादक]

१—सम्पादकीय निवेदन	प्रधान सम्पादक	१३
२—बालकों के बौद्धिक विकास के उपाय	श्री वैद्य तारकेश्वर नाथ मिश्र	२०
३—बाल ताड़न उचित नहीं	श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य	२३
१. शिशु और उसका गर्भाशय स्थित जीवन—	पृष्ठ २५ से ४१ तक	
४—शिशु परिभाषा	आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री M. A.	२५
५—सृष्टि और मानव	कविराज श्री हरिकृष्ण सहगल	२६
६—गर्भाशय स्थित जीवन	श्री पं० चन्द्रप्रकाश शास्त्रीय प्रभाकर	३२
७—गर्भाशयस्थ शिशु वृत्त	कविराज श्री मदनगोपाल वैद्य A. M. S.	३८
८—भ्रूण का रक्त परिभ्रमण	श्री डा. पद्मदेव नारायण सिंह M.B.B.S	४०
२. प्रसवोपरांत शिशु चर्या प्रकरण	पृष्ठ ४२ से ५२ तक	
९—शिशु की तात्कालिक चर्या	श्रीमती शान्तादेवी वैद्या	४२
१०—शिशु की तात्कालिक चर्या	श्रीमती विमलादेवी M. A. M. S.	४३
११—नाभिपाक चिकित्सा	श्रीमती सावित्री देवी रावत	५१
३. नवजात शिशु पोषण-प्रकरण	पृष्ठ ५३ से ७० तक	
१२—शिशु का प्राकृतिक भोजन	आचार्य श्री हरदयाल वैद्य	५३
१३—शिशु तथा मातृ दुग्ध	वैद्यराज श्री शेषराव जैन	५७
१४—स्तन्य जनन-नाशन एवं शोधन	आचार्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी	६५
४. शिशु रोग परीक्षा प्रकरण	पृष्ठ ७१ से ८७ तक	
१५—बालकों में रोग परीक्षा विधि	श्री वेदमित्र आर्य वैद्य	७१
१६—बालरोग परीक्षा में ज्ञातव्य बातें	आचार्य श्री पं० कृष्णदत्त शर्मा	७६
१७—बाल परीक्षा	कविराज श्री पुरुषोत्तमदेव मुस्तानी	८६
१८—बालकों में रोग परीक्षाविधि	श्री अखिलेश्वर प्रसाद शर्मा	८५
१९—बालक से साक्षात्कार	श्री डा. भाटी	८६

५. बालकों को औषधि मात्रा प्रकरण

पृष्ठ ६८

२०—औषधि प्रदान पद्धति

आचार्य श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी

६८

६. बाल ग्रह प्रकरण

पृष्ठ ६६ से १३२ तक

२१—बालग्रह

श्री पं० उदय नारायण झा

६६

२२—बाल ग्रह एवं भूत बाधा

श्री वैद्य मुन्नालाल गुप्त

११८

२३—बालग्रह और उसके उपचार

श्री वैद्य नवनीतदास वैष्णव

१२४

२४—प्राचीन स्तोत्र

श्री डा० जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य

१२८

२५—बालकों को नजर लगाना

श्री पं० लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल

१३०

७. दंतोद्भेद क्रम प्रकरण

पृष्ठ १३३ से १४६ तक

२६—दन्तोद्भेद एवं तत्कालीन व्याधियां श्रीवैद्य त्रिलोकचन्द जैन

१३३

२७—दन्तोत्पत्ति कारणम्

श्री पं० बालकराम शुक्ल

१३८

२८—बच्चों के दांत और उनकी रक्षा

श्री सीताराम सिलपकार

१४३

२९—दन्तोद्भेद (जाड़ी दांती)

श्री पं० जगदीश प्रसाद शर्मा

१४७

३०—बालदन्त रोग नाशक प्रयोग

श्रीमती वैद्या तारादेवी झा

१४८

८. पाचन विकार प्रकरण

पृष्ठ १५० से १५५ तक

३१—शिशुओं का मलावरोध और आनाह श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी

१५०

३२—पाचन विकारों की प्राकृतिक चिकित्सा श्री लक्ष्मी नारायण 'अलौकिक'

१५१

९. अस्थि विकार प्रकरण

पृष्ठ १५६ से १८४ तक

३३—बालमृदवस्थि

श्री पुखराज शर्मा

१५६

३४—अस्थिविकार

श्री आचार्य सुदेवचन्द्र पाराशरी

१७१

३५—फक्क रोग

श्री पं० रमाकान्त पाण्डेय

१७७

३६—फक्क रोग चिकित्सा

श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा

१८१

३७—फक्क रोग चिकित्सा

श्री गुरुचरण वर्णवाल

१८२

३८—फक्क रोग चिकित्सा

श्री पं० रामेश्वर चौधरी

१८३

१०. बाल शोष (सूखा रोग) प्रकरण

पृष्ठ १८५ से २२७ तक

३९—बालशोष

श्री कविराज बंसरीलाल साहणी

१८५

४०—बाल शोष उपचार

श्री डा. शिवपूजन सिंह कुशवाहा

१९२

४१—सूखा रोग

श्री डा. बलबीरदत्त शास्त्री

१९६

४२—सूखा रोग

श्री आचार्य दौलतराम रसशास्त्री

२०२

४३—बालकों का रस क्षय

श्री पं० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री

२१०

४४—सूखा रोग की चिकित्सा

श्री सत्यनारायण खरे

२१२

४५—सूखा रोग की चिकित्सा

श्री नटवर लाल शास्त्री

२१६

४६—सूखा रोग की चिकित्सा

श्री पं० बनारसीदास दीक्षित

२१६

४७—सूखा रोग की चिकित्सा

श्री डा. एल. बी. लौगानी

२२३

४८—बाल शोष पर सफल प्रयोग

श्री पं. गिरजादत्त पाठक	२२४
श्री रामफल मिश्र	२२५
श्री वैद्य अमरनाथ शर्मा	२२५
श्री शारदाप्रसाद विशारद	२२५
श्री पं. सुरेशदत्त शर्मा	२२६
श्री बाबा लक्ष्मणदास महन्त	२२६
श्री पं० कृष्णदेव शर्मा	२२६
श्री वैद्य सुदागरसिंह	२२६
श्री डा० जी० के० दाधीच	२२७
श्री वैद्य बाबूसिंह गहावार	२२७

११. कर्ण रोग

पृष्ठ २२८ से २३१ तक

४६—कर्णश्राव तथा कर्णशूल चिकित्सा श्री कमलेश्वर वशिष्ठ	२२८
५०—कर्णरोगों में सफल प्रयोग श्री रामभरोसे लाल	२३१

१२. कास रोग प्रकरण

पृष्ठ २३२ से २४३ तक

५१—काली खांसी	श्री पं० द्वारिकादास मिश्र	२३२
५२—कुक्कुर कास	श्री पं० हर्षुल मिश्र	२३५
५३—काली खांसी	श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी	२४०
५४—खांसी पर सफल प्रयोग	श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव	२४१
	श्री कमलेश्वर वशिष्ठ	२४१
	श्री रामफल मिश्र	२४३
	श्री पं० कृष्णदेव शर्मा	२४३
	श्री शारदा प्रसाद विशारद	२४३
	श्री अमरनाथ शर्मा	२४३

१३. कृमिरोग प्रकरण

पृष्ठ २४४ से २६६ तक

५५—कृमिरोग	श्री कविराज लाला बदरीनारायण सेन	२४४
५६—कृमि रोग और उसकी चिकित्सा	श्री सन्तोषकुमार जैन	२७४
५७—कृमिहर बस्ति	श्री उमाशंकर दाधीच	२८६
५८—अथर्व वेद में कृमि वर्णन	आचार्य श्री दारोगा प्रसाद मिश्र	२६०

१४. गुदरोग प्रकरण

पृष्ठ २६७ से ३०६ तक

५६—गुदपाक गुदभ्रंशव गुदार्श	श्री नागेशदत्त शुक्ल	२६७
६०—बालकों का गुदपाक	श्री आचार्य रणवीर सिंह	३०३
६१—गुदरोगों पर सफल प्रयोग	श्री डा. रामप्रसाद मित्तल	३०६
	श्री रामभरोसे लाल	३०६
	श्री शारदा प्रसाद विशारद	३०६

१५. रोहणी [Diphtheria] प्रकरण

पृष्ठ ३०७ से ३१२ तक

६२—डिफ्थीरिया

आचार्य श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय

३०७

६३—रोहणी

श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी

३१०

१६. शीर्षाम्बु [Hydro-cephalus] रोग प्रकरण

पृष्ठ ३१३ से ३१५ तक

६४—शीर्षाम्बु रोग

श्री पं० विश्वेश्वर दयाल वैद्यराज

३१३

१७. गले के रोग प्रकरण

पृष्ठ ३१६ से ३२२ तक

६५—उपजिह्विकाओं की विकृतियां

श्री डा० अनन्तराम शर्मा शास्त्री

३१६

१८. मौक्तिक (मोतीमल्ला) ज्वर प्रकरण

पृष्ठ ३२३ से ३३६ तक

६६—बच्चों में मोतीमल्ला

श्री चन्द्रकान्त प्रभुशंकर शुक्ल

३२३

६७—शिशुओं का मोतीमल्ला या मोती ज्वर

श्री शंकरदत्त शास्त्री कान्यतीर्थ

३२२

६८—मौक्तिक ज्वर की चिकित्सा

श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री

३३६

६९—मोतीमल्ला के तीन रोगियों की चिकित्सा

श्री हुकमचन्द्र प्रेमी

३३८

७०—मोतीमल्ला पर एक सिद्ध प्रयोग

श्री सत्यनारायण खरे

३३६

१९. मसूरिका ज्वर प्रकरण

पृष्ठ ३४० से ३४७ तक

७१—मसूरिका

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार

३४०

७२—मसूरिका (शीतला) की चिकित्सा

श्री पं० केशवदेव शर्मा

३४४

२०. लघु मसूरिका (खसरा) प्रकरण

पृष्ठ ३४८ से ३५१ तक

७३—लघु मसूरिका—खसरा (Measles)

श्री दाऊदयाल गर्ग A., M.B.S.

३४८

२१. टीका [Vaccination] प्रकरण

पृष्ठ ३५२ से ३५४ तक

७४—टीका लगाना (Vaccination)

श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री

३५२

७५—एक स्वानुभूत प्रयोग

श्री रामफल मिश्र

३५४

२२. पिच्छी उछलना (शीतपित्त) प्रकरण

पृष्ठ ३५५ से ३६१ तक

७६—शीतपित्त (Urticaria)

श्री ज्ञानचन्द्र जैन आचार्य

३५५

७७—शीतपित्त

श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री

३५६

२३. फिरंग प्रकरण

पृष्ठ ३६२ से ३७१ तक

७८—सहज फिरंग (Congenital syphilis) आचार्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य
A. M. S. ३६२

२४. रात्रि को डरना प्रकरण

पृष्ठ ३७२

७९—रात्रि को डरना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल

३७२

२५. मिट्टी खाना प्रकरण

पृष्ठ ३७३ से ३७५ तक

८०—मिट्टी खाना

कविराज श्री अम्बिकादत्त जी० ए० एम० एस० ३७३

२६. मुखपाक प्रकरण

- ८१—मुखपाक
८२—बाल मुखपाक (Stomatitis)
८३—मुखपाकनाशक सफल प्रयोग

पृष्ठ ३७६ से ३८४ तक

श्री शिवकुमार व्यास आयुर्वेदाचार्य	३७६
श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत	३८०
श्रीमती यशोदादेवी वैद्यचार्या	३८३
श्री डा० बुद्धिप्रकाश आर्य	३८४
श्री डा० जगदीशचन्द्र भारद्वाज	३८४
श्री डा० रामप्रसाद वैद्य विशारद	३८४
श्री सीताराम शिल्पकार	३८४

२७. बालकों की सर्दी प्रकरण

- ८४—सर्दी और उसकी चिकित्सा

पृष्ठ ३८५ से ३८७ तक

श्री डा० कुलरंजन मुखर्जी	३८५
--------------------------	-----

२८. स्कर्वी रोग प्रकरण

- ८५—स्कर्वी या प्रशीताद (Scurvy)

पृष्ठ ३८८ से ३९७ तक

- ८६—बाल स्कर्वी (Infantile scurvy)

श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह	३८८
एम० बी० बी० एस०	३८८
श्री पं० रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य	३९३

२९. हकलाना—तुतलाना प्रकरण

- ८७—हकलाना या तुतलाना
८८—तुतलाना या हकलाना

पृष्ठ ३९८ से ४०० तक

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल आयुर्वेदाचार्य	३९८
श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य	३९९

३०. बाल यकृत एवं वृक्क रोग प्रकरण

- ८९—बाल यकृत वृद्धि
९०—बाल यकृत रोग चिकित्सा
९१—बाल यकृत रोग
९२—पाण्डु
९३—बच्चों का घातक रोग वृक्क शोथ

पृष्ठ ४०१ से ४३८ तक

श्री कविराज एस. एन. बोस	४०१
श्री विद्याभूषण वैद्य आयुर्वेदाचार्य	४०६
श्री बदरीनारायण सेन जी. ए. एम. एस.	४२१
श्री दुर्गाविजय सिंह डी. आई. एम. एम.	४२६
श्री अम्बालाल जोशी साहित्य रत्न	४३१

३१. शैषवीय अङ्गघात प्रकरण

- ९४—बाल पक्षाघात (पोलियो)
९५—शिशु पक्षाघात और उसका प्रतिकार
९६—शिशु पक्षाघात पर सफल प्रयोग

पृष्ठ ४३९ से ४५१ तक

श्री के. पी. वर्धन	४३९
श्री श्यामदास पीयूषपाणि आचार्य	४४७
श्री टी. लक्ष्मय्या	४५१

३२. वाह्य-कृमि प्रकरण

- ९७—बालकों की यूका और लिच्छा
९८—शिर के जूँ में सफल प्रयोग

पृष्ठ ४५२ से ४५४ तक

श्रीमती सावित्रीदेवी रावत शास्त्री आयुर्वेदरत्न	४५२
श्रीमती शारदा देवी	४५४

३३. वात श्लेष्मक रोग प्रकरण

- ९९—न्यूमोनिया (Pneumonia)
१००—उत्फुलिका (डब्बा) रोग
१०१—बाल-ज्वर

पृष्ठ ४५५ से ४७३ तक

श्री राजपाल सिंह एम. आई. एम. एस.	४५५
श्री नटवर लाल माणिकराम शास्त्री वैद्यभूषण	४६४
श्री गोखुलानन्द सिंह वैद्यशास्त्री	४७१

- १०२—डब्बा नाशनी वटी
१०३—न्यूमोनियां नाशक सफल प्रयोग

- श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद ४७३
श्री महन्त भगवानदास वैद्य ४७३

३४. नेत्र रोग प्रकरण

- १०४—बालकों के नेत्र रोग
१०५—नेत्र रोगों की सामान्य चिकित्सा
१०६—बालकों को कुकूणक रोग
१०७—शिशु नेत्र काजल
१०८—कुकूणक (*Ophthalmia neo-natorum*)

- पृष्ठ ४७४ से ४८३ तक
कविराज श्री विष्णुदत्त पुरोहित ४७४
श्री सत्यनारायण खरे ए. एम. बी. एस. ४७६
श्री महन्त भगवानदास वैद्य ४८१
श्रीमती सुनीति देवी आर्या ४८१
श्री इन्द्रपालसिंह ए. एम. बी. एस. ४८२

३५. प्रकीर्ण

- १०९—बाल चातुर्भद्रिका
११०—शिशु रोगों पर अनुभूत चिकित्सा
१११—बालकों के कतिपय रोग और उनकी चिकित्सा
११२—बालकों के लिये कुछ अनुभूत योग तथा मिश्रण
११३—बाल रोगों की अनुभूत चिकित्सा
११४—शिशु रोगों पर शास्त्रीय प्रयोग
११५—नीम द्वारा बाल रोगों का उपचार
११६—शिशु रोगों पर हमारे सुपरीक्षित अनुभव
११७—शिशु स्वभाव क्यों नहीं बदलता
११८—बाल रोगों पर चिकित्सानुभव
११९—एक अभूतपूर्व रोगी बालक
१२०—मृत्यु से युद्ध
१२१—बाल रोग नाशक कुछ अनुभूत प्रयोग
१२२—बाल संजीवनी शिवा मोदक

- पृष्ठ ४८४ से ५२० तक
श्री पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी. ए., आयुर्वेदसूरि ४८४
श्री वैद्य अम्बिकादत्त
जी. ए. एम. एस., एच. पी. ए. ४८२
श्री गंगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य ४८६
श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री ४८६
श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव ५००
श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव ५०२
श्री जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य ५०६
श्री पं. चन्द्रशेखर जैन शास्त्री ५०७
श्री वैद्य गोपाल प्रसाद ५०८
श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण ५०९
कुमारी इन्दु एम० ए० ५१६
श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा ५१७
श्री हकीम गुरुचरन लाल ५१९
श्री कविराज लाला मैहर जी ५२०



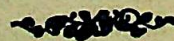
धन्वन्तरि शिशुरोगांक के

सम्माननीय लेखक

(अकरादि क्रम से)

१ श्री अखिलेश्वर प्रसाद शर्मा	६५	२६ श्री पं० चन्द्रप्रकाश शास्त्री प्रभाकर	३२
२ श्री अनन्तराम शर्मा शास्त्री D.L.M.S.	३१६	३० श्री चन्द्रशेखर जती आयुर्वेदाचार्य	१२८, ५०६
३ श्री अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य	२२५, २४३	३१ श्री चन्द्रशेखर जैन शास्त्री	५०७
४ श्री अम्बालाल जोशी साहित्यरत्न	४३१	३२ श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव	२४१, ५००, ५०२
५ श्री अम्बिकादत्त मिश्र जी ए० एम० एस०, एच० पी० ए०	४६२	३३ श्री पं० जगदीशप्रसाद शर्मा	१४७
६ श्री अम्बिका दत्त जी० ए० एम० एस०	३७३	३४ श्री जगदीशचन्द्र भारद्वाज	३८४
७ अत्रिदेव विद्यालंकार	३४०	३५ श्री डा० जी० के० दाधीच	२२७
८ श्री इन्द्रपाल सिंह ए. एम. बी. एस.	४८२	३६ श्री टी० लक्ष्मय्या	४५१
९ श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्राणी	१५०, २४०	३७ श्री वैद्य तारकेश्वरनाथ मिश्र	२०
१० कुमारी इन्दु एम० ए०	५१६	३८ श्री ताराचन्द्र लोढा	५१७
११ श्री उमाशंकर दाधीच	२८६	३९ श्रीमती तारादेवी भा वैद्या	१४८
१२ श्री उदय नारायण भा	६६	४० श्री दाऊदयाल गर्ग ए० एम० बी० एस०	३४८
१३ श्री डा० एल० बी० लौगानी	२२३	४१ श्री दारोगाप्रसाद मिश्र आचार्य	२६०
१४ श्री एस० एन० बोस कविराज	४०१	४२ श्री पं० द्वारिकादास मिश्र	२३२
१५ श्री कमलेश्वर नशिष्ठ	२२८, २४१	४३ श्री दौलतराम रसशास्त्री आचार्य	२०२
१६ श्री पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए०	४८४	४४ श्री दुर्गाविजयसिंह डी० आई० एम० एस०	४२६
१७ श्री पं० कृष्णदेव शर्मा	२२६, २४३	४५ श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य	४०८
१८ श्री के० पी० बर्धन	४३६	४६ श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा, बम्बई	१८१, ४६६
१९ श्री पं० केशवदेव शर्मा	३४४	४७ श्री वैद्य नवनीतदास वैष्णव	१२४
२० श्री डा० कुलरंजन मुखर्जी	३८५	४८ श्री नटवरलाल शास्त्री वैद्यभूषण	२१६, ४६४
२१ श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री	३५२	४९ श्री नागेशदत्त शुक्ल	२६७
२२ श्री पं० गिरिजादत्त पाठक	२२४	५० श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह एम० बी० बी० एस०	४०, ३८८
२३ श्री गुरुचरण वर्णवाल	१८२	५१ श्री पुरुषोत्तमदेव मुलतानी	८६
२४ श्री गुरुचरणलाल हकीम	५१६	५२ श्री पुखराज शर्मा	१५६
२५ श्री गोखुलानन्द सिंह वैद्यशास्त्री	४७१	५३ श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी	३१०
२६ श्री गोपालप्रसाद वैद्य विज्ञान भिन्न	५०८	५४ श्री लाला बदरीनारायण सेन	२४४, ४२१
२७ श्री गंगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य	४६६	५५ श्री पं० बनारसीदास दीक्षित	२१६
२८ श्री चन्द्रकान्त प्रभुशंकर शुक्ल	३२३	५६ श्री डा० बलवीरदत्त शास्त्री	१६६

५७ श्री पं० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री	२१०	८५ श्री पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज	३१३
५८ श्री पं० बालकराम शुक्ल	१३८	८६ श्री विष्णुदत्त पुरोहित कविराज	४७४
५९ श्री वैद्य बाबूसिंह गद्वाबार	२२७	८७ श्री वेदमित्र आर्य वैद्य	७१
६० श्री बुद्धिप्रकाश आर्य	३८४	८८ श्री सत्यनारायण खरे ए० एम० बी० एस०	२१२, ३३६, ४७६
६१ श्री गंसरीलाल साहणी	१८५	८९ श्रीमती सावित्रीदेवी रावत	५१, ४५२
६२ श्री भगवानदास महन्त वैद्य	४७३, ४८१	९० श्री सीताराम शिल्पकार	१४३, ३८४
६३ श्री डा० भाटी	६६	९१ श्री सुदेवचन्द्र पाराशरी आचार्य	१७१
६४ श्री कवि० मदनगोपाल ए० एम० एस०	३८	९२ श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण	५०६
६५ श्री महेन्द्रनाथ पांडेय	३०७	९३ श्रीमती सुनीतिदेवी आर्या	४८१
६६ श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री	३५६	९४ श्री पं० सुरेशदत्त शर्मा	२२६
६७ श्री वैद्य मुन्नालाल गुप्त	११८	९५ श्री वैद्य सुदागरसिंह	२२६
६८ श्रीमती यशोदादेवी वैद्याचार्य	३८३	९६ श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत आचार्य	३५०
६९ श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस०	६८, ३६२	९७ श्री संतोषकुमार जैन ए० एम० एस०	२७४
आयुर्वेदाचार्य	११७	९८ श्रीमती शान्तादेवी वैद्या	४२
७० श्री पं० रमाकान्त पाण्डेय	२५, ३०३	९९ श्री शारदा प्रसाद विशारद	२२५, २४३, ३०६
७१ श्री रणवीरसिंह शास्त्री आचार्य	४५५	१०० श्रीमती शारदादेवी	४४४
७२ श्री राजपालसिंह एम० आई० एम० एस०	३६३	१०१ श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री	३३६
७३ श्री पं० रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य	३०६, ३८४	१०२ श्री शिवकुमार व्यास आयुर्वेदाचार्य	३७६
७४ श्री रामप्रसाद मित्तल	२३१, ३०६	१०३ श्री शिवपूजनसिंह कुशवाहा	१६२
७५ श्री रामभरोसेलाल	२२५, २४३, ३५४, ४७३	१०४ श्री शेषराव जैन वैद्य	५७
७६ श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद	१८३	१०५ श्री शंकरदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ	३३२
७७ श्री पं० रामेश्वर चौधरी	२२६	१०६ श्री श्यामदास पीयूषपाणि	४४७
७८ श्री बाबा लक्ष्मणदास महन्त	१३०, ३७७, ३६८	१०७ श्री हरिकृष्ण सहगल	२६
७९ श्री पं० लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल	१५१	१०८ श्री हरिदयाल वैद्य आचार्य	२६
८० श्री लक्ष्मीनारायण 'अलौकिक'	५२०	१०९ श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य	२३
८१ श्री लाला मेहर जी कविराज	४०६	११० श्री पं० हर्षुल मिश्र	२३५
८२ श्री विद्याभूषण वैद्य आयुर्वेदाचार्य	४३	१११ श्री हुकुमचन्द्र प्रेमी	३३८
८३ श्रीमती बिमलादेवी एम० ए० एम० एस०	६५	११२ श्री वैद्य त्रिलोकचन्द्र जैन	१३१
८४ श्री विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य		११३ श्री ज्ञानचन्द्र जैन आचार्य	३५५



*** पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें ***

इस विशेषांक

में

लेख-संख्या	१२२ तथा अनेक उपयोगी प्रयोग
लेखक-संख्या	११३
चित्र-संख्या	१३६
पृष्ठ-संख्या	५७२*
मूल्य	(विशेषांक का) ८.५०
विशेषांक-सम्पादन में आठ माह का कठिन परिश्रम	

इस विशेषांक के सभी विषयों पर विद्वान एवं अनुभवी व्यक्तियों के अधिकार पूर्ण लेख प्राप्त करने, उनसे सम्बन्धित चित्रों का निर्माण कराने तथा उन लेखों को विषयानुसार क्रम-बद्ध लगाने में बहुत परिश्रम किया गया है। आप उपर्युक्त आंकड़ों से तथा इस विशेषांक को पढ़ने से निश्चय ही यह अनुभव करेंगे कि धन्वन्तरि के संचालक धन्वन्तरि द्वारा वैद्य समाज को कितने अल्प मूल्य में कितना विशाल एवं उपयोगी साहित्य दे रहे हैं और इस कार्य में कितना घाटा उठा रहे हैं। अतएव

धन्वन्तरि के प्रत्येक ग्राहक से

हमारी कर-बद्ध प्रार्थना है कि वे धन्वन्तरि के २-२, ४-४ नवीन ग्राहक बनाने का प्रयत्न अवश्य करें। इस विशेषांक को देखकर शायद ही कोई ऐसा वैद्य होगा जो धन्वन्तरि का ग्राहक बनने की इच्छा न करे। आपको थोड़ा उत्साहित करने की आवश्यकता है।

• विशेषांक का सैटर, सूची के पृष्ठ, प्रारम्भिक विज्ञापन एवं सूची विषय कुल मिलाकर।

धन्वन्तरि के ग्राहकों की सेवा में

धन्वन्तरि के विशेषांक विशेष महत्वपूर्ण, विशाल एवं परिश्रम साध्य होते हैं। हमारा प्रेस और कार्यालय ऐसे स्थान पर स्थित है जहां से ६-६ मील तक कोई सड़क या समुचित यातायात का साधन नहीं है, अतएव बहुत प्रयत्न करने पर भी विशेषांक के प्रकाशन में विलम्ब हो जाता है और इसलिये आगामी अंक भी कुछ देर से प्रकाशित हो पाते हैं। इस वर्ष हमने विशेषांक जल्दी ही प्रकाशित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है तथा आगामी अंक भी शीघ्र प्रकाशित करने की कोशिश कर रहे हैं। फिर भी थोड़ा धैर्य रखने की प्रार्थना है तथा निवेदन है कि—

१. कोई भी अंक मिलने पर यह देख लें कि उससे पहिला अंक मिला है या नहीं। यदि न मिला हो तो उसी समय पत्र लिखकर मंगालें।
२. वर्ष के अन्त में एक साथ अधिक अंकों के न मिलने की शिकायत लिखना असुविधाजनक एवं अनुचित है और उस समय आपकी काइल पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे।
३. थोड़े समय के लिये स्थान परिवर्तन करना हो तो अपने पोस्ट आफिस में प्रबन्ध कर लें। स्थायी रूप से स्थान परिवर्तन करते समय ग्राहक नम्बर, पहिला पता और नवीन पता स्पष्ट लिखते हुए सूचित करें।
४. धन्वन्तरि के विषय में पत्र व्यवहार करते समय ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें तथा उत्तर के लिए कार्ड भेजें।
५. अंक बड़ी सावधानी से हर एक ग्राहक को भेजे जाते हैं। अतः अंक न मिलने की शिकायत पहिले पोस्ट आफिस में करें, उसके उत्तर के साथ यहां पत्र लिखें।

धन्वन्तरि के मान्य लेखकों

के लिये लेख सम्बन्धी आवश्यक संकेत

१—लेख कागज की एक ओर थोड़ा मार्जन छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखियेगा।

२—लेख ऐसे विषय पर लिखें जो चिकित्सकों के लिये ज्ञानवर्धक एवं ज्ञातव्य हों। खोज एवं अनुभवपूर्ण लेख, सफल प्रयोग, वनस्पति विशेष पर अनुभव, रोग विशेष पर अनुभवपूर्ण चिकित्सा, कष्टसाध्य रोग से पीड़ित रोगी की सफल चिकित्सा विवरण आदि चिकित्सकों के लिये उपयोगी लेखों को प्राथमिकता दी जाती है।

३—धन्वन्तरि के अधिकांश पाठक अंग्रेजी भाषा नहीं जानते, अतएव लेख में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग यथासम्भव न करें।

४—लेख संक्षिप्त एवं सारपूर्ण बनावें। अनावश्यक विस्तार न करें तथा आवश्यक बातों को लिखने में संकोच भी न करें।

५—लेख में आयुर्वेद ग्रन्थों के उद्धरण लिखते समय उनका संदर्भ अवश्य दें तथा उद्धरण ध्यानपूर्वक शुद्ध व स्पष्ट लिखें।

६—प्रयोग लिखते समय प्रयोग के घटक, तोल, निर्माण विधि, अनुपान, मात्रा, प्रयोग विधि समझा कर लिखें। प्रयोग के वास्तविक गुण ही लिखें, बढ़ा चढ़ा कर न लिखें।

७—समाचार, विविध सम्मेलन समाचार, चुनाव समाचार, धन्वन्तरि जयन्ती समाचार आदि संक्षेप में लिखकर भेजें। यदि सम्मेलनादि के फोटो भेज सकें तो अवश्य भेजें।

८—व्यक्तिगत आक्षेपयुक्त या विवादास्पद समाचार एवं लेख धन्वन्तरि में प्रकाशित नहीं किये जाते हैं।

९—अपने लेख से सम्बन्धित कोई चित्र भी यदि आप भेज सकते हों तो अवश्य भेजें। हम ब्लाक बनवाकर आपके लेख के साथ प्रकाशित करेंगे।



पञ्चतारि

धन्वन्तरयेनमः ॥ आयुर्वेद का सर्वोत्तम सचित्र मासिक ॥

ॐ आहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वां
दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेति ।
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम् ॥

—अष्टांग हृदय शा. १-३३

मास ३६

अङ्क ६-३

} सचित्र शिशु-रोगाङ्क

{ फरवरी-मार्च

सन् १९६२

सम्पादकीय प्राक्कथन

इस मानव सृष्टि का वास्तविक सुख बहुभाग्यशाली परिवार ही अनुभव करता है, जिसके गृह में सुन्दर, बलिष्ठ एवं निरोग शिशु क्रीड़ा करते हैं। इस संसार के रत्नों में संतान रूपी रत्न अन्य जड़ रत्नों से अत्यधिक महत्व का है। कारण इसके अभाव में गृह के अन्य रत्न व्यर्थ भाररूप ही प्रतीत होते हैं। इस रत्न की प्राप्ति से जो आनन्द का अनुभव होता है वह अन्य रत्नों की प्राप्ति से नहीं होता। शिशु रत्न के प्राप्त होते ही समस्त परिवार एवं बन्धु बान्धवों में अपूर्ण उत्साह तथा नवीन आशाओं का संचार एवं नूतन इच्छा, कल्पनाओं का उदय होता है। अतः शिशु ही आत्म-विनोद एवं दाम्पत्य जीवन की परिपूर्णता का मुख्य साधन है। शिशु की चंचलता से भरी हुई नाना क्रीड़ाओं को देख, चिन्ता एवं अपार व्याधि की पीड़ा भी किंचित काल के लिये दूर हो जाती है।



उत्तम शिशु एवं सुसन्तान के जन्म और कर्म से केवल माता पिता ही नहीं प्रत्युत् समाज, जाति और राष्ट्र भी कृतकृत्य होते हैं। किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमानकाल में विशेषकर भारत में उक्त प्रकार का सुसन्तान रत्न प्राप्ति रूप अपूर्व सुख बिरले परिवार एवं किसी किसी युगल दम्पतियों को ही प्राप्त होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि शिशु के सुयोग्य रीति से पालन पोषण एवं शिक्षण का मुख्य भार जिन माताओं पर निर्भर है वही आजकल धात्रीविज्ञान बिरहित हैं। भारत की ललनार्ये अविद्या एवं अज्ञानता के कारण, न गर्भाधान की रीति, न गर्भ रक्षा की क्रिया, न प्रसूत समय के उपचार और न शिशु रक्षा की विधि को ही जानती हैं। इसी कारण सैकड़ों बच्चे अल्पकाल में काल के कलेवा बन माता के हृदय एवं अन्य परिवार को शोकदग्ध कर जाते हैं तो कहीं सन्तान मुख देखने का सौभाग्य की प्राप्ति न होना तथा ऐसा न होने पर अज्ञानता की मारी कुल महिलायें सुयोग्य वैद्यों के उपचार के स्थान पर मूर्ख ओम्हा, पुजारी, बने हुए साधु, फकीर और वैरागियों की थोथी बातों में आकर उन पर विश्वासकर अपने धन, धर्म को गंवाती हैं। ऐसी स्त्रियां न तो सन्तान का भरण पोषण कर सकती हैं और न अपने ही स्वास्थ्य की रक्षा कर सकती हैं। इसीसे उनकी सन्तानें मेधावी, निरोगी एवं आयुष्मान नहीं होतीं। अतः अपनी सन्तान और अपनी स्वतः की भलाई के विभिन्न भारतीय नारियों का धात्री वा बालरोग विज्ञान की शिक्षा में व्युत्पन्न होना नितान्त आवश्यक है।

इसका और भी एक प्रबल कारण यह है कि जहां के नर नारी ब्रह्मचर्य पालन करना अपना मुख्य कर्म, धर्म और व्रत समझते थे आज उसी देश के निवासी इसके नाम और महत्व को भूल गये हैं। रात दिन विषय वासना में लिप्त रहने के कारण सन्तानोत्पत्ति के बीजांकुरों की शक्ति को कमजोर कर देते हैं। अथवा व्यर्थ के कीड़े मकोड़े जैसी सन्तानों को अधिक प्रमाण में पैदा कर देश का भार बढ़ा देते हैं। जिसके कारण सन्तान निग्रह विषयक अनेक अनैसर्गिक साधनों और उपकरणों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है तथा इन अप्राकृतिक साधनों के परिणाम में अपने स्वास्थ्य एवं अमूल्य जीवन को बरबाद कर देना पड़ता है। इस प्रकार प्राकृतिक ब्रह्मचर्य और यथोचित आहार बिहार, स्थान, पान रहन सहन तथा उचित औषधि व्यवस्था के अभाव से आजकल भारत रोगों का घर बना हुआ है।

उक्त अनर्थ परम्परा के निवारणार्थ ही हमने दो बार नारी रोगांक तथा एक बार सन् १९३६ में बालरोगांक निकाला था। जिनको पाठकों एवं अभिभावकों ने बहुत ही पसन्द किया है। शायद हमें तीसरी बार और भी नारीरोगांक निकालना पड़ेगा कारण उसकी बहुत ही कम प्रतियां हमारे पास शेष बची हैं। बालरोगांक की पुरानी सब प्रतियां तो कई वर्ष पहले ही समाप्त होगई थीं। पाठकों की मांग एवं तीव्र अनुरोध उसके प्रकाशनार्थ होने से हम इस बार यह शिशुरोगांक सेवा में उपस्थित कर रहे हैं। इस अंक में पिछले बालरोगांक की अपेक्षा भी उत्तमोत्तम लेखों का चयन किया गया है। यहां हम अपनी ओर से शिशुरोग विषयक एक दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं—

भारत में आज मातृरक्षक केन्द्र एवं शिशु रक्षक केन्द्रों (*Maternity centres and Baby Clinics*) की जैसी चाहिये तैसी व्यवस्था नहीं है। रेडक्रास सोसाइटियां आदि जो कुछ इस विषय में कार्य कर रही हैं वह नहीं के बराबर है। ये केन्द्र जो बड़े बड़े शहरों में स्थापित हैं, वहां का उपचार आदि वैदिक प्रणाली के ढङ्ग से होने के कारण जनसाधारण की पहुँच के बाहर हैं। वे उन्हें नहीं



अपनाते। या यों कहिये कि वैदिक चिकित्सा प्रणाली बहुत ही खरचीली होने से उससे जनसाधारण लाभ नहीं उठा सकते। क्या ही उत्तम हो कि यहां के धनी मानी उदार चेता सज्जन वृन्द जनसाधारण के लाभार्थ ऐसे मातृमन्दिरों एवं शिशु केन्द्रों की स्थापना करें जिसमें आयुर्वेदिक रीति से उपचार किया जाय।

उचित शिक्षा के अभाव से घरों में जो बच्चों का पालन पोषण होता है, वह प्रायः दोषपूर्ण होता है। माताएँ यह नहीं जानती कि बच्चे को खिलाने पिलाने का एक निर्दिष्ट समय होता है। वे अधिकतर प्यार ही करना जानती हैं। बच्चा चाहे किसी कारण से भी रोने लग जाय तो वह उसे भूखा समझ कर दूध पिलाने में लग जाती हैं। कुसमय दूध पीकर बच्चे की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है, तथा वह दिन पर दिन सूख कर कांटा बन जाता है (इसे मसाना या सूखा रोग कहते हैं)। माता का दूध यथोचित समय पर न मिलने से तथा अस्वाद्य, कुस्वाद्य भोजन से, जैसे दो मास के बच्चे को बालीबाटर (विलायती जौ का पानी), ग्राइप बाटर आदि पिलाना, ताजा दूध को छोड़कर या उसके अभाव में पाउडर का या पेटेन्ट डिब्बों का दूध पिलाने से भी ऐसे रोग बालकों को हो जाते हैं। फिर मूर्ख माताएँ अपनी गलती नहीं समझ कर उसका इलाज टोना, ताबीज, यन्त्र, मंत्र एवं झाड़ फूंक आदि कराती रहती हैं।

हमारी वृद्धा माताओं को तो शिशुपालन एवं शिशुओं की व्याधि सम्बन्धी कुछ परम्परागत प्राचीन ज्ञान भी है, किन्तु परम खेद की बात है कि आधुनिक लड़कियां इस विषय में एकदम कोरी हैं। स्कूल या कालेज में पढ़ाई गई ज्योमिट्री, बीजगणित, केमिस्ट्री आदि की बातें इन्हें भले ही अच्छी तरह ज्ञात हों, किन्तु नारी जाति की जीवन मरण रूपी मातृत्व एवं शिशु पालन तथा व्याधि ज्ञान प्राप्त करने का इन्हें कोई साधन ही नहीं है। और न इस विषय की ज्ञानकारी पुस्तकें ही हिन्दी भाषा में विशेष प्रचलित एवं प्रकाशित हुई हैं। ऐसी दशा में धन्वन्तरि का यह प्रकाशन अवश्य ही कुछ कार्य करेगा, तथा साधारण जनता इसे अवश्य ही अपनाकर अपने गृहस्थी के आधारस्तम्भ गृहणी एवं शिशुओं की सर्वाङ्गीण श्रेय साधन करेगी ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

ध्यान रहे, जन्म के बाद ही नहीं प्रत्युत् गर्भस्थ होने के दिन से ही शिशु की प्रकृति पालन पर पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है। स्वस्थ माता पिता की सन्तान ही स्वस्थ होती है। पितुरोग जिसमें फिरङ्ग रोग (Syphilis) सर्व प्रधान है प्रधानतः यौवनावस्था के अत्याचार का फल है। इस रोग में सुजाक की भांति लोग निःसन्तान नहीं बनते, अपितु अधिक सन्तान और विशेषतः रोग दूषित विकृत सन्तान उत्पन्न होती है। इस रोग से ग्रस्त पिता की सन्तान बलवान एवं स्वस्थ होती प्रायः असम्भव है। पितृगत तथा वंशगत तपैदिक आदि रोगों को छोड़कर गर्भावस्था में भी माता के आहार बिहार एवं स्वास्थ्य के अनुसार सन्तान रोगी, निरोगी, अल्पायु, दीर्घायु, बलिष्ठ या निर्बल हो सकती है। अतः गर्भवती को इस ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। हमारे वैद्यक ग्रन्थों में गर्भोपचार सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियम, संयम तथा खानपान की व्यवस्था दर्शायी गई है। आवश्यकता है उस वैद्यक ज्ञान के सुलभ प्रचार की तथा महिलाओं को इस ओर ध्यान देने की। जमीन की शक्ति लेकर ही तो बीज पैदा होकर शक्तिशाली वृक्ष बनता है। क्षेत्र ठीक न हो तो वृक्ष कैसे ठीक होगा? माता का शरीर ही असली क्षेत्र है। अतः मातृ धर्म पालन करना सुमाता का कर्तव्य है।



गर्भकालीन, शिशु कालीन (Infant life) और बालकालीन या बाल्यावस्था (Childhood) तीन भागों में शिशु जीवन विभक्त है। गर्भकालीन जीवन तो ६ मास १० दिन का होता है। इन दिनों में माता के शरीर की रक्तशुद्धि पर ही सन्तान का भावी समस्त जीवन निर्भर है। गर्भकालीन माता की हरेक पीड़ा का प्रभाव शिशु के ऊपर होता है। अतः यथासंभव जहां तक बने माता को नीरोग, शुद्ध वायुयुक्त स्थानों में, आनन्दपूर्वक संयमी जीवन बिताना चाहिये। गर्भावस्था में मैथुन अथवा परिश्रम, शोक, चिंता, क्रोध, गर्मी आदि से सन्तान रोगी एवं विकलांग होती है। यदि शारीरिक वैकल्य न हो तो मानसिक विकृति, कुस्वभावी होना अधिक सम्भव है।

प्रसव के बाद लगभग ३ साल तक शिशुकालीन जीवन होता है। प्रसव होते ही प्रसव स्थान की स्वच्छता की ओर ध्यान न देने से मोतीभरा, चेचक, हैजा आदि कई छूत की बीमारियां हो सकती हैं। प्रायः प्रसव स्थान तो एक कैदखाने से भी अधिक कष्टप्रद होता है। फिर धनुष्टंकार रोग से जो कि प्रायः आंवल नाल को मैली कैंची या छुरी के काटने से होता है, उसका कारण भूतों का ही उपद्रव माना जाता है। वैसे ही सूखा (बालशोष) जो कि शरीर के अन्दर उपयुक्त खाद्या-भाव के कारण होता है, उसे भी कोई बाहर की भूत व्याधि समझा जाता है। फिर आगे शिशुओं को उदर रोग और दन्तोद्भेद कालीन पीड़ाएं होती हैं। माता के दूध में शुद्धि एवं प्रचुर परिमाण में जीवनशक्ति का होना आवश्यक है। संक्षेप में देखा जाय तो शिशुसंवर्धन में माता के खाद्य, आहार विहार, नियमपूर्वक समय पर दूध पिलाना, विश्राम, वस्त्रों की सफाई आदि की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। शिशु को प्रारंभ से ही जो आदतें डाल दी जाती हैं, वह उन्हें ही अपना लेता है। जिन बच्चों को समय पर दूध पीना, नहाना, धोना, सोना इत्यादि की आदत पड़ जाती है वह नीरोग और शांत स्वभाव का होता है। किसी को सताता नहीं है। वे ही आदर्श भविष्य में अच्छी, आदर्श आदतों की नींव बन जाती हैं।

शिशुओं के रोगों में प्रायः दांत निकलते समय की व्याधियां प्रधान हैं। दांत निकलना शिशु जीवन का एक संकटकाल है। किन्तु यह प्राकृतिक। प्रारम्भ से ही आहार विहार के नियमों के ठीक तरह पालन करने से दांत निकलने में तकलीफें कम होती हैं। दूध के दांत जिनमें कीलें (अदन्त) निकलते समय सबसे अधिक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इन दांतों के निकल आने के बाद शिशुत्व समाप्त होकर बाल्य जीवन प्रारंभ होता है। प्रसव के बाद से लेकर तीन वर्ष तक का काल ही यह समय है। इस तीन वर्ष के बीच में ही यदि माता के एक और संतति हो जाय तो दोनों के लिये तथा विशेषतः माता के लिये अत्यधिक कष्टमय स्थिति प्राप्त होती है। अतः उक्त तीन वर्षों तक संयम एवं पूर्ण ब्रह्मचर्य की परमावश्यकता है। कमजोर दस बच्चों की अपेक्षा स्वास्थ्य सम्पन्न दो ही सन्तान अच्छी हैं।

तीन से पांच वर्ष की आयु तक बच्चे के शिशुकाल का शेष भाग और बाल्यजीवन प्रारंभ होता है। पांच वर्ष के बाद बच्चे विद्यारंभ करने योग्य हो जाते हैं। शिशु जीवन के रोगों में माता (चेचक), मसूरिका, खसरा, बालशोष, रोहिणी, मांसतान, कंठशालूक (Diphtheria), कफ विकार (सर्दी, जुकाम), उदररोग, पतनादि ग्रह पीड़ा, आक्षेपवात आदि प्रधान हैं। इनके विषय में इस अंक में अधिकारी लेखकों के विस्तृत लेख पाठक मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे।



शिशुरोगादिः

यहां हम संक्षेप में हमारे अनुभव में आए हुए शिशु सम्बन्धी कुछ विशेष रोगों की चिकित्सा का निर्देश मात्र किए देते हैं—

(१) बालापस्मार—दूध पीने वाले शिशु को यदि दिन रात में ३-४ बार पतले-पतले दस्त ठीक प्रकार से ही जाया करें तो वह कई विकारों से बचे रहते हैं। यदि दस्तों में विकृति हो तो सम्भ्रान्त होगा कि उसे दूध बराबर नहीं पचता। ऐसी हालत में शीघ्र ही उसकी माता की या जिसका वह दूध पीता हो उसे दुग्ध शुद्धिकर औषधियां या अनन्तमूल, कुटकी, कुड़ा, चिरायता आदि जड़ी बूटियों (वनौषधि विशेषांक में ऐसी कई स्तन्यशोधक बूटियों का वर्णन देखिये) का सेवन करना आवश्यक है तथा उस शिशु को भी थोड़ा सा शुद्ध अरंड तैल में असली शुद्ध शहद मिला दिन में ३-४ बार चटाना चाहिये। यदि इस तरह समय पर ही यथायोग्य उपचार न किया जाय तो आगे चलकर शिशु का पेट फूलने लगता है, कंठ में खुरखुर शब्द होने लगता है तथा आक्षेपक (शरीर के अङ्गों में खेंचातानी) होने लगती है, नेत्र विकृत, आंखों की पुतलियां ऊपर को चढ़ी हुई आदि लक्षण होने लगते हैं। इस तरह बार बार रह रहकर यह दशा होती है। जब रोग का इस प्रकार दौरा होता है तब बालक एकदम कांपकर हाथों की मुट्ठियां भींचकर हाथ पैर कड़े कर, कभी कभी धनुषाकार तानता है, चेहरे का रंग एकदम बदल जाता है, बेहोशी आती है, दांत किटकिटाते हैं, कण्ठ से कराहता है, मुख से फेंस निकलता है, नाड़ी मन्द होती है, श्वास बड़े कष्ट से लेता है। कुछ ही देर में दौरा समाप्त होने पर पुनः पूर्ववत् स्वस्थ स्थिति होती है। किन्तु शक्ति क्षीण होती चली जाती है तथा यदि योग्य उपचार न किया जाय तो वह काल के गाल में चला जाता है। इस रोग को स्कन्दापस्मार, स्कन्दग्रह तथा दक्षिण की ओर 'आंकड़ी' कहते हैं।

इसके उपचार में हम पुनः सावधान किये देते हैं कि रोग प्रायः बालक की माता या उसके पालकों की असावधानी से होता है। जिस शिशु के खानपान में ठीक ठीक निगरानी नहीं की जाती उसे ही प्रायः यह मारक रोग कष्ट देता है। अतः प्रथम रोगोत्पादक कारणों को दूर करना एवं रोगी बालक की मल शुद्धि कराना आवश्यक है।

थोड़ा सा रीठा का फेंस गुदामार्ग में प्रवेश कराने से उसका दस्त खुल जाता है। साथ ही साथ हरड़, बहेड़ा, अतिविषा, काकड़ासिंगी, बायबिडङ्ग, कुड़ाछाल और भारंगी मूल समभाग का महीन चूर्ण १ माशा तक, रेंडी तैल और शहद में मिला बार बार चटायें। इससे मल शुद्ध होता है। यदि ज्वर आदि कोई अन्य उपद्रव हों तथा रोग का दौरा हो जाय तो शीतल जल के छींटे मुख पर मारने पर तथा उसके कुछ होश में आने पर प्याज को काटकर उसकी नाक के पास ले जाकर, फिर दूर कर लेवें, इसी प्रकार बार बार करें तथा बीच बीच में शीतल जल या गुलाब जल के छींटे मुख पर देते जावें। रोग का दौरा निकल जाने पर उसे कुछ खिला पिलाकर शांति से सोने दें। एतदर्थ यदि शिशु ६ मास के अन्दर का हो तो—

१. एक छोटे से महीन कपड़े के टुकड़े की आठ तह कर रेंडी तैल में भिगो (तैल टपकने न पावे इसलिये उसे थोड़ा निचोड़) कर बालक के तालू पर बांध दें। जब तक यह रेंडी के तैल से तर किया हुआ कपड़ा उसके सिर पर रहेगा, रोग का दौरा न होने पावेगा। अथवा—

२. बच्चा का महीन चूर्ण घृत में मिला बालक के सिर एवं समस्त शरीर पर धीरे धीरे मर्दन करना चाहिये।



उक्त उपचार के साथ ही साथ बालक की माता थोड़ी अजवायन अपने मुख में चबाकर उसकी लार दूध में मिला बालक को पिलावे जिससे पेट साफ होकर रोग का दौरा बन्द हो जाता है। तथा गूगल, अगारु, रार और सरसों समभाग जौकुट कर इसका धूपन करें जिससे कमरे की वायु स्वच्छ होकर बालग्रह की शांति होती है तथा रोग का दौरा नहीं होता अथवा केवल बच की ही धूप देने से भी लाभ होता है।

यदि बालक की उमर ६ मास से ऊपर हो तो (१) नित्य प्रातः सायं ब्राह्मी का स्वरस ६ मास से १ तोले तक थोड़ा शहद मिलाकर पिलावे और उपरोक्त उपचार करते रहें।

(२) इस अवस्था में अपचन के कारण शिशु के पेट में प्रायः कृमि हो जाते हैं; तथा इस रोग का सम्बन्ध इन कृमियों से भी हो जाता है। अवश्य निम्न काथ का सेवन कराना लाभदायक है—

बायबिडग, अजवायन, नीम की अन्तर छाल प्रत्येक ६-६ तोला लेकर जौकुट कर १ पाव (२० तोला) जल में अष्टमांश काथ सिद्ध कर तथा छान कर उसमें डीकामाली १ माशा मिला थोड़ा थोड़ा पिलावे। जिससे पेट साफ होकर कृमि की बाधा दूर हो, उसे फिर यह रोग कष्ट नहीं पहुंचाता।

(३) बच का महीन चूर्ण १ से २ रत्ती तक शहद के साथ प्रातः सायं चटावे।

एक वर्ष से ऊपर के शिशु को उपर्युक्त सब क्रियायें यथायोग्य प्रमाण में की जावें। इतना सब कार्य करने पर भी यदि रोग का जोर न घटे, तो निम्न रीति से उसे शंखभस्म का सेवन करावे—

एक छोटा सजीवशंख (जिसमें कीड़ा हो ऐसा) लेकर यशद (जस्ता) की डिब्बी में बन्द कर उस डिब्बी को चूल्हे की कण्डों या कोयलों की आग में दबा दें। डिब्बी खूब लाल हो जाय तब बाहर निकाल स्वांगशीताल हो जाने पर अन्दर का शंख निकाल महीन चूर्ण कर रखें। इसे १-२ रत्ती की मात्रा में दुग्ध के साथ प्रातः सायं सेवन कराने से तत्काल लाभ होता है।

इस पर हल्दी का दाग भी दिया जाता है। हल्दी का एक लम्बा सा टुकड़ा लेकर आग पर उसका एक सिरा रख कर जला दें। तथा मस्तक पर भों के पास, नस के ऊपर कुशलतापूर्वक दाग (लांछ) देते हैं। इससे भी बहुत लाभ होता है।

इत्यादि कई उपचार हैं। यहां मुख्य मुख्य अपने अनुभूत उपचार प्रकट कर दिये हैं। यह रोग न होने पावे, इसके प्रतिबन्धार्थ निम्न बातों पर पूर्ण ध्यान देना अत्यावश्यक है—

(१) जब तक बालक माता का दुग्ध पीता है, तब तक पूर्ण संयम या ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इतना भी यदि न हो सके तो प्रसूति हो जाने के पश्चात् पुनः ऋतु प्राप्त होने तक पुरुष संग (मैथुन) कदापि नहीं करना चाहिये। (२) शिशु को अधिक रुदन नहीं करने देना चाहिये। उसके रुदन का कारण शोध कर तुरंत ही यथोचित उपचार करें। उसका पेट साफ है या नहीं, इस बात की ओर अवश्य ध्यान देते रहना चाहिए। (३) बालक को विशुद्ध दूध ही पिलाना चाहिये। (४) रोग निवारणार्थ उपचार अनुभवयुक्त तज्ज्ञ चिकित्सकों के द्वारा ही कराना चाहिये। अपद, अनुभवहीन मनुष्य या स्त्री के द्वारा उपचार कराना मानों बालक को काल के गाल में भोंक देना है।

नोट—ध्यान रहे इस रोग पर जो आधुनिक पाश्चात्य औषधियों का प्रचार हो रहा है, उनमें प्रायः ओमार्डिड या तत् सदृश ही मस्तिष्क शक्ति को न्यून या क्षीण करने वाले एवं सुस्ती या निद्रा लाने वाले द्रव्यों का मिश्रण हुआ करता है। ऐसी औषधियों का सेवन कराने से बालक आगे चल कर कुछ बड़ा होने पर निबुद्धि या पागल सा हो जाया करता है अतः बहुत ही समझदारी से औषधोपचार करना चाहिये।



शिशुरोगाङ्कः

डब्बा (उत्फुल्लिका) रोग—दूध के न पचने से, बालक का कफदोष विकृत होकर उसे तीव्र ज्वर मलावरोध, मूत्र की कमी या मूत्रावरोध, कास, श्वास, आदि विकार होकर उसका उदर जोर से हिलता है तथा ऊपर उड़ता है, वह कुछ ऊपर को उठकर फड़कन सी मालूम देती है। यदि ठीक उपचार न हो तो यही विकार बढ़कर कफविशिष्ट सन्निपात, वातश्वासनक ज्वर, त्रांको निमोनियां (*Broncho-pneumonia infantile*) का विकराल रूप धारण कर लेता है एवं मृत्यु का कारण हो जाता है। अन्तिम अवस्था में आन्तेपक आदि असाध्य लक्षण होते हैं।

उपचार—प्रारंभिक अवस्था में कटु इन्द्रायन के फल के बीजों का चूर्ण २ से ४ रत्ती या १ माशा तक लेकर ५ तोला जल में पका कर पिलाने से इस रोग का जाल नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

अथवा—गिलोय, नीम की छाल, मुलैठी, बायबिडङ्ग, सनाय, सौंफ और काकडासिंगी १-१ भासा लेकर कूटकर २० तोले जल में क्वाथ करें। २॥ तोले शेष रहने पर उसमें ६ माशा मिश्री मिलाकर पिलावें। प्रातः सायं इसी प्रकार ८ या १० दिन के प्रयोग से पूर्ण लाभ होता है।

यदि उक्त सन्निपात (निमोनियां) होकर फुफ्फुस में सदाह शोफ होगया हो, तो छाती पर अलसी की पुल्टिस से सेंक कर बांध दें। एसी अवस्था में तीव्र रेचक औषधि न देते हुए उक्त गिलोय, नीम छाल आदि के क्वाथ में त्रिभुवनकीर्ति रस की मात्रा देनी चाहिये।

नोट—ध्यान रहे, उपर्युक्त दोनों रोगों (बालापस्मार और डब्बा) में बालक की माता का दुग्ध परीक्षण कर लेना चाहिए। यदि दूध घना, चिकटा या विकृत रूप का हो तो उस माता को हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, कुड़ाछाल और गिलोय का क्वाथ प्रातः सायं ७ दिन तक पिलाने से दूध शुद्ध, निर्मल होकर बालक के लिए स्वास्थ्यप्रद होता है। माता को तथा शिशु को घृत, दही, मावा आदि के कफवर्धक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

पारिगर्भिक विकार—गर्भवती माता का दूध पीने से, बालक कृश होता है, उसे जुधा बहुत लगती है, पेट सामने बढ़ जाता है, हाथ पैर सूख जाते हैं। ध्यान रहे पेट में ४ मास का गर्भ हो जाने पर माता को अपना दूध बालक को कदापि नहीं पिलाना चाहिए। अन्यथा उसे सूखा रोग होजाता है (सूखा या बाल शोष रोग के और भी कई कारण हैं जिन्हें विस्तारसहित आगे विद्वानों के लेखों में देखिये)।

उक्त प्रकार के पारिगर्भिक विकारों में बालक को अग्निदीपक औषधियां देनी चाहिये। द्रान्तासव, करंजासव आदि अथवा संजीवनी बटी का सेवन गो दुग्ध के या शहद के साथ दिन में ३ बार करावें।

इस विशेषांक को अपने विषय का सर्वाङ्गीण बनाने के लिये हमने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। यथा स्थान विषय को सरलतापूर्वक हृदयङ्गम बनाने के लिये सुन्दर चित्रों की भी योजना की है। (कुल १३६ चित्र दिये गये हैं)—तथा कृपालु लेखक महर्षियों ने हमें उदार हृदय से अपने अनुभव पूर्व लेखों से सहायता की है। हम उनके हृदय से कृतज्ञ एवं आभारी हैं। विद्वान लेखकों के सहयोग के सहारे ही हम धन्वन्तरि के इतने विशाल एवं सर्वाङ्गपूर्ण विशेषांक प्रकाशित करने का साहस कर पाते हैं तथा भविष्य के लिये भी हम विद्वान वर्ग से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे अपना सहयोग धन्वन्तरि को अधिकाधिक देते रहें जिससे कि हम उत्तम से उत्तम साहित्य धन्वन्तरि के द्वारा आयुर्वेद समाज के समक्ष रखते हुए आयुर्वेद प्रचार में अग्रसर होते रहें।

—वैद्य देवीशरण गर्ग

बालकों के बौद्धिक विकास के उपाय

श्री वैद्य तारकेश्वर नाथ मिश्र

यह विज्ञान का युग है, मनुष्य की विकसित बुद्धि ने मानवीय सुरक्षा एवं सुख के साधनों पर अपना महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है। जिस राष्ट्र का बौद्धिक स्तर आज जितना ऊँचा है वह उतना ही महान है। हमारा महान देश कभी उन्नति के शिखर पर था। सैकड़ों वर्ष की दासता में हम अपना सर्वस्व गौरव लुटा चुके, आज हम स्वतंत्र हैं, देश का नव निर्माण हो रहा है, राष्ट्र के नव निर्माण में बच्चों का प्रमुख स्थान है, हमारा उज्ज्वल भविष्य उन्हीं पर निर्भर करता है। हमें कुशाग्र, प्रखर एवं तीव्र बुद्धि वाले बालकों की आवश्यकता है। राष्ट्रीय कल्याण के लिये बालकों का बौद्धिक विकास अनिवार्य है।

मानव जीवन में बचपन को क्या महत्व है ? जीवन पर बाल्यकाल का क्या प्रभाव पड़ता है ? जीवन के प्रारम्भिक विकास के इस अमूल्य काल का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। महान लेखक रूसो और प्रकृति कवि वर्ड्सवर्थ ने बच्चों को स्वभावतः पवित्र माना है और उनकी धारणा है कि मनुष्य के घृणित सम्पर्क में ही आकर वह अपवित्र होता है। बाल्यकाल में मन और शरीर दोनों लचीले होते हैं। जैसी उन्हें शिक्षा-दीक्षा मिलती है उसके अनुकूल ही बच्चों के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रारम्भ में ही बच्चों की परिचर्या यदि पौधे की तरह सावधानी से की जाय तो उनके आचारविचार, व्यवहार तथा विकास की पूर्ण संभावना है।

बच्चे ज्यों ज्यों बढ़ते हैं उनकी अनुभूतियाँ बढ़ती जाती हैं, विचार शक्ति बढ़ती है और चौथे वर्ष में उनके निर्णयात्मक बुद्धि का प्रारंभ हो जाता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर के मतानुसार बालक जब ५ या ६ वर्ष का रहता है तभी उसकी जीवन

शैली (Style of life) बनती है। ७ वर्ष के उपरांत विचार विकास की गति द्रुततर हो जाती है। क्रमानुसार बारह साल की उम्र तक उनमें निर्णयात्मक तथा तार्किक बुद्धि बढ़ती है और उनकी अनुभूतियों के अनुसार उनकी विचार-वृत्तियाँ विकसित होती हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार मानवजीवन का उत्थान पतन मनुष्य के विचारों पर ही निर्भर करता है। योग वाशिष्ठ में मनुष्य को उसके विचारों का पुतला माना गया है। “मानसं विद्धि मानवम्” अतएव बाल्यकाल (६ से १२ वर्ष) के विचारों, अनुभूतियों का मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। बालकों के विकासात्मक संरक्षण की यह उपयुक्त अवस्था है।

देश, जलवायु, माता-पिता, आहार-विहार एवं सामाजिक वातावरणों में प्रायः भिन्नता होती है और प्रत्येक बालक भिन्न भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेता है। हरेक बालक को अपने माता पिता से पृथक् जेनस (Genes मूलक) प्राप्त होते हैं और उनकी विशेषताओं के अनुरूप ही उनके व्यवहार वृत्तियों और प्रतिक्रियाओं का रूप होता है। अतएव उनके शरीर, मन, बुद्धि तथा अभिरुचियों में समानता संभव नहीं किन्तु कुछ स्वभाविक प्रवृत्तियाँ तथा लुधा, भय, क्रोध, आश्चर्य, आनन्द, आसोद, इत्यादि मानव प्रवृत्तियाँ प्रायः समान रूप से पाई जाती हैं। बौद्धिक दृष्टिकोण से हम बच्चों को ३ श्रेणियों में बांट सकते हैं। उनका अधिक वर्गीकरण भी संभव है—

१. प्रखर (Superior), २. औसत सामान्य (Normal) और ३. मन्दबुद्धि (Dull)

(१) प्रखर बुद्धि वाले बालकों में एक विशेष तरह की प्रतिभा होती है। अल्पावस्था में ही उनकी बुद्धि आयु सीमा का उल्लंघन कर देती है। उनके



शिशु रोगाङ्क

संरक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इनकी संख्या कम होती है।

(२) सामान्य बुद्धि वाले बालकों की संख्या अधिक होती है। साधारण संरक्षण से ये कार्य-कुशल हो जाते हैं।

(३) मन्दबुद्धि वाले बालकों का बौद्धिक विकास देर से होता है, बड़ी कठिनाई से इनका सुधार होता है। इनके अधिक संरक्षण तथा विशेष देखभाल की आवश्यकता होती है।

बुद्धि का वास्तविक अर्थ क्या है? इसके परिभाषा के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में गहरा मतभेद है। सभी ने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप इसकी परिभाषायें दी हैं। कोई इसे सीखने की समर्थता कहते हैं, कुछ लोग बुद्धि का अर्थ जानना (ज्ञान) मानते हैं, कुछ लोगों के विचार में बुद्धि सजीव प्राणियों की एक प्रक्रिया मात्र है। विचारों में भिन्नता है जो भी हो बुद्धि एक स्वभाविक वृत्ति है, एक महत्वपूर्ण तत्व है, बुद्धिबल मनुष्य का महाबल है। मनुष्य बुद्धिबल के सहारे ही लौकिक विभूतियों को प्राप्त करता है। आज तक जितने भी महान् आविष्कार हुए हैं, मानवता के कल्याण के लिये जितने भी कार्य हुए हैं उसमें मनुष्य के बुद्धिबल का प्रमुख हाथ रहा है। बुद्धि के माध्यम से हम उचित अनुचित का निर्णय करते हैं और अपने विकास का पथ निश्चित करते हैं। इसके अभाव में मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार तत्काल आवश्यक समाधान नहीं कर सकता। मानसिक हीनता रहने पर व्यक्ति तर्क विचार नहीं कर पाता इसलिये वह मनोवृत्तियों का दास बन जाता है और उसके मानसिक विकास में कठिनाई होती है।

बालकों के मानसिक विकास और हीनता के कारणों में मनोवैज्ञानिकों के अलग अलग विचार हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्तियों (Instinct) में विश्वास किया है और उनकी धारणा है कि बच्चा मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का पुतला है और इन्हीं

से प्रेरित होता है जिससे उसके विकास की प्रक्रियाओं उभर जाती हैं। कुछ लोग मानसिक हीनता को वंशागत दोष (Hereditary factor) मानते हैं। उनकी धारणा है आजीवन इसमें कोई सुधार संभव नहीं। आनुवंशिकता (Hereditarians) सिद्धान्त वालों के विचार में बुद्धि एक स्वभाविक तत्व है जो जन्म के समय से ही निश्चित रहती है और समय से विकास पाती है। इसके ठीक विपरीत हैं Environmentalist. उनका कहना है, सब कुछ वातावरण है। वातावरण के प्रभाव ही संगठित होकर बुद्धि के स्वरूप का निर्माण करते हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार शारीरिक व्यवस्थाओं (Constitutional factor) का नियमित होना मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, स्वस्थ शरीर में सुन्दर मन का निवास रहता है।

बच्चे जन्म से ही मूर्ख (Idiot) नहीं होते, चिंता, भ्रम, असामाजिक वृत्ति लेकर कोई बालक पैदा नहीं होता। बच्चों में स्वभाविक जिज्ञासा की एक प्रवृत्ति होती है जो उनमें स्थित बुद्धि का प्रतीक है, संस्कारों और वातावरणों से बच्चे अनजाने प्रभावित होते हैं। उनके बोलचाल, रहन सहन, आदान प्रदान, व्यवहार, आदत, नीति अनीति के भावों पर उनके परिवार का गहरा प्रभाव पड़ता है। अंग्रेजी में एक कहावत है "Home is the first school of life" मातापिता के सामाजिक, लौकिक, पारिवारिक व्यवहारों पर बच्चों का संवेदात्मक विकास (Emotional development) निर्भर करता है। यदि माता पिता के व्यवहार सुन्दर, शिष्ट, सभ्य और स्नेहपूर्ण होते हैं तो बच्चों की संवेदनायें आदर्श और संतुलित होती हैं। इसके विपरीत यदि उनके व्यवहार अश्लील, असभ्य और उदंडतापूर्ण होते हैं तो बच्चे अनुशासनहीन, ईर्ष्यालु और अयोग्य बनते हैं। बच्चों के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व उनके संरक्षकों पर है और वातावरण का प्रभाव भी निश्चित रूप से



उन पर पड़ता है।

बच्चों के बौद्धिक विकास में आर्थिक विषमता भी एक प्रबल बाधा है, अभाव, दरिद्रता, गरीबी से बच्चों में आत्महीनता की भावना (*Inferiorty complex*) की उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकास में बाधक होती है। अतः निर्धन परिवार के संरक्षकों के लिए अधिक गम्भीर विवेक की आवश्यकता होती है। अगर उचित ढङ्ग से उनका संरक्षण हुआ तो वे स्वावलम्बी, आशावादी और पराक्रमी बनजाते हैं अन्यथा उनकी कुशाग्र बुद्धि का भी उपयोग नहीं हो पाता और मानवता की एक बड़ी क्षति हो जाती है। सम बयस्कों में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, परस्पर वे एक दूसरे का अनुसरण करते हैं और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं और इसके प्रतिक्रियास्वरूप वे अपने आचरण व्यक्त करते हैं इसी अवसर पर उनकी उचित देख-भाल की आवश्यकता होती है। शिक्षा का प्रभाव भी बच्चों के बौद्धिक विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी अभिरुचियों के अनुसार उन्हें शिक्षा देने से उनकी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है और मनोनुकूल कार्यों में वे विशेष दक्ष और कार्यकुशल होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये प्रखर बुद्धि की आवश्यकता नहीं और किसी भी कार्य का महत्व कम नहीं। जिन बालकों में मानसिकहीनता हो उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए और ऐसे कार्यों में लगाना चाहिये जो उनके बौद्धिक स्तर के अनुकूल हों।

आधुनिक शोधों ने इतना कर दिया है कि कुन्दजहन (*Idiots*) बच्चों की बुद्धि सम्मोहन क्रिया द्वारा बढ़ाई जा सकती है और सोलह वर्ष की अवस्था तक मानव बुद्धि को पूर्ण विकसित किया जा सकता है। बुद्धि का विकास बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। बच्चों के बौद्धिक विकास के लिये बाल मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित नियमों को मान्यतायें प्रदान की हैं। हम इन्हें व्यवहार में लाकर लाभान्वित हो सकते हैं।

[१] बच्चों में प्यार की कामना होती है, वे प्यार के भूखे होते हैं, स्नेहपूर्ण व्यवहारों से उनके संवेदात्मक विकासों को बल मिलता है और उनमें सहृदयता उत्पन्न होती है।

[२] बच्चों को एक सामान्य व्यक्ति की तरह आदर करे, इससे उनका नैतिक विकास होगा।

[३] उनके अपराधों के लिये आप उदण्डता, क्रोध और आवेश के स्थान पर संयम, धैर्य और विवेक से काम लें।

[४] उनकी अवस्था से अधिक ऊंचे बौद्धिक स्तर के व्यवहार की आकांक्षा नहीं रखें।

[५] उनके प्रश्न के उत्तर बुद्धिपूर्ण ढङ्ग से देने चाहिए।

[६] बच्चों के सामने उसी तरह के आचरण व्यक्त करें जिसे आप निसंकोच समाज में कर सकें।

[७] बच्चों को डराना, धमकाना नहीं चाहिए। उन्हें ऐसी बातों का आश्वासन नहीं देना चाहिये जिसकी पूर्ति की सम्भावना नहीं हो।

[८] बच्चों में सामाजिक रुचि उत्पन्न करें, इससे उनका नैतिक विकास होता है वे व्यवहार कुशल बनते हैं।

[९] उनकी अनुभूतियों, भावनाओं और कल्पनाओं को व्यक्त करने के लिये प्रोत्साहित करें।

[१०] उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करें, मनोरंजन का अवसर दें, उनकी सफलताओं के लिये आप अपनी प्रसन्नता व्यक्त करें।

[११] बच्चों के विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व आप अपने ऊपर लें।

आयुर्वेद में मानसिक स्वास्थ्य के लिये सद्विचार, पवित्रता, आस्तिकता, सात्विकता, संयमित आहार विहार इत्यादि गुणों का प्रमुख स्थान है। आवश्यकतानुसार बुद्धिवर्द्धक दिव्य औषधियों की व्यवस्था है जैसे स्वर्ण, मुक्ता, बच, ब्राह्मी, असगंध इत्यादि। ताजे फलों का सेवन भी मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद है। बाह्य प्रयोगों में आवश्यक-

:: शेषांश पृष्ठ २४ पर ::

बाल-ताड़न उचित नहीं

श्री हरिनारायण शर्मा आयुर्वेदाचार्य

बालकों की रक्षा—

खाने-पीने व्यवहार बोलने आदि कार्यों में बालकों को मनमानी न करने देना चाहिए, किन्तु माता पिता को इन कामों में बालकों को उचित शिक्षा देनी चाहिये। राजा रघु के विषय में महाकवि कालिदास ने लिखा है—“अभूषण नम्रः प्रतिपात शिक्षया” यदि आवश्यकता हो तो भयमात्र दिखलावे। बालकों को मारे पीटे नहीं और न किसी काम के लिये उन्हें बाधित करे। सदा उनको प्यार करे, उनकी इच्छा पूरी करता रहे, इच्छा पूरी होने से वे सन्तोष प्राप्त करते हैं खुश रहते हैं। उन्हें खिलौने वगैरह के देने से खुश रखे, जिससे हंसमुख रहें और हृष्ट-पुष्ट रहें ऐसा व्यवहार न करे कि वे बराबर रोना मुंह रहें।

जो लोग अज्ञानवश बालकों का मन तोड़ते रहते हैं उनके घर से लक्ष्मी (शोभा), यश, भाग्य, ओज, तेज, कान्ति, समझदारी-ये सब पलायन कर जाते हैं और खानदान डूब जाता है।

बालक अज्ञानी तो होते ही हैं। चाहे अपना बालक हो, पौत्र-नाती हो या किसी का हो उसके पोषण का भार अपने ऊपर हो या न हो किसी चीज की प्राप्ति के लिये किसी चीज के खोने पर आशा मिलने पर उस वस्तु के न मिलने पर उन चीजों के प्राप्त करने के वास्ते यदि बालक ‘दो दो’ कह कर रोवें मारें कुवाच्य कहें तो बहुत सी स्त्रियां अपने अज्ञान के आधीन होकर बालकों को मारने लग जाती हैं। ऐसा करने से अपनी हानि होती है उसका सौन्दर्य-प्रारब्ध-पति, बुद्धि, लक्ष्मी, मनोरथ, धनधान्यादि संपत्ति शीघ्र ही वेकार हो जाती हैं। बालक मार खाने पर जब दुःखी होकर जोर जोर से चिल्लाकर रोने लग जाता है तो वह आवाज ब्रह्मलोक तक पहुंचती है तो उसके पुरुखा लोगों का आत्मीय

के ताड़न, अपमान और लघुता से वह असह्य दुःख हजार गुना होजाता है जिससे वे उसमाता पिता को आप दे देते हैं कि तू बन्ध्या हो या तेरी सन्तान नष्ट हो या तेरी आयु समाप्त हो, भग्नमनोरथ हो, दरिद्र होजा। तेरा निवास स्थान नाश को प्राप्त हो, तेरी कोई सहायता न करे, तू पापिनी है इत्यादि। अतः बालकों को न मारे क्योंकि उन्हें ज्ञान नहीं रहता। दूसरों के सुखदुःख का विवेक उन्हें नहीं रहता। बालकों से ऐसी बात करे जिससे फुसल जाय तथा प्रसन्न रहें।

बालकों को न मारे, न उन पर गुस्सा करे न झिड़के, न डरपावे। समय समय पर बालकों के मन को खुश रखने, उत्तम-उत्तम खाद्य पदार्थ देने से देवर्षि, योगीश्वर, द्विजदेव इन्द्र, तेतीस करोड़ देवता, आठ लोकपाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, सब अप्सरायें, पितर लोग उस पर प्रसन्न रहते हैं और आशीर्वाद देते रहते हैं—

कामचारः कामभूः कामवादेशच निन्दिताः ।
पितृभ्यां शिक्षणीयाश्च भीसंदर्शन माघतः ॥
न संताड्या बाधनीया लालनीयाश्च संततम् ।
भग्नकामा न कार्याश्च प्राप्त कामाः प्रतोषिताः ॥
पुष्टांगाश्चापि कर्तव्या तत्क्रीडनक दानतः ।
हसन्मुखाः प्रकर्तव्या न कार्याः प्ररुदन्मखाः ॥
अज्ञानिनो ये पृथुकान् मनोभङ्गान् प्रकुर्वते ।
तेषां लक्ष्मीर्यशो भाग्यमाजस्तेजो युतिर्गतिः ॥
क्षयान्निमूर्त्ततां यान्ति क्षय वंश समश्नुते ।
मार्कण्डेय स्मृति बालताडननिषेध प्र०

इस प्रकार के अनेक श्लोक हैं जो यहां उद्धृत करने से अधिक स्थान घेर लेने के हेतु से नहीं लिखे गये हैं।

पूजा अथवा श्राद्ध के लिये यदि कोई वस्तु बनाई जाय और उसे देखकर बालक उसकी प्राप्ति के लिये



रोने लगे तो उनकी प्रसन्नता के लिये अलग से वे चीजें खिला पिला दी जाय तो किसी प्रकार का दोष नहीं होता, किन्तु बालक नाखुश न हों यही ध्यान रखने से देवपितर सब प्रसन्न रहते हैं। यह मत मुनिश्रेष्ठ व्यास जी का है।

पाक काले प्ररुदतः पाकान् जातांस्तथा विधान् ।

पाययेदेव तत्प्रीत्यै, तेन वैगुण्यं नामकः ॥

प्रायवायो नैव भवेदिति व्यासोऽब्रवीत् पुरा ।

—मार्कण्डेय स्मृति ।

उत्तम सन्तान होने का उपाय—

गर्भाशय, मासिक, योनि, शुक्र, शरीर की गरमी, सर्दी एवं इन दोनों को गतिदायक (वात-

पित्त, कफ) के शुद्ध रहने पर पूर्ण यौवन प्राप्त (२० वर्ष) पुरुष तथा पूर्णयुवती (१६ वर्ष) के परस्पर प्रेमपूर्वक सम्पर्क से ही शक्तिशाली, दीर्घजीवी, बुद्धिमान, हृष्ट पुष्ट, नीरोग संतान की उत्पत्ति होती है। इनमें एकाध चीज की बिगाड़ से संतान में भी बिगाड़ आ जाती है। अपनी कामवासना जैसे तैसे तृप्त करना ही उचित नहीं। उत्तम सन्तान ही संभोग का फल होता है। अतः उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है।

—श्री हरिनारायण शर्मा वैद्य आयुर्वेदाचार्य
श्री पूर्णचन्द्र औषधालय,
भदौनी-लोलाककुण्ड (वाराणसी)

:: पृष्ठ २२ का शेषांश ::

कतानुसार स्वतन्त्र अथवा औषधि सिद्ध स्नेहों का अभ्यङ्ग (massage) का आदेश है जिसका प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य के विकास में सहायक होता है। बच्चों के बौद्धिक विकास के लिये उनकी शारीरिक सुरक्षा, नैतिक उत्थान, आध्यात्मिक विकास, उचित शिक्षण, संरक्षण की परम आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद सरकारी और गैर सरकारी शिशु

कल्याण केन्द्रों, संस्थाओं एवं गृहों की स्थापना हुई है, हममें राष्ट्रीय चेतना जगी है, धन्वन्तरि के चरण पड़े हैं। ईश्वर हमें सफलता दें यही हमारी कामना है।

—वैद्य श्री तारकेश्वर नाथ मिश्र “नूतनजी”
डुमरांव (आरा) विहार

पंचकर्म अन्वेषण पर अङ्क

धन्वन्तरि के पाठकों की सेवा में इस वर्ष कास-रोगांक के अतिरिक्त एक और भी लघु विशेषांक भेंट किया जायगा जिसमें आयुर्वेद चिकित्सा के आधारभूत पंचकर्म पर आयुर्वेद एवं यूनानी तिब्बिया कालेज चिकित्सालय दिल्ली में हो रहे कार्य के आधार पर पंचकर्म क्रियाओं का सचित्र वर्णन होगा। इसमें रोगानुसारी पंचकर्म का विधान सरलतम रीति से प्रतिपादित होगा, जिसकी सहायता से पंचकर्म का आश्रय लेकर आर्ष-ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर चिकित्सा करना सरल हो जायगा।

विविध क्रियाओं को कराते समय शरीर में होने वाले परिवर्तनों के आधुनिक उपकरणों की सहायता से संग्रह किये गए परिणामों से युक्त धन्वन्तरि के ६० पृष्ठों का यह ठोस साहित्य अक्टूबर या नवम्बर के अंक में प्रकाशित करेंगे। जिसका प्रणयन धन्वन्तरि परिवार के चिर परिचित लेखक 'पंचकर्म विज्ञान' प्रणेता आयुर्वेदाचार्य श्री पं० शिवकुमार 'व्यास' B. I. M. S. कर रहे हैं।

शिशु की परिभाषा

आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम० ए० विद्याभास्कर



शिशु कौन है ? इस शब्द से किसका बोध होता है ? और शिशु की अवस्थानुसार औषधादि-मात्राएँ क्या हैं ? यही विचारणीय विषय है। इसके ऊपर संक्षिप्त विवेचन उपयोगी एवं न्यायसंगत होगा। प्रस्तुत “धन्वन्तरि शिशुरोगाङ्क” महत्त्वपूर्ण उपादेय बालोपयोगी सामग्री का अपूर्व संग्रह बन कर चिकित्सकों एवं गृहस्थियों के लिए मार्गदर्शक है और यह विषय इस विशेषाङ्क से पूर्णतया सम्बन्धित है अतएव सर्व प्रथम शिशु-शब्द और इससे बोध्यमान वस्तु का अवगम आवश्यक है।

शास्त्रीय दृष्टि से यदि “शिशु” शब्द पर विचार करें तो शब्द शास्त्र में “शोतन् करणे” दिवादि धातु से “शःकित् सन्वच्” इस उणादि सूत्र के द्वारा “शिशु” शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ (श्यति तनूकरोति मातुरङ्गानि स्वाङ्गानि शरीरं त्वचं वा स शिशुः) जो उत्पन्न होने के पश्चात् अपनी माता के अङ्गों को कृश करे या स्वयं अपने शरीर अङ्ग अथवा त्वचा को हाथ पैरों के आकुञ्चन के साथ छोटा बनावे उसे शिशु कहते हैं, यह नाम योगरूढि है। अतएव अन्वर्थ होता हुआ छोटे बालकों के लिए प्रयुक्त होता है, इसीलिए शिशु जीवन का नाम शैशव, शिशुता व शिशुत्व है।

शिशु के पर्यायवाचक शब्द—

उत्तानयश्वाः, स्तनपा, माणवक्—

स्तनन्धय, शिशु, बाल, किशोर, कुमार, पोत, पाक, अर्भक, डिम्ब, पृथुक, शावक आदि विविध शब्द कोषग्रन्थों में शिशु के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि इन शब्दों का अभिप्राय एवं इतिहास भिन्न भिन्न है, अवस्था भेद से भी इन पर्याय शब्दों का प्रयोग शिशु की विभिन्न शारीरिक अवस्थाओं के लिये होता है। कुमार व किशोर शब्द एक विशेष आयुः सीमा सम्पन्न बालकों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आयुर्वेदीय शास्त्रों में—

सद्योजात बालक के लिए भी कुमार शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रमाण—

“तत्रेमान्यायुष्मतां कुमार्याणां लक्षणानि भवन्ति”

“ततोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम् ।”

“जातमात्रेऽस्यैव कुमारस्य कार्याणी—”

—चरक संहिता शरीर अ० ८

‘अथ बालोपचारेण बालं योपिदुपाचरेत् ।

—वाग्भट

इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्रों में “शिशु” शब्द के पर्याय बहुत से लिखे हुए हैं, शास्त्रकारों ने एक अथवा एक से अधिक शिशु पर्यायों का स्थल स्थल पर प्रयोग किया है। “शिशुरोगाङ्क” में भी शिशु शब्द से जैसा शिशु (बालक) अभिप्रेत है उसके लिये थोड़ी सीमांसा उचित है। बालक आदि शब्द शिशु बोधक सभी ग्रन्थकारों ने माने हैं—

शास्त्रीय परम्परा में शिशु—

सभी शास्त्रकारों ने अपने गहन विषय वाले शास्त्रों का निर्माण बालकों के लिए किया है, ये बालक स्तनन्धय नहीं ! अपितु बाल वृद्ध स्त्री पुरुष सभी बालक हो सकते हैं। जिस विषय में जिस शास्त्र में गति नहीं, विद्यार्थी उसके अध्ययन के लिए बालक (शिशु) है इस विषय को प्रतिपादित करते हुए कई स्थानों पर स्पष्ट कर दिया है—

‘अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥’

अर्थात् अनजान ही बालक होता है, मन्त्र देने वाला ही पिता होता है।

“अनधीत तत्तच्छात्रो बालः” अर्थात् जिस जिस शास्त्र को जिसने नहीं पढ़ा, उसके अध्ययन के लिए वह बालक (शिशु) है।

आयुर्वेद में शिशु—

ऐसे शास्त्र प्रतिपादित शिशु इस आयुर्वेद में



अभिप्रेत नहीं, इसमें तो विशिष्ट प्रकार के शिशु का ही ग्रहण अपेक्षित है। जैसे—

सद्योजातः स्तनन्धय आपन्नचवार्षिको वा शिशुः

अथवा—

शरीरात्म संपदुपेतः समये प्रसूतः स्तन्यपायी वा शिशुः

भावार्थ यह है कि शीघ्र उत्पन्न हुआ, माता के स्तनों का दूध पीने वाला अथवा पांच वर्ष तक का बालक शिशु कहाता है। अथवा लक्षण की कल्पना में—शरीरादि संपत्ति से युक्त ठीक समय उत्पन्न व दुग्ध पीने वाला बालक भी शिशु है।

स्तनन्धय ही शिशु है—

मिथ्याहार विहारिण्याः दुष्टावातादयस्त्रयः।

दूषयन्ति पयस्तेन, जायन्ते व्याधयः शिशोः॥

माता के दूध के दूषित आहार विहार से ही स्तनपायी बालक (शिशु) को बहुत से रोग हो जाते हैं। इस कथन से माता का दुग्ध पीने वाला बालक शिशु है।

शिशुओं के भेद—

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तकः।

स्वास्थ्यं तभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोग संभवः॥

—भैषज्य

तीन प्रकार के बालक कहे हैं। क्षीरपायी, क्षीरान्नसेवी तथा अन्नसेवी। यदि दूध और अन्न निदुष्ट हैं तो शिशु को कोई रोग नहीं होगा।

क्षीरपस्यौषधं धाम्ना, क्षीरान्नादस्य चोभयोः।

अन्नेनवा शिशौ देयं, भैषजं भिषजा सदा॥ १॥

मात्रया लङ्घयेद्धारत्री, शिशोर्नेष्टं विशेषणम्।

सर्वं निवार्यते बाले, स्तन्यं नैव निवार्यते॥ २॥

वैद्य को चाहिए कि सदा दुग्धपायी को दूध से, क्षीरान्नसेवी को दोनों से तथा अन्नसेवी को अन्न के साथ औषधि सेवन करावे। यदि लङ्घन ही आवश्यक हो तो माता को कराना चाहिए बालक का शोषण ठीक नहीं, बच्चे के लिए माता का दूध कभी भी बन्द नहीं करना चाहिए। वह सर्वदा पथ्य है।

विडङ्ग फल मात्रं तु जातमात्रस्य भैषजम्।

अनेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्धयेत्॥ विश्वामित्र॥

प्रथमे मासि बालाय, देया भैषज्यरक्तिका।

एकैकां वर्धयेत्तावत्, यावत्सम्बत्सरोभवेद्॥

तदुध्वं माषवृद्धिः स्याद् यावत् षोडशवत्सराः।

तदेव कार्यं बालानां किन्तु दाहादिकं विना॥

अग्निदाह चार वमन विरेचन शिराव्यधादिकं विना॥

—योग०

उक्त श्लोकों में शिशु की भैषज्य मात्रा का वर्णन है तथा उसके लिए कौन सी क्रियायें अहि-तकर हैं इनका भी उक्त पद्यों में निर्देश है।

उत्पन्न हुए शिशु की भैषज्य मात्रा वायविडङ्ग के फल के समान है। इसी क्रम से प्रतिमास बढ़ानी चाहिए।

दूसरा मत—पहिले मास में बालक को १ रत्ती दवा देनी चाहिए, दूसरे मास से क्रमशः १-१ रत्ती की वर्ष तक वृद्धि करे।

बालकों के लिए वही दवा, उपाय व पथ्य होना चाहिए जो बड़ों के लिए है केवल मात्रा न्यून होती है। अग्निदाह, चार प्रयोग, वमन, विरेचन, शिराव्याध आदि कार्य बालकों के लिए हानिकर हैं अतः नहीं करना चाहिए।

उपसंहार—

शिशु शब्द सद्योजात बालक से लेकर स्तनन्धय, स्तन्यपायी, उभयसेवी और अन्नसेवी बालकों के लिए आयुर्वेद शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। उक्त श्लोकों में भी शिशु शब्द का प्रयोग छोटे बच्चों के लिए हुआ है और एक वर्ष तक के शिशुओं की औषधि मात्रा की क्रमशः वृद्धि भी बताई है। इस प्रकार बालकों के भेद शिशु के पर्यायवाचक शब्द एवं शिशु शब्द का प्रयोग जहां हुआ है उन प्रयोगों द्वारा शिशु शब्द पर प्रकाश डाला गया है। आशा है इस संचिप्त मीमांसा से 'शिशुरोगाङ्क' पढ़ने वालों का अकिञ्चन मार्गदर्शन होगा।

—आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम. ए. विद्याभास्कर आयुर्वेदा., वेद व्याकरण, साहित्याचार्य इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी आगरा।

बालक

श्रीमती इन्दु एम० ए०

किसी ने बहुत ठीक कहा है कि 'अपुत्रस्य गृह शून्यम्' वास्तव में बालक के बिना घर सूना ही रहता है एवं रमसान सा लगता है। किसी उर्दू कवि ने भी मौके की बात लिखी है—

वह घर कत्र से बदतर है जो फरजिन्द नहीं है,
किस तरह खुले दिल कि जिगरबन्द नहीं है।
बरबाद वह शजर है कि जिसके समर नहीं,
गुम नाम वह वसर है कि जिसके पिसर नहीं ॥

बच्चा वास्तव में विद्वानों के अनुसार 'आदमी का पिता है (A child is the father of the man)। यदि आदमियों के विषय में कुछ जानना है तो बच्चों के विषय में कुछ नहीं-सब कुछ जानना ही पड़ेगा। गर्भाधान हमारे यहां का प्रथम संस्कार है और बालक की नींव यहीं से लगती है। इस नींव के ठीक से लगाने के लिए मनु के अनुसार—

क्षेत्र श्रुता स्मृता नारी, बीज श्रुतः स्मृतः प्रमान्।
क्षेत्र बीज समा योगासम्भवः सर्वं देहिनाम् ॥
तथा-उभयं तु समं यत्र सा प्रसतिः प्रशस्यते।

अर्थात् उत्तम सन्तान के लिए स्त्री पुरुष दोनों का नीरोग व सर्व विधि ठीक होना आवश्यक है यथा बीज तथा फल होगा। सुश्रुत का कथन है कि—पच्चीस वर्ष का पुरुष व सोलह वर्ष की स्त्री हो तब दोनों की बय योग्य बय (गर्भाधान के लिये) मानी जायगी। इससे कम होने पर गर्भ विगड़ेगा। फल यह होगा कि बच्चा या तो अकाल मृत्यु प्राप्त होगा या दुर्बलेंद्रिय रहेगा व जन्म भर अपने माता-पिता को कोसता रहेगा। हमारे देश में बाल मृत्युओं का यह भी एक मुख्य कारण है।

बय के अतिरिक्त उनका स्वास्थ्य व साधन सम्पन्नता भी आवश्यक है। यदि वे तन्दुरुस्त नहीं हैं तो सन्तान भी स्वस्थ नहीं हो सकती। यहां तक कि यदि दो में एक तन्दुरुस्त है व दूसरा अस्वस्थ तो उन्हें इस कर्म से दूर ही रहना चाहिए। उन्हें

एक राष्ट्र जन का भविष्य नहीं बिगाड़ना चाहिये। साधन सम्पन्न हुये बिना पोषण व शिक्षा में बाधा रहेगी।

मासिक श्राव के पश्चात् का पक्ष स्त्री के लिये गर्भवती होने का समय है। इस पक्ष में उस मास के शेष दिनों की अपेक्षा गर्भाधान की अधिक संभावना रहती है। प्रथम चार दिन तो एकदम निषिद्ध हैं। पांचवीं से सोलहवीं रात्रि तक ही उत्तम गर्भाधान का समय है। इनमें उत्तरोत्तर रात्रियों अधिकाधिक श्रेष्ठ हैं। युग्म रात्रियों पुत्रोत्पत्ति के लिये व अयुग्म रात्रियों कन्या के लिये प्रशस्त हैं। डिम्ब का ठीक समय पर शुक्र से संयोग हो जाय तो गर्भाधान निश्चित है। गर्भाधान से जो वस्तु बनती है वही गर्भ है और बाहर निकलने पर वही बालक कहलाता है। मैथुन के कई दिन बाद तक भी गर्भाधान सम्भव है।





यदि गर्भाधान उत्तम (शास्त्रीय) तरीके से हुआ है एवं आगे भी गर्भ रक्षा के लिये अनुकूल आहार विहार, उत्तम आचार व चेष्टायें तथा सुन्दर व श्रेष्ठ भावनायें हों तो निश्चित ही बालक (सन्तान) भी इच्छानुकूल ही उत्तम होगा। सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है—

आहाराचार चेष्टाभिर्धादृशिभिः समन्वितौ ।

स्त्री पुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोपि तादृशः ॥

एक पाश्चात्य पंडित डा० निकोलस भी इसके समर्थन में कहता है कि—An impression upon the mother, of any kind, acts upon the child. Children are born happy or miserable, according to the shape of their mothers during pregnancy, just they are born healthy or diseased. The most extraordinary peculiarities are inflicted upon the children of the mother and this may extend to the body as well as mind.

सार यह है कि यहीं से बालक की नींव लगती है और यहीं से भारी सावधानी की आवश्यकता है। यह वह समय है जब हम सन्तान को इच्छानुसार बना सकते हैं—राष्ट्रोद्धारक भी और राष्ट्रघाती भी, शूरवीर भी और निराकार भी, परम चतुर और बुद्धिमान भी व महामूर्ख भी, मृत्यु तक स्वस्थ रहने रहने वाला भी व सदा रोगी भी, सुन्दर भी और असुन्दर भी, देवतुल्य भी व कंस रावण सा दानव भी। सार यह है कि जैसे भी आचार, विचार, भावनायें, कार्य व आहार विहार माता पिता के होंगे, वैसी ही सन्तान होगी। आदि मानव मनु की भी यही राय है कि—यादृश्यं भजते ही स्त्री, सुतं सूते तथा विधम।

गर्भ स्थिति के बाद स्त्री का मासिक श्राव बन्द हो जाता है और गर्भ धीरे धीरे बढ़ता है। जितने दिनों के अन्तर से स्त्री रजस्वला होती है उससे दश

गुने दिनों में बच्चा पैदा हो जाता है। बहुत सी स्त्रियों का आर्तव कालान्तरः २८ दिवस का होता है। इसीलिए बालक $28 \times 10 = 280$ दिन में पैदा हो जाता है। यदि यह कालान्तर २७ या २९ या पूरा ३० दिनों का होता है तो बच्चा २७०, २९० या ३०० दिनों में पैदा होता है। किसी किसी समय रोग के कारण गर्भ की पहिचान कठिन हो जाती है।

गर्भकाल में कई एक गड़बड़ियों की बजह से गर्भस्त्राव व पात का भी डर रहता है। इसीलिए ऐसी स्थिति से बचने के लिए शास्त्रवचन का पालन करते हुये हर प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए। कभी कभी गर्भ सूख भी जाता है। ऐसा होने पर अन्य सावधानियों के साथ कुछ फलप्रद चिकित्सा भी करानी चाहिए। कभी कभी कुपित वायु गर्भाशय द्वार को रोककर गर्भ का श्वास बन्द कर गर्भगत जीव को मार भी देता है। ऐसा हो जाय तो अविलम्ब उसे बाहिर निकाल दें वरना गर्भिणी की जान पर आ बनेगी।

प्रसव के समय भी सावधानी की पर्याप्त आवश्यकता है वरना प्रसव विलम्ब होकर गर्भ व गर्भिणी दोनों के लिए खतरनाक होगा। प्रसव के वक्त होशियार धाय या नर्स व सम्पूर्ण आवश्यक सामान, शास्त्रीय ढङ्ग का सूतिकागार व चतुर स्त्री वैद्या की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए ताकि प्रसव सुरक्षित हो। प्रसव के समय कुछ आवश्यक ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव बालक के समस्त जीवन पर पड़ता है। जिन्हें ध्यान से अवश्य कर लेना चाहिए क्योंकि साधनों, संस्कारों एवं समुचित परिचर्या व सावधानियों का प्रभाव उसके आगामी जीवन पर बहुत जबरदस्त पड़ता है। उदाहरण के तौर पर एक दो उपायों पर प्रकाश डाला जाता है।

—शेषांश पृष्ठ ३१ पर।

सृष्टि और मानव

कविराज श्री हरिकृष्ण सहगल

हम यह विचार कर रहे हैं कि शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन क्या है ? और संसार के अन्य वैज्ञानिक यह निश्चय करने में संलग्न हैं कि सृष्टि का विकास कैसे हुआ ? सर्व प्रथम प्राणों का सञ्चार कब और किस में हुआ ।

इसमें संशय नहीं कि हमारे शास्त्र कहते हैं कि सर्व प्रथम ब्रह्मा के दायें भाग से स्वयम्भू मनु और बायें भाग से शतपुष्पा का निर्माण हुआ और उसके बाद योनि द्वारा मानव जन्म होने लगा परन्तु इस विषय के साथ अमृत मंथन की कथा का बहुत गहरा सम्बन्ध है । जन्म देने वाली अप्सरायें तथा लक्ष्मी समुद्र से आई थीं । धन्वन्तरि सा देव पुरुष समुद्र जल से निकला था ।

इस भू मण्डल का $\frac{1}{3}$ भाग स्थल और $\frac{2}{3}$ भाग जल है, समुद्र कहीं कहीं पर पांच छै मील तक गहरा है ।

जापानी लोग अपनी उत्पत्ति मछलियों से मानते हैं । मेरीन लैंड फ्लोरिडा में ऐसी मछलियां होती हैं जो बच्चों को दूध पिलाती हैं । यह मछलियां मनुष्यों के समान सोचती हैं, आवाज की नकल करती हैं, हमारे समान रोती और हंसती हैं ।

जल परियां जिन्हें अंग्रेजी में (Letrmeria chalumnae) कहते हैं उनका अर्द्ध ऊपर का शरीर भाग मनुष्यों की तरह का तथा निचला भाग मछली का होता है । इतिहास में लिखा है कि कामरूप के राजा कुमार भास्कर ने महाराज हर्ष वर्द्धन को जो पुस्कार भेजे थे उनमें एक जल परी भी थी ।

पाठक आप सोचते होंगे कि शिशु रोगाङ्क में विषय तो शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन है और सहगल ने यह क्या समुद्रों की चर्चा चला दी है ।

यह ठीक है कि हमने जो भूमिका बांधी है उसका विषय से स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई नहीं देता परन्तु हम जो कुछ बताने जा रहे हैं उस विषय को समझने में इससे आपको सहायता मिलेगी ।

शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन तो हम प्रसूति विज्ञानांक में भ्रूण की आत्मकथा में लिख चुके हैं । आज हमें उससे पूर्व के जीवन पर कुछ कहना है ।

इस संसार में जीवन का आरम्भ कैसे हुआ यह एक बहुत ही कठिन प्रश्न है । सर्व प्रथम जीवन के चिन्ह समुद्र में उत्पन्न हुए थे । (अलंकारिक भाषा में अमृत मंथन की कथा में इसका वर्णन है ।)

लगभग दस करोड़ वर्ष के पूर्व काल को स्पंज का काल कहा जाता है । वही स्पंज जिसके टुकड़े से स्कूलों के बच्चे स्लेटें साफ किया करते हैं । समुद्र के नीचे ऐसे प्राणी हैं जिनके शरीर इंच के सौवें भाग के बराबर हैं और वह समुद्र की नन्हीं सीपियों को भी देव समझते हैं । यह जीव बाल बराबर पतली नलियों से अपना पेट भरते हैं । करोड़ों अरबों वर्ष पूर्व यही जीव विद्यमान थे । इनके मिलने से स्पंज की रचना हुई है । इसके बाद सीपियों के कवच बने । आप कह सकते हैं कि सर्व प्रथम जीवन के चिन्ह इन सीपियों में उत्पन्न हुए थे ।

समुद्र में सीपी से उन्नति करते करते जल परियों और मानव की उत्पत्ति हुई । इसी बात को अमृत मंथन की कथा में अलंकारिक भाषा में लक्ष्मी और भगवान धन्वन्तरि के अवतरण को कह कर दर्शाया गया है ।

जल केवल जल जीवों का ही प्राण नहीं, यह जितना जल जीवों का है उतना ही यह मानवों का भी है । मानव जल से आया है । जल दो



भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन के मिलाप से उत्पन्न होता है। यह मानव का आवश्यक भोजन है। रक्त, श्लेष्मिक स्रावों, पाचक रसों तथा पित्त सब में जल ही तो होता है, पसीना मल तथा मूत्र में जल ही तो शरीर से निकलता है। किसी की ले जाना, कहीं पहुंचने देना यह सर्व कार्य जल ही तो करता है। वायु तो जल के बिना ऐसा है जैसे मोटर बिना ड्राइवर। समुद्र से उत्पन्न मानव का सम्बन्ध आज भी जल से पूर्ववत् बना हुआ है। यही जल भ्रूण तक भोजन ले जाता है तथा उससे मलों को निकालता है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि कठिन से कठिन पदार्थों में भी बहुत कुछ जल होता है। किशमिश में जल १४.२ प्रतिशत, छुहारों में १५.१ प्रतिशत, अंजीरों में २२.२ प्रतिशत, सूखे मेवों में २८ प्रतिशत, केलों में ७५ प्रतिशत, अंगूरों में ७७.३ प्रतिशत, आलुओं में ७८.३ प्रतिशत, मछली में ४१ प्रतिशत, सेबों में ४५ प्रतिशत, गाजरों में ८८.२ प्रतिशत, संतरों में ८६.१ प्रतिशत, लीचू में ८१.२ प्रतिशत, नाशपाती में ८६.४ प्रतिशत, बन्दगोभी में ६१.५ प्रतिशत, पालक में ६२.३ प्रतिशत, कद्दू में ६३.१ प्रतिशत आदि वनस्पतियां समुद्री घास की सन्तानें हैं। इसीलिए अब भी उनमें जल है और उनका पोषण जल द्वारा होता है।

आओ अब जल की बात को छोड़ दें और स्थल की बात सोचें।

एक अरब वर्ष पूर्व इस भूमि पर न कोई वनस्पति थी और न कोई जीव था। इसके बाद जो जीव आये उनमें समुद्री कीड़ों के समान कोई अस्थि न थी। उनके शरीर लिचलिचे थे। अब इनका कोई अस्तित्व नहीं रहा।

करोड़ों वर्षों के बाद अस्थियां वाले तथा कठोर शरीरों के जीवों की उत्पत्ति हुई, यह जीव भी मर गये। इनके ढांचे और पंजर यूरोप के अजायबघरों में पड़े हैं। इनमें से जिनके कंकाल दबकर सुरक्षित रह गये उन्हीं से आज से १० करोड़ वर्ष पूर्व के

जीवों का परिचय मिलता है।

इन कंकालों से मालूम हुआ कि आठ करोड़ वर्ष पूर्व बहुत बड़े देवकाय और भारी जीव रहते थे। इनमें अधिकांश का भार १००० मन से भी अधिक होता था। अगर यह अपनी पिछली टांगों पर खड़े होजायें तो पार्लियामेंट हाउस दिल्ली जितने ऊंचे होते थे। चलते फिरते रोडरोलर थे, जब यह दौड़ते तो एक भूकम्प प्रतीत होता और गर्जते तो बादलों की गड़गड़ाहट मालूम होती थी। इनका अन्डा १०० फुट परिधि का होता था और इन्हें रैपटाइल्स जाति का कहा जाता था। इनके युग को छिपकली युग कहा जाता है। और इन जीवों को डी-नो-सार के नाम से याद किया जाता है। डी-नो-सार की लंगभंग ५०० किस्में थीं। डी-नो-सार का छोटा रूप गोह है। अभी जुलाई १९६१ में दिल्ली के साजा सिनेमा में इन्हीं पर एक अमेरिकन फिल्म (जिसे हम भूल चुके हैं) दिखाई गई थी।

डी-नो-सार में से ऐलुसारस ३० फुट से अधिक लम्बा था। त्रोनियो सारस ६० फुट लम्बा था। इसका भार १००० मन था, यह ऐलुसारस के समान मांसाहारी न होकर शाकहारी था। सटगो सारस भी झाड़ियां खाता था। टर्नियो सारस बहुत भयानक था। इन सबके पूर्वज जल से आये थे। और सीपी से उन्नति करते करते इस देवकाय अवस्था तक पहुँचे थे।

आइये अब आपको हम बताते हैं कि वनस्पतियों का काल कब आरम्भ हुआ ? न जाने कब की बात है, किसी समय में एक छोटा सा गोला समुद्र में जा गिरा, और जल से शक्ति प्राप्त कर उसे जीवन मिल गया। यह गोला एक बीज था। इस एक बीज से असंख्य वनस्पतियों की रचना हुई। अनुमान लगाया गया है कि केवल फूल ही संसार में ढाई लाख प्रकार के हैं।

इस समय सब से पुराना पौदा समुद्री घास है। सम्भव है कि यह स्थल की वनस्पतियां इसी की



शिशु योगाङ्कः

सन्तानें हों। कुछ समय हुआ भूमि के नीचे चट्टानों से एक दो फुट चौड़ी जड़वाले पत्तों का कंधा निकला था। वैज्ञानिकों ने उसकी ३७ करोड़ वर्ष की आयु का अनुमान किया। देखने में यह समुद्री घास जैसा था। दलदलों में से इसके समान प्राचीन और इससे छोटे पौदे मिले हैं।

भूगोल को पढ़ने से आपको मालूम होगा कि यूरोप में एक *Ice sheet* वर्ष का काल हुआ है। उस वर्ष के काल में उत्तरीय यूरोप के पौदे नष्ट हो गये। आज से सात आठ हजार वर्ष पूर्व जब सर्दी कम हुई तो नवीन प्रकार के पौदों की उत्पत्ति हुई। इसके बाद भयानक वर्षा का काल आया और फिर वनस्पतियां नष्ट होगईं। इसके बाद जब शुष्कता आई तो बाजरा, मक्का और गेहूं का युग आरम्भ हुआ।

पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि वानर से उन्नति करता हुआ मानव अपने आधुनिक रूप में आया है। वीर्य कीट और डिम्ब के मिलाप पर अपने कार्यों से प्रेरित जीवात्मा गर्भ में प्रवेश करता है ऐसा हम शास्त्रों में पढ़ते हैं, परन्तु इसको आधुनिक रूप कब मिला यह एक जटिल प्रश्न है। अनेक धर्मों में इसको अलग अलग ढंग पर बताया गया है।

वेद में आता है कि वह कौनसा महान कारीगर है जिसने इस शरीर की रचना की है। ज्यों-ज्यों इस शरीर को देखें आश्चर्य होता है कि कैसा बना दिया इसको इतने छिद्र हैं इसमें। इस पर भी भीतर का जीव भाग कर कहीं नहीं जाता।

तीसरे उपनिषद् में कथा आती है कि जब संसार में सब शरीर बन चुके तो ऋषियों और योगियों के सूक्ष्म शरीर इस संसार में आये, ईश्वर के बनाये सर्व शरीरों को उन्होंने देखा। अन्त में उन्होंने मानव शरीर को देखा। देखते ही बोले यह प्रिय है, सुन्दर है। और तब उसके भीतर प्रविष्ट हो गए। तभी से शरीर को ऋषि भूमि कहा जाता है। —कविराज श्री हरिकृष्ण सहगल, बगीची अलाउद्दीन, दिल्ली।

:: पृष्ठ २८ का शेषांश ::

(१) नाल काटते (नाल-छेदन) वक्त बालक की नाभि में कटे हुए नाल पर बादाम के छिलके का कोयला और उत्तम कस्तूरी समभाग बारीक पीसकर अच्छी तरह बुरक देने से नाभिपाक व डिम्बा सर्दी के रोग व उदर सम्बन्धी व्याधियों से बालक हमेशा सुरक्षित रहेगा—

(२) असली खालिश शहद थोड़ा थोड़ा बच्चे के प्रत्येक अङ्ग को पैदा होने के दिन ही मालिश करवा दें। फिर घण्टे भर बाद रुई से पोंछ कर गुनगुने पानी से स्नान करा दें। अकाल मृत्यु से बच्चे बचे रहेंगे। यदि प्रसव होते ही बच्चे के मुंह में खालिश शुद्ध शहद एक अंगुली लगा दें व ललाट पर मोरपङ्क से ॐ अङ्कित कर दें तो भी आयु बढ़ेगी व अकालमृत्यु दूर रहेगी।

(३) प्रसव के बाद एक माह के भीतर भीतर एक अबीध मोती बच्चे को निगलवा दिया जावे तो बच्चा माता, सूखा, मोतीभरा आदि आदि से बचा रहेगा। यदि इन रोगों का आक्रमण होगा भी तो बहुत हल्का होगा।

प्रसव के बाद भी माता के आहार बिहार तथा पालन-पोषण व्यवस्था का शिशु पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। किसी भी देश का गौरव, धनधान्य, प्रगति तथा समृद्धि वहाँ के स्वस्थ, सुगठित, बुद्धिमान व कर्मठ बालकों पर ही निर्भर है। पर दुःख है कि राष्ट्र के सच्चे कर्णधार एवं उदीयमान नागरिकों के समुचित प्रतिपालन पर हमारे देश में ध्यान नहीं दिया जाता है एवं माताओं के मार्गदर्शनार्थ साहित्य की बड़ी कमी है। शिशु प्राशन की व्यवस्था इसलिए शास्त्र सम्मत होनी चाहिए। ऐसा न होने पर बालक को विभिन्न प्रकार के रोग हो जाते हैं। बड़ों को होने वाले प्रायः सभी रोग बालकों को हो सकते हैं जिन पर प्रकाश डालना इस लेख का विषय नहीं। —श्रीमती इन्दु एम० ए० द्वारा श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा, किशनगढ़ (राज०)

शिशु का गर्भाशय स्थित जीवन

श्री पं० चन्द्रप्रकाश शास्त्री प्रभाकर आयुर्वेदाचार्य

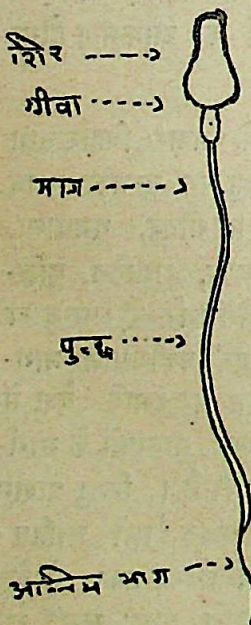
आयुर्वेद में आयु भर का ज्ञान (साइंस आफ लाइफ) निहित है। मानव की आयु जन्म से मृत्यु तक तो सभी जानते हैं। परन्तु जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को भी भारतीय ऋषियों ने भली प्रकार बतलाया है।

यह सूक्ष्म शरीर का जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में चक्कर खाने के बाद अपने कर्मानुसार पुरुष के वीर्य का आश्रय लेकर गर्भाशय में आता है। इसमें रज और वीर्य के संयोग से पूर्व इनका शुद्ध होना परमावश्यक होता है। क्योंकि—

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद् विधिपूर्वकः।

ऋतु चेन्नाम्बु बीजानां सामग्र्यं चक्रुरो यथा ॥

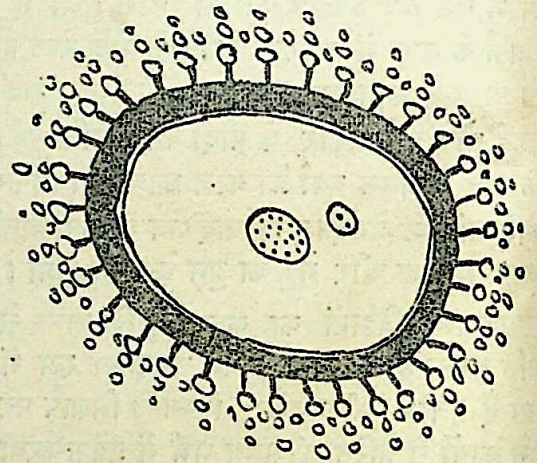
अर्थात् ऋतु (मासिक धर्म या गर्भस्थिति के योग्य समय), क्षेत्र=गर्भाशय, जल=अन्न रस, बीज=वीर्य और रज के समूह से ही अंकुर उगने के



चित्र नं. १—शुक्रकीट और उसकी रचना

समान विधिपूर्वक गर्भ होता है। इसके लिये कई बार कितने ही प्रयत्न करने पड़ते हैं। औषधियां रज वीर्य और गर्भाशय की शुद्धि के लिए सेवन करनी पड़ती हैं। दैवव्य-पाश्रय चिकित्सा में हरिवंश पुराण की कथा सुनना, शतचंडी का विधान करना और भक्ति से शिवजी का पूजन करना होता है। इन उपायों के अनन्तर गर्भाधान संस्कार करके पुत्रोत्पन्न किया जाता है। क्योंकि पुं का अर्थ

है नरक सो जो नरकों से माता-पिता की त्रि=रक्षा करता है। इसलिए इसे पुत्र कहते हैं। प्रभु की माया विचित्र है। किसी के घर में पुत्रों की बहुतायत है तो कोई पुत्र तो कोई पुत्री के लिए भी तरसते हैं। सुश्रुत ने वीर्य की अधिकता में पुत्र तथा रज की शक्ति



चित्र नं. २—स्त्री बीज की रचना

की अधिकता में पुत्री का होना कहा है। मासिक धर्म की युग्म रात्रियों में गर्भाधान से पुत्र और विषम रात्रियों में कन्या की उत्पत्ति होती है। ऋतुधर्म के एक सप्ताह में पापी या मलिन आशय का जीव आता है। ११ वीं और १३ वीं रात्रि निन्दित हैं। एक सप्ताह के पश्चात् सोलह रात्रि तक जितना बाद में हो उतना अधिक धार्मिक होता है। इसमें भी चौदहवीं रात्रि के गर्भ से गुण और भाग्य का निधि धर्मात्मा और अलौकिक जीव उत्पन्न होने के लिए आता है। मैथुन के समय में पिता के तथा गर्भावस्था में माता के विचारों का भी प्रभाव शिशु के जीवन पर पड़ता है। इसके लिए श्री अभिमन्यु का चक्रव्यूह जानना एक सर्वविदित उदाहरण है।

गर्भावस्था की पहिचान—

गर्भस्थिति हो जाने पर मैथुन के पश्चात्

शिशु राजाङ्कः

तत्काल ही स्त्री को श्रम (थकान), ग्लानि, प्यास, हड्फूटन और योनि में फड़कन होती है। आर्तव का आना बन्द हो जाता है। उससे गर्भ के अपरादि का पोषण होता है। स्तनों के अप्रभाग पर कालापन छा जाता है। पेट पर बालों की पंक्ति सी उठी दिखाई देती है। नेत्रों की पलकें विशेष भिचती सी हैं। बिना कारण के वमन या प्रातः वमन होने लग जाता है। सुगन्धि भी बुरी लगती है। थूक अधिक आता है। रस और वायु के निमित्त से पेट बढ़ने लग जाता है। अमरुद या नाशपाती के आकार वाले गर्भाशय का मुख (अप्रभाग) गर्भ के धारण किये बिना तो नासिका के अप्रभाग जैसा कठोर होता है। परन्तु गर्भ हो जाने पर वह होठों के समान कोमल हो जाता है।

गर्भावस्था में मैथुन से बचाव करना और माता को पुष्टिकारक भोजन देना परम आवश्यक होता है। गर्भावस्था में स्थित शिशु के लिये उपयोगी आहार विहार का ही प्रयोग माता को करना चाहिए।

गर्भ की क्रमशः वृद्धि

प्रथम रात्रि में—

भ्रूण बनने या गर्भ में आने के लिये सूक्ष्म शरीर के साथ डिम्ब प्रणाली से छोटे गोल या वादाम के आकार के १ इंच के $\frac{1}{1000}$ भाग वाले पीले और अन्दर से श्वेत आवरणों से युक्त डिम्ब में लम्बी पूंछ वाले $\frac{1}{1000}$ इंच लम्बे वीर्यकीट के रूप में प्रवेश करके प्रोटोप्लाज्म और मींगी परस्पर मिल जाते हैं। मींगियां १ से २-४-८ बढ़ती और फटती हुई क्रोमोटोन तथा छोटे छोटे दुकड़े V अक्षर के समान क्रोमोसोम्स बनते जाते हैं। क्रोमोसोम्स १० की संख्या में सेंट्रोसोम १ से २ बढ़ते बढ़ते अंगूर के गुच्छे के समान एकत्रित होकर १ रात्रि में सेल समूह—कलल (कीचड़) के रूप में

हो जाते हैं।

यदि वीर्य कीट के प्रवेशानन्तर डिम्ब का छिद्र शीघ्र बंद न हो तो अन्य कीटों के आजाने पर वायु की कृपा से जुड़वां बच्चे अथवा अप्राकृतिक शिशु उत्पन्न होने के लिये बन जाते हैं।

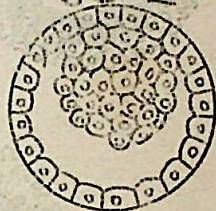
गर्भाशय स्थित शिशु पांच रात्रि में—

गर्भाशय की रक्त वर्ण की श्लैष्मिक दीवार में

कलल

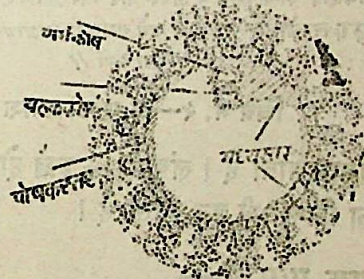


बुद्बुद



चित्र नं. ३—भ्रूण की क्रमशः उत्पत्ति

पहुँच कर गर्भ चिपक जाता है और इन्ध के १/२०० का रूप धारण करता है। अन्दर से रिक्त स्थान में तरल भरने लग जाता है और बाहर से सैलें फैलने



चित्र नं. ४—भ्रूण की क्रमशः उत्पत्ति

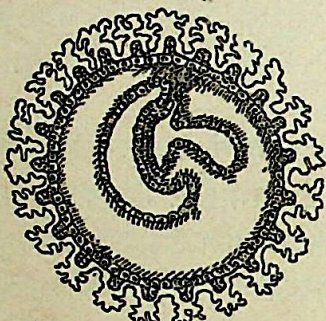
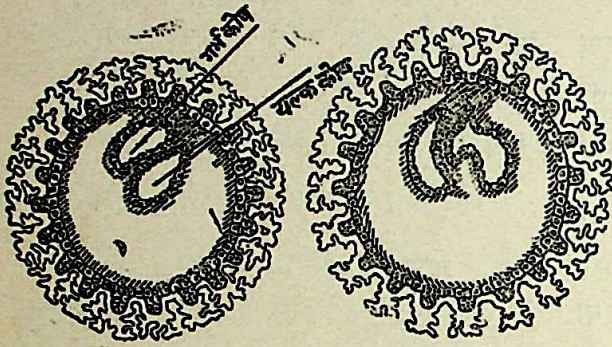
लग जाती हैं। इस प्रकार ५ या ७ रात्रि में बुद्बुद (बुलबुले) जैसा हो जाता है। फिर बाह्यकला बढ़ने पर छोटे छोटे बालों जैसे अंगूर उस भ्रूण पर उत्पन्न हो जाते हैं जो उसके पालन-पोषण, जीवन और वृद्धि के लिये सहायक होते हैं।

दश दिनों में—

भ्रूण (गर्भ) दश दिन में बेर जितना बन्ता है। फिर इसके बाद पुरुष (पुत्र) हो तो अंडाकार पिंड जैसा



होता है। यदि कन्या (स्त्री) हो तो पेशी के आकार का एवं नपुंसक हो तो अर्बुद (आधे कटे अंडे) के



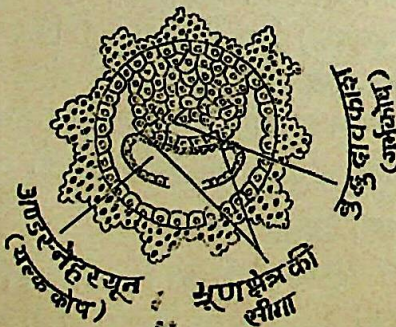
गर्भकोष यलककोष के ऊपर धीरे धीरे आवरण बन रहा है। यलककोष कुछ लम्बोताता से रहता है जो आगे चलकर अक प्रणाली और गहरोता को जन्म देगा ॥

चित्र नं. ५—अणु की क्रमशः उत्पत्ति

समान होता है। लंबाई १ इंच होती है और हृदय का चिह्न भी बन जाता है।

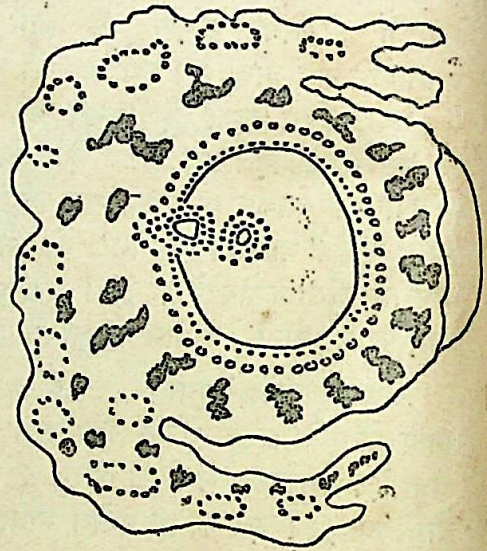
एक मास में—

१ मास में शिर बन जाता है। तथा उसमें



चित्र नं. ६—स्त्री बीज गर्भकला के अन्दर

मस्तिष्क, नेत्र, कर्ण भी बन जाते हैं। फेफड़े, वल्ले एवं हृदय के दो भाग बन जाते हैं। लंबाई १ इंच और वजन (भार) ११ मास हो जाता है। गर्भ वस्ति में ही स्थिर रहता है। इस चौथे पाँच सप्ताह में गर्भोदक भी बनने लग जाता है। शिशु के उत्पन्न होने तक लगभग २ किलो तक



चित्र नं. ७—गर्भकला और अणु आवरण (द्वितीय मास) जाता है। इसी में गर्भाशय के अन्दर शिशु तैरा सा रहता है।

दो मास में—

२ मास में बाहु आदि अंगों का विभाग जाता है। तथा गर्भ पेट की दीवार को छूने जाता है। द्वितीय मास में धमनी, शिरा, जड़ हंसली बनने लग जाते हैं। नेत्र, कर्ण, नासि सुषुम्ना, शिर, कपाल, तालु, जिह्वा एवं धड़, लियां, तिहरी, पित्ताशय, वृक्क, उपवृक्क, अंडकोष मूत्राशय बनने और बढ़ने लग जाते हैं। लंबाई इंच और वजन ४ मास हो जाता है।

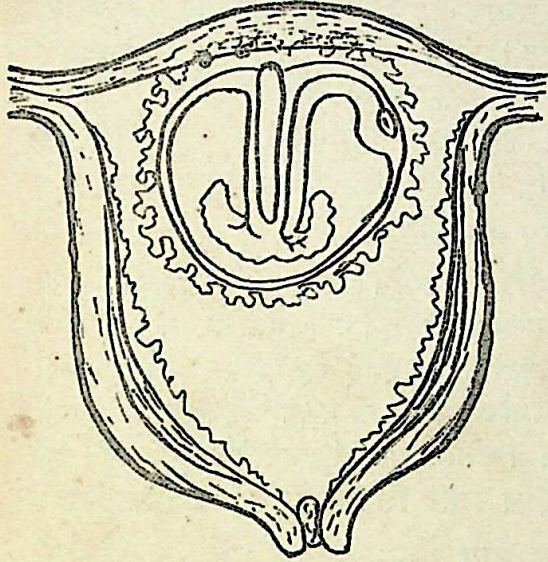
तीन मास में—

३ मास में—नख, रोम, अस्थि, चर्म, लिंग



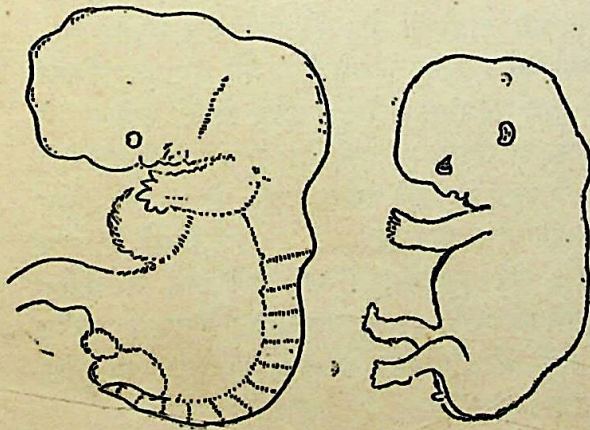
शिशु रोगाङ्क

की उत्पत्ति होती है। पुत्र और पुत्री का चिह्न इसी मास में उत्पन्न होता है। इसीलिये इस मास में ऋषियों ने पुंसवन संस्कार बतलाया है। जिसमें



चित्र नं. ८—पांचवें सप्ताह का अणू

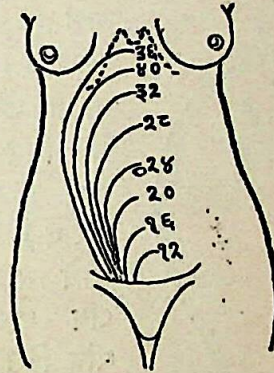
पुत्रोत्पत्ति के लिये स्त्री दक्षिण नासिका में एवं कन्या की इच्छा से बायें नासिका में पूर्व या उत्तर दिशा की ओर की शाखा से बटांकुर, श्वेत सरसों, उड़द, गिलोय, ब्राह्मी आदि का रस निकालकर पुण्य या पुरुष नाम के नक्षत्र में प्रयोग किया जाता है। औषधि



चित्र नं. ९—आठवें सप्ताह का अणू

रूप में सूर्य तत्व को बढ़ाने के लिये मोरपंख के चंदे की भस्म गुड़ में मिलाकर अथवा हजरतलहूद (पाषाण हृदय), स्वर्णभस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म एवं शिवलिङ्गी के बीज, पलाशांकुर और लक्ष्मणादि का प्रयोग होता है। फल घृत भी खिलाया जाता है। गर्भ की रक्षा के लिये मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्मादि आंवले के मुरब्बे में तथा गर्भपाल रस और गर्भचिन्तामणि

विभिन्न सप्ताहों में
गर्भाशय का गर्भिणी में उत्थान



चित्र नं. १०

रस देने होते हैं। चिन्ता, उपवासादि छोड़ने पड़ते हैं। तृतीय मास में अपरा बन जाती है, जो डेढ़ मास से बनती प्रारम्भ होती है। माता के स्तनों में दूध भी उत्पन्न होजाता है। लंबाई ३ इंच और वजन डेढ़ तोला होजाता है। नाल लगभग २२ इंच लंबी और आधी इंच मोटी होती है। यदि नाल १५ इंच से छोटी हो तो प्रसव में देरी होती है। नाल में प्रायः १० चक्कर होते हैं।

चतुर्थ मास में—

४ मास में—रस, रक्तादि सातों धातुओं की क्रमशः उत्पत्ति होती है। त्वचा के नीचे वसा आ जाती है। लम्बाई ५-६ इंच और वजन १० तोले होता है। गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगसन्धि से नाभि के मध्य तक बढ़ जाता है। चतुर्थ मास



धन्वन्तरि

में स्त्री द्वि हृदया होने के कारण दौहृदिनी कहलाती है। इसमें उसकी इच्छाओं को सम्भवतः अवश्य

पूरा करना चाहिए। नहीं तो उन उन अङ्गों की इच्छायें पूरी न होने पर उनमें विकार हो जाते हैं। गर्भावस्था के ४ मास तक के रक्तस्राव को गर्भस्राव और ४ से ६ या ७ मास तक को गर्भपात कहते हैं। (गर्भस्राव या पात की चिकित्सा के लिए धन्वन्तरि का नारीरोगाङ्क देखिए) गर्भ के चौथे मास में शिशु जंब अपने हाथ-पांव हिलाता है तो माता के पेट में धक्का सा लगता है। कष्ट और पीड़ा होती है एवं गर्भ गिरता मालूम पड़ता है परन्तु गिर नहीं रहा होता।

चित्र नं. ११—प्रथम, चतुर्थ एवं नवम मास में गर्भाशय के आकार में क्रमशः परिवर्तन

पंचम मास में—

पांचवे मास में गर्भाशय में स्थित शिशु को भूख-प्यास आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जिसके लिए कमल और नाल उसकी पूर्ति करते हैं। परन्तु मल मूत्रादि का त्याग अन्दर नहीं होता। शिशु के हृदय स्पन्दन की ध्वनि स्टेथिस्कोप आदि द्वारा स्पष्ट सुनाई देती है। गर्भाशय स्थित शिशु का हृदय एक मिनट में १२० से १४० तक गति करता है। उसकी हृदय गति सुनाई देना जीवन का चिह्न है। एकसरे से भी उसके दर्शन हो जाते हैं।

परन्तु गर्भावस्था में पारदर्शक यन्त्र एकसरे की किरणों को पार करने से गर्भाशयस्थ शिशु की जीवनीय नाड़ियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए गर्भावस्था में सम्भवतः एकसरे नहीं कराना चाहिए। पंचम मास में लम्बाई ८ या १० इञ्च हो जाती है और भार २१ तोले होता है। नाल एक फुट हो जाता है। गर्भ नाभि से २ इञ्च नीचे तक पहुंच जाता है।

षष्ठम मास में—

जरायु से आवृत हुआ माता की दक्षिण कोख में भ्रमण करता है। बन्द नेत्रों पर पलकें बनने लग जाती हैं। लम्बाई लगभग १२ इञ्च हो जाती है। गर्भ नाभि तक पहुंच जाता है। छठे या आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है। छठे मास का उत्पन्न शिशु कुछ ही घण्टे जीता है।

सप्तम मास में—

सातवें महीने में गर्भोदक में तैरता हुआ एक स्थान पर ऐसे स्थिर नहीं रहता, जैसे विष्ठा का कृमि एक स्थान पर स्थिर नहीं होता है। इस प्रकार चेष्टा करता हुआ (पौराणिक आधार पर) वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

हे श्रीपति, जगत् के आधार, मैं आपकी शरण हूं। हे प्रभो आपकी माया से मोहित हुए मैंने शरीर, पुत्र, स्त्री आदि में मोह किया। अच्छे और बुरे कर्म किये। परन्तु जिनके लिए मैंने सब कुछ किया वे अब मेरे साथ नहीं हैं। यहां तो मैं अकेला ही दुःख पा रहा हूं। जठराग्नि मुझे जला रही है। कीड़े सता रहे हैं। अपने अङ्गों को भी नहीं हिला पा रहा हूं। बहुत ही दुखी हूं। इस पिंजरे से आप मुझे कब छुड़ायेंगे ? भगवन् ! अब मैं बाहिर आने पर भक्ति ज्ञान उपासनादि ऐसे उपाय करूंगा जिससे मैं आवागमन के चक्र से छूट कर मुक्ति प्राप्त करूं।'।

गर्भाशय में स्थित शिशु को उस समय पौराणिक गाथाओं के आधार पर सौ जन्मों का ज्ञान



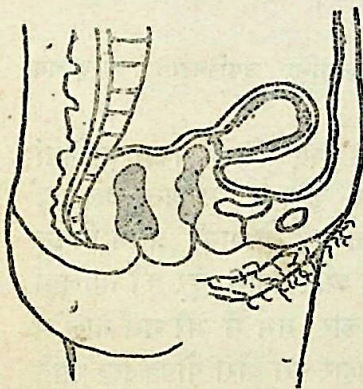
शिशु रोगाङ्कः

होता है जो बाहिर आने पर नहीं रहता। उसी ज्ञान के चले जाने के कारण ही शिशु उत्पन्न होते ही रोता है। उस समय यदि न रोवे तो पीठ पर हल्की हल्की थपकियां मारी जाती हैं। कृत्रिम श्वास की प्रक्रिया की जाती है। जरायु को गर्भ तवे आदि पर तपाया जाता है। पत्थरों के टकराने आदि का शब्द शिशु के कानों के पास किया जाता है। उसे गर्भ और ठण्डे जल में डुबोया या नहलाया

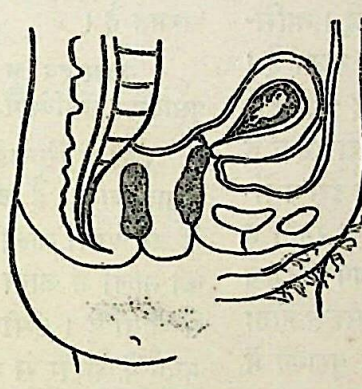
है। परन्तु अष्टम मास प्रसव के लिए कष्टदायक ही हैं। अष्टम मास में गर्भ बढ़ता हुआ उरोऽस्थि के नीचे तक आ जाता है।

नवम मास में—

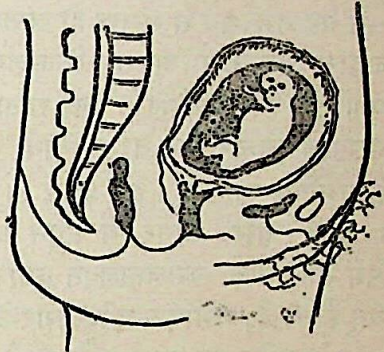
नवम मास में लम्बाई २० इञ्च और वजन लगभग ५ पौंड हो जाता है। गर्भ उरोऽस्थि का स्पर्श कर लेता है। फिर दशम मास में नीचे को



चित्र नं. १२



चित्र नं. १३



चित्र नं. १४

द्वितीय मास के अन्त की गर्भावस्था, तृतीय मास के अन्त की गर्भावस्था, चतुर्थ मास के अन्त की गर्भावस्था।

जाता है। उस समय शिशु का रोना श्वास प्रक्रिया को चालू करना होता है। नहीं तो शिशु की मृत्यु हो जाती है और श्वास फेफड़ों में न जाने के कारण उस मृत शिशु के फेफड़े जल में डूब जाते हैं अन्यथा श्वास लेने के बाद मृत के फेफड़े जल में तैरते हैं। सप्तम मास में गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा नाभि से २½ इञ्च ऊपर तक पहुँच जाता है।

अष्टम मास में—

आठवें महीने में ओज अस्थिर होता है। वह यदि माता की ओर हो तो प्रसव हो जाने पर शिशु की मृत्यु हो जाती है और यदि वह ओज बालक की ओर हो तो माता मर जाती है। इसलिए सातवें मास का कृश, परन्तु भाग्यशाली शिशु अथवा नवम् मासादि का बच्चा तो जीवित रहता

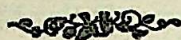
ढलक कर आ जाता है। ६ से १२ मास तक भी गर्भ से शिशु की उत्पत्ति हो सकती है। वैसे गर्भ मासिक धर्म अथवा गर्भ धारण दिवस से प्रायः २८-२८ दिनों के बाद बाहर आता है। उपविष्टक या नागोदर की अवस्था में भी प्रसव में देरी लगती है। उपविष्टक में गर्भस्थ शिशु सूखता जाता है और रक्तस्राव भी होता रहता है। परन्तु नागोदर में रक्तस्राव के बिना ही गर्भस्थित शिशु कृश होता हुआ देर से अथवा पौष्टिक आहार विहार औषधि आदि मिलने पर उत्पन्न होता है।

आचार्य सुश्रुत ने गर्भाशय स्थित शिशु के मातृज पितृजादि भाव भी इस प्रकार बतलाए हैं—

पितृज—पिता की ओर से आने वाले केश, शेषांश पृष्ठ ४१ पर।

गर्भाशयस्थ-शिशुवृत्त

श्री मदनगोपाल वैद्य ए. एम. एस.; एम. एल. ए.



अविकृत रज वीर्य के संयोग से गर्भाशय में गर्भ की स्थिति होती है। यह गर्भ चैतन्य तथा पंच महाभूत का एक संघात पिंड होता है। यह पिंड गर्भाशय के अन्दर कहीं संस्थित होकर गर्भाशय को अपनी आधार भूमि बनाता है और गर्भाशय की श्लेष्मकला में अपरा का निर्माण होने लगता है जिससे यह गर्भाशय से संसक्त हो जाता है। नाभिनाल द्वारा यह गर्भ अपरा से संलग्न रहता है। सम्पूर्ण गर्भ एक आवरण से ढका रहता है और इस आवरण के अन्दर एक तरल पदार्थ भरा रहता है जिसे गर्भोदक कहते हैं। इस प्रकार भ्रूण इस गर्भोदक रूपी क्षीर सागर में शयन करता रहता है जिसमें नाभिनाल कमलनालवत् तथा अपरा कमल पत्रवत् होती है, गर्भोदक क्षीरसागर के सदृश होता है। इससे सृष्टि का आरम्भ होता है। पुराणों में सृष्टि उत्पत्ति का यही रूप बतलाया है। क्षीरसागर में कमलनाभि से ब्रह्मा का जन्म या विष्णु जन्म होता है जिससे सृष्टि होती है।

गर्भस्थिति होने के बाद उसकी नाभि वृद्धि किस प्रकार से होती है इस सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य आयुर्वेद तथा उपनिषदों से भरा पड़ा है। गर्भस्थिति होने पर आर्तववह स्रोतस बन्द हो जाते हैं। इसी कारण प्रायः सगर्भा को अर्तव-दर्शन नहीं होता। इस आर्तव रक्त से अपरा व दुग्ध का निर्माण होता है।

गर्भ की वृद्धि माता के आहार रस तथा वायु की धमन क्रिया द्वारा होती है। गर्भकाल में माता को आहार रस के प्रति विशेषाकांक्षा रहती है जिसको “दौहृद्” कहते हैं।

गर्भस्थ खलु रस निमित्ता मारुताध्मान निमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ।
—सु० शा० आ० ४

यह गर्भ की वृद्धि आहार रस से किस प्रकार होती है इस पर अनेक मत हैं। यथा—

- (१) क्षीरदधिन्याय = क्रमपरिणामपद्ध
- (२) केदारकुल्यान्याय
- (३) खले कपोतन्याय
- (४) एक कालधातुपोषण पद्ध

इसमें सुश्रुत सम्मत द्वितीय मत केदार कुल्यान्याय पद्धति से गर्भ शरीर का पोषण प्रायः सर्व सम्मत है।

केदार इव च कुल्याभिः उपस्निद्यते आकुचन प्रसारणादिभिर्विशेषैः ।

खेत में सिंचाई के लिए जिस प्रकार नालियां बनाई जाती हैं और कुंये से या अन्य जलाशय से जब पानी डाला जाता है तो पानी प्रथम निकट की नाली में जाता है और क्रमशः दूर की नालियों में जाता है। इसी प्रकार गर्भ में भी गर्भनाल से माता के शरीर से आहार रस द्वारा पोषकत्व आते हैं और गर्भ के प्रत्येक भाग में नालियों के सदृश प्रत्येक स्रोतस में पहुंचकर सम्पूर्ण गर्भ की अभिवृद्धि व पोषण करते हैं।

गर्भ का पोषण आहार रस से होता है परन्तु इसकी वृद्धि में मारुताध्मान या वायु की धमन क्रिया भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यह धमन क्रिया (१) आकुचन (२) प्रसारण इन दो क्रिया का परिणाम होती है।

गर्भनाल अपरा से संसक्त रहता है। अपरा में माता के शरीर से रस व रजःप्रवर्तक स्रोतसों के अवरुद्ध होने से इस आर्तव द्वारा भी गर्भ की समृद्धि होती है तथा दुग्ध का निर्माण होता है। गर्भनाल द्वारा गर्भ-पोषण प्रचुर मात्रा में होता है।

गर्भ के किस अङ्ग का कब निर्माण होता है इस सम्बन्ध में ऋषियों में पर्याप्त मतभेद है। इस सम्बन्ध में प्रायः सर्वमान्य मत यह है कि शरीर के सभी अङ्गों की उत्पत्ति एक साथ होती है।



परन्तु सातवें मास में गर्भ का प्रत्येक अङ्ग सुस्पष्ट हो जाता है। और अष्टम मास में चेतना का विकास होकर गर्भ सर्वाङ्ग सम्पूर्ण हो जाता है।

नाभि नाड़ी अपरा से संसक्त रहती है अपरा गर्भाशय से। धमनियों द्वारा गर्भ का सम्बन्ध हृदय से रहता है।

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाड्यौ प्रतिबद्धा सास्य मातुराहार रस वीर्यमाभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। उपस्नेहो जीवयति।

इस प्रकार माता के आहार रस, आर्तवरक्त तथा हृदयगत रक्त से गर्भ का पोषण होता है परन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार ने गर्भ के पक्वाशयस्थ कायाग्नि परिचित प्रसाद गुण बहुल धातु से भी गर्भ के पोषण की विधि बतलाई है—

अस्यनाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तस्यां मातृहृदयं ततोमातृहृदयादाहाररसो धमनीभिः स्यन्दमानोऽपरासुपैति। ततः क्रमान्नाभिं ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमानः प्रसाद गुण बाहुल्याद्धात्वादिपुष्टकरः संवद्यते।

—अष्टाङ्गसंग्रह

इस प्रकारसे गर्भधारण से लेकर सप्तम मास पर्यन्त गर्भवृत्ति गर्भ विकास की वृत्ति होती है। सप्तम अष्टम मास में गर्भ सर्वाङ्गपूर्ण तथा चेतन्य युक्त हो जाने से उसकी वृत्ति एक पृथक् जीव की भांति प्रारम्भ हो जाती है। सप्तम मास के पूर्व एक उसकी वृत्ति दौहृद के अनुकूल तथा माता के शरीर के अंग की भांति होती है परन्तु गर्भ में चैतन्यता आने पर उसका एक पृथक् जीव की भांति अस्तित्व होजाता है, और उसकी इन्द्रिय, मन व जीव की वृत्ति पृथक् कार्य करने लगती है। भ्रूण का हृदय कार्य करने लगता है, उसके शब्द को श्रवण यन्त्र से सुना जा सकता है। पेट पर कान लगाकर भी यत्न से सुना जा सकता है। उसकी श्वास प्रश्वास, तथा निद्रा की क्रिया माता के श्वास प्रश्वास से जो शुद्ध वायु अन्दर जाती है उसी से उसको प्राप्त होती है तथा अशुद्ध रक्त व मल माता के निःश्वास के साथ

निकलता है। उसके हाथ पैर आदि जरायु तथा गर्भोदक से आच्छादित रहते हैं और वह गर्भोदक में तैरा करता है। आन्त्र की गति होती है परन्तु मलमूत्र का पृथक् निस्सरण न होकर माता के मल मूत्र मार्ग से ही भ्रूण का मल निष्कासित होता है। निश्चय ही भ्रूण शयन व जागरण करता है परन्तु इसका सम्बन्ध बहुत कुछ माता के शयन से होता है।

मलालपत्वाद् योगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च।
वातमूत्रपुरीषाणि, न गर्भस्थः करोति हि॥
जरायुणामुल्लेच्छन्ने कण्ठेच कफवेष्टिते।
वायामार्गानिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति॥
निश्वातोच्छ्वास संक्षोभस्वप्नात् गर्भोधिगच्छति।
मातुर्निश्वासितोच्छ्वास संक्षोभ स्वप्न संभवात्॥

भ्रूणावस्था में जीव व मन की क्रिया होती रहती है इसका प्रमाण अनेक आप्त ग्रन्थों में मिलता है। भ्रूण गर्भ में अक्षर पुरुष का ध्यान करता है और उसे सुखदुःख का अनुभव होता है ऐसा वर्णन अनेक उपनिषदों में है तथा अन्यत्र भी गर्भोपनिषद के अनुसार भी आत्मा व मन की वृत्ति चलती रहती है। यह भी कहा जाता है कि गर्भावस्था में जीव को पूर्व जन्म का ज्ञान रहता है परन्तु प्रसव के बाद गर्भोपनिषद के अनुसार वैष्णव वायु के स्पर्श से उसे पूर्व जन्म की स्मृति भूल जाती है।

भ्रूणावस्था के रक्त संचार व हृदय के कपाटों की रचना में भी अन्तर होता है भ्रूण के नेत्र पलक से आच्छादित रहते हैं अतः देखने की क्रिया नहीं होती है। मुख बन्द रहता है अतः स्वाद भी नहीं लेता है। पोषण गर्भनाल द्वारा प्राप्त आहार व अपरा से प्राप्त रक्तादि द्वारा होता है। नासिका, कर्ण तथा त्वचा की क्रियायें भी नहीं होती हैं यद्यपि यह वर्णन पाया जाता है कि भ्रूण श्रवण का कार्य करता है और इसी श्रवण क्रिया के प्रभाव से अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदन का ज्ञान प्राप्त कर सका और

—शेषांश पृष्ठ ४१ पर

भ्रूण का रक्त परिभ्रमण

श्री डॉ० पद्मदेवनारायणसिंह M. B. B. S.

—❦—

गर्भ के विकास के साथ भ्रूण की ओष-जन (प्राणवायु) आवश्यकता में भी वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप प्रकृति कुछ ऐसा उपाय करती है कि न्यूनतम ओषजन द्वारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहे और भ्रूण के अन्य अवयवों की अपेक्षा जीव-नावश्यक अंगों (जैसे केन्द्रीय नाड़ी संस्थान) को अधिक ओषजन प्राप्त होता रहे। भ्रूण के रक्त परिभ्रमण संस्थान में दो संचार श्रोत होते हैं—

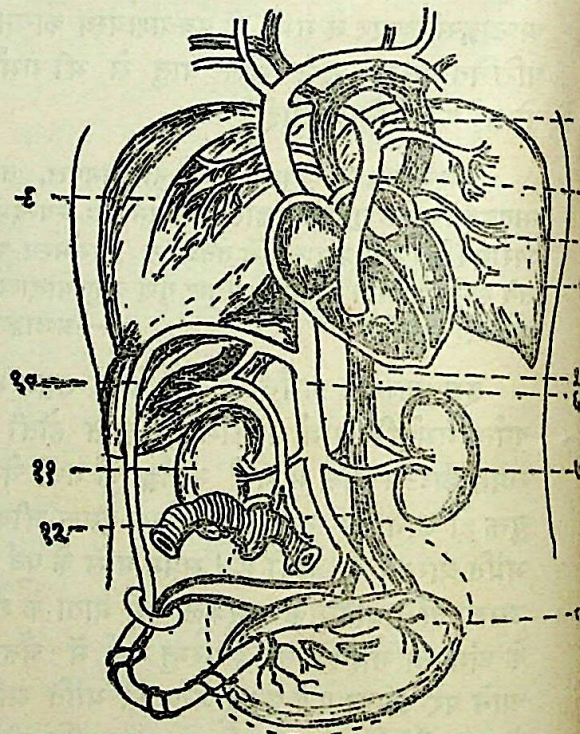
१—हृदय के दक्षिण तथा वाम आलिन्द (ग्राहक कोष्ठ) के मध्यस्थित लम्बगोल विवर (Foramen ovale)

२—फुफ्फुसीय धमनी (Pulmonary artery) और महाधमनी (aorta) के बीच अवस्थित दूसरा संचार श्रोत महाधमनी-युजा (Ductus arteriosus) द्वारा संस्थापित द्विगुणित रक्त परिभ्रमण (double circulation) द्वारा ऐसा सम्भव होता है। भ्रूण रक्त परिभ्रमण का अध्ययन हम लोग अपरा (Placenta) से प्रारम्भ करें जो कि दूषित रक्त को ग्रहण कर और शुद्ध तथा पोषक तत्वों युक्त रक्त देकर परिपोषण तथा मलोत्सर्जन क्रिया पूरी करता है। अपरा से ओषजन युक्त शुद्ध रक्त नाभि-शिराओं द्वारा परिवहित होता है जो नाभिनाल में आकर संयुक्त हो जाती हैं, और वहां से यकृत में पहुंचकर उसके वाम खंड तथा चतुर्भुज पिंडिका (Quadrate lobe of liver) में कुछ शाखाएँ देती हैं। अनुप्रस्थ यकृत-विवर (Porta hepatis) के निकट इसका संयोजन प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) से होता है। यहीं पर प्रतिहारिणी महासिरा से एक शिरा-शाखा निकल कर यकृत पृष्ठ से होती हुई वाम-यकृत-सिरा में इसके अधरा महासिरा (Inferior vena cava) में मिलने के पूर्व जा मिलती है जिसे सिरा संयोजक (Ductus venosus)

कहते हैं। इस प्रकार वाम नाभि-शिरा द्वारा प्रवाहित रक्त अधरा महासिरा में तीन श्रोतों द्वारा पहुँचता है—

- १—सीधे यकृत और याकृत शिराओं द्वारा
- २—प्रतिहारिणी सिरा द्वारा और
- ३—सिरा संयोजक द्वारा

इसके अतिरिक्त अधरा महासिरा में मध्य शरीर और निम्नाङ्गों से प्रवाहित होकर दूषित रक्त



चित्र १५

- १—धमनी संयोजक
- ३—फुफ्फुस
- ५—महाधमनी
- ७—वाम वृषक
- ९—फुफ्फुस
- ११—दक्षिण वृषक

- २—फुफ्फुसिया धमनी
- ४—हृदय का वाम निलय
- ६—ऊर्ध्वगामिनी महाशिरा
- ८—अपरा
- १०—अपरा से रक्त लाने वाली शिरा
- १२—आंत्र का भाग



भी पहुँचता है, अतएव यहां शुद्ध और अशुद्ध दोनों रक्तों का मिश्रण हो जाता है। मिश्रित रक्त अब दक्षिण आलिन्द से होकर लम्बागोलविवर द्वारा वाम आलिन्द में पहुँचता है, जहां फुफ्फुस से वाम फुफ्फुस-सिराओं द्वारा परिवहित रक्त के साथ इसका मिश्रण होता है। वाम आलिन्द से वाम निलय (left ventricle) और वहां से महाधमनी के प्रथम खण्ड और प्रैवी धमनियों (carotid arteries) द्वारा मुख्यतः ऊर्ध्वाङ्गों (सिर, ग्रीवा, केन्द्रिय वात संस्थान आदि) में प्रवाहित हो जाता है, परिणाम-स्वरूप अवरोहणी महाधमनी में इस रक्त की मात्रा अत्यल्प होती है।

ऊर्ध्वाङ्गों में संचरित होने के पश्चात् ओषजन-हीन रक्त ऊर्ध्व महासिरा (Superior Vena-cava) द्वारा पुनः दक्षिण आलिन्द में पहुँचता है, जहां से त्रिदलकपाटीय-विवर (Tricuspid

valve) और दक्षिण निलय से होकर फुफ्फुस-मिगाधमनी (Pulmonary artery) में पहुँचता है। यहां से महाधमनी संयोजक (Ductus arteriosus) द्वारा यह (सिरीय) रक्त प्रैवधमनी उद्गम-स्थल से दूरस्थ महाधमनीतोरण (Arch of aorta) में पहुँचता है जहां वाम निलय से प्रवाहित रक्त के साथ इसका मिश्रण होता है। यह मिश्रित रक्त जिसमें औषजन की मात्रा अल्प होती है, अवरोहणी महाधमनी में प्रवाहित होता है जहां से अंशतः वस्तिगह्वर तथा उदरिक गह्वर के अवयवों तथा निम्नांगों में रक्ताभिसरण होता है किन्तु मुख्यतः यह रक्त नाभीय-धमनी द्वारा पुनः अपरा में परिवहित हो जाता है।

—श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह M.B., B.S.
चिकित्साधिकारी—उर्बरक कारखाना, सिन्दरी



पृष्ठ ३७ का शेषांश

श्मश्रु, रोम, नख, दन्त, शिरा, स्नायु, धमनी आदि।

मातृज—मांस, रक्त, मेद (चर्बी), मज्जा, नाभि, हृदय, स्तीहा (तिल्ली), अन्न, गुदा आदि कोमल भाग शिशु में माता की ओर से आते हैं।

रसज (रस से उत्पन्न)—शरीर का बढ़ना, बल, वर्ण (रङ्ग), स्थिति, हानि आदि रस के अनुसार गर्भस्थ शिशु में होते हैं।

आत्मज (अपने)—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, ज्ञान, विज्ञान, आयु (उमर), सुख, दुःख आदि शिशु के अपने आग्यादि से होते हैं।

—श्री चन्द्रप्रकाश शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
अज्ञाता केदारा, बाड़ा हिन्दुराव, देहली—६

:: पृष्ठ ३६ का शेषांश ::

अष्टावक्र परमज्ञानी हुए।

इस प्रकार संक्षेप में गर्भ अन्तर्मुखी होकर केवल आत्मा व मन से चिन्तन का कार्य करता हुआ अक्षर पुरुष का ध्यान करता है और उसे साधारण तथ बाह्येन्द्रिय के विषय व्याप्त नहीं होते हैं।

२८० दिन पूर्ण होने पर साधारणतया ६ या १० मास में प्रसव हो जाता है। जिस प्रकार काल परिणाम से वृक्ष में लगा फल अपने वृन्त से पृथक् हो जाता है उसी प्रकार भ्रूण भी काल प्रभावं या स्वभाव से अपरा से पृथक् हो जाता है। और नाल-च्छेदन करके अपरा व नाल को निकाल दिया जाता है और प्रसव के बाद शिशु विकास वृद्धि के लिए स्वावलम्बी हो जाता है।

—कविराज श्री मदनगोपाल गुप्त ए. एम. एस.
सदस्य विधान सभा उ. प्र., फैजाबाद।

शिशु की तात्कालिक चर्या

आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्य



कुमारागार—

[चरक संहिता-शारीर स्थान-अध्याय आठ]

जो वास्तु विद्या गुण के विशारद,
निर्माण वे स्वस्तिक सद्म का करें ।
गवाक्ष, वातायन पूर्ण स्वच्छ,
ऋत्वानुसारी सब भांति से करें ॥ १ ॥
अजा, गवा, श्वान जहां न होवें,
बिडाल दंष्ट्रा पशु मूषकादि ।
निर्मक्षिका, निर्मशकादि गेह,
तुध्यादि निर्लिप्त तथा सुधादि ॥ २ ॥
विसर्गि गाह ग्रह चन्द्रशाला,
सूपादि के कोष्ठ प्रथक प्रथक हों ।
जलादि आवश्यक वस्तुवें जो,
नवीन एकत्र सभी वहां हों ॥ ३ ॥

नाल छेदन

बाल के नाल में नाभि के बन्ध से,
नाप के अंगुली आठ पै ग्रन्थि बांधे ।
अंगुली उच्च दो पै उसी भांति की,
बालके नाल में दूसरी ग्रन्थि बांधे ॥ ४ ॥
ग्रन्थियों के वहां बीच में शस्त्र की,
तीक्ष्णधारा लगा बाल का नाल काटे ।
शस्त्र हो स्वर्ण चांदी तथा लौह का,
आशु ही काट दे पिच्छ हो जो न फाटे ॥ ५ ॥
नाल के अग्र में सूत्र को बांध के,
बालके कण्ठ से नाल को टांग देवें ।
पाक हो तो हरिद्रा, मुलैठी, प्रियंगु,
तथा लोभ्र, दाव्यादि का तैल सेवे ॥ ६ ॥
न ठीक काटे यदि नाल को कहीं,
आयाम, व्यायाम विनामिका हो ।
विजृम्भिका, पिंडलिका च हुण्डिका,
युक्त प्रपीड्य वपु बाल का हो ॥ ७ ॥
तो वात पित्त गुरुतादि देख,

वात प्रणाशी घृत तैल आदि ।
निर्माण करके शिशु को करावे,
उद्वर्तन स्नान विलेपनादि ॥ ८ ॥

वस्त्र

कार्पास, ऊणी कृमिकोषजन्य,
बल्कादि सन्निर्मित वस्त्र हों नये ।
सूच्यादि स्यूत अथवा अनाहत,
उपस्करा धूमित हों धुले हुये ॥ ९ ॥

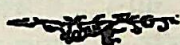
धूमोपस्कार

कस्तूरिका, चन्दन, धूप, धूपिता,
वचा, लसी, गुग्गुल, हिंगु, मूर्वा ।
पलंकषा, सर्षप, सर्प कञ्चुकी,
अशोक, ब्राह्मी, यव, श्वेत दूर्वा ॥ १० ॥
धात्री

शान्ता, स्वस्था, सत्त्वभावा, वयस्का,
स्नाता, लिप्ता, शुक्ल वस्त्रा प्रयुद्धा ।
वत्सेस्निग्धा, शिक्षिता, चारु गात्रा,
धात्री सौम्या स्वादु पर्याप्त दुग्धा ॥ ११ ॥
ब्राह्मी, ऐन्द्री वाट्य पुष्पी अरिष्टा,
विष्वक्सेना पूतनाद्य शताहवा ।
निम्बा, मोथा, सोमबल्ली च वीर्या,
धात्री धार्या वत्स कामा मुताहवा ॥ १२ ॥
धात्र्यंक में प्राङ्मुख हो कुमार,
दे दक्षिण स्तन्य उसे पिलाये ।
पश्चात् सुवाम स्तन भी उसे दे,
पर्याप्त पायी शिशु को मुलाये ॥ १३ ॥
पर्यङ्क दोला अति कोमलस्तरा,
कुमार शैव्या उपधान कौशिकी ।
शनैः शनैः दोलित शान्त चित्त,
गाते मुलावे शुभ वाक्य मौखिकी ॥ १४ ॥
—श्रीमती शान्तादेवी वैद्य
स्त्री चिकित्सालय—हसनगंज, लखनऊ ।

प्रसव के बाद की तात्कालिक चर्या

कविशज श्रीमती विमलादेवी M. A. M. S. आयुर्वेदाचार्या



प्रसवोपरान्त शिशु की तात्कालिक चर्या बड़े महत्व की चीज है। प्राचीन समय में इसकी उपेक्षा के कारण ही हमारे यहां जन्मते बालकों की मृत्यु संख्या अधिक होती थी। परन्तु अब इस तरफ ध्यान देने से वह कम हो गई है। यह अति विचारणीय विषय है अतः इसका ध्यान रखना परमावश्यक है।

प्रसवोपरान्त चतुर धात्री (दाई) का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह झटपट शिशु की देख-रेख में लग जाये। अगर धात्री शिशु की उपेक्षा करती है और प्रसूता की ही देखरेख में लगी रहती है तो सम्भव है कि शिशु की जान पर आ बने इसलिए धात्री का परम कर्तव्य है कि ज्योंही बालक प्रसव मार्ग से बाहर आये धात्री अपने स्वच्छ हाथों में उसे सम्भाल ले तथा ध्यानपूर्वक तात्कालिक चर्या में दृढ़चित्त हो लग जावे।

बालक के गले में नाल लिपटी हुई आने पर
तुरंत किन्तु शनैः शनैः फन्सा
निकाल देवे



चित्र नं. १६

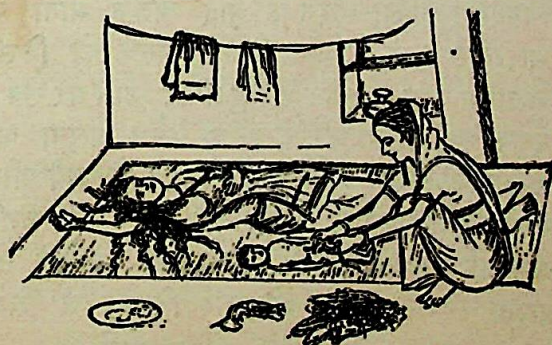
प्रकृति का यह नियम है कि पैदा होते ही बालक जोर से रोता है तथा स्वच्छन्दता से अंग चालित करता है, इससे वह श्वास लेता है और वायु प्रथम बार उसके फेफड़ों में प्रवेश करती है। अतः बालक के बाहर आते ही दाई अपने हाथों में थामले और देखे अगर गर्दन पर नाभि नाल का घेरा पड़ा हो तो तुरन्त निकाल दे। प्रथम तो बालक पैदा होते

ही जोर जोर से रोता है परन्तु कभी कभी इसका अपवाद भी हो जाता है। कारण बच्चा कमजोर हो वा प्रसव में विलम्ब होने के कारण अधिक यातना सहने से पस्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में बालक मरा हुआ सा जान पड़ता है परन्तु यह होता नहीं। उसे कृत्रिम रीति से श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा श्वासोच्छ्वास दिलाया जाता है जो विधि आगे बताई जायगी।

धात्री को चाहिए कि शिशु जन्म के बाद वह शिशु की सावधानीपूर्वक चर्या करे एवं अन्य स्त्री द्वारा प्रसूता का उदर पकड़वाये रखे क्योंकि अभी कमल बाहर नहीं आई है। कमल आने के बाद ही प्रसूति को सम्पूर्ण समझना चाहिए।

नाल छेदन

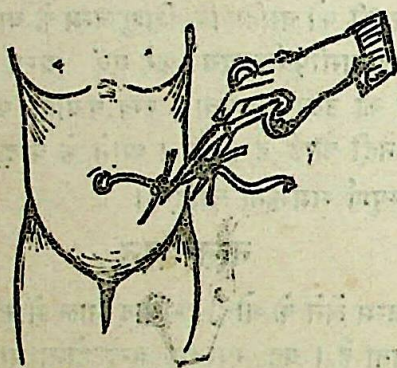
जन्म लेने के थोड़ी देर बाद नाल में स्पन्दन बन्द हो जाता है। यह स्पन्दन बन्द होना मानों बालक माता का आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छेद है क्योंकि स्पन्दन रक्त संचार से होता है और बाहर आने पर यह क्रिया बन्द हो जाती है। गर्भावस्था के बालक का रक्त संचार तीन रक्तवाहिनियों द्वारा नाभिनाल तथा कमल से रहता है। इनमें दो धमनियां तथा एक शिरा होती है। यह नाभि शिरा और नाभि



चित्र नं. १७-नालच्छेदन



धमनियां कहलाती हैं। नाभि धमनियों द्वारा भ्रूण का अशुद्ध रक्त कमल में पहुँचता है और नाभि शिरा द्वारा शुद्ध रक्त कमल से भ्रूण के शरीर में आता है। यह स्पन्दन नाभिनाल में होता है। सो यह स्पन्दन बन्द होने पर (इससे पूर्व नहीं) नाल में दो बंधन लगायें। एक बंध शिशु की नाभि से ४अंगुल की दूरी पर तथा दूसरा आठ अंगुल की दूरी पर लगायें। बन्ध लगाने के बाद नाल को दोनों बंधों के मध्य से परन्तु पहले बंधन के पास से काट डालें। बंध लगाने के लिये शुद्ध डोरा और काटने के लिए शुद्ध चाकू व कैंची का प्रयोग



चित्र नं. १८ —नालच्छेदन

करें। इसमें असावधानी होने पर आगे बालक को बड़ा खतरा हो जाता है। डोरा तथा कैंची को गर्म पानी में डाल खूब उबाल लेना चाहिए इससे रोगात्पादक कीटाणु मर जाते हैं। धात्री को स्वयं अपने हाथों की स्वच्छता का भी ध्यान रखना चाहिए। नालोच्छेदन के बाद बालक माता के शरीर से पृथक् हो जाता है तब बालक को किसी मुलायम वस्त्र में लपेट कर सुरक्षित स्थान पर रखें। इसके बाद प्रसूता की देखरेख करें। प्रसूता का कमल निष्कासन आदि कार्य निवृत्त हो जाये और प्रसवोपरांत रक्तस्राव जो कि ऐसे समय में कभी कभी हो जाया करता है इसका भय न रहे तो प्रसूता को गर्म कम्बल ओढ़ाकर विश्राम के लिए कहें तथा बालक के नहलाने का प्रबंध करें।

एक गुनगुने गर्म पानी की बाल्टी ले सर्व प्रथम बालक का मुँह धोयें। बालक के मुँह में अंगुली डाल कर मुख में भरे कफ को साफ करें, नेत्रों को अच्छी प्रकार धोयें। इसके बाद गिरि का तैल व वैसलीन व तैल मिश्रित वेशन का आटा शरीर पर लगायें। इससे बालक की त्वचा की चिपचिपाहट दूर हो जायगी। फिर किसी सौम्य साबुन से खूब कंधे पर स्नान कराये तथा कुछ देर शिर बाहिर कर शेष शरीर को गर्म पानी के पात्र में रखें। फिर बालक को निकाल तौलिये से शरीर को सुखाकर बालक के शरीर पर टङ्कणाम्ल व बोरिक एसिड का बुकनी बुरक दें। तथा नाल पर बोरिक एसिड बुक कर पतले कपड़े की पट्टी बांध दें, नाल बांधते समय एक स्वच्छ वस्त्र के टुकड़े के बीचों बीच एक छिद्र करके नाल को उसके भीतर पिरोना चाहिए और नाल के आस-पास टङ्कणाम्ल डालकर मुलायम पट्टी बांध दें। स्नान कराते समय बालक को मल त्याग भी करवा देना चाहिए। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मल त्याग का मार्ग बंद होता है सो उसे उस समय शस्त्र वैद्य द्वारा ठीक कराना चाहिए। यह अति ध्यान देने की बात है वैसे तो चतुर धात्री अपनी अंगुली द्वारा स्नान कराते समय ही मल त्याग कर देती है। स्नानोत्तर बालक को मौसमानुसार मुलायम तथा ढीले वस्त्र पहना कर ठंड से बचाव वार्त स्थान पर लिटायें।

अब धात्री को बालक के कमरे तथा माता को सफाई आदि कार्यों को करना चाहिए। इनसे निवृत्त हो अपने हाथों को बिरकुल स्वच्छ कर वस्त्र बदल कर फिर बालक को कुछ पिलाने आदि का प्रबंध करें। क्योंकि दूसरे दिन से पूर्व माता के स्तनों में दूध नहीं आता इसलिये दो दिन बालक को बाह्य से खुराक देनी पड़ती है।

सर्व प्रथम बालक को मधु की घुट्टी देनी चाहिए। मधु बालक को अमृत तुर्य लाभदायक है। यह वनस्पतियों का सार होने से इसमें सर्व जीवनीय तत्व

शिशुरोगाङ्क

प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह धारक तथा सारक दोनों क्रियाएँ करता है इसलिये [यही श्रेष्ठ रहता है परन्तु अधिक मात्रा में दिया हुआ यह भी हानि करता है सो एक समय में एक छोटा चम्मच मधु दें। बाद में दो घन्टे पर जरा सा ग्लूकोज



चित्र नं. १३-सर्व प्रथम बालक को मधु की सुट्टी दें।

उबले हुये पानी में मिला स्वच्छ रुई की बत्ती बना उससे देनी चाहिए। दूसरे दिन माता को स्नानो-प्रांत पर्याप्त दूध उत्तर आता है। सो बीच बीच में माता के स्तनों पर भी बालक को लगा देना चाहिये।

कृत्रिम श्वासोच्छ्वास की अवस्था तथा क्रिया-

जन्म से ही बच्चा जोर जोर से रोता है, इससे उसकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया चालित हो जाती है, परन्तु अगर रोये नहीं तो उसके मर जाने का डर रहता है। कभी कभी जन्म से बच्चा बहुत ही कमजोर होता है यहां तक कि मरा हुआ सा दिखाई देता है। हाथ, पांव नहीं हिलाता, गर्दन ढीली रहती है। मुंह विकृत रहता है, कभी कभी तो नाभि की नाड़ी भी नहीं मिलती। ऐसी दशा में उस बच्चे को मरा हुआ नहीं समझना चाहिए। इसके लिए बच्चे के गले में अंगुली में रुमाल लपेट कर डालना चाहिए। बच्चे के मुंह पर यदि नीलिमा मालूम हो तो एकदम नाल काटकर चमचा डेढ़

चमचा रक्त निकाल देना चाहिए, इसके बाद कुल्हे पर धीरे धीरे थपकी मार कर बच्चे को रुलाना चाहिए अथवा थोड़ी सी ब्राण्डी उसकी छाती पर लगायें। इससे श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ न हो तो बालक को बारी बारी से ठण्डे और गर्म पानी के बर्तन में डुबाना चाहिए वा कुछ सैकिण्डों तक उसके पांव ऊपर और सिर नीचे को करना चाहिए। इस क्रिया द्वारा मस्तिष्क में रक्त प्रवाह प्रारम्भ हो जायेगा और श्वास नलिकाएँ भी खुल जायेंगी। यदि उपर्युक्त उपाय से भी श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ न हो तो कृत्रिम रीति से उसे प्रारम्भ करना चाहिए। यह कृत्रिम रीति इस प्रकार है—

एक आदमी बच्चे की गर्दन कुछ नीचे करके मुख खुला रख कर उसे पकड़े। मुख को स्वच्छ करके उस पर एक रुमाल डालें, इसके बाद एक हाथ से बच्चे का पेट दबाकर दूसरे हाथ से नासा-



चित्र नं. २०-कृत्रिम श्वास क्रिया फूंक मारने की विधि पुट बन्द करें। इसके बाद दाई बच्चे के मुंह में अपना मुंह लगाकर धीरे से थोड़ी हवा रुमाल पग से एक मिनट में बीस बार फेफड़े में पहुंचाने का यत्न करे और बीच बीच में छाती को धीरे से दबायें इससे फेफड़े खुल जायेंगे और श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ हो जायेगा। दूसरी रीति इससे भिन्न है वह इस प्रकार है—



धन्वंतरि

बच्चे को जमीन पर उत्तान लिटाकर उसके कंधे एवं सिर को जरा ऊंचाई में रखें, कुहनी के ऊपर उसके दोनों हाथ पकड़ कर अपने दोनों हाथों से उनको धीरे धीरे बच्चे के सिर के ऊपर लावें और कुछ समय तक वैसे ही लम्बे किये रखें। इससे छाती फूलती है और हवा बैठती है। इसके बाद हाथों को धीरे धीरे नीचे करके उनके योग से फेफड़े की वायु बाहर निकालने के लिए उन हाथों से कोखों पर दाबें और फिर थोड़ा सा ठहर जायें, उपर्युक्त क्रिया एक मिनट में लगभग बीस बार करें। इस रीति से बच्चा श्वासोच्छ्वास लेने लग जाता है। इस रीति से एक घण्टा और कभी कभी इससे भी अधिक समय कृत्रिम श्वासोच्छ्वास कराने में लग जाता है। क्योंकि जब तक छाती में हृदय की धड़कन होती रहती है तब तक बच्चे की श्वासोच्छ्वास लेने की सम्भावना रहती है। उपर्युक्त कृतियों से अगर बच्चा हिलने डुलने न लगे तो उसके जीने की प्रायः आशा त्याग देनी चाहिए।

सद्योजात शिशु पालन विधि—

सद्योजात शिशु को प्रथम स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त कर उसे मुलायम और ढीले वस्त्र पहना गर्म और सुरक्षित स्थान पर कुछ देर तक विश्राम के लिए छोड़ दिया जाता है। इस समय में धात्री प्रसूता एवं उस कमरे की स्वच्छता आदि कार्यों में संलग्न हो जाती है। इस कार्य निवृत्ति के बाद वह बालक को पुनः संभालती है एवं अब उसकी खुराक का प्रबन्ध करती है। प्रथम खुराक बालक को बाहर से ही देनी पड़ती है, चाहे माता स्वस्थ हो वा रुग्ण हो क्योंकि प्रथम दिन माता के स्तनों में दूध नहीं उतरता, दूसरे दिन स्नान कराने के बाद ही स्तनों में दूध आता है। इसलिए प्रथम खुराक के साथ में बालक को एक छोटा चमचा मधु का दें, साफ वस्त्र वा रुई की बत्ती बनाकर उससे दें, इससे मल त्याग की क्रिया भी ठीक हो जाती है। इसके बाद २-२ घण्टे पर एक

चमचा ग्लूकोज को उबले पानी में डालकर बत्ती से देते रहें। फिर बालक को माता के स्तनों पर लगायें, जब तक दूध न उतरे चार घण्टे में एक बार और फिर एक घण्टे पर एक बार बच्चे को पन्द्रह मिनट तक स्तनों पर लगावें। अक्सर दूसरे तीसरे दिन तक दूध नहीं आता ऐसे समय में बच्चे की भूख शांत करने के लिए चमचा भर गरम जल और थोड़ा सा दूध एवं जरा सा ग्लूकोज डालकर २-२ घण्टे पर दें। माता का पहला दूध जो उत्पन्न होता है उसे प्रथम दूध कहते हैं तथा इससे बालक का पाखाना अधिक होता है, इससे मल निकलकर आंतड़ियां साफ हो जाती हैं। यह प्रथम दूध देखने में पानी जैसा ही होता है।

जब दूध ठीक उतर आये तब बालक को प्रति दो घंटे पर ही दूध दें इससे पूर्व नहीं तथा दूध देकर अलग मुलायम गद्दीदार पालने वा चारपाई पर लिटा दें। प्रथम दिनों में बालक बीस घण्टे तक सोता रहता है, उसके नेत्र ज्योति सहन नहीं करते सो सीधा प्रकाश उसके नेत्रों पर न पड़े इसका सदैव ध्यान रखे। बालक को आरम्भ से ही अच्छी आदतें डालनी चाहिये। इस समय में उसकी जैसी आदत डालोगे वह शीघ्र ही पड़ जाती है। कम से कम खाने और सोने की आदतें अवश्य डालनी चाहिये। यदि उसे पेट भर खाना मिल जाता है तो वह बहुत जल्द सो जाता है और २-३ घण्टे बाद ही जागता है। नीरोग बालक की भूख लगभग पन्द्रह मिनट लगातार दूध पीने के बाद शान्त हो जाती है। प्रत्येक बार दोनों स्तनों को बारी बारी से पिलाना चाहिये। बच्चे को कंधे से लगाकर मुलायम पर सोने से पूर्व पालने में लिटा दें। परन्तु अक्सर देखा जाता है, बालक ज्यों ही रोया कि माता उसे दूध पिलाने लगती है यह ठीक नहीं। इससे प्रायः बालक बीमार हो जाता है।

सद्योजात बालक दो चार बार तक भी अगर दिन में मल त्याग करें तो कोई हर्ज नहीं है, उसका



शिशुरोगाङ्कः

मल धुले हुये मोटे सरसों के चूर्ण सदृश होना चाहिये। उसमें दुर्गन्ध तथा फटे हुये दूध के टुकड़ों का होना बीमारी का द्योतक है। जब बालक १५ दिन का हो जाय तथा वायु अधिक न हो तो उसे थोड़ी देर के लिये बाहर खुली हवा में लिटाना चाहिये। बच्चे के पाथ-पांव मार कर खेलने तथा रोने से फुफ्फुसों का व्यायाम होता है, सो थोड़ी देर रोने से कोई नुकसान नहीं लाभ ही होता है उसे रोना भी चाहिये।

बच्चे की माता यदि पेट भर दूध पिलाने में समर्थ है तो बहुत अच्छी बात है। ऐसी दशा में उसे फिर कोई चिन्ता देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अगर माता किसी व्याधि या अन्य कारण से पूरा दूध देने में असमर्थ है तो उसे ऊपर का दूध देना पड़ता है। अगर घर में सामर्थ्य हो तो धात्री रखी जाती है परन्तु ऐसा करने में असमर्थता हो तो बालक को ऊपर से दूध देना पड़ता है। दूध निम्न प्रकार से तैयार कर देना चाहिये—गौ का ताजा दूध ले उसमें दुगुना पानी डालकर उबाल लें। फिर थोड़ा नितरा हुआ चूने का पानी डालें, उसमें थोड़ा ग्लूकोज डाल कपड़े से छानकर किसी शीशी में डाल कर दें। प्रत्येक शीशी में चुटकी भर नमक भी अवश्य डालें इससे हाजमा ठीक रहता है। हम लोगों में साधारणतौर पर यह ख्याल बना हुआ है कि दूध में पानी नहीं डालते परन्तु वगैर पानी का दूध बालक ठीक तरह नहीं पचा पाता और अपाचन सम्बन्धी विकार हो जाता है। इसलिये आरम्भ से दूध में दुगुना पानी डालें और १ औंस दूध एक बार में दें। बाद में पानी की मात्रा अवस्थानुसार कम करते जायें। दुग्ध पर ठीक उबाल आने पर ही बालक को दें। उबालने से उसमें इधर उधर से उत्पन्न रोगोत्पादक कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं और उबलने से दुग्ध सुपाच्य हो जाता है और बच्चा सहज में ही पचा लेता है। परन्तु कच्चा दुग्ध शीघ्र नहीं पचता, इससे पेट बिगाड़ जाता है तथा बार बार पाखाना आता है,

गरम किये दुग्ध में यह बात नहीं होती। यदि मलावरोध हो तो चूने के पानी की जगह पर जौ का पानी डालना चाहिये। यह तैयार करने के लिये एक चमचा भर भुना हुआ जौ एक पाइन्ट पानी में उबालें तथा दो तिहाई अंश शेष रहने पर उतार लें। यह रोज ताजा ही पकाना चाहिये।

नोट—जन्म से लेकर एक मास तक बालक तथा माता को हर चौथे दिन एक चमचा अंडी का तैल शुद्ध किया हुआ देना चाहिए। इससे कोष्ठ-बद्धता नहीं होती, कोष्ठ की वायु शमन हो जाती है एवं आंत्र को स्निग्ध करता है। बालक को छोटा चमचा और माता को बड़ा चमचा देना चाहिये। अगर चौथे दिन न भी दें तो सप्ताह में एक बार तो देना परम आवश्यक है।

अगर बाहर से दूध देना पड़े तो निम्नलिखित कोष्ठकानुसार दें—

बालक की आयु	समय	प्रत्येक बार
पहिले सप्ताह में	२ घण्टे में	१ औंस
१ से ६ सप्ताह तक	२॥ „	१॥ से २ „
६ से १२ सप्ताह तक	३ „	३ से ४ „

अवस्थानुसार समय की मात्रा तथा दूध की मात्रा दोनों बढ़ाते चलें। नवजात शिशु का भार लगभग ३ से ३॥ सेर के होता है। बालकों का भार उसी आयु की लड़की से अधिक होता है तथा नाड़ी गति भी अधिक होती है। यदि शिशु एक सप्ताह या पक्ष के बाद तोला जाय तो इस बात का ठीक पता लग जाता है कि उसका वर्धन ठीक हो रहा है या नहीं। यदि एक सप्ताह तक तोल न बढ़े या कम होता जाये तो इसका कारण मालूम कर योग्य चिकित्सा करनी चाहिये।

कभी कभी हाल के जन्मे छोटे बालक के स्तन भी स्वयं फूल जाते हैं और मुख तथा मुलायम हो जाते हैं तथा उनमें कभी कभी दूध के समान पतला पदार्थ भी निकलता है। इनको गरम पानी में टंक-णाम्ल डालकर सेकने से बहुत शीघ्र आराम हो

जाता है। इस विकार के होने पर स्तनों को मलना या निचोड़ना नहीं चाहिये। सेक के बाद टंकणाम्ल रूई रख पट्टी बांध दें।

बालक को अक्सर दूध पीने के बाद पेट में वायु रुकने से दर्द हो जाता है इससे बालक रोने लग जाता है। इस समय उसकी पीठ को थपथपाने से आराम हो जाता है तथा पेट को अलसी की पुल्टिश बनाकर सेक देना चाहिये और सर्जि चार १-१ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिये। इससे यह विकार शान्त हो जाता है तथा दूध पिलाने से पूर्व सोडा साइट्रास एक एक ग्रेन की मात्रा में दें।

जन्म के समय माता की योनिमार्ग से दुर्गन्ध-युक्त स्राव का सम्बन्ध जब बालक की आंखों से हो जाता है तो उसकी आंख से पूय सदृश तरल पदार्थ निकलता है तथा ठंडक लगाने या साबुन का फेन नेत्र में लगाने से भी यह विकार हो जाता है, इसलिये बालक के पैदा होते ही उसके नेत्रों का निरीक्षण ध्यानपूर्वक करें और टंकणाम्ल गरम जल में डालकर नेत्रों का प्रक्षालन करें अथवा मरक्यूरिक परक्लोराइड का जल २०० में १ भाग मिलाकर बालक की आंखें अच्छी प्रकार धोयें। यदि समय पर यथोचित उपाय न किये जायेंगे तो आंखें खराब हो जायेंगी। यह विकार एक आंख से दूसरी को भी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त लोसन से कई बार नेत्र प्रक्षालन करें तथा बाद में रुक्षता निवारणार्थ नेत्र में वेसलीन या पेन्सिलीन मरहम डालें। तथा बालक में प्रकाश असह्यता होती है इसलिये उसकी नेत्रों पर तेज प्रकाश न पड़े इसका पूर्ण ध्यान रखें।

अक्सर बालक की नाल—पांचवें सातवें दिन गिर जाती है परन्तु कभी कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है सो आरम्भ से ही नाभि नाल का ध्यान रखना चाहिये। नित्य उस पर टंकणाम्ल की बुकनी देकर स्वच्छ पतले एवं मुलायम वस्त्र की पट्टी बांधते रहें तथा नाल गिरने पर भी तीन चार

दिन तक जब तक कि ऊपर से बंद मार्ग ठोस रूप में नजर न आने लगे तब तक टंकणाम्ल डालकर पट्टी बांधते रहें तथा अन्य बाहरी संक्रमणात्मक कीटाणुओं से पूर्ण रक्षा करें। अगर अभाग्य-वश नाभि पाक हो ही जाये तो पूर्णतया सावधानी से चिकित्सा करायें।

बालक को नित्य प्रति तिल तैल लगाकर निर्वात स्थान पर पानी से स्नान करायें। बाद में सूखे तौलिये से शरीर सुखाकर बोरीक एसिड पाउडर की



नवजात शिशु स्नान

चित्र नं. २१

बुकनी शरीर पर सर्वत्र देकर मौसमानुसार मुलायम एवं ढीले वस्त्र पहनायें तथा वस्त्र नित्य बदलने चाहिए। अगर बालक कमजोर है तो उसे लाक्षादि तैल वा मछली के तैल की मालिश धीरे धीरे कर कुछ देर धूप सेवन कर नहलाना चाहिए। अगर अधिक कमजोर हो वा वृद्धिक्रम कम होता हो तो उसे कुमारकल्याण रस १ चावल, प्रवाल पिष्टी वा कपर्दिका भस्म १ रत्ती की मात्रायें दिन में दो बार दें। वा एडेक्सोलीन वा विकडेक्स अथवा ओप्टी कैल्सियम की दो दो बूंद दो तीन बार दें। निरोग बच्चे को भी दिन में एक दो बार रोने की आवश्यकता है। रोने से उसके फेफड़ों के व्यायाम होने से वह

शिशुरोगाङ्क

मजबूत होजाते हैं। यदि उसको कोई वास्तविक कष्ट न होगा तो वह रोने के बाद तुरन्त ही सो जायेगा।



चित्र नं. २२

अक्सर जब बालक उनीचे होते हैं तब भी रोते हैं। कभी कभी बालक को प्यास भी लगती है सो थोड़ा थोड़ा पानी भी देना चाहिए विशेषकर गरमी के दिनों में अवश्य देना चाहिए।

नाभि पक जाना

नाल प्रायः पांचवें सातवें दिन तक गिर जाता है। जब तक वह गिर न पड़े आस पास लपेटे हुए कपड़े को सावधानी से बदलते रहें तो समय पर नाभि नाल गिर जाती है। परन्तु उसमें जरा भी असावधानी होने से बुरे परिणाम देती है जैसे नाल पर भटका लगना वा अन्य बालक द्वारा नाल को खींचना व माता की असावधानी से उठाने आदि में उसमें खिंचाव पड़ने आदि कारणों से उसमें रक्तस्राव होकर बाद में पूयस्राव होने लगता है। नाल का असमय में गिरना भी नाभिपाक को कर देता है। तथा बांधते समय डोरा व कैंची अशुद्ध होने से कीटाणु प्रवेश होने पर भी नाभि पाक बन

जाता है। अशुद्ध वस्त्र की पट्टी द्वारा भी कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। इससे भी नाभि पाक हो जाता है। परन्तु इन सबसे अधिक भयानक अवस्था वह होती है जब धनुर्वात के कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। इस अवस्था में बच्चे को भटके आने लगते हैं। हनु एवं ग्रीवा-स्तम्भ हो जाता है, बालक शीघ्र ही काल कवलित हो जाता है। इस रोग में बहुत कम बालक बच पाते हैं। इसका कीटाणु बाह्य व्रण द्वारा ही प्रवेश करता है तथा गाय के गोबर एवं घोड़े की लीद में होता है सो बालक की धूल वाले स्थान तथा जहां पशु बांधने के स्थान हों वहां से भिन्न स्थानों पर सावधानी से रखें।

लक्षण—

प्रथम नाभि पर सूजन मालूम पड़ती है तथा कभी कभी रक्तस्राव भी हो जाता है। बाद में पानी मिला रक्त बिलकुल धीरे धीरे रिसने के रूप में आता है। उपर्युक्त कारणों की उपेक्षा करने से तीसरे चौथे दिन तक पूय आना आरम्भ हो जाता है तथा दुर्गंध भी आती है, बालक बार बार रोता है एवं हाथ पावों को मारता है तथा सुस्त हो जाता है। वर्ण पीला पड़ जाता है।

चिकित्सा—

(१) इस विकार का ज्ञान होते ही अति शीघ्र इसकी पूर्णोचित चिकित्सा करें। प्रथम भटका लगने व अन्य कारणों से शोथ मालूम पड़े व नाल असमय में गिर जाये और शोथ हो जाये तो शोथ को दूर करने का उपाय करें। शोथ के लिये सर्वोत्तम गरम स्निग्ध टकोर देना है। इसके लिए घृत की टकोर देना उत्तम रहता है क्योंकि वह रोपण कार्य भी करता है सो घृत को गरम कर जरासी हल्दी डाल धीरे धीरे रुई से टकोर करें। फिर घृत व वेसलीन में टकणाम्ल मिलाकर लगा दें।

(२) गरम पानी में टकणाम्ल व पोटास परमैंगनेट, डिटौल व मरक्यूरिक परक्लोराइड व जिंकसल्फेट आदि में से किसी एक को डालकर धोयें। तदनन्तर



सुखाकर बोरिक एसिड तथा जिंक औक्साइड की बेसलीन में मिला लागायें ।

(३) पैन्सलीन मरहम, टैरामाइसिन मलहम, बर्नोल आदि आदि का प्रयोग करें ।

(४) खाने के लिये—रससिंदूर, मुक्ताशुक्ति भस्म, प्रवाल पिष्टी, अभ्रक भस्म, प्रवाल पंचामृत, कस्तूरीभैरव आदि दें ।

(५) पैन्सलिन इन्जेक्शन, सल्फा डायजीन, सल्फाथायोजौल, सल्फानिलेमाईड, सिबाजौल टेबलेट आदि भूतघ्न औषधि का प्रयोग करें । मात्रा अत्यल्प दें ।

नाभि से रक्तस्राव

परिचय और कारण—

पैदा होते ही बालक श्वास लेता है और वायु पहली बार उसके फेफड़ों में जाती है । अब फुफ्फुस रक्त शुद्धि का काम करने लगते हैं, इस कारण जो रक्त फुफ्फुसिया धमनी से महाधमनी में जाया करता था वह अब वहां जाने की अपेक्षा फुफ्फुसों में ही जाता है । धमनी संयोजक सिक्कुड़ कर तंग होने लगती है और चौथे एवं सातवें दिन के बीच में पूर्णतया बंद हो जाती है और अब वह ठोस हो जाती है । इस बंद अर्थात् अप्रवेश्य धमनी को धमनी बन्धन कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा फुफ्फुसिया धमनी महाधमनी से बंधी रहती है ।

जन्म से दूसरे और पांचवें दिनों के बीच में नाभि शिरा और उसकी शाखा भी बंद हो जाती है, नाभि शिरा अब एक गोल रज्जु के समान होजाती है, दूसरे और पांचवें दिनों के बीच नाभि धमनियां भी सूख जाती हैं । चौथे और सातवें दिन के बीच नाल भी सूख कर गिर जाता है । उपर्युक्त क्रियाएं प्रकृति के नियमानुसार होती हैं परन्तु अगर इन क्रियाओं में कोई अनियमितता आजाये जैसे नाभि शिरा या धमनी का समय पर बंद न होना वा फुफ्फुसिया धमनी फुफ्फुसों में जाने की अपेक्षा महाधमनी में ही जाये व इसका बंधन ठोस न होने आदि क्रियाओं के कारण रक्तस्राव होने

लगता है । तथा नाभिनाल का स्पन्दन बंद होने से पूर्व नालोच्छेदन करना व माता के शरीर में कैल्सियम की कमी होना व बालकों को उदर पर कोई आघात होने से नाभि शिरा तथा धमनी में दरार आने आदि से नाभि से रक्तस्राव होने लगता है । नाभि शिरा तथा धमनियों का पूर्ण संकोच न होना भी कारण है । यह रक्तस्राव उसी दिन या बाद में भी कभी हो सकता है ।

चिकित्सा—

रक्तस्राव का ज्ञान होते ही तुरन्त रक्त बंद करने का उपाय करना चाहिए । इसके लिए स्तम्भक औषधियों को काम में लायें—

फिटकरी ३ रत्ती व जिंक सल्फेट दो रत्ती ४ औंस पानी में डाल कर नाभि को धोयें । व ४ माशे माजुफल को पाव भर पानी में उबाल कर उसमें फिटकरी और कत्था का चूर्ण डाल कर मोटे कपड़े की गद्दी बना भिगो कई दिन तक उस पर रखें । अथवा पतंग मोचरस, धाय के फूल दो दो मासे डाल उबाल कर प्रयोग करें । इसके बाद खूब सूखाकर टकंगांमल डाल कर पट्टी बांधें । एक घन्टे बाद फिर खोलकर देखें । अगर रक्त जारी हो तो पुनः यही क्रिया करें । बालक का सिर थोड़ा नीचा करें तथा पांव ऊंचे रखें । आन्तरिक प्रयोगनार्थ कैल्सियम बाहुल्य पदार्थ दें जैसे प्रवाल पंचामृत, प्रवालपिष्टी, गौदन्ती, मुक्ताशुक्ती पिष्टी, सौवीराञ्जन भस्म, एलम फूत्तादि दें ।

आधुनिक परिचर्या में बर्फ की पट्टी रखें, विटामिन के १ सी. सी. के एम्पूल पेशी से दें । केपिलिन १ गोली वा १ सी. सी. प्रतिदिन पेशी से दें । क्लोडेन व ओस्टो कैल्सियम दें । व एड्रिनलीन ३ सी. सी. पेशी द्वारा दें । चूल्हा पोतने की पीली मिट्टी लेकर बारीक कूट भिगो एक अंगुल मोटी तह बना नाभि से पेडू तक रखने से बहुत लाभ होता है ।

कविराज श्रीमती विमलादेवी M. A. M. S.

C/O श्री गंगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य, भिवानी

नाभिपाक और उसकी चिकित्सा

श्रीमती सावित्रीदेवी 'रावत' साहित्य शास्त्राणी आयुर्वेदरत्न

शिशुओं का नाभिपाक प्रायः नाडी परिकल्पन के पश्चात् होता है। प्रसव के अनन्तर नाल काटने में असावधानी और उसके शोषण के लिए उचित उपचार न करना ही इस रोग को आमन्त्रण देना है, इस रोग के कारणों का विस्तृत विवेचन न करते हुए मुख्य कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है। साधारणतः नाभि पाक के तीन कारण हैं—

- (१) प्रसाविका की असावधानी
- (२) माता या परिचारिका की उपेक्षा
- (३) स्नान व तैल मर्दन में आघात

(१) प्रसाविका की असावधानी—

प्रसवोत्तर काल में नाल काटने के समय दूषित, कुरिष्ठत, जंग खाये या टूटे हुए चाकू व कैंची का प्रयोग, नाल के बन्धन में त्रुटि, नाल को बलात् खींच कर काटना, मैले व दूषित हाथों का प्रयोग, बन्धन सूत्र का मैला या दूषित होना, नाल काटने के पश्चात् अवधूलन (पाउडर) न लगाना, या मात्रा से प्रयोग न करना अथवा पाउडर का गुणहीन व दोषयुक्त होना, प्रसाविका (दाई) द्वारा उसका अकालिक और अमात्रिक प्रयोग ही नाभि पाक में पूर्ण सहायक व प्रधान कारण होते हैं, प्रारम्भिक स्नान ठीक न होने, नाभि स्थल पर गर्भस्थ मल का संचय भी नाभिपाक में सहयोग देता है।

(२) माता या परिचारिका की उपेक्षा—

नाडी परिकल्पन के पश्चात् नाल के बन्धन सूत्र को बालक के गले में ढीला बांध देते हैं। कुछ व्यक्ति नाल काटने के पश्चात् नाभि स्थल पर ही कपड़े की पट्टी द्वारा नाल को दबा कर बांध देते हैं। प्रथम प्रकार में दूध पिलाते समय या निद्रा में हाथ का आघात या बन्धन के कर्षण से कोमल नाभि स्थल पक जाता है। दूसरे प्रकार में वस्त्र पट्टी के अधिक कठोर होने या कसकर बांधने

अथवा अधिक ढीला बांधने पर ऊपर नीचे सरक जाने से नाल विकृत होजाता है और पक जाता है। प्रायः देखा गया है कि उष्ण ऋतु में पट्टी की गर्मी से या अच्छा उत्तम अवधूलन न करने से नाभि पाक हो जाता है। माताएँ व परिचारिकाएँ स्नान कराते समय उपेक्षा करती हैं और नाल में मटका या दूषित हाथ लग जाते हैं। साथ ही नाभि स्थल के पानी को शुद्ध तूल (रूई) से नहीं सुखाते और गीले में ही पट्टी बांध देते हैं। ऐसी उपेक्षाओं से नाभिपाक हो जाता है।

(३) स्नान व तैल मर्दन में आघात—

बालक को दैनिक तैल मर्दन, या घृत मर्दन अथवा अवधूलन करते समय नाखून लग जाना, चोट लग जाना, नाल पर किसी भी प्रकार का आघात लग जाने से नाल असमय में ही बालक के नाभिस्थल से अलग हो जाता है और उस स्थल पर घाव होकर रक्त बहने लगता है तथा पक भी जाता है। इसे नाभिपाक रोग कहते हैं।

नाभि पाक के उपद्रव—

सर्व प्रथम नाल के विकृत होने या कच्चा उतर जाने पर शिरा व धमनियों का मुख खुल जाता है और उनसे रक्तस्राव या लाल पानी का स्राव होता रहता है और नाभि में ब्रण होकर पूय पड़ जाता है। इसमें से स्फोट रूप में पय निर्गम, दुर्गन्ध आना व चूत तथा स्फोट की आकृति बन जाती है।

बालक को वेदना, अनिद्रा, आध्मान, रक्ता-स्पता व अजीर्ण हो जाता है और बाह्य दूषित-विकार रक्त में मिश्रित होकर विविध रोग उत्पन्न कर देते हैं। साधारणतया पाचन दोष, उदरपीड़ा के समय पैरों के संकोचन व उदर पीड़ा से नाभि-स्थली से रक्तबिन्दुओं का निस्सरण होता रहता है।



नाभि पाक की भयंकरता—

रोग की विशेष वृद्धि से टिटनिस होना, स्फोट आदि उपद्रव, कान्तिहीन होना, ब्रण में कृमि पड़ना, उदर में अन्तर्मुख स्फोट होना, पाचन क्रिया बिगड़ जाना, रक्त की न्यूनता आदि भयंकर व्याधियां बालक को ग्रसित कर लेती हैं।

नाभिपाक की चिकित्सा—

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस रोग की चिकित्सा निम्न प्रकार विदित है—

नाभिपाके निशालोघ्र प्रियंगु मधुकैः शृतम् ।
तैलमभ्यञ्जने शस्तमेभिश्चात्रावधूलनम् ॥१॥
दुग्धेन छागशकृता नाभिपाकेऽवचूर्णनम् ।
त्वक् चूर्णैः क्षीरिणां वापि कुर्याच्चन्दन रेणुना ॥२॥

उक्त पद्य 'योगरत्नाकर' ग्रन्थ के हैं, प्रथम पद्य 'भैषग्य रत्नावली' के बाल रोगाधिकार में भी है।

इनका अर्थ—बालक के नाभि पाक में हल्दी, पठानी लोघ्र, प्रियंगु व मुलहठी का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर डालना चाहिये तथा इन्हीं औषधियों का तैल बनाकर बार बार लगाना चाहिये ॥१॥ दूध व बकरी की मँगनी नाभिपाक में लगानी चाहिये, इनका पाउडर बुरकना चाहिये तथा दूध वाले बच्चों की छात और चन्दन का कपड़छन चूर्ण करके नाभिपाक के ऊपर पुनः पुनः बुरकना चाहिये।

चरक संहिता शारीरस्थान अध्याय ८४६ में समासतः कही है यथा—

तस्य चेन्नाभिः पच्येत, तां लोघ्रमधुक प्रियंगु देवदारु हरिद्रा कल्क सिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात् । एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत् ।

अर्थ—यदि सद्योजात बालक की नाभि कल्पना के पश्चात् किसी विकार से नाभि पक जाय तो पठानी लोघ्र, मुलहठी, प्रियंगु, देवदारु व हल्दी इनके कल्क से साधित तैल द्वारा नाभि को बार बार

सिंचित करें, इससे नाभिपाक शीघ्र ही अच्छा और शान्त हो जाता है।

मेरा अनुभव—

(१) पठानी लोघ्र और हल्दी का समभाग चूर्ण कर घृताप्लुतकर बार बार नाभि पर लगाना चाहिये तथा इसी घृत से शुद्ध रुई से कटुष्ण सेक करा हितावह है।

(२) भृङ्गराज रस को शुद्ध घृत में पकाकर तब के फाये से लगाकर बांधना चाहिये। इससे ब्रण शुद्ध होकर भर जाता है।

(३) तैल कटु हल्दी, अनार का छिलका, मेंहरी का प्रयोग भी कई बार किया है।

(४) यदि नाभि में से रक्त व पूय निकलता रहे, साव बन्द न हो तो माजूफल शुद्ध घृत के साथ लगाना चाहिये।

(५) आयुर्वेद चिकित्सा की सफलता—बड़े बड़े योग्य एलोपैथिक डाक्टरों की चिकित्सा करते हुए Ne-ba-Sulf जैसी अच्छी दवा का प्रयोग महिनों करने पर भी जो बालक अच्छे नहीं हुए केवल आपरेशन की शरण शेष रही, ऐसे समय में उक्त दवाओं ने नाभिपाक रोग में आशातीत लाभ दिखाकर आरोग्य प्रदान कर दिया।

पथ्य एवं सावधानी—मत्तिका दूषण, धूलि धूम दोष, ब्रण की मलिनता, आघात एवं अघात आदि से दूर रहना चाहिये। माता को खट्टा, चर्परा, गरिष्ठ, क्लेदी पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये।

पथ्य—स्नान, प्रच्छन, अवधूलन, धूपन, अलेपन, घृत या तैल का अभ्यञ्जन रोगी बालक के लिये हितावह हैं।

—श्रीमती सावित्री देवी रावत वैद्य साहित्य शास्त्राणी, आयुर्वेदरत्न, विद्यावाचस्पति, इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी, आगरा।



शिशु का प्राकृतिक भोजन

आचार्य श्रीहरदयाल जी वैद्य



परमपिता परमेश्वर के वात्सल्य और संरक्षणात्मक वरदहस्त का देदीप्यमान परिचय देखते हुए भी कोई उसके अस्तित्व से आंख मीच ले, ऐसा बिरला ही मानव हो सकता है।

प्रभु का यह वरदहस्त मानव समाज के लिए ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक योनि से जन्मग्रहण करने वाले शिशु के लिए सर्वत्र और सर्वदा एकरस रहता है।

शिशु को अपने भोजन के लिए कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसका भोजन उसकी जन्मदात्री के पास प्रचुर मात्रा में रहता है। यही उसका प्राकृतिक और सहज खाद्य है।

आज इस विषय पर पर्याप्त लेख हो रही हैं। वैज्ञानिकों ने अपने विज्ञानबल और अनुभवों के आधार पर शिशु के लिए माता के दुग्ध के स्थान पर अनेक खाद्यों का निर्माण किया है परन्तु स्वाभाविकता और कृत्रिमता कसौटी पर एक न रह सकीं। कृत्रिमता जहां और जब जब भी अपनाई गई उसने अपने नग्नरूप दिखाने से चूक नहीं की। अंततोगत्वा आधुनिक उन विद्वानों को जो विश्व-हित में सत्य भाषण श्रेष्ठ समझते हैं, शिशु के कृत्रिम खाद्यों के बरखिलाफ अपने विचार निर्भीकता से व्यक्त करने के लिए विवश होना पड़ा। पाठक! उनके विचार अग्रिम पंक्तियों में पढ़ेंगे।

माता का दूध—

यह तो निर्विवाद है कि शिशु के लिए सर्वोत्तम और निरापद भोजन माता का दूध है परन्तु कुछ ऐसी भी दशाएँ कभी कभी सामने आती हैं

जबकि माता के दूध पर भी थोड़ा विचार करने की आवश्यकता हो जाती है यह दशाएँ निम्न हैं—

जब माता रुग्ण हो अथवा उसका दूध सुपच न होकर भारी हो। माता के दूध में ऐसे परिवर्तन प्रायः तब ही होते हैं जब आहार विहार में विषमता हो अथवा माता अनेक रोगों से रुग्ण हो। ऐसी दशा में माता के दुग्ध में गुरुत्व (जलीयांश की न्यूनता) पीतप्रभता (पित्ताधिक्य के कारण), पिच्छिलता एवं दुर्गन्धादि गुण उपस्थित हों। ऐसा



चित्र नं० २३



विकृत दुग्ध नवजात शिशु को सात्म्य नहीं पड़ता ।

सर्व साधारण के लिए नीचे दुग्ध की परीक्षा लिखी जाती है—

दुग्ध परीक्षा विधि—

माता के स्तनों से थोड़ा दूध लेकर शीशे के स्वच्छ गिलास में डाल ऊपर से दूध के समान भाग स्वच्छ जल डालकर हिला दें । यदि जल मिश्रण से दूध लस्सी की तरह पतला और स्वच्छ श्वेत वर्ण का रहे तब निर्दोष समझना चाहिए । इससे भिन्नवर्ण व आकृति धारण करने वाला दूध बालक को न देना चाहिए । यदि विकृत दूध शिशु को दिया जाए तो उसे अनेक विकार उत्पन्न करता है । एवं इस आद्यकाल में ही यदि शिशु के उदर में अपचन का दोष उत्पन्न हो जाये तब बहुत सम्भव है कि नवजात शिशु समग्र आयु ही अपचन विकार, उदरशूल, कब्ज, पेट का फूलना और दस्तों के रोगों से पीड़ित रहे । अतः सर्वप्रथम माता का दुग्ध देते समय दूध की परीक्षा कर लेना नितांत आवश्यक है ।

अज्ञानता के कारण इस प्रकार का दूध यदि कुछ काल तक दिया जाता रहे तब अनेक भयङ्कर रोग उत्पन्न होने की सम्भावना के साथ साथ यह भी सम्भावना है कि शिशु का ही प्राणांत होजाये। ऐसी अनेक घटनायें प्रतिदिन व्यक्त होती रहती हैं ।

स्तनदान विधि—

नवजात शिशु को जन्म के पश्चात् कब स्तनपान कराना चाहिए ? शिशु गर्भशय्या से बाहर आकर कुछ घंटों का भोजन नाभिनाल के द्वारा माता से प्राप्त कर लेता है अतः कई घंटे उसे स्तन देने की आवश्यकता नहीं होती ।

प्रकृति माता के स्तनों में अष्टममास में एक श्वेतवर्ण के तरल (Colostrum) की उत्पत्ति आरंभ कर देती है । माता शरीर, आत्मा, इन्द्रिय और मन से स्वस्थ है तब यह तरल जो दुग्ध से काफी पतला होता है तरलावस्था में ही रहता है और यही शिशु का प्रथम भोजन है । इसमें कुछ विरेचन शक्ति

प्रभु ने दी है और इसीके प्रभाव से शिशु के मल में स्थित प्रथम मल कृष्णवर्ण का निकल जाता और तत्पश्चात् शिशु के मल का वर्ण पीला जाता है ।

किन्तु उपर्युक्त लक्षणात्मक स्वास्थ्य के अभाव में स्तनस्थ तरल (Colostrum) शोक, चिंता, आदि से संहित होकर गाढ़ा हो जाता है । स्तनदान से प्रथम स्तन दोहन प्रक्रिया से इस भी परीक्षा कर लेनी चाहिए । यह तरलावस्था का दिया जाना चाहिए, संहित या गाढ़ा सा कभी दिया जाए । संहित दूध निकलने पर्यन्त स्तन बार बार थोड़ी थोड़ी देर के बाद दोहन करते रहना चाहिए । तरल दूध आने पर ही दिया जाता है ।

नाल परिकर्तन और स्तन के पश्चात् अर्थात् जन्म से २३ घण्टा के पीछे शिशु को सर्वप्रथम विशुद्ध मधु २३ माशा की मात्रा में शनैः शनैः चटाना चाहिए । एवं १०।१२ घण्टे के बाद विशुद्ध स्तनपान कराने से बालक प्रायः स्वस्थ रहते हैं ।

धाय दुग्ध—

सम्पन्न परिवारों में धाय के रखने का प्रचलन सब देशों के इतिहास की पुरानी प्रथा है और कभी कभी कर्महीन शिशु के लिए भी परिवार वालों को ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है । ईश्वरीय नियम के आधीन तो स्वस्थ माता को कदापि अपने दूध से शिशु को वंचित करने का कोई अधिकार नहीं किन्तु आज की नयी सभ्यता और विचार परिवर्तन ने एक नूतन मान्यता को जन्म दिया है जिसे आज जोरों से अपनाया जा रहा है ।

नवजात शिशु को दुग्धदान करने के लिए जो धाय चुनी जाये उसके स्वास्थ्य, आहार विहार, मानसिक स्थिति आदि के सम्बन्ध में भी पूर्ण विचार कर लेना चाहिए । धाय की नियुक्ति में भी ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी आयु २० और ३० वर्ष के मध्य हो और उसके शिशु की



शिशु रोगादिः

आयु भी अपने शिशु के समान हो और उसका अपना जन्हां निर्बल न हो, उसके स्तनों से पर्याप्त दूध निकलता हो, धर्मनिष्ठ, संतोषी, साधुवृत्ति, सभ्य और सुशील हो। राजयक्ष्मा, अपस्मार अथवा सुजाक, उपदंशादि भयङ्कर और कुलघातक रोगों से जुष्ट न हो। उसके वस्त्र स्वच्छ हों मुखादि से दुर्गन्ध न आती हो। जिस स्त्री को ऋतु आना आरंभ हो गया हो उसे धाय के लिए नियुक्त न करें।

दुग्धपान—

माता का दुग्ध व धाय का दुग्ध यदि किसी भी आपत्काल में उपलब्ध न हो सके तब शिशु के लिए गोदुग्ध और अजाक्षीर का व्यवहार किया जा सकता है।

यहां पर स्मरणीय है कि प्रकृति ने नवजात शिशु के लिए माता के दुग्ध में ८० प्रतिशत जल दिया है एवं माता के दुग्ध में ८० प्रतिशत जल उपस्थित है या नहीं इसके निर्णय के लिए वातपित्त कफादि से जुष्ट दूध निच्य माना है कारण कि वातादि दोषों से दूषित दुग्ध में जलीयांश की ८० प्रतिशत मात्रा का अभाव होता है। दोषरहित जिस मातृ दुग्ध का व्यवहार श्रेष्ठ माना गया है उसमें प्रकृति प्रदत्त जलीयांश उपस्थित रहता है।

अब स्वाभाविक ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि नवजात शिशु को गोदुग्ध अथवा अजाक्षीर जलरहित देना चाहिए या सजल। निःसंदेह गोदुग्ध और अजादुग्ध में भी जलीयांश उपस्थित है परन्तु विचारणीय यह है कि मानवीय नवजात शिशुओं के लिये वह उपयुक्त है या नहीं? स्वाभाविक ही उत्तर नकारात्मक होगा कारण कि प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी वर्ग में भिन्नता से कार्य लिया है अतः स्थानापन्न आहार में भी भिन्नता अवश्यम्भावि हो जाती है। इसलिए माता के दुग्ध के स्थान पर यदि विजातीय वर्ग के दुग्ध की आवश्यकता उपस्थित हो तब उसे जननी के दुग्ध की जलीयांश मात्रा से युक्त होना ही चाहिए। यदि अज्ञानवश व हठ से इस नियम का पालन न किया जाए तब उसके दुष्परिणाम

तुरन्त ही शिशु पर प्रकट होने लग जाते हैं। इस प्रकार की उपेक्षा शिशु को आयु भर रुग्ण रखने का कारण बन जाती है।

जल मिश्रण—

शिशु को दिए जाने वाले दुग्ध में कितना जल दिया जाना चाहिए? इसमें मतभिन्नता हो सकती है परन्तु सिद्धांत भिन्नता नहीं। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा इस सम्बन्ध में जिस सारणी का अनुकरण किया जाता है वह इस प्रकार है—

प्रथम से चतुर्थ सप्ताह तक शिशु के दुग्ध में चतुर्गुण जल देकर उसे एक उबाल आने तक औटा के रख लेना और यथासमय आवश्यक मात्रा-नुसार २॥ से ३ घन्टा के पश्चात् देना चाहिए। एक मास के पश्चात् ८ मास तक त्रिगुण जल और तब ६ मास से १२ मास तक द्विगुण जल मिला दूध दिया जाना चाहिये। तत्पश्चात् समानमात्रा जल मिश्रित दूध दिया जा सकता है। इस नियम के अनुसार व्यवहार करने से शिशु बिलकुल स्वस्थ रहता हुआ दिन प्रतिदिन दृष्ट पुष्ट होता जाता है।

अन्नप्रासन—

सम्बत्सरांत में शिशु के लिए अन्नप्रासन का समय भी आता है और यह संस्कार कहीं कहीं विशेष समारोह से मनाया जाता है। परन्तु इसके लिए अनेक विचारणीय स्थल उपस्थित हैं। केवल मात्र १ वर्ष के पश्चात् ही इस संस्कार का चालू कर देना न तो उपयुक्त है न युक्ति संगत ही।

जिन परिवारों में स्तनधय शिशु के स्तन्य की शुद्धता अथवा उपरि दुग्ध में आवश्यक जलीयांश के मिश्रण के प्रति उपेक्षा से काम लिया जाता है उसमें बच्चे प्रायः हीरुग्ण रहते हैं। ऐसे रुग्ण बच्चों को नियमित रूपेण सम्बत्सरांत पर अन्नप्राश कराया जाता है तब उनके स्वास्थ्य में वृद्धि न होकर स्वास्थ्य क्षय आरम्भ हो जाता है। ऐसी दशा में शिशु को ज्वर, अतिसार, कास, प्रतिश्याय, कोष्ठ-बद्धता, आध्मान, शरीर की कृशता, आदि अनेक



रोगों के साथ साथ शिशु के मुख मण्डल पर विराजमान सहज आकर्षक सौन्दर्य भी लुप्त होता जाता है।

अन्न की अधिक भरमार करने पर शिशु का उदर बढ़ जाता है एवं अन्य रोगों में कृशत्व व्यक्त हो जाता है। यकृत एवं स्नीहा में वृद्धि, शोथ और वेदना की अभिव्यक्ति की सम्भावना भी उपस्थित हो जाती है। अतः उन्हीं शिशुओं को नियमित काल पर अन्न प्रशन कराना चाहिए जो सबल स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट हों।

अन्नप्रासन के आरम्भ में उन भोज्य वस्तुओं का चयन उपयुक्त होगा जो सुपच एवं तरल हों। जैसे साबूदाना, पतली खिचड़ी, एवं मुद्गयूष। आरम्भ में एक अंगुली से वस्तु प्रलित करके शिशु के मुख में देनी चाहिए। तदनु दूसरे चौथे दिन एक एक चम्मच पेय अन्न का उपयोग सुखावह हो सकता है। निरंतर दोनों काल अन्न आरम्भ न करना चाहिए।

शिशु को नियमित रूपेण १ वर्ष पर्यन्त क्षीराशी रखना उसके स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय वर्ष के अंत तक उसे क्षीरान्नाशी बनाया जाना उपयुक्त होगा। एवं तृतीय वर्ष के अंत में वह केवल अन्नाशी होने के योग्य बन सकता है। परन्तु बच्चों और बड़ों के लिए दुग्धामृत का पान यथाशक्ति निरन्तर ही रहना अत्यन्त आवश्यक है।

शिशु के कृत्रिम खाद्यों का आविष्कार क्यों हुआ?

प्रकृति ने इस आविष्कार की आवश्यकता को मूलतः ही नष्ट करके रख दिया था किन्तु मानव मस्तिष्क एक अजीब गोरखधन्दा है, उसने अपनी गलत धारणाओं से शिशु के कृत्रिमखाद्यों का निर्माण करके एक ऐसा अप्रशस्त्र पग उठाया है जिसके परिणामस्वरूप शिशु और उसकी माता दोनों को ही रोगों का शिकार बना दिया।

इस स्थल पर भारतीय साहित्य की यह उक्ति

ठीक बैठती है कि 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' अर्थात् बैठे थे गणपति का चित्र बनाने परन्तु बन गया बन्दर।

शिशु के प्राकृतिक आहार के सम्बन्ध में डा. कार-पेंटर अपनी सुविख्यात पुस्तक *Chavasse's Advice to a mother* में लिखते हैं कि शिशु की जुधावृत्ति सिवाय जननी के दूध के अमृत से भी नहीं हो सकती। माता के दूध से ही बच्चा हृष्ट-पुष्ट और दीर्घजीवी हो सकता है।

डाक्टर E. H. Redak M. D. अपने शिशु चिकित्सा नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि संसार में शिशु के लिये जितने खाद्य द्रव्य हैं उन सबमें ईश्वर प्रदत्त माता का दूध ही प्रधान है।

ए० ए० बहादुर डा० चुन्नीलाल बसु M. D. अपनी 'खाद्य' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि परम कारुणिक परम पिता परमात्मा ने असह्य शिशु के लिये माता के स्तनों में एक पवित्र और पूर्ण खाद्य संग्रह कर रखा है। माता का दूध ही बच्चे का एकमात्र खाद्य है।

कृत्रिम खाद्य—

कृत्रिम खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध में डा० फिशियर M. D. लिखते हैं कि यदि बच्चे को कुछ समय तक 'मेलिन्सफूड' खिलाया जाये तो उसके आमयुक्त हरे दस्त होने लगते हैं। इसके प्रभाव से पाक यन्त्र उत्तेजित हो उठता है और उससे उदर पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। 'हरलिकसमिल्क' नामक खाद्य पदार्थ से दूध का सारभाग उसी समय लुप्त हो जाता है। जब वह अपनी दूषित गाली द्वारा सुखाया जाता है उसमें सिर्फ कारबेंट आफ सोडा रह जाता है जो अत्यन्त हानिकारक वस्तु है।

डा० थामस डलटन M. D. लिखते हैं—अधिकांश पेटेन्ट कृत्रिम खाद्यों में श्वेतसार (मैदा), शर्करा और रंग मिले होते हैं। ये समस्त पदार्थ

—शेषांश पृष्ठ ६४ पर।

शिशु तथा मातृदुग्ध

वैद्यराज श्री शेषराव जैन आयुर्वेदरत्न

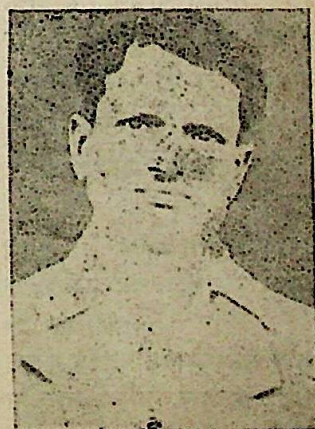


सबल स्वस्थ शिशु ही रहे महादेश का मान ।
लालन-पालन में रखें, माता जो अति ध्यान ॥
ऐसे बालक ही बनें, गुरुजन भक्त सुजान ।
देश जाति गौरव बढ़े, पोषण दुग्ध महान ॥

एक कहावत का प्रचलन है कि 'जैसा खावें अन्न, वैसा होवे मन' ठीक यही बात शिशु के लालन पालन के विषय में भी सत्य है। शिशु का मुख्य आहार दुग्ध है और दुग्ध उसे मातृ स्तन्य रूप में ही श्रेष्ठतम प्राप्त हो सकता है। वैसे आजकल पाश्चात्य रङ्ग में रंगी कुछ माताएँ शिशु का स्तन-पान कराना अनुचित समझती हैं। एक वकील साहब जिनकी पत्नी धात्री दुग्ध द्वारा शिशु पोषण की समर्थक थीं प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि इससे यौवन नष्ट हो जाता है, स्तन कठोर नहीं रह पाते वे ढल जाते हैं जिससे पति पत्नी में प्रथम प्रणय का स्वादन न रहने से पति के कुपथगामी होने का भय रहता है। तर्क सुनकर विस्मय भी हुआ और दुःख भी और तब मैंने वकील साहब के भाई साहब के समक्ष ही मातृदुग्ध की वकालत की। न्यायाधीश स्वयं बाई साहब थीं और मुझे इस बात का गौरव के साथ अनुभव हुआ कि ऐसी सुशिक्षित देवियों को यदि उचित ढङ्ग से समझाया जाय तो शीघ्र समझ अपनी भूल का परिमार्जन भी कर लेती हैं। यह हमारी न्यायाधीश बाई साहब ने सिद्ध कर दिखाया और वे मातृ स्नेह अपने शिशुओं पर न्यौछावर करने लगीं। माना कि धात्री दुग्ध, गौ दुग्ध, अजा दुग्ध आदि शिशु का पोषण भली प्रकार करने में समर्थ हैं। उस दुग्ध से पर्याप्त जीवन सत्व शिशु को प्राप्त हो सकता है। पर वह वस्तु फिर भी शिशु को प्राप्त नहीं हो सकती जो केवल मातृ दुग्ध में विधाता ने सृजित की है। जिस प्रकार रजः वीर्य से शिशु शरीर का निर्माण होता है उसी प्रकार मातृदुग्ध से बालक के हृदय में सात्विक भावों का निर्माण होता है।

मातृ दुग्ध स्नेह का साकार स्रोत है जो अविरल प्रवाहित होकर हृदय में शिशु की ममता तथा उस ममतायुक्त दुग्ध से पोषित शिशुओं में मातृभक्ति वात्सल्य शुद्ध सात्विक भावनाओं का निर्माण करती है। वीर माता ही अपने दुग्ध पीने वाले शिशु को कह सकती थी वेटे मेरे दूध की लाज रखना। वीर शिवाजी अपनी माता के वाक्यों को वेद वाक्य मान स्वातंत्र्य होली खेले क्यों? माता जीजाबाई के दुग्ध में व्यापित उनकी भावनाओं के परिणामस्वरूप ही तो। अतः हमारी माताओं को पाश्चात्य सभ्यता का अधानुकरण करना शोभास्पद नहीं।

मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि धात्री दुग्ध सर्वथा त्याज्य ही है। अवस्था विशेष पर धात्री दुग्ध दिया जा सकता है। शास्त्रकारों ने अत्यन्त गवेषणा कर मातृ दुग्ध की समानता में धात्री दुग्धपान के लिये धात्री में निम्न गुणों का होना अतीव आवश्यक माना है। अर्थात् धात्री समान जाति, समानवय, विनीत, स्वस्थ, निर्व्यसनी, अव्यंगी, अविरूपा (जिसका अङ्ग विकृत अथवा कुरूप न हो) जिसे देखने से घृणा उत्पन्न





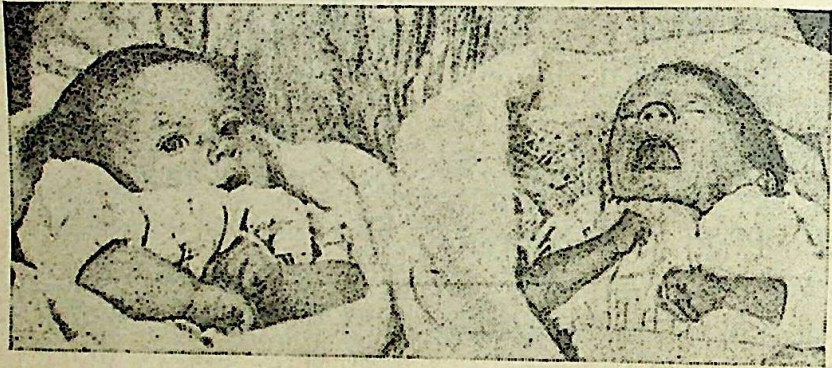
न हो अर्थात् जो स्वयं स्वच्छ रहकर शिशु को भी स्वच्छ रख सके। नीच कर्म करने वाली न होकर उच्च कार्यकर्त्री हो, कुलीन हो, वात्सल्यवती, जीवित पुत्र वाली, प्रचुर तथा निर्दोष दुग्ध वाली हो। पागल, देर तक सोने वाली तथा धर्माचरण से पतित न हो, जो शीघ्र जागकर बालसेवा दक्षतापूर्वक कर सके। जो स्वयं पवित्र रहकर शिशु को भी पवित्र रख सके तथा जिसके स्तन और स्तन्य श्रेष्ठ गुणों से युक्त हों। ऐसी धात्री मातृ दुग्ध समान शिशु को स्तनपान करा सकती है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि ऐसी धात्री क्या सुलभ है। और वह पाश्चात्य रंगों में रंगी माताओं के

समर्थ वात्सल्यवां, कृशं वात्सल्यं तथा रक्षत्येव सुतं माता, नान्य पोषण विधानतः।

—महाभारत शांति पर्व

अतः माताओं से मेरी प्रार्थना है कि विलासितायुक्त आधुनिक फैशन को त्याग शुद्ध भारतीयता को अपना कर अपनी भावी सन्तान को अपने स्नेह का दान कर अपनी त्याग, ममता, मातृ स्नेह के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास कर आदर्श मातृत्व की गरिमा से शोभित हों।

आपत्तिकाल अर्थात् माता के मृत होने, रुग्णवस्था में होने अथवा स्तन व्यापद् हो जाने पर उपरोक्त गुण-दोषों का गहन विचार कर माता के



चित्र नं० २४—दो जुड़वां बच्चे—प्रथम शिशु ने माता का दूध पिया है तथा द्वितीय बच्चे को कृत्रिम पोषण पर रखा गया है।

सुलभ हो सकती है। जब नहीं तो फिर अन्य दुग्ध तो शिशु के लिये प्रगति बाधक हैं अतः शिशु के हितेच्छु माताओं को आधुनिकता का रंग छोड़ स्वयं का स्तन्य ही शिशु को पान कराकर ममत्व का आनन्द लेना चाहिये। उपरोक्त गुणयुक्त धात्री मिलने पर भी शास्त्रकारों ने मातृदुग्ध ही श्रेष्ठ मान कर कहा है—

‘मातुरेव पिवेस्तन्यं तत्परं देहं वृद्धये।

स्तन्य धात्र्या क्रमे कार्यं, तदसम्पदि वत्सले ॥’

—अ० ह० उ० अ० १-१५

नास्ति मातृ समाच्छाया, नास्ति मातृ समागतिः।

नास्ति मातृ समं त्राणं, नास्ति मातृ समा प्रिया ॥

मातृ लाभे सनाथत्वम्, नाथत्वम् विपर्यये।

सदृश ही स्तन्य धात्री का दुग्धपान शिशु को कराने की शास्त्र आज्ञा देता है। यदि उपरोक्त गुण वाली धात्री प्राप्य न हो तो जीवित वत्सा गौदुग्ध देना ही श्रेयष्कर है।

धात्री दुग्ध देने की अवस्था में धात्री के कुछ विशेष कर्मों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। धात्री अथवा माता को भी अत्यन्त स्वच्छताप्रिय होना चाहिए। उसे बालक को पूर्णतः स्वच्छ रखना चाहिये। शिशु को गन्दे वस्त्रों में अथवा गन्दे स्थानों में रखना एकदम निषेध है। मल-मूत्र करते ही एकदम बिना आलस्य के तत्काल शुद्ध करना चाहिये। बालक के स्वच्छ रखने के साथ ही उसे



शिशुरोगादि

स्वयं के हाथ पैर, केश, नख, वस्त्र, दन्त, स्तन आदि पूर्ण स्वच्छ रखने चाहिये। बाहर कहीं से आने पर स्तनों को उष्णोदक से धोकर ही शिशु को स्तनपान कराना चाहिये। बहुधा धात्री अथवा माता चूल्हे के पास भोजन बनाते समय ही शिशु के रोने की आवाज सुन दौड़ी जाती हैं एवं बच्चे को वैसे ही लेकर स्तन मुंह में दे चूल्हे के पास ही रोटी बनाया करती हैं। यह एक खतरनाक तरीका है तथा शिशु के लिये रोग का आमंत्रण है। उसी प्रकार मल-मूत्र त्याग से आने के उपरान्त, धूप से आने के एकदम बाद शिशु को दुग्धपान कराना एकदम निषेध है। शिशु को दुग्धपान कराते समय स्तनों को उष्ण शुद्ध जल से धोकर तथा थोड़ा सा दूध बाहर निकालकर पश्चात् स्तन शिशु के मुंह में देना चाहिये। धात्री अथवा माता को संक्रामक रोगों तथा उनसे बचने के प्रतिषेधक उपाय स्वास्थ्य-रक्षा का भी आवश्यक ज्ञान होना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ तथा वसंत ऋतु में शीतला माता, रोमान्तिका, कनफेड़, आंत्रिक ज्वर, वर्षा ऋतु में प्रवाहिका, बालातिसार, विशूचिका, चर्मरोग आदि, शरद् ऋतु में ज्वर, प्रतिश्याय, कास तथा हेमन्त ऋतु में फुफ्फुस, पाकादि रोग होते हैं। यदि धात्री को इतना सामान्य ज्ञान है तो वह बालक को कब कैसा जल पिलाना, आहार देना चाहिये, आदि समझ कर बालक का उपकार कर सकती है। रोग ज्ञान का जहां तक शिशु से सम्बन्ध है, वहां धात्री के रुग्ण होने पर शिशु पर भी घातक प्रभाव पड़ता है। अतः यदि दुग्ध प्रदात्री को कुछ भी कष्ट है तो तत्काल उसके शमन पर ध्यान देना चाहिये और कष्ट शमन पर्यन्त बालक को दुग्धपान तथा धात्री सम्पर्क से पृथक् रखना चाहिये। उसी प्रकार मासिक धर्म के समय भी बालक को दुग्धपान एवं सम्पर्क से पृथक् रखना चाहिये।

धात्री अथवा माता को खानपान तथा साधारण औषधि का विशेष रूप से ज्ञान होना आवश्यक है। गरिष्ठ भोजन, बासा भोजन करने से

आध्मान होकर दूध ठीक से नहीं उतरता। इन्द्रायण, जयपाल मिश्रित विरेचक योग लेने से उसका उत्सर्ग दुग्ध पर होकर शिशु को भी वमन विरेचन हो सकते हैं। उसी प्रकार भांग, गांजा, अफीम, तम्बाकू, शराब आदि मादक द्रव्यों का सेवन करने से उसका प्रभाव दुग्ध में मिश्रित होकर शिशु को हानि पहुंचा सकता है। कुछ ऐसे द्रव्य जैसे जीरक, सुपारीपाक, जीरकाद्यरिष्ट, अश्वगन्धा, शतावरी, सिंघाड़े एवं मूत्रल द्रव्य उशीर, कुशमूल आदि के सेवन से दुग्ध वृद्धि होती है। अतः जब मानसिक चिन्ता, क्रोध, भय, अनिद्रा आदि की स्थिति आ पड़े और दुग्ध में न्यूनता प्रतीत हो तो इनका प्रयोग करना चाहिये। धात्रियों को साधारण रोग ज्ञान, बुद्धि, चातुर्य एवं धैर्यशाली होना भी आवश्यक है। बहुधा देखा जाता है कि जब बालक को थोड़ा सा भी कष्ट हुआ तो माता घबड़ा जाती है और अपनी बुद्धि को ताक में रखकर मूर्खा स्त्रियों के समान भाड़फूंक, टोटके आदि में लग जाती है। उसे लाभ तो होता नहीं बल्कि रोग बढ़ जाने से अच्छे चिकित्सक भी उसे ठीक करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। ज्वर, मसूरिका, आंत्रिक ज्वर आदि में बालक शुद्ध वायु में न रख घुप्प अंधेर कमरे में रखना माता या धात्री की बुद्धिहीनता के उदाहरण हैं।

खान पान के सम्बन्ध में मैंने माताओं को अधिक दोषी देखा है। उनके अमर्यादित शिशु स्नेह ही ने कई बार उनके प्यारे शिशु को उनसे छीन लिया। फिर भी उनका अपने बच्चे को स्वास्थ्य के प्रतिकूल चुपके चुपके मिठाई हल्वा तैलीय वासे पकवान खिलाना चिकित्सक के लंघन या भोजन अथवा दुग्ध न देने का आदेश देने पर भी मेरा बच्चा दुर्बल हो जायगा इससे चोरी चोरी बच्चों को खिलाना माताओं की खास आदतें हैं। इस प्रकार अपने बच्चों को शीघ्र मोटा ताजा बनाने का स्वप्न देखने वाली माताएँ अपने बच्चों को अति दुर्बल, भौड़ी शक्ल के अथवा नागर पेदू बना



डालती हैं। नियमानुमोदि माताओं के बालक अनुशासन प्रिय स्फूर्तियुक्त, स्वच्छ एवं स्वस्थ मिलते हैं। अतः माताओं को अपने बालकों को नियमित आहारी बनाना चाहिए। दुग्धपान कराने के समय भी नियमित रहना चाहिए। दुग्धपान की उपयोगिता एवं गुणकारिता तभी है जब शिशु उसे भली भांति पाचन कर सके। जन्म के ६ से ८ घंटे पश्चात् शिशु को स्तनपान प्रति ३-३ घंटे के अंतर से पहले १ मिनट फिर क्रम क्रम से बढ़ाते हुए १० मिनट तक स्तन देना चाहिए। प्रातः ६ बजे, ८ बजे, १२ बजे अपरान्ह ३ बजे, सायं ६ बजे तथा पूर्ण रात्रि १० बजे। रात्रि में स्वस्थ शिशु को एक बार से अधिक स्तन नहीं देना चाहिए। हां पिलाने का काम रात्रि में क्रम से १ घंटा तक बढ़ाया जा सकता है। स्तनपान कराते समय धात्री को स्तन धोकर १ ग्लास जल पी लेना चाहिए। धात्री को खान पान में दूध मक्खन मट्ठा क्रीम अंडे अधिक सेवन कराने चाहिए। सिरका, खटाई, खट्टे फल, बासा, भारी भोजन का धात्री को त्याग कर देना चाहिए। हरी वनस्पतियों एवं जीवनीय पदार्थ विशेष लेने चाहिए। दुग्ध धात्री को शुद्ध वायु सेवन एवं उचित व्यायाम तथा पूर्ण निद्रायुक्त आराम का समय अवश्य मिलना चाहिए जिससे उसका दुग्ध दूषित न हो सके। दुग्धोत्पत्ति के प्रथम सप्ताह में दुग्ध की न्यूनता रहती है। अतः इन दिनों दुग्धपान के पश्चात् या पूर्व १ पाइण्ट जल में १ चम्मच नमक मिलाकर पी लेना चाहिए।

एक विशेष बात धात्री एवं शिशु के पालक पिता को कुमाराभरण की दृष्टि से नोट करने की यह है कि शास्त्रों में धात्री के लिये कुमार के दुग्धपान काल में मैथुन कर्म से एक दम विरत रहने का आदेश दिया है। इस काल में धात्री को एकदम ब्रह्मचारिणी रहना चाहिए। शास्त्र वाक्यों की सत्यता से मेरे चिकित्सक भाई तो परिचित हैं ही। मैंने अपने चिकित्साकाल में बहुत से पिताओं तथा माताओं से इसकी प्रतिज्ञा कराने के पश्चात् ही

चिकित्सा कर उनके प्राण बचाये हैं। इस कर्म करने से जिस रज से शुद्ध दूध का निर्माण होता है वह रज मैथुन कर्म में पात होने से दुग्ध दोषी, मार हो जाता है। इस दूध के पान करने से पारिगर्भिक पारिगर्भिक से नाल शोष, फक्क, चौरालसक, छदि बालातिसार आदि व्याधियां घिर कर बालक का जीवन समाप्त कर देती हैं। माता पिता इलाज करते हैं कुछ लाभ भी होता है लेकिन फिर वही हालत एक चिकित्सक से दूसरे, दूसरे से तीसरे के पास इस प्रकार एक को दूसरे से होशियार या कमजोर की विशेषता से विभूषित करते शिशु के माता पिता पर शान होजाते हैं। मगर वे अपनी कमजोरी नहीं समझ पाते। अतः आवश्यक है कि दुग्धपानावस्था में मैथुन त्याग दें। मैंने यहां तक बिलासिता की चरम सीमा देखी है कि एक माता का पहला शिशु १ वर्ष का और दूसरा १॥ मास का और दोनों ही शिशु कीड़े मकोड़े के समान किलकिल करते मातृ स्तन्य पीते थे। बहुत चिकित्सा के उपरांत भी दोनों में से कोई भी जीवित न रह सका। अतः माताओं और पिताओं को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। साथ ही उन्हें मैथुनी रोगों के परिणामों से भी परिचित रहना चाहिए। सहज फिरंग से पीड़ित बालक स्तनपान से धात्री को भी दूषित कर सकता है। जन्म के समय पूयमेह से पीड़ित माता शिशु को गंभीर नेत्राभिष्यन्द दे सकती है। अतः इस ओर सभी शिक्षित माता पिताओं को लक्ष्य देकर इन भावी कर्णधार कुमारों के प्रति अपने पावन स्नेह का अविरल स्रोत बहाना चाहिये।

आइये पाठ्यवृंद इतना लिख चुकने के पश्चात् कुमाराभरण के दूसरे पहलू पर भी अति संक्षेप नाति विस्तार से सम्यक् दृष्टिपात करें। इनमें प्रथम है—दुग्धाभाव अथवा दुग्ध का कम आना तथा दूसरा है स्तन्य दुष्टि।

क्रोध शोका वात्सल्यादिभिश्च, स्त्रियाः स्तन्य नाशो भवति।

—सु. शा. अ. ५६



“शोक क्रोध लंघनाऽऽयासः स्तन्यं नाशयहेतवः”

—अ. ह. उ. अ. १-१७

अवात्सल्याच्छोकारभयात्क्रोधादत्यपतर्पणात् ।
स्त्रीणां स्तन्यं भयेत्स्वल्पं, गर्भन्तरविधारणात् ॥

—भा. प्र. पूर्वखंड

इस प्रकार कामक्रीड़ा, क्रोध, शोक, लंघन, भय, स्तनपाक, संतान के प्रति स्नेहाभाव, आयास, कर्षण, अपतर्पण, पुनः गर्भधारण आदि दुग्धाल्पता के कारण हैं। अतः क्षीरनाशावस्था में चिकित्सा करने के पूर्व क्रोध शोक भय आयास आदि का परित्याग कर माता को शिशु कल्याणार्थ प्रसन्नमना रहना चाहिए। साथ ही उपरोक्त निर्देशानुसार संयम एवं आहार विहार विषयक नियमों का सम्यक् पालन करना चाहिए। आहार में कमल कंद, सिंघाड़ा, विदारीकंद, शतावरी, नाडीशाक, कद्दू, चौलाई, राम-तोरई, प्याज, यव गेहूँ शालि एवं षष्ठिक (सांठी) चावल, मांसयूष, मुद्गयूष, द्रव पदार्थ तथा मधुर एवं अम्ल रस प्रधान द्रव्यों का विशेष रूप से सेवन करना चाहिए। भूमिकुष्मांड पाक, सौभाग्य शुण्ठी पाक, शतावर्यादिपाक, अश्वगन्धापाक दुग्धवर्धनार्थ विशेष रूप से दिये जा सकते हैं। मात्रा आधे से १ तोला तक प्रातः सायं अवस्थानुसार देनी चाहिए। उशीरमूल, शालिमूल, दर्भमूल, कुशमूल, काशमूल, षष्ठिकमूल, इक्षुमूल, गुन्द्रा (जल कर्दम) मूल, शरमूल, एवं इक्षुवालिका (इक्षुभेद) मूल इन दश मूलों को समान भाग लेकर चतुर्गुण क्वाथ माता को दो बार पिलाने से प्रचुर दुग्ध वृद्धि होती है। बन लसुन के बीजों को पान में ७ से ११ की मात्रा में दिन में ३ बार देने पर दुग्ध वृद्धि हो जाती है। अब एक और उपाय वैद्य समाज के सन्मुख अनु-भूत रखता हूँ। वह यह कि जिस माता को दुग्धा-भाव हो उसी माता का जितना भी प्राप्त हो सके उतना ही दुग्ध निचोड़ कर टैस्ट ट्यूब में ले, स्पीट लैम्प पर उबाल कर फिल्टर पेपर से छाने ठंडा होने पर २ सी. सी. की मात्रा में नितम्ब की मांसपेशी में सूचीवेध प्रति चौथे दिन करें। साथ में उल्लेखित

पाक एवं क्वाथों में से १-२ प्रयोग अवस्थानुसार चालू करें। अवश्य प्रचुर मात्रा में दुग्ध वृद्धि होगी।

अब दूसरा पहलू स्तन्यदुष्टि है। दुष्ट दुग्ध परिचय के पूर्व यह आवश्यक है कि दूध शुद्ध कैसा होता है। उसका भी ज्ञान है। इसके लिये दुग्ध की परीक्षा जल पात्र में डालकर करनी चाहिए। शुद्ध दूध शीतल, पतला, निर्मल, शंख समान दीप्तिमान हो, जल में डालने पर जल में एकीभाव हो जावे। उसमें किसी प्रकार का फेन अथवा तन्तु इत्यादि दृष्टिगत न हो। तथा वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श में प्राकृतिक तो वही शुद्ध कहलाता है। तथा इसी प्रकार के शुद्ध दुग्ध में जीवनीय, वृंहणीय, सात्म्य, स्नेहिक, स्थैर्यकर, शीतल, चुक्षुष्य, बलवर्द्धक, लघु, दीपनीय, पथ्यकारी, पाचक एवं रुचिकारी ये त्रयो-दश गुण होते हैं जो शिशु के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के लिये आवश्यक होते हैं। किंतु धात्री अथवा माता के आहार विहार की दुष्टि अर्थात् अजीर्ण भोजन, असात्म्य भोजन, विषम, भोजन, विरुद्ध भोजन, व अतिभोजन, लवणाम्ल, कटुक्षारीय, बासे पदार्थ सेवन, अधिक मधुर अभि-ष्यन्दी, अति ग्राम्य एवं आनूप मांस तथा मद्य का सेवन, गुरु पदार्थ सेवन, शारीरिक उपाय, वेगा-वधारण, भोजन के बाद तत्काल शयन, मैथुन, क्रोध, शोक, चिंता, दुःस्वप्न, भय आदि मिथ्याहारों से दुग्ध में विवर्णता, कुष्ठगंध, विरसता, पिच्छिलता, फेनाधिक्य, रुक्षता, गुरुता, एवं अति स्निग्धता आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

त्रिदोष विज्ञानानुसार इन अष्ट प्रकार की दुग्ध दुष्टि के प्रमुख हेतु वात, पित्त कफ का दोषानुसार प्रधानता का विचार चिकित्सा सौकर्य की दृष्टि से करना चाहिए। यथा—

वात दूषित दुग्ध—

दुग्ध वर्ण श्यावारुण, कषाय अनुरस, विषदगुण प्रधान अपिच्छिल, गंधरहित, रुक्ष, द्रव, फेनयुक्त, लघु, अरुमिकर, विरस, एवं सेवन करने से कृशता



लाने वाला होता है ।

पित्त दूषित दुग्ध—

वर्ण कृष्ण, नील, पीत अथवा ताम्र आभावत् होता है । कटु या तिक्ताम्ल अनुरस, कुणप (शव) अथवा रुधिर के समान गंध वाला, उष्ण एवं अनेक पैत्तिक विकारों को उत्पन्न करने वाला होता है ।

कफ दूषित दुग्ध—

अत्यधिक श्वेत वर्ण, अधिक मधुर, लवण अनुरस, घृत तैल वसा वा मज्जा के समान गंध वाला, पिच्छिल तन्तुयुक्त एवं जल में डालने पर नीचे बैठने वाला होता है ।

इसी प्रकार द्वन्द्वज (दो दोषों से युक्त) एवं त्रिदोषज (तीनों दोषों से युक्त) दोषों की कल्पना वैद्य को लक्षणानुसार कर लेनी चाहिए ।

चिकित्सा—

सर्व प्रथम दुग्ध धात्री अथवा माता का दुग्ध शिशु के लिये एक दम घातक समझ कर शुद्ध होने तक बंद कर देना चाहिए । तदुपरांत दूषित दुग्ध को रत्रि में सोते समय शुद्ध एरण्ड तैल (*Caster oil*) ३ से १ औंस तक उष्ण गो दुग्ध में मिलाकर पिलाना चाहिए । प्रातः ८.०० बजे पेया मिलाकर मदनादि वमन चूर्ण ६ माशा से १ तोला अथवा नमक १॥ माशे, फिटकरी ६ रत्ती, नीम पत्र ६ माशे को ४ तोला उष्ण जल में पीस छान कर पिला दें । आधा घंटे पश्चात् गले तक उंगलियां चलाकर वमन करा दें । वमन में संपूर्ण पेया निकल जाना चाहिए । इसके पश्चात् सुखोष्ण गो दुग्ध १ पाव में १ तोला गोघृत, ५ काली मिर्च, शहद ६ माशा मिलाकर पिला देना चाहिए । इसके पश्चात् मूल शोधक चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए । आचार्य भावमिश्र ने भावप्रकाश ग्रंथ में ३ प्रकार के स्तन्यशोधक क्वाथों का वर्णन किया है । मैंने इन तीनों क्वाथों को प्रयोग कर अनुभूत पाया है—

(१) भारङ्गी, देवदारु, बच, और अतीस प्रत्येक

३ माशे जल १६ तोले में क्वाथ औटाकर ४ तोले शेष रहने पर छान कर ठंडा होने पर पिलावें । प्रातः सायं तत्काल निर्माण कर पिलाना अधिक लाभप्रद है ।

(२) पाठा, मूर्वा, नागरमोथा, देवदारु, चिरायता, सौंठ, इन्द्रायण, सारिवा, तथा कुटकी प्रत्येक १॥-१॥ माशे जल १६ तोले औटाकर अवशेष क्वाथ ४ तोला प्रातः सायं दें ।

(३) परवल, नीमपत्र, पीतशाल, देवदारु, पाठा, मूर्वा, गिलोय, कुटकी, सौंठ, प्रत्येक १॥-१॥ माशे जल १६ तोले अवशेष क्वाथ ४ तोले, प्रातः सायं दें ।

आहार में मुद्ग यूस, शालि या साठी चावल, दूध, मांसयूस, कुलथी, अंडे, चौलाई, उदम्बर, परवल, लहसुन, प्याज, पपीता, कद्दू, मसूर, गेहूँ, जव, सिंघाड़ा आदि पौष्टिक सुपाच्य आहार हैं ।

भोजन के पश्चात् जीरकाद्यरिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, द्राक्षादि तीनों का समान भाग मिश्रण २ तोले की मात्रा में भोजन के पश्चात् दें । आचार्य काश्यप ने कुछ स्तन्यशोधक क्वाथ और भी बताए हैं जो सुलभ एवं उपादेय हैं । यथा—

(१) अमृता और सप्तपर्ण (सतवन) की छाल का क्वाथ ।

(२) अमृता सप्तपर्ण और मुस्ता क्वाथ ।

(३) चिरायता, त्रिफला, बच, दशमूल, मुलहठी, अमृता और द्राक्षा क्वाथ ।

स्तन्य शोधक और भी बहुत से द्रव्य एवं औषधियां यथा देश काल विचार से प्रयोग में लाई जाती हैं तथा ग्रन्थों में वर्णित भी हैं । उन सबका उल्लेख कर लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं है । अतः शोधन के पश्चात् वृंहण चिकित्सा करनी चाहिए जिससे यदि माता में रक्ताभाव हो तो उसकी पूर्ति हो जावे । उसके लिये मैंने स्तन्यवर्धक उपायों में वर्णन कर दिया है । उन्हीं औष-

शिशुरोगाङ्कः

धियों को इन्हीं शोधक चिकित्सा द्रव्यों के साथ अथवा पश्चात् जैसी अवस्था हो देना चाहिए तथा आहार विहार में संयम रखना चाहिए। इससे दुग्ध शुद्धि तथा दुग्ध वृद्धि होकर शिशु को शुद्ध सात्विक दुग्ध प्राप्त होकर उसका सर्वांगीण विकास होगा।

किसी कारणवश मातृ किंवा धात्री दुग्ध अप्राप्य होने पर शिशु के लिए अनुकूल दुग्ध की आवश्यकता पड़ती है। मातृ दुग्ध के पश्चात् इस दुग्ध की अधिकतम समानता में अजा तथा गोदुग्ध की गणना की जाती है जो सौम्य, सात्विक, शीतल, कोमल, रक्तपित्त, वायु तथा पित्तजन्य विकारनाशक होता है। इसमें भी प्राथम्य अजा दुग्ध को ही देना शिशु के पोषण हितार्थ उत्तम है। कारण बकरी लघुकाय अनेक प्रकार के कटु तिक्त

कषाय रस युक्त, लघु, रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, श्वास, कास, ज्वर शोषनाशक तथा ग्राही एवं दीपक विशेष गुण युक्त होता है। बकरी दुग्ध गोदुग्ध से अधिक वीर्यवान तथा क्षतक्षीणों के लिये अमृतोपम

कटोरी में दूध भर कर रुई की बत्ती से बालक को चुसाना

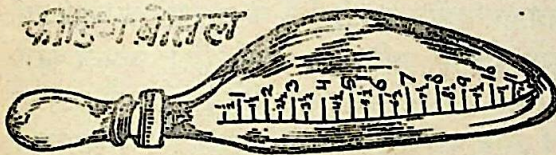


चित्र नं० २७

है। इसके अभाव में गोदुग्ध लेना चाहिए। क्योंकि गो दुग्ध मृदु, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, मंद, प्रसन्न, जीवनीय, रसायन, अल्पाभिष्यन्दि, पथ्यकारी, रुचिकारी, कांतिदाता, प्रज्ञाप्रद, मेध्य, पुष्टिकारी, वीर्यवर्धक, स्तन्यकृत्, दोषघातु मल क्लेदक और जरानाशक होता है। इनमें बाखरी गौ का दुग्ध विशेष अनुभूत है। इस प्रकार दुग्ध में समान भाग जल मिलाकर उसमें शुंठी, पापडी, तुलसीपत्र एवं ८-१० द्राक्षा (मुनक्का) डालकर खूब औंटा लेना चाहिए। पानी जल जाने पर छान कर ठंडा होने पर कूपिका द्वारा या रुई के फोहे द्वारा बालक को पिलाना चाहिए।

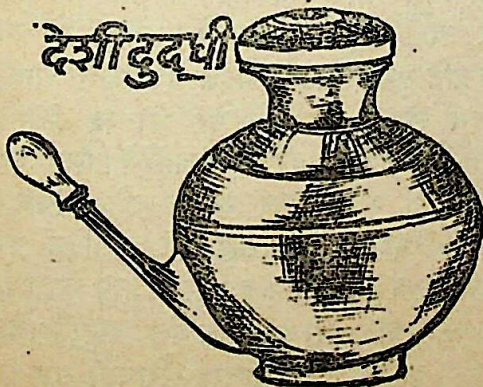
द्राक्षा के स्थान पर छानकर ठंडा करने पर या पिलाते समय १-२ चम्मच गुलूकोस भी मिला सकते हैं। कुछ लोग महिषी दुग्ध का भी बालकों को पिलाने में प्रयोग करते हैं। किंतु महिषी दुग्ध अधिक स्नेहांशयुक्त, गरिष्ठ, दुष्पाच्य, असात्म्य, निद्राकारी, अग्निनाशी, अभिष्यन्दि होने के कारण शिशु के लिये हितकारी नहीं है। निम्न तालिका द्वारा दुग्ध संघटन ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

निम्न तालिका से दुग्ध उपयोगिता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।



चित्र नं. २५

शाक पातों का सेवन करने वाली, अत्यल्प जल पीने वाली, दिनभर व्यायाम करने वाली इन चार सद्गुण युक्त होने से उसके दुग्ध में सर्व व्याधिविनाशकता आजाती है। अजा दुग्ध शीतवीर्य, मधुर



चित्र नं० २६



क्रम	नाम दुग्ध	घन भाग	प्रोभूजिन	शर्करा	स्नेह	क्षार	गुरुता
१	स्त्री दुग्ध	११.५-१३.५	१.०-१.६५	५.८-६.५	२.०-३.६५	०.१५-०.२५	१०३०-१३४०
२	गो दुग्ध	१२.६-१४.५	३.४-४.०	४.५-५.२	३.०-३.८५	०.४५-०.६५	१०२६-१०३५
३	अजा दुग्ध	१५.५-१६.५	५.८-७.५	४.५-५.०	५.२-८.६	०.६-१.३	१०३५-१०४२
४	महिषीदुग्ध	१८.०-२२.५	५.०-६.१५	५.०-५.४	६.५-८.७५	०.७-०.९५	१०३८-१०४२

इसके अतिरिक्त आजकल बाजार में परिशुष्क दुग्ध, सघनीकृत दुग्ध एवं पौष्टिक आहारयुक्त दुग्ध विक्रयार्थ प्रस्तुत आधुनिक विज्ञान की देन हैं। मातृ या धात्री दुग्ध भी अप्राप्त हो तथा निरोगी गौ या अजा दुग्ध भी प्राप्त न हो सके। अथवा प्रवास में गौ या अजा को पूर्णतया शुद्ध एवं विसंक्रमित न रखा जा सके। जहां तत्काल किसी भी दुग्ध की प्राप्ति संभव न हो अथवा जहां उपसर्ग पीड़ित दुग्ध की संभावना हो वहां इन दुग्धों से लाभ उठाया जा सकता है। परिशुष्क दुग्ध में दोष इतना है कि उसमें जीवनीय द्रव्य और वह भी विशेष कर जीव तिक्रि "स" (Vitamin C) नष्ट हो जाता है। अतः अलग से संतरा नारंगी नींबू, टमाटर का रस बालक को देना चाहिए। सघनीकृत दुग्ध बाजार में शर्करायुक्त, एवं शर्करा विरहित दोनों प्रकार का मिलता है। शर्करायुक्त दुग्ध में एक भाग दुग्ध में ८ भाग जल मिलाने से प्रांगोदीय दृष्ट्या यह मातृ दुग्धवत् हो जाता है। किन्तु प्रोभूजिन एवं स्नेहांश कम हो जाता है। यह दूध शीघ्र पाचित हो जाता है। अर्ध प्रगल्भ शिशु पोषणार्थ लाभप्रद माना जा सकता है। किन्तु अधिक दिन देते रहने पर बच्चों को सूखा रोग होने का भय भी रहता है। दूसरे उसे उपसर्ग से बचाना भी अनिवार्य है। अन्यथा खराब होने का भी भय रहता है। इस दुग्ध को देते रहने पर जीवनीय "स" (Vitamin C) देते रहना आवश्यक है। शर्करा विरहित दुग्ध एक विशेष स्थान रखता है। तथा इसे सफलतापूर्वक शिशुपोषणार्थ व्यवहार कर सकते हैं। आवश्यकता पर अलग से द्राक्षा शर्करा (Glucose) इसमें मिश्रण कर सकते हैं। तीसरे

अतिरिक्त आहारयुक्त दुग्ध में स्टार्च अधिक होता है अतः ६ माह से नीचे के बालकों को इसे नहीं देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त यदि शिशु को प्राकृत दुग्ध सुलभ हो तथा उसका स्वास्थ्य उत्तम प्रगतिशील हो तो इन्हें देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

—वैद्यराज श्री शेषराव जैन आयुर्वेदरत्न,
जनपद आयुर्वेदिक औषधालय, अर्जुनी
वाया-तिरोड़ा जिला भण्डारा (महाराष्ट्र)

:: पृष्ठ ५६ का शेषांश ::

मिले-हुए और वासी होने के कारण अजीर्ण एवं जुन्नाश और अग्निमांद्य आदि को उत्पन्न करते हैं। एक रुपये के मूल्य वाले मैलेन्सफूड की अपेक्षा एक आने का अरारोट कहीं अच्छा है। मैलेन्सफूड से सिवाय कै दस्त के किसी और की आशा नहीं करनी चाहिये।

कृत्रिम दुग्धपान -

साम्प्रतिक दुग्धपान की विधियों से शिशुओं को दुग्धपान करने में पर्याप्त-सहायता उपलब्ध है। परन्तु बोतल और निपिल्स को प्रतिदिन भली प्रकार स्वच्छ कर लेना चाहिये। उत्तम तो यही है कि प्रति सप्ताह निपलें बदल दी जाएं अन्यथा प्रतिदिन स्वच्छ कर लेने पर भी १५ दिन के पश्चात् निपलें बदल दी जानी चाहिये। ऐसा करने से निपलों के भीतर मल अथवा कृमि संचय का भय नहीं रहता और शिशु भी प्रतिदिन उत्तरोत्तर स्वास्थ्य लाभ करके दृष्ट-पुष्टता प्राप्त करता है।

—आचार्य श्री हरदयाल वैद्य आयुर्वेदाचार्य
अध्यक्ष श्री मूलचन्द खौरायती राम ट्रस्ट
आयुर्वेदिक चिकित्सालय, लाजपत नगर, नई दिल्ली

स्तन्यजनन-नाशन एवं शोधन

श्री विश्वनाथ द्विवेदी B. A. शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ।

स्तन्यजननम्

(Lactogogue-Galactogogue)

पर्याय—

स्तन्यजननम्, स्तन्यवृद्धिकरम्, स्तन्यवर्धनम् ।

परिभाषा—

जो द्रव्य धात्री या माता के दुग्ध को बढ़ा देते हैं, उन्हें 'स्तन्यजनन' कहते हैं ।

धात्रीणामथवामातुः स्तन्यं संवर्धयन्ति ये ।

ते स्तन्य जननाति स्युः यथा प्रोक्ता शतावरी ॥ स्व.

स्तन्यं जनयतीति स्तन्यजननम् (यो०)

द्रव्य—

“वीरण, शालि, षष्ठिक, इज्जुवालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्र, इत्कट, वृणमूलानि इति दशेमानि स्तन्य जननानि । चरक (सू० अ० ४)

मुश्रुत—(१) काकोल्यादि गण (सू० सू० ३८)

(२) विदारिगंधादि गण („ „ „)

काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महा-मेदा, गुडूची, कर्कटशृङ्गी, वंशलोचन, पद्मक, प्रपौ-ण्डरीक, ऋद्धि, वृद्धि, मृद्धीका, जीवन्ती, मधुयष्टि ।

विदारिगंधादि—शालपर्णी, गोक्षुर, कृष्णसारिवा, मुद्गपर्णी, हंसपदी, विदारी, पृश्निपर्णी, जीवक, वृहतीद्वय, वृश्चिकाली, महाबला, शतावरी, ऋषभक, पुनर्नवा, कपिकच्छू, नागबला, सारिवा, माषपर्णी, परण्ड ।

इनके अतिरिक्त अन्य द्रव्य—दुग्ध, मधुर रस वाले द्रव्य, रसालमधुरफल. मधुररस, क्षीर के बने आहार द्रव्य, माष, गोधूम, अश्वगंध, कार्पासी बीज, वाताद, नारियल, अखरोट, काजू, क्षीरिणी, क्षीरीवृक्ष कषाय व क्षीर, आदि ।

आवश्यकता—

जब माता के दुग्ध की कमी हो जाती है तो स्तन्यजनन पदार्थों का सेवन उपयोगी होता है । स्तन्यहासकर कई हेतु हैं जिनमें प्रधान निम्न हैं—

१-दुग्धग्रन्थियों का असम्यक् विकास ।

२-गर्भावस्था की निर्बलता, ज्वरादि का होना, रक्त की कमी ।

३-अल्पकाल में ही प्रसव हो जाना ।

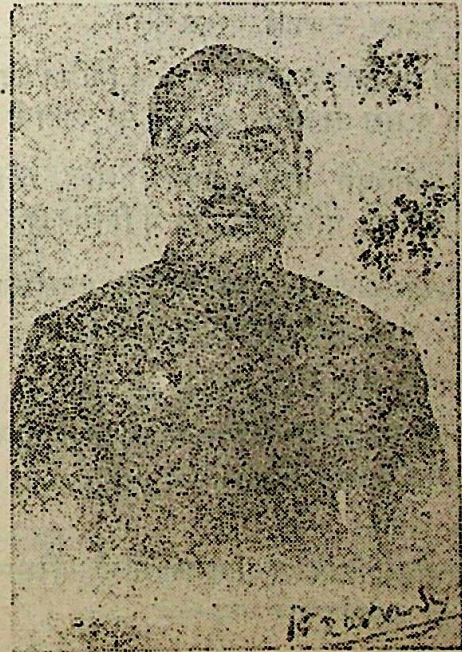
४-माता का रोगी होना ।

५-दुग्धग्रन्थियों के रोग-विद्रधि शोथ आदि ।

६-मानसिक रोग-चिन्ता, शोक, उन्माद, अप-स्मारादि ।

औषधियों की क्रिया—

उपर्युक्त औषधियां सेवन करने के पश्चात् स्तन्य निर्माणक दुग्धग्रन्थियों व दुग्धस्रोतसों की सम्यक्





स्थिति लाकर उन्हें बढ़ा देती हैं। अकाल प्रसवादि में दुग्धग्रन्थियों को अपनी स्थिति में आने में समय लगता है। वह ग्रन्थियों की स्थिति को सुधार कर दुग्धवर्धक होती हैं।

कुछ औषधियां माता की दुर्बलता दूर करके दुग्धवर्धक होती हैं। मानसिक रोगों की निवृत्ति होने पर दुग्ध स्वतः आने लगता है। रोगों के हेतुओं के दूर होने पर स्वस्थावस्था आकर दुग्ध बनने लगता है।

कई प्रकार के द्रव्य दुग्ध में शीघ्र मिश्रित होकर निकलते हैं। यथा—

शीतलचीनी (*Rhabarb*), सनाय, जैलप, एरण्ड, तैल, पारद के लवण, संखिया तथा आयो-डायड व ब्रोमाइड मिश्रित रासायनिक लवण, दुग्ध से मिलकर निकलते हैं।

हींग, तारपीन का तैल, मूली, प्याज यह दूध के गंध स्वाद पर असर डालते हैं। अहिफेन दूध में जाकर बच्चे पर प्रभाव डालता है। विरेचक औषधियों के माता द्वारा सेवन करने पर दुग्धपायी बच्चों पर भी रेचक प्रभाव पड़ता है। यथा—रेवन्दचीनी, जैलप, सनाय, जयपाल, एरण्ड तैल।

कई सुगंधित द्रव्य चार व धातु मिश्रित पदार्थ आसव व सुरा का प्रभाव भी दुग्ध पर पड़ता है।

१-सुगन्धित द्रव्य—इलायची, सौंफ, रसोल, जीरक, मेथिका, धनियां यह दुग्ध में मिश्रित होते हैं।

२-क्षार-यवक्षार, स्वर्जिकक्षार कदलीक्षार, नरसार, शंख, शुक्ति, प्रवाल, मौक्तिक।

३-धातु-लोह, यशद, मल्ल।

४-आसवसुरा-अरिष्टादि का सेवन भी दुग्धजनक होता है।

आधुनिक विचार—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी परिभाषा वही है जो आयुर्वेद में है यथा—

Galatogogues¹ —Are drugs which increase the secretion of Milk. (Ghosh)

आधुनिक दुग्धवर्धक द्रव्यों में—

(१) प्लेसेंटल एक्सट्रेक्ट—का इन्जेक्शन दुग्धवर्धक है।

(२) पिट्यूटरीन एक्सट्रेक्ट (पीयूष ग्रन्थि का एक तत्व) का इन्जेक्शन दुग्धवर्धक है।

(३) यूरिया दुग्धवर्धक समझा जाता है।

(४) प्रोलेक्टिन के अन्य योग दुग्धवर्धक माने जाते हैं। यह विचार घोष ने अपनी मैटेरिया मेडिका में लिखा है।

अतिदुग्धक्षरण (Galactorrhoea)

कभी कभी किसी स्त्री को स्वतः ही दुग्ध अधिक बनता है और अपने आप निकलने लगता है। इसे अति दुग्धक्षरण कहते हैं।

अन्य दुग्धवर्धक हेतु—

मां के स्तन का पुत्र द्वारा चूषण, प्रेम, स्मरण, आह्लाद आदि।

दुग्ध के काल—

(१) मां के स्तन से दुग्ध निकलने का काल १-२ वर्ष तक एवं अधिक से अधिक ५ से ७ वर्ष तक का है। इस अवधि में दुग्ध बराबर निकलता रहता है।

(२) सगर्भावस्था में यह बन्द हो जाता है।

¹ Galactogogues—are drugs. which increase the secretion of milk.

(1) Injection of placental Extract.

(2) , Pituitary Extract (Prolactine)

(3) Urea supposed to be a true galactogogue.

() Other preparations of prolactine are used to increase the secretion of the Milk.

—M. M. by Ghosh



शिशु रोगाङ्कः

(३) दुग्धज्वर-प्रसव के २-३ दिवस बाद दुग्ध निकलता है और धीरे धीरे बढ़ता है। कभी कभी किसी किसी में यह दुग्ध उतरने के समय ज्वर व अन्य लक्षणों को उत्पन्न करता है। यथा-शीत, रोमहर्ष, मुख का वर्ण रक्त, शिरःशूल, जुधामान्द्यता, जिह्वा पर श्वेत प्रलेप, सामान्य ज्वर, नाड़ी तीव्र होकर ज्वर आता है। इसके बाद मृदु प्रकृति वाली स्त्रियों में ज्वर होकर उतर जाता है और तब दुग्ध उतरता है।

दुग्ध-जीवनं वृहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।

नावनं रक्तपित्तं च तर्पणं चाहि शूलनुत ॥

—चरक

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम्।

नस्याश्च्योतनयो पथ्यं, जीवनं लघु दीपनम् ॥

—सुश्रुत

दुग्ध के घटक-

शर्करा जातीय ५.६%, वसा २.८, प्रोटीन १.२, लवण ०.२४, जल ८६.००। आपेक्षिक घनत्व १०२६ से १०३५।

१-प्रसव के पश्चात् द्वितीय मास तक उसमें शर्करा कम, दुग्ध सत्व-श्वेतसार अधिक।

२-पांचवे मास तक-लवणांश की वृद्धि होती है।

३-आठ से दशम-मधुरांश वृद्धि।

४-१० से २४ मास तक-दुग्ध सत्व का अंश अधिक होता है।

दुग्ध की मात्रा व संघटक द्रव्य की वृद्धि—

प्राचीनकाल के चिकित्सक दुग्ध के गुणवर्धनाथं भिन्न भिन्न प्रकार के उपायों का प्रयोग करते थे।

माषपर्ण श्रुतीय-रसायन पाद में गौ व महिष को हरित माषपर्ण खिलाकर परिपुष्ट दुग्ध उत्पादन की विधि दी है। इस विधि से दुग्ध गाढ़ा, मीठा और जरा व दुर्बलता दूर करने में सहायक होता है। इसी प्रकार दीर्घायुष परिपुष्ट बच्चों को बनाने के लिये पूर्वाक्त औषधियों का सेवन कराया जाता

है। इनसे दुग्ध तो बढ़ता ही है, वह अधिक गुण-प्रद, बल्य व पुष्टिकर होता है।

प्रभाव—

दुग्धवर्धक औषधियां व आहार दो प्रकार से अपना प्रभाव करती हैं।

(१) आशुवर्धक-जो द्रव्य शीघ्र ही दुग्ध की मात्रा स्वस्थ माता के स्तन में बढ़ाते हैं। यथा-दुग्ध, मण्ड, षष्टिक व मधुर रस का सेवन। यह खाने के २-३ घण्टे के बाद पाचन क्रिया से रस बनकर शोषित होकर स्तन्य बढ़ाती है। रस धातु का उपधातु स्तन्य है। अतः इसकी वृद्धि होते ही दुग्ध स्त्रियों में या पशुओं में बनने लगता है। मात्रा अधिक होती है।

(२) चिरकालीन-जो द्रव्य सेवन करने के बाद स्तन की दुग्ध ग्रन्थियां और स्रोतसों की स्थिति ठीक करके अथवा शरीर पुष्ट करके अङ्ग पुष्ट कर स्तन्यवर्धक होते हैं।

यथा-(१) शतावरी चूर्ण-क्षीर के साथ सेवन

(२) अश्वगन्धाचूर्ण " "

(३) क्षीर विदारी " "

(४) क्षीर व फाणित का सेवन

(५) वृण जातीय द्रव्य-वीरण, शालि, इन्डुवालिका, दर्भ, कुश, काश, गुन्द्र, उत्कट। यह तथा पर्णीचतुष्टय के पत्र पशुओं का दुग्धवर्धक होता है।

(६) स्त्रियों में गोधूम, शालि, माष, मुद्ग या अन्य द्विदल दुग्धवर्धक होते हैं।

इस मधुर रस वाली औषधियों का सेवन-अखरोट, बादाम, किशमिश, काजू का सेवन दुग्ध को गाढ़ा करता व निग्धतावर्धक होता है।

अन्य योग—

(१) क्षीरी वृक्ष कषाय सेवन दुग्धवर्धक होते हैं। यह शुष्क स्तनों को पारपुष्ट कर दुग्धवर्धक होते हैं।



धन्यवन्तारि.

(२) स्वभाव नष्ट-शुष्क व दुष्ट दुग्ध में—

शालिषष्ठिक दर्भाणां कुश गुन्द्रेकटस्य च।

सारिवो वीरणेक्षणां, मूलांनां कुशकासयोः।

पेयानि पूर्वं कल्पेन श्रेष्ठं क्षीरविवर्धनम्॥

(३) इसी प्रकार पूर्वोक्त गणों के द्रव्य क्षीर के साथ या क्षीर सिद्ध करके प्रयोग करने पर स्तन्य-वर्धन होते हैं।

स्तन्यनाशन [Lectifuse]

पर्याय—

स्तन्यनाशन, स्तन्यहासकर, स्तन्यावसादक

परिभाषा—

धात्रीणामथवामातुः स्तन्यं हासकराणि ये।

नाशने कृतकर्मा वा स्तन्यनाशनमूच्यते॥

(स्व रचित)

अर्थात्—जो द्रव्य मां के दुग्ध या धातु के दुग्ध को कम कर देते हैं या नाश कर देते हैं, सुखा देते हैं, उन्हें स्तन्यनाशन कहते हैं।

द्रव्य—

कपूर, धुस्तूर, बैलाडोना, नागबल्ली, हरताल, कुपीलु, अहिफेन आदि।

आवश्यकता—

माता के दुग्ध के हानिकर होने पर अथवा बच्चों की मृत्यु होने पर या मां के दुर्बल होने पर दुग्ध पिलाने से अधिक क्षीण होने की दशा में जब दुग्ध का उपयोग नहीं होता तो दुग्ध कम करने के लिए इन औषधियों का प्रयोग होता है। माता के उन्माद-अपस्मार आदि रोगों की दशा में भी दुग्ध-पान कराना उत्तम नहीं होता।

निम्न हेतुओं में दुग्ध हानिकर होता है—

विरुद्धाहार मुक्तायाः क्षुधिताया विचेतसः।

प्रदुष्टधातोः गर्भिण्याः स्तन्यरोगकरं शिशोः॥

—अ. ह. उ. १

अर्थात्—विरुद्धाहार मुक्ता मां या क्षुधित या बेहोश मां के या प्रदुष्ट रक्तादि धातुवाली या गर्भिणी स्त्री का दुग्ध बच्चे को हानिकर होता है।

प्रयोग विधि—१-कपूर ५ रत्ती की मात्रा में ६-७ बार पिलाने पर दुग्ध कम हो जाता है।

२-हरताल या इसके बने योग १-२ रत्ती की मात्रा में ३-४ बार प्रतिदिन देने से स्तन्य सुखा देते हैं।

३-स्तन पर धत्तूर-बैलाडोना, नागबल्ली के पत्रों को स्तन पर बांधने या लेप करने से दुग्ध बनना कम हो जाता है।

४-मल्लिका पुष्प-पान व कपूर के पत्ते का लेप स्तन्यावसादक होता है।

स्तन्यनाशन हेतवः—

शुक्क्रोधलंघनायासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः।

अम्लासकदुक्काराः आरनालससीधुकाः॥

—अ. ह. उ. १—१७

इस प्रकार स्तन्य की कमी या नाश संभव है।

स्तन्यशोधन

पर्याय—स्तन्यशोधनः

परिभाषा—

जो द्रव्य दुष्ट व विकृत स्तन्य को शुद्ध करते हैं, उन्हें स्तन्यशोधन कहते हैं।

द्रव्य—

चरक में—पाठा, शुंठी, देवदारु, नागर-मुस्तक, मूर्वा, अमृता, इन्द्रियव, चिरायता, कटुकी, अनन्तमूल—यह दश स्तन्यशोधन हैं।—च. सू. अ. ४

सुश्रुत—१-वचादिगण-वचा, अतीस, हरीतकी, देवदारु, नागकेशर।

२-हरिद्रादिगण—हरिद्रा, दार्वी, पृश्निपर्णी, इन्द्रियव, मधुयष्टि।

३-मुस्तादिगण-मुस्ता, हरिद्राद्वय, त्रिफला, कुष्ठ वचा, पाठा, कुटकी, काकाजंघा, अतिविषा, एला, भल्लातक, चित्रकमूल ये १६ द्रव्य हैं।

उपयोग—

स्तन्य शोधन की आवश्यकता तब पड़ती है जब कि मां या धात्री का दुग्ध नष्ट हो जाता है।



शिशुरोगाङ्कः

६६

क्षीर दुष्टि—^१

आठ प्रकार के क्षीर दोष होते हैं जोकि दोषों के स्तन में पहुंचने और क्षीरवहा शिराओं की ग्रंथियों को दूषित कर देते हैं।

^१-दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य शिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।

कुर्युरष्टविधं भूयो, दोषांस्तान् मे निबोधत ॥

—च. चि. ३०

वैरस्यं फेनसंघातं रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।

पित्ताद्वैरस्यं दौर्गन्धे, स्नेह पैच्छिल्य गौरवम् ।

कफाद्भवन्ति रुक्षाद्यैः अनिलः स्व प्रकोपयैः ।

क्रुद्धाः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥

—च. चि. ३०

वातज—विरसता, फेनसंघातवत्तता, रुक्षता (स्नेहाभाव) ।

पित्तज—वैरस्यं, दुर्गन्धि यह पित्त दोष से आता है ।

श्लेष्मज—स्नेह, गौरव, पैच्छिल्य यह श्लेष्म दोष से आते हैं ।

यह दोषों के प्रकोपक हेतुओं के सेवन करने से क्षीराशय में प्राप्त होकर क्षीर को दूषित करते हैं । तो ऊपर के लक्षण आजाते हैं । इनके सेवन से बालक को विविध (विभिन्न) व्याधियां हो जाती हैं । यथा—विरस-दुग्ध दूषित होकर स्वादरहित मधुरां-शाल्प हो जाता है । इसके पीने से बालक में निम्न रोग होते हैं—

दोष	विकृति	सेवन से रोग
वातज	वात १-वैरस्य (मधुराल्पता)	कृशता, वर्धन में कमी, क्षामस्वर
	स्नेहाल्पता { २-फेनसंघात ३-रुक्षता	{ बद्ध-विण्मूत्र-शकृत-शीर्ष- रोग, बलहानि, पीनस—
पित्तज	४-विवर्णक्षीर-नील-पीत- सित-असित(रंजकतत्ववृद्धि)	स्विन्नः, तृष्णालुः, भिन्नविट्कः, उष्णगात्रः, दुग्ध न पीना, पाण्डु- कामला
	५-दौर्गन्ध्य	छर्दनः, कुथनः, स्तंभः-लालालुः, निद्रा, क्लमः, श्रमान्वितः, कास श्वास, प्रसेक-तमकश्वास
श्लेष्मज	६-अतिस्निग्ध (स्नेहाधिक्य)	शून वक्र-अक्षिजाड्य
	७-पिच्छिल (माधुर्याधिक्य)	हृद्रोग-लालालुः
	८-गौरव (गाढापन)	

विकृत दुग्ध पहिचान

१-वात दुष्टे

- (१) अम्भसि प्लवते
- (२) कषाय रस
- (३) फेनिलम्-
- (४) रुक्षम-
- (५) वर्चोमूत्र विबंधकृत

२-पित्त दुष्टे

- (१) उष्णम्
- (२) अम्लम्
- (३) कटुकम्
- (४) अप्सुपीतराजि
- (५) दाहकृत

३-श्लेष्मदुष्टे

- (१) सलवणम्
- (२) सान्द्रम्
- (३) जलेमञ्जति (शुरु)
- (४) पिच्छिलम्



संस्पृष्टलिंगं संसगति त्रिलिंगं साक्षिपातिकम् ।
त्रिदोष-स्तन्यमलिन, दुर्गन्ध, श्याम, जलोपमम् ।
विबद्धम्, उच्छ्रम्, विच्छिन्नं केनिलम् ॥

इन दोषों से युक्त दुग्ध पीने से बालक रोगी हो जाता है । अतः प्रतिदोषात्मक लक्षण में भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधियों का विधान है । यथा—
बातात्मके दोषे—

(१) दशमूलीघृत ३ दिन पीवे ।

(२) अग्नि, बचा, पाठा, कटुका, कुष्ठ, दीप्यक, भारंगी, देवदारु, सरल, वृश्चिकाली, कणा, मरिच से सिद्ध घृत पीवे ।

बाल रास्नादि घृत—

रास्ना, अजमोद, सरल, देवदारु पक्कघृत में इसका चूर्ण डाल कर पिलावे ।

पित्तात्मज में—

(१) अमृता, शतावरी, पटोल, निम्ब, चन्दन, सारिवा का क्वाथ धात्री व कुमारदोनों पीवे ।

(२) त्रिफला, भूनिम्ब, कटुकी साधित पान दोनों करें ।

(३) सारिवादिगण, पटोलादिगण, पद्मकादिगण सिद्ध घृत का पान करें ।

श्लेष्मज—

(१) मधुयष्टि-सैधवयुक्त घृतम् ।

(२) मदन पुष्प मधु मिश्रित लेप स्तन पर ।

त्रिदोषजे—

(१) बचादिगण-हरिद्रादिगण, मुस्तादिगण सिद्ध घृत या इनका क्वाथ लाभप्रद होता है । (सुश्रुत)

(२) कटुरोहिणी शृतघृतम्

(३) अमृता सप्तपर्णत्वक् क्वाथ नागर चूर्ण युक्त

(४) किराततिक्त क्वाथ

(१) विरसक्षीर-शोधन—

(१) द्राक्षा, मधुक, सारिवा, विदारी कल्क क्षीर सहित पिष्ट का स्तन लेप ।

(२) पंचकोल, कुलत्थ का लेप ।

(२) केनसंघात—

(१) पान-पाठा, नागर, शाङ्गेष्ठा, मूर्वा, सुखा-

म्बुना धात्री सेवन करे ।

(२) लेपन-अंजन, नागर, दाल, बिल्वमूल प्रियंगु-लेप ।

(३) रुचक्षीरा—

पान—(१) जीवनीय सिद्ध क्षीर सेवन ।

(२) स्तन्यशोधन गणसाधित क्षीर सेवन
लेपः—पंचमूल का लेप स्तन पर ।

(४) वैवर्ण्यनाशन—

पान—कर्कटशृंगी, मेघशृंगी, त्रिफला, रजनी, बचा, शीतानम्बुनापिष्ट्वा पिबेत् ।

(२) अभयाचूर्ण, सव्योष समाक्षिप्त

लेप—(१) सारिवा, उशीर, मंजिष्ठा, श्लेष्मा-
न्तक, रक्तचन्दन का लेप

(२) तेजपात, मुस्त, चन्दन, उशीर लेप

(५) स्निग्ध क्षीरा—

पान—दारु, मुस्त, पाठा, सुखाम्बुना-ससैधव

(६) पिच्छिल क्षीरा—

पान—(१) शाङ्गेष्ठा-अभया, बचा चूर्ण
सुखाम्बुना

(२) मुस्त-नागर-पाठा- चूर्ण सुखाम्बुना

लेप—विदारी, मधुक, बिल्व-सुखाम्बुना

(७) गुरुक्षीरा—

पान—(१) त्रायमाणा, अमृता, निम्ब, पटोल, त्रिफला क्वाथ ।

(२) पंचकोल चूर्ण—मधुना

लेप (१) बला, नागर, शाङ्गेष्ठ, मूर्वा

(२) पृश्निपर्णी-पयस्या-कल्क

इस प्रकार के लेप व पान के भिन्न-भिन्न योग शास्त्र में मिलते हैं । इनका उपयोग करें और युक्ति पूर्वक पूर्वोक्त औषधियों में से यथा दोषानुसृत चयन कर प्रयोग करने से लाभ होता है ।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी. शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, B. A.
जामनगर ।

बालकों में रोग परीक्षा विधि

श्री वेदमित्र आर्य आयुर्वेद भास्कर ए०, एम० बी० एस०

बालकों के रोग निदान में सफलता प्राप्त करने के हेतु आवश्यक है कि प्रत्येक चिकित्सक निपुण हो क्योंकि युवक तो अपनी वेदना का वर्णन वाणी से कर सकते हैं किन्तु बालक केवल रोकर ही अपने भाव व्यक्त करता है। परीक्षा करते समय चिकित्सक को अत्यन्त धैर्य रखना चाहिये। धैर्य न रखने पर किसी निश्चित तथ्य पर पहुंचना कठिन होता है। दूसरे यदि चिकित्सक रोगी बालक की परीक्षा करने का यत्न करता है तो बालक को बहुत विचित्र सा प्रतीत होता है और वह कुछ भी नहीं करने देता। इस विवाद में वह कई आवश्यक परीक्षाओं को भूल जाता है जिनको भूलना योग्यता नहीं। संसार में ख्याति प्राप्त करने के लिये बाल चिकित्सक को चाहिये कि निदान करते समय निपुणता और धैर्य पर विश्वास रखें और व्यवहारिक बातों की ओर भी ध्यान रखें। अनेकों सफल बाल चिकित्सक बालकों के स्वर (Tune) में बोलकर बहलाते हैं और उनको अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। कई चिकित्सक तो बालक को प्रसन्न करने के लिये अपने पास लेमनचूस की गोलियां एवं खिलौने भी अपने पास रखते हैं जिससे कर्ण परीक्षा, तुण्डिका ग्रन्थि (Tonsils), नेत्रादि सुगमता से देखे जा सकते हैं।

विदेश के प्रसिद्ध बालरोग विशेषज्ञ डाक्टर हचिसन वार्ट ने बालकों की परीक्षा के विषय में लिखा है कि 'Do not stare at the baby. Do not ask the nurse to unclothe the child in your presence and try to be friend of the baby by any device you find necessary.' अर्थात् चिकित्सक को बालक को ओर घूर कर नहीं देखना चाहिये और न अपनी उपस्थिति में नग्न करें क्योंकि इन कार्यों से बालक चिढ़ और डर जाते हैं। इसलिये जहां तक हो सके

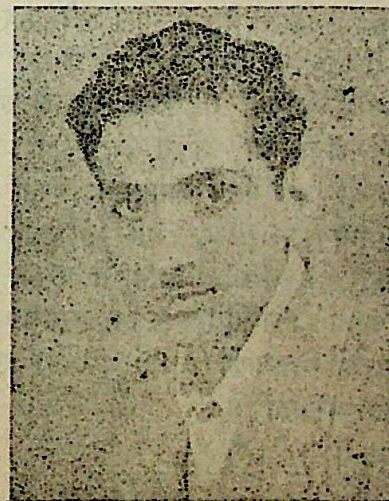
अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अब हम विस्तृत रूप से रोगी परीक्षा विधि पर विचार करेंगे।

१-इतिवृत्त (History)-

शिशु अपने मुख से तो अपने रोग का कोई वर्णन नहीं करता किन्तु चिकित्सक को चाहिये कि शिशु की माता या जिसने उसका पालन पोषण किया है उससे शान्तिपूर्वक निम्न प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए।

- (१) आपके कितने और बच्चे हैं?
- (२) किसी की मृत्यु तो नहीं हुई और यदि हुई है तो कैसे?
- (३) कहां से यह रोग परिवार में आया है?
- (४) शिशु के माता पिता को उपदंश और उष्णवात आदि कोई रोग तो नहीं हुए?
- (५) कभी कोई गर्भपात तो नहीं हुआ या कराया गया अथवा क्यों कराया गया?
- (६) माता पिता का स्वास्थ्य कैसा है?
- (७) गर्भावस्था में माता का स्वास्थ्य कैसा था?





(८) भोजन के पाचन की दशा कैसी है और आंत ठीक रूप से काम कर रही हैं अथवा नहीं ?

(९) क्या बालक पूरे मास में उत्पन्न हुआ है ?

(१०) प्रसव ठीक प्रकार से हुआ या नहीं ?

(११) शिशु उत्पन्न होने के समय उसका भार कितना था ?

(१२) क्या बालक का रोना उत्साहजनक था और श्वास की क्या स्थिति थी ?

(१३) दूध ठीक प्रकार से चूसता था वा नहीं ?

(१४) कोई मृत बालक तो उत्पन्न नहीं हुआ ?

२-भोजन —

उपरोक्त प्रश्नों के उपरांत शिशु के भोजन सम्बन्धी आहार का भी ज्ञान करना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान से अनेक रोगों के सम्बन्ध में आभास हो जाता है तथा प्रकृति का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे लुधानाश, दुर्गन्धित श्वास, चड़चड़ा स्वभाव, दुर्गन्धित मल का उत्सर्ग, निर्बलता आदि का ज्ञान हो जाता है।

३-शारीरिक वृद्धि —

इससे रुग्ण शिशु की मानसिक एवं शारीरिक शक्ति का विकास यथा समय हुआ अथवा नहीं ज्ञात हो जाता है। जैसे ६ सप्ताह में शिशु प्रकाश का अनुकरण करता है, ३ मास की अवस्था में बालक को तकिये से सिर को उठाने लगना चाहिये, चार मास में अपनी गर्दन को संभाल लेता है, छः मास में अपने उद्देश्य तक पहुँच जाता है, नव मास में स्वयं बढ़ने लगता है, दसवें मास में रेंगने लगता है, १२-१५ मास में चलने लगना चाहिए और दो वर्ष की अवस्था में उसे २-३ शब्द बोलना आना ही चाहिये और इसी समय वह मूत्र पुरीषोत्सर्ग के नियन्त्रकों (Sphincters) का प्रयोग करना भी सीखता है।

४-परिवारिक इतिहास---

इसका ज्ञान होना आवश्यक है। बचपन में ही माता पिता द्वारा प्राप्त राजयक्ष्मा, उपदंश, उष्ण-

वात, कुष्ठ, अर्श आदि रोग प्रकट हो जाते हैं। अन्य औपसर्गिक रोगों से पीड़ित माता पिता परिवार के सदस्यों के साथ बालक के संसर्ग होने से भी व्याधि उसी रूप में मिल सकती है। जैसे यदि घर में कोई क्षयज कास (Tuberculosis) से पीड़ित रोगी है तो निश्चितरूपेण बालक पर भी प्रभाव हो सकता है। इसलिये बालक की इस ओर गम्भीरता से ध्यान रखना चाहिए। इसके साथ साथ चिकित्सक को यह भी ज्ञात होना चाहिये कि रोगी शिशु के भाई बहिन का स्वास्थ्य कैसा है।

५-पूर्व इतिवृत्त-

बालक को इस रोग से पूर्व कोई अन्य रोग तो नहीं था इसका भी ज्ञान होना अत्यन्तावश्यक है जैसे रोमान्तिका (खसरा), कुक्कुर कास (Whooping cough), आक्षेपों की संख्या एवं तिथि, अतिसार के आक्रमण, धनुस्तम्भ (Tetanus), छर्दि, मुख में व्रण, कास, कर्ण से किसी स्राव का निकलना, शरीर के किसी भाग में या संधि में शूल का होना, श्लेष्मा अधिक खांसने से निकलता है या सुगमता से निकल जाता है। इसके अतिरिक्त बालक में रोमान्तिका के आक्रमण के बाद श्वसनिकीय कुप्फुसपाक (Broncho-Pneumonia) होता है उससे भी बढ़कर फौफुसिक सौत्रीय यक्ष्मा (Pulmonary fibrosis) होने का भय रहता है। इसी प्रकार जिन बालकों में पहले पामा (Eczema) मिलता है बड़े होने पर उन्हीं में तमक श्वास (Asthma) होने की सम्भावना रहती है। आमवातज्वर और आमवातजन्य हृदिकार में तथा पैत्तिक आक्रमण (Bilious attacks) और अर्धावभेदक में पर्याप्त सांमजस्य मिलता है। इन सबके अतिरिक्त पावाण गर्दभ (Mumps), वृहद्व मसूरिका (Small pox) आदि बीती हुई व्याधियों पर ध्यान रखना चाहिए।

६-वर्तमान इतिवृत्त-

अन्त में जिस व्याधि की तीव्रता है उसके



विषय में भी ज्ञान करना चाहिये कि कैसे और कब रोग आरम्भ हुआ। उदाहरणार्थ किसी बालक के उदरशूल है तो निश्चित समय का ध्यान रखते हुये यह पता लगाना चाहिए कि उसके साथ वमन भी है अथवा नहीं। यदि है तो वमन पहले होता है या बाद में। इससे हम पता लगा सकेंगे कि आंत्र-पुच्छ शोथ है या पैत्तिक शूल (Biliary colic) तो नहीं है। यही बातें विसंज्ञता (Fits) के बारे में भी लागू होती हैं। यदि इस प्रकार के रोगी का व्याधि वृत्त ठीक समयानुसार न मालूम किया जाये तो कहा नहीं जा सकता कि वह अपस्मारिक (Epileptic) है या रुदनाक्षेपजन्य (Crying convulsions) है।

७-यथार्थ रोगी परीक्षा—

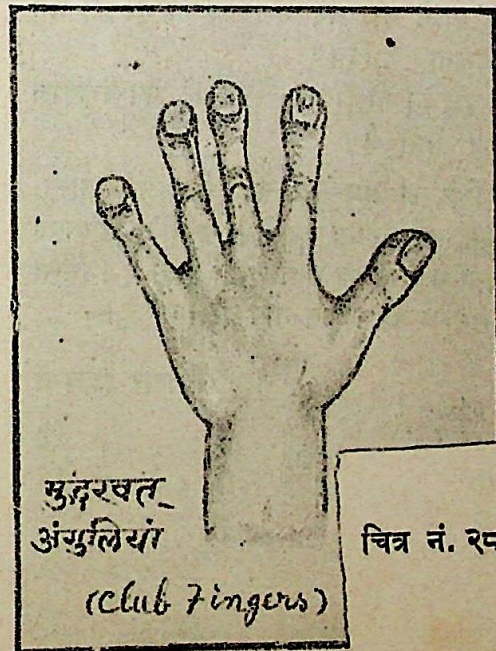
इस सम्बन्ध में इंग्लैंड के प्रसिद्ध बाल चिकित्सक डा० शेल्डन का कथन है कि 'Should the child happen to be asleep as much of the examination as possible should be made before he wakes. The respiration and the pulse rate should be counted, the heart may be ausculted, and with a warm hand the abdomen can often be palpated. Even the disc of a sleeping child can be examined without waking.' अर्थात् यदि रोगी बालक सोता हुआ हो तो जहां तक हो सके उसकी परीक्षाएँ बिना जगाये हुए करनी चाहिए। उसकी श्वास-प्रश्वास की गति और नाड़ी की प्रति मिनट चाल गिन लेनी चाहिए, उसके हृदय पर धीरे से स्टेथिस्कोप रख कर सुन लेना चाहिए। गर्म हाथ से उदर का स्पर्श कर सकते हैं। यद्यपि सोते हुए बालक के नेत्र की पुतली की भी परीक्षा की जा सकती है।

इसके साथ ही चिकित्सक को परीक्षा भवन में अधिक चटक मटक की चीजें नहीं रखनी चाहिए

जिससे बालक को भय प्रतीत हो। तत्पश्चात् की ओर ध्यान केन्द्रित होने पर या तो बालक से ही कहें कि वह स्वयं अपने कपड़े उतारे अथवा माता पिता स्वयं उसके कपड़े उतारें। चिकित्सक को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। फिर बच्चे के चहरे के भावों तथा स्वभाव का निरीक्षण करें, ओष्ठ के रंग को देखें और नासिका के छिद्रों की ओर ध्यान से देखें कि वह कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं। यह सब क्रियाएँ शान्तावस्था में देखी जा सकती हैं। इसके पश्चात् दर्शन (Inspection), स्पर्शन (Palpation), फिर श्रवण (Auscultation), और अंगुलीताडन (Percussion) परीक्षाएँ करें।

(१) दर्शन (Inspection)—

बालक के हाथ की अंगुलियों की परीक्षा करें कहीं उनके सिरों पर गोल तथा सूजी हुई (Clubbing of the fingers) तो नहीं हैं। तदनन्तर शिशु के कपाल रन्ध्रों (Fontanelles) की ओर दृष्टिपात करें तथा इसमें हृदय की तरह स्पन्दन भी





देखते हैं। इसका निरीक्षण करते समय इसके आकार को और स्वरूप को भी देखना चाहिये कि यह दबे हुये तो नहीं हैं जैसे कि प्रायः अतिसार में मिलते हैं। यदि यह कपालरन्ध्र फूले हुये और तने हुये हैं तो अन्तः कपालिक पीड़नोत्कर्ष (Rise of intracranial pressure) की ओर निर्देश करते हैं। यह कपाल रन्ध्र १५ मास या २ वर्ष में बन्द हो जाते हैं। यदि यह दो वर्ष बाद भी बने रहें तो यह फक्क रोग (Rickets) का परिचायक है। यदि दो पास पास कपाल रन्ध्र हों तो यह सिर का छोटा हो जाना अथवा अज्ञानता का द्योतक है। इस विषय में अन्य परीक्षायें निम्न प्रकार करें—

(१) त्वचा—शरीर से जल निकल जाने के कारण त्वचा की लचक धीमी हो जाती है। इसके साथ ही यह भी देखें कि त्वचा सूखी, गीली ज्वरयुक्त तथा त्वचा पर कोई लाली या विस्फोट तो नहीं है।

(२) उदर वृद्धि—बालकों में यकृत स्वाभाविक रूप से अनुपात में बड़ा होता है। अतः बालक का उदर कुछ आगे की ओर निकला होता है। इसे रोग नहीं समझना चाहिये।

(३) वक्ष की गोलीयता—बालकों का वक्षस्थल प्रायः गोल होता है।

(४) सिर का माप—बच्चे के सिर की वास्तविक लम्बाई को देखना चाहिये क्योंकि मस्तिष्क खराब बच्चों में सिर का माप छोटा होता है। निम्न तालिका में सिर का उचित नाप दर्शाया है—

आयु	विस्तार इंच में
जन्म के समय	१३
६ मास में	१६
एक वर्ष में	१८
तीन वर्ष में	१९
सात वर्ष में	२०
बारह वर्ष में	२१

(५) बालक का क्रमिक विकास तथा भार—प्राकृतिक रूप से बालकों की लम्बाई और भार की ओर भी ध्यान देना चाहिये। निम्न तालिका में यथार्थ विवरण दिया है—

आयु	भार पांड में	ऊँचाई इंचों में
प्रसव के पश्चात्	७	२०
१ वर्ष	२१	२६
२ वर्ष	२८	३३
३ वर्ष	३३	३७
४ वर्ष	३७	४०
५ वर्ष	४१	४२
६ वर्ष	४५	४४
७ वर्ष	४९	४६
८ वर्ष	५५	४८
९ वर्ष	६१	५०
१० वर्ष	६७	५२
११ वर्ष	७३	५४
१२ वर्ष	७९	५६

(६) दंतोद्भव काल—बालकों के दांत निकलने के समय को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये। सर्व प्रथम निकलने वाला दांत अधोदन्त के राज-दन्त (Lower central incisors) ६ मास की आयु में निकलते हैं तथा द्वितीय दन्तोद्भव में सर्व प्रथम पश्चिम चवर्ण दन्त (First molar) ५-६ वर्ष की आयु में निकलता है या इसको ६ वर्ष पुराना चवर्ण दन्त कह सकते हैं।

(७) श्वास प्रश्वास गति—बालकों में इसको पेट की गतियों से गिनती करते हैं। इसे हम निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जन्म के समय शिशु का—

प्राकृतिक श्वास-प्रश्वास	४० प्रति मिनट
द्वितीय वर्ष में	३० "
पंचम वर्ष में लगभग	२५ "
पन्द्रह वर्ष में	२० "



शिशुरोगाङ्कः

इस अवस्था में प्राकृतिक नाड़ी और श्वास प्रश्वास में अनुपात—१ : ३½ या ४ तक रहता है।

(न) नाड़ी की गति—नाड़ी देखते समय चिकित्सक को चाहिए कि पहले माता बच्चे को गोद में लिटा ले और अपने हाथ से बच्चे के हाथ को पकड़े। तदन्तर दैद्य अपना हाथ रखे तथा नाड़ी की गिनती करे, यदि बच्चा रोना प्रारम्भ कर देता है तो कम से कम २० स्पन्दन बढ़ जाते हैं तथा निद्रावस्था में १०-२० स्पन्दन कम हो जाते हैं। नाड़ी देखते समय यह विशेष ध्यान रखें कि नाड़ी का निरन्तर धीमा और अनिश्चित चलना विशेष महत्व रखता है। निम्न तालिका के अनुसार वास्तविक नाड़ी का विचार कर सकते हैं—

जन्म के समय नाड़ी स्पन्दन	१३०
द्वितीय वर्ष में ”	११०
पांच वर्ष में ”	१००
आठ वर्ष में ”	६०
बारह वर्ष में ”	८०

(६) तापमान—बालकों का तापक्रम तापमापक यंत्र से गुदा, कक्षा या वंक्षण में रखकर लेते हैं। बड़े बालकों का तापमान मुख में रखकर लेना चाहिये।

दर्शन परीक्षा के सम्बन्ध में एक दो अनुभव की बातें और लिखते हैं जिनसे ज्ञात होगा कि रोगी के दर्शन से रोग का किस प्रकार सफल निदान किया जा सकता है—

(क) एक ६-७ वर्ष के बालक ने खेल में अपनी मूत्रेन्द्रिय पर कांसी का छल्ला चढ़ा लिया जिसके कारण मूत्रेन्द्रिय सख्त हो गई, छल्ला फंस गया और उसका मूत्र बन्द हो गया तथा शोथ भी काफी होगई। २४ घंटे व्यतीत होने पर उस बालक को अति वेदना मूत्र रुकने और मूत्रेन्द्रिय के शोथ के कारण हो गई तो वह कई डाक्टरों के पास लेकर गया परन्तु सभी ने ओप्रेसन की सलाह दी। बच्चे की मां रोती हुई आप्रेसन के विचार से सिविल अस्पताल से मेरे पिता जी (श्री डा० बुद्धिप्रकाश आर्य जो कि एक

सफल चिकित्सक हैं) की दूकान के सामने से जा रही थी तो उसकी वेदना को देख कर बुलाया और मेज पर लिटा कर थोड़ा सा बर्फ कूट कर उसकी इन्द्रि पर रख दिया और कुछ खाने को दे दिया। १५ मिनट बाद ठंड से इन्द्रि सिकुड़ गई और धीरे से उसके छल्ले को इन्द्रि से खींच लिया। तुरन्त ही खुल कर मूत्र हो गया और बालक को उसकी माता हर्षित हो लेकर चली गई।

(ख) एक बालक रोये चला जा रहा था चुपता नहीं था। मेरे पूज्य गुरु जी (श्री वैद्य निरंजन देव जी) को उस रोगी बच्चे को देखने लिए बुलाया। उन्होंने सारे शरीर की परीक्षा की परन्तु कोई बात ज्ञात नहीं कर पाये। वह बालक मोजे पहने हुआ था पैर देखने के विचार से गुरु जी ने दोनों मोजे उतरवाये। मोजे उतरते ही बालक शान्त हो गया तथा देखने पर ज्ञात हुआ कि उसके मोजे कस कर बंधे हुए थे।

२-स्पर्शन (Palpation)—

शिशु का स्पर्शन करते समय निम्न बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए—

अ-चिकित्सक के हाथ गर्म होने चाहिए विशेष कर सर्दियों में। आ-सिर से स्पर्श प्रारंभ करके ब्रह्मरन्ध्र (Ant. fontanellae) का स्पर्श करना चाहिए तथा वहां कि कपालास्थियों की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि कहीं फक्क रोग से सम्बन्धित तो नहीं है तथा फिरंग के अन्य चिन्हों की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए। तत्पश्चात् ग्रैविका ग्रन्थियों (Cervical glands) की वृद्धि का भी ज्ञान करना चाहिए।

३-श्रवण (Auscultation)---

इसमें धीरे से शिशु के वक्ष पर श्रवण यंत्र को रखें और हृदगति और श्वसन की ओर ध्यान दें। शिशु में श्वसन शब्द प्रायः कर्कश होता है।

४-अकलितान (Percussion)—

बालकों के ठोके बहुत धीमे धीमे लगानी चाहिए। बालक की कोमलता को ध्यान में रख कर करना चाहिए अन्यथा बालक रो देता है जिससे



प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । वक्ष प्रदेश पर ताड़न करने से साधारण स्वस्थावस्था में भी खंडित भाण्ड (Cracked pot) की भांति शब्द मिलता है । इससे घबड़ाना नहीं चाहिए । इसके पश्चात् माता द्वारा बालक को दूध पिलाते हुए फुफ्फुस की परीक्षा करनी चाहिए ।

अंत में मुख और गले की परीक्षा करनी चाहिए । पहले जिह्वा की परीक्षा करनी चाहिए । जिह्वा को देखने के लिए ठोड़ी के नीचे की ओर दबायें तब बालक स्वयं मुख खोल देता है । यदि इस प्रकार मुख न खोले तो नासिका के छिद्रों को बंद करने से भी मुख खोल देता है तो वहां देखना चाहिए कि शोथ लाली आदि तो नहीं है । मुख की श्लेष्मिक कला का भी निरीक्षण करना चाहिए । इसमें मुख में छाला, शोथ, व्रण आदि देखें । कंठ को देखने के लिए जिह्वा को चम्मच से दबा कर अच्छे प्रकाश में निरीक्षण करें क्योंकि कहीं तुंडकेरी तो नहीं बढ़ी हुई है लाली तो नहीं है । अच्छी प्रकार परीक्षा करें ।

संस्थानों की परीक्षा

अब हम विशेष संस्थानों की परीक्षा लिखते हैं—
१-पाचन संस्थान-प्रायः बालकों में यकृत $\frac{1}{2}$ इंच पशुकाओं से अधिक बड़ा होता है । बालकों के रोगों में प्लीहा भी अधिक होती है । इसका हम स्पर्शन द्वारा ज्ञान कर सकते हैं । गुदा का भी निरीक्षण करना न भूलना चाहिए । मल का भलीभांति निरीक्षण करना चाहिए इसमें कृमियों को भी देखना चाहिये । निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट ज्ञान करना चाहिए ।

मल परीक्षा तालिका

आयु	मल का वर्ण	विशेषता
प्रथम दो मास तक	अण्डे की जर्दी सा	२-४ बार, गंध खट्टी
आठ मास से २ वर्ष तक	भूरा (Brown)	२ बार दलिया सा दुर्गंध युक्त
दो वर्ष के पश्चात्	साधारण	कोई विशेषता नहीं ।

२-रक्तवह संस्थान-बालकों में हृदय स्पन्दन प्राकृतिक रूप में मिलता है जबकि में तीव्र होता है । शिशु में रक्त पीड़न मंद रहने का कारण प्रथम शब्द तीव्र और द्वितीय शब्द मिलता है । बड़ों में इससे उल्टा मिलता है ।

३-रक्त निरीक्षण-बालकों के रक्त की परीक्षा करने के लिए एक बूंद रक्त की कान के निचले से लें या अंगुली के अग्र भाग से लें और कांच स्लाइड पर रखें और रंग कर सूक्ष्मदर्शक यंत्र



चित्र नं० २६

चुल्लिका ग्रन्थि के रस की न्यूनता से पीड़ित बालक देखें इसमें लाल रक्ताणु कम मिलेंगे । श्वेताणु की बहुलता मिलती है १२००० प्रति घन मि० मी० प्रायः ४५ प्रतिशत मिलते हैं । नवजात शिशुओं में हीमोग्लोबीन अधिक मात्रा में मिलती है फिर बालक में कम हो जाती है ।

४-श्वसन संस्थान-बच्चे श्वसन मांसपेशी (Diaphragm) को अधिक प्रयोग में लाते हैं ।



शिशु रोगोद्धार

इसमें मुख्य रूप से उदर प्रदेश भाग लेता है और वक्ष वास्तव में थोड़ा फैलता है। शिशुओं में क्रमशः प्रथम निःश्वसन, श्वसन, रोक (pause) होते हैं।

इसके साथ ही प्रत्यावर्तन क्रियायें भी बहुत सरलता से प्राप्त हो जाती हैं।

आयुर्वेदीय बाल रोग परीक्षा

काश्यप संहिता सूत्र स्थान के वेदनाध्याय में बालकों की वेदनाओं को देख कर रोग निदान के विषय में कष्टों का निर्देश किया गया है जिनसे वैद्यों को रोग परीक्षा करने में सहायता मिलती है।

(१) शीर्षरोग (Night terrors)—इसमें बालक रात्रि में अत्यन्त भयभीत होता है, शिर स्पन्दन और नेत्रों के प्रत्यावर्तन अधिक होजाते हैं।

(२) कर्ण शूल—इसमें बालक शूल होने पर अपने हाथ से कर्ण को स्पर्श करता है, सिर को शीघ्रता से घुमाता है। अरति अरोचक और निद्रा-धिक्य मिलता है।

(३) मुखामय (Stomatitis)—मुख से अत्यधिक लालास्राव होता है और स्तन से द्वेष



चित्र नं० ३०—भोंदू बालक

५—मूत्र संस्थान—बालकों में सारे दिन का मूत्र इकट्ठा करना कठिन है। किन्तु कभी कभी कुछ स्वस्थ बच्चों में शर्करा प्रोटीन मिल जाया करती है।

६—नाड़ी संस्थान—इस संस्थान की परीक्षा रोगी के साहचर्य बिना मिले पूरी नहीं होती। बालक के चलने में असमर्थता ज्ञात होने पर पैरों के अंगघात की ओर ध्यान देना चाहिए। इसमें बालक के बैठे हुए



चित्र नं० ३१—विशूचिका से पीड़ित बालक

या लेटे हुए पैरों को मोड़ा जासकता है। जबकि फक्क रोग से पीड़ित भी चलने के लायक नहीं होता है।



चित्र नं० ३२—धनुर्वात का रोगी बालक

करता है। पीड़ा होने पर जब दुग्धपान करता है तो दुग्ध उगल देता और नासिका से श्वास लेता है।

(४) कंठ वेदना तथा अर्दित रोग—स्तनपान करने पर थोड़ा थोड़ा दुग्ध गिरता है, श्लेष्मल प्रयोग से उसे विष्टम्भ होता है, अरुचि ग्लानि विशेष रहती है।



धर्मचिन्ता

(५) अधि जिह्विका—लालास्राव, अरुचि, कपोलान्तर्गत भाग में शोथ एवं शूल होना, मुख का विकृत होना पाया जाता है।

(६) गलग्रह-ज्वर, अरुचि, शिरः शूल होता है।

(७) कंठ शोथ-ज्वर, अरुचि, शिरः शूल होता है।

(८) ज्वर—जम्बाई लेना, खांसना, धात्री आदि से चिपका रहना दुग्ध या स्तनपात के प्रति द्वेष, मुख से लालास्राव अधिक होना, कुछ संताप होना, विवर्णता, ललाट का अति तप्त होना, अरुचि, पाद, शैत्य में सभी लक्षण बालकों का ज्वर होने के पूर्व ही देखे जाते हैं।

(९) अतिसार—शरीर के वर्ण की विकृति, पीड़ा, मुखग्लानि, अनिद्रा, वातकर्म निवृत्ति, ये लक्षण अतिसार से पूर्व में मिलते हैं।



चित्र नं० ३३

जल युक्त मस्तिष्क पीड़ित बालक

(१०) उदरशूल—बालक उत्तान लेटकर रोता है, स्तनपान छोड़ देता है, उदर में स्तब्धता, शैत्य, मुख पर स्वेद, यह उदरावरण शोथ (Peritonitis) जन्य उदर शूल के लक्षण हैं।

(११) छर्दि—बिना किसी कारण उद्गार प्रवर्तन होने लगे, निद्रा और जम्भा आने लगे तो वमन होगा ऐसा जानना चाहिये।

(१२) श्वास—निष्ठीवन और उर की उष्णता इसके प्रधान लक्षण हैं।

(१३) हिक्का—यकायक श्वास के साथ उद्गार प्रारम्भ हो तो हिक्का होने का शक हो सकता है।



चित्र नं० ३४

फक्क रोग पीड़ित बालक

(१४) वृष्णा—अत्यधिक स्तनपान करने पर भी जो रोता रहे ओष्ठ शुष्क हो चुके हों, तालु भी जलरहित हों और दौर्बल्य प्रकट हो तो अवश्य प्यास लगी हुई है यह जानना चाहिये।

(१५) आनाह—आंखें फैल जाय और स्तब्ध रहें, पर्व भेद हो, अरति, क्लम हो, मूत्र मल सभी की गति संरुद्ध हो जावे तो आनाह समझना चाहिये।

(१६) अपस्मार—यकायक बालक अट्टहास करने लगता है।

(१७) उन्माद—प्रलाप, अरति, वैचित्र्य होता है।

(१८) मूत्रत्याग शूल—मूत्र त्याग के समय रोमहर्ष होने से मूत्र मार्ग में शूल होती है।

(१९) मूत्रकृच्छ्र—इसमें बालक वस्ति अपने हाथ से छूता है, कभी मूत्र त्याग के समय ओष्ठ का दंशन करता है।

(२०) प्रमेह—मूत्र, गुरुता, बद्धता, जाड्य लिप हुये होगा जो अकस्मात् ही निकल पड़ेगा उस पर मल्लिका बहुत बैठेगी। उसका रंग श्वेत और घन होगा।

(२१) अर्श—मल बद्ध और पक्क होगा, रक्त साथ में आ सकता है, गुद निष्पीडन, गुदकण्डू, तोड़ आदि लक्षण होते हैं।



शिशु रोगाङ्कः

(२२) अश्मरी—यदि बालकण मूत्र मार्ग में हों तो मूत्र अधिक निकलता है। मूत्र त्याग में शूल होता है। मूत्र त्याग करने पर रोने लगे तो समझें कि अश्मरी है।

(२३) विसर्प—इसमें पूर्व में रक्त मण्डल कोत्पत्ति, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति आदि।

(२४) विसूचिका—सूचीभेदनवत् पीड़ा, निष्ठीवन, हृच्छूल के लक्षण मिलते हैं।

(२५) अलसक—जो थोड़ी देर भी सिर को ठीक से धारण नहीं किये रहता, भेदन होता रहता है, बार बार जम्भाई लेता है, अधिक स्तनपान नहीं करता, ग्रथित होकर वमन करता है, विषाद, आध्मान, अरुधि आदि मिलता है।

(२६) चक्षुरोग—दृष्टि व्याकुलता, चक्षु में तोद, शोथ, शूल, अश्रु अधिक आना, आंख का लाल होना, सोने पर उपलेपन के कारण उनका चिपक जाना।

(२७) शुष्क कंठ—मलने से सुख दे, शोथयुक्त हो, दाह, शूल के लक्षण।

(२८) आद्र कंठ—सोते में अपने अङ्ग का घर्षण करने लगे और मलते मलते रो पड़े तो शुष्क कंठ से पीड़ित है।

(२९) पांडुरोग—नाभि के चारों ओर शोथ हो, मुख, नख श्वेत हों, अक्षि कूटों में शोथ हो तो बालक को पाण्डु जानना चाहिये।

(३०) कामला रोग—चक्षु, नख, मुख, मूत्र का पीला होना, निरुत्साह, अग्निमांश और रुधिर प्रयोग की आवश्यकता प्रकट होने से कामला के लक्षण लेने चाहिये।

(३१) मदात्यय—जो बालक मूर्छित हो, जागने पर वमन करे, धात्री द्वेषी हो, अरति, भ्रम, तृष्णा से पीड़ित हो मदात्यय से पीड़ित जान लेना चाहिये।

(३२) पीनस—जो स्तनपान करते करते बार बार मुख से श्वास ले, नासा एवं मुख से स्राव अधिक, ललाट परितप्त रहे, स्रोतों को स्पर्श करता रहे, श्वास अधिक हो तो पीनस रोग से पीड़ित जानना चाहिये।

(३३) उरोघात—उपरोक्त लक्षणों के साथ मुख से अत्यधिक निष्ठीवन करे तो वह उरोघात से पीड़ित मान लेना चाहिये।

—श्री वेदमित्र आर्य

आयुर्वेद भास्कर, ए. एम. बी. एस.
गुरुकुल काँगड़ी (सहारनपुर)

बाल-रोग परीक्षा में ज्ञातव्य बातें

आचार्य श्री पं० कृष्णदत्त जी शर्मा

आयुर्वेद के आदि प्रणेता महर्षि श्री चरक आयुर्वेद का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—

‘हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्त आयुर्वेदः स उच्यते॥’

—चरक सूत्र. १।४१

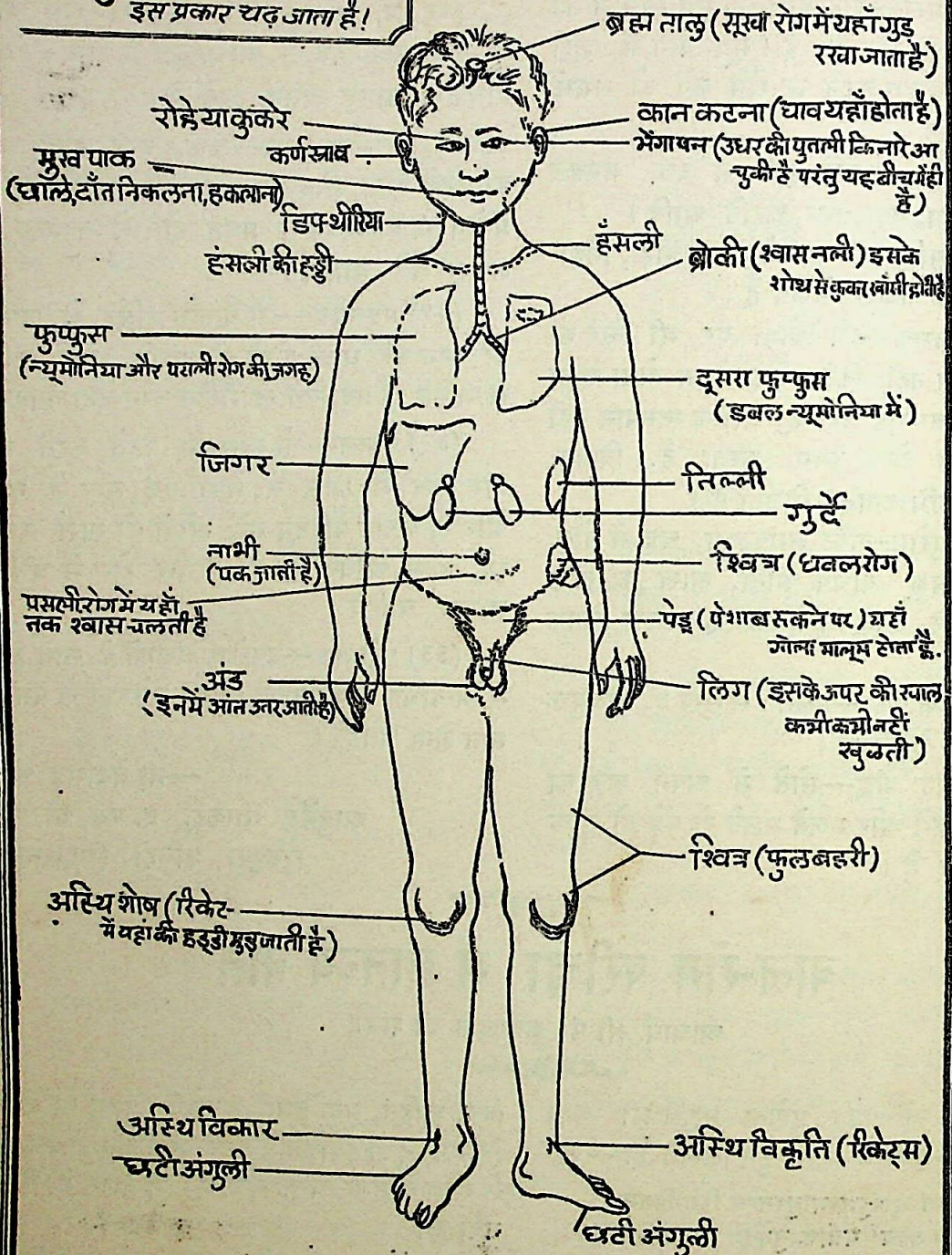
हित (आयु) अहित (आयु) सुख (आयु), दुःख (आयु)—इन चार प्रकार की आयु का हित और अहित आहार-आचार आदि के निर्देश जिस शास्त्र में किये गये हों, वह ‘आयुर्वेद’ कहलाता है। इन

हित, अहित, सुख तथा दुःखादि आयु का वर्णन (स्वरूप)—(जो व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक स्वस्थवृत्त से सम्बन्धित है—चरक सूत्र. ३० में वर्णन है) किया गया है।

आयुर्वेद एक वैज्ञानिक जीवन शास्त्र है—जिसके लिये महर्षि श्री सुश्रुत निर्देश करते हैं—‘आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः’ जिस शास्त्र द्वारा आयु का ज्ञान हो उसे आयुर्वेद कहते हैं।

भारत के त्रिकालज्ञ ऋषि महर्षियों ने आयुर्वेद

शीर्षाम्बु (हाइड्रॉमिफेलस) में सिर
इस प्रकार चढ़ जाता है!



चित्र नं० ३५

बालक के किस अंग में क्या रोग होते हैं ?



शिशुरोगाङ्कः

की रचना 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' महान्तम सिद्धान्त को लेकर की है। आयुर्वेद के आठ अङ्गों में बालतंत्र (कौमारभृत्य) का अपना अलग अस्तित्व तथा महत्व है—आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में 'कौमारभृत्य' इस नाम से यत्र तत्र वर्णन उपलब्ध है। जिस प्रकार कायचिकित्सा के लिए 'चरक संहिता' तथा शल्य शालाक्य के लिये 'सुश्रुत संहिता' है, उसी प्रकार बालतंत्र के लिये (बालकों के रोग, चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त) आयुर्वेदीय साहित्य में काश्यप-संहिता' एक बेजोड़ ग्रन्थ है। काश्यपसंहिता में बालकों से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का समावेश मिलता है।

'कौमारभृत्य' (बालतंत्र) की व्याख्या करते हुए महर्षि श्री सुश्रुत लिखते हैं—कौमारभृत्यं नाम कुमारभरण धात्रीक्षीर दोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्य ग्रहसमुत्थानां च व्याधिनामुपशमनार्थम्"। कौमारभृत्य उस तंत्र या शास्त्र का नाम है—जिसमें बालक के पालनपोषण सम्बन्धी विधि, धात्री के वातादि से दूषित स्तन्य के शोधन उपाय तथा बालग्रह (स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतनाम, मुखमुखिका तथा नैगमेष) से उत्पन्न होने वाले बालरोगों के उपशमनके उपाय कहे गये हैं उसे कौमारभृत्य कहते हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में कौमारभृत्य को 'Science of Paediatrics' कहा जाता है।

प्रारम्भ में बाल-रोग परीक्षा विधि के लिए शास्त्रीय आधार प्रस्तुत किया जाता है। अष्टाङ्ग हृदयकार बालरोगपरीक्षा विधि का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेत् रुजम् ।
स यं स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ॥
तत्र विद्याद्भुजं, मूर्ध्नि रुजं चाधिनिमीलनात् ।
कोष्ठे विबन्ध वमथुस्तनदंशान् कूजनैः ॥
आध्मानपृष्ठ नमन जठरोन्नमनैरपि ॥
वस्तौ गुह्ये च निष्मूत्रसंगत्रासादिगीर्णैः ।
स्रोतास्याङ्गानि सन्धीश्च पश्येद्यत्नानुहुमुहुः ॥

—अ० उ० २।५ से ८

बालक के रोने की स्थिति से वेदना तीव्र है या मन्द है, यह अनुमान करना चाहिए। बालक जिस स्थान को बार बार स्पर्श करता हो, तथा जहां स्पर्श करने पर पीड़ा का अनुभव करता हो, रोता हो, तब वहां पीड़ा की स्थिति समझनी चाहिए। शिरःशूल होने पर बालक आंखों को प्रायः बन्द रखता है। कोष्ठगत (महास्रोत) पीड़ा होने पर विबन्ध, वमन, स्तन को काटने की प्रवृत्ति, आन्त्र में गुडगुडाहट, आध्मान, पीठ तथा उदर के झुकने की क्रिया को देखकर विकृति समझनी चाहिए। मल-मूत्र की रुकावट, भय, दिशम्बलोकन (इधर उधर देखना) तथा चौंकने से पीड़ा का स्थान वस्ति तथा गुह्यप्रदेश (गुदा तथा शिश्न) समझने चाहिए। चिकित्सक को विभिन्न स्रोतों (च. वि. ५), अङ्गों और संधियों को सावधानीपूर्वक देखना चाहिए।

जो अपनी आवश्यकता को बोलकर व्यक्त नहीं कर सकता है वह रोता है, जैसे कहा है 'बालानां रोदनं बलम्', तथा अन्य भी हावभाव प्रकट करता है। कुछ बालक प्रकृति से ही अधिक रोते हैं, तथा कुछ कम। प्रकृति से अधिक रोना-रोग का परिचायक होता है। बालक-मूक होने के कारण रोता है तथा अपनी रुजा की ओर संकेत करता है। शरीर के किसी भाग में विकृति होने पर मांसपेशियों में संकोच होता है, तथा हाथ पुनः पुनः उसी स्थान पर जाता है। महर्षि श्री सुश्रुत लिखते हैं—

अङ्गं प्रत्यङ्गं देशे तु रुजा यत्रस्य जायते ।
सुहुमुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥

सबसे आवश्यक बात यह है कि चिकित्सक को बालक की परीक्षा करते समय मनोवैज्ञानिक आधार लेना चाहिए।

काश्यपसंहिता सूत्रस्थान अध्याय २५ (वेदना-ध्याय) में बालकों में होने वाले शिरोरुजा, कर्ण-रुजा, मुखरोग, कण्ठवेदना, उदर, अतिसार, उदर-रुजा, छर्दि (वमन), आसुरोग, आनाह, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, पांडुरोग, कामला आदि का वर्णन किया है। इसमें बालकों में पाये जाने वाले



लक्षण लिखे हैं। जिस अङ्ग का रोग होता है, उसी अङ्ग विशेष पर लक्षण मिलते हैं—इन्हीं का निर्देश महर्षि श्री कश्यप ने काश्यपसंहिता में किया है।

बालकों की रोग परीक्षा करते समय अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ नहीं कह सकता। शरीरगत विकार का स्थान उसके हावभाव, रुदन, मलमूत्रादि प्रवृत्ति को देखकर ही कुछ जाना जा सकता है। महर्षि श्री सुश्रुत ने वर्णन करते हुये लिखा है—

अङ्गप्रत्यङ्ग देशेतु रुजा यत्रस्थ जायते ।
मुहुर्महुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥
निमीलिताक्षि मूर्धस्थे शिरोरोगे च धारयेत् ।
वस्तिस्थे, मूत्र संगतौ रुजा वृष्यति मूर्च्छति ॥
विमृत्रसंगवैवर्त्यच्छद्योधमानान्त्रकृजैः ।
कोष्ठेदोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥

—सु० शा० १०।३७ से ४०

शिर के रोग में आंखे बन्द किये रहता है, और शिर को उठा नहीं सकता। वस्ति में पीड़ा होने पर मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त तथा मूर्च्छित होता है। मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, उल्टी, पेट का फूलना, आंते गुडगुडाना—ये लक्षण कोष्ठ में विकार होने पर होता है। तथा रुदन करने पर सर्वत्र ही विकार जानना चाहिए।

शरीर की असह्य पीड़ा को मालूम कराने के लिये बच्चों के पास केवल रुदन ही होता है। बड़े मनुष्य में भी शरीरगत असह्य पीड़ा में चेहरे की ओर देखकर पीड़ा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्शना-सह्य होने पर स्पर्श करने से पीड़ा होती है। शारीरिक तथा मानसिक विकारों का प्रतिबिम्ब चेहरे पर पड़ता है, तथा इसके द्वारा विकार की स्थिति का (अल्प या बहु) ज्ञान होता है।

आयुर्वेदीय संहिताग्रन्थों में बालकों के विषय में अल्प वर्णन मिलता है। परीक्षा प्रारम्भ करते समय बालक की अवस्था को निम्न चार भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। इससे परीक्षा विधि में सरलता रहेगी—

- (१) नवजात.....जन्मकाल से ४सप्ताह तक
- (२) शिशु.....दो वर्ष तक (जन्म से)
- (३) बालक.....दो से बारह वर्ष
- (४) किशोर.....बारह से सोलह वर्ष तक

आयुर्वेद ने भी बालक को तीन प्रकार का बताया है। महर्षि श्री सुश्रुत १६ वर्ष की अवस्था तक बालक मानते हैं—‘उनषोडशवर्षस्तु नरो बालो निगद्यते’। बालकों के तीन प्रकार में (१) दूध पीने वाला [१ वर्ष तक] (२) दूध तथा अन्न खाने वाला [२ वर्ष तक] (३) केवल अन्न खाने वाला बताया है। ‘त्रिविधः सोऽपि दुग्धाशी दुग्धान्नाशी तथा न्न-भुक्। दुग्धाशी वर्षपर्यन्तं दुग्धान्नाशी शरद्द्वयम् ॥ तदुत्तरं स्यादन्नाशी एवं बालस्त्रिधा मतः ॥’ इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए सामान्य परीक्षा (General examination) करनी चाहिए—

बालक का भार (Weight of child) जानना चाहिए। भार निर्दर्शक तालिका—

(१) जन्म के समय	७ पौंड
(२) प्रथम मास	६१ ”
(३) पंचम मास	१४ ”
(४) प्रथम वर्ष	२१ ”
(५) द्वितीय वर्ष	२८ ”
(६) षष्ठम वर्ष	४२ ”
(७) पन्द्रह वर्ष	८४ ”

जन्म के समय स्वस्थ शिशु का भार ७ पौंड होता है। जन्म के बाद प्रथम सप्ताह तक वजन में कुछ कमी आती है—कारण बालक को स्तन्यपान का अभ्यास नहीं होता है—तथा माता को स्तन्य प्रवृत्ति तीन दिन के बाद होती है—तथा माता प्रसव की पीड़ा से पीड़ित रहती है अतः बालक का वजन प्रथम सप्ताह में कुछ कम होजाता है। सप्ताह के अन्त तक ‘पूर्ववत्’ (वजन की कमी) हो जाती है। पुनः उत्तरोत्तर नित्यप्रति ३ से १ छटांक भार में बढ़ता जाता है। यदि यह वृद्धि नहीं होती हो तो पोषक पदार्थ देने चाहिए। पंचम मास में जन्म दिन



शिशुरोगादि

से दुगुना, प्रथम वर्ष में तीन गुना, द्वितीयवर्ष के अन्त में चौगुना, छठे वर्ष ६ गुना (४२ पौंड), तथा पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बारह गुना (८४ पौंड) वजन होना चाहिए। वजन में इस प्रकार 'वृद्धि' स्वस्थता की परिचायक है। यदि वृद्धि में न्यूनता हो तो पोषणाभाव समझना चाहिए तथा अस्वाभाविकता भी, अतः पूर्ण पोषण देना चाहिए। पोषण की कमी से संक्रामक रोग (जीवनीय शक्ति की कमी के कारण) हो जाते हैं।

बालक का भार देखने के पश्चात्—उसकी ऊंचाई (height) को देखना चाहिए—

- (१) जन्म के समय २०½ से २४ इंच
- (२) प्रथम वर्ष में २७ इंच
- (३) पंचम वर्ष में ४१ इंच (३½ इंच प्रतिवर्ष वृद्धि)
- (४) पन्द्रह वे वर्ष में ६१ इंच (५'-१ तथा २ इंच प्रतिवर्ष वृद्धि)

जन्म के समय में ऊंचाई २० इंच होनी चाहिए, प्रथम वर्ष के अन्त तक २७ इंच, फिर ५ वर्ष तक प्रति वर्ष ३½ इंच वृद्धि, (५ वर्ष के बालक की ऊंचाई ३ फुट से ५ फुट होनी चाहिये) ५ वर्ष से १५ वर्ष तक प्रति वर्ष १ और २ इंच की वृद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार १५ वर्ष की अवस्था तक ऊंचाई ५ फुट १ इंच होगी।

आर्थिक परिस्थिति, आवास, जल, वायु, ऋतु, देश, काल आदि का प्रभाव भी बालक के स्वास्थ्य पर पड़ता है। साधारण दृष्टि से बालक के भार तथा ऊंचाई के जानने से बालक के भौतिक शरीर का

संगठन कैसा है यह भलीभांति ज्ञात हो जायगा। यदि न्यूनता रहेगी तो विकृति ज्ञात होने पर चिकित्सा में सुविधा होगी।

भार तथा ऊंचाई के ज्ञान के साथ ही सामान्यतः नाड़ी स्पन्दन तथा श्वास का क्रम क्या रहता है, जानना चाहिए। सामान्यतया नाड़ी स्पन्दन तालिका इस प्रकार है—

अवस्था	संख्या प्रति मिनट
१-जन्म से प्रथम वर्ष के अन्त तक	१२० से १४० तक
२-दूसरे से पांचवे वर्ष तक	६० से ११५ तक
३-छठे वर्ष से १५ वे वर्ष तक	८० से ९० तक
४-१६ से ५० वर्ष तक	७० से ७५ तक
५-५० से ऊपर तक	५० से ६५ तक

परिश्रम, अचानक किसी अप्रिय बात के सुनने, भोजनोपरान्त नाड़ी की गति बढ़ती तथा सोने के समय में कम होती है।

श्वास कर्म—छोटा बच्चा एक मिनट में तीस या ३५ बार तक श्वास लेता है। ६ मास की आयु पर भी श्वास की संख्या ३५ प्रति मिनट होती है। दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में वह पच्चीस रह जाती है। १६ वर्ष के बाद श्वास प्रति मिनट १८ के पास रहता है। श्वास का तथा नाड़ी का अनुपात १ तथा ४ का है (१ श्वास आने पर नाड़ी का स्पन्दन ४ बार होगा)

बालक के मल को देखने पर भी उसके सहास्रोतस की विकृति का पता चलता है तथा रोग परीक्षा में सहायक होता है। अतः शिशु के मल त्याग तथा परीक्षा की तालिका—

अवस्था	प्रतिदिन की संख्या	वर्ण
[१] प्रथम दो मास तक	३ से ४ बार	अंडे के तरल सट्टश्य, गंधहीन
[२] दो से आठ मास तक	२ से ३ बार	क्रमशः परिवर्तनशील
[३] आठ से चौबीस मास तक	— २ बार	भूरे रंग का, चिकना तथा कुछ दुर्गन्धित
[४] दो वर्ष के पश्चात्	१ से २ बार	पूर्ण रूप का तथा दुर्गन्धित, पीतवर्ण, बद्ध



शिशु के भोजन, उसकी मात्रा तथा विश्राम आदि का भी चिकित्सक को निर्देश देना पड़ता है तथा जानकारी रखनी पड़ती है। अतः उनका क्रम इस प्रकार है—

अवस्था	दिन में घण्टों में विश्राम	रात्रि में दुग्धपान	१ बार की मात्रा
[१] ७ दिनों तक	२-२ घण्टे पर	१ बार	$\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ छटांक
[२] १४ से २१ दिन तक	२-२ घण्टे पर	१ बार	$\frac{3}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ "
[३] २१ से ३५ " "	२-२ घण्टे पर	१ बार	$1\frac{1}{2}$ से $1\frac{3}{4}$ "
[४] ४२ से ८४ " "	$2\frac{1}{2}$ - $2\frac{1}{2}$ घण्टे पर	१ बार	$1\frac{1}{2}$ से $2\frac{1}{2}$ "
[५] ३ से ५ मास " "	३-३ घण्टे पर	१ बार	२ से $2\frac{3}{4}$ "
[६] ५ से ६ " "	३-३ घण्टे पर	१ बार	$2\frac{3}{4}$ से $3\frac{1}{2}$ "
[७] ६ से १२ " "	$3\frac{1}{2}$ - $3\frac{1}{2}$ घण्टे पर	१ बार	$3\frac{1}{2}$ से $4\frac{1}{2}$ "

पंचविध परीक्षा—

उपर्युक्त तालिकाओं को ध्यान में रखते हुए भी निम्न पंचविध परीक्षा करनी चाहिये।

[१] प्रश्न (Interrogation)—

रोगी परीक्षा का प्रथम उपाय है। प्रश्न के सामान्य तथा विशेष दो विभाग होते हैं। सामान्य परीक्षा में प्रश्न द्वारा नाम, आयु, निवास स्थान, वर्तमान रोग की अवस्था, रोग कैसे प्रारम्भ हुआ, कैसे बढ़ा, क्या चिकित्सा करवाई, क्या परिणाम हुआ, रोगी के पूर्व स्वास्थ्य का वृत्त, भोजन-शाकाहार या सामिष, परिवार का स्वास्थ्य आदि बातें पूछ लेनी चाहिये। विशेष प्रश्न रोगी के स्रोतस (संस्थान, सिस्टम) या अङ्गों के विषय में करना होता है।

(१) बालक जो बोल नहीं सकता, उसकी सभी बातें बालक की माता या अभिभावक से जानें।

(२) बालक के भोजन दूध में जिसको वह माता के द्वारा या गाय का दूध लेता है वह स्वस्थ है या नहीं। यह उल्लेख रोगी के पूर्व इतिहास में लें।

(३) बालक के जन्म से पूर्व माता को उपदंश, सहज अर्श, कुष्ठ, आमवात, मधुमेह, क्षय, रक्तचाप आदि कोई व्याधि तो नहीं थी?

(४) जो स्रोतस दुष्ट हैं या जिसका बालक (जिस स्थान का) स्पर्श करता है उसकी प्रथम पूर्ण

परीक्षा की जानी चाहिये। फिर यदि आवश्यकता मालूम हो तो सभी स्रोतों की भी परीक्षा करें।

[२] दर्शन (Inspection)—

इसमें रोगी के अङ्गों का सिर से पैर तक सभी का, चलते, फिरते, बोलते, सोते करना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो निर्वस्त्र करके भी देखा जा सकता है। अधिक समय तक निर्वस्त्र नहीं रखें।

[३] स्पर्शन (Palpation)—

दर्शन परीक्षा के बाद हाथ से परीक्षा करनी चाहिये। स्पर्श परीक्षा प्रायः एक हाथ से तथा दोनों हाथों से भी की जा सकती है। स्पर्श के समय हाथ अधिक ठण्डा तथा गरम नहीं होना चाहिये। स्पर्श कोमलता के साथ होना चाहिये, जिससे रोगी कष्ट का अनुभव नहीं करे। उंगलियों से दबाकर परीक्षा नहीं कर सम हाथ से करनी चाहिये।

[४] अंगुली ताडन (Percussion)—

इस विधि का उल्लेख आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। यथा—‘आहतमाध्मातट्टति शद्वद्ववति’ (च. चि. १३)। तदेवोदकमाप्याप्य पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत्। गुरुदरं स्थिरं वृत्तमाहतं न च शब्दवत् (अ. ह. नि. १२)। आहत का अर्थ अंगुली ताडन है। यह विधि निम्न तत्त्व पर निर्भर करती है। ठोस (कठिन) स्थान पर ताडन करने पर प्रतिध्वनि मन्द या भदभद (Dull) होती है। रिक्तस्थान



सिद्धरोगाङ्कः

पर ताड़न करने से प्रतिध्वनि डिमडिम—ढोलवत् होती है। जल गर्भ स्थान पर आघात करने से ध्वनि मन्द होती है, परन्तु उसकी प्रतिध्वनि ठोस स्थान से कुछ भिन्न होती है। इस विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जल गर्भ और रिक्त (वायुयुक्त) स्थान का ज्ञान होता है। इस विधि में स्पर्शन और श्रवण का मिश्रण है। परन्तु अभ्यास से हाथ की ज्ञानशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बिना ताड़न शब्द के सुनने से ही हाथ को यह मालूम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान ठोस, जल गर्भ या रिक्त है।

ताड़न विधि—इसके लिये दो चीजें आवश्यक हैं। एक वह जिससे ताड़न किया जाता है और दूसरी वह जिस पर ताड़न किया जाता है। प्रथम जब इस विधि का आविष्कार हुआ तब रोगी के शरीर पर कोई भी चीज न रखकर ताड़न किया जाता था। इसे प्रत्यक्ष ताड़न कहते हैं। इस प्रत्यक्ष पद्धति से अब ताड़न नहीं होता है। केवल फुफुस परीक्षा में अक्षकों के ऊपर इस प्रकार कभी कभी ताड़न होता है। प्रायः वामहस्त की मध्यमांगुली को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखकर उस पर दक्षिण हाथ की मध्यमांगुली के सिरे से हथौड़ी की तरह प्रहार किया जाता है। प्रहार के समय केवल अंगुली और हाथ हिलाना चाहिये और प्रहार की शक्ति कलाई से आनी चाहिये। प्रत्येक स्थान पर दो या तीन प्रहार से अधिक की आवश्यकता नहीं है। यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा में बहुत उपयोगी है।

[५] श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

यह परीक्षा प्रत्यक्ष कर्ण परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है। इसके लिये एक विशेष प्रकार का नाड़ी यन्त्र व्यवहृत होता है। उसे उरः-श्रव (Stethoscope) कहते हैं। इस नाड़ी यन्त्र का उपयोग फुफुस और हृदय की परीक्षा में बहुत होता है।

रसना परीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक में रसना

परीक्षा नहीं है। रसना परीक्षा की आवश्यकता मूत्र परीक्षा में होती है। आजकल इसके लिये अनेक रासायनिक साधन उपलब्ध हैं। प्राचीनकाल में रासायनिक परीक्षाएँ न होने के कारण मूत्रादि का रस जानने के लिये पिपीलिका आदि पर निर्भर होने के लिये लिखा है।

गन्ध परीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक में भी मल मूत्र परीक्षा में अहिफेन विष, मदात्यय और माधु-मेहिका संन्यास (Diabetic Coma) में गन्ध के द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है। चिकित्सा सफलता के लिये प्रथम रोगी की सम्पूर्ण परीक्षा करना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये पाश्चात्य वैद्यक में सैकड़ों यन्त्र (यथा-स्पेक्यूलम-एक्सरे आदि) व्यवहृत होते हैं। प्राचीन काल में इन यन्त्रों की कमी थी, अतः वैद्य को केवल अपनी इन्द्रिय की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। आयुर्वेदोक्त श्रोतादि षड्विध (पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा प्रश्न) परीक्षा को भौतिक या शारीरिक कहते हैं। इस परीक्षण में यद्यपि आधुनिककाल में असंख्य यन्त्र और उपकरण सहायता करते हैं तथापि आयुर्वेद में इस इन्द्रियक परीक्षण को जो महत्व प्रदान किया है वह आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों की दृष्टि से भी उचित ही सिद्ध हुआ है।

रोगी परीक्षा में तथा रोगनिदान में ऐन्द्रियक परीक्षण और बुद्धि के द्वारा काम लेना चाहिए और उपकरणों की सहायता जहां अत्यन्त आवश्यक हो वहां पर ही लेने का अभ्यास रखना चाहिए। ऐसा श्री यादव जी ने व्याधि विज्ञान में वर्णन किया है।

आयुर्वेदीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर के आतुरालय में आबाल वृद्ध के लिए निम्न रुग्ण परीक्षा पत्रक का व्यवहार किया जाता है। यहां पर स्रोतस के अनुसार परीक्षा की जाती है, यह बिल्कुल शास्त्रीय ढंग है। रुग्णपरीक्षा पत्रक का नमूना वैसा का वैसा ही प्रस्तुत है। इससे भी रोगी परीक्षा में बहुत सहायता मिलती है—



रुग्ण परीक्षा पत्रकम्

प्रवेशित क्रमांक—

बाह्य क्रमांक—

रोगी नाम—

लिङ्ग—

वय—

व्यवसाय—

वेदना—

उत्थापनम्—

प्रकोपम्—

अग्नि—

प्रवेशित दिनांक—

निर्गम दिनांक—

रोगावधि—

निदान—

सात्म्य—

बल—

स्रोतः

लक्षणानि

अभिप्रायः

(१) प्राणवहम्—

१. हृदयं, हृदयनाडिकाश्च
२. बुद्धिर्मनश्च
३. पार्श्वद्वयम्-कुम्फुसरश्च
४. महास्रोतः ।
५. कण्ठः मुखम्
६. नासा शीर्षम् च
७. ज्ञानेन्द्रियाणि
८. कर्मेन्द्रियाणि

(२) उदकवहम्—

१. तालु
२. क्लोम
३. उदकम्

(३) अन्नवहम्—

१. अन्न नलिका
२. आमाशय (उर्ध्व)
३. आमाशय (अधः)
४. नाभिः नाभिस्तनान्तरमुदरं च
५. झर्दिः

(४) रसवहम्—

१. हृदयम् (वामम्)
२. नाडी
३. कफलसीका च

(५) रक्तवहम्—

१. यकृतं स्त्रीदा च

स्रोतस में शरीर के जो जो अङ्ग आपकी परीक्षा के आधीन हो, उसमें जो लक्षण मिलें वे इसमें लिखने चाहिये तथा वे लक्षण वातपित्त तथा कफ में जिसके हों उसका उल्लेख करना चाहिए।

इसमें वातादि का वृद्धि या कमी के जो लक्षण मिले उसके अनुसार वात वृद्धि या पित्त वृद्धि या कफ वृद्धि जो मिले लिखना चाहिये।



शिशु रोगाङ्कः

स्रोतः

लक्षणानि

अभिप्रायः

२. सिरा
 ३. रक्तम्
 ४. पित्ताशयः पित्तं च
 (६) मांसवहम्—
 १. स्नायु मांसपेशी च
 २. त्वक्
 ३. खमला
 (७-८) मेद स्वेदवहे—
 १. वृक्कौ वपावहनम् च
 २. कटि
 ३. मेदः
 ४. स्वेदः
 (९-१०) अस्थिमज्जवहे—
 १. जघनं अस्थि च
 २. केशा नखारच
 ३. सन्धय.
 ४. अक्षविट् त्वक् स्नेहः
 (११-१२-१३) शुक्रार्तव स्तन्यवहानि
 १. वृषणौ, मेढूम्, उत्थानम्
 २. शुक्रम्
 ३. गर्भाशयः अपत्यपथश्च
 ४. रजः
 ५. आर्तववाहिन्य
 ६. ओजः
 ७. स्तनौ-स्तन्यम्
 (१४) पुरीषवहम्—
 १. उगद्वकः मलाशयश्च
 २. नाभेरधस्तादुररम्
 ३. पुरीषवहम्
 (१५) मूत्रवहम्—
 १. वस्ति वंचणौ च
 २. मेढूम्
 ३. मूत्रम्

दोष—

स्रोतोदुष्टिः
 रोगनाम
 औषधम्
 पथ्यापथ्यम्

दूष्यम्—



बाल परीक्षा में सावधानियां—

बालकों में सभी प्रकार की परीक्षा करते समय निम्न बातों का ध्यान में रखना उपयोगी है—

(१) बालक के भावों का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करें तथा प्रथम केवल दर्शन परीक्षा, पुनः स्पर्शन, फिर श्रवण तथा अंगुली ताड़न परीक्षा करें।

(२) बालक बोल कर कुछ नहीं बता सकता तथा परीक्षा करते समय रुकावट भी डालता है। चिकित्सक बालक के लिए अपरिचित होता है, अतः बालक रोने लग जाता है, तथा अपने अंगों का कुछ संकोच कर लेता है अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी बालक का विश्वास प्राप्त करे। उसका परिचित बने। बालक को कुछ चीज लेमनचूस, चौकलेट, खिलौने आदि देकर उसके मन को दूसरी ओर करके परीक्षा करे।

(३) डा० हचिन्सन लिखते हैं—चिकित्सक को बालक की ओर घूर कर नहीं देखना चाहिए, अपितु हंसते हुए प्रसन्न मुद्रा में देखना चाहिए। उन्हें नग्न नहीं करना चाहिए, नग्न करने से बालक नाराज हो जाते हैं। जहां तक हो जैसे भी हो—बालक को मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(४) डा. विलफ्रिड शेल्डन ने लिखा है यदि रोगी बालक सोया हुआ हो तो उसकी जितनी परीक्षाएँ बिना जगाये हो सकें, कर लेनी चाहिए, उसकी श्वास प्रश्वास की गति तथा नाड़ी प्रतिसिन्ट कितनी है गिन लेनी चाहिए। हृदय पर धीरे से स्टेथिस्कोप रख कर हृदय गति सुन लेनी चाहिए। स्पर्श परीक्षा भी सुखोष्ण हाथ से करनी चाहिए।

(५) बालक की परीक्षा माता की गोद में लिटा कर या कंधे पर ही करनी चाहिए। शय्या पर लिटाने पर बालक रोने लगता है तथा परीक्षा में बाधा उपस्थित करता है।

(६) परीक्षा समय में यह भी अच्छी प्रकार देख लेना चाहिए कि बालक किस प्रकार के वातावरण में रहा है, उसका आवास कैसा है, उसे शुद्ध वायु, जल, तथा आहार विहार प्राप्त होते हैं या नहीं

माता स्वस्थ है या नहीं। इन सब बातों को ध्यान रखते हुए उचित स्वास्थ्यकर निर्देश करें।

(७) बालक के लिए औषधि व्यवहार करते समय काश्यप संहिता के रचयिता महर्षि काश्यप का यह आदेश पालनीय है—

न त्वेव बालस्य विशेषांहितं,
नैवाति संशोधन रक्तमोक्षये,
स्निग्धैः सुशीतैर्मधुरैरदाहिभिस्त,
ओषचारोऽशनलेपसेचनैः ॥

—काश्यप सूत्र २७। ६१।

बालक के चिकित्सा कार्य में अधिक शोषण अधिक रक्तमोक्षण तथा आवश्यकता से अधिक संशोधन करना उचित नहीं है। उसका स्निग्ध, शीतल, मधुर तथा दाह न उत्पन्न करने वाले अन्न पान, लेप तथा परिपेचन के द्वारा ही उपचार करें।

(८) उपर्युक्त औषध व्यवस्था विचार के साथ ही बालक के लिये दवा की मात्रा कितनी होनी चाहिये, किस प्रकार देनी चाहिए इस विषय में यह विचार मिलता है—

बालकों को हमेशा औषधि या द्रव या लेह रूप में देनी चाहिये। चर्महरण चूर्ण या कल्क आदि को घृत या शहद के साथ मिला कर चटाना चाहिए। गोली या वटी नहीं देनी चाहिए, माता को या धात्री को औषध देने की कल्पना भी ठीक है, इससे सेब की हुई औषधि स्तनों से दूध के साथ निकलती है अतः शीघ्र लाभ करेगी—क्योंकि बालक का जीक दुग्ध ही है। बालकों को मादक औषधि नहीं देनी चाहिये क्योंकि मादक औषधि का प्रभाव बालक पर शीघ्र होता है—

मात्रा का निर्देश 'चक्रदत्त' में इस प्रकार है—

पृथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका ।
अवलेह्यातु कर्तव्या मधुचीर सितावृतैः ॥
एकैकां वद्धयेत् तावद् यावद् संवत्सरोभवेत् ।
तदूर्ध्वं माषवद्धिः स्याद् यावदाषोडशेन्द्रिकाः ॥

प्रथम मास से में शिशु के लिए औषध की

—शेषांश पृष्ठ ६१ पर।

बाल-परीक्षा

कविराज श्री पुरुषोत्तम देव मुलतानी आयुर्वेदालंकार



बाल-परीक्षा अन्यों (किशोर, तरुण व वृद्ध) की परीक्षा से कठिन है। यह कठिनाइयां दो प्रकार की हैं। (१) एक तो यह कि बच्चे अपने भावों को प्रकट नहीं कर सकते। जब तक रोगी अपना इतिवृत्त स्वयं न दे, तो निदान में कठिनाई मालूम होती है। इस समस्या का हल कुछ हद तक इस प्रकार हो जाता है कि उसके माता-पिता व संरक्षक से पूछ लिया जाता है। (२) दूसरी कठिनाई यह है कि जब आप बच्चे की परीक्षा करते हैं तो इसीसे बच्चे में विरोध का भाव आजाता है। बच्चे का विश्वासपात्र बनना बड़ा कठिन है। इसीलिये बाल-रोग विशेषज्ञ के लिए बच्चे के दिल को हर लेना आवश्यक है क्योंकि बच्चे एक ही की चिकित्सा करना पसन्द करते हैं।

यह परीक्षा दो प्रकार की है। (१) प्रश्नोत्तर (२) शारीर परीक्षा।

प्रश्नोत्तर (Case-taking) —

जब बच्चा बीमार होकर आये तो बच्चे से बातें तो आप क्या करेंगे, उसके संरक्षक से आप बातें करिये। यह बातें करने का समय बहुत आवश्यक है क्योंकि जब आप बच्चे के संरक्षक से बात कर रहे होते हैं तो बच्चा समझता है कि यह चिकित्सक अपना आदमी है। इस समय बच्चे की ओर कभी सीधा न देखिये। क्योंकि इससे बच्चा बड़ी जल्दी डर जाता है। बच्चे की ओर बिना देखे ही उसे अपनी ओर आकर्षित करने का यत्न कीजिये। इसके लिए आप उसे कोई आकर्षक चीज उसे दे सकते हैं। उसको अपनी ओर कभी मत खींचिए। जब वह स्वयं आपकी ओर खिंच के आए तो उसके सिर पर हाथ फेरिए और स्वयं दूसरी ओर देखिए। जब वह स्वयं आपके घुटने के पास आलगे अथवा आपकी चीज लेले तब आप चुपके से उसे गोदी में बिठा लें। यदि वह बैठ जाता है तो आप समझ लें कि आप उसके विश्वासपात्र बन गये हैं।

अब बच्चे के संरक्षक या माता-पिता से प्रश्नोत्तर कीजिये।

(क) पहले बच्चे का पूर्व इतिवृत्त (*Indirect History*) लीजिए। पूर्ववृत्त उससे जीवनकाल से ही नहीं अपितु उससे भी पहिले का पूछना पड़ता है। उसकी मां के पहिले कितने बच्चे हुये? कितने मरे? किस कारण से? इसका उद्देश्य है कि वंश में कोई ऐसा रोग तो नहीं जो पैरुक्त हो तथा इस बच्चे में आगया हो। इसके साथ ही घर की अवस्था (खाना, पीना, तथा आर्थिक अवस्था) कैसी है इसका भी प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। “बाल-शोष” इसका एक उदाहरण है। यह रोग खाद्योज के अभावसे होता है। जब यह बच्चा पैदा हुआ था या यह बच्चा गर्भ में था तो उस समय जननी का स्वास्थ्य कैसा था? गर्भावस्था में जननी का स्वास्थ्य खराब होने से बच्चे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जननी को कोई गर्भपात तो नहीं हुआ? यदि हुआ है तो यह उपदंशजन्य भी हो सकता है।

(ख) बच्चे का पूर्ववृत्त (*Direct History*)— बच्चा पैदा होने के बाद से उसे गाय का, बकरी का, जननी का या धाय का दूध दिया गया है? जिन बच्चों ने अपनी जननी का दूध पिया है वह अधिक बुद्धिमान होते हैं। इसके विपरीत जो डिब्बे का दूध पीते हैं वह अधिक चतुर नहीं होते। यदि जननी ने अधिक समय तक दूध पिलाया हो तो जननी का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। एक वर्ष तक जननी का दूध पुष्टिकर होता है। उसके बाद खाद्योजरहित एवं गाढ़ा होना शुरू हो जाता है। जब बच्चे ने दूध पीना छोड़ दिया, फिर उसको खाने के लिये क्या दिया गया? बच्चे के दांत कब निकले? बच्चे ने चलना कब शुरू किया? इससे उसकी अस्थियां निर्बल हैं या स्वस्थ हैं मालूम



होता है। इससे अस्थिमार्दव रोग की सूचना मिलेगी। बच्चे के सोते समय घुर घुर की आवाज तो नहीं आती? यदि उसके गले बड़े होंगे तो श्वास सघोष होगा। बच्चे की पाचन शक्ति साधारणतया कैसी है? उसे आंव या दस्त तो नहीं आते? बाल्यावस्था में कोई विशेष रोग तो नहीं हुए जैसे अपस्मार, वमन, खांसी और गलशुण्डी शोथ आदि? कोई संक्रामक रोग तो नहीं हुआ जैसे चेचक, मसूरिका आदि? कानों से पूय तो नहीं आती? संचेप में पूर्व इतिवृत्त के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछे जाते हैं।

अब वर्तमान रोग के सम्बन्ध में प्रश्न पूछिए। रोग कब आरम्भ हुआ, क्या-क्या लक्षण थे? क्या चिकित्सा की गई? उसका परिणाम क्या रहा?

शारीर परीक्षा (Physical Examination)

यह चार प्रकार की है। (क) निरीक्षण (ख) स्पर्शन (ग) श्रवण (घ) और टकोर।

निरीक्षण घूर कर नहीं करना चाहिए। आप कनखियों से उसे देखते रहें। इसमें दो-तीन निम्न बातों का विशेष ध्यान रखिये—

(१) बच्चे की चेष्टायें—स्वस्थावस्था में बच्चा कभी टिककर नहीं बैठेगा और वह कुछ प्रसन्न सा रहता है। परन्तु यदि बच्चा बहुत बेचैन है, जरा जरा सी बात पर कुढ़ता है अथवा इसके विपरीत बच्चा बिलकुल भावरहित शांत है यहां तक कि और बच्चों के साथ खेलना भी नहीं चाहता तो यह रोग के लक्षण हैं।

(२) बच्चे के हावभाव कैसे हैं? इसमें कई बातें आवश्यक हैं। एक तो बच्चे के चेहरे से वेदना का पता चलता है। बच्चे के निचले धड़ में यदि दर्द है तो माथे पर बल पड़ना शुरू हो जाते हैं। शिरोवेदना है तो चेहरे के निचले भाग में बल पड़ जाते हैं। तीव्र ज्वर में बच्चे का चेहरा लाल और *Collapse* की अवस्था में चेहरे का रंग बिलकुल फीका पड़ जाता है। यदि ओष्ठ और कान नीले

पड़ जायें तो इस बात का सूचक है कि श्वास क्रिया ठीक नहीं हो रही और यह अधिकतर श्वसनक सन्निपात (*Pneumonia*) का चिन्ह है। यदि बच्चे को नासिका बहुत फैलानी पड़े तो यह भी श्वसनक सन्निपात का चिन्ह है। इसी प्रकार आमाशय व आंतों के चिरस्थायी रोगों में चेहरे का रंग मटियाला, आंखें व गालें अन्दर को धंस जाती हैं।

(३) शरीर के जो भिन्न भिन्न भाग हैं उनके माप का आपस में क्या अनुपात है। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि बच्चों में बड़ों से अनुपात भिन्न होता है। सिर और धड़ के अनुपात में भी भेद होता है। स्वस्थावस्था में बड़ों में छाती बड़ी, पेट छोटा, बच्चों में सिर छोटा, पेट बड़ा और छाती छोटी होगी क्योंकि उनका यकृत आकार में बड़ा होता है। छाती बड़ों में अंडाकार और बच्चों में गोल होती है। इसमें कई विकार आ सकते हैं—

उदाहरणार्थ जैसे सिर बहुत ही बड़ा हो जाये। इस अवस्था में सिर के अन्दर जो द्रव है उसकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि कपालास्थि मृदु होने के कारण फैल जाती है। इससे वातिक तन्तु पतले होकर फैल जाते हैं जिससे बच्चा बुद्धिहीन होता है। द्रव का दबाव सिर में बहुत बढ़ जाता है जिससे कपालास्थि में जो भ्रिल्लियां हैं वह आगे को निकल आती हैं। यहां तक कि नेत्र भी जरा बड़े-बड़े बाहर को निकले हुए दिखाई देते हैं। इसके विरुद्ध दूसरी अवस्था वह है कि जिसमें सिर बहुत छोटा होता है। प्रायः पागल बच्चों में यह रोग होता है। तीसरी अवस्था ऐसी हो सकती है कि सिर आगे पीछे से लम्बा और पार्श्व में चपटा हो। अस्थि-मार्दव रोग में पार्श्व दब जाता है और अप्रपश्चिम भाग बढ़ जाता है। उपदंश रोग में भी कपालास्थि में उभार उत्पन्न हो सकते हैं।

(४) बच्चे की गति विधि देखना भी आवश्यक है। यदि वह हाथ पांव नहीं हिला सकता तो हो सकता है उसे पक्षाघात हो। उसके हाथ पांव अनि-



शिशु रोगाङ्क

यमित तौर पर गतिमान रहते हैं तो यह भी बात रोग का चिन्ह है। लेकिन कई बच्चों में अनियमित सिकुड़न की आदत भी हो सकती है। इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। यह भी संभव है कि बच्चा टांगों को बिलकुल स्थिर रखे और पैर के साथ टांगों को लगा रखे। यह अवस्था उदरशूल का भी चिन्ह हो सकती है।

यह विशेष बातें बच्चों में देखनी आवश्यक होती हैं।

(ख) स्पर्शन (Palpation) —

बच्चे को कोमलता से स्पर्श करें। आपका हाथ नर्म एवं ऋतु के अनुसार गर्म या ठंडा होना चाहिए ताकि रोगी में विरोध का भाव पैदा न होकर चिकित्सा के प्रति विश्वास हो जाये। इसमें कई बातें अनुभव करनी होती हैं जो बच्चों में विशेष रूप से पाई जाती हैं—

जिस समय बच्चे के सिर पर हाथ फेरें तो कपालास्थियों का और अन्तरों में भिन्नियों का स्पर्शन बारीकी से करें क्योंकि इससे कपाल के अन्दर की भिन्नियों के दबाव का पता चलता है। यह भिन्नियाँ पन्द्रहवें महीने से छोटी हो जानी चाहिए और दूसरे वर्ष में (साधारणतया १८ महीने तक) बिलकुल लुप्त हो जानी चाहिए। यदि यह दो वर्ष के पीछे तक बनी रहती है तो इसका अर्थ यह है कि अस्थियाँ निर्बल हैं और उनका पोषण ठीक नहीं हो रहा है और अन्तर बना रहा तो यह 'अस्थि मार्दव' रोग का चिन्ह है। कभी-कभी पन्द्रह मास की आयु के पहले ही बन्द हो जाती हैं यह भी रोग का चिन्ह है अर्थात् मस्तिष्क की वृद्धि रुक गई है इसलिये अस्थियाँ जल्दी जुड़ गई हैं। अब इस अन्तर पर उंगली रखने से यदि भिन्नियाँ अस्थियों के समतल है तो तनाव ठीक होगा, यदि अन्दर को दबी हुई हैं तो दबाव कम होगा। यदि भिन्नियाँ बाहर हो तो रक्ताधिक्य के कारण हो सकती है।

नाड़ी परीक्षा—दो कारणों से देखनी कठिना

होती है। क्योंकि एक तो नाड़ी बहुत छोटी होती है। ऐसी अवस्था में कपालास्थि पर हाथ रखकर नाड़ी का अनुभव किया जाता है क्योंकि इसमें धमन क्रिया हृदय की गति के अनुसार ही होती है।

दूसरी कठिनाई यह है कि बच्चे का हाथ पकड़ते समय वह डर जाता है। इसके लिए सुगम उपाय यह है कि बच्चे के संरक्षक उसका हाथ पकड़ लें और आप संरक्षक के हाथ के ऊपर से अपना हाथ ले जाकर बच्चे की नाड़ी देख लें। वैसे श्रवण यन्त्र से हृदय परीक्षा करें तो भी नाड़ी का पता चल जाता है। बच्चों की नाड़ी की गति बड़ों की अपेक्षा बहुत तेज होती है।

जन्म पर नाड़ी गति १४० से १३० तक रहती है।

प्रथम वर्ष १२० से १०० तक रहती है।

द्वितीय वर्ष ११० रहती है।

पंचम वर्ष १०० रहती है।

अष्टम वर्ष ६० रहती है।

दशम वर्ष ८० (लड़के) ६० (लड़कियों में)

इस प्रकार बच्चों की नाड़ी गति की संख्या बड़ों से अधिक तेज होती है।

दूसरी बात है नाड़ी और तापमान का अनुपात। साधारणतया १ डिग्री तापमान बढ़ने पर ८ या १० नाड़ी की संख्या बढ़ जाती है। बच्चों में यह अनुपात नाड़ी गति संख्या में ४ का अन्तर पड़ता है। बच्चों की नाड़ी की मन्द गति चिकित्सक के लिये सावधानी का विषय होती है।

तापमान (T. mperature)—तापमान का अनुभव स्पर्श तथा थर्मामीटर से होता है। बच्चों में इसका लगाना सुगम नहीं है। इसलिये मुख की अपेक्षा गुदा में लगाते हैं। गुदा का तापमान मुख की अपेक्षा आधा डिग्री अधिक होता है। गुदा में न लगाकर कक्ष और वक्ष में भी लगा सकते हैं। लेकिन यहां का तापमान साधारण तापमान से आधा डिग्री कम होता है। परन्तु त्वचा का तापमान कभी बहुत कम भी हो सकता है। इसीलिये



गुदा में लगाना अधिक उचित है।

बच्चों का तापमान स्थिर नहीं रहता। जरा सी उत्तेजना से, ज्यादा चलने से, कब्ज व अजीर्ण से बढ़ सकता है। यह स्मरणीय है कि बच्चों में तापमान का बढ़ना अस्थिर है। यदि यह वृद्धि स्थिर रहती है तो यह रोग का सूचक है। साधारण तापमान से कम तापमान बच्चों में चिन्ताजनक अवस्था का सूचक है।

सामान्य शारीरिक अवस्था—इसमें मुख्य बात अस्थियों की अवस्था अनुभव करनी है। अस्थियों में कोई विशेष उभार या स्पर्शान्धता तो नहीं है। यह दोनों लक्षण उपदंश और आमवात रोग के सूचक हैं।

पेट का स्पर्शन—बड़ी कोमलता से करना चाहिये। इसके दो कारण हैं—एक तो कठोरतापूर्वक देखने से बच्चा पेट नहीं दिखायेगा। दूसरा उसका वात-संस्थान बड़ा अस्थिर सा होता है। जरा सा अधिक दबाने से पेट कठोर हो जाता है जिससे अंदर के अङ्गों का अनुभव कठिन हो जाता है। इसलिये पेट पर पहले हथेली रखें फिर अंगुलियों को धीरे धीरे दबाकर अंगों का स्पर्शन करें।

(ग) श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

बच्चों के श्रवण परीक्षा के दो भेद किये जा सकते हैं। (१) श्रवण यन्त्र द्वारा (२) श्रवण यन्त्र के बिना।

इसमें कई प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। साधारणतया सघोष नहीं होनी चाहिये। लेकिन श्वास मार्ग में अवरोध होने पर श्वास सघोष हो जाता है। नासिका में अवरोध हो तो आनुनासिक शब्द सुनाई देगा। गले के यदि गलशुण्डी अधिक बढ़ जायें तो श्वास के लिये मार्ग छोटा होगा जिससे श्वास सघोष होता है। स्वरयन्त्र में अवरोध होने से यह शब्द लुप्त हो जाता है यहां तक कि आदमी बोल भी नहीं सकता या फिर अन्तः श्वास का ही शब्द सुनाई देता है। कईयों में सांय-सांय का शब्द सुनाई देता है। जो श्वास-शुष्क कास हो तो उसका शब्द थोड़े समय

के लिए होता है लेकिन बेग में होता है। यदि खांसी हो तो खांसी आती है और बलगम एकत्र बाहर निकल जाती है। भिन्न भिन्न रोगों में इस अंतर होता है।

शैशव काल की हिचकी अच्छी समझी जाती है। बड़ी आयु में हिचकी रोग का रूप धारण कर लेती है।

स्वर यंत्र का रोग होने पर रोगी का स्वर नहीं निकलता। वात रोग हो तो बच्चा बोलता नहीं। यदि बच्चा बोल सकता है तो स्वस्थावस्था में उनका स्वर साफ होना चाहिए। यदि स्वर स्पष्ट नहीं है तो उसके कई कारण हैं—तुतलाना या श्वास प्रणाली में अवरोध इसके मुख्य कारण हैं।

बच्चों का रुदन स्वाभाविक है। स्वस्थावस्था में यह रुदन स्पष्ट और बलवान होता है। रुग्णावस्था के कई रूप हैं। डर से भी रोता है। यदि बच्चा क्रोधी है तो भी रोता है। उसके मनोभावों को ठेस लगाई जाए तो वह बड़बड़ाता है। कई बार रोते समय बच्चा दोहरा हो जाता है। उदरशूल के कारण कराहते समय उसकी टांगें पेट पर मुक्त जाती हैं। कर्णशूल से भी रोता है। तब वह कान को छूने नहीं देता और कान की ओर हाथ ले जाता है। मस्तिष्कावरण शोथ में बच्चा इतनी तीव्रता से रोता है कि यदि आप कमरे में हैं तो आप वहां खड़े भी नहीं रह सकते। बच्चा सिर पीछे की ओर दबाने की कोशिश करता है और सारा शरीर तीव्र तनाव की अवस्था में होता है। दांतों के कारण भी बच्चा रोता है।

श्रवण यंत्र द्वारा श्रवण परीक्षा—बच्चे को लिटा कर श्रवण परीक्षा करना अच्छा है। अन्यथा यदि जननी अपने बच्चे को अपने कंधे से लगा ले तो पीठ पर श्रवण यंत्र द्वारा आप सुन सकते हैं। यदि बच्चा रो रहा है तो फेफड़े के शब्द सुनने में विशेष ध्यान देना होगा। बच्चों के श्रवण में बड़ों से कुछ थोड़ा अन्तर होता है। पहला भेद यह है कि बड़ों में श्वास क्रिया का



शिशु रोगाङ्क

क्रम पहले अंतः श्वास, फिर बहिःश्वास, फिर अन्तर आता है। बच्चों में यह क्रम है कि पहले छोटा बहिःश्वास, फिर लम्बा अन्तःश्वास और फिर अन्तर आता है। बड़ों में यह क्रम रोग का सूचक होता है लेकिन बच्चों में यह स्वाभाविक क्रम होता है। दूसरा भेद यह है कि बीच में जो अन्तर है वह बहुत लम्बा हो जाता है। इतना लम्बा कि हम भयभीत हो जाते हैं। तीसरा भेद यह है कि बड़ों में श्वास शब्द जो *vesicular* है यह मृदु होता है। परन्तु बच्चों में यह कठोर होता है। चौथा बच्चे की वक्ष की दीवार पतली होती है इसलिए श्वास शब्द एक ओर से दूसरी ओर फैलता है जिससे सारे फेफड़े का आक्रांत होने का भ्रम होता है। इसलिए बच्चों के फेफड़ों के शब्द सुनने में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए। पांचवां बच्चे का फेफड़ा बहुत जल्दी फैल जाता है और सिकुड़ जाता है। अर्थात् इसका *Collapse* हो सकता है। लेकिन यह अवस्था स्वाभाविक है जबकि बड़ों में यही *Collapse* रुग्णावस्था की निशानी है।

बच्चों के हृदय के शब्द—केवल भेद ही वर्णन करेंगे। पहला भेद यह है कि बड़ों में प्रथम शब्द की अपेक्षा दूसरा शब्द कुछ छोटा होता है। प्रथम शब्द हृदय की मांस-पेशियों के बलवान होने का सूचक है। बड़ों में साधारणतया रक्तचाप बढ़ता जाता है। द्वितीय शब्द बलवान होता है इसलिए बच्चों में प्रथम शब्द द्वितीय की अपेक्षा उच्च होता है। बच्चों की रक्त बाहिनियां शरीर के अनुपात से बड़ों से बड़ी होती है इसलिए उनका रक्तचाप उच्च नहीं होता।

दूसरा भेद यह है कि बड़ों में हृदय का द्वितीय शब्द फुफ्फुसीय से उच्च होता है। परन्तु बच्चों में इससे विपरीत अर्थात् फुफ्फुसीय द्वितीय शब्द हृदय के द्वितीय शब्द से उच्च होता है। तीसरा भेद यह है बड़ों में हृत् कार्य—चक्र नियमित होता है लेकिन बच्चों में हृदय का कार्य अनियमित हो

सकता है। चौथा भेद यह है कि बच्चों में हृदय के अन्दर के आवरण की शोथ प्रायः नहीं होती इसलिए *Organic murmur* यदि सुनाई दे तो बच्चे में हृदय का पैतृक रोग है।

(घ) टकोर परीक्षा (Percussion)

पहला भेद यह है कि बच्चों की वक्ष की दीवार पतली होती है इसलिए बहुत जोर से नहीं टकोरना चाहिए। दूसरा भेद यह है कि क्योंकि वक्ष पतली होती है इसलिए टकोर का शब्द टूटे बर्तन की तरह होता है। यह शब्द बड़ों में रोग का चिन्ह होता है लेकिन बच्चों में स्वाभाविक। तीसरा भेद यह है कि बच्चों में *Sternum* के ऊपर के भाग में टकोरें तो शब्द मंद होता है बड़ों में नहीं।

वाल परीक्षा की विशेष विधियां

वात संस्थान—बच्चों में बड़ों की तरह पक्षाघात हो सकता है। इसकी जांच के नियम वही हैं जो बड़ों के हैं। कठिनाई यह होती है कि रोगी से कुछ पूछ नहीं सकते। इसीलिये हमें अपने निरीक्षण पर आश्रित रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह याद रखिये कि यदि बच्चा टांग नहीं हिलाता तो बच्चे के तलुवे को खुजाइये, यदि बच्चा कुछ टांग हिलाता है तो यह पक्षाघात नहीं। बच्चे का जानु निक्षेप (Knee Jerk) इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता जितना बड़ों में। बच्चों में यह भी विचित्रता है कि जब तलुवा खुजायें तो पैर की अंगुलियां न जुड़कर शुरू से ही फैल जाती हैं। बड़ों में यह क्रिया रुग्णावस्था में होती है, जबकि बच्चों में स्वस्थावस्था में।

बुद्धि परीक्षा—शैशवकाल में बुद्धि की परीक्षा नहीं हो सकती। क्योंकि बच्चा बोल नहीं सकता। परन्तु हम यह पता कर सकते हैं कि वात संस्थान सामान्यतौर पर निर्बल है या स्वस्थ। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि बच्चा बुद्धिमान है या साधारण बुद्धि का। यदि शिशु अपने सिर के बोक को न संभाल सके अर्थात् गर्दन सीधी न



कर सके और उसका सिर छाती पर गिर पड़ता हो, बिना कारण के रोता रहे, समीप की चमकीली वस्तुओं को भी न देखे, उसके हाथ में कोई चीज पकड़ाये तो पकड़ने का यत्न न करे तो समझलें कि यह बच्चा बुद्ध है।

नेत्र परीक्षा—इसमें मुख्य बात यह देखनी होती है कि बच्चा देखता है या नहीं। इसके लिये उसके नेत्र के सामने जलती मोमबत्ती लायें और यह देखें कि आप जिधर जिधर बत्ती घुमाते हैं उधर उधर बच्चे के नेत्र घूमते हैं या नहीं? यदि मोमबत्ती हिलने पर भी बच्चे के नेत्र गति न करें तो यह सम्भव है कि बच्चे की दृष्टि मन्द है। अथवा अपनी अंगुली उसके नेत्र के पास ले जाने पर देखें कि वह नेत्र बन्द करता है या नहीं। यदि नहीं करता तो समझें कि वह नहीं देख पाता।

कर्ण परीक्षा—इसमें केवल एक ही बात है कि बड़ों में कान की बाह्य प्रणाली ऊपर की ओर और पीछे की ओर वक्र होती है। इसलिये कान का परदा देखने के लिये कान को आप दो दिशाओं में खींचते हैं। परन्तु बच्चों में टेढ़ापन केवल पीछे की ओर है, इसीलिये कान देखने के लिये पीछे की ओर खींचना चाहिये अन्यथा परदा नहीं दिखाई देगा।

मुख परीक्षा—इसमें बच्चे के दांत और जिह्वा की श्लेष्मकला देखनी होती है। इसके लिये बच्चे की धीमे से नाक पकड़ें तो वह श्वास लेने के लिये मुख खोलेंगा। इस समय इसके दांतों के बीच कपास या कार्क रख दें और नाक से हाथ हटालें। कार्क गले तक न जाये इसके लिये उसे धागे से पहले बांध दें। या उसकी दोनों गालें अन्दर को दबायें। जब उसकी गाल दबेगी तो वह दांत बाहर निकलेगा। जिह्वा देखने के लिये बच्चे के निचले ओष्ठ पर शहद की बूंद डालें। बच्चा उसको बाहर निकालने का यत्न करेगा और तब आप उसका मुख देख सकेंगे।

मुख खुलने पर जो बातें बड़ों में देखी जाती हैं वही बच्चों में। जिह्वा का रूप रङ्ग देखकर विभिन्न रोगों के होने की सूचना मिलती है। कुछ बच्चों में मुख की श्लेष्मकला में कोठ निकल आते हैं और कई ज्वर ऐसे होते हैं कि जिनके कोठ निकलने की सूचना मुख से मिलती है। जैसे मुख में लाल लाल दानों के रूप में मिलती है और प्रत्येक दाने के केन्द्र में एक छोटा सा नीला बिन्दु होता है। यह बिन्दु कोठ निकलने से एक दो दिन पहले निकलते हैं। यह चिन्ह देखकर कह सकते हैं कि बच्चे को खसरा होने वाला है। खसरा होने से पहले ही बच्चे को दूसरे बच्चों से पृथक् रखा जा सकता है। इस कोठ के अतिरिक्त बच्चों में मुखपाक होकर प्रण भी हो सकते हैं। उनसे उनका भेद करना चाहिये।

मुख परीक्षा के साथ साथ दन्त परीक्षा कई दृष्टियों से आवश्यक है। एक तो हम यह देखते हैं कि दांतों की अवस्था कैसी है? और दूसरे दांतों को देखकर हम उनकी आयु का पता कर लेते हैं।

गल परीक्षा—यह मुख से भी अधिक कठिन है। इसके लिये बच्चे की जननी शिशु को गोद में लेकर उसकी टांगों को अपनी टांगों में डालकर बैठ जाती हैं। उसके सिर को एक हाथ से पकड़ कर चिकित्सक बांये हाथ से उसके दोनों हाथों को पकड़ लेता है और फिर उसका सिर थाम लिया जाता है जिससे उसका मुख हमारी ओर हो जाता है। अब मुख खोलकर दांतों में धागे युक्त कार्क रखकर आप शुष्क तौलिये से जिह्वा को पकड़कर बाहर खींच लीजिये और Head mirror द्वारा प्रकाश डालकर बच्चे का गला देखिये। गले की परीक्षा में यह देखना है कि बच्चे की गलशुंडी (Tonsils) छोटे हैं या बड़े हो गये हैं। दूसरा उनके अन्दर से स्राव निकलता है या नहीं।

—कवि. श्री पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदलंकार
बाल-बिहार, बरकतपुरा, हैदराबाद (दक्षिण)



बालकों में रोग परीक्षा विधि

श्री अखिलेश्वरप्रसाद शर्मा आयुर्वेद शास्त्री



यहां हम नादान एवं मुंह से कह कर न बता सकने वाले छोटे बालकों के भीतरी रोगों के पहचानने की कुछ तरकीबें लिखते हैं—

(१) बालक के कम या अधिक रोने से तकलीफ की कमी या अधिकता समझनी चाहिए। अगर बालक कम रोवे या धीरे धीरे रोवे तो तकलीफ कम समझनी चाहिए। अगर अधिक रोवे और जोर जोर से रोवे तो अधिक पीड़ा समझनी चाहिए।

(२) बालक के जिस अंग प्रत्यंग में पीड़ा होती है उसे वह बराबर छूता है। अगर कोई दूसरा आदमी उसके पीड़ित स्थान को स्पर्श करता है तो बालक चीख उठता है।

(३) अगर बालक हर समय रोता ही रोता हो तो उसके सब शरीर में रोग समझना चाहिये।

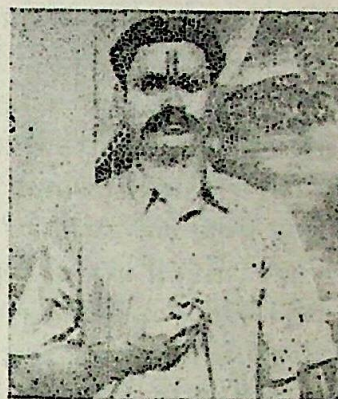
(४) अगर बालक के सिर में दर्द होता है तो वह अपनी आंखें बंद रखता है। इसके सिवा वह अपने मस्तक को खड़ा नहीं रखता। गर्दन को गिराये रखता है। तथा सिर को धुनता है और टकराता भी है। सिर में दर्द होने से सिर का चमड़ा सिकुड़ जाता है। बालक बार बार सिर में हाथ लगाता और कान खींचता है।

(५) अगर बालक के मूत्राशय में पीड़ा होती है तो बालक पेशाब रुकने से दुःखी रहता है और खाता पीता नहीं।

(६) अगर बालक के मल और मूत्र दोनों रुक गये हों, शरीर का रंग बिगड़ गया हो, बमन हो, अफरा हो तथा आंतें गुड़ गुड़ करें तो उसके पेट में तकलीफ जाननी चाहिए।

(७) अगर बालक का पाखाना पेशाब बन्द हो तथा वह उद्वेग से दिशाओं को तो देखे उसकी वस्ति (पेड़) और गुदा में पीड़ा समझनी चाहिए।

(८) अगर बालक अपने होठ और जीभ को डसे तथा मुठियों को भींचे, तो उसके हृदय में



पीड़ा समझनी चाहिए।

(९) अगर बालक को प्यास अधिक लगे, पेशाब न हो और मूच्छा हो तो बालक के पेड़ में दर्द समझना चाहिये।

(१०) अगर तन्दुरुस्त बालक रह रह कर बार बार रो उठे तो उसके पेट में दर्द समझना चाहिए।

(११) अगर दूध पीने वाले बालक को प्यास लगती है तो अपनी जीभ बाहर निकालता है।

(१२) अगर बालक को जुकाम हो जाता है, उसकी नाक बन्द हो जाती है, तो वह मुंह से सांस लेने के लिये बार बार स्तन को छोड़ देता है और सांस लेकर फिर दूध पीने लगता है।

(१३) अगर सांस लेते समय बालक की नाक का छेद (nostril) बड़ा जाय और नाक हिले, तो समझना चाहिए कि बालक को सांस लेने में बड़ा कष्ट हो रहा है और उसको खांसी से बड़ी तकलीफ है।

(१४) अगर बालक के ज्वर की परीक्षा करनी हो तो थर्मामीटर लगाना चाहिए। क्योंकि बालक की नाड़ी स्वभाव से ही तेज चला करती है इसलिए धोखा होने का डर रहता है। जो अनुभवी वैद्य होते हैं, वे धोका नहीं खाते, पर नव शिक्षित धोका खा सकते हैं। थर्मामीटर से धोखा होने की संभावना नहीं।

—शेषांश पृष्ठ ६७ पर।

बालक से साक्षात्कार—एक दृष्टि में.....

डा० भाटी (जी. आर.) एस. टी. डी. सी एच.; टी. डी. आर. एस. (लंदन)

अगर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो बालरोग विशेषज्ञ के लिए वह बड़े महत्व का समय है जब कि उसका एवं बालक का प्रथम मिलन होता है। चिकित्सक स्वयं इस बात का अनुमान लगा सकता है कि एक सुकुमार बालक के सामने एक अजनबी आगन्तुक के एकदम उपस्थित होने पर बालक पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? यही वह समय है या अन्य शब्दों में यही वह प्रथम मिलन है जिसका प्रभाव लगभग रोगी बालक पर उसके पूर्ण चिकित्सा काल में बराबर बना रहता है।

कदाचित् रोगी बालक चिकित्सक के प्रथम साक्षात्कार पर उसके प्रति डरावने विचार बना बैठा तो यह निश्चित सा है कि वह अपनी प्रारम्भिक जांच-पड़ताल सुचारु रूप से न होने देगा और इसका प्रभाव रोग निदान पर पड़े बिना नहीं रहेगा। इसको हम चिकित्सक की पूर्ण असफलता तो नहीं कह सकते परन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि कम से कम आरम्भ ठीक नहीं हुआ।

अंग्रेजी की वह कहावत जिसमें 'Well begun is half done' वाली युक्ति चरितार्थ है, उपरोक्त घटना के विपरीत सिद्ध होगी।

प्रत्येक बालरोग-विशेषज्ञ जिसने कि अपने विषय की आवश्यक शिक्षा दीक्षा अपने जीवन काल के अमूल्य समय, स्वास्थ्य एवं धन खर्च करने के पश्चात् प्राप्त की है। यह बात अच्छी तरह समझता है कि उसका रोगी एक सुकुमार प्राणी है और उनका प्रथम साक्षात्कार उसकी चिकित्सा की सफलता का सबसे आवश्यक स्तम्भ है। अगर यह स्तम्भ हिला तो यह समझ लेना नितान्त आवश्यक होगा कि प्रारम्भ प्रेरणादायक एवं उत्साहवर्धक नहीं रहा।

संसार का सम्पूर्ण ज्ञान आद्योपान्त न तो पुस्तकों में है न ही उसका लिपिबद्ध करना सहज और सरल कार्य है। फिर चिकित्सा ज्ञान प्राप्त

करने की कुछ पुस्तकें कैसे चिकित्सक को पल पल की बात लिखा व समझा सकती हैं। आग्निर अपने अध्ययन के ५-७ वर्षों में एक चिकित्सक कितना पढ़ सकता है, कितना अनुभव कर सकता है? तात्पर्य यह है कि उसका कुछ वर्षों का किताबी ज्ञान अभी पूर्ण पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान तो नहीं है। मुख्य शिक्षा तो उसको मिलती है अपने चिकित्साकाल के दौरान में और वह भी पग पग पर। अगर अत्यन्त सावधानी से चिकित्सक अपने अमूल्य अनुभवों को हृदयङ्गम करता रहे तो कोई कारण नहीं कि वह एक सफल चिकित्सक नहीं हो सकता।

किताबी ज्ञान के अलावा चिकित्सक को बालरोगी की चिकित्सा में बड़ी सावधानीपूर्वक अपने उन अनुभवों का प्रयोग करना चाहिये जिनसे कि रोगी को चिकित्सक के प्रति डर का आभास तक न हो और वह चिकित्सक के कार्यों में प्रेमपूर्वक सहयोग प्रदान करने को उद्यत हो जाय। बच्चे का भयभीत न होना एवं चिकित्सक को उसकी कार्य प्रणाली में सहयोग देना चिकित्सा के लिये अत्यन्त उत्तम अवसर है। उसको इससे लाभ उठाकर बाल रोगी की चिकित्सा में कोई कसर शेष नहीं रखनी चाहिए।

उपरोक्त सफलता प्राप्त करने में जबकि एक तरफ चिकित्सक का अत्यन्त चतुर एवं प्रसन्न मुख वाला होना आवश्यक है, दूसरी तरफ उसके आस पास का वातावरण भी उतना ही मधुर होना नितान्त आवश्यक है। अगर चिकित्सक कुशल एवं प्रसन्न चित्त होते हुए भी वातावरण बालरोग के अनुकूल न हुआ तो बच्चे का किसी भी समय बिगड़ जाना आवश्यक है। यही बात पुनः घटित होती है, वातावरण के केवल अनुकूल होने, परन्तु चिकित्सक के अकुशल एवं बिगड़ी मुद्रा के होने पर।



अगर रोगी को लेकर अभिभावक चिकित्सालय में आवे तो यह आवश्यक होगा कि जिस कमरे में बच्चे की परीक्षा की जाय वह बालोपयोगी सामग्री से ठीक सजा हो तथा वहां कोई रोगी रोता चिल्लाता न सुनाई दे, न दीखे। बच्चे का मन ऐसी स्थिति में बहलने लग जाता है और चिकित्सक के लिये अच्छा मार्ग प्रशस्त हो जाता है पर यह सब काफी नहीं है। अभिभावक के सम्पूर्ण सहयोग के बावजूद चिकित्सक को रोगी को बहलाने के लिए कुछ और करना होता है जिससे कि बच्चे पर चिकित्सक की उपस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

यह एक आसान परन्तु सोचने समझने की बात है कि बच्चे को भिन्न बनाने के लिए कौन सा कार्य उसकी इच्छा के अनुकूल तुरन्त किया जाय ? भिन्न भिन्न स्थान और आयु के बालक भिन्न भिन्न प्रकृति रखते हैं और उनको बहलाये रखने के लिये चिकित्सक को तुरन्त अपनी सूझ बूझ का परिचय देना पड़ता है। खिलौने, खाद्य पदार्थ, वाक्पटुता एवं अनुकूल अभिनय उन साधनों में से कुछ हैं। इनका उपयोग परिस्थिति के अनुसार करना चिकित्सक का परम कर्तव्य है।

रोगी के घर जाने पर भी चिकित्सक को पूर्ण सावधानीपूर्वक परिस्थिति का अवलोकन कर संभव व्यवस्था करने के लिए उसके अभिभावकों का सहयोग मांगना चाहिए ताकि बच्चे चिकित्सक से ठीक प्रकार से अपनी जांच करवा सकें और ठीक परीक्षा के उपरान्त ठीक चिकित्सा प्रारम्भ की जा सके। चिकित्सा के पूर्व, मध्य और पश्चात् कर्म के दौरान में उपस्थित लोगों से चिकित्सक का मधुर व्यवहार होना आवश्यक है। कारण बच्चे पर उन तमाम माध्यमों के द्वारा जो अनुकूल प्रभाव पड़ता है वह चिकित्सक के लिये अत्यन्त लाभप्रद ही नहीं अत्यन्त आवश्यक भी है।

—श्री डा० भाटी(जी. आर.) एस. टी. डी.
सी-एच., टी. डी. आर. एस. (लन्दन)

:: पृष्ठ ८८ का शेषांश ::

मात्रा १ रत्ती है। इसे दोषानुसार मधु, माता के दुग्ध, मिश्री या घृत के साथ देना चाहिये। तथा एक एक करके उसकी मात्रा प्रत्येक मास में अर्थात् प्रथम मास में एक रत्ती, दूसरे में दो रत्ती, तीसरे में तीन रत्ती इस प्रकार उस समय तक बढ़ानी चाहिए जब तक कि शिशु एक साल का न हो जाय। इसके (१ वर्ष के) बाद प्रत्येक वर्ष में १ माशा की मात्रा देनी चाहिये। यह क्रम १६ वर्ष की अवस्था तक चलना चाहिए। इस प्रकार सोलह वर्ष में पूर्ण मात्रा देनी चाहिए। परन्तु मात्रा वृद्धि का यह क्रम आजकल के लिए अधिक है। अतः यदि कोई औषधि पूर्ण युवा के लिए १ रत्ती दी जाय तो एक साल के लिए $\frac{1}{4}$ रत्ती, दो साल के बालक के लिये $\frac{1}{2}$ रत्ती, सात साल के बालक के लिये $\frac{3}{4}$ रत्ती, और सोलह वर्ष के बालक के लिए १ रत्ती औषध देनी चाहिये। यदि किसी औषधि की मात्रा एक वर्ष के शिशु के लिये एक रत्ती है, तो १ से ३ मास तक के शिशु के लिये $\frac{1}{2}$ रत्ती, ३ से ६ मास तक $\frac{3}{4}$ रत्ती, ६ से ९ मास तक १ रत्ती, तथा ९ से १२ मास तक शिशु के लिए १ रत्ती देनी चाहिये। इसी क्रम से मात्रा का निर्धारण करना चाहिये। पूर्ण युवा की मात्रा की षोडशांश मात्रा एक वर्ष के शिशु के लिये पर्याप्त है। उसकी पूर्ण मात्रा है।

—श्री कृष्णदत्त शर्मा आयुर्वेदाचार्य,
स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र, जामनगर।

:: पृष्ठ ९५ का शेषांश ::

(१५) बालक का पेट स्वभाव से ही कुछ बड़ा होता है। अगर सामान्य से ज्यादा मोटा हो, तो समझना चाहिए कि यकृत या प्लीहा का विकार है अथवा अजीर्ण है। जो भी हो उपरोक्त बातों पर ध्यान देकर ही चिकित्सा करनी चाहिए।

—डा. अखिलेश्वरप्रसाद शर्मा आयुर्वेदशास्त्री
श्री गान्धी दातव्य औष०, मोदनगंज (गया)

औषधि-प्रदान-पद्धति

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी

मृदु, संशामक औषधि को क्षीरप बालक तथा धात्री को दुग्ध और घृत के साथ, क्षीरान्नादि बालक तथा धात्री को अन्य यथोक्त के साथ तथा अन्नाद बालक में केवल उसी औषधि को यथोचित मात्रा में प्रयोग करावें। दूध पीते बालकों को प्रायः वैद्य सब औषधियां माता के दुग्ध में मिलाकर चम्मच से पहले पिलाकर तत्पश्चात् माता को ऊपर से आंचल द्वारा दुग्ध पिलाने का विधान बतला दिया करते हैं। बालकों को औषधि सेवन कराने की एक विधि और भी है—

येषां गदानां ये योगाः प्रवच्यन्तेऽगदङ्कराः ।

तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत्तद्विशिष्टं स्तनौ ॥

जिसके अनुसार तत्तत् रोगहर कल्क का लेप माता के आंचलों पर कर उन्हें बालक को पीने के लिये दे दें।

औषधस्थ बालमात्रानिर्धारणम्

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायांगुलिपर्वद्वयग्रह (य) संमिता-मौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय कोलसंमितामन्नादायेति ॥

(सु० शा० स्या० अ० १०—४१)

इस श्लोक में औषधियों की बच्चों के लिये निर्धारित मात्रा का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

क्रम	बालक	मात्रा
१. क्षीरप (१ वर्ष तक)	अंगुलि के २ पर्व पर जितनी औषधि लग सके	
२. क्षीरान्नाद (२-३ वर्ष तक)	कोलास्थि के बराबर	
३. अन्नाद (४ वर्ष और उससे ऊपर)	कोल (बेर) के बराबर	

आधुनिक बालमात्रा के सम्बन्ध में ३ मत प्रचलित हैं—

(१) फ्रायड का नियम (Fried's rule)

(२) क्लार्क का नियम (Clark's rule)

(३) यङ्ग का नियम (Young's rule)

(१) फ्रायड का नियम २ वर्ष से नीचे के शिशुओं पर लागू होता है। उसका सूत्र है—

$$\text{शिशुमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{महीनों में शिशु का वय}}{१२०}$$

जैसे किनीन सल्फेट की वयस्क मात्रा १० ग्रोन है तो १५ माह के शिशु के लिये मात्रा होगी—

$$\frac{१० \times १५}{१२०} = १ \text{ ग्रोन।}$$

(२) क्लार्क का नियम—२ वर्ष के ऊपर के बालकों में प्रयुक्त होता है। उसका सूत्र है।

$$\text{बालमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{पौण्ड्रों में भार}}{१५०}$$

उसके अनुसार ५ वर्ष के ४० पौण्ड्र भार वाले बालक के लिए किनीन सल्फेट की मात्रा होगी—

$$\frac{१० \times ४०}{१५०} = २\frac{२}{३} = २\frac{२}{३} \text{ ग्रोन}$$

(३) यङ्ग का नियम—प्रत्येक आयु में बालमात्रा का निर्देश करता है। उसका सूत्र है—

$$\text{बालमात्रा} = \frac{\text{वयस्क मात्रा} \times \text{आयु}}{\text{आयु} + १२}$$

इसके अनुसार किनीन सल्फेट की मात्रा ५ वर्ष के बच्चों में निम्न मात्रा होगी—

$$\text{बालमात्रा} = \frac{१० \times ५}{५ + १२} = \frac{५०}{१७} = ४\frac{२}{१७} \text{ ग्रोन}$$

बालग्रह

श्री पं० उदय नारायण मा आयुर्वेदाचार्य



वैदिक तथा पौराणिक धर्म ग्रन्थों में जिन यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रों के वर्णन मिलते हैं वे उन युगों में शत प्रतिशत सत्य थे, फलदायी थे और रामबाण थे। विदेशी शासन के प्रादुर्भाव के पश्चात् भारत का जीवन ही परिवर्तन होगया। भारतीयों के जीवन-स्तर रीति रिवाज, शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक विचार सबके सब बदल गये। ये अति प्राचीन यन्त्र-मन्त्र और आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली की सादगी को उपेक्षित दृष्टि से देखने लगे। “विश्वासः फल दायकम्” इनके लिये केवल थोथी दलील बन गया और प्रत्यक्षवाद पर विश्वास करने में इनका अपूर्ण ज्ञान मित्र बन बैठा। बहुमत ऐसे ही लोगों का हो गया और परिणामतः ये तत्व गौण बनते गये। परन्तु अपनी प्राचीन गुण गरिमाओं पर वेद विहित विषयों पर जिन्हें विश्वास रहा, ऐसे राष्ट्रीयता के विश्वासियों ने तुलसी की चौपाई—

कलि बिलोकि जग हित हर गिरजा ।
शावर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा ॥
अनमिल आखर अरय न जापू ।
प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू ॥

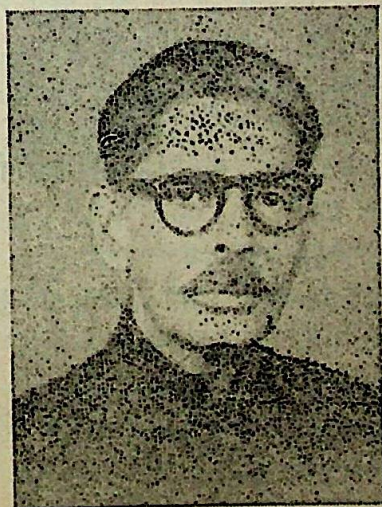
पर अपनी गम्भीर आस्था विद्यमान रहने दी। ऐसे विश्वासी ही आज आयुर्वेद विहित यन्त्र-मन्त्र तन्त्र एवं जप-योगदान आदि का व्यवहार करते और उनके सद्यः फलदायी होने का ढिंढोरा पीटे बिना नहीं रह सकते हैं। रसायन औषधियों के साथ ही इन मन्त्र तन्त्रों का निर्माण स्वयं शिव ने किया है। ये मन्त्रादि और रसायन आज भी एलो-पैथी इन्जेक्शनों के समान गुणकारी प्रतीत होने में एक पग पीछे नहीं रहते।

बाल ग्रहोत्पत्ति—

सुश्रुताचार्य का कथन है—

बच्चों का पालन पोषण करने वाली (धाय) तथा बच्चों की माता के दुष्टाचरणों से (अर्थात् जो शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता पर ध्यान नहीं देती

बच्चे की सफाई नहीं रखती, बच्चे के दुग्ध-पान के बाद अपने स्तन (थन) को खूब परिष्कृत नहीं करती और जिस घर में स्वस्ति पाठ, शान्ति हवनादि वेद विहित कर्म नहीं होते हैं, जहां बच्चों को डराया धमकाया और रुलाया जाता है, बच्चों पर प्यार नहीं रहता, जिनके कुल में देव, देवी, पितर आदि की पूजा नहीं होती, माता-पिता-पितामह और वृद्ध पुरुषों की सेवा-सुश्रुषा नहीं होती, वेद-पाठी, धर्म प्रचारक, सत्योपदेशक, ब्राह्मण, गुरु, अतिथि, आत्मपरायण, निर्लोभ साधु-महात्मा की पूजा और सत्कार नहीं होते हैं, जो मनुष्य अधर्मी दुष्टवृत्ति वाले वेद विरुद्ध कर्मों को करने वाले हैं, जिन घरों में सुगन्धित द्रव्यों तथा घृतादि की आहुति अग्निकुण्ड में नहीं दी जाती तथा जिस परिवार में दूधधतुर, भिक्षुक, पुरुषार्थहीन, रोगी, अन्धे, लंगड़े आदि को अन्नदान नहीं दिया जाता, जिन घरों में फूटे कांसे आदि धातुओं के बर्तन रहते हैं, उन्हीं दुष्ट जनों के बच्चों को ग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच कष्ट देते हैं। और उचित व्यवस्था के अभाव में प्राण हरण ही कर लेते हैं। अतएव स्पष्ट





है कि इन्हीं उपरोक्त कारणों से बाल ग्रह की उत्पत्ति होती है ।

हमारे देश की ग्रामीण भोली जनता में यह नियम शास्त्रोक्त विधि से बहुत दिनों से प्रचलित रहा है कि प्रसूता स्त्री सूतिकागार में दस दिनों तक रहती है । दस दिनों के बाद ही बच्चा तथा प्रसूता स्त्री को सूतिकागार से निकालते तथा स्नानादि के उपरांत बच्चों के नामकरणादि की लौकिक विधि करते हैं । बच्चों के जन्म होने के प्रथम दिवस से ही देवियों के प्रकोप बच्चों पर प्रारम्भ हो जाते और सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त रह कर तब अन्त होते हैं । इस प्रथम दिवस से क्रमशः १६ वर्ष तक की अवधि में जिन जिन देवियों के प्रकोप बच्चों पर होते हैं उनके नाम तथा वर्णन निम्नलिखित हैं—

दिवसानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण —

१. प्रथम दिवस नंदिनी देवी—

बच्चे को ज्वर हो, शरीर सूखे, पसीना निकले, स्तन पान न करे ।

२. द्वितीय दिवस सुनंदना देवी—

बच्चे को ज्वर हो, हाथ पैर को संकुचित रखे, मसूढ़े को चबावे, श्वास तेज हो, आंख बराबर बन्द रखे, स्तन पान न करे, रात दिन रोता रहे ।

३. तृतीय दिवस घंटालि देवी—

बच्चों के शरीर में कम्पन हो, उद्वेग हो कास-श्वास से पीड़ित हो, सदैव रोता रहे ।

४. चतुर्थ दिवस कटकोली देवी—

स्तन पान न करे, उद्वेग हो, मुख से झाग निकले, हुचकी आवे, रोता रहे और दशों दिशाओं को देखता रहे ।

५. पंचम दिवस अहंकारी देवी—

बालक को जम्हाई आवे, श्वास, हो मुठ्ठी बांध रखे, आसमान की तरफ देखे ।

६. षष्ठम दिवस खट्नाङ्गी देवी—

बालक बेचैन रहे, कभी हंसे कभी रोने लगे, दुग्ध न न करे, मोह हो ।

७. सप्तम दिवस हिंसक देवी—

बालक को जम्हाई आवे, श्वास उत्पन्न हो, स्तन न खोले, स्तनपान न करे और सदा बेचैन रहे ।

८. अष्टम दिवस भीषणी देवी—

बच्चे को खांसी श्वास हो, अङ्ग सिकुड़ते रहे, ज्वर हो, और नेत्र सर्वदा बन्द रखे ।

९. नवम दिवस मेषा देवी—

बालक सदा चौंकता रहे, बेचैन रहे, अपने हाथ की मुठ्ठी को काटता रहे ।

१०. दशम दिवस रोदना देवी—

बालकों को खांसी हो, बहुत रोता रहे, स्तन बन्धी रखे और स्तन पान न करे ।

मासानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण—

अब प्रति मास में जिन देवियों का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है उनका नामोल्लेख किया जाता है ।

प्रथम मास में कुमारी देवी—

बच्चे को उद्वेग हो, ज्वर हो, रोता रहे, शरीर में सूजन हो, स्तनपान न करे ।

द्वितीय मास में मुकुटा देवी—

पीड़ा ढीली हो, अङ्ग कांपे, शरीर पीला और शीतल हो जाय, मुख सूख जाय, स्तनपान न करे, डकार बहुत आवे ।

तृतीय मास में गोमुखी देवी—

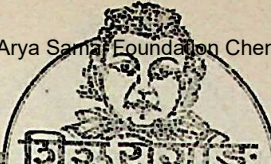
बच्चा बिलख बिलख कर रोवे, हर समय सोता रहे, नेत्र बन्द रखे, शरीर से गौ की सी गन्ध आवे ।

चतुर्थ मास में पिंगला देवी—

बच्चा स्तनपान न करे, शरीर सफेद हो जाय, भुजा फड़के, मुख सूखा रहे और शरीर में दुर्गन्ध निकले ।

पंचम मास में वदवा देवी—

बच्चों को अरुचि हो, खांसी हो, मुख सूखा रहे, सदैव रोता रहे, सर्वाङ्ग शरीर में तकलीफ हो, श्रमयुक्त रहे और स्तनपान न करे ।



शिशुयोग

षष्ठ मास में पचमा देवी—

बच्चा बहुत रोवे, गला बैठ जाय, पीड़ा हो और मुख से लार बहुत निकले। ऐसे लक्षण होने से पञ्चा देवी का कोप जानना चाहिये।

सप्तम मास में पूतना देवी—

बच्चा बहुत धीरे से दुग्धपान करे, स्तन पीने के समय मुख से दूध गिर जाय, शरीर कृश हो, दिन व दिन सूखता जाय, बहुत रोता रहे और छर्दि रहे। ऐसे लक्षण वाले बालक की पूतना देवी का दोष जानना चाहिए।

अष्टम मास में अर्जिका देवी—

बच्चे के सम्पूर्ण शरीर में दर्द हो, ज्वर हो, नेत्र में पीड़ा हो, प्रलाप करे और छर्दि हो।

नवम मास में कुम्भ कर्णिका देवी—

बच्चे को स्तनपान में अरुचि हो, ज्वर हो, छर्दि हो, अङ्ग से गन्ध निकले तथा आंख बन्द रखे।

दशम मास में तापसी देवी—

बच्चा हाथ-पैर पटकें, स्तनपान न करे, आंख बन्द रखे, दस्त न हो, बेचैनी बनी रहे।

एकादश मास में सुग्रही देवी—

ग्यारहवें महीने में सुग्रही देवी का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है, उक्त देवी का ग्रहण किया हुआ बच्चा कदापि अच्छा नहीं होता है। ऐसे बच्चे के लिये मंत्र, यन्त्र, चिकित्सा बलि कुछ भी नहीं है।

द्वादश मास में कालिका देवी—

अधिकाधिक रुदन करे, छर्दि हो, आस हो, प्यास बराबर लगे, बेचैनी हो।

वर्षानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण

अब प्रति वर्ष जिन देवियों का आक्रमण बच्चों के ऊपर होता है उनका नाम उल्लेख किया जाता है।

प्रथम वर्ष में नन्दिनी देवी—

बच्चा बहुत बेचैन हो जाता है। नेत्र बन्द रखता है, खाने की इच्छा नहीं रखता, शरीर में दाह होती है, बहुत रोता सर्वदा पृथ्वी में पड़ा रहना

चाहता है, विछावन और किसी की गोद में रहना नहीं चाहता है।

द्वितीय वर्ष में रोदिनी देवी—

बच्चे को तीव्र ज्वर हो, पेशाब लाल हो, अफारा हो, कमल केशर की तरह शरीर का वर्ण हो जाय, दाहिना हाथ बार बार फेर कर रोता रहे।

तृतीय वर्ष में धनदा देवी—

नजदीक में नहीं देखे, अग्नि मन्द हो, ज्वर हो, कण्ठ में शोथ हो, सारे शरीर में तकलीफ हो।

चतुर्थ वर्ष में चंचला देवी—

ज्वर हो, आस हो, अङ्ग फड़के, बेचैनी हो, नेत्र भारी रहे, बहुत रुदन करे।

पंचम वर्ष में नर्तकी देवी—

बच्चे को हमेशा पेशाब हो, शरीर फड़के, शरीर में बहुत दर्द हो, बेचैनी बहुत हो, मुख सूखा हो, शरीर का वर्ण विवर्ण हो जाय।

षष्ठम वर्ष में यमुना देवी—

बच्चा बहुत रोवे, डकार बहुत आवे, जंभाई आवे, शरीर सूखता जाय, अङ्ग में जलन हो।

सप्तम वर्ष में अनन्ता देवी—

बच्चा अन्धा हो जाता है और सारे शरीर में पीड़ा होती है, शरीर दुर्बल हो जाता है, मुख सूख जाता है, पेशाब बहुत आता है, आलस और चित्त में उद्वेग होता है।

अष्टम वर्ष में कुमारिका देवी—

बच्चे को ज्वर बहुत तीव्र हो, सारे शरीर में दर्द हो, शरीर कांपे, छर्दि हो, दस्त न हो, बेचैनी रहे।

नवम वर्ष में कलहंसा देवी—

बच्चे को दाह हो, ज्वर हो, दुर्बल हो जाय, अङ्ग में पीड़ा हो, मलमूत्र बारम्बार आवे, छर्दि हो, हाथ-पैर में ऐंठन हो।

दशम वर्ष में देवदूती देवी—

बच्चा नाचे, दौड़े, दस्त कब्ज हो, वमन हो, तरह तरह का खेल करे, हंसे, अपने घर को देखे,



जाऊं जाऊं ये शब्द बोले, नेत्र में पीड़ा हो, अङ्ग में पीड़ा हो, सदा खानपान में ही श्रद्धा रखे, विह्वलता के बचन बोले, ज्वर हो।

एकादश वर्ष में कालिका देवी—

बच्चे को ज्वर हो, खांसी हो, श्वास हो, नेत्र पीड़ा हो, कां-कां शब्द करे, बदन में दर्द हो
द्वादश वर्ष में बायसी देवी—

बच्चे का मुख सूखा रहे, ज्वर रहे, जंभाई आवे, बदन में दर्द हो, बेचैन रहे।

त्रयोदश वर्ष में यक्षिणी देवी—

बच्चे को हृद्रोग हो, ज्वर हो, बहुत रुदन करे और कभी कभी हंसने लगे।

चतुर्दश वर्ष में शृङ्गनागा देवी—

बच्चे के मुख और नाक से रक्त निकले, ज्वर हो, नाभि में शूल हो, वृषा हो, वमन हो।

पंचदश वर्ष में कपो देवी—

बालक पृथ्वी में सोने की बहुत इच्छा करे, बहुत कूंखे, और न भी कूंखे, ज्वर बहुत तेज हो जाय, निद्रा बहुत आवे, वमन हो, अङ्ग कांपे, चित्त-भ्रम हो।

षोडश वर्ष में दुर्जया देवी—

बच्चे को वमन हो, ज्वर हो, शरीर कांपे, निद्रा आवे, मुख से जाऊं-जाऊं शब्द निकाले।

दिन मास वर्षानुसार बालकों में ग्रह के लक्षण—

अब दिन मास-वर्ष में जिन देवियों का आक्रमण बालकों के ऊपर होता है, उनका नाम उल्लेख किया जाता है—

प्रथम दिवस-मास वर्ष में नंदनी देवी—

शरीर सूखता जाय, ज्वर हो, पसीना आवे, अरुचि हो, छर्दि हो, मूच्छा हो, शरीर में कंपन हो, आवाज क्षीण हो जाय।

द्वितीय दिवस-मास वर्ष में सुनंदना देवी—

पहले बच्चा को ज्वर हो, हाथ पैर संकुचित रखे दांतों (मसूढ़ों) को बहुत चबाये, नेत्र बन्द नहीं करे, अरुचि हो, रुदन करे, नेत्र पीड़ा हो सदैव डरता

रहे, और शरीर दुर्बल हो जाय।

तृतीय दिवस-मास वर्ष में पूतना देवी—

बच्चे का शरीर सूखे, प्रलाप, कंपन हो, ज्वर लुधा नष्ट हो जाय, नेत्र बन्द रखे, रोम खड़े रहें, तथा वमन करे।

चतुर्थ दिवस-मास-वर्ष में मुखमंडिका देवी—

बालक अपने सिर को नीचा रखे, दुर्बल शरीर भङ्ग हो आंख बन्द रखे, शरीर का रंग काला हो जाय, काली खांसी हो, अरुचि हो, निद्रा नहीं आवे।

पञ्चम दिवस-मास वर्ष में विडालिका देवी—

बच्चा को हिचकी, श्वास, तथा हृदय में शूल (दर्द) हो, शरीर के अङ्ग फरकें, अरुचि तथा तीव्र ज्वर हो।

षष्ठम दिवस मास-वर्ष में षटकारिका देवी—

बच्चे को ज्वर हो, शरीर टूटे, जो इसे तथा कभी कभी रोने लगे।

सप्तम दिवस मास वर्ष में कालिका देवी—

बालक को छर्दि, अरुचि, शरीर में कंपन तथा खांसी-श्वास हों।

अष्टम दिवस-मास वर्ष में कामिनी देवी—

बच्चे को प्रथम ज्वर हो, शरीर बहुत तप्त रहे, खाना न चाहे, मुख सूखा रहे, तथा कभी कभी शरीर शीतल हो जाय।

नवम दिवस-मास वर्ष में मदना देवी—

बच्चे को ज्वर, चित्त में घृणा, वमन तथा अफरा हो, खांसी श्वास हो, प्यास अधिक लगे और शरीर में दर्द हो।

दशम दिवस-मास-वर्ष में रेवती देवी—

बच्चा ज्वर से पीडित हो, शरीर में दर्द हो, वमन श्वास, खांसी तथा अरुचि हो।

एकादश दिवस-मास वर्ष में सुदर्शना देवी—

बच्चे को ज्वर, तथा मुख में शोथ हो, रुचि नष्ट हो जाय, शरीर के प्रत्येक अङ्गों में भयानक दर्द हो, बहुत रुदन करे, और शरीर बलहीन हो जाय।



शिशु रोगादिः

द्वादश दिवस-मास-वर्ष में अद्भुता देवी—

बच्चे को ज्वर हो, बहुत रुदन करे, सदैव दांतों को (मसूड़े) चबाये, आंखों में पीड़ा हो, रोम खड़े होवें, शरीर तप्त रहे तथा बेचैनी हो।

त्रयोदश दिवस-मास-वर्ष में भद्रकाली देवी—

बच्चे को निद्रा बहुत आती है, ज्वर जोरों से रहता और बांये हाथ में बार बार कंपन होता है। इसके अतिरिक्त छर्दि होती, जोरों की प्यास लगती आस-खांसी तथा सारे शरीर में दर्द होता और बच्चा बेहोश रहता है।

चतुर्दश दिवस-मास-वर्ष में श्री योगिनी तारादेवी—

बालक के समस्त शरीर में शोथ हो, ज्वर, अरुचि एवं नेत्र पीड़ा हो।

पंचदश दिवस-मास-वर्ष में हुंकारिका देवी—

जिस बच्चे को आस, ज्वर तथा वमन हो, प्यास लगे, शरीर की हड्डी में दर्द हो और बहुत रुदन करे।

षोडश दिवस-मास-वर्ष में कुमारी देवी—

बच्चे को अधिक थकान मालूम हो, जुधा सर्वथा नष्ट हो जाय, मन उद्विग्न रहे, ज्वर रहे और शरीर कृश हो जाय।

कुछ अन्य ग्रहों के लक्षण—

उपरोक्त ग्रहों के अतिरिक्त कुछ और साधारण ग्रहों के लक्षणों का उल्लेख यहां किया जाता है।

सुश्रुत संहिता आठ तन्त्रों में विभक्त करके चिकित्सा प्रणाली कही गई है। यथा—१. शल्य २. शालाक्य ३. काय चिकित्सा ४. भूत विद्या ५. कौमार भृत्य ६. अगद तन्त्र ७. रसायनतन्त्र ८. बाजीकरण तन्त्र। इनमें ऊपर भूत विद्या आयी है। इस शब्द के ऊपर देव, गन्धर्व, यक्ष, असुर, राक्षस, पित्रीश्वर, पिशाच, नाग और नवग्रह इन नौ की कल्पना की गई है।

इन ग्रहों से पृथक् आयुर्वेद में ग्रह शब्द से नव ग्रह पृथक् दिये गये हैं।

स्कन्द ग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च।

शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना ॥

पूतना शीतनामा च तथैव मुख मण्डिका।

नवमो नैगमेयश्च यः पितृ ग्रह संज्ञितः ॥

इन सबों में प्रथम स्कन्द ग्रह प्रधान है। द्वितीय स्कन्दापस्मार, तृतीय शकुनी, चतुर्थ रेवती, पंचम पूतना, षष्ठ अन्धपूतना, सप्तम शीत पूतना, अष्टम मुख मण्डिका तथा नवम नैगमेय हैं। यह नैगमेय ग्रह बच्चों की अन्य ग्रहों से रक्षा करता है। इसलिये इसका नाम पितृ संज्ञित भी है। ये भी बच्चों को सताने वाले और भी नौ ग्रह हैं।

१. स्कन्द ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बच्चे के नेत्र में सूजन हो, सारे शरीर से रक्त के सदृश गन्ध आवे, स्तनपान न करे, एक आंख से पानी बहे, एक ओर का अङ्ग फड़के तथा कांपे, आधी दृष्टि से देखे, मुख टेढ़ा हो जाय, मसूड़े (जवड़े)-दांतों को चबाये, शरीर शिथिल हो जाय, थोड़ा थोड़ा रुदन करे, नेत्र मीचता रहे, मुट्ठी सदा बन्द रखे, मल कठिन उतरे, मन उदास रहे, ऐसे उपरोक्त लक्षणों वाले बच्चे स्कन्द-ग्रह-ग्रस्त माने गए हैं। परिचारक और चिकित्सक को लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

२. स्कन्दापस्मार ग्रहार्त्त के लक्षण—

जो बच्चा बेहोश हो जाय, जिसके मुख से भाग गिरे, बेहोशी दूर होने पर बहुत जोरों से रोवे, जिसके शरीर से रक्त के समान गन्ध निकले, ऐसे बच्चों को स्कन्दापस्मार ग्रह से ग्रसित जानना चाहिए।

इन लक्षणों से युक्त बच्चा बालापस्मार से पीड़ित समझें।

३. शकुनी ग्रहार्त्त के लक्षण—

जिस बच्चे का शरीर शिथिल हो जाय जो बराबर भयभीत रहे, जिसके सारे शरीर से पच्ची के समान गन्ध निकले, सारे शरीर में बहुत से फोड़े (व्रण) हो जाय, जिसमें पूय और दाह अधिक उत्पन्न हो, बालक व्रण से बहुत पीड़ित हो, ऐसे बच्चे को शकुनी ग्रह ग्रसित जानना चाहिए।



४. रेवती ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बालक के सारे शरीर में ब्रण उत्पन्न हो जाय और उससे कीचड़ सदृश गन्ध आवे, ब्रण से सदा रक्तस्राव होता रहे, मल पतला उतरे, ज्वर और दाह बनी रहे तथा बच्चा सदैव बेचैन रहे, ऐसे बच्चे को रेवती ग्रह ग्रसित जानना चाहिए।

५. पूतना ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बालक को अतिसार तथा तीव्र ज्वर हो, प्यास अधिक लगे, जो टेढ़ी नजरों से देखता रहे, सर्वदा रोता ही रहे, निद्रा जिसे नहीं आती हो और बेचैनी बनी रहती हो, ऐसे बच्चे को पूतना ग्रह-ग्रसित जानना चाहिए।

६. अन्धपूतना ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बच्चे को कई बार बमन हो, खांसी से पीड़ित रहे, सदा ज्वर बना रहे, प्यास अधिक लगे, समस्त शरीर से चर्बी जैसी दुर्गन्ध निकले और जो बच्चा बहुत जोर से रोता रहे तो ऐसे लक्षण वाले बच्चे को अन्ध पूतना ग्रह-ग्रसित जानें।

७. मुख मण्डिका ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बच्चे का शरीर कांपता हो, सदा खांसी आती हो, शरीर दुर्बल हो जाय, नेत्र रोग से पीड़ित हो, उसके शरीर से विचित्र गन्ध निकलती हो, बमन अधिक होता हो, पतले दस्त बहुत होते हों, बच्चा बहुत दुःखी रहा करता हो तो ऐसे लक्षण वाले बच्चे को शीतपूतना ग्रह-ग्रसित जानें।

८. शीतपूतना ग्रहार्त के लक्षण—

जो बच्चा प्रसन्न मुख वाला, उज्ज्वल वर्ण वाला और उभरी हुई नसों से व्याप्त हो, जिसके शरीर से मूत्र के समान गन्ध आती हो और सूखी खांसी बहुत जोरों की हो तो बच्चे को मुख मण्डिका ग्रहार्त जानना चाहिए।

९. नैगमेय ग्रहार्त के लक्षण—

जिस बच्चे को वमन तथा कम्पन हो, कण्ठ और मुख सूख जाता हो, सर्वदा भूखित रहता हो, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, आकाश की ओर

देखता हो और दांतों या जबड़ों को चलाता रहे तो ऐसी दशा को प्राप्त बालक नैगमेय ग्रहार्त कहा जायगा।

ग्रह शान्ति के उपाय

अब एक एक ग्रह की शान्ति के लिए पृथक् पृथक्, औषध, प्रलेप, स्नान, धूप, बलिदान, मंत्र, यन्त्र तथा तान्त्रिक क्रिया का उल्लेख किया जाता है। प्रथम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की एक सुन्दर मूर्ति एक पात्र में स्थापित करें, उसके सामने सफेद भात, सफेद फूल, सफेद चन्दन (घिसा हुआ), कपूर, पांच चमेली के फूल, पांच सफेद ध्वजायें और पांच आटे के दीये, इन सबको एक सकोरे में रख कर निम्नलिखित मन्त्र २१ बार पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर बाएँ (स्पर्श करावें), चार घड़ी दिन चढ़ने पर घर से पूर्व दिशा में यह बलि रख आवें। बलि देने के पश्चात् राई, खस, अर्क पुष्प, बिल्ली के बाल, मनुष्य के सिर के बाल, निम्ब पत्र और गौघृत, इन वस्तुओं से निम्नांकित मन्त्र पढ़कर बालकों को तीन दिन तक धूप देनी चाहिए। फिर चौथे दिन बच्चे को इसी मन्त्र से जल अभिमन्त्रित कर स्नान कराना चाहिए। उपरान्त ब्राह्मण और अतिथि को दुग्ध भोजन कराना चाहिए। उपरोक्त क्रियायें करने से बच्चा निश्चय ही रोगरहित हो जायगा।

मन्त्र—“ॐ ह्रीं खं खः स्वाहा” यह षट्क्षरी मन्त्र इस ग्रह की शान्ति के लिए अमोघ और राम-बाण है।

द्वितीय दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

एक सेर पिसे हुए अर्वा चावल से निर्मित देवी की मूर्ति एकपात्र में रखकर तेरह पंचरंगी ध्वजायें, तेरह मिट्टी के दीपक, तेरह आटे के दीपक, भात, गोहूँ का दलिया, सरसों, उड़द और मांस इन वस्तुओं को भी उसी पात्र में देवी के समक्ष रखें।



शिशु राजाङ्क

२१ बार निम्न मन्त्र का पाठ और सात बार बच्चे से स्पर्श कराकर देवी सहित इन समस्त वस्तुओं को सन्ध्या समय पश्चिम दिशा में रख आवें और उपरोक्त क्रिया लगातार तीन दिनों तक करते रहें। तत्पश्चात् राई, खस, मदार के फूल, बिल्ली के बाल, मनुष्य के सिर के बाल, नीम के पत्ते और गौ घृत इन वस्तुओं की धूप निम्नांकित मन्त्र पढ़कर बच्चों को तीन दिनों तक देनी चाहिए। पुनः चौथे दिन निम्न मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित कर स्नान कराना चाहिए। तब ब्राह्मणों को दुग्ध भोजन कराना चाहिए। इन क्रियाओं को नियमपूर्वक करने से निश्चय ही बच्चा नीरोग हो जाता है।

मन्त्र—ॐ ह्रीं खं खः स्वाहा।

तृतीय दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

हाथी दांत, गौ का दांत और कुम्हारी जानवर के घर की मिट्टी—इन वस्तुओं को बकरी के दूध में पीस कर बच्चे के शरीर पर प्रलेप करना चाहिये। नीम के पत्ते, नख, सिरस तथा राई इन वस्तुओं की धूप तीन दिनों तक बच्चे को दें। प्रथम दिन की रीति से ही स्नान और बलि आदि भी मन्त्र पढ़कर देना चाहिये। ऐसा करने से ग्रह निश्चय ही शान्त होता है।

चतुर्थ दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

हाथी दांत, सांप की कांचली और राई, ये तीनों चीजें समान भाग लेकर पानी में पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करना चाहिये। सिरस, निम्ब के पत्र और मनुष्य के सिर के बाल, इनकी धूनी देनी चाहिये और शेष कार्य या उपचार प्रथम दिवस की भांति ही करना चाहिये।

पंचम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

मनःसिला, हरताल, वच, लोध, मेढासिंगी, इन औषधियों को समान भाग लेकर पानी में पीसकर बच्चे के प्रलेप करना चाहिये और लहसन, नीम के पत्ते, घी और राई, इन वस्तुओं का धूप

देना चाहिये। प्रथम दिवस जिस प्रकार स्नान तथा बलि की क्रिया मन्त्र पढ़कर हुई है, उसी प्रकार पंचम दिन भी होनी चाहिये। मन्त्र वही है जो प्रथम दिन लिख दिये गये हैं उसी मन्त्र का जप भी करें।

षष्ठम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

कूट, गुग्गुल, राई, हाथी दांत और गोघृत इनका धूप बालक को देना चाहिए। और यही औषधि पानी से पीस कर बालकों के शरीर पर लेप करनी चाहिये। प्रथम दिवस जिस मंत्र से स्नान, धूप, प्रलेप, बलि जप आदि लिखे गए हैं ठीक उसी के अनुसार षष्ठम् दिवस में भी करना चाहिए।

सप्तम दिवस में ग्रह शान्ति की विधि—

मेढासिंगी, वच, लोध, हरिताल, मनःसिला, ये सब औषधियां समभाग लेकर पानी में पीस कर बच्चों के शरीर पर ५ लेप करें। और शेष क्रियायें प्रथम दिवस में गणित विधि से ही करें।

अष्टम दिवस में ग्रह-शान्ति की विधि—

चिरचिरा, खस, पीपल तथा चीता ये औषधियां समभाग लेकर बकरी के मूत्र में पीस कर बालक को प्रलेप करें। गौ का सींग, नख, और मनुष्य के सिर के बाल इनका धूप बालक को दें और मंत्र, जप, स्नान, बलिदान आदि कर्म प्रथम दिवस के अनुसार ही करें।

नवम दिवस में ग्रह-शान्ति की विधि—

वच, चन्दन, कूट, राई ये सब औषधियां समान भाग लेकर पानी में पीस लें और बालक के शरीर पर लेप करें। नख तथा बन्दर के रोम इनका धूप दें और शेष सब क्रियायें प्रथम दिवस में वर्णित विधियों के सदृश ही करें।

दशम दिवस में बाल ग्रह-शान्ति की विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित करें। सफेद भात, श्वेत पुष्प, घिसा हुआ श्वेत चन्दन, कपूर, चमेली के फूल, पांच श्वेत ध्वजायें, पांच आटे के दीपक,

नदी के किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की मूर्ति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.



शिशु रक्षा

एक पात्र में स्थापित करें। खिचड़ी, भात, मछली, दूध, मदिरा, आसव, तिल, कूट, सुगन्ध पुष्प, ये वस्तुयें देवी की मूर्ति के सामने उसी पात्र में रख दें। पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृत्ति (पाठ) करें। सात बार बालक के ऊपर बार कर बलिदान वस्तु को मध्याह्न समय में पूर्व दिशा में छोड़ आवें। शेष सब विधि-विधान प्रथम मास की भांति ही करें।

अष्टम मास बाल रक्षा विधि-

प्रथम मास की विधि से ही इस मास में भी सब कर्म करना चाहिये। केवल बलिदान की वस्तुओं को उत्तर दिशा में विसर्जित करना चाहिये। और स्नानादि कर्म भी प्रथम मास की तरह ही करना चाहिए।

नवम मास बाल रक्षा विधि-

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी की एक मूर्ति एक सकोरे में स्थापित करें। पुष्प, धूप, चन्दन, आदि से देवी का पूजन करें। बड़े, पूड़ी, भात, गुड, दही, चार रङ्गों की ध्वजा, चार दीपक, पुष्प, चन्दन, दुग्ध, मत्स्य, ये वस्तुयें उसी सकोरे में देवी की मूर्ति के समक्ष रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २२ आवृत्ति (पाठ) कर बलि दें। पुनः सात बार उस पात्र को बच्चे के शिर से स्पर्श कर दें। इस बलिदान की वस्तु को मध्याह्न ईषाण दिशा की ओर विसर्जित कर आवें।

दसम मास बाल रक्षा विधि-

प्रथम मास की भांति निर्मित देवी को एक पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के समक्ष चने की दाल, मसूर की दाल, मछली, मदिरा, बाकले, तिलकूट, सुगन्ध पुष्प, पांच आटे के दिये, और साठी चावलों का भात ये सब वस्तुयें रखकर मध्याह्न समय में उत्तर दिशा में रख आवें। और मन्त्र, स्नान, धूप, इत्यादि प्रथम मास की भांति ही करें।

एकादश मास बाल रक्षा विधि-

इस मास में बच्चे को आराम मिलाना चाहिए।

इस मास के ग्रह-प्रसित बालकों की न तो कोई औषधि है, न यन्त्र, मन्त्र, बलि, स्नान, धूप, आदि उपयुक्त उपाय ही। तथापि सन्तोष प्राप्ति के लिये अगर बलि देना हो तो प्रथम मास की भांति कार्य किये जा सकते हैं।

द्वादश मास बाल रक्षा विधि-

पूर्ववत् देवी की मूर्ति निर्मित कर एक पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के सामने-दही, चावल, भुना तिल, बाकले, लड्डू ये प्रत्येक वस्तुयें रख मध्याह्न समय में पूर्व दिशा में रख आवें। और पीपर वृक्ष के बकल का काथ बनाकर बालक को स्नान करावें। शेष मन्त्रादि विधि प्रथम मास की भांति ही करें।

प्रथम वर्ष बाल रक्षा विधि-

गुड के मालपूए, दही, उड़द का बन्कल, मदिरा, तिलकूट, मांस, पांच तिल तेल से परिपूर्ण दीपक, पांच पचरङ्गी-ध्वजायें, इन वस्तुओं को एक पात्र में रखकर—“ॐ नमो भगवते रावणाय बालक मुंच-मुंच स्वाहा” यह मन्त्र इक्कीस बार पढ़कर सात बार बच्चे के ऊपर बार कर पूरव दिशा में यह बलि-वस्तु पात्र सहित रख आवें। ठीक उपर्युक्त विधि से तीन रात्रि तक बलिदान दें। पुनः मनुष्य के सिर के बाल, गौ का खुर, गौ के दांत इन तीनों चीजों का धूप बच्चे को देकर पञ्चगव्य से स्नान करावें। तत् पश्चात् ब्राह्मण भोजन करावें।

द्वितीय वर्ष बाल रक्षा विधि-

तिल, पूड़े, बाकले, गुड़, भात, दही, लड्डू, कोई एक फल ये वस्तुयें एक पात्र में रख कर लाल वस्त्र से ढक कर २१ बार मन्त्र पढ़ें। सात बार बालक के ऊपर बार कर पूर्व दिशा में बलि को रख आवें। फिर सांप की कंचली और राई इन दोनों का धूप बच्चे को दें और शेष सब कार्य प्रथम वर्ष के समान ही करें।

तृतीय वर्ष बाल रक्षा विधि-

दही, मांस, मदिरा, मछली, सात प्रकार के



अन्न, तिलकूट, मिट्टी की मूर्ति, फल, पांच दीपक, और पांच ध्वजायें, इन वस्तुओं को सकोरे में रखकर २१ बार उक्त मन्त्र पढ़ें। सात बार बालक के ऊपर इसे बार कर उत्तर दिशा में यह बलि रख आवें। पुनः बालक को सोर पंख का धूप दें और शेष सब क्रियायें प्रथम वर्ष की भांति ही करें।

४-चतुर्थ वर्ष-बाल-रक्षा-विधि—

काला तिल, गुड़, पूड़े, चावल, भिगे हुए उड़द, पांच दीपक, पांच ध्वजायें, राई, सिरस के पत्ते, मिट्टी की पिन्डी, इन वस्तुओं को एक पात्र में रख कर काले कपड़े से पात्र को ढक दें और पूर्व दिशा में रख आवें। इसी प्रकार लगातार तीन दिनों तक बलि देते रहें। पुनः बालक को मेढ़े के सींग का धूप दें तथा अन्य कार्य प्रथम वर्ष की भांति करें।

५-पञ्चम वर्ष बाल रक्षा विधि—

पवित्र मिट्टी से देवी की मूर्ति बनाकर एक पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के आगे मछली, मांस, मूली, पकान्न, खिचड़ी, दूध, खीर, मदिरा, तिल, पांच आटे के दीपक, पांच पचरंगी ध्वजा, एक मिट्टी के पात्र में शर्वत, पूड़े, बाकले, कोई फल, और तिल कूट रखनी चाहिए। फिर उस पात्र को लाल बख्ख से ढक कर पूर्वोक्त मन्त्र २१ बार पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर बार कर पश्चिम दिशा में रख आना चाहिए। उपरोक्त क्रिया सात दिनों तक लगातार करनी चाहिए। तत् पश्चात् राई, मनुष्य के सिर के बाल, गो दांत लहसुन इन सब वस्तुओं का धूप बालक को दें।

६-षष्ठ वर्ष बाल रक्षा विधि—

आटे से बना देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के समक्ष मछली, मांस, खिचड़ी, खीर, दही, मदिरा, पांच लड्डू, पांच दीपक, और पांच ध्वजा, ये चीजें रख कर २१ बार पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ कर सात बार बच्चे के ऊपर बार कर आर तब बारस्ते पर जाकर इस बलि को रख आवें। पुनः तीन दिनों तक यही क्रिया करते रहें। तत्पश्चात् गा के रोम, खुर, और सींग इस मिश्रण

की धूनी बच्चे को दें एवं पंच वृक्ष के पत्तों से स्नान करावें। और तब ब्राह्मण भोजन कराना चाहिए। सप्तम वर्ष बाल रक्षा विधि—

चूने से देवी की मूर्ति एक सकोरे में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने खीर, खिचड़ी, भात, तिलकूट, मदिरा, पकान्न, मत्स्य, मांस, दही, आलू, और जौ के आटे के बने पांच दीपक तिल तेल देकर जला दें, पांच ध्वजा रख दें और सात बार पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर बार कर पूर्ण दिशा में किसी नदी के किनारे रख आवें। राई और लहसुन का धूप बालक को देकर पञ्च गन्ध से स्नान करावें। और तब ब्राह्मण भोजन करावें। यह बलि विधान सात दिन तक कराना चाहिए। स्नानादि में भी पूर्वोक्त मन्त्र ही पढ़ें।

७-अष्टम वर्ष बाल रक्षा विधि—

आटे से निर्मित देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने खिचड़ी, चावल, दही, सुगन्ध पुष्प, पूड़ी, पापड़, पकान्न, पांच ध्वजा, और पांच दीपक, ये वस्तुयें रखनी चाहिए। पुनः २१ बार पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ कर सात बार बालक के ऊपर बारें और पूर्व दिशा में यह बलि रख आवें। यह बलि तीन दिन तक लगातार देते रहें। पुनः मेढ़ासिंगा का धूप बालक को देकर स्नान धूपादि पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ कर ही करावें।

८-नवम वर्ष बाल रक्षा विधि—

मिट्टी से बनी देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने पूड़ी, दही, भात, चुरमा की पिन्डी, खीर, पांच दीपक और पांच ध्वजा इन वस्तुओं को रख कर २१ बार पूर्वोक्त मन्त्र पढ़ कर सात बार बालक को स्पर्श करावें और तब पश्चिम दिशा में नदी आदि जलाशयों के किनारे पर बलि को रख आवें। पुनः पांच दिन तक यह बलिदान प्रतिदिन करते रहें। बलिदान के पश्चात् तिलकूट, बच, राई, और लहसुन इन सब वस्तुओं का धूप मिश्रण का प्रलेप करें तथा इन्हीं पदार्थों का धूप



शिशुयोगाङ्कः

भी बालक को दें। तदुपरान्त नीम के पत्तों के काथ से बालक को स्नान करा दें स्नानादि में पूर्वोक्त मंत्र अवश्य पढ़ें।

१०-दशम वर्ष बाल रक्षा विधि-

काली मिट्टी से निर्मित देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने कूट, अन्न, भात, बाकले, दही, लड्डू, मसूर की दाल, लाल पुष्प, पांच दीपक, पांच ध्वजा, और तिल कूट, रख कर, “ॐ मुं च मुं च वियोजय वियोजय आगच्छ आगच्छ बालके स्वाहा”। इस मंत्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर पूर्व दिशा में जलाशय के किनारे बलिदान को रख आवें। यह क्रिया तीन दिनों तक करने के बाद चौथे दिन बालक को स्नान करा दें। तिलों का हवन १०८ आहुती देकर करें।

११-एकादश वर्ष बाल रक्षा विधि-

उड़द के बाकले, गुड़, कचौड़ी, कोई शाक, लड्डू, पूरी, लपसी, पका हुआ मत्स्य, चावल, पांच ध्वजा इन प्रत्येक वस्तुओं को एक सकोरे में रख कर २० बार पूर्वोक्त मंत्र की आवृत्ति के बाद सात बार बालक से स्पर्श करा पूर्व दिशा में वृक्ष के नीचे रख आवें। पुनः राई और नीम के पत्ते का धूप बालक को दें। यह क्रिया तीन दिन करने के बाद चौथे दिन बालक को स्नान करा कर ब्राह्मण भोजन करावें।

१२-द्वादश वर्ष में बाल रक्षा विधि-

नदी के किनारे की मिट्टी से बनी देवी प्रतिमा को एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के सामने गुड़, पूड़ी, लपसी, बाकले, तिलकूट लड्डू, राख की पिन्डी, राई, पांच दीपक, पांच ध्वजा ये वस्तुयें रख कर पूर्वोक्त मंत्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर दक्षिण दिशा में किसी वृक्ष के नीचे सन्ध्या समय रख आवें। उपर्युक्त क्रिया तीन दिनों तक करते रहें। फिर चौथे दिन बालक को पञ्चगव्य से स्नान करा-

कर नीम और सिरस के पत्ते का धूप दें। तथा ब्राह्मण भोजन करावें।

१३-त्रयोदश वर्ष में बाल रक्षा विधि-

आटे से निर्मित देवी की मूर्ति एक पात्र में स्थापित कर उसी पात्र में देवी के समक्ष भात, मिट्टी के पात्र में शर्बत, मदिरा, मांस, मछली, खीर, खिचड़ी, धूप, पांच दीपक, पांच ध्वजा, पांच पुष्प रखकर २१ बार पूर्वोक्त मंत्र की आवृत्ति के बाद बालक के ऊपर बार कर मध्याह्न में पश्चिम दिशा में किसी वृक्ष के नीचे रख आवें। उपरोक्त क्रिया तीन दिनों तक करने के पश्चात् बालक को स्नानादि तथा ब्राह्मण भोजन करावें।

चतुर्दश वर्ष में बाल रक्षा-विधि-

इस वर्ष में बलिदान, स्नानादि और किसी प्रकार की उपरि कथित चिकित्सा असफल हो जाती है। अतएव इस वर्ष के ग्रह ग्रसित बच्चे को शङ्कर भगवान की दया पर छोड़ देना चाहिये। ऐसा आयुर्वेद शास्त्रज्ञों का मत है।

पंचदश वर्ष में बाल रक्षा-विधि-

नदी के पूर्व-पश्चिम दिशाओं की ओर वाली मृत्तिका से बनी देवी की मूर्ति १ पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में मूर्ति के सामने खीर, खिचड़ी, मांस, मदिरा, बाकले, आसव, पूड़ी, सिरस के पत्र, श्वेत फल, पांच दीपक, पांच ध्वजा इत्यादि रख कर २१ बार पूर्वोक्त मंत्र की आवृत्ति करें। तब सात बार बच्चे के ऊपर स्पर्श करावें और मध्याह्न के समय वृक्ष के नीचे रख आवें। यह बलि विधान तीन दिनों तक करने के पश्चात् चौथे दिन बच्चे को पंचगव्य से स्नान करावें तथा कुड़े की छाल और दालचीनी का धूप दें।

षोडश वर्ष में बाल रक्षा-विधि-

बाकल, खिचड़ी, पूड़ी, तिलकूट, कचौड़ी, दही, पांच दीपक और पांच ध्वजा (पांच विभिन्न रंगों वाली) इन वस्तुओं को १ पात्र में रखकर २१ बार पूर्वोक्त मंत्र की आवृत्ति करें। तब सात बार



बच्चे के ऊपर बार कर पूर्व दिशा में सन्ध्याकाल वृत्त के नीचे रख आवें। यह क्रिया तीन दिनों तक करने के पश्चात् चौथे दिन बच्चे को गौ के खुर और सींग का धूप दें। पुनः पंचगव्य तथा तिल संयुक्त जल से पृथक् पृथक् शुद्ध स्नान करावें। तदुपरान्त ब्राह्मण भोजन एवं ग्रह प्रसित बच्चे को नवीन वस्त्र धारण करावें।

दिन-मास-वर्षानुसार ग्रह शांति के उपाय—

अब दिन, मास, वर्ष में ग्रह प्रसित बच्चों के शान्ति की विधि का उल्लेख किया जाता है।

प्रथम दिवस, मास, वर्ष, ग्रह प्रसित बाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारे की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा एक पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के समक्ष श्वेत भात, कपूर, लोहवान, श्वेत चन्दन, श्वेत पुष्प, पांच पांच-रंगी ध्वजायें, पांच दीपक, सुहाली और पांच तरह की मिठाइयां ये वस्तुयें रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ बार आवृत्ति के बाद बच्चे के ऊपर सात बार बार कर दिन के प्रथम पहर में पूर्व दिशा में मौन होकर बलि रख आवें। तत्पश्चात् राई, खस, मदार पुष्प, बिल्ली के बाल, मनुष्य के सिर के बाल, निम्ब के पत्र तथा गौ घृत इन वस्तुओं की धूप बच्चे को देनी चाहिये। उपर्युक्त क्रिया तीन दिनों तक करते रहें। चौथे दिन बच्चे को इसी मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से स्नान करावें। स्नान के लिये व्यवहृत जल को १०८ बार अभिमन्त्रित करना चाहिये।

मन्त्र—ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कंदोवैश्रवणस्तथा ।

रक्षन्तु त्वरीतं बाल मुञ्च मुञ्च कुमारकम् ॥

द्वितीय दिवस, मास, वर्ष ग्रह प्रसित बाल रक्षा विधि—

१ सेर चावल के चूर्ण से निर्मित देवी की मूर्ति मिट्टी के पात्र में स्थापित करके उसी पात्र में देवी के समक्ष गेहूं, दस ध्वजायें, दस दीपक, दश चून

के सतिये, भात, १ सेर पूड़ी, मछली और मांस इन वस्तुओं को रखें। सायंकाल निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार इस मांस पात्र को बच्चे के ऊपर बार कर पश्चिम दिशा में यह बलि रख आवें। यह बलि तीन दिनों तक देनी चाहिये। धूप, मन्त्र का जप तथा स्नान के सब कर्म पूर्व क्रमानुसार ही करनी चाहिये।

मन्त्र—ॐ नमश्चा मुंडायै बिच्चे हं हं ह्रीं ह्रीं हूं हूं दुष्ट ग्रहा गच्छन्वतः स्थानाद्वाक्ष्या स्वाहा ।

तृतीय दिवस, मास, वर्ष ग्रह प्रसित बाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहूं के आटे से निर्मित देवी की मूर्ति को मिट्टी के पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में मूर्ति के सामने लाल भात, लाल ध्वजा, रक्त चन्दन, रक्त पुष्प, रोली रखकर देवी की मूर्ति को रक्त चन्दन का प्रलेप करके सायंकाल पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बच्चे के ऊपर बार कर उत्तर दिशा में बलि को रख आवें और स्नान, मन्त्र, जप, धूपादि कर्म पूर्व रीति से ही करें।

चतुर्थ दिवस, मास, वर्ष बाल रक्षा विधि—

तिल को जल के साथ पीसकर पिंड के समान बना लें और उसीसे देवी की प्रतिमा निर्माण करें। १ मिट्टी के पात्र में प्रतिमा स्थापित कर बेल के कांटों से उस मूर्ति के आठों अङ्गों में रेखायें बना दें। उसी पात्र में प्रतिमा के सामने श्वेत पुष्प, श्वेत ध्वजा, अर्जुन पुष्प, गेहूं के आटे के सथिये, १ सेर भात, १ सेर चना, गुड़ मिश्रित पूडे, पांच दीपक, पांच पंचरंगी ध्वजायें रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बच्चे के ऊपर बार कर पश्चिम दिशा में वृत्त के नीचे प्रातःकाल यह बलि रख आवें। तत्पश्चात् गौ के सींग, सांप की कांचली, निम्ब के पत्ते, मनुष्य के सिर के बाल, बिल्ली के रोम और गौ का घी, इन वस्तुओं का धूप बच्चे को तीन दिनों तक सन्ध्या समय देते रहें। स्नानादि कर्म पूर्ववत् ही करावें।



पंचम दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

१ सेर चावल के आटे से निर्मित देवी की प्रतिमा १ मिट्टी के पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के सामने सफेद भात, पांच सफेद ध्वजायें, पांच दीपक, गेहूँ के आटे के सथिये, उजले फल और श्वेत चन्दन रखकर सन्ध्या समय निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति पढ़कर सात बार बच्चे पर बारें और पश्चिम दिशा में वृत्त के नीचे यह बलि रख आवें। फिर गौ का सींग, लहसन, सांप की कांचली, निम्ब के पत्ते, मनुष्य के सिर के बाल, बिल्ली के रोम और गौघृत, इनका धूप बच्चे को सन्ध्या समय तीन दिनों तक दें।

मन्त्र—ॐ भगवती ह्रीं ह्रीं हूँ हूँ मुञ्च रक्षां कुरु
कुरु बलिं गृह गृह अस्त्रं ठः ठः चामुण्डे
शर्वरि चण्डिके ढः ढः स्वाहा।

षष्ठ दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

कूट, गुग्गुलु, राई, हाथी दांत इनको घी में मिश्रित कर धूनी दें तथा बलिदान, स्नानादि कर्म प्रथम दिवस, मास, वर्ष की रीति से कराना चाहिए।

सप्तम दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

सप्तम दिवस, मास, वर्ष में ग्रह शान्ति के लिए प्रथम दिवस, मास, वर्ष की तरह बलिदान, मन्त्र जप, स्नान, धूपादि, कर्म करावें। तत्पश्चात् ब्राह्मण, साधु, महात्मा, दीनदुःखी अतिथि आदि को भोजन करावें। दान, पुण्य करें। शङ्कर की दया से बालक को आराम हो जायगा।

अष्टम दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

नदी के पूर्व पश्चिम किनारे की मिट्टी से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के सामने गेहूँ, मसूर, हरासाक, मांस, पांच पचरंगी ध्वजायें, और पांच दीपक, ये वस्तुयें रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ बार आवृत्ति के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर पश्चिम दिशा में संध्या समय बलि रख आवें। तत्पश्चात् बालक को गुग्गुलु का

धूप दें। मन्त्र-जप तथा स्नान पंचम दिन, मास, वर्ष के क्रमानुसार ही करें।

नवम दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहूँ के आटे से निर्मित देवी की मूर्ति मिट्टी के पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के सामने भात, मछली, मांस, पापड़ी, ईख, सुहाली, पांच पचरंगी ध्वजायें, आटे के दीपक तथा पुष्प रखकर पूर्वोक्त मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर उत्तर दिशा में बलि रख आवें। तत्पश्चात् गौ का सींग और लहसन का धूप बालक को दें। स्नानादि तथा ब्राह्मण भोजन पूर्ववत् ही करावें।

दशम दिवस, मास, वर्ष में बाल रक्षा विधि—

१ सेर गेहूँ के आटे से निर्मित देवी की मूर्ति को मिट्टी के पात्र में स्थापित कर वेल के कांटों से उस मूर्ति के आठों अङ्गों में रेखायें बनाकर कांटों को उन्हीं अङ्गों में लगा दें।

उसी पात्र में देवी के सामने गुड़ के पके-चावल, घृत, २५ ध्वजायें, गेहूँ के आटे के सथिये, २५ दीपक तथा चार रक्त पुष्प, रख कर २१ आवृत्ति निम्न लिखित मन्त्र की देने के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर संध्या समय दक्षिण दिशा में यह बलि रख आवें।

मन्त्र—“ॐ नमो भगवते वैश्वदेवाय हन हूँ फट स्वाहा।” इसी मन्त्र से जप, धूप तथा स्नानादि कर्म कराना चाहिए।

एकादस दिवस मास में बाल रक्षा विधि—

उड़द के आटे (वेशन) से निर्मित देवी की प्रतिमा एक मिट्टी के पात्र में स्थापित करें। उसी पात्र में देवी के सामने श्वेत भात, २५ श्वेत पुष्प, श्वेत ध्वजा, गेहूँ के आटे के सथिये २५ नग, २५ दीपक, सुहाली, तथा पूड़े, रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर सायं-प्रातः दोनों समय दक्षिण दिशा में यह बलि रख आवें।



मन्त्र—“ॐ नमो भगवते रावणाय चन्द्र हास
बज्र हस्ताय ज्वल ज्वल दुष्ट प्रहादीन् ॐ ह्रीं फट
स्वाहा” ।

इस मन्त्र को २१ बार जपना चाहिए, और सब
कर्मा पूर्ववत् ही करने चाहिए ।

द्वादस दिवस मास वर्ष में बाल रक्षा विधि—

एक सेर चावल के आटे से निर्मित देवी की
प्रतिमा एक मिट्टी के सकोरे में स्थापित करें । उसी
पात्र में देवी के सामने गेहूँ के आटे के तेरह सथिये,
गेहूँ के आटे के दीपक, तेरह ध्वजायें, पूड़े, मछली-
मांस, पापड़ी तथा सुहाली रख कर निम्नलिखित
मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद सात बार बालक के
ऊपर बार कर सायंकाल दक्षिण दिशा में यह बलि
रख आवें ।

मन्त्र—“ॐ नमो नारायणाय ज्वलदहस्ताय हन
हन शोषय शोषय मर्दय मर्दय पातय पातय हुं हुं हुं
हुं हन हन दुष्टानां हूं हूं फट स्वाहा” ।

इसी मन्त्र का जप करें और स्नानादि कर्म पूर्व-
वत् ही करावें ।

त्रयोदस दिवस मास वर्ष में बाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी
की प्रतिमा एक मिट्टी के सकोरे में स्थापित करें ।
फिर देवी की विधिवत् पूजा के पश्चात् उसी पात्र
में देवी के सामने बड़े, लड्डू, पूड़े, गेहूँ, भात, गुड़,
दही चार रङ्ग की ध्वजायें, चार दीपक, पुष्प, चंदन,
रखकर निम्न लिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति के बाद
सात बार बालक के ऊपर बार कर मध्याह्न समय में
पूरब दिशा में यह बलि रख आवें ।

मन्त्र—ॐ नमो भगवते रावणाय बालकं मुंच-
मुंच स्वाहा ।

इसी मन्त्र का जप करें और स्नानादि कर्म
पूर्ववत् ही करावें ।

चतुर्दस दिवस मास वर्ष में बाल रक्षा विधि—

तेरहवें दिवस, मास-वर्ष में जो बलि आदि

लिखे गये हैं वे ही उपचार चौदहवें दिवस-मास कर्म
में करना चाहिए । और धूप, लेप, स्नान तथा मन्त्र
जप पूर्ववत् ही कराने चाहिये ।

पंचदस दिवस मास वर्ष में बाल रक्षा विधि—

नदी के दोनों किनारों की मिट्टी से निर्मित देवी
की प्रतिमा को एक मिट्टी के सकोरे में स्थापित करें
फिर देवी की विधिवत् पूजा के पश्चात् उसी पात्र
में देवी के सामने बड़े, लड्डू, पूड़े, गेहूँ, भात, गुड़,
दही, चार रङ्ग की ध्वजायें, चार दीपक, पुष्प, तथा
चन्दन, रखकर निम्नलिखित मन्त्र की २१ आवृत्ति
के बाद सात बार बालक के ऊपर बार कर मध्याह्न
समय पूर्व दिशा में यह बलि रख आवें । तत्पश्चात्
गौ का सींग, लहसन, सांप की कांचली, निम्ब के
पत्ते, मनुष्य के सिर के बाल, बिल्ली के रोम
और गौ का घी, इन वस्तुओं का धूप बालक के
तीन दिनों तक सन्ध्या समय देते रहें । स्नानादि
कर्म पूर्ववत् ही करावें ।

षोडस दिवस मास वर्ष में बाल रक्षा विधि—

तेरहवें दिवस-मास वर्ष में जो बलि लिखे गए
हैं वे ही उपचार सोलहवें दिवस-मास वर्ष में भी
करने चाहिये । फिर बलिदान अर्ध रात्रि के समय
नैऋत्य दिशा में रख देना चाहिये । तत्पश्चात्
गौ का सींग, लहसुन, सांप की कांचली, निम्ब के
पत्ते, मनुष्य के बाल, बिल्ली के रोम, और गौ का
घी, इन वस्तुओं का धूप बालक को तीन दिनों तक
सन्ध्या समय देते रहें । स्नानादि कर्म पूर्ववत् ही
करावें ।

अब कुछ साधारण ग्रह-प्रसित बालकों की रक्षा
की विधि का उल्लेख किया जाता है ।

१-स्कन्द ग्रह की चिकित्सा—

(१) देवदारु, रास्ना और समस्त मधुर वर्ग की
औषधियों के कल्क और गौ दुग्ध को घृत के साथ
पकाकर बालक की आयु निश्चित कर मात्रा निश्चि-
त पण करनी चाहिये । प्रातः सायं वह घृत बच्चों को



शिशु रोगाङ्कः

पिलाना चाहिये। यह घृत स्कन्द ग्रह प्रसित बच्चों के लिये हितकर है।

(२) सरसों, सांप की केंचली, बच, सफेद चोंटनी, घी, ऊंट, बकरी, भेड़ और गाय के रोम, इन वस्तुओं के मिश्रण की धूनी देने से स्कंद ग्रह प्रसित बच्चे मुक्त हो जाते हैं।

(३) सोमलता, इन्दवेल, समी, वेल के कांटे, तथा पालतू खरगोश का मूत्र इन वस्तुओं का मर्दन बच्चे के शरीर में करें तो ग्रह दूर हो जाता है।

(४) सोमलता, इन्द्रायण, वेल के पेड़ का बान्दा और इन्द्रायण की जड़ इन सबको एक डोरे में बांधकर उस डोरे को बच्चे के गले में पहनाने से स्कंद ग्रह दूर हो जाता है।

(५) बांस का बकल, तगर, लहसुन, निम्ब के पत्ते और गौ का घी इन वस्तुओं के मिश्रण से बच्चों को धूप दें तो ग्रह बच्चे के शरीर को छोड़ देता है और बच्चा स्वस्थ हो जाता है।

२-स्कन्दापस्मार ग्रह की चिकित्सा

(१) क्षीर वृक्ष अर्थात् वड़, गूलर, पीपल, पिलखनादि के काथ में घृत पकाकर वह घृत दुग्ध के अनुपात से प्रातः सायं बच्चे की आयु के अनुसार तथा मात्रा निरूपण कर पिलाना चाहिये। ऐसा सुश्रुताचार्य का कथन है।

(२) गीघ की विष्टा, उल्लू पक्षी की विष्टा, केश, हाथी के नख और बैल के रोम इनकी नित्य धूनी देने से स्कन्दापस्मार ग्रह की शान्ति होती है।

(३) काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गुर्च, मुद्ग पर्णी, पद्माख, वंशलोचन, काकड़ासिंगी, पुन्डेरिया, जीवन्ती, ज्येष्ठी मधु और मुनक्का इन औषधियों के काथ में घृत पकाकर दुग्ध के साथ प्रातः और सायं बच्चे की आयु के अनुसार मात्रा निरूपण कर पिलाना चाहिये। इस घृत के सेवन करने से बच्चों का स्कन्दापस्मार दूर हो जाता है। ऐसा सुश्रु-

ताचार्य का कथन है।

(४) गाय, बकरी, भेड़, भैंस, गदहा, घोड़ा, ऊंट और हाथी इन आठ पशुओं के मूत्र में तेल पकाकर स्कन्दापस्मार ग्रह प्रसित बच्चों के समस्त शरीर में मर्दन करें।

इस अष्ट मूत्र तैल के प्रयोग से बच्चा स्वस्थ तथा ग्रह मुक्त हो जाता है।

(५) वेल की जड़, सिरस के पत्ते, सफेद दूब, तुलसी, सफेद तुलसी, पादल, भारंगी, मरुचा, कुमुद, भूस्त्रण, राई, सफेद सरसों, कायफल, काली बन तुलसी, कसौन्दी, सालई, विडङ्ग, निगुण्डी, सम्हालू, कनेर, गूलर, खिरैटी, मकोय और तेन्दु इन औषधियों का विधिवत् काथ बनाकर स्कन्दापस्मार ग्रह प्रसित बच्चों को सिंचन करना चाहिये।

३-शकुनी ग्रह की चिकित्सा और तांत्रिक पटल

(१) उपरिवर्णित स्कन्दापस्मार ग्रह शान्ति के लिये जो घृत लिखे हैं वे ही घृत शकुनी ग्रह प्रसित बच्चों को भी पिलाना चाहिये।

(२) शतावर, बड़ी इन्द्रायन, नागदौन, कटेरी, लक्ष्मणा, सहदेई और बड़ी कटेरी इन सबकी जड़ को एक डोरे में बांधकर शकुनी ग्रह प्रसित बच्चों के गले में लटका देना चाहिये।

(३) ज्येष्ठी मधु, खस, सुगन्धवाला, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, प्रियंगु, मजीठ और सोना गेरू इनको एकत्र पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करें। इस लेप से शकुनी ग्रह शान्त होता है।

(४) बैत, आम और कैथ इनका काथ बनाकर शकुनी ग्रह प्रसित बच्चों को परिसेचन करने से अवश्य ही ग्रह दूर हो जाता है।

(५) सरसों, सांप की केंचली, बच, सफेद घुंघची, घी तथा ऊंट, बकरी, भेड़ और गाय के रोम इन सबों का धूप बनाकर बच्चों को देने से शकुनी ग्रह शान्त हो जाता है।



४-रेवती ग्रह की चिकित्सा—

(१) धव, अश्वकर्ण-छाल, अर्जुन, धाय के फूल, तेन्दु, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, वृद्धि, मेदा, महामेदा, गिलोय, मुद्ग पर्णी, मासपर्णी, पद्मास, वंशलोचन, काकड़ासिंगी, पुन्डेरिया, जीवन्ती, मुलैठी और मुनक्का इन औषधियों का विधिवत् कल्क बनाकर घृत तैयार करें और बच्चे की आयु देखकर मात्रा निरूपण करें। प्रातः सायं इस अमृततुल्य घृत का सेवन करावें। इस घृत के सेवन कराने से रेवती ग्रह प्रसित बच्चों को मुक्ति मिल जाती है।

(२) असगन्ध, मेदासिंगी, सारिवा, पुनर्त्वा, दोनों प्रकार का पियाबांसा और विदारीकंद इनके काथ से बच्चे का सेचन करें।

(३) गीध की विष्टा, उल्लू की विष्टा, वच और जौ इन सबका धूप बच्चों को दोनों समय अर्थात् प्रातः सायं देने से बच्चे के रेवती ग्रह का प्रकोप दूर हो जाता है।

(४) बहुत प्रकार की मिठाइयां, सत्तू, खीर, मांस, खार, सुगन्ध पुष्प, धूप, सुगन्धित द्रव्य, दीप, जल से परिपूर्ण कलश (उसमें सुवर्ण यथा साध्य) और वारुणी इन वस्तुओं को मिट्टी के १ पात्र में रखकर २१ बार निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करें। पुनः सात बार इस पात्र को बच्चे के सिर से लगाकर नदी किनारे बलि रख आवें।

मन्त्र—शिशोर्विकारान्मचाद्य रेवती चैव मातृक।

प्रगृहणीष्व वलिं चेमं सुन्दरि प्रिय भूषणे ॥

५-पूतना ग्रह की चिकित्सा—

(१) कूट, तालीशपत्र, तगर, चंदन, तिरिछ, ढाक की जड़, कुशा मूल, दूर्वा के सात पत्ते और अरवा चावल इन वस्तुओं की एकत्र धूनी देने से पूतना ग्रह दूर होता है।

(२) गन्धनाकुली, जल कुम्भी, बेर की सिंगी, कुक्कुट की हड्डी, घृत और सरसों इनका धूप बनाकर देने से पूतना ग्रह की शान्ति होती है।

(३) धव, कदम्ब, कूट, इलायची, पर्वता कदम्ब, देवदारु, रेणुका और होंग इनको एक पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करें तो पूतना ग्रह की शान्ति होती है।

(४) खिचड़ी, जल से परिपूर्ण कलश (जल कलश में यथासाध्य सुवर्ण) तिल, कूट, ध्वजा सुगन्ध द्रव्य, पुष्प, धूप और दीप ये वस्तुएँ एक मिट्टी के सकोरे में रखकर निम्नलिखित मन्त्र २१ बार अभिमन्त्रित करें। पुनः इस पात्र को बच्चे के सिर से स्पर्श कर बच्चों के क्रीड़ा स्थल पर बलि रख आवें।

मन्त्र—नीलाम्बर धरे देवी पूतने विकृतानने।

शिशोर्विकारान्मुञ्चस्व प्रगृह्णीष्व बलित्विमम् ॥

६-अन्ध पूतना ग्रह की चिकित्सा —

(१) सेमल, करंज, कंदूरी और जवासा इन सबको १ धागे में बांधकर बच्चे के गले में लटका दें तो अन्धपूतना ग्रह से बच्चा मुक्त हो जाता है।

(२) मुर्गे की विष्टा, केश, सांप का चमड़ा और बच्चे की पुरानी धोती, इन सबको एकत्रित कर धूनी देने से अन्धपूतना ग्रह प्रसृत बच्चे का कल्याण होता है।

३-मदिरा, कांजी, कूट, मनः शिला और रात इन सबको तेल में पका कर बालकों के शरीर पर लगाने से अन्धपूतना ग्रह की समाप्ति होती है।

४—अन्न, मांस, रुधिर, लाल कपड़ा, रुक् चन्दन, जल से परिपूर्ण कलश में किंचित सोना, ध्वजा और दीपक—इन सबों को मिट्टी के पात्र में रख कर २१ बार निम्नलिखित मन्त्र पाठ करें और सात बार बालक के ऊपर बार कर सन्ध्या समय थूहर के वृक्ष के नीचे रख आवें। इस तांत्रिक क्रिया के प्रयोग से बालक स्वस्थ हो जाता और ग्रह दोष शान्त हो जाता है।

७-शीतपूतना ग्रह की चिकित्सा -

१-बकरे का मूत्र, गो मूत्र, नागरमोथा, देवदारु



शिशु रोगाङ्कः

कूट, केशर, अगार, कपूर, कस्तूरी, और चन्दन इन सबों का महीन कल्क बना कर विधिवत् तैल पकावें। यह तैल ग्रह-ग्रसित बालकों के शरीर पर मर्दन करें।

२—गीध और उल्लू की विष्ठा, वन तुलसी की जटा, सांप का चमड़ा, नीम के पत्ते और ज्येष्ठ मधु, इन द्रव्यों का धूप बना कर दें।

३—कड़वी तुम्बी, चौंटनी और सफेद चौंटनी इन तीनों बूटियों को एक धागे में बांधकर बालक के गले में लटकायें।

४—अन्न, मांस, रक्त, सुगन्ध पुष्प, सफेद बख, लाल बख, धूप, दीपक, और जल से परिपूर्ण कलश (किंचित स्वर्ण के साथ) ये वस्तुयें मिट्टी के सकोरे में रख कर निम्नलिखित मंत्र का २१ बार पाठ करें। इस भरे पात्र को बालक के मस्तक से स्पर्श कराते हुए धूहर वृत्त के नीचे रख दें।

८—मुखमंडिका ग्रह की चिकित्सा—

१—कैथ, बेल, अरणी, अड़ूसा, अरण्ड, और वन तुलसी, इनका विधिवत् काथ बना कर मुख मंडिका ग्रह-ग्रसित बालक का इससे सेचन करावें।

२—भांगरे का स्वरस और नागौरी असगन्ध के काथ में विधिवत् तेल पका कर बालकों को इस तेल का मर्दन करावें।

३—नीलकंठ पक्षी, चील, और सांप की जिह्वा एक धागे में बांध कर बालक के गले में लटका दें।

३—मुलेठी, दूध, बंशलोचन, मधुराण की औषधियां, सरिवन, पिठवन, कटेरी, बृहत् कटेरी, और गोखरु, इनके साथ घृत पका कर प्रातः सायं उचित मात्रा में बालकों को सेवन करावें।

६—नैगमेय ग्रह की चिकित्सा—

१—घोड़ वच, बड़ी हरड़, सफेद दूब और बालछड़ इन चारों को एक डोरे में बांध कर बालक के गले में लटका देने से नैगमेय ग्रह-ग्रसित बालक चंगा हो जाता है।

२—सफेद सरसों, बच, हींग, कूठ, अक्षत, भिलावे, और अजमोद इन सबों की धूनी दें।

३—तिल, चावल, पुष्प माला, पक्कान, और मिष्ठान्न, ये भोजन नैगमेय ग्रह की वृत्ति के लिए पाखर वृत्त के नीचे रख आवें।

४—जब घर के सब लोग रात्रि में सो जाय तो ग्रह-ग्रसित बालक को पीपल या बट वृत्त के नीचे स्नान करावें। पुनः बन्दर, उल्लू, तथा गीध की विष्ठा की धूनी बालक के पिता के शयनागार में देने से ग्रह-ग्रसित बालक चंगा हो जाता है।

५—फूल प्रियंगु, धूप सरल, अनन्त मूल, सोंफ, और श्योनाक इन सबों को समभाग लेकर कल्क बनावें। कल्क से चौगुने तेल, गौमूत्र, दही का तोड़ और खट्टी कांजी में डालकर पकावें। जब तेल मात्र रह जाय तथा जलीय पदार्थ जल जाय तो शीतल होने पर छान लें और बोतल में सुदृढ़ काग लगा कर रख दें। यह तेल ग्रह पीडित बालक को प्रातः सायं मर्दन करें। इससे ग्रह शान्त होता है।

सर्व ग्रहों का अधिपति स्कन्द है तथा सर्व रोगों का अधिपति रेवती है। इसलिये बालक के हित की इच्छा करने वाले इन दोनों का पूजन करें।

कुछ यंत्र, मंत्र, धूप—

१—नरसिंह बीज मंत्र—

“ॐ नमोनरसिंहाय हिरणाय कशिपु वक्षःस्थल विदारणाय । त्रिभुवन व्यापकाय भूत प्रेत पिशाच डाकिनी कुलोन्मूलनाय स्तम्भोदमवाय समस्त दोषान हर हर विसर विसर पच पच हन हन कम्पय त्राहोहि आत्मा पयति स्वाहा ॥”

उपरोक्त नरसिंह मंत्र का एक बार उच्चारण कर जिस बालक को फूंक दिया जाय, या इस मंत्र को भुर्ज पत्र पर लिख कर ताम्बे के तावीज में बन्द कर बालक के गले में बांध दें।

२—सर्व ग्रह नाशक सिद्ध मंत्र—

“ॐ ॐ ह्रीं ह्रीं हः हः फट स्वाहा” उपरोक्त मंत्र से सफेद सरसों को सात बार अभिमन्त्रित कर भूत-ग्रसित रोगी पर छीटा मारें।



२-सर्वग्रह नाशक धूप देने का मंत्र-

“ॐ द्रुतं मुंच मुंच उड्डामरेश्वर आम्नापयति स्वाहा” उपरोक्त मंत्र को तीन बार पढ़ कर धूप दें।

४-सर्व ग्रह नाशक सिद्ध मंत्र-

इस मंत्र को मुर्ज पत्र पर लिख कर बालक के गले में बांधें।

मंत्र-“ॐ ठं ठं हूं क्रूं स्वाहा”

६-सर्वग्रह-नाशक धूप देने का मंत्र-

“ॐ मुक मुक एक एक हुष हुष जय जय आगच्छ आगच्छ ढः ढः स्वाहा” इस मंत्र से हवन करने, या धूप देने से सर्व ग्रह दूर होते हैं।

७-बालकों के भूतादि दूर करने का मंत्र-

“ॐ आं क्रीं हुं मार हस्त हूं ह्रीं करे समस्त दोषान् हर हर विसर विसर हुं फट स्वाहा” उपरोक्त मंत्र से जल अभिमंत्रित कर रोगी को पिलावें और थोड़ा शोरा मिलाकर शरीर पर छिड़कें।

८-भूतादि प्रसित के लिये मंत्र-

“ॐ आघोरे अघोresh्वरी घोर मुखे चामंडे ऊर्ध्व केशी ह्रीं स्फीं फट हुं स्वाहा” उपरोक्त मंत्र को ११ बार जप करके नीचे लिखा मंत्र पढ़ कर पीली सरसों भूत प्रसित रोगी को मारें।

मंत्र-“ॐ भगवते रुद्राय चण्डेश्वराय हुं हुं हुं फट फट स्वाहा।”

९-सर्व ग्रहनाशक धूप-

सिरिस पत्र, निम्ब पत्र, गो-शृंग का झिलका, बच, बांस की छाल, मयूर-पुच्छ, कांगनी और गो-घृत ये सब चीजें बराबर लेकर बालकों के रहने के स्थान में धूप दें।

१०-सर्व ग्रहनाशक धूप-

मंत्र-“खुं खुर्दनं खं हुं फट स्वाहा”।

इस मंत्र से बालक को धूप दें।

११-बालकों के सर्व प्रकार के भय दूर करने का यंत्र-

आगे दिये यंत्र को एक हजार बार स्वर्ण गेरू तथा कथे की स्याही और अनार की लकड़ी की कलम से स्लेट पर लिख कर सिद्ध करें। पश्चात् इस यंत्र को ब्रह्म वर्ण मुर्ज पत्र पर लिख कर काले धागे (ढोरे) में बालक के गले में बांध दें।

अ	अ	म्
अ	उ	म्
अ	म्	म्

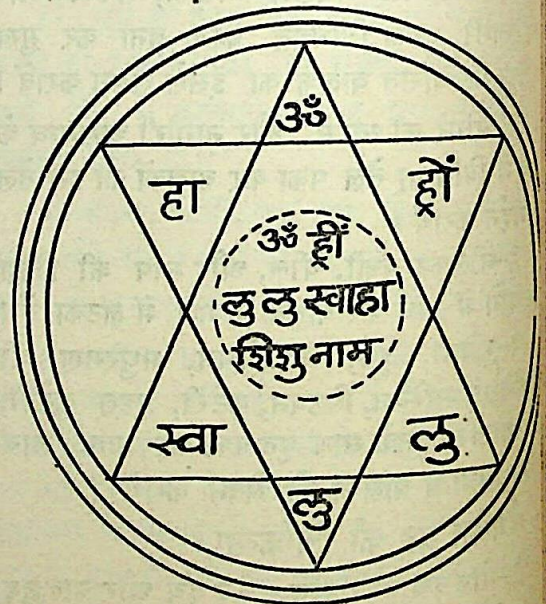
१२-बालकों के रुदन-निवारण यंत्र-

१२	२	११	१
१६	२	३६	८
५	२४	६	२३
४	१३	६	१८

सीं रीं रीं जं द्रं त्रं डीं य

इस यंत्र को ब्रह्मवर्ण मुर्ज पत्र पर अष्ट त्त से लिख कर बालक के गले में बांध दें।

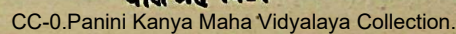
१३-बालकों के रुदन निवारण यंत्र-



चिन नं० ३६

इस षट्क्षरी यंत्र को ब्रह्मवर्ण मुर्जपत्र पर लिख कर बालक के गले में बांध दें।

—श्री पं० उदय नारायण भा आयुर्वेदाचार्य
एकहारा पो० मथुरापुर (भागलपुर)



बाल ग्रह एवं भूतबाधा

वैद्य श्री मुन्नालाल गुप्त B. 1. M.

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

नवजात शिशुओं की बाल-ग्रह दुष्टात्मा तथा भूत प्रेत बाधा से रक्षा के हेतु शल्य-शालाक्य शास्त्र के प्रणेता महर्षि मुश्रुताचार्य ने उपदेश करते हुए लिखा है—

वातातप विद्युत्प्रभा पादपलता शून्यागार निम्न स्थान ग्रहच्छापादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रचेत् ।

—सु० शा० अ० १० सू० ६१

अर्थात् बच्चे को तीक्ष्ण पवन, धूप, बिजली की चकाचौंध, डरावने वृक्ष, लता, शून्य स्थान, नीचे स्थान (जहां देखने से भय लगे या गिर पड़े), गृह छाया (दीवारों की परछाईं) तथा खोटे ग्रहों के उपद्रवों से बच्चों की रक्षा करनी चाहिए ।

नित्यमवरोधरतश्चस्यात्कृतरक्ष अपसर्गभयात् ।

प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गैर्भ्योरक्षया बाला भवन्ति ॥

—सु० शा० अ० १० सू० ६४

अर्थात् किसी भी समय बच्चे को अकेला नहीं छोड़ना चाहिए और यत्नपूर्वक ग्रह बाधा तथा उपसर्ग (उपद्रव) से उसकी रक्षा करना आवश्यक है । क्योंकि—

ऐश्वर्यस्थास्तेन शक्या विशन्तो देहं द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपां आसं वाक्यं तत्समीच्याभिधास्ये लिंगान्येषां यानि देहे भवन्ति ।

अर्थात् ये सब ग्रह अमानुषिक अलौकिक शक्ति संपन्न तथा अनेक रूप धारण कर सकने में समर्थ होने के कारण मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हुए भी दिखाई नहीं देते अतः आप्त वाक्य ही इसके लिये प्रमाण है । उनकी अच्छी तरह समीक्षा करके ग्रहावेश से पीड़ित जो लक्षण होते हैं उनका वर्णन करूंगा ।

ग्रह व भूत प्रेतादि मानव शरीर में किस प्रकार प्रवेश करते हैं उस सम्बन्ध में लिखा है—

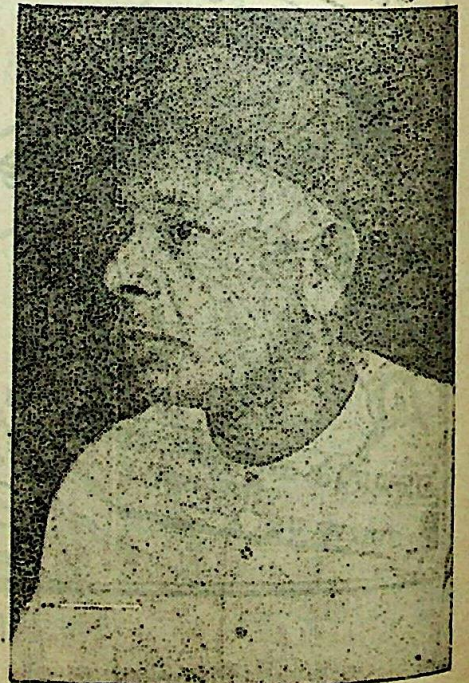
दर्शनाद्विज्ञेयं यथा छाया शोतोष्णं प्राणिनो यथा ।

स्वमयि भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहं धृक् ॥

विशन्ति न च दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणाम् ।

अर्थात्-दर्पणादि में जैसे छाया प्रवेश करती उसका रूप नहीं दिखाई देता । शीत, गर्मी मनुष्य शरीर में बिना दिखाई दिये ही व्याप्त हो जाती । सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें प्रवेश करती परन्तु दिखाई नहीं देती, देह में जीव रहता और दिखाई नहीं देता, उसी भांति देव, भूत, पिशाच आदि ग्रह प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर जाते पर दिखाई नहीं देते क्योंकि वे अदृश्य जगत में रहते हैं और इन नेत्रों से ओझल हैं ।

कुछ मनीषियों यह भी मत है कि ग्रहों में तीव्र तप, दान, व्रत, धर्म नियम सत्य तथा आठों सिद्धियों जिस ग्रह का जैसा प्रभाव है उसके अनुसार अन्न या सम्पूर्ण अंशों में सर्वदा स्वभाव से ही विद्यमान रहती हैं । यह ग्रह मनुष्यों से नहीं मिलते और प्रवेश ही करते हैं । लोग मूर्खतावश ऐसा कहते हैं कि “अमुक मनुष्य के शरीर में अमुक ग्रह प्रवेश किये हैं” वे भूत विद्या के विषय में अनभिज्ञ हैं ।





सिद्धयोगाङ्कः

इन ग्रहों के सेवक जो अपरिमित संख्या में हैं रक्त, मांस, वसा के भक्षक हैं। वे मानव शरीर में अप-वित्रता का छिद्र पाकर अपनी भूख मिटाने के लिये प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश कर जाते हैं।

आज के अनेक भारतीय बुद्धिवादियों ने 'रुद्र' 'प्रमथ' ग्रह प्रभृति नामों को विशेष प्रकार के कीटा-णुओं का होना माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने विस्तृत विवेचना भी की है। अस्तु।

किन्तु आज का युग वैज्ञानिक युग है। इसमें किसी पूर्वकालीन मत को तब तक स्वीकार नहीं किया जाता जब तक कि उसे विज्ञान की कसौटी पर सत्य प्रमाणित न कर लिया जावे। यह उचित भी है, किन्तु वैज्ञानिक जगत ने अब तक भूत व ग्रह-जनित व्याधियों पर खोज कर जन भ्रांति को दूर करने की चेष्टा नहीं की। भारत ही नहीं संसार के अनेक भागों में ऐसा विश्वास चला आ रहा है कि अनेक व्याधियाँ ऐसी हैं जिनकी उत्पत्ति में भूत प्रेत ग्रह आदि कारण हैं। कुछ विचारकों का मत है कि यह रोग मानसिक विकृतिजन्य है।

महर्षि चरक व सुश्रुत ने, जिनके मत में रोगों की उत्पत्ति का कारण वात-पित्त-कफ का वैषम्य ही है, सभी पहलुओं पर विचार कर ग्रह जनित पीड़ा को भी स्वीकार किया है। और अपनी चिकित्सा में सामञ्जस्य स्थापित किया है।

श्री आर्थर कोनन डायल, जो भूत विद्या के विशेषज्ञ माने जाते हैं लिखते हैं—

मैं ऐसी बातों को अत्यन्त मूर्खतापूर्ण समझता था और कोई भी समझदार व्यक्ति कैसे इस पर विश्वास करेगा मुझे स्वयं इस पर आश्चर्य था।' इसी प्रकार की धारणा सर ओलीवर लॉज आदि मनीषियों की भी है।

बालग्रह की चिकित्सा के अन्तर्गत कितने ही ऐसे द्रव्यों का वर्णन आया है, जिन्हें भूत प्रेत बाधा से रक्षक माना है। वे ऐसी हैं? यह तो भावी वैज्ञानिक जगत सिद्ध करेगा। किन्तु वे जीवाणु-

नाशक, मानसिक विकृति को व्यवस्थित करने तथा चित्त को संतुलित करने में आज भी प्रसिद्ध हैं। जैसे ब्राह्मी, बच, सुवर्चला, कूट, मालकांगनी, जटा-मांसी, चन्दन, गुग्गुल, मुरा, वायविडंग, मृग मद, केशर, अम्बर, गोरोचन, मैसिल और हरताल आदि।

आज अन्वेषण काल चल रहा है। उपर्युक्त वस्तुओं पर अन्वेषण यदि किया जावे तो अनेक चमत्कारिक तथ्य हाथ लग सकते हैं। यह कार्य हमारे चिकित्सक समाज का है। यह कार्य हम नहीं करते हैं तो हमारी गणना अन्ध श्रद्धालुओं में ही रहेगी और हमें असभ्य माना जावेगा।

ग्रह बाधा से पीड़ित बालकों के लक्षण—

जब बालक अनायास भयभीत होकर आर्तस्वर में रोने व चीखने लगे, आकाश की ओर टकटकी बांध कर देखे, भौंहें ऊपर को चढ़ जावें, बारबार जमाईं ले, ओठों को दांतों से चबाये, माता को नखों तथा दांतों से नोंचे खसोटे या स्वयं को काटे, दुर्बल तथा मलिन हो जावे, गला घरघराने लगे, रात्रि में सोये नहीं, कम्प तथा दौरे आने लगें, शरीर पर काले, पीले, लाल, धुमैले या ताम्र वर्ण के धब्बे पड़ जावें, स्तन पान छोड़ दे तो जानना चाहिए कि बच्चा ग्रह बाधा से पीड़ित है। ये रोग जमोघा, जमुआ आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

अथवा—जिस बालक के नखों में तथा दांतों में विकार हो। निद्रा न आवे, भयभीत हो उल्लापन उद्देगवान हो, शरीर में गंध आवे, अनेक प्रकार की चेष्टा करे, बल अधिक हो उस बालक को ग्रहा-विष्ट जानना चाहिए।

बालक क्षण क्षण में कांपने लगे, क्षण क्षण में भयभीत होवे, रोने लगे, नखों और दांतों से काटने लगे। दांत कटकटाये, दांत और ओष्ठ फरफराता रहे, मुंह से फेन आवे, देह में सूजन आजाय, मल पतला हो तथा रक्त, मांस तथा चर्बी की सी गंध आती हो ऐसे रोगी बालक ग्रह जुष्ट से ही प्रायः पीड़ित पाये जाते हैं।



ग्रहबाधा के कारणों के सम्बन्ध में—

शास्त्रकारों के मत का निचोड़ यह है कि जिनके आचार विचार, खानपान, रहन सहन तथा आजी-विका अशुद्ध और अपवित्र हैं उन्हीं के बालक अधिकतर ग्रह जनित बाधा से पीड़ित होते हैं।

महर्षि चरक ने भी ग्रहों की अपरि संख्या लिखी है। उन ग्रहों को आठ श्रेणियों में विभाजन किया गया है। (१) देव (२) ऋषिग्रह (३) गंधर्व ग्रह (४) पिशाच ग्रह (५) क्षय ग्रह (६) राक्षस ग्रह (७) ब्रह्मराक्षस (८) पितृ ग्रह।

कुछ के मत से भूत भावन भगवान शंकर ने स्वामी कार्तिक की रक्षार्थ बारह ग्रहों को उत्पन्न किया था। आवश्यकता दूर होने पर उन ग्रहों को जिस गृह में शौचाचार का अभाव है वहां जाकर बालकों को पीड़ा देने की आज्ञा दी। उन ग्रहों के नाम इस भांति हैं—(१) स्कन्द (२) विशाखा (३) मेधाख्य (४) स्वग्रह (५) पितृग्रह (६) शकुनि-पूतना (७) शक्ति पूतना (८) दृष्टि पूतना (९) मुख मंडलिका (१०) रेवती (११) शुष्क रेवती (१२) नेगमेहग्रह।

माधव निदानकार ने निम्न नव ग्रहों का जिक्र किया है। स्कन्दग्रह, स्कन्दापस्मार, शकुनिग्रह, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शक्तिपतना, मुख मंडिका और नेगमेह।

उद्योतिष—शास्त्र में २७ नक्षत्रों के २७ देवता माने हैं। वे भी ग्रहों की तरह बालकों को कष्ट देते हैं। इसी प्रकार अनेक मत हैं।

विस्तार में न जाकर निदान और लक्षणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विस्तार के लिए काश्यप संहिता, सुश्रुत का उत्तर तन्त्र, भावप्रकाश, माधव निदान तथा विद्वद्धर कल्याण वैद्य द्वारा विरचित “बालतन्त्र” आदि ग्रंथों का अवलोकन करें।

पूतनादि के आक्रमण के विशिष्ट कारण —

(१) अत्यन्त मैले व निर्जन स्थान पर सोते

बालक को पूतना ग्रहण करती है—

अत्यन्त मलिनास्तीर्णशयानं निर्जनेस्थले ।
स्वपतं पूतना नाम ग्राही गृह्णाति बालकम् ॥

(२) बहुत आभूषण पहनने से या सुगंधित इत्रादि बालक के लगाने से रेवती नामक ग्रह बालक को ग्रहण करती है।

भूषणैर्बहुभिर्युक्तं गंधादिमिरलंकृतम् ।
बालकं रेवती नामाग्रह संक्रमते तदा ॥

(३) संध्या के समय पृथ्वी पर सोते हुए बालक को या खेलते हुए बालक को पुष्परेवती नामक ग्रह पीड़ा देता है।

(४) देव स्थान में उच्छिष्ट भोजन कराने से या मल मूत्रादि के त्याग करने से बालक को शकुनी-ग्रह ग्रहण करती है।

उच्छिष्ट भोजनं देवालय मूत्रादिकारिणम् ।
शकुनी ग्रही गृह्णाति ततो जागर्तिवेनिशि ॥

यहां ऊपर चन्द कारण उपस्थित किए हैं जिनके कारण बालकों को ग्रह जुष्ट रोग होते हैं। अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि उक्त कारणों से बालकों की सदैव रक्षा करें।

स्कन्दादि ग्रहों के आक्रमण के उपरान्त जो रोग लक्षण बालक में देखे जाते हैं, उनका वर्णन यहां न करके मात्र विशिष्ट लक्षणों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करूंगा। शेष लक्षण गत लेख में देख सकते हैं।

ग्रहों के विशिष्ट लक्षण—

(१) स्कन्द ग्रह से शरीर में रक्त की गंध, नेत्रों से स्राव, स्पन्दन एवं कम्प होता है। और मृगीवद दौरा होता है।

(२) स्कन्दापस्मार से शरीर में पूय तथा रक्त की सी गंध आती है।

(३) शकुनी ग्रह से शरीर में पक्षियों की सी गंध आती है।

(४) रेवती ग्रह से कीचड़ की सी गंध आती है।

शिशु रोगादिः

(५) पूतना ग्रह से रोगी शिशु की दृष्टि तिरछी रहती है ।

(६) अंध पूतना से रोगी शिशु के शरीर से चर्बी की गंध आती है ।

(७) शीत पूतना से रोगी शिशु निर्गन्ध या विशेष गन्धयुक्त होता है ।

(८) मुखमण्डिका ग्रह से रोगी बालक के मुख का वर्ण स्वच्छ हो जाता है, और शिराओं से शरीर व्याप्त हो जाता है और शरीर से मूत्र की सी गंध आती है ।

(९) नैगमेह ग्रह से पीडित बालक का मुख अधिक सूखता है ।

ग्रहजुष्ट रोगों की असाध्यता—

जिस रोगी बालक के नेत्र स्तब्ध हो जाय, दूध पीना छोड़ दे, जो बारम्बार मूर्च्छित हो, तथा जो ग्रह जनित रोग के लक्षण बताये हैं वे सभी लक्षण यदि रोगी बालक में देखे जाय तो वह ग्रह रोगी बालक को मार ही डालता है ।

चिकित्सा

ग्रह जुष्ट रोगों की चिकित्सा भी दैवव्यपाश्रय यानि देव पूजन बलि, कर्म, उपहारकर्म, मंत्र, अंजन, शान्ति कर्म, यज्ञ, जप मंगल कर्म वेदोक्त नियम तथा प्रायश्चित्त कर्म द्वारा की जाती है । ऐसा चरकादि महर्षियों ने भी माना है । यथा—

पूजां वल्युपहारांश्च मंत्राञ्जनं विधिस्तथा ।

शान्तिकर्मैष्टि होमांश्च जप स्वस्त्ययनानि च ॥

वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ।

—च. चि० अ० ६ सू० ६७

ये कर्म भी अधिकारी ब्राह्मण से ही कराना चाहिए अन्यथा इससे कोई लाभ भी नहीं होगा और पैसा भी व्यर्थ नष्ट होगा तथा बच्चे को भी रोग से मुक्ति नहीं मिलेगी । इसी विश्वास विश्वास में रोगी के शरीर का अन्त हो सकता है ।

भगवान् चरक का मत है कि भूतों के अधि-

पति 'महेश्वर' का पूजन करने से ग्रह जनित रोग नहीं रहता ।

रुद्र के 'प्रमथ' नामक जो गण लोक में विचरते हैं, उनकी प्रतिदिन पूजा करने से आगन्तुक ग्रहों की पीड़ा से रोगी बालक मुक्त हो जाता है ।

बलि कर्म से, मांगलिक कार्यों से, होम से, दिव्य औषधियों और अगदों के धारण करने से, सत्याचार से, तप से, दान से, नियम व्रत के पालन से, गौ, ब्राह्मण, देवता, गुरुजनों की सेवा से, सिद्ध मन्त्रों से तथा सिद्ध औषधियों से भी ग्रहजनित रोग शान्त हो जाते हैं । यथा—

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।

पूजयन् प्रयतो नित्यं जयन्नुन्मादजं भयम् ॥

रुद्रस्य प्रमथानाम गत्या लोके चरन्ति ये ।

तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादिभ्यो विमुच्यते ॥

बलिभिर्मंगलैर्होमैरौषध्यगद धारयैः ।

सत्याचार तपोज्ञान प्रदान नियम व्रतैः ॥

देवगुह्यक विप्राणां गुरुणां पूजनेन च ।

आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥

—च० चि० अ० ६ सू० ६८ से १०१

रामभक्त श्रीमत् हनुमान जी की आराधना से भी भूत व ग्रहजनित पीड़ा शान्त हो जाती है । ऐसा अपना निजी अनुभव है ।

सामान्योपचार—

[१] दूर्वा, कुटकी, निम्ब के पत्तों को जल सहित पीसकर बच्चे के उबटन लगाना चाहिये । इन द्रव्यों से युक्त गर्म किये जल से प्रक्षालन भी किया जा सकता है । इसके पश्चात् सातों के पत्र, पीपल के पत्ते, मुलैठी, लहेसुवा के पत्तों को जल में काथ कर इस जल से स्नान कराना चाहिये ।

धूप के लिये निम्न द्रव्यों का उपयोग करें ।

बांस का बक्कुल, तगर, लहसुन, नीम के पत्ते, गौ घृत या शिव पर चढ़े फूल, मनुष्य के सिर के बाल, गौ घृत, अगर, राई, लाख । अथवा—

राई, लाख, नीम के पत्ते, बांस का बक्कुल, गौघृत । इस धूप को तैयार कर घर में बच्चे के



शरीर पर धूप देना चाहिये ।

अभिषेक का मन्त्र—

ॐ सर्व सिद्धान्ते मातरिमं ग्रहं संहरं हुं रोदय
रोदय स्फोटय स्फोटय गृह्ण गृह्ण आमर्दय आमर्दय
शीघ्रं हन हन एवं सिद्धो रुद्राज्ञापयति स्वाहा ।

वच्चे के सिर पर हाथ रखकर मन्त्र पढ़ते
हुये स्नान कराये ।

निम्न मन्त्र पढ़ते पढ़ते धूप देनी चाहिये—

खुं खुर्दनं खं हुं फट् स्वाहा ॥

निम्न मन्त्र भोजपत्र पर अष्ट गन्ध से लिख-
कर गले में डालें—ॐ ह्रीं लुलु स्वाहा । (यन्त्र का
चित्र पृष्ठ ११६ पर देखें)

उक्त मन्त्रों की सिद्धि शुद्ध आचार विचार,
संयम तथा कम से कम १० हजार बार देवस्थल पर
जाप से होती है ।

विशेष उपचार—

नूतन ज्वर होने पर—अमृतार्णव [भै. र.],
ज्वरारि अभ्र [भै. र.], रस पीपरी [आरोग्य
प्रकाश], बाल रस [रं. सा. सं.], जन्म घूँटी [सि.
म. मा.] का प्रयोग करना चाहिये ।

ज्वर की तीव्रता में—सिर पर शीतोपचार
करें । प्रवाल पिष्टी, रत्नगिरी प्रभृति ज्वरशामक
औषध का प्रयोग करें ।

मलावरोध हो तो उसे तत्काल दूर करना
चाहिये । इस कारण से भी अनेक ऐसे विकार उत्पन्न
हो जाते हैं ।

तीव्र ज्वरों में तो ऐसे विकारों का होना तो
कोई आश्चर्यजनक बात है ही नहीं । अतः ज्वर
की तीव्रता को कम करने का पूरा पूरा ध्यान रखना
चाहिये ।

मूर्च्छाविस्था में मूर्च्छा को दूर करने के लिये
निम्न नस्य दें—

शंख कीट, कपूर, कट्फल, पलास पापड़ा,
नकलीकनी, काली मिर्च, समान भाग लेकर कपड़-
छन करें । जरा सी चुटकी से नस्य दें या नौसादर
चूना का योग उत्तम है ।

नस्य के लिये—लहसुन व हींग का सुंधा
जाना भी हितकर है ।

पसीने की अधिकता—कंठावरोध हो तो निम्न
अवधूलन को शरीर के प्रत्येक अङ्गों पर इसकी
धीरे धीरे मालिश करें—

चिरायता, कुटकी, सोंफ, इन्द्रजौ और कपूर
समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण करें ।

मलावरोध हो तो—फलवर्ति या अन्य किसी
वर्ति को उपयोग कर मलावरोध को दूर करें ।

घृतों का भी उपयोग आवश्यकतानुसार करना
चाहिये । उनमें कल्याण घृत, महाकल्याण घृत,
महाचैतस घृत, ब्राह्मी घृत, महापैशाचिक घृत,
लहसुन घृत, लहसुनाद्य घृत विशेष उपयोगी हैं ।

पुराना घी सभी प्रकार के गुण दोष निवारक
माना गया है । आचार्य चरक ने पुराने घृत के गुण
इस प्रकार लिखे हैं—

उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दश वर्षं स्थितं घृतम् ।
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वं ग्रहापहम् ॥
मेध्यं विरेचनेष्वत्रयं प्रपुराणमतः परम् ।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्भि शेषाद् ग्रहमोक्षणम् ॥
गुर्वर्कमाधिकं स्थानादास्वादात्कटु तिक्तकम् ॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यस्याद्वर्षं शतं स्थितम् ।
इष्टं स्पृष्टमथाग्रातं तद्धि सर्वं ग्रहापहम् ।
अपस्मारं ग्रहोन्मादवलां शस्तं विशेषतः ॥

—च० चि० अ० १

अर्थात्—जो घृत १० साल पुराना हो उसमें
तीव्र गंध आने लगती है और उसका रङ्ग भी
लाख के समान लाल होजाता है । वह शीत वीर्य है ।
उसका नाम पुराण घृत है । १० वर्ष के पीछे घृत
अति पुराना हो जाता है इसको “प्रपुराण घृत” कहते
हैं यह त्रिदोष नाशक है । यह खासकर ग्रह दोषों को
नष्ट करता है । इसे सेवन कराया जा सकता है ।
यह स्वाद में कटु तिक्त रस युक्त होता है । कान और
नेत्रों के रोगों में हितकर तथा विषनाशक भी है ।
यह अत्यन्त पवित्र है ।

बारह वर्ष का या सौ वर्ष का पुराना घृत तो

१ “यस्याद् द्वादश वार्षिकम्” ऐसा भी पाठ है ।



ऐसा होता है कि उससे कोई रोग असाध्य नहीं, सभी पर उपयोग करने से उसकी असाध्यता को भी नष्ट कर देता है। उसके मर्दन से, नस्य से ग्रह दोषों को नष्ट करता ही है। यह विसर्प रोगनाशक भी है। अपस्मार, उन्माद तथा वायुरोगों में अमृत के समान प्रशस्त है।

जो रोगी उक्त उपचार से भी ठीक न हो तो निम्न अंजन व नस्य का प्रयोग अति अल्प मात्रा में करें—

शिरष के बीज, मुलेठी, होंग, लहसुन, तगर, बच, कूठ, इन्हें बकरी के मूत्र में पीस कर बर्तिका बनालें। और बकरे या बकरी के मूत्र में घिस कर अल्प मात्रा में अंजन व नस्य दें।

सोंठ, मिरच, पीपल, हल्दी, बच, मंजीठ, हींग, सरसों, सिरस बीज इनकी भी बर्तिका बकरी के मूत्र में बना कर उपयोग की जाती है।

चरकोक्त सिद्धार्थ अगद (च. चि. अ. ६ सू. ७६-७८) का अनेक रूपों में प्रयोग भी ग्रह बाधाजन्य पीड़ा को नष्ट करने के हेतु किया जा सकता है।

घुडबच का कपड़छन चूर्ण ३ से ६ रत्ती की मात्रा में बार बार शहद से देते रहने से अपस्मारवत् आने वाले दौरों में हितकर प्रभावित हुआ है।

जिस बच्चे के दौरों के समय हाथ की मुठियां बन्द हो जाती हों, हाथ पैर सुकड़ें, आंख की पुतली ऊपर की ओर चढ़ें कभी दांत मिच जाय, मुंह में भाग हों, आक्षेप बार बार आते हों। उस समय मुना-सुहागा (चौकिया सुहागा फुलाया हुआ) २-२ रत्ती की मात्रायें—१-१ घंटे में, दौरा कम होने पर २ या ३ घंटे के अन्तर से देना चाहिए।

अनुपान-मधु।

उस समय प्याज के टुकड़े करके सुंधाना भी चाहिए। यदि कफ की भी वृद्धि हो तो सुहागे के साथ घुडबच का चूर्ण भी मिला देना चाहिए। इससे वमन होकर सत्वर लाभ हो जाता है। आक्षेप दूर होकर नींद आजाती है। तत्पश्चात् मूलकारण की

खोज कर उपयुक्त औषधि देनी चाहिए।

टेटेनेस का सूचिवेध भी उपयोगी रहता है पर यह बहुत ही कीमती होता है।

बालापस्मारान्तक निजी योग—

मुना सुहागा ६ रत्ती, अभ्रक भस्म ५ रत्ती, सर्पगंधा चूर्ण ४ रत्ती, उदसलीव ३ रत्ती, कस्तूरी २ रत्ती, मुक्ता भस्म १ रत्ती, बच आध रत्ती सबको ब्राह्मी, जल नीम की पत्ती के रस में, वायविडङ्ग के काथ में, जटामांसा के काथों में १-१ भावना देकर पुनः घी क्वार के रस की भावना देकर सरसों बराबर गोली करें मात्रा १ से ४ गोली तक। मधु से या सारस्वतारिष्ट से या मृत संजीवनी सुरा से जैसा भी रोगी की तत्कालिक अवस्था हो उसीके अनुसार अनुपान देना चाहिए।

यह प्रयोग बालापस्मार में हितकर प्रभावित हुआ है।

स्मृतिसागर रस—

बाल ग्रह की उत्पत्ति का हेतु उदर विकार हो तो उसे दूर कर पुनः शामक दवा देनी चाहिए। स्कन्ध ग्रह, पूतना, अहिपूतना, शीतपूतना आदि बालग्रहों में दोष (वातादि) सहस्रार, सहस्रा-दावरण, सुषुम्ना और सुषुम्नाकंद में होता है। इस विकार में वेदोशी या तन्द्रा, हाथ पैर अशक्त, नेत्र मूंदे हुए से, आक्षेप आने पर सचेष्ट होना अन्यावस्था में शून्य, ये लक्षण होने पर स्मृतिसागर रस का उपयोग किया जा सकता है।

यदि आक्षेप से कमर और मेरुदण्ड में भयङ्कर पीड़ा, निद्रा तथा निद्रानाश, उवर १०२, १०३ डिग्री रहता हो, अहोरात्रि दौरों के भटके आते हों हाथ पैर शीतल, शरीर में जड़ता भुनभुनाहट आदि कफ प्रधान लक्षण हों तो स्मृतिसागर के साथ सितोपलादि चूर्ण २ रत्ती की मात्रा में मिलाकर तुलसी रस और मधु से दिन में ४ बार देना चाहिए।

मणिक्यरसादि गुटिका—

यह आमशय और आंत्र में संग्रहीत मल,



आम और विष को बाहर निकालता है, श्लेष्मा को दूर करता है। बाल न्यूमोनियां, हृदयावरोध, अफरा, कास, अतिसार, शूल आदि रोग दूर होते हैं।

सर्वाङ्गसुन्दर रस--

ज्वर प्रदीपन बल कान्तिप्रद है। पिशाच, दानव, दैत्य आदि जो बच्चोंको पीड़ा देते हैं उनका आक्रमण बालक पर इस रस के सेवन काल में नहीं होता। बड़े बड़े जुलाब जल समान प्रवाही, पीले रंग के होते हैं तो इस रस के उपयोग से लाभ होता है। साथ ही दूध धी शक्कर, सैधानमक अथवा सुहागा भुना या सोड़ाबाई कार्ब देते रहने से सत्वर लाभ होता है। इससे दुग्ध विकृति, अन्न विष या अन्य कारण से उत्पन्न ज्वरातिसार में यह रस अति उपयोगी है।

बाल संजीवनी, चन्द्रशेखर, बालार्क गुटिका--

बालकों के अपचन विकारों पर उपयोगी है।

कुमारकल्याण रस--

त्रिदोषजन्य व्याधियों को नाश करता है। साथ ही निर्बलतानाशक है। इसके साथ प्रवाल पिष्टी, सितोप्रलादि मिलाकर देना विशेष हितकर है। आवश्यकतानुसार अनुपान देना चाहिए। आंत्र या यकृतविकार हो तो कुमारी आसव भी देना चाहिए। आवश्यकतानुसार हरड़ का घासा भी अनुकूल रहता रहता है। रोग निरोधक शक्ति को सबल बनाने के लिये इस रस को सोंठ के घासे से देना चाहिए।

ताप्यादिलोह-

जिन बच्चों के कब्ज व मलावरोध हो उन्हें पहले एरण्ड तेल देकर तत्पश्चात् इसका प्रयोग किया

जाय तो जीर्ण बालग्रह, अपचन से उत्पन्न बालग्रह, उन्माद रोग से पीड़ित बालक को बालग्रह नष्ट होता है। डरपोक क्रोधी तथा निर्बल मन बाल माता का दूध पीने वाली संतान को बालग्रह होने पर इसका उपयोग करना विशेष लाभप्रद है। जीर्ण बालग्रह में ब्राह्मी के काथ से इसे प्रयोग करना चाहिए।

त्रिपुर भैरव रस--

उपदंशजन्य विकार होने पर यदि आक्षेप हो तो यह उत्तम कार्य करता है। किंतु रोग की तीव्र अवस्था शांत होने पर ही इसका प्रयोग करना चाहिए।

बाल ग्रह के १० हेतु—

बाल ग्रह निम्न १० हेतुओं से अधिकतर होता है—(१) उदर या आंत्र की विकृति या वात संचय, (२) दन्तोद्भव, (३) कृमि रोग, (४) सूत्रद्वार की त्वचा चिपक जाने से, (५) सूत्रोत्सर्ग में प्रतिबंध होने से, (६) कर्ण पाक (६) मृदस्थि (७) शीतलादि रोमान्तिका व तीव्र ज्वर (८) काली खांसी (९) मस्तिष्कावरण शोथ (१०) धनुर्वात या अपस्मार का पूर्वरूप। अतः कारणों पर ध्यान देकर ही उपयुक्त औषध का चुनाव करना चाहिए।

यदि बालक के उदर में वात संचय हो तो पंचसूत का भी उपयोग किया जा सकता है। निराशाजनक स्थिति में यह पंचसूत प्रायः रक्षक सिद्ध हुआ है। यह अत्यन्त तीव्ररस है। इसे बहुत ही संभाल कर अति अल्प मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

—वैद्य श्री मुन्नालाल जी गुप्त

५६/१३२ पुरानी धान मण्डी, नयागंज, कानपुर।

बालग्रह और उसके उपचार

वैद्य श्री नवनीतदास वैष्णव

प्राचीन समय में श्री महादेव जी ने अपने बच्चे कार्तिकेय की रक्षा के लिये बालग्रहों को उत्पन्न किया। ये बाल ग्रह मनुष्य के रूप में प्रकट हुये। इनकी संख्या के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतभेद



है। भावमिश्र ने भावप्रकाश में बालग्रहों की संख्या नौ बतायी है और वाग्भट ने बारह, भावप्रकाश में बताये हुए ग्रहों के नाम हैं—स्कंद, स्कंदापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्ध पूतना, शीतपूतना, मुखमण्डिका और नैगमेय तथा वाग्भट में बताये नाम हैं—स्कंद, विशाख, मेष, स्वग्रह, पितृ, शकुनि, पूतना, शीत पूतना, दृष्टि पूतना, मुख मण्डलिका, रेवती और शुष्क रेवती। इनमें कुछ पुरुष शरीर धारी तथा कुछ स्त्री रूप हैं।

बारह पूतनाएँ भी बालग्रहों का ही एक भेद है, इनमें केवल नामान्तर ही जान पड़ता है।

जैसे बड़ी आयु वालों को सूर्यादि नवग्रह लगते हैं उसी प्रकार बच्चों को भी बालग्रह लगते हैं। जैसे गिरफ्तार करते ही मनुष्य के होश उड़ जाते हैं, चेहरा फीका पड़कर हृदय में घबराहट उत्पन्न हो जाती है इसी तरह हंसी-खुशी खेलता हुआ बच्चा भी बालग्रह से ग्रसित होते ही भयभीत होकर तुरन्त होश-हवाश भूल जाता है। बालग्रहों के द्वारा ग्रसित बच्चे में सामान्यतः ये लक्षण देखने में आते हैं—

१. बच्चा एकदम भयभीत (डरा हुआ सा) जान पड़ता है।

२. बुखार आ जाता है।

३. लगातार रोता ही रहता है।

४. मुख से झाग आने लगते हैं।

५. ऊपर की ओर दृष्टि रखता है।

६. दांतों से होठों को चबाता है।

७. दूध नहीं पीता।

८. आवाज बैठ जाती है।

९. नखों से चारों तरफ जमीन कुरेदता है या माता के अङ्गों को नखों से गोदता है। इसी प्रकार प्रत्येक ग्रह के पृथक् पृथक् लक्षण भी हैं।

ग्रह क्यों पकड़ते हैं ?—

ऊपर बताये बालग्रहों की उत्पत्ति के बाद ही

उनकी भोजन व्यवस्था की समस्या सामने आयी तो श्री महादेव जी ने इन ग्रहों से कहा कि जिस घर में श्री भगवान का अर्चन-पूजन और बन्दन न होता हो, भगवन्नाम का संकीर्तन न होता हो, देवता, माता-पिता, गुरु, ब्राह्मण और अतिथियों का अनादर होता हो, जिस घर में प्राणियों की हिंसा होती हो, जहाँ प्राणियों को मनसा-वाचा-कर्मणा दुःख दिया जाता हो, जिस घर में बूढ़े सास-श्वसुर आदि के साथ बोलचाल तथा भोजन-पान आदि में भेदभाव और दुर्व्यवहार किया जाता हो, जिस घर में अपवित्रता रहती हो उस घर के बच्चों को भक्षण किया करो, यही तुम्हारी भोजन व्यवस्था है। बस उसी दिन से बालग्रहों ने नन्हें मुन्नों को पकड़ना और खाना शुरू कर दिया। अबतक कितनी माताओं की गोदियां सूनी की होंगी इसकी गिनती तो क्या कल्पना करना भी असम्भव है।

बालग्रहों का विस्तृत विवरण एवं लक्षणादि पूर्वलेखों में पढ़ें।

बच्चों पर १२ वर्ष तक की उम्र तक बालग्रहों (पूतनाओं) का आक्रमण होता रहता है। जब कभी बच्चा बीमार हो तो बारह वर्ष तक उसके रोग का निदान करते समय बाल ग्रहों के लक्षणों को भी ध्यानपूर्वक समझने का प्रयत्न कर लेना चाहिये। यदि बालग्रह का आक्रमण हुआ होगा तो इधर उधर की दवाओं से कदापि लाभ न होगा और बालग्रहों का उपचार करते ही तुरन्त आराम हो जायगा। इसके लिये बालग्रहों को शमन करने वाली औषधियां और धूप आदि सदैव तैयार रखनी चाहिये जिससे समय पर बालग्रहों से अपने प्राणों से भी प्यारे नन्हें मुन्नों का पिण्ड छुड़ाया जा सके।

बालग्रह ग्रसित बालकों को आयुर्वेदोक्त पंचसूत रस, कुमार कल्याण रस, स्मृतिसागर रस, अष्ट-मङ्गला घृत, ब्राह्मी घृत और कल्याण घृत का



सेवन कराना चाहिये ।

बालग्रह ग्रसित बच्चों को औषधि देने का विधान इसलिये है कि कितनी ही माताओं का दूध दूषित होता है उसी विकृत दूध को पीते रहने से बच्चे के उदर एवं आंतों में वात संचय होता है । इसी प्रकार विकृत आहार (भोजनादि) से भी आंतों और उदर में वात संचय होता है । इससे भी बालग्रहों की भांति ही बार बार आक्षेप आते हैं । कई बार अन्य रोगों में भी बालग्रहों के आक्षेप बालकों पर होते हैं । जैसे—

- (१) दांत उगते समय ।
- (२) पेट में कृमि(कीड़े) पड़ जाने की दशा में ।
- (३) पेशाब में रुकावट होने के समय ।
- (४) कान पक जाने के समय ।
- (५) हड्डियां नरम [मृदु] हो जाने के दिनों में ।
- (६) शीतला आदि माता निकलने के समय में ।
- (७) काली खांसी हो रही हो तो उन दिनों में ।
- (८) धनुर्वात या अपस्मार [मृगी] के पूर्वरूप में ।

ऊपर लिखे रोगों में ऊपर लिखी औषधियों का प्रयोग करने से वे रोग मिट जाते हैं और उन रोगों के मिट जाने से बालग्रह सदृश दोष भी नष्ट हो जाते हैं ।

प्रत्येक वैद्य और चिकित्सक एवं गृहस्थ को बालग्रह दोषनाशक नीचे लिखे उपायों से काम लेकर बच्चों के प्राणों की रक्षा करनी चाहिये ।

बाल ग्रह दोषनाशक धूप—

१—आम के फल [कच्ची केरी आम की तरह होते हैं], राई, खस, मनुष्य और बिल्ली के बाल और नीम के पत्ते सब अन्दाज से बराबर बराबर लेकर गाय के घी में मिलाकर धूनी देने से बालग्रहों का दोष नष्ट हो जाता है । योगिनी, सुनंदना और पूतना के आक्रमण इस धूप से नष्ट हो जाते हैं ।

इसका प्रयोग बच्चों के जन्म से लेकर तीन वर्ष की आयु होने तक करना चाहिये ।

२—सांप की कांचली, गाय का सींग, लहसन, नीम के पत्ते, पुरुष के सिर के बाल और बिल्ली के बाल कूट, गुगल, राई, हाथी दांत का बुरादा, सबके समान लेकर गाय के घी में मिलाकर धूप देने से मुखमण्डिका और विडालिका के आक्षेप मिट जाते हैं । इस धूप का प्रयोग ४ और ५ वर्ष के बच्चों के लिये करना चाहिये ।

३—कूट, गुगल, हाथी दांत, राई और गौघृत का भाग लेकर धूप देने से षट् कादिका, कामिनी और कालिका के आक्षेप दूर होते हैं । इसका प्रयोग ७ और ८ वर्ष की आयु के बच्चों के लिये करना चाहिये ।

गाय का सींग, लहसन, सांप की कांचली, नीम के पत्ते, मनुष्य और बिल्ली के बाल, राई और गाय का घी बराबर बराबर लेकर धूनी दें । इससे मदन, रेवती, अर्द्रुता और सुदर्शना के आक्षेप दूर होते हैं । इसका प्रयोग १ से १२ वर्ष तक की आयु के बालकों पर करना चाहिए ।

धूनी देने की विधि यह है—

पहले बालक को कपड़ा बिछाकर खाट पर सुलावें । फिर बिना धुयों की आग लेकर उस पर धूप डाल कर खाट के नीचे रखें । पैरों से गले तक कपड़ा ओढ़ा दें, ऐसा करने से धूआं बालक के शरीर में लगेगी । इसी तरह दिन में २ या ३ बार ५-१० मिनट तक धूआं देते रहने से कीटाणु, विक्रमप्रकोप एवं बालग्रह आदि दोष नष्ट हो जाते हैं । बालग्रह के अन्नावा और भी धूनी देनी हो तो भी उपरोक्त विधि से ही देनी चाहिए । बहुत से लोग धूनी को केवल नाक में धूआं पहुंचाने तक ही सीमित समझते हैं पर धूनी का धूआं सारे शरीर पर लगना चाहिए ।

अब यहां एक धूप ऐसी लिखते हैं जिससे बालग्रहों के दोष नष्ट होकर बालक स्वस्थ हो जाता है ।

शिशुराजिङ्ग

दशांग धूप-बच, हींग, बायबिड़ङ्ग, सैंधानमक, गज पीपल, पाठा, अतीस, सोंठ, काली मिर्च और पीपल इन दसों दवाओं को समभाग लेकर जौकुट कर के चूर्ण बनालें यानी कूट कर जौ के समान टुकड़े करलें, मतलब यह है कि बिलकुल बारीक न करें। यह दशांग धूप कश्यप जी का कहा हुआ वाग्भट में लिखा है। इससे बहुत लाभ होता है।

अब एक पौराणिक मंत्र प्रयोग लिखते हैं जो कभी फेल नहीं होता है।

द्वापुर युग में कंस की भेजी हुई पूतना नामक राक्षसी ने गोकुल नगरी में माता यशोदा के लाड़ले श्री कृष्ण को पकड़ लिया था। वे तो साक्षात् भगवान थे उन्होंने उस राक्षसी को मार ही डाला किंतु उनकी महिमा को न जानकर ब्रज की गोपियों ने बालक श्री कृष्ण को डरा हुआ समझ बालग्रह नाशक जो मन्त्र पढ़कर बाल रक्षा की वह बड़े ही काम की वस्तु है। गोपियों ने पूतना की छाती पर से बाल कृष्ण को उठा कर तुरन्त ही गो मूत्र से स्नान कराया और गाय की पूंछ को श्रीकृष्ण के शरीर पर कई बार फिराया। इसके बाद आचमन करके न्यास ध्यान के बाद नीचे लिखे मंत्रों का उच्चारण किया—

“अव्यादगोंऽघ्नि मणिमांस्तव जान्म थोरु यज्ञोऽच्युतः
कटितंजठरंहयास्यः। हृत्केशवस्त्वदुर ईश हनस्तु कण्ठं
विष्णुभुजं मुखं मुरु क्रम ईश्वरकम् ॥ चक्रयग्रतः सहगदो
हरिस्तु पश्चात्स्वत्पाश्वोर्धनु रसी मधुहा जनश्च। कोणेषु
शंख उरुगाय उपयुपेन्द्रस्तार्क्यः चित्तौ हलधरः पुरुषः
समन्तात् ॥

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु। श्वेत
द्वीप पति शिचत्तो मनोयोगेश्वरोऽवतु ॥ पृथिनगर्भस्तु ते
बुद्धि मात्मानंभगवान् परः। क्रीडन्तं पातु गोविन्दः
शयानं पातु माधवः ॥ ब्रजन्तमव्याद वैकुण्ठ आसीनंत्वा
श्रियः पतिः। मुञ्जानं यज्ञभुक्पातु सर्वं ग्रह भयङ्करः॥ डाकि-
न्यो यातु धानाश्च कृष्णमाण्डायेऽर्भकग्रहाः। भूत प्रेत पिशा-
चश्च यक्ष रक्षो विनायकाः ॥ कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना
मातृकादयः। उन्मादा ये ह्यपस्मारा देह प्राणैन्द्रिय
शङ्कुहाः ॥ स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्ध बालाग्रहाश्चये। सर्वे
नयन्तु ते विष्णोर्नाम ग्रहण भीरवः ॥”

उपरोक्त श्लोक श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के हैं। श्री कृष्ण के जन्मोत्सव के बाद ही पतना की कथा आती है। उसमें ५ वें अध्याय के श्लोक २२ से २६ तक बाल रक्षा के लिए अच्छूक हैं।

जब किसी बालक पर किसी बालग्रह का आक्रमण हो जाय तो आप तुरन्त ही गोपियों की तरह बालक को मन्त्रों से मंत्रित कर दीजिये। सच तो यह है कि भगवान्नाम का पहरा लगा दीजिए अपनेलाड़ले को भगवानकी रक्षा में दे दीजिये, उसकी रक्षा का भार उसके सच्चे माता-पिता श्री कृष्ण को सौंप दीजिये। फिर देखिए अपने लाड़ले की किस ढङ्ग से रक्षा होती है। नजर-कुजर लगने की जरा भी शंका उठते ही तुरन्त यही उपचार कीजिये। बालक को गौमूत्र से स्नान कराकर उसके सारे अङ्ग पर गौ माता के चरणों की रज लगा दीजिये। यह रज साधारण नहीं है, देवता भी इस रज के लिये तरसते हैं। या तो गोरज लगाकर बालक पर ५ बार ७ बार ६, ११ अथवा २१ बार गोमाता की पूंछ सिर से लेकर पैरों तक फिरा दीजिए और ऊपर लिखे श्लोकों को पढ़ कर बालक पर हाथ फेर कर फूंक मार दीजिये। उपरोक्त मन्त्रों को बोलते समय बच्चे को हाथ से स्पर्श करते रहें। संस्कृत समझ में आये तो श्लोकों में बताये हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग पर हाथ लगाते जावें और यदि समझ में न आये तो कोई हर्ज नहीं आप बालक के शरीर पर हाथ लगाकर मंत्र पढ़ दीजिये। बस रक्षा ही नहीं सुरक्षा होगई। सभी ग्रह भगवान के नाम से डरते हैं। जितने भी ग्रह मातृका, देवता, राक्षस, पातुधान, डाकिनी, भूत प्रेत, चुड़ैल आदि हैं वे सबके सब भगवान के नाम से डरते हैं। इसलिये जब भी संकठ आपड़े भगवान् के नाम मन्त्रों से रक्षा कर लेनी चाहिए। यदि विश्वास हो तो बड़ी उम्र वाले भी भगवान्नाम से अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं।

—वैद्य श्री पं० नवनीतदास वैष्णव
घरोनियां (झालावाड)

प्राचीन-स्तोत्र

डा० जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य



प्रणम्य शिरसा शान्तं गणेशानन्तमीश्वम् ।
 बालगृह स्तवं वक्ष्ये समस्ताभ्युदयप्रदम् ॥१॥
 तपसा यशसा दीप्ता वपुषा विक्रमेण च ।
 निर्दिष्यैयः सदा स्कन्ध सनोदेव प्रसीदतु ॥२॥
 रक्तमाल्याम्बर धरौ रक्तगन्धानुलेपनः ।
 रक्तादित्यो ज्वलः शान्तः सनोदेव प्रसीदतु ॥३॥
 यो नन्दना पशुपते मात्रेणां पावकस्य चः ।
 गंगोमा कृतिकानाम् च सनो देव प्रसीदतु ॥४॥
 देव सेना परिवृतो देव सेना नार्चितः सदा ।
 देवा सेना पतिः श्रीमान् सनो देव प्रसीदतु ॥५॥
 शक्तिः शक्तिधरा धरा पूरः कुमार शिखिवाहनः ।
 सुरा रिह महासेनः सनो देव प्रसीदतु ॥६॥
 प्रकृत्या सुन्दरो दान्तो देवैश्वर्यो दयान्वितः ।
 नाना विनोद सम्पन्नः सनो देव प्रसीदतु ॥७॥
 प्रबोधा सुप्रबोधा च बोधना सुप्रबोधना ।
 प्रबुद्धा च प्रबोधा च सुप्रीता सुमनास्तथा ॥ ८ ॥
 मनोन्मीति विख्याता योगिन्य पातु बालकम् ।
 सुव्रता रुक्मिणी चैव मन्द वेगा विभीषणः ॥ ९ ॥
 विद्य त जिह्वा महानामा शतानंदा तथा परा ।
 बलया पुमता चैति योगिन्य पातु बालकः ॥ १० ॥
 हरिणी चाक्षवारही वानरी क्रोष्टुकी तथा ।
 कुवैरी कोटराक्षी च कुम्भकर्णा च चण्डिनी ॥११॥
 बलाद्विकारिणी चेति योगिन्य पान्तु बालकम् ।
 शुद्धाविशुद्धा श्रद्धा च योगि सिद्धामितंबदा ॥१२॥
 सुभगा शुभदा गौरी बलाविकारिणीति च ।
 नाना विज्ञान विख्याता योगिन्य पान्तु बालकम् ॥१३॥
 लम्बा प्रलम्बा च तथा लम्बकर्णा च लम्बिका ।
 बाला करालि कालिन्दी कालिकैति यथोदिताः ॥१४॥
 स्वच्छन्दाचार सम्पन्ना योगिन्या पान्तु बालकम् ।
 प्रणीता सुप्रणीता च मालिनी विश्वमालिनी ॥१५॥
 विमला कमला माली लोला रौह च विश्वदा ।
 विचरन्त्यो यथा कामं योगिन्य पान्तु बालकम् ॥१६॥
 वायुवेगा महावेगा सुवेगा वेगी वाहिनी ।

शशिनी हंसिनी रिष्टी पुष्टि पौष्टिकसिद्धिदा ॥१७॥
 दिव्यानुभाव वाहिन्य योगिन्या पान्तु बालकम् ।
 भ्रामिणी भामिनी नित्याविभिन्ना सुभगागुहा ॥१८॥
 क्लेदिनी द्वाविणी वामा योगिन्या पान्तु बालकम् ।
 रुद्र शक्ति विनिष्क्रान्तः मेकाशितिक्रमोदितम् ॥१९॥
 योगिनी वृन्दमेतादि सिद्ध विद्याधराचितम् ।
 स्कन्द गृहादिदेवं तद् बालकं पातु सर्वदा ॥२०॥
 शङ्कुनी रेवती देवी शिखा च मुख मण्डिका ।
 प्रलम्बा पूतनाख्या च कटिपूतनिका पुनः ॥२१॥
 विजया गोमुखी धूम्रा मुण्डमाला तथा परा ।
 अघोलम्बा च पद्मा च कुमुदा व्यथचाम्बिका ॥२२॥
 भामिनी चैव काली च देवी प्रेत मुखी तथा ।
 ऐन्द्री मार्जारिकाः भूयः करुणी च शुभा कृपा ॥२३॥
 काल रात्रिश्च माया च लोहिता पिलिपीचिका ।
 भीतारिणी चक्रवादा भीषणा दुर्जया परा ॥२४॥
 तापनी कट कोली च मुक्त केशी महाबला ।
 अहंकारी जय तद्वज मेषाभिदण्डिका ॥२५॥
 रोदनी मुकुटाभिख्या ललाटा पिङ्गला तथा ।
 शीतला बालिनी चैव तापसी पाप राक्षसी ॥२६॥
 मानसा धनदादेवी बलानावर्तिनी तथा ।
 यमुना जातवेदा च मानिनी कल हंसनी ॥२७॥
 बालिका देव दूती च वासी यक्षिणी तथा ।
 स्वच्छन्दा पालिका चैव वासिनी चाम्बिकेति च ।
 पञ्चाशतु कुलोत्पन्ना चतुष्षष्टि समीरिता ।
 योगिन्यो नित्य संतुष्टाः स्कन्दापस्मार देवताः ॥२८॥
 नानारक्षाधिकारास्था बालकं पान्तु सर्वदा ।
 महालक्ष्मीर्महानंगा महासेना महाबला ॥२९॥
 महाकम्पा महाभीमा महातेजा महोत्सवा ।
 महासेना महाचण्डा मोहिनी वीर नायिका ॥३०॥
 एक वीरा विशालाक्षी सुकेशी सुमना तथा ।
 सुकेशिनी च संतुष्टा दण्डिनी च बिलम्बिनी ॥३१॥
 भामिनी चाथ सौवर्णी सिंह वक्त्रा रङ्गिनी ।
 भ्रमरा चञ्चला चपला सिद्धिदा च तथा परा ॥३२॥



शिरुरोगाङ्कः

शातोदरीघृत्तिः स्वाहा स्वधाख्या च सनासनी ।
 शम्बरा च तथा देवी नीलम्रीवा तथाम्बिका ॥३४॥
 वितिला गन्धिनी थासा क्रीडन्ति चैव वाहिनी ।
 कर्षिणी मालती पुलाकाल कर्णी च चंडिका ॥३५॥
 चित्रानना गुहो चेति पार्वती संगति गता ।
 पञ्चाशन्नव सम्पन्नाः शकुनी दैवतप्रिय ॥३६॥
 योगिन्यः काम रूपिण्यो बालकं पान्तु सर्वदा ।
 विश्वन्तपा प्रभावज्ञा सर्वज्ञा सर्वगा गुहा ॥३७॥
 दुर्गा सरस्वती ज्येष्ठा श्रेष्ठा पद्मा परापरा ।
 प्रमदा रोहिणी सीता प्रह्लादिनी विभा ॥३८॥
 विभूतिर्विततिः प्रीति प्रकृति प्रमति यथा ।
 एता भगवता सृष्टा योगिन्यो-योगसिद्धि दा ॥३९॥
 पंचविंशति राख्या ता रेवती शक्ति गोचरा ।
 जगदाप्यायनकरा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४०॥
 नन्दश्चैवोपनन्दश्च गोमतिः सुमतिस्तथा ।
 विद्वज्जिह्वो महाकालः कुशलस्ति भिलोचन ॥४१॥
 तेजो होडा विरुपाक्षो गोमुखो बड़वामुखः ।
 कालावनः करालश्च शंकुकर्णी विभिषण ॥४२॥
 एतेशंकुदनोत्पन्ना वीरा षोडश राक्षसा ।
 पूतना देवताजुष्टा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४३॥
 वज्रिणी शक्तिनी चैव दण्डिनी खड्गिनी तथा ।
 पाशिनी ध्वजिनी दैवी गदिनी शुलनि परा ॥४४॥
 पविनी चक्रिणी चेति सविकारा भयप्रदा ।
 एतादिङ्कनिर्मिता दैव्यो योगिन्यो देव कीर्तिता ॥४५॥
 अधिभूत प्रधानाया पायात् सा शान्त पूतना ।
 प्रसन्न मातरः सर्वा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४६॥
 अर्थको जल को भूमाः उग्रः स्कंदश्च कीर्तितः ।
 वीरेशा पितृभिः सृष्टा नैन मेधाधि देवता ॥४७॥
 पंचशक्ति प्रधानास्ते बालकं पान्तु सर्वदा ।
 आदित्या वसवो रुद्राः पितरो मरुतस्तथा ॥४८॥
 मुनयोमनवः काला ग्रहः योगा सनातना ।
 सिद्धा साध्याश्च गन्धर्व दैव्याश्चाप्सरसावरा ॥४९॥
 विद्याधरा महादैव्या बालकं पान्तु सर्वदा ।
 सहता योगजा चैव वीरजा मन्त्रजा तथा ॥५०॥
 योगिन्यो योग वनिता नाना विभव गोचरा ।

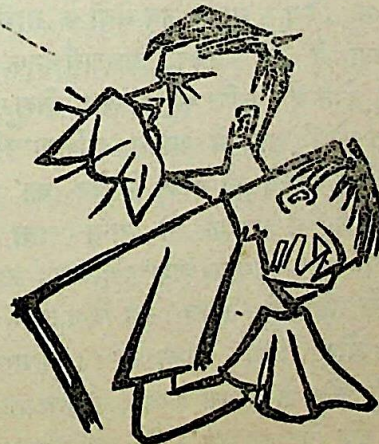
भवानी नाम सन्तुष्टा बालकं पान्तु सर्वदा ॥५१॥
 भूलोके च भुवलोके स्वलोके याश्च मातरः ।
 अधश्चोर्ध्व च तिर्यक् च क्रीडयन्तोऽनन्तमूर्तय ॥५२॥
 प्रसन्ना योग सम्पन्नो दिवैश्वर्य समन्विता ।
 स्वच्छन्द पद सम्भूतैर्भैरवेः पारिवारिताः ॥५३॥
 रक्षन्तु बालकं प्रीताः शान्तिर्ना पैतु चैतसः ।
 दिव्य स्तोत्रं मिदं पुण्यं बाल रक्षाधिकारकम् ॥५४॥
 जपैत् संतान रक्षार्थं बाल द्रोहोपशान्तिदम् ॥५५॥

दिन में तीन बार पढ़कर बच्चे पर कुश से परिमार्जन करें, कुश से चारों तरफ जलधारा दें व साथ में लक्ष्मीनारायण रस आधी रत्ती उम्र अनुसार तुलसी पत्र रस पान के रस में या शहद में तीन बार (दिन में) दें। हर साधना व औषधि धैर्यपूर्वक उपयोग में लेने से असाध्य से असाध्य रोगी भी ठीक हो जाते हैं।

—डा० श्री जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य
 बोलिया (मध्य प्रदेश)

कासारि

खांसी के लिए सर्वोत्तम



घन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

बालकों के नजर लगना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल आयुर्वेदाचार्य



जहां बच्चों के अनेक रोग व्याख्येय हैं वहां इस विषय की भी व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है कि बच्चों के नजर लगना क्या व्याधि है ? यह व्याधि हमारे यहां बहुत समय से प्रचलित है और प्रायः सभी बड़े बूढ़े लोग इससे परिचित भी हैं । कुछ नवशिक्षित इस व्याधि को मानते ही नहीं हैं । उनकी दृष्टि में यह विशेष संदेहपूर्ण है कि बच्चों के नजर लगना कैसे संभावित है ? यह ठीक भी है कि जब तक किसी विषय के रहस्य को न समझ लिया जाय तब तक उसमें विश्वास नहीं होता । अतएव इस व्याधि का वैज्ञानिक रहस्य क्या है यह जानने योग्य है । इसको समझ लेने के पश्चात् बच्चों को सावधानी के साथ इस व्याधि से सुरक्षित रक्खा जा सकता है ।

नजर लगना क्या है ?

यह एक प्रकार का दृष्टि दोष है जो बच्चों पर घातक प्रभाव डालता है । विज्ञान बताता है कि प्राणियों में एक विद्युत् शक्ति विद्यमान है जो अपना प्रभाव दूसरों पर डालकर आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाने में समर्थ है । यह विद्युत् एक प्रकार का आत्म-तेज ही है जिसका आधार स्थल शरीर और मन है । यह विद्युत् प्रवाह जब नेत्रों के माध्यम से प्रयुक्त होता है तो अनेक आश्चर्यजनक प्रभाव दृष्टिगत होते हैं । दृष्टि का माध्यम विद्युत् शक्ति की महता को दिखाने में महान शक्तिशाली सिद्ध हो चुका है । भेड़िये की दृष्टि से भेड़ का निचेष्ट हो भाग सकने में असमर्थ हो जाना तथा बिल्ली के दृष्टिपात से कबूतर का अशक्त हो उड़ जाने की सामर्थ्य से रहित हो जाना उस विद्युत् मयी दृष्टि शक्ति की ओर संकेत करता है । प्रभावशाली व्यक्ति की दृष्टि के सामने साधारण मनुष्य अवाक रह जाता है । अजगर की दृष्टि से शिकार का उसके समीप ही आ जाना सर्व-विदित है ।

अनेक पौराणिक कथायें भी इसी बात पुष्ट करती हैं कि नेत्रों की विद्युत् मयी शक्ति अनेक आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाये । रानी दमयन्ती ने अपनी दृष्टिशक्ति से व्याध हनन किया । महामुनि कपिल ने सगर के सहस्र पुत्रों को केवल अपने एक दृष्टिपात से विध्वंस कर दिया । कवियों ने नेत्रों को बाण उपमा इसी दृष्टिकोण को रख कर दी है । अभी मेस्मरेजम द्वारा दिखायी गयी दृष्टिशक्ति सर्वमान्य है । अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में इस शक्ति का महान स्रोत है । मानवीय विद्युत् विषय में यह भी माननीय है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में यह उग्ररूप से किन्तु साधारणजनों में अल्प रूप से इस का अस्तित्व अवश्य रहता है ।

शारीरिक विद्युत् का वर्णन यहां अभीष्ट किन्तु मानसिक विद्युत् की महानता ही यहां ज्ञात मनोविचार मानसिक विद्युत् की प्रबल तरङ्गें हैं दूषित विचारों की विद्युत् तरङ्गें दूसरों पर दूषित प्रभाव और शुभ विचारों की तरङ्गें शुभ लाभ प्रभाव डालती हैं । जिस प्रकार भौतिक जड़ विद्युत् इतस्ततः उथल पुथल करने में समर्थ है । ठीक उसी प्रकार उससे कहीं अधिक यह चेतन विद्युत् अपने चमत्कर दिखाने की सामर्थ्य रखती है । यही मनो विद्युत् जब बच्चों पर दूषित मनोभावों के साथ प्रकट कर अपना प्रभाव प्रकट करती है तभी यह कह जाने लगता है कि नजर लग गयी । नजर लग जाता दूषित मनोविचारों के साथ मानसिक-विद्युत् का अहितकर प्रभाव पड़ना ही है ।

नजर कैसे लगती है—

मनुष्य जब एकाग्र होकर अधिक ध्यानपूर्वक किसी की ओर दृष्टिपात करता है तो उसकी विशृङ्खलित विद्युत् का एकत्रीकरण होकर उसमें प्रभावोत्पादक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है ।



इस समय द्रष्टा के शुभाशुभ भाव दृश्य वस्तु पर गंभीरता के साथ पड़ कर अपना प्रभाव दिखाते हैं। हंसते खेलते प्यारे बच्चों की ओर जब कोई व्यक्ति अधिक मुग्ध या लालायित होकर हसरत भरी निगाह से निहारता है तो उस समय उसकी वह मनोविद्युत् अपने आकर्षकत्व गुण के कारण उन बच्चों की विद्युत् शक्ति (प्राण-तत्व) को अधिकांश खींच लेती है। जिसके फटके को बच्चे बरदाश्त न कर बीमार पड़ जाते हैं। नजर लगे हुए बच्चों का शारीरिक तापमान घट जाता है। एक विशेष प्रकार की सुस्ती उन्हें घेर कर अचेत सा बना देती है। बच्चे आंखें बन्द कर निद्रा की सी हालत में पड़े रहते हैं। दुग्ध-पान अरुचि हो वमन के वेग शुरू हो जाते हैं। ऐसे समय में यदि उपयुक्त चिकित्सा न की जाय तो अन्त में प्राण-शक्ति के अत्यन्त क्षीण हो जाने से बच्चों का प्राण-प्रयाण भी हो जाता है।

यह ज्ञातव्य है कि साधु महात्माओं एवं बच्चों की चाह न रखने वाले व्यक्तियों के दृष्टिपात बच्चों के लिये अहित न हो शुभ एवं शान्तिप्रद होते हैं। चूंकि इनके मनोभाव दुष्ट न हो कल्याणकारी हैं अतएव उनका कोई अहितकर प्रभाव नहीं पड़ता प्रत्युक्त हितकारी ही होता है। नजर तो केवल उन्हीं लोगों की लगती है जो बच्चों के लिये बहुत दिनों से तरसते रहते हैं और सन्तान-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा जिन्हें इस योग्य बना देती है कि जिससे वे बच्चों की ओर सहज में ही आकर्षित हो जाय। आकर्षक मनोभाव शारीरिक विद्युत् को उसी प्रकार आकृष्ट करते हैं जैसे भौतिक विजली का ए. सी. करण्ट आकर्षक वेग शरीरगत विद्युत् अर्थात् प्राणों का सद्यः विनाश कर देने में समर्थ होता है। वह अपने आकर्षण गुण से अपने सजातीय विद्युत्त्व को अपने में ही लीन कर लेता है।

यह भी जानने योग्य बात है कि नजर का

का असर तीव्र तभी होगा जब द्रष्टा अपने प्रबल मनोयोग से मनो-विद्युत् का प्रयोग करेगा। किन्तु इससे विपरीत साधारण मनोयोग अल्प प्रभावशाली ही होगा। एकाग्रता की शक्ति एक प्रबल शक्ति है। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में एक विशेष प्रकार की वेधक दृष्टि होती है इनका साधारण दृष्टिपात भी सद्यः प्रभावशाली बन जाता है। दृष्टि विशेष सिद्धि की सूचक है। सब में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती। दृष्टि दोष सम्बन्धी विषयवत् घातक प्रभावों से बच्चों के बहुमूल्य जीवन को नष्ट होने से बचाने के लिये मानसिक विद्युत् का वैज्ञानिक विषय सर्वसाधारण के लिये केवल ज्ञातव्य ही नहीं किन्तु तद्गतदोषों की निवृत्ति का आश्रय भी परम आश्रयणी है।

नजर लगने से बचने के उपाय—

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज में ही ऐसे दृष्टि-दोष सम्भाव्य हैं। अतएव यह आवश्यक है कि बालकों की सुरक्षा में सदैव सावधान ही रहा जाये। यह स्मरणीय है कि भारतीय आचार शास्त्र अन्धविश्वास पर नहीं किन्तु एक महान वैज्ञानिक आधार पर अवलम्बित है। हमारे यहां नजर से बच्चों को बचाने के लिये वृद्ध स्त्रियां अनेक उपाय काम में लाया करती हैं। देखने में तो केवल वे उपाय दम्भमात्र ही दिखाई देते हैं। किन्तु उनके अन्दर वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है। बच्चों के मस्तक पर काजल के टीके लगाना दृष्टि-दोष से बचने का सरल उपाय है। इसी प्रकार काले डोरों को कलाई और गने में बांधना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये है। काली वस्तु में विद्युत् को ग्रहण कर लेने की शक्ति सर्व विदित है। आकाशीय विद्युत् भी काले आदमी, काले सांप, काले जानवर या अन्य काली वस्तुओं पर ही अपना प्रहार करती है। काले कपड़ों का उपयोग जाड़े की ऋतु में अधिक उष्णता के ही लिए किया जाता है। काले रंग में उष्णता (विद्युत्) को



एकत्रित कर लेने की शक्ति होने के कारण उसका उपयोग इसी दृष्टिकोण से हुआ करता है। कहीं कहीं बच्चों को काले लोहे के कड़ों (आभूषणों) से भूषित कर नजर लगाने से बचाते हैं। इन सब वस्तुओं के उपयोग से बच्चे उसी प्रकार नजर लगाने से बचे रहते हैं जैसे महलों व मन्दिरों के ऊपर लगी हुई एक विशेष प्रकार की लौहे की छड़ से वे आकाशीय विद्युत् के प्रबल प्रहार से सुरक्षित रहा करते हैं। तांबे का तावीज, नीलकंठ का पर और शेर का नख आदि धारण किये रहना भी इस व्याधि से बचे रहने के लिये सरल और सच्चे उपाय हैं।

चिकित्सा—

मानवीय मनोविद्युत् के प्रबल प्रहार से पीड़ित बच्चों की व्यथा को दूर करने के लिये चिकित्सा की शरण लेना सफलता की दृष्टि से एक सुगम साधन है। आयुर्वेद के अन्तर्गत कौमारतन्त्र में बच्चों की देखरेख में अथर्ववेदवित् ब्राह्मणों को प्रधानता दी गई है। यह लोग तन्त्र-मन्त्र विशेषज्ञ होने के कारण बच्चों की अनेक अभिचारों से रक्षा किया करते थे। भूत विद्या, ग्रह चिकित्सा, झाड़-फूंक आदि विषयों के पूर्ण मर्मज्ञ होते हुये बाल रक्षा में सदैव सिद्धहस्त थे। समय के परिवर्तन के साथ ही ऐसे सिद्धहस्त अथर्ववेदवित् ब्राह्मणों का अभाव हो गया किन्तु यत्रतत्र येन केनापिरूपेण वे अपनी प्राचीन परिपाटी को अपनाये हुये अब भी दृष्टिगत होते ही हैं। इनके कथनानुसार बच्चों की इस व्याधि में संमार्जन क्रिया [झाड़] और प्राणचिकित्सा [फूंक] विशेष सद्यः फलदायिनी सफल चिकित्सा हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा प्रेमी अपने को भारतीय कहते हुये अपनी भतकालीन विभक्तियों को भुला चुके हैं। वे आज इन कलाओं को रोग मानकर उपहास करते हैं। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि रोता हुआ बच्चा अपनी माता की गोद में जाते

ही उसके अङ्ग स्पर्श से रोना दूर कर शान्ति भव करता है। पीड़ित जगह पर माता के मुख फूंक बच्चे को सुखी करने में सहायक होती है। थपकी देकर सुलाने से शिशु सुखपूर्वक शयन लगता है। यह सब प्राणों का ही तो प्रभाव जिसके बल से इस प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। प्राणतत्त्व के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की चिकित्सा करने का नाम ही तो प्राण चिकित्सा है। इसमें ढोंग और उपहास का वात ही क्या है। सूक्ष्मतया ध्यान देने पर यह विदित होता है कि आयुर्वेद में भी अनेक स्थलों पर प्राण चिकित्सा की ओर संकेत किया गया है।

चूँकि नजर लगाने से बच्चों की शारीरिक विद्युत् [प्राणशक्ति] क्षीण हो जाती है अतः प्राण चिकित्सा ही इस व्याधि की सर्वोत्तम सफल चिकित्सा है। चिकित्सक अपने प्राणमय श्वासेच्छवास से तथा विद्युन्मय सम्मार्जन क्रिया से व्याधियुक्त शिशु को शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ करा देता है। आजकल बिजली द्वारा अनेक कष्टसाय रोगों को दूर करते हुये प्रतिदिन देखा जाता है। यह भी चेतन शक्ति द्वारा की हुई एक विद्युत् चिकित्सा ही है जो अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से तत्क्षण लाभ दिखाती है। किसी प्रचुर प्राणशक्तियुक्त पुरुष से प्राण चिकित्सा कराना, गोपुच्छ से समस्त शरीर का सम्मार्जन तथा काली बकरी का उष्ण दूध पिलाना नजर लगाने में हितकारी सिद्ध हो चुका है। गौरोचन अपने माङ्गलिक एवं प्राणवर्धक प्रभाव से मात्रापूर्वक शहद या दूध के साथ प्रयोग करने पर पर्याप्त लाभकारी है। प्राण के अत्यन्त क्षीण होने पर जब बच्चे को श्वासकृच्छ्र हो कफ का प्रकोप हो जाय तो ऐसी दशा में काली मृगशृङ्ग भस्म एवं प्राणबलवर्धनार्थ सुवर्ण भस्म का प्रयोग आयुर्वेदीय चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम है।

—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
मन्थना (कानपुर)

दन्तोद्भेद एवं तत्कालीन व्याधियां

वैद्य श्री त्रिलोकचन्द जैन ए. एम. एस. (का. हि. वि.)

—६३—

मनुष्य मात्र के (३२) बत्तीस दन्त होते हैं। इन बत्तीस दन्तों को दो विभागों में विभक्त किया गया है—

(१) सकृज्जात (२) द्विज।

सकृज्जात—

सकृज्जात दन्त उन्हें कहा जाता है जो केवल एक बार निकलते हैं। तथा ये अपने स्वरूप में ही वृद्धि पाते हैं।

“काश्यप संहिता में” इनकी संख्या आठ बतलाई गई है। परन्तु इनमें प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर चार ज्ञान या बुद्धि दन्तों का भी समावेश कर लेना चाहिये। इस प्रकार इनकी संख्या द्वादश हो जाती है।

द्विज—

शेष बीस दान्तों को द्विज कहा जाता है। क्योंकि ये पुनः (दोबारा) उत्पन्न होते हैं। प्रथम बार ये बाल्यावस्था में उत्पन्न होते हैं, तब इनको दूध के दन्त अथवा प्राथमिक दन्त (*Milk Teeth or Primary Dentition*) कहा जाता है। ये दांत बालक उत्पन्न होने के कई मास पूर्व गर्भावस्था में ही दन्तमांस में बीज रूप में उपस्थित होते हैं। शनैः शनैः उनमें अस्थि निर्माण का कार्य आरंभ होता है और वृद्धि होती है। इस प्रकार दांतों का पूर्ण स्वरूप लेकर मसूढ़ों का भेदन करके वे बाहर आजाते हैं। दांतों की इस भेदन प्रक्रिया को दन्तोद्भेद (*Teething*) भी कहा जाता है।

दूध के दांतों के निकलने का क्रम -

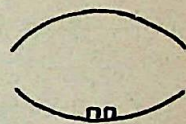
इन दांतों के निकलने की आयु प्रायः निश्चित नहीं होती है। भिन्न भिन्न बालकों में भिन्न-भिन्न आयु में दांत निकलते हैं। किसी किसी बालक के दूसरे मास से ही निकल आते हैं, जबकि कई बालकों के वर्ष भर तक दांत नहीं निकल पाते। बालकों की बीमारियों का भी असर कभी कभी

उनके दांतों अथवा उनके दन्तोद्गम पर भी पड़ता है। स्वस्थ बालक के दांत निकलने का समय उनके परिवार के नियमों पर भी आधारित रहता है। एक परिवार में बच्चों के दांत शीघ्र निकलते हैं, जबकि दूसरे परिवार में दांत देर से निकलते हैं।

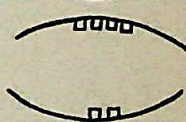
प्रायः सभी बालकों के दांत सातवें मास के आसपास ही निकलते हैं। परन्तु बालक तीसरे महीने से ही लालास्राव, कटकटाना, काटना, मुंह में कोई वस्तु रखकर उसे दबाना आदि आरम्भ कर देता है। तथा कुछ विह्वल सा प्रतीत होता है।

इन दांतों के निकलने का क्रम निम्न है—

करीब ७ वें महीने में -----



१ साल का होते होते -----



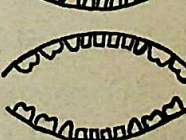
१ और १½ साल के बीच -----



१½ और २ साल के बीच -----



२ और २½ साल के बीच -----



चित्र नं० ३८

बच्चों के अस्थायी दांत निकलने का क्रम

(१) निचले मध्य के त्रोटक (*Lower central incisors*) छः से आठ मास तक।

(२) ऊपर के चारों त्रोटक (*Four upper incisors*) आठ मास से १ साल तक।

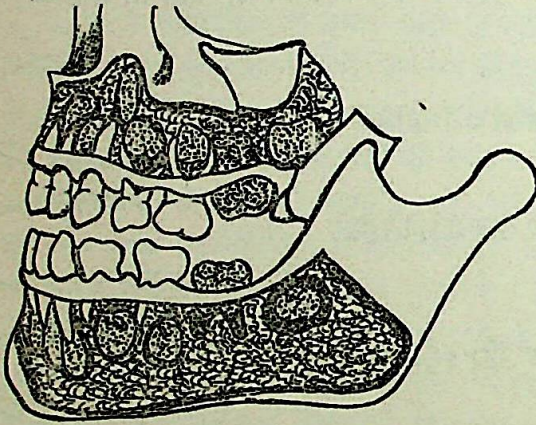


(३) निचले पार्श्व के त्रोटक (Incisiers) तथा निचले और ऊपर के चर्वणक (प्रथम) (Front molars) १२ से १४ मास तक ।

(४) निचले तथा ऊपर के कीलक (Canines) १८ से २० मास तक—इनमें भी ऊपर का कीलक प्रथम निकलता है ।

(५) निचले तथा ऊपर के दूसरे चर्वणक (Posterior molars) २४ से ३० मास तक ।

उपर्युक्त क्रम से स्पष्ट होगा कि एक बच्चे के दूध के सभी दांत प्रायः २॥ वर्ष की अवस्था तक निकल आते हैं। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि इन वर्षों में बालक का अधिकांश समय दांत निकलने में ही बीतता है ।



चित्र नं० ३६

६ वर्ष के बालक के दांत (बिन्दी रखे हुए दांत स्थायी हैं जो बाद में निकलेंगे)।

स्थायी दन्तों के निकलने का क्रम निम्न है—

(१) प्रथम पश्चात् चर्वणक या त्रिमूली (First-molars) ५ से ७ वर्ष औसतन ६ वर्ष ।

(२) मध्य त्रोटक (Central incisiers)—६½ से ८ वर्ष—औसत ७ वर्ष ।

(३) पार्श्व के त्रोटक (Lateral inciser) ७ से ६ वर्ष—औसतन ८ वर्ष ।

(४) प्रथम चर्वण या द्विमूली (First bicuspid) ६ से ११ वर्ष—औसतन १० वर्ष ।

(५) द्वितीय चर्वण या द्विमूली (2nd bicuspid) १० से १२ वर्ष—औसतन ११ वर्ष ।

(६) कीलक (Canines) ११ से १४ वर्ष—औसत १२ वर्ष ।

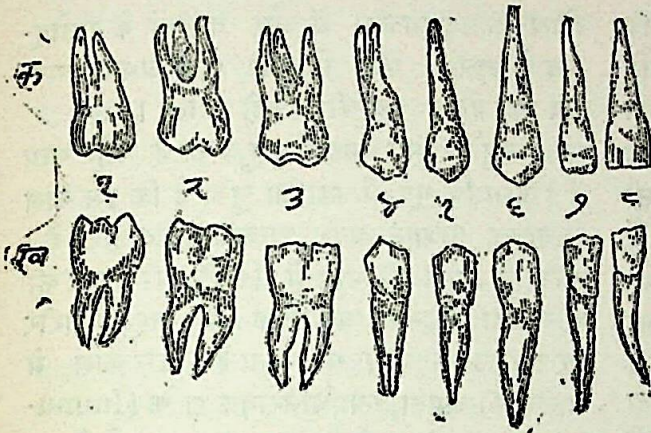
(७) द्वितीय पश्चात् चर्वण या त्रिमूली (2nd Molars) ११ से १४ वर्ष औसतन १२॥ वर्ष ।

(८) तृतीय पश्चात् चर्वणक त्रिमूली या ज्ञान दन्त या डाढ़ (third Molars or Wisdom teeth) १६ से २१ या बाद में भी ।

दूध के दान्तों के समान ही ये स्थायी दांत भी गर्भावस्था में ही मसूढ़ों में बीज रूप से स्थित होते हैं। अन्तर इतना है कि ये प्रथम की अपेक्षा अधिक गहराई पर अवस्थित होते हैं। ऋषि काश्यप के अनुसार बालिकाओं के दांत बालकों की तुलना में सुषिर एवं मृदु होते हैं। फलतः उनके दांत शीघ्र निकलते हैं और कष्ट भी कम होता है। बालकों के दांत अधिक घन तथा स्थिर होते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि दन्तोद्भेद की दशा में जबकि मसूढ़े फूलते हैं तो बालक को एक विशिष्ट प्रकार की फुलन का अनुभव होता है जिसके कारण वह किसी भी प्रकार की वस्तु को मुख में रखकर कटकटाता है। वैसे भी बच्चों की यह आदत होती है कि सभी वस्तुओं को वे मुख में रखकर चबते या दबाते हैं। कितना भी उन्हें रोका जाय परन्तु वे नहीं रुकते और न वे रुक ही सकते हैं। वास्तविक दृष्टि से उन्हें रोकना भी नहीं चाहिए। क्योंकि इस विधि से मसूढ़ों का व्यापार हो जाता है। तथा दन्तोद्भेद के समय जो फुलन होती है उसे भी शांति मिलती है। अतः अभिभावक को चाहिए कि वह स्वयं ही ऐसी चीजें डाल दें कि जिन्हें बालक अपने मुंह में लेकर आनन्द से चबाता रहे। वह चीजें इतनी मोटी न हों कि मुंह में लगे और इन्हें मुंह में लेकर यदि शिथिल भी जाय तो भी चोट न लगे। एतदर्थ आज कल टीदिनिंगरिङ्ग (Teethening ring) दांतों के

शिशुरोगीन्द्र



चित्र नं० ४०

सम्पूर्ण स्थाई दांत एक ओर के

लिये चबाने की चूड़ी का बहुत प्रचलन है और सभी दृष्टियों से यह ठीक भी है। कई बच्चे चबाने के लिये कपड़ा बहुत पसन्द करते हैं। यदि वह गन्दा न हो तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अनेक बच्चे मसूढ़ों को रगड़ना अधिक पसन्द करते हैं। दन्तोद्भेद के समय सामान्यतया मुहागे की खील और मधु मिलाकर मसूढ़ों पर मलने से दांत सुख-पूर्वक निकल आते हैं। ग्लिसरीन का भी प्रयोग किया जा सकता है। प्रथम योग पाचन में भी सहायक होता है।

दांतों की सुन्दरता असुन्दरता—

आचार्यों का कथन है कि दांतों के निषेक, स्वरूप ग्रहण, प्रकट होना, वृद्धि पतन, पुनर्भव, निवृत्ति, स्थिति परिश्रम, चलन, दृढ़ता, और दुर्बलता इन सबके लिए निम्न कारण हैं—

- (१) जाति या कुल की विशेषता।
- (२) निषेक उनकी बीजरूपावस्था।
- (३) स्वभाव।
- (४) माता पिता का अनुकरण (वंश परंपरा)।
- (५) व्यक्ति के प्राक्तन कर्म (शुभाशुभ)।

यहां केवल उन कारणों की परिगणना की गई

है जिन पर वैद्य का या मनुष्य का कोई भी नियन्त्रण न तो है और न हो सकता है।

यद्यपि दन्त वैज्ञानिक अभी तक दांत क्यों नष्ट होते हैं इसका पता नहीं लगा पाये हैं।

कतिपय ऐसे कारण हैं जो दांतों की वृद्धि स्थिति आदि पर निश्चित प्रभाव रखते हैं और जिनका वर्णन आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों में अन्यत्र मिलता है।

पोषण—

पूर्व में कहा जा चुका है कि अस्थायी एवं स्थायी उभय प्रकार के दांत गर्भावस्था में ही (बीज रूप) निषिक्त होते हैं तथा अपना स्वरूप बनाते हैं। इनका भी पोषण गर्भाकाल में माता जो आहार लेती है उससे होता है। अन्वेषणों से यह पता लगा है कि स्वस्थ एवं स्थिर दांतों की प्राप्ति के लिये भोजन में निम्न अंश अवश्य होने चाहिये—

चूना (Calcium), प्रस्फुरक (Phosphorus), जीवितिकि डी. और जीवितिकी सी.। इनके अतिरिक्त जीवितिकि ए और बी की भी आवश्यकता होती है।

अतः गर्भावस्था में माता के आहार में ऐसे पदार्थ होने चाहिये जिनमें इन द्रव्यों की समुचित उपस्थिति हो। अन्यथा औषधि रूप में इनकी पूर्ति होनी चाहिये। बाद में जब शिशु एक मास का हो जाय तो विटामिन सी और डी की बूंदें दूध में मिलाकर देनी चाहिये।

दांतों का शीघ्र पतन—

अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि दांतों के गिरने का मुख्य कारण दूध से उत्पन्न अम्ल (दुग्धाम्ल-Lactic acid) है। शर्करा और पिष्ट (Starch) पर रहने वाला एक विशिष्ट कीटाणु इसे पैदा करता है और जब ये द्रव्य दांतों के सम्पर्क में



आते हैं तो उनसे यह अम्ल बन जाता है। बालक जितना ही शर्करा एवं पिष्टमय पदार्थ का अति सेवन करेगा उतनी ही इस अम्ल के बनने की सम्भावना बढ़ेगी। यही कारण है कि अधिक मात्रा में लेमनचूस, शर्कर की गोलियां, शर्बत और ऐसी मिठाइयों का सेवन जो दांतों से चिपटी रहती है उनसे दांतों के खराब होने की अधिक संभावना होती है। वैज्ञानिक अन्वेषणों से यह भी पता चला है कि पानी में एक फ्लोराइड नामक तत्व होता है जो दांतों की दृढ़ता के लिये परमावश्यक होता है। यह तत्व माता की अपरा से जब वह गर्भवती होती है तब गर्भ को मिलता है जो दन्तनिषेक काल और मूर्तकाल में उपयोगी होता है।

यदि पानी में फ्लोराइड नहीं होता तो डाक्टर आजकल दांतों पर उसका घोल चढ़ा देते हैं।

दन्त सम्पत्—

दांतों की पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, निर्मलता, नीरोगता, नीचे के दांतों से ऊपर के दांतों का कुछ अधिक उन्नत होना (जिससे नीचे के दांत भलीभांति ढक पायें) तथा मसूढ़ों का समान लाल, स्निग्ध तथा बड़े घन एवं एवं स्थिर मूल वाले होना, ये दांतों के गुण कहलाते हैं।

वर्तमान युग में यदि दन्त पंक्ति ठीक नहीं होती और दांत इधर उधर असम बिना किसी क्रम के निकलने आरम्भ होते हैं तो डाक्टर विविध उपायों से दन्तपंक्ति सम ही निकले इसका प्रयत्न करते हैं और सफल भी होते हैं। इसके अतिरिक्त दांतों की सफाई रखनी चाहिये। प्रत्येक प्रधान भोजन के उपरान्त दांतों को साफ करना चाहिये। वर्ष में दो बार दांत के अच्छे डाक्टर को दांत दिखलाने चाहिये।

दन्तोद्भेद के समय उत्पन्न होने वाले रोग—

पृष्ठ भंगे बिडालानां बहिष्णां शिखरोद्गमे।

दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किञ्चिन्न दृश्यते ॥

—सुश्रुत

अर्थात् बिडालों के पृष्ठ भङ्ग में, मोरों की

शिखा के उद्गमकाल में और बालकों के दन्तोद्भेद के काल में ऐसा कोई भी अङ्ग अथवा अवयव नहीं होता जहां पीड़ा नहीं होती।

उपर्युक्त मत महर्षि सुश्रुत का है और सत्य है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि इस काल में बालक परेशान और अस्वस्थ प्रतीत होता है। शरीर के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की अस्वस्थता हो इसका अवसादक प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर तथा उसके अङ्गों पर पड़ता है। इस काल में बालक की क्षमता, व्याधिनिरोधक शक्ति (Immunity) कम हो जाती है। फलतः अन्य रोगों का प्रभाव शीघ्र हो जाता है। तथापि बालकों में अनेक भेद मिलते हैं। एक बालक ऐसा होता है जो दांत निकलने के तीन या चार मास तक सुस्त निर्बल हो जाता है और सारे परिवार को भी परेशान कर देता है। दूसरे ऐसे भी बच्चे होते हैं कि कब उनके दांत निकले इसका पता भी नहीं चलता।

आधुनिक काल में भी दन्तवैज्ञानिकों का इस विषय में मतैक्य नहीं है। एक समुदाय का कथन है कि दांतों के उद्गम के समय शिशु को निश्चित रूपेण बहुत से रोग सताते हैं। जबकि दूसरे समुदाय का कथन है कि दन्तोद्गम किसी भी अन्य रोग के लिये उत्तरदायी नहीं है। ये दोनों ही सिद्धान्त आत्यन्तिक स्वरूप के हैं। मेरे मत में मध्यम मार्ग का ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

यद्यपि दन्तोद्भव भी एक प्राकृतिक घटना है और सामान्यतया बिना किसी विशिष्ट असुविधा के ही यह प्रक्रिया पूरी हो जानी चाहिये तथापि यह प्रत्यक्ष है कि प्रायः अधिकांश शिशुओं में कुछ न कुछ विकृति अवश्य हो जाती है।

नाड़ी संस्थान पर भी इसका प्रभाव होता है। फलतः शिशु असहनशील, चिड़चिड़ा और रुदनशील हो जाता है तथा अस्वस्थ दिखाई देता है।

अतः जो लोग यह मत प्रदर्शित करते हैं कि दन्तोद्भेद काल में होने वाली व्याधियों की तनिक आवश्यकता नहीं है। ये स्वयं ही दांत निकल आने



शिशुरोगाङ्कः

पर शान्त हो जाती हैं वह पूर्ण अत्युक्तियुक्त है।

मेरे मत में यदि शिशु में अति साधारण प्रकार की व्याधि या अस्वस्थता हो जाय तब तो कोई बात नहीं, परन्तु यदि ज्वर कास अतिसार आदि सामान्य अवस्था से अधिक हो तो तुरन्त ही वैद्य को दिखलाकर उचित चिकित्सा करानी चाहिये।

दन्तोद्भेद के समय प्रायः निम्न रोग होते हैं—

(१) ज्वर—दन्तोद्भेद के समय जबकि मसूढ़े बहुत फूले हों और दांत निकलने वाला हो, उस समय सामान्य ताप से यदि १ या १॥ अंश ताप अधिक हो तो चिकित्सा के लिये प्रतीक्षा की जा सकती है। इसमें अधिक ताप होने पर कारणानुसार उचित चिकित्सा करें।

(२) कास—दन्तोद्भेद कास का एक विप्रकृष्ट कारण माना जा सकता है प्रधान कारण के रूप में नहीं। इसकी चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिये।

(३) अविपाक या अपचन—कई शिशुओं की चर्चा जब नियमत नहीं रहती तो उनका पचन संस्थान भी भलीभांति कार्य नहीं कर पाता। फलतः जो भी वे लेते हैं (आहाररूपेण ग्रहण करते हैं) उसका ठीक पाचन नहीं होता। इसके लक्षण है—शिशु की बेचैनी, हाथ पैर फैंकना, दुर्गन्धित अपान वायु का त्याग, अधिक दूध मुख द्वारा उगलना। यही अवस्था आगे जाकर वमन तथा अतिसार का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

(४) वमन—अनेक शिशु ऐसे होते हैं कि यदि वे क्रुद्ध हों तो बड़ी सरलता से वमन या उल्टी कर देते हैं और इस प्रकार जब वे एक दो बार माता आदि की सहानुभूति पा लेते हैं तो इसकी उपयोगिता देखकर इसका अभ्यास कर लेते हैं। इसके लिये १-२ बार उपेक्षा कर देना ही चिकित्सा है। परन्तु बिना अभ्यास के या अन्य कारण से यदि उल्टी हैं तो उचित चिकित्सा करें।

(५) अतिसार—प्रारम्भ के १-२ वर्षों तक शिशु की आन्त्र अधिक संवेदनशील होती है। आहार-विहार विषयक परिवर्तन का अतिशीघ्र प्रभाव होता

है। इस काल में आन्त्र पर केवल उन कीटाणुओं का ही असर नहीं होता जिनका बड़े लोगों की आन्त्र पर होता है। अपितु कुछ ऐसी सर्दी के कीटाणु अथवा ऐसे कीटाणु जो बड़े लोगों की आन्त्र पर कुछ भी प्रभाव नहीं करते इन पर तुरन्त प्रभाव करते हैं। इसीलिये शिशुओं एवं बच्चों की इन कीटाणुओं से रक्षा सर्वाधिक करनी पड़ती है। उनके दूध को सावधानी से जन्तुरहित करना पड़ता है। धीरे धीरे आहार क्रम बदलें और आहार में नवीन द्रव्यों की योजना शनैः शनैः विधिवत् करें।

बहुत से अतिसार साधारण होते हैं। दन्तोद्भव वेदनाजनित अतिसारों की संख्या ३-४ से अधिक नहीं होनी चाहिये। न उनकी राशि, गन्ध या वर्ण में कोई विशेष अन्तर आना चाहिये। परन्तु यदि संख्या (अधिक हो), राशि (प्रभूत), गन्ध (दुर्गन्धित) एवं वर्ण (हरा-नीला) में अन्तर आ जाये, अधिक पानी निकले रक्त या आंव (आम) आवे, साथ ही उल्टी हो, ज्वर हो, शिशु अवसन्न हो तो तुरन्त ही समुचित चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। जो व्यक्ति मानते हैं कि इस काल में अतिसार प्राकृतिक और लाभप्रद है उनकी यह धारणा उचित नहीं है। आवश्यकता से अधिक अतिसार सर्वदा हानिकारक है।

एतदतिरिक्त बच्चे का बार बार सिर पटकना, आक्षेप आना तथा कभी कभी नेत्र विकार सामान्यतया आभ्यन्तरवर्त्मप्रदाह (Conjunctivitis) भी उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

इन अवस्थाओं की सामान्य चिकित्सा के सामान्य नियम वे ही हैं जो बड़ों में लागू होते हैं। किन्तु बालक के सुकुमार होने के कारण औषधियां मृदु होने अल्पमात्रा में प्रयुक्त भी प्रभावकारी हों, स्वादु हों आदि बातों का विशेष ध्यान रखें।

—वैद्य श्री त्रिलोकचन्द्र जैन ए. एम. एस. सह-प्राध्यापक स्नातकोत्तर शिक्षाकेन्द्र, जामनगर।

दन्तोत्पत्तिकारणम्

श्री बालकराम शुक्ल आयुर्वेदशास्त्राचार्य



बालकों की दन्तोत्पत्ति में अस्थिमज्जा का प्रधान भाग होता है । धातुओं की पच्यमाना-वस्था में ये दोनों काल क्रम से जब दन्ताशय (हन्वस्थिगतों) में निर्मित होती रहती हैं तथा ऊर्ध्व-भाग में नीचे की तरफ, तथा अधो भाग में ऊपर की तरफ बढ़ने लगती हैं तब यह प्रतीत होने लगता है कि अब दन्तोत्पत्ति होने वाली है । और दन्तवेष्ट (मसूढ़ों) में संघर्षण आरम्भ हो जाता है। इससे बालक को रोमाञ्च होने लगता है और वहां श्लेष्मा होने के कारण कण्डू, लालास्राव आदि होने लगता है । बच्चा मसूढ़ों में पीड़ा होने के कारण माता के चूचक (स्तनाग्र भाग) को जोर से दबाता है । उस समय बच्चे को जो कुछ मिलता है मुख में रख कर उसको दबाता है । यह मसूढ़ों की चमक, सूची भेदन के तुल्य पीड़ा जितनी बढ़ती है उतने ही दांत बाहर की तरफ निकलते हैं । और बालकों के दांत निकलते समय अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे बिस्ली के पृष्ठभंग हो जाने पर और मोर की शिखा निकलने में अनेक पीड़ायें उत्पन्न हो जाती हैं—

पृष्ठभृगे बिडालनां वह्निगान्वाशिखोद्गमे ।

दन्तोद्गमेचबालानां नहिक्लिन्नदूयते ॥

—अ. ह. उ.

अर्थात्—दन्तोत्पत्ति सब रोगों का कारण है । प्रधान रूप से ज्वर, खांसी, शिरोवेदना, वा वमन, अतिसार आदि होते हैं ।

एक पाश्चात्य वैज्ञानिक का मत है कि दांतों की उत्पत्ति से पीड़ा का कुछ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दन्तोत्पत्ति एक स्वाभाविक कार्य है । यथा हस्तपादादि की उत्पत्ति वा, स्फूर्ति स्वाभाविक रूप से होती है । उसी भांति दांत भी आयु के आधार पर निकलते हैं । अर्थात् दन्तोत्पत्ति में पीड़ा आनु-वर्जिक है । इसी भांति न्यूयार्क के प्रसिद्ध चिकि-

त्सक डासन का मत है कि हमारी सम्मति में मनुष्यों की मिथ्या धारणाओं में सबसे निर्मूल धारणा दन्तोत्पत्ति के समय दुःख होने के विषय में है । दांत निकलते समय पीड़ा होना किसी दृष्टि से स्वाभाविक या अनिवार्य नहीं समझा जाता है । पाश्चात्य देशीय चिकित्सकों ने इस विषय में अच्छी तरह अनुभव करके यह परिणाम निकाला है कि दांत निकलते समय बच्चे को जो पीड़ा होती है वह बच्चों की अकाल सृष्टि का कारण नहीं है । उनके कथन से यह भी प्रगट होता है कि यदि हम प्रकृति के नियमानुसार चलें तो बालकों की उन सब रोगों से सहज ही रक्षा हो सकती है जो दांत निकलते समय उनको अधिकतर हो जाते हैं । अतः दन्तोत्पत्ति से रोग होने के भ्रम को त्याग कर बच्चे के उदर की शुद्धि रखना उनके स्वस्थ रखने का एक मात्र उपाय है । दांत निकलने के समय बच्चों को शुद्ध वायु का सेवन कराना परमावश्यक है अतः कर्मकाण्ड में प्रायः इन्हीं दिनों में वहिर्निष्क्रमण संस्कार का विधान लिखा है । उसका तात्पर्य यह है कि बच्चे को उन दिनों शुद्ध वायु का सेवन करावें ।

दन्तोत्पत्ति समय —

नवजात शिशु के दोनों हनुओं के भीतर २० पतनशील दांतों के शिखर विद्यमान रहते हैं । धीरे धीरे ये दांत बढ़ते हैं और छठे-सातवें मास में मसूढ़ों को छेद कर हनुओं से बाहर निकलते हैं । इनके बाहर निकलने को दन्तोद्भव काल कहते हैं । और लिखा हुआ है कि आठ मास के बाद वा आठवें मास में दन्तोद्भव होने वाले बच्चे की दीर्घायु होती है । इससे कम समय में दन्तोत्पत्ति होने वाले बच्चों की दीर्घायु नहीं होती है । अर्थात् चौथे मास में जो दांत निकलते हैं वे दुर्बल, शीघ्र नष्ट होते



बाले तथा रोगाक्रान्त होते हैं और पांचवे मास में जो दांत निकलते हैं उनमें स्पन्दन, और प्रद्वर्षण अधिक होता है। और यह भी प्रायः रुग्ण रहते हैं। और छठे मास वाले दांत मलग्राही विवर्ण और गणदन्त (Dental carries) होते हैं। और सातवें मास के दांत द्विच्छिद्रयुक्त, टूटने वाले लकीरों वाले रुक् विषम और उन्नत देखे जाते हैं। परन्तु आठवें मास में निकलने वाले दांत सर्वगुण सम्पन्न देखे जाते हैं।

दंतसम्पद्—

(१) पूर्णता—दांत सम्पूर्णतया ऊपर आना चाहिए। कुछ दंतवेष्टों के अन्दर मांसवृत रहते हैं। प्रायः राजदन्त मांसावृत देखे जाते हैं। पूर्णरूप से दांत बत्तीस होने चाहिए कम संख्या के दृष्टि से न्यून होना दन्त-असंपद् है।

(२) समता—दांत बराबर होना चाहिए, दांतों में समता होने से ऊपर वाली और नीचे वाली दंत-पंक्ति वक्राकार रहती है। इससे मुख की सुन्दरता बढ़ती है।

(३) घनता—दांतों में घनत्व होने से कठिन पदार्थों को चबाने में सरलता रहती है।

(४) शुक्लता—मुक्तातुल्य श्वेत दांत होने चाहिए।

(५) स्निग्धता—दांत स्निग्ध होने चाहिए।

(६) श्लक्ष्णता—दांत चिकने होने चाहिए।

(७) निर्मल—निर्मल स्वच्छ दांत होने चाहिए।

(८) निरामयता—दांतों में कोई रोग नहीं होना चाहिए। आरोग्य सम्पन्न दांत इस कलि काल में अत्यल्प दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन काल में संसार में भारतीय मनुष्यों की दन्त संपत् प्रसिद्ध है। आजकल के दांत प्रत्यक्ष ही हैं।

(९) उत्तरोन्नता किञ्चित्—कुछ कुछ दांत उत्तरोत्तर उठे हुए प्रतीत होते हैं।

(१०) दन्तबन्धनानां समता—मसूढ़ों का सम स्थिति में रहना दांतों की रक्षा के लिए आवश्यक है।

मसूढ़ों का विषम स्थिति में होना, दुर्बल होना हानिकारक है। मसूढ़ों की समस्थिति होना दांतों की आरोग्यावस्था के लिए अत्यावश्यक है। मसूढ़ों की विषमता से शर्करा, कापालिका, दन्तकृमि आदि रोग हो जाते हैं।

(११) रक्तता—गुलाबी रंग दांत की सुन्दरता बनाता है।

(१२) बृहद्घन स्थिरमूलता—दांतों की मूल, स्थिर, घन (ठोस) होनी चाहिए।

यथोक्त काश्यप संहितायाम्—

पूर्णता—समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, किञ्चिदुत्तरोन्नता, दंतबंधनानाञ्चसमता, रक्तता, स्निग्धता बृहद् घनीस्थिर मूलताचेति दंत सम्पदुच्यते।

दंत असंपद्—

विरलदंतता (दांतों का अलग-अलग रहना), हीन दंतता (कम दांतों का होना), अधिक दन्तता (अधिक होना), कराल दंतता (दांत टेढ़े होना), विवर्ण दंतता (विकृत वर्ण वाले होना), स्फुटित दंतता (स्फुटित होता) ये अमंगलकारी दांत होते हैं।

दन्त सम्पत् का कारण—

जिनके दन्तोदूखलों में स्वभाव से ही गर्भ में ही रक्त का विषेचन हो चुका होता है उनमें उत्पन्न दंत क्रम से पंक्तिबद्धसम्पद् युक्त होते हैं।

चतुर्विध दन्तजन्मविवर्णनम्—

चार प्रकार के दांतों का जन्म होता है।

(१) सामुद्रा—यह दन्त जन्म विकृष्ट होता है। इसमें बराबर दांत गिरते रहते हैं। इससे इनका क्षय होता रहता है।

(२) संवृत—यह दन्त जन्म कल्याणकारक नहीं होता है क्योंकि मलीन रहते हैं।

(३) विवृत—यह अनित्य, लालोपहत, असंघना, दंत होने से शीघ्र उन्हें विवर्ण करके बाधा के समीप पहुंचा देता है।

(४) दन्त सम्पत्—यह ठीक है। क्योंकि इसमें



दंत पंक्तिबद्ध होते हैं।

दंत संख्या विवेचन-

मनुष्य की बाल्यावस्था में २० दांत होते हैं और पूर्ण आयु में ३२ दांत होते हैं। इनका स्थान तथा कार्य के अनुसार पृथक् पृथक् नामकरण संस्कार किया गया है—

(१) दुग्ध दन्त (Milk Teeth) या अस्थायी दन्त (Temporary)।

(२) स्थायी दन्त (Permanent teeth)।

दुग्ध दन्त वर्णनम्—

यह संख्या में २० होते हैं। ऊपर नीचे के प्रत्येक हनु में दस-दस और प्रत्येक अर्धहनु में पांच-पांच दन्त होते हैं। जब बच्चा ६ से १० महीने का होता है तब दांत निकलने शुरू होते हैं। इन दांतों को दूध के दांत कहते हैं। प्रायः २॥ वर्ष में दंत पूर्ण रूप में निकल आते हैं। और प्रायः सबसे पहले अधोहनु के दो कर्तनक दांत निकलते हैं। फिर उर्ध्वहनु के कर्तनक निकलते हैं। इस भांति भिन्न-भिन्न प्रकार से ऊपर नीचे दांतों का उत्पत्ति क्रम चलता है। इसके बाद ६-७ वर्ष की उम्र के बाद ये गिरने लगते हैं। जो कि लगभग १२ वर्ष की आयु तक रहता है। और इनकी जगह दूसरे नये दांत निकल आते हैं। इन दूसरी बार के निकले दांतों को स्थायी दांत (Permanent Teeth) कहते हैं।

दंत विभेदाख्यानम्—

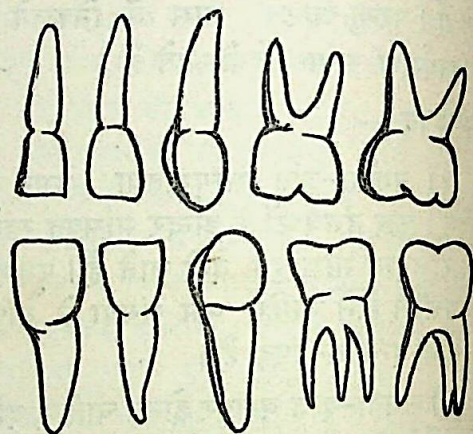
दुग्ध दंतों को स्थान, तथा कार्य के अनुसार निम्न तीन भागों में विभक्त करते हैं—

(१) कर्तनक (Incisors)—यह दांत भोजन के पदार्थों को काटने का काम करते हैं अतः इनको कर्तनक दंत कहते हैं। और दूसरों की अपेक्षा ऊपर के दांत कुछ बड़े दिखाई देते हैं। और सामने होते हैं अतः सन्मुख दंत कहते हैं। और मुख के सौंदर्य को बढ़ाते हैं। अतः राज दन्त भी कहते हैं। ये दांत पवित्र माने जाते हैं। इनके खडिंत होजाने पर मनुष्य श्राद्धकर्म करने के योग्य नहीं रहता है वह अपवित्र हो

जाता है। यह स्थायी दांत के लिए शास्त्र बचन है।

(तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदंतः संज्ञौ भवन्, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डेन् श्राद्धमर्हति। अपवित्रो हि सः। (का. सं.)

ऊपर नीचे के दोनों हनुओं में इनकी कुल संख्या ८ होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दक्षिण वाम में दो-दो होते हैं।



चित्र नं० ४०

बालक के अस्थायी दांत

(२) रदनक (Canines)—यह दन्त पदार्थों के विभिन्न भागों में फाड़ने का काम करते हैं अतः इनको रदनक कहते हैं। ऊपर नीचे ये संख्या में चार होते हैं। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दक्षिण वाम तरफ एक एक होता है।

(३) पश्चिम चर्वणक (Molars) दांत का कार्य पदार्थ को चबाना है अतः इनको चर्वणक कहते हैं। इनको दाढ़ों भी कहते हैं। ये प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो होते हैं। अर्थात् बाल्यावस्था में ऊपर नीचे इनकी संख्या ८ होती है।

स्थायी दन्त विकास क्रम—सबसे पहले प्रायः निम्न हनु के कर्तनक दांत निकलने आरम्भ होते हैं। इसके बाद उर्ध्वहनु के कर्तनक आदि इस प्रकार उर्ध्वाधः समविषम उत्पत्ति क्रम चलता है।

पतनशाल दन्तोद्भवकाल क्रम वर्णनम्—

(१) अधो कर्तनक—६ से ६ महीना तक।



शिशु रोगाङ्कः

(२) ऊर्ध्व के चारों कर्तनक—८ से १२ मास ।
(३) नीचे के बाह्यकर्तनक । और अगले चार चर्बणक—१२-१४ मास ।

(४) भेदक दन्त—१८-२४ मास तक

(५) पिछले चर्बणक—२४-३०

१ वर्ष की आयु के—बालक के ६ दांत होने चाहिए ।

१॥ वर्ष शिशु के—१२ दांत होने चाहिए ।

२ वर्ष के शिशु के १६ दांत होने चाहिए ।

२॥ वर्ष के शिशु के दांत २० होने चाहिए ।

दन्त विभाग रचना—

प्रत्येक दांत के ३ भाग होते हैं । (१) शिखर (Crown) (२) ग्रीवा (neck) (३) मूल (Root)

शिखर मसूढ़े के बाहरी भाग को कहते हैं । ग्रीवा मसूढ़े के अन्दर दबे हुये भाग को और मूल, ग्रीवा के नीचे के दांत के अन्तिम भाग को कहते हैं । जबड़े की हड्डी में बने हुए गढ़ों में दांत जमे रहते हैं । इन गढ़ों को दन्तोदूखल (Alveoli) कहते हैं । प्रत्येक दांत के अन्दर एक खाली स्थान रहता है जिसमें रुधिर वाहिकायें, और नाड़ियां भरी रहती हैं । इसको दन्त गुहा (Pulp Cavity) कहते हैं ।

दन्त गुहा को चारों ओर से घेरता हुआ दन्तसार डेन्टाइन (Dentin) नामक पदार्थ रहता है । जो दन्त का अधिक भाग बनाता है । मसूढ़े के ऊपर दांत का जितना हिस्सा बाहर निकला रहता है उतने हिस्से में डेन्टाइन के ऊपर एक दूसरी कड़ी पर्त रहती है जिसे दन्त कबच इनेमल (Enamel) कहते हैं । इनेमल दांत को सफेदी प्रदान करता है । मसूढ़े के अन्दर के भाग में डेन्टाइन के ऊपर एक अस्थि की पर्त रहती है जिसे दन्त प्रस्तर-सीमेंट (Cement) कहते हैं ।

संक्षिप्त स्थायि दन्त विवेचनम् —

स्थायी दांत अधिकतर ६-७ वर्ष की अवस्था में दुग्ध दन्तों के उखड़ने पर क्रमशः उनके

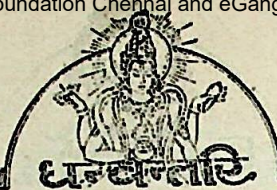
ही स्थान पर निकलना शुरू होकर १८ से २५ वर्ष तक की आयु पूरे होते हैं । मनुष्य की आरोग्यता के अनुसार अधिकतर आजीवन स्थिर रहते हैं । भिन्न भिन्न दांतों का उत्पत्ति समय भिन्न भिन्न होता है । ये गिनती में दुग्ध दन्तों की अपेक्षा १२ अधिक होते हैं । इन १२ दांतों का पुनर्जन्म भी नहीं होता है । इनकी उत्पत्ति प्रथम बार होती है । ये ३२ होते हैं । ऊपर नीचे प्रत्येक जबड़े में १६-१६ और प्रत्येक हनु के दक्षिण वाम अर्ध-अर्ध भाग में आठ आठ होते हैं ।

नाम, भेद के अनुसार स्थायी दांतों की गणना—

(१) कर्तनक—सबसे आगे मध्य रेखा के इधर उधर २-२ चौड़े दांत होते हैं । ये भोजन करने का काम करते हैं । अतः इनको कर्तनक या छेदक कहते हैं । चार छेदक दांतों में से बीच के दो दो मध्य मध्य छेदक और इनके इधर उधर वाले बाह्य छेदक कहलाते हैं ।

(२) रदनक दन्त—बाह्यछेदक दन्त से कर्ण की तरफ एक नुकीला दांत मिलता है । यह दांत मांस फाड़ने वाले जानवरों में अधिक लम्बा और नुकीला होता है । यह दांत भोज्य पदार्थों को छेद करके अथवा फाड़ करके काम लाता है । मनुष्य अपना भोजन पकाकर खाता है । अतः उसको फाड़ने का काम कम करना पड़ता है । इसी कारण यह दांत भी छोटा होता है । इसको रदनक दन्त कहते हैं । इनकी कुल संख्या ४ होती है ।

(३) अग्रचर्बणक (Bicuspid or Premolars)—ये प्रत्येक हनु के आधे आधे भाग में ऊपर नीचे दोनों ओर २-२ होते हैं । इनकी कुल संख्या ८ होती है । इनको छोटी दाढ़ें भी कहते हैं । ये अपने से पहले दांतों की अपेक्षा कुछ छोटे और ऊपर का भाग चपटा होता है । ऊपर के चपटे भाग में अधिकतर दो दो गढ़े तथा २-२ उभार से भी होते हैं । इनका कार्य भोज्य पदार्थों को चबाना होता है । अतः इनको अग्र चर्बणक



कहते हैं। इनका स्थान मुख में रदनक दांतों के पीछे कुछ अन्दर की तरफ चौथे और पांचवें नम्बर पर होता है। होठ खोलने पर ये साफ साफ दिखाई नहीं देते क्योंकि ये कपोलों से ढके रहते हैं।

(४) पश्चिम चर्बणक—अग्रचर्बणकों के पीछे तीन दाढ़े होती हैं। ये भी भोजन चबाने के काम आती हैं। ये सबसे मोटे दांत होते हैं। इनको पश्चिम चर्बणक कहते हैं। इनकी गिनती सामने से पीछे की ओर होती है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय। तृतीय पश्चिम चर्बणक को साधारण बोलचाल में बुद्धिदन्त (अकल दाढ़—Third molars वा wisdom teeth) कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह बड़ी आयु में १८ से २५ वर्ष की आयु के बीच में कभी कभी इससे भी अधिक आयु में निकलती है।

स्थायी दन्त निकलने के समय—

प्रथम पश्चिमचर्बणक	४=६ वर्ष
कर्तनक	८=७-८,,
अग्रचर्बणक	८=६-१२,,
भेदक	४=१२-१४,,
द्वितीय पश्चिम चर्बणक	४=१७-२५,,

विमर्श—दोनों हनुओं में दोनों प्रकार के दांत होते हैं—स्थायी और पतनशील। जब पतनशील दांत गिर जाते हैं तो स्थायी दांत उनकी जगह उग आगे आते हैं। अधोदन्त ऊर्ध्व दन्तों से पहले निकलते हैं। छः वर्ष में प्रत्येक हनु में २४ दन्त होते हैं दोनों में ४८। इनमें से २० पतनशील होते हैं। और २८ स्थायी। स्थायी दांत पतनशील के नीचे रहते हैं। यह मसूढ़ों से ढके रहते हैं। २५ वर्ष की आयु में प्रत्येक हनु में १६ दांत होते हैं। दोनों में ३२। जबकि बुद्धि दन्त २५ और ४० वर्ष के बीच में निकला करते हैं।

हनुओं के ३२ दांतों में से आठ एक बार ही उत्पन्न होते हैं। अतः इनको स्वरुद्ध दन्त कहते हैं और शेष

दन्त जो २४ होते हैं उनको द्विज कहते हैं। महीनों में दांतों का निषेचन होता है। उत्पन्न दिनों में उनकी उत्पत्ति होती है। ऐसे ही हुये दांत जितने मास में उत्पन्न होते हैं उतने में उनका पतन होकर पुनरुद्भव होता है। इन के मध्य के दो को राजदन्त कहते हैं। ये दोनों पवित्र माने जाते हैं। इनके खण्डन हो जाने मनुष्य श्राद्ध कर्म करने के योग्य नहीं रहता वह अपवित्र हो जाता है। इन दोनों के पार्श्व वल्ल संज्ञक (Lateral Incisors) दन्त होते उनके आगे दंष्ट्रा (Canines) होते हैं। शेष स्वरुद्ध दन्त कहलाते हैं। यह क्रम अधो दन्तों में

बालकों के दन्तोद्गमन में विलम्ब का कारण

बच्चों की अपेक्षा कुमारियों में दन्तोत्पत्ति और अल्पबाधा युक्त होती है। क्योंकि सुषिरता (पोरोसिटी) अधिक होती है और दांतों का मृदु स्वभाव होता है।

बच्चों के दन्तोद्भव में अधिक समय और अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि उनके दांतों में घनत्व (Density) कम होता है और उनका स्वभाव स्थिर होता है। उनकी विशेष आकृति, उनका उद्भेद, वृद्धि, उनका पतन, पुनर्भव, निवृत्ति, परिचय, चलन, पतन, दृढ़ता, दुर्बलता, उनकी जाति विशेषता, स्वभाव, माता-पिता का अनुकरण और स्वकर्म विशेष पर आश्रित होता है ऐसा महषि चरक कहते हैं। इसके सिवाय शरीर की वृद्धि ह्रास, गुण तथा दोष पर भी दांत होते हैं अर्थात् जब शरीर की वृद्धि होती है दन्त वृद्धि होती और शरीर के ह्रास के साथ दांत का भी ह्रास होता है। ऐसा दूसरे आचार्यों का मत है।

श्री कश्यप संहिता का सिद्धांत—

जब शिशुओं के चतुर्थादि मास में



निकलते हैं तो दांतों में अनेक विकार होते हैं। यथा—

सदन्त जन्म—अर्थात् कभी कभी शिशु दांतों से युक्त ही जन्म लेता है।

पूर्वमुत्तरन्तजन्म—किसी किसी शिशु के पहले ऊपर के दांत निकलते हैं। ये दोनों ही अवस्था में धर्मशास्त्र के अनुसार अमङ्गलकारक हैं। ऐसी अवस्था में शिशु के माता पिता को शस्त्रकर्म कराना चाहिये और द्विजाति के लिये सुवर्ण आदि दक्षिणा के साथ बालक का दान कर दें। फिर उसको मूल्य देकर शिशु को लेना चाहिये। और नैगमेष ग्रह की यथाविधि पूजा करें।

तृतीय विकृति—विरल दन्तजन्म, चतुर्थ—हीन-

दन्तता च, पञ्चम—अधिक दन्तना च, षष्ठम—विवर्णदन्तता च, सप्तम—स्फुटितदन्तता च। ये दांतों की विकृतियां अमङ्गलकारिणी हैं। इनकी शक्ति के लिये मारुति इष्टि करावें और अन्तर्हिताग्नि से स्थालीपाक या प्रजापत्य का विधान करने के लिये अन्य आचार्य कहते हैं।

नोट—लेखक ने इसके बाद सम्पूर्णदन्त रोग, उनके लक्षण एवं चिकित्सादि का वर्णन किया था किन्तु वह विषयान्तर हो जाता, अतः यहाँ प्रकाशित नहीं किया। किसी नागामी अंक में प्रकाशित करेंगे। —सम्पादक।

—श्री बालकराम शुक्ल आयुर्वेद शास्त्राचार्य
३७, स्टेशन मार्ग, हृषीकेश (देहरादून)

बच्चों के दांत और उनकी रक्षा

श्री सीताराम शिल्पकार

पृष्ठभंगे विडालाना बहिर्णां च शिखोद्गमे ।

दन्तोद्भवे च बालानां नहि किंचिन्न दूयते ॥

बिल्ली की पीठ पर चोट लगने के समय मोर, की चोटी उत्पन्न होने के समय तथा बच्चों के दन्तोद्गम के समय उनके नेत्र सिर आदि सर्वाङ्ग में अत्यधिक पीड़ा होती है। वास्तव में देखा जाय तो दांतों का निकलना शरीर का स्वाभाविक कर्म है। जब बच्चा मां का दूध पीता है तब उसे दांतों की कोई आवश्यकता नहीं होती। गालों की सहायता से चूस कर पी लेता है किन्तु ज्यों ज्यों वह बढ़ता है तो उसे आवश्यकता होती है। बालक स्वाभाविक ही इधर उधर हाथ पैर फैला कर जो कुछ मिलता है उसीको मुख में चबाने की चेष्टा करता है। इस अवस्था में दांतों का निकलना एक प्राकृतिक क्रिया है।

दांत निकलने से पहले लक्षण—मुख के अन्दर

की गर्मी कम हो जाती है! लार अधिक बहती है मुख से खट्टी गन्ध आती है रात्रि में हलका ज्वर, नींद ठीक ठीक नहीं आती, बच्चा नींद में चमकता बार बार बार जाग उठता है, मसूढ़ों में दाहयुक्त शोथ और खुजली के कारण दूध पीते समय स्तनों को मसूढ़ों में दबाता है। प्रायः हरे पीले सफेद फटे दस्त होते हैं। दस्त दिन रात में ८-१० बार या इससे भी ज्यादा होते हैं। कभी कभी साथ साथ उलटी भी होती है। सिर गर्म रहता है। दांत निकलने के कुछ सप्ताह पूर्व लार टपकने लगती है। आंखों में पीड़ा, पलकों में रोहे तथा नेत्रस्त्राव, कर्णपीड़ा, त्वचा के विकार, विसर्प चट्टे आदि भी देखे जाते हैं। जुकाम होकर नाक बहने लगती है। छींकें अधिक आती हैं। और खांसी आती है।

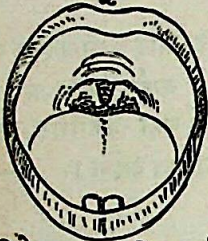
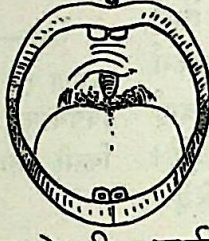
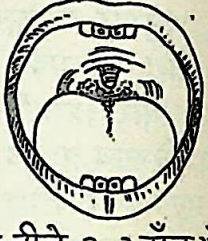
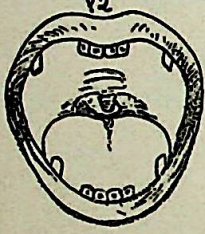
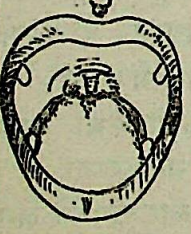
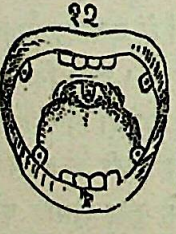
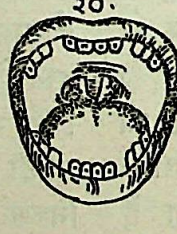
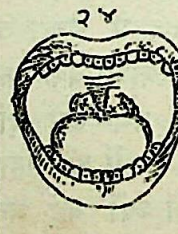
दूसरी अवस्था—मुख और मसूढ़ों में दाह की अधिकता होती है तथा मसूढ़ों के ऊपर कुछ

धन्वन्तरि

(शिशु-रोगांक)

कण्ठ से निकलने वाले दूध के दाँत —

चित्र में एक बार उत्पन्न हुवा दाँत दुबारा बिन्दुदार चिन्ह से दर्शाया गया है

६ से ८ वें मास तक २  नीचे २ अगले कर्त्तनक	८ से १० वें मास तक ४  ऊपर के भी २ कर्त्तनक	१ वर्ष का होने तक ८  ऊपर नीचे २-२ दाँत और		
१-११ वर्ष में १२  ऊपर नीचे २-२ भेदक	११-१११ वर्ष में १६  २-२ भेदक और	१११-२ वर्ष में २०  बीच की खाली जगह	२-३ वर्ष तक २४-२८  सब जगह भर गई	
दूध के दाँतों के बाद आराम से निकलने वाले पक्के दाँत				
६-७ वर्ष में ४ 	८-९ वर्ष में १२ 	१० से १२ वर्ष में २० 	१२-१३ वर्ष में २४ 	११-१४ वर्ष में २८ 
इसके बाद २०-२१ वर्ष की आयु में ४ अक्कल डाढ़ निकलती हैं				

चित्र नं० ४१

भिन्न-भिन्न आयु में निकलने वाले दाँत

गुलाबी रंग का फूला हुआ सा दाग दिखलायी देता है। उसे दवाने से बड़ी वेदना होती है। अतः बच्चा इस अवस्था में किसी वस्तु को मुंह में स्पर्श होते ही वह रोने लगता है। चुपचाप माता की गोद में पड़े रहना चाहता है। बीच बीच में दूध पीने की कोशिश करता है किन्तु पीड़ा के मारे नहीं पीता।

दन्तोद्गम के समय उक्त लक्षणों को देख कर घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है कारण ये कष्ट-दायक लक्षण स्वाभाविक ही होते हैं। इनको रोकने के लिए विशेष तीव्र उपचार हानिप्रद होते हैं। दांतों के सम्पूर्णतया निकल आने पर ये कष्ट-दायक लक्षण स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। परन्तु दन्तोद्गम काल में बच्चे की दक्षतापूर्वक देखभाल की विशेष आवश्यकता होती है। कारण इसमें शक्ति विशेष क्षीण होने से थोड़ी सी भी असावधानी अन्यान्य सांघातिक व्याधियों को उत्पन्न कर देती है। अतः इस अवस्था में दक्षता एवं पथ्यापथ्य को ध्यान में रखते हुये सौम्य उपचार करने से दांत मुगमता से निकल आते हैं और बच्चे को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

दक्षता—इस हालत में माता का आहार बिहार पथ्यपूर्वक होना आवश्यक है। जब तक बच्चा माता का दूध पीता हो तब तक माता को चाहिए कि वह गेहूँ की रोटी, मूँग की दाल, दूध आदि हलके शीघ्र पचने वाले पदार्थ, गुड़, तैल, खटाई, मिर्च आदि गरम पदार्थों से तथा मैथुन से परहेज रखे। एवं बालक को नियम से दूध पिलाये। यदि बालक अन्न आदि खाता हो तो उसे बहुत हलका सुपाच्य आहार देना चाहिए जो सहज में ही पच जाय और दस्त साफ हो। मुरमुरों की खीर, साबूदाना, अंगूर, अनार, सेब आदि फलों का रस देना ठीक है। यदि आम का मौसम हो तो पके मीठे आमों का रस दूध में मिलाकर देना लाभदायक है। किन्तु अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिए। एक से तीन चम्मच इस प्रकार दिन में

तीन या चार बार दे सकते हैं। कोई भी आहार अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिए। मिठाई आदि गरिष्ठ पदार्थ देना तो जहर (विष) देने के समान है। कोई भी गर्म दवा या गर्मी पैदा करने वाले पदार्थ खाने या पीने को नहीं देने चाहिए। प्रायः दन्तोद्गम के समय बालकों को दूध भी नहीं पचता। वे उल्टी कर दिया करते हैं। ऐसी हालत में दूध में किञ्चित् चूने का निर्मल पानी मिलाकर उसे थोड़ा थोड़ा पिलाना चाहिए।

दन्तोद्गम के समय मसूढ़ों में एक प्रकार की सनसनाहट या खुजली सी पैदा होती है जिसे मिटाने के लिए बालक मिट्टी, ढेला, कंकड़, आदि जो भी उसके हाथ लग जाता है उसीको तुरन्त मुख में डाल लेता है। मसूढ़ों में दबाकर चबाने लगता है। यदि बालक की यह आदत आरम्भ में ही छुड़ा दी जाय तो आगे चल कर उसे पाण्डु आदि भयंकर रोगों का सामना नहीं करना पड़ता। अतः दांत निकलने के समय बच्चों को मिट्टी आदि के खाने से बचाते रहना चाहिए जो बालक प्रतिदिन कई घण्टे तक बाहर की स्वच्छ वायु में रहता है या खुले हुए और स्वच्छ वायु के आने-जाने वाले कमरे में रहता है तथा जिसको मात्रा से अधिक भोजन नहीं कराया जाता, उस बालक के दांत निकलते समय कोई कष्ट नहीं होता। शारीरिक अस्थिरता की बनावट में चूना अत्यन्त आवश्यक है। चूने की कमी से दांत एवं अन्यान्य शारीरिक हड्डियां परिपुष्ट नहीं हो पातीं। इसीलिए वैज्ञानिक बच्चों के दुग्ध में चूने का जल (Lime water) मिलाकर देने की योजना करते हैं तथा बच्चों की पुष्टि के लिए जितनी दवाइयां बनाई जाती हैं उनमें चूना प्रधान द्रव्य है। चूने के जल से बच्चों का हाजमा अच्छा रहता है। जिगर ठीक काम करता है, रक्त में शुद्धि होती है। इसलिए चूना बच्चों के दन्तोद्गम में सहायक है।

उपचार विधि—

(१) उत्तम पत्थर का असली बिना बुझा हुआ



चूना ५ तोले नवीन मिट्टी के पात्र में ३ पाव जल में रात्रि के समय भिगो दें। प्रातःकाल ऊपर का नितरा हुआ स्वच्छ जल मोटे वस्त्र में छान लें। इसी जल में १ सेर चीनी डालकर एक तार की चाशनी बना लें। फिर ठण्डा होने पर छानकर शीशी में भर लें। यही उत्तम बालाशृत शर्बत है।

मात्रा—१० बूंद से ३० बूंद तक प्रातः-सायं गुण—दांत निकलने के समय कष्ट, दस्त, वमन, पेट फूलना, दूध का न पचना, खांसी, कफ, बुखार आदि सब विकार दूर हो जाते हैं।

(२) चूना बुझा १ तोला, जल १ सेर दोनों को एकत्र कर नीले रंग की शीशी में भर काग बन्द करके १२ घण्टे बाद एक बार हिलाकर जब जल नितर आवे तब धीरे से उस जल को मोटे वस्त्र में छान लें और यही निर्मल जल दूसरी नीली शीशी में भर कर रख लें।

मात्रा—१० से १५ बूंद चटावें।

दन्तोद्गमजन्य प्रमुख व्याधियां—

वमन—

(१) सुहागे की खील करके १ से ४ रत्ती माता के दूध में मिलाकर दें।

(२) अर्क पोदीना, अर्क सौंफ, अर्क इलायची समभाग मिलाकर १ से १० बूंद तक दूध में मिलाकर पिलाना चाहिये।

(३) प्रबाल और बंशलोचन को शहद या दूध के साथ देना चाहिये।

ज्वर—

(१) अतिविषा, काकड़ासिंगी, नागरमोथा सम-भाग महीन चूर्ण पीसकर।

मात्रा—१ से ३ रत्ती शहद या माता के दूध के साथ दिन में ३ बार दें। इससे वमन में भी लाभ होता है।

(२) सुदर्शन घन वटी माता के दूध में किंचित् घिसकर दिन में ३ बार दें।

अतिसार—

(१) जायफल, अतीस, अनार का छिलका,

काकड़ासिंगी और जवाहर मोहरा समभाग महीन :चूर्णकर। मात्रा—१ रत्ती से २ रत्ती तक शहद या दूध के साथ तीन बार दें।

(२) तुलसीपत्र का चूर्ण २ या ३ रत्ती शर्बत अनार के साथ दें।

कोष्ठबद्धता—

शुद्ध रेंडी का तैल १॥ माशे से ३ माशे तक चटावें।

आध्मान—

शङ्ख वटी मूंग के बराबर माता के दूध के साथ दें। पेट पर रेंडी का पत्ता रेंडी का तैल चुपड़ गरम कर रखें और उस पर रुई गर्म कर रखें तथा कपड़ा बांध दें।

कास श्वास—

(१) मुलैठी का सत, छोटी हरड़ और सैधा-नमक समभाग घोटकर मटर जैसी गोलियां बनालें। दिन में ३ बार माता के दूध के साथ या जल में घोलकर पिलायें।

(२) मुलैठी के सत, अतीस, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, पीपल (छोटी या बड़ी चाहे जैसी) इनका समभाग चूर्णकर।

मात्रा—१ रत्ती शहद के साथ दें।

सिरदर्द—

सोंठ और कपूर को घृत में घोट कर मलहम बना बच्चे के सिर पर धीरे-धीरे मल कर लगायें। नेत्रकष्ट—

गवती चाय की पत्ती छः रत्ती एक छटांक गर्म पानी में डालकर रख दें। जब पानी में रंग उतर आवे तब छान लें। उसमें फिटकरी का फूला दो रत्ती मिलाकर रख दें यह उत्तम नेत्र विन्दु है। इसकी १-१ बूंद डाली जाय।

पथ्यापथ्य—

दन्तोद्गम के समय बच्चों को कोई भी खट्टा या मीठी चीज खाने के लिये न दी जाय। मुर-मुरों की खीर, साबूदाना, गेहूँ की रोटी का फूला हुआ भाग दूध के साथ देना चाहिये। छुआरे चबाने



शिशुरोगाङ्कः

के लिये लाभदायक है। गर्मी के दिनों में तो बच्चे सिर शीतल जल से कई बार धो दिया जाय तथा बच्चे के सिर पर बादाम तथा तिल्ली का तैल लगाया जाय और कानों में बादाम का तैल छोड़ देना चाहिये। माता को चाहिये यदि शिशु उसका

दूध पीता हो तो परहेज से रहे। मिर्च, गुड़, तैल, खटाई, गर्म पदार्थ एवं मैथुन से दूर रहे।

—श्री सीताराम शिल्पकार
दबोह (भिण्ड)

दन्तोद्भेदः (जाड़ी-दांती)

श्री जगदीशप्रसाद शर्मा आयुर्वेदवृहस्पति



यह तो आपसे छिपा हुआ है ही नहीं कि बच्चों के दांत निकलते समय कितने ही भयंकर रोगों का प्रादुर्भाव होता है। इसी को लक्ष्य करके अष्टाङ्ग हृदय में कहा भी है—

दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्
विशेषाज्ज्वर निड्भेद कासच्छर्दि शिरोरुजाम् ॥
अतिस्पन्दस्यपोथक्या विसर्पस्य च जायते ॥

शास्त्रोक्त प्रमाण से शिशुओं के दांत निकलते समय उक्त कारण होते हैं इसलिये माता पिता को बच्चों के दांत निकलते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है। क्योंकि दन्तोद्भेद रोग यद्यपि सभी शिशुओं में न्यूनाधिक पाये जाते हैं। तथापि उन शिशुओं में भयानक रूप धारण कर लेते हैं जो पहले से ही किसी रोग से आक्रान्त होते हैं। इसलिये माता-पिता को शिशु के आहार-विहार पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिये कि बालक दन्तोद्भेद से पूर्व किसी विशेष रोग से आक्रान्त न हो सके। शास्त्रों में यह भी लिखा है—

दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमति यन्त्रयेत्।
स्वयमेवोप शाम्यन्ति जातदन्तस्य यद्गदाः ॥

तथापि इसीके भरोसे से कुछ भी उपचार न करना भी बुद्धिमत्ता नहीं है। इसलिये शास्त्रकारों ने दन्तोद्भेदजन्य रोगों पर उपचार लिखे हैं।

यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथा शयम्।

विमज्ज्य देश कालादींस्तत्र योज्यं भिषग्जितम्॥



अतः बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि उपरोक्त शास्त्रीय वचनानुसार दोषादि की कल्पना करके यथोचित उपचार करें। मेरे अनुभव में निम्न उपचार अति लाभदायक हैं—

मीठा अतीस १ रत्ती, विडङ्गादि वटी ३ रत्ती (संजीवनी) मधु से दिन में ३ बार हर ४ घंटे बाद सेवन करावें और बाद में टंकणत्तार मधु से दांतों में लगावें। यह शतप्रतिशत लाभदायक सिद्ध हुआ प्रयोग है।

बालरोग हर गुटिका—

विधि—जयपाल, जावित्री, दालचीनी, लौंग, इलायची, अजमोद, सफेद मिर्च, वायविडङ्ग, सोया, काला नमक, चिरायता, हरड़, करंज के बीज, अतीस, अनार का छिलका, पीपलामूल, वंशलोचन, एलवा, हीराबोल, खस-खस, केशर—ये सब वस्तुयें समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर



शहद से घुटाई करके मूंग प्रमाण गोली बना लेवें। पश्चात् मात्रानुपान १ से २ गोली तक दिन में दो बार, एक मास से ६ मास तक के शिशुओं के लिए माता के दूध के साथ देना। ६ मास से १ साल तक के शिशुओं को २ से ४ गोली तक देना।

उपयोग—शिशुओं के पतले दस्त, वमन, वायु, अजीर्ण, मन्दाग्नि, निर्वलता और कब्जियत आदि दोष दूर होकर दूध का भलीभांति पाचन होता है। यह गुटिका शरीर को मजबूत और निरोग बनाती है और शिशुओं के सर्वरोगों में अति लाभदायक होती है।

बालासुत—

वायविडङ्ग, अतीस, पीपल दूधिया, हरड़ एवं सनाय सब ३-३ माशा नागरमोथा और सोंठ १॥-

१॥ माशा, समुद्र फल २ नग सबको जौकुट और आधा सेर जल में औटाकर काथ बनाले। आधा जल रहने पर छानकर २० तोला मिश्री मिलाकर चशानी कर उतार लेवें। फिर चौकिये सुहागे की फूला ६ माशे और रुमस्तङ्गी ३ माशा बारीक पीसकर मिला दें। पश्चात् ४ रत्ती रतनज्योतिष चूर्ण मिलाकर हिलावें।

मात्रा—३ मास के शिशुओं को १-१ मास दिन में दो बार इससे अधिक उम्र वालों को बलानुसार देवें। यह योग परीक्षित है।

—श्री जगदीशप्रसाद शर्मा जोशी आयु० बृहस्पति
श्री ताराचंद्र धर्मार्थ औषधालय
महेन्द्रगढ़ (पंजाब)

बाल-दन्त रोग नाशक परीक्षित प्रयोग

वैद्या श्रीमती तारादेवी भा



(१) बालकों के गले में सम्हालू की जड़ रविवार के दिन बांध देने से दांत जल्द निकल आते हैं।

(२) बच्चों के गले में एक काले धागे में शीप में छिद्र कर बांधने से दांत आसानी से निकलते हैं।

(३) चौकिया सुहागे की खील को शहद में मिलाकर शिशुओं के मसूढ़े पर मलने से दांत अति-शीघ्र निकल आते हैं।

(४) शीरष वृक्ष का पका हुआ फल एक धागे में बांधकर शिशुओं के गले में लटकायें।

(५) शिशु के गले में बिजली का लैकेट लटकाने से बच्चा दन्त-पीड़ा से बचा रहता है।

(६) काली तुलसी के पत्तों का चूर्ण २-३ रत्ती अनार के रस के साथ दिन में ३ बार पिलाने से शिशु के दांत जल्द निकल आते हैं और दांत निकलने के समय के कष्ट का निवारण हो जाता है।

(७) सम्हालू के बीज को ताबीज में रखकर शिशु के गले में बांधने से दांत जल्द निकल आते हैं।

(८) आमलों के महीन (बारीक) चूर्ण को मधु में मिश्रण कर शिशुओं के मसूढ़ों पर घिसने से दांत जल्द निकल आते हैं। परीक्षित है।

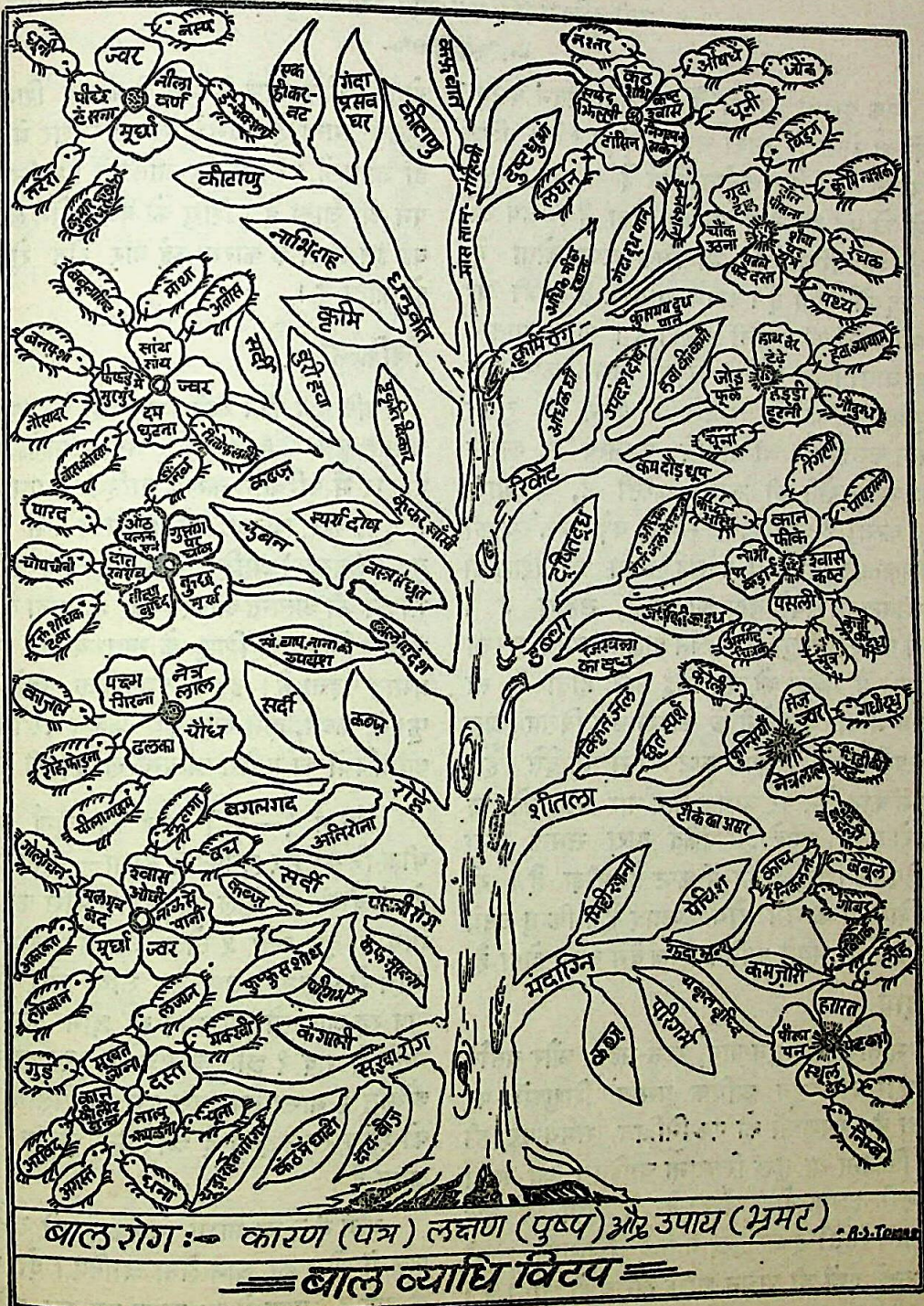
(९) धाय के पुष्प, पीपल और आमलों का स्वरस तीनों में मिश्रणकर शिशुओं के मसूढ़ों पर घिसने से दांत शीघ्र निकल आते हैं।

(१०) मुलैठी के एक रस सुन्दर गांठ को बारीक कर एक धागे में बांधकर शिशुओं के गले में लटका दें। शिशु उसको सदा चूंसता रहेगा। ऐसा करने से दांत शीघ्र निकल आवेगा।

—वैद्या श्रीमती तारादेवी भा आयु० विशारद
संचालिका—तारादेवी महिला आयुर्वेदीय औषधालय
मथुरापुर (भागलपुर) बिहार

धन्वन्तरि-

(शिशु रोगाङ्क)



शिशुओं का मलावरोध और आनाह

श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी वैद्या आयुर्वेदमणि



एक पुरानी कहावत है “बालानां रोदनं बलम्” बच्चों का रोना ही उनका सबसे बड़ा बल है। शिशु परमहंस होता है। अबोध होता है। वह अपने कष्टों को कह सकने में असमर्थ होता है। जब उसे कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, तो वह रो पड़ता है। अपने आंसुओं द्वारा ही वह अपने कष्टों की कहानी कहता है। चतुर मातायें तथा धात्री शिशु के रोने से ही उसके कष्टों का अनुमान करती हैं और उसे दूर करने का तुरन्त प्रयत्न करती हैं। जो मातायें आलस्य के कारण शिशुओं के रोने की उपेक्षा करती हैं, वे भारी भूल करती हैं और अपने सबसे बड़े कर्त्तव्य की अवहेलना करती हैं। कारण माता ही शिशुओं के जीवन का सबसे बड़ा आधार है, सहारा है। माता पर ही शिशु के लालन-पालन और सुरक्षा का भार है। बच्चों को जब कोई कष्ट होता है तो बोलने में असमर्थ होने के कारण उस विशेष अङ्ग का स्पर्श करके ही अपने कष्ट की सूचना देते हैं। पेट में कष्ट होने पर बालक बार बार पेट को छू कर रोता है। उसके इस संकेत द्वारा समझ लेना चाहिए कि शिशु के पेट में कष्ट है, पीड़ा है। यों तो शिशुओं के सभी रोग कष्टप्रद हैं। किन्तु उनमें पेट का रोग सबसे अधिक दुःख देने वाला होता है।

निदान—

माताओं के खान-पान, रहन-सहन और बर्ताव व्यवहार का बहुत अधिक प्रभाव शिशुओं पर पड़ता है। शिशुओं को एक निश्चित समय पर ही दूध पिलाना या कुछ खिलाना चाहिए। जो माता प्यार के कारण थोड़ी थोड़ी देर में बच्चों को दूध पिलाती रहती हैं या कुछ न कुछ खिलाती रहती हैं उनके बच्चों की पाचन शक्ति खराब हो जाती है। शिशु की समान और अपान वायु में विकार पैदा हो जाता है। मल सूख जाता है। शौच साफ नहीं

होता। शौच साफ न होने के कारण शिशु का पेट फूलने लगता है। उसके पेट और शिर में दर्द पैदा हो जाता है। प्यास बढ़ जाती है। शरीर में भारी-पन आ जाता है। शिशु को बमन होने लगता है। वह इन कष्टों के कारण कई बार रोते रोते बेहोश हो जाता है।

चिकित्सा—

यदि दूध पीने वाले शिशु का पेट फूलता है या वह दूध फेंकता है तो सबसे पहले माता के आहार में परिवर्तन करना चाहिए। माता के भोजन में दूध, फल, चावल, गेहूँ की रोटी तथा मूँग या तुअर (अरहर) आदि की दाल सुपाच्य एवं सात्विक भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है। माता के सात्विक आहार-विहार का शिशु के स्वास्थ्य पर चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त बच्चों के पेट फूलने, कब्ज, होने और दूध फेंकने पर निम्नाङ्कित औषधियों का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है—

योग नं. १—बड़ी हरड़ का चूर्ण ३ माशा, बीज निकले हुए मुनक्का ६ माशा—जल के योग से दोनों चीजों को सिल पर बारीक पीस कर ५ तोला गाय का दूध और ५ तोला जल में भलीभांति मन्द आंच से पकाना। जब जल जाय और केवल दूध शेष रह जाय तो इसे कपड़े से छान लेना। २-२ घंटों के बाद १ छोटे चम्मच से २ चम्मच तक अर्थात् ३ मासा तक इस दूध को पिलाने से बच्चे को शौच साफ होता है और पेट फूलना बन्द हो जाता है।

योग नं. २—छः माशा गुलकन्द को २ तोला गर्म जल में घोल कर छान लेना चाहिए। दो दो घन्टे के बाद ३ माशा से छः माशा तक इस औषधि को शिशु को पिलाने से शौच साफ होकर बच्चे का पेट फूलना या आनाह का कष्ट दूर हो जाता है।

योग नं. ३—छोटी इलायची के दाने, भारंगी, सोंठ, घी में भूनी हुई हींग, सेंधानमक सब समान भाग १-१ तोला का बारीक चूर्ण खरल में डाल कर भली भांति घोटना और साफ शीशी में भर कर रख लेना चाहिए। १ रत्ती से २ रत्ती तक इस चूर्ण को छोटे चम्मच भर गुनगुने जल में घोल कर २-२ घन्टे बाद शिशु को पिलाने से शिशु का पेट फूलना पेट का दर्द तथा अपचन का कष्ट दूर होता है।

प्रयोग नं. ४—एक चाबल भर भुनी हुई हींग को छोटे चम्मच भर गुनगुने पानी में घोल कर शिशु को प्रातः सांयम् केवल दिन में २ बार पिलाने से वायुविकार दूर होकर शिशु के पेट फूलने का

कष्ट दूर होता है।

प्रयोग नं. ५—काकड़ासिंगी, केशर, बंश-लोचन, नागकेशर, मुलहठी, जायफल-सब समान भाग १-१ तोला इन सब द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण खरल में डाल कर भलीभांति घोटना और साफ शीशी में भर कर रखना। १ रत्ती से २ रत्ती तक इस चूर्ण को माता के दूध या गोदुग्ध में मिला कर पिलाने अथवा १ रत्ती से २ रत्ती तक शुद्ध शहद में मिलाकर चटाने से शिशु का अपचन मन्दाग्नि पेट का फूलना तथा पेट का दर्द आदि सभी प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

—श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी वैद्या
मुस्लीधरबाग, हैदराबाद (आ. प्र.)

पाचन सम्बन्धी विकारों की प्राकृतिक चिकित्सा

श्री लक्ष्मीनारायण “अलौकिक”

शरीर में सबसे ज्यादा बीमारियां पाचन संस्थान के अथवा उसमें उपस्थित दोषों से होती हैं ऐसा सभी शरीर शास्त्रियों का मत है। शिशुओं के लिये तो इस ओर ध्यान देना और भी जरूरी इसलिये है कि उनका कोमल शरीर पाचन विकृति से उत्पन्न दोषों, जहरों को सहन करने में अधिक समर्थ नहीं रहता है। अस्तु।

पाचन प्रणाली तीन भागों में विभक्त होती है। (१) आमाशय, (२) छोटी आंत और (३) बड़ी आंत। इनमें होने वाले सामान्य रोगों का विवेचन प्रस्तुत लेख में किया जा रहा है। साथ ही बच्चों के प्रति माता-पिता की अपेक्षा एवं जबरदस्ती भी कितनी अनावश्यक और नुकसानदायक है यह लिखने की आवश्यकता है।

भूख—

रोना ही बच्चे की भूख की सूचना है।

शिशुओं की भूख की परवाह न करना उन्हें दुबले कमजोर और मरियल रखने के सिवाय दूसरे अर्थ का द्योतक प्रतीत नहीं होता। भूख से पीड़ित रहने वाले शिशु अपने स्वास्थ्य का संगठन कैसे कर सकते हैं? हमेशा अतृप्त रहने वाले बालकों का आमाशय सिकुड़ कर छोटा हो जाता है। बहुत सी मातायें शिशुओं को इस काल्पनिक भय से पेट भर दूध नहीं पिलातीं कि कहीं उसके स्वास्थ्य में गड़-बड़ी न हो जाय, यह उचित नहीं है। शिशु रोगों के विशेषज्ञ डाक्टर बेंजामिन स्पोक लिखते हैं कि वे अपनी मुठियां मुंह में देकर भोजन के समय से पहले ही जागकर अपनी भूख का एलान करते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि शिशुओं की भूख बहुत अधिक लगती है। इसलिये स्वस्थ शिशु को जब भी स्तनपान कराया जावे इन्कार नहीं करते देखे जाते। लेकिन वे पेट भर जाने पर लालच भी



नहीं करते ।

अतिरिक्त दूध की व्यवस्था—

माता के दूध से शिशु का गुजारा चलता न दीखे तो उसे अतिरिक्त दूध पिलाना जरूरी है । बहुत सी माताओं को तो वैसे ही कम दूध होता है जो निरन्तर बढ़ते शिशु के लिये अपर्याप्त होता है । ऐसी स्थिति में शिशु को मां के दूध पर ही निर्भर रखना उसके स्वास्थ्य और पेट की यन्त्रणा के पक्ष में अन्याय होगा ।

अतिरिक्त दूध की व्यवस्था करते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि दूध भारी न हो तथा कीटाणुओं से रहित हो । दूध में लगभग आधा या एक चौथाई पानी अवश्य मिलाना चाहिये । ऐसा करने से दूध आसानी से पचने योग्य हो जाता है । दूध दुधे अधिक समय हो गया है या वह किसी दूध वाले से खरीदा है तो निश्चय ही उसमें कई सूक्ष्म कीटाणु उत्पन्न या सम्मिलित हो गये होंगे ऐसा जानकर उसे गर्म करके ठण्डा होने पर उपयोग में लाना लाभदायक रहता है ।

दूध गाय का ही उत्तम रहता है । इससे उतर कर भैंस का और पश्चात् बकरी का समझना चाहिये । पाउडर का दूध जीवन सत्वों से रहित होने के कारण मृतवत् है । किंतु गुजारा ही निकालना ही और बात है । गन्दगी से अधिकांश पेट भर लेने वाले चौपायों का तथा बीमार पशुओं का दूध दूध अवश्य है किंतु वह स्वप्न में भी आरोग्य-दायक नहीं हो सकता ।

कितना दूध ?—

बहुत से माता-पिता इस उलझन में रहते हैं कि स्तनपान के अलावा पेट खाली रहने पर कितना दूध कितनी बार पिलाना आवश्यक है । इस विषय में बेंजामेन स्पोक का कथन स्मरणीय है । शिशु अपनी खुराक जानता है । वह आवश्यक मात्रा में दूध पीकर स्तन से या शीशी से स्वयं ही मुंह पृथक् कर लेता है और जब उसे भूख लगेगी तभी

दूध पीने को लालायित होगा । भूखा रहा हुआ शिशु स्तन में दूध न रहने पर भी स्तन से बिलग नहीं होना चाहता तथा कभी २ स्तन काटने की चेष्टा भी करता है । यदि वह शीशी का दूध पीता है तो खुराक कम होने पर बोतल की १-१ बूंद निचोड़ लेगा और अधिक पाने की आशा लगायेगा । जो शिशु भूखे रहने पर भी शीशी से दूध पीना पसंद नहीं करते न कटोरी से ही । ऐसे शिशुओं को आरंभ में ही जबरदस्ती दूध पिलाने की आदत डालने का यत्न करना चाहिये ।

अजीर्ण—

दूध पीने के कुछ समय पश्चात् ही बहुत से शिशु दूध उगल देते हैं । यह खट्टा होता है तथा कुछ अंशों में पिच्छिलता लिए होता है । यह सामान्य अजीर्ण का प्रतीक है । बल्कि होता यह है कि शिशु के आमाशय की चहार-दीवारी में कुछ विजातीय तत्व मौजूद रहते हैं जो दूध को दूषित कर उसमें शामिल होकर बाहर आने का प्रयत्न प्रकृति की सहायता से करते हैं । धीरे धीरे यह क्रम स्वयं ही समाप्त हो जाता है अतः चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये । लेकिन बहुत सी हालत में बार बार और अधिक दूध पिलाने से भी अजीर्ण होता है । आमाशय का यह नियम है कि वह एक समय में प्राप्त पूरे खाद्य को एक साथ पचाता है । यदि पूर्ण प्रहण किया खाद्य पहुंचा दिया जाय और निरन्तर ऐसा किया जाय तो आमाशय में दोष आना स्वाभाविक है । अजीर्ण का कारण नियमित दूध पान कराने का नहीं है तो औषधादि की आवश्यकता महसूस नहीं करनी चाहिये । मेदस्वी शिशुओं का यह नियम होता है कि वह जितना दूध पचा सकते हैं उतना उनका आमाशय धारण किये रहता है । शेष को उगल देता है । बहुत से शिशु सारा का सारा दूध उगल देते हैं । फिर भी स्वस्थ रहते हैं यह रहस्य की बात है ।

खाद्य सामग्री में प्रोटीन की बहुलता से भी अजीर्ण होता है । ऐसे अजीर्ण में प्रोटीनों की मात्रा

एकदम कम करके फल निम्बूरस सजियों का जल देना चाहिये। शरीर में प्रोटीनों को पचाने के लिए पर्याप्त विटामिन धातव लवण मौजूद हो जायेंगे तो अजीर्ण स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। तुलसी के पत्तों का स्वरस शिशुओं में अजीर्ण की चमत्कृत औषधि है। बहुत सी अन्न मातायें शिशुओं को पानी नहीं पिलाती या कम मात्रा में पिलाती हैं। अजीर्ण का यह सबसे बजनदार कारण हो सकता है।

पुराना अजीर्ण—

आंखों पर पट्टी बांधने से ही अजीर्ण पुराना होता है। पुराना अजीर्ण शिशु की विकास परम्परा में घुन माना जाता है। ऐसी अवस्था में वह क्षय का प्रतिमान है।

पुराने अजीर्ण में उल्टी व दस्त दोनों या दोनों में से एक होते हैं। मल पतला और दुर्गन्धित होता है तथा दिन में कई बार। मल में आव, अनपच, खाद्य एवं हरे पीले छिछड़े निकलते हैं। पेट में दर्द रहता है, नींद कम आती है, नींद में चौंकता है। रक्त की कै होने की संभावना भी पायी जाती है। अतु और प्रवृत्ति भेद से इस रोग के विभिन्न मिले जुले लक्षण पाये जाते हैं।

अजीर्ण पुराना हो चला है तो तुरन्त ही संभल जाइये। चूँकि और देर करनी शिशु के जीवन को खतरे में डालने से जरा भी कम नहीं है। आप देखें कि यदि अजीर्ण ग्रस्त शिशु के खाद्य में भैंस का दूध अनाज व दालें प्रधान हैं तो समझें उसके अजीर्ण को चिरस्थायी रखने वाली यही चीजें हैं। अंकुरित गेहूँ और अंकुरित मूंगों की खीचड़ी हल की सुपाच होने के साथ चार और विटामिनों की पूर्ति करती है। गेहूँ का अंकुराने का सरल तरीका यह है कि पहले २० घण्टे जल में भिगों रखें बाद में २० घण्टे गीले वस्त्र में खुली हवा में बांध रखें। मूंगों के लिये १२-१२ घण्टे का समय पर्याप्त होता है।

भोजन की मात्रा कम करके छाछ खट्टे फल यथा निम्बू, नारंगी, संतरा, मौसम्बी, अंगूर, नाश पत्ती आदि का रस या यदि वह ऐसे ले सके तो उत्तम बात है देना चाहिए। दूध में यथेष्ट जल मिलाना आवश्यक है। शक्कर अजीर्ण की नानी है यह नहीं भूलना चाहिये। शक्कर की जगह दूध मीठा करने के लिये भिगोई किशमिश का जल उत्तम रहता है।

पुराने अजीर्ण से ग्रसित बालकों का उपचार भोजन में सुधार करने के साथ इस तरीके से करना चाहिए। हमेशा प्रातः उन्हें धूप में बैठा या लिटा देना चाहिए। धूप तेज हो तो मुँह ढक देना अच्छा है। प्रातः की सुनहरी धूप मानों शिशुओं के आरोग्य के लिए नित्य सूर्य का साथ छोड़कर इस धरती पर अवतीर्ण होती है। शिशु कृश है तो इस धूप में उसकी मालिश भी करनी जरूरी है। पश्चात् ठंडे जल से बेधड़क होकर नहलाना चाहिए। ठण्डा चाहे कैसी ही हो ठण्डा ताजा जल शरीर के लिए कभी भी नुकसान का कारण नहीं बनता।

सुबह-शाम पेट पर ५-५ मिनट का ठण्डा गर्म सेक देने से पेट के अन्दर के उद्भ्रान्त तत्व समाप्त हो जाते हैं। ठंडा गरम देने के बाद या वैसे ही सुबह शाम मिट्टी की पट्टी आध आध घण्टे के लिये प्रयोग करनी चाहिए। या इसके बदले में ठंडी पट्टी ली जा सकती है।

पुराने अजीर्ण में शिशु के यकृत स्थान पर हमेशा मालिश व कुछ दिन तक एनीमा चलाने से पूरा लाभ होता है। एनीमा का पानी सिर्फ कुछ ही उष्ण रहना आवश्यक है तथा उसमें थोड़ा सा मीठा सोडा या $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ निम्बू का रस मिलाया जाना चाहिए।

वमन—

इसका कुछ वर्णन ऊपर अजीर्ण के प्रकरण में कर चुके हैं। किन्तु यदि वमन रोग का उपलक्षण न



होकर प्रधान व्याधि है तो अवश्य चिकित्सायें अपना प्रभाव प्रायः नहीं दिखातीं।

वमन का कारण—आमाशय की थकान से या अन्य विजातीय द्रव्यों के संचय से होती है। छोटी आंत के प्रारम्भिक हिस्से की तेज सिकुड़नों से अधोमार्ग से सरका हुआ दूध धक्के के साथ बाहर आ सकता है। इसको दूर करने के लिए पीठ और छाती के कुछ निचले हिस्से पर मालिश लाभदायक है। १ सेर पानी में १ तोला कलई का चूना डालकर २४ घण्टे बाद जमे हुए चूने को छोड़ पानी को छान शीशी में सुरक्षित कर लेना चाहिए। प्राइप वाटर इसे ही कहते हैं। इसमें आप शौक से १ माशा केसर मिलाकर इसके लाभों को बढ़ा सकते हैं। इस चूने के पानी को शिशु को दूध देने के पूर्व और पश्चात् १-१ चम्मच (३ तोला) पिलाते रहें। उल्टी के लिए रामबाण है। तुलसी के पत्तों का रस नित्य देना भी अपूर्व लाभदायक है।

वमन करने के बाद शिशु को पुनः दूध पिलाया जाए या नहीं? दुबारा तत्काल दूध देने की आवश्यकता उस हालत में रहती है जब शिशु भूख से व्याकुल हो रहा हो। अन्यथा यह ख्याल रखना चाहिए कि उल्टी करने के बाद पाचन संस्थान कुछ गड़बड़ा जाता है अतः थोड़ी देर के लिए वह विश्राम चाहता ही है। उल्टी होने के ठीक बाद गरम पानी पिलाने से आमाशय का चोभ शान्त होता है।

हिचकियां—

आरम्भकाल में अनेक शिशु अपनी खुराक लेने के बाद या वैसे ही हिचकियां लेते हैं। देहात में लोगों की धारणा है कि ऐसा किसी के याद करने पर ही होता है। जो हो, लेकिन यह न तो बीमारी है न चिन्ता की बात। हिचकियां गरम पानी का चम्मच पिलाने से तत्काल रुक जाती हैं। प्राण वायु और जल की यथेष्ट पूर्ति के अभाव में ही यह रोग होता है। अतः उसे धूप, हवा, जल से दूर नहीं रखना चाहिए।

किंतु दिन भर बालक हिचकियां लेता रहे तो अनिवार्य चिकित्सा करना योग्य है। ऐसी हालत में अजीर्ण प्रकरण की चिकित्सा लाभदायक है। वैसे ३ रत्ती बंशलोचन, ३ रत्ती गिलोय सत्व गर्म पानी से देने से तत्काल लाभ होता है।

अफारा—

छोटी आंत की प्राकृतिक क्रिया जब मन्द हो जाती है तो ग्रहण किया हुआ खाद्य या दूध अधिक देर तक उसमें पड़ा रहता है। इसे ही अफारा कहते हैं। अफारे में पेट फूल जाता है। थपथपाने पर डमडमाने की आवाज आती है। पेट फूलने का कारण यह है कि जहां तक वह खाद्य का पाचन नहीं कर लेती बड़ी आंत में ग्रहण किए खाद्य को बड़ी आंत में जाने नहीं देती। फलतः उसमें पूरा का पूरा खाद्य इकट्ठा हो जाता है।

हमेशा या हर दूध-भोजन के बाद अफारा चढ़ता है तो चिकित्सा अनिवार्य है। अन्यथा पाचन की गड़बड़ी से या अधिक खाद्य लेने से कभी कभी अफारा हो भी जाता है जो स्वयं ही ठीक हो जाता है। अफारे के समय शिशु को दूध इत्यादि नहीं देना चाहिए।

अफारे की सर्वोत्तम चिकित्सा यह है कि उस समय पानी के सिवाय कुछ चीज नहीं दी जावे। पानी में थोड़ा निम्बू रस या मीठा सोडा या तुलसी रस मिला लेना अधिक फायदेमन्द है। पेट पर कटोरी थपकी लगाते रहने से छोटी आंत की कार्य-क्षमता बढ़ती है जिससे वायु का बहिष्कार होने के साथ अफारा जल्दी ही उतर जाता है। कटोरी थपकी लगाने की विधि यह है कि हाथ के पञ्जे को कटोरी के सदृश करके आहिस्ते आहिस्ते पेट पर टकोर किया करें।

शिशु को प्रातः की धूप से बंचित नहीं रखा जाय तो उसका पाचन संस्थान सामान्य सी असावधानी से अफारे को स्थान नहीं देता। विटामिन सी और बी की पूर्ति से यह रोग दूर होता है।



इसके लिए उसे खट्टे फलों का रस यथामात्रा में नियमित देना जरूरी है। अफारे के साथ पेट दर्द भी किन्हीं हालतों में रहता है।

पेट दर्द—

डा० बैजामेन स्पोक का कथन है कि तीन माह तक के शिशुओं को तो साधारण तौर से पेट दर्द होता ही है। आगे चल कर यह दर्द स्वयं ही चला जाता है। यह चिंता की बात नहीं है। किंतु कभी कभी पेट में वायु इकट्ठी हो जाने से भी दर्द होता है। बहुत से शिशु दूध पीते समय वायु घूंट लेते हैं। पाचन संस्थान में सामयिक दोष रहने पर उदर में वायु पैदा हो सकती है। जो हो, पेट दर्द का कारण वायु का संघट्ट ही है। तो शिशु को कन्धे पर डाल लीजिए और पीठ थपथपायें। इससे वह शीघ्र ही मुंह या अपान के रास्ते बाहर आ जायेगी।

पेट दर्द का कारण आंतों में ऐंठन या छालों से है तो प्रमुख चिकित्सा की ओर ध्यान दीजिये। आंतों की ऐंठन के लिए प्रातः धूप में हमेशा मालिश कीजिये। मालिश पूरे शरीर की अनिवार्य है। किंतु पेट और लिबर पर प्रधान रूप से करनी चाहिए। साथ ही सुबह शाम पेट पर गरम ठण्डा देने के बाद या बैसे ही आधे पौन घंटे के लिए ठंडी पट्टी का प्रयोग हितकर है। मालिश करके तपाने से भी लाभ होता है। विटामिन बी जिन खाद्यों में विशेष हो, वह शिशु की मां को देने चाहिए। हमारा यह मत है कि छः माह तक की शिशु की चिकित्सा के लिए उसकी मां को या दूध पिलाने वाली को ही समस्त औषधियां देनी चाहिए। चूंकि बहुत बार ऐसा होता है कि मां के दूध में ऐसा दोष होता है जो व्याधि को उत्तरोत्तर बढ़ाता रहता है। यदि ऐसी स्थिति में बच्चे के शरीर पर औषधियों का प्रयोग किया जाता रहे तो क्या लाभ ?

पेट दर्द छालों से है तो शिशु की मां को तीव्र विदाही कर्कश रूक्ष खाद्य पदार्थ कतई नहीं देने चाहिये। मधु के साथ गुलाब के फूलों की

लुगदी या चूर्ण अथवा गुलकन्द देना उत्तम है। ईसबगोल की मुसी लाभदायक है। शेष चिकित्सा में मिट्टी की पट्टियों का प्रयोग अत्यन्त उपकारी है

कब्ज—

बच्चों की सबसे खतरनाक व्याधियों का मूल कब्ज ही है। पेट में मल रुके रहना या थोड़ा थोड़ा बाहर आना सभी तरह की बीमारियों का सामूहिक नियन्त्रण है।

शिशु की कब्ज के लिए मां को पूर्वोक्त गेहूँ मूंग की खिचड़ी सेवन करनी चाहिए। सब्जियां और पके फल का सेवन करना भी जच्चे-बच्चे के लिए आरोग्यकारी है। जो शिशु मां के दूध पर निर्भर नहीं रहते उन्हें तथा २ माह से ऊपर के शिशु को पपीता, सेब, पालक आदि का रस देने से कब्ज में शीघ्र ही लाभ देखा जाता है। एक पाव पानी में आधी छटांक पालक डालकर एक छटांक पानी रहने तक औटा लेना चाहिए। इसे छानकर पिलाइये। कब्ज की अपूर्व निरापद चिकित्सा है। भिगोई हुई किशमिश या उसका रस शिशुओं के लिये खाद्य और अमृत दोनों ही है। सामयिक कब्ज को अरण्डी के तैल की कुछ बूंदों से दूर किया जा सकता है। किंतु हमेशा इनका प्रयोग करना शिशु के पाचन को बिगाड़ना होगा।

नित्य प्रातः कुछ मिनट के लिये नाभि को केन्द्र बनाकर दायें से बायें घुमा घुमा कर मालिश करने से रुका हुआ मल आगे तो खिसकता ही है साथ ही आंतों में रसस्रावण आलोदन क्रिया भी होती है जो कब्ज को दूर करने के साथ फायदेमन्द है। शिशुओं की कब्ज में गुलबनपशा एक निरापद चिकित्सा है। किंतु कुछ दिन तक पेट पर गरम ठण्डी भीगी पट्टियों का प्रयोग, मालिश स्नान आदि कराया जाय तो स्थायी कब्ज से अच्छी तरह मुक्ति मिल सकती है।

—श्री लक्ष्मीनारायण अलौकिक
शामगढ़ (म. प्र.)

बाल मृद्वस्थि

श्री पुखराज शर्मा

परिचय तथा परिभाषा—

साधारणतया शरीर में चूने (चूर्णितु *Calcium*) भास्वर (*Phosphorous*), तथा जीवति डी (*Vitamin D*) की चयापचय (*Metabolic*) क्रियाओं के समुचित रूप से चलते रहने से अस्थि निर्माण तथा अस्थि में वृद्धि होती है।

दिन प्रतिदिन के आहार में चूर्णितु तथा भास्वर यदि प्रचुर मात्रा में रहें, तथा आहार में इनका समुचित अनुपात हो, एवं शरीर में जीवति डी आवश्यक मात्रा में उपस्थित हो तो अस्थिरचना एवं वृद्धि आदि की शारीरिक क्रियायें ठीक चलती हैं, स्वस्थ एवं सुदृढ़ अस्थि का निर्माण होता है। उपरोक्त किसी एक अथवा अनेक क्रिया-कलापों में विक्षोभ (*Disturbance*) प्राप्त होने से अस्थि निर्माण क्रिया में भी विक्षोभ होता है। तथा स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं हो पाता है। सुदृढ़ अस्थि के स्थान पर कोमल (*Soft*) तथा छिद्राच्छिन्न (*Spongy*) अस्थियां निर्मित होती हैं। इसे अस्थि-मृदुता कहते हैं। बालकों पर इस रोग का आक्रमण होने की से इसका नामकरण बाल-मृद्वस्थि हुआ। मृद्वस्थि होने पर शरीर में विभिन्न अवयवों पर अवस्थानुसार पड़ने वाले दबाव से तथा मांसपेशियों में खिंचाव की वजह से इन मृदु अस्थियों में भिन्न प्रकार की विकृतियां तथा बक्रता हो जाती हैं।

बाल मृद्वस्थि (*Rickets*) के समकक्ष तथा सिद्धान्ततः समान कारणों से उत्पन्न (अर्थात् चूर्णितु एवं भास्वर के विक्षोभित (*Disturbed*) चयापचय (*Metabolism*) के परिणामस्वरूप बड़ों में भी अस्थिमृदुता नामक रोग होता है। इसे अंग्रेजी में ओस्टोमेलेशिया (*Osteomalacia*) कहते हैं। इस अस्थि मृदुता में तथा बालकों में होने वाली अस्थि मृदुता में सूक्ष्म अन्तर अवश्य

है। बालकों में अस्थि निर्माण (*Bone formation and development*) कार्य होता रहता है। इसीमें शिशु की लम्बाई में वृद्धि होती है। एक अवस्था प्राप्त होने पर जिसमें अस्थिदण्ड (*Diaphysis*) तथा अस्थि शिर (*epiphysis*) सन्निकट आकर जुड़ जाते हैं (*Close of epiphysis*) तो अस्थि की लम्बाई में वृद्धि होना रुक जाती है। बड़ों में इस रोग के होने पर सुदृढ़ निर्मित अस्थियों में से चूर्णितु निकल निकलकर (*Mobilization of calcium*) रक्त तथा अन्य अवयवों में जाता है, गर्भ-काल के भ्रूण के उपयोग में आता है तथा स्तन-काल (*Lactation period*) में दुग्ध निर्माण में उपयोग होता है।

अस्थि में से चूर्णितु के क्षय होने पर सुदृढ़ अस्थियां भी कोमल तथा छिद्राच्छिन्न हो जाती हैं। इस तरह चूर्णितु तथा भास्वर के विक्षोभित चयापचय रूप कारण एक होने पर भी उपरोक्त दो भिन्न अवस्थाओं (बाल एवं बड़े) में दो भिन्न क्रियायें करके एक ही लक्षणा (अस्थि मृदुता) उत्पन्न होते हैं। क्रियाओं की भिन्नता को स्पष्ट समझने के हेतु बड़ों में इस रोग को केवल अस्थिमादव अथवा मृद्वस्थि (*Osteomalacia* अस्थि क्षय भी) तथा बालकों में बाल मृद्वस्थि (*Rickets*, बाल वक्रास्थि आदि भी) कहते हैं।

निदान (*Etiology*)—

बाल मृद्वस्थि बच्चों का अस्थि सम्बन्धी रोग है। ६ माह से ३ वर्ष तक के शिशुओं में अधिकतर प्रगट होता है। क्वचित् रोग का प्रारंभ शिशु की गर्भावस्था से ही हो जाता है, जब उसकी माता के आहार में चूर्णितु तथा भास्वर की न्यूनता होती है।



शिशु रोगादि

जन्म के समय लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं, परन्तु ज्यों ज्यों शिशु की वृद्धि होती है, वह बैठने उठने लगता है, लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

घनी आबादी वाले शहरों में, जहां स्वस्थ तथा खुले निवास गृहों की कमी होती है, जहां धूप में रहने के अवसर कम प्राप्त होते हैं शिशुओं में इस रोग का आक्रमण पाया जाता है। उष्ण प्रदेशों में सूर्य प्रभाव से (सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च) इस रोग का आक्रमण कम होता है। जिन शिशुओं को माता से इतर दूध दिया जाता है (Bottle fed) अथवा जिनके आहार से प्रोथ्रूजिन (Protein) तथा प्रांगोदीय (Carbohydrates) आदि पोषक संघटको (Constituents) की बहुलता रहती है, परन्तु उस अनुपात में चूर्णातु, भास्वर अथवा जीवति डी की न्यूनता रहती है, उनके शरीर की सामान्य वृद्धि तो यथेष्ट होती है, परन्तु अस्थियां उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती, तब भी यह रोग हो सकता है।

क्वचित् उपदंश तथा क्षय रोग ग्रसित माता पिता की संतान में भी बाल मृद्वस्थि के लक्षण देखे गये हैं। संभवतः ऐसा संयोग केवल आकस्मिक (accidental) ही रहा हो। अंधेरे मकानों में रहने वाले परिवारों में तथा अधिक वृष्टि वाले क्षेत्रों में साधारणतया: इसका प्रकोप देखने में आता है। आधुनिक परिवारों के शिशुओं में जिन्हें पूरा दूध नहीं मिलता है परन्तु माण्ड प्रधान (Starch rich) खाद्य पदार्थ जैसे जव-जल (Barley water) रोटी आदि अधिक दिये जाते हैं, यह रोग न्यूनाधिक प्रमाण में व्याप्त रहता है।

देह में अस्थि निर्माण क्रिया विवेचन —

बिना अस्थि निर्माण क्रिया समके अस्थि निर्माण क्रिया में विक्षोभ कैसे होता है यह समझना दुष्कर है। अतः देह में किसी तरह अस्थि निर्माण होता है इस पर संचिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न करना लेखक को अभीष्ट है। अस्थि निर्माण तथा चूर्णातु

एवं भास्वर की देह में चयापचय क्रियाओं का संचोप में विवरण इस प्रकार है—

(अ) आहार रूप में इन खनिजों का शरीर द्वारा ग्रहण तथा देह में आमाशय एवं आंत्र की कलाओं द्वारा प्रचूषण (Absorption)—

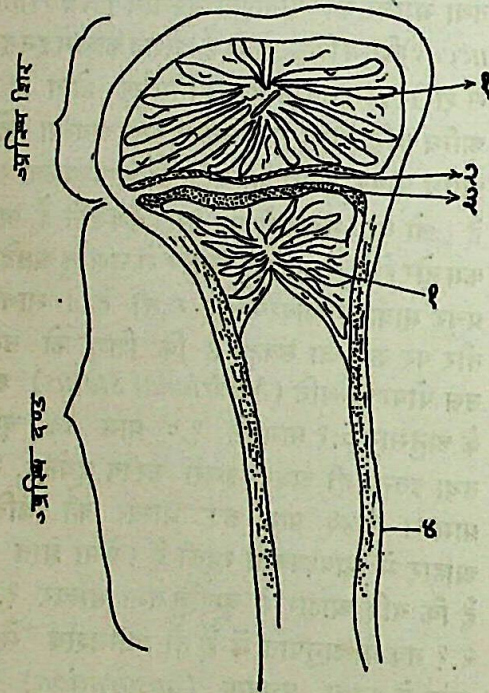
देह में चूर्णातु अथवा भास्वर की चयापचय क्रियाओं में विक्षोभ इस रोग का हेतु है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह पोषणन्यूनताजन्य व्याधि (Nutritional deficiency disease) है। भिन्न अवस्थाओं (age) में आहार में चूर्णातु तथा भास्वर की पोषणावश्यकतायें (Nutritional needs) भिन्न भिन्न होती हैं। शैशव काल में इन द्रव्यों से शरीर द्वारा नवीन अस्थि निर्माण होता है तथा अस्थि वृद्धि होती है; इसलिए इस अवस्था में इन अस्थि पोषक द्रव्यों की मात्रा में आवश्यकता रहती है। जो बच्चे समय से पूर्व प्रसव हुये होते हैं, अथवा कमजोर होते हैं उन्हें भी आहार से चूर्णातु आदि की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता रहती है। साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि शिशु को उसकी उम्र पोषण स्थिति (Nudrional status) आदि के अनुसार ०.१ ग्राम से १.० ग्राम तक चूर्णातु तथा इतना ही अथवा इससे करीब ड्योढ़ा, १.१६ ग्राम से १.४६ ग्राम तक भास्वर की प्रतिदिन आहार में आवश्यकता रहती है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि यदि आहार में चूर्णातु तथा भास्वर १.२ से २.१ तक के अनुपात में हैं तो आमाशय से तथा आंत्र में इनका प्रचूषण (apsorption) प्रशस्त (optimom) होता है। कम ज्यादा अनुपात रहने से प्रचूषण में बाधा पड़ती है। आहार परिपोषण के दृष्टिकोण से इन द्रव्यों के अप्रांगरिक रूप भी (Inorganic forms) विशेष महत्व के हैं। चूर्णातु तथा भास्वर के विभिन्न योग यदि विलेय रूप (Soluble form) में हैं तो आमाशय एवं आंत्र की कलाओं (Membranes) द्वारा इनका प्रचूषण सुगमता से हो जायगा तथा रक्त में इनका संतुलन (Balance) भी ठीक रहेगा, परन्तु इसके विपरीत



यदि अविलेय योगिकों [Insoluble forms] के रूप में हैं तो प्रचूषण दुर्गम होगा अथवा नहीं होगा। परिणामस्वरूप शरीर में इनकी क्षीणता तथा चयापचय क्रियाओं में विक्षोभजन्य व्याधियां उदित होंगी।

(ब) चूर्णातु तथा भास्वर का अस्थि के रूप में निस्सादन (Deposition)

प्रचूषण होने के बाद रक्त में सम्मिलित होकर यह द्रव्य शरीर के सब अवयवों में अभिसरित (Circulated) होते हैं। विशेष स्थलों पर जहां



चित्र नं. ४३

अस्थि के आयाम संज्ञेद (Longitudinal Section) का चित्र जिसमें अस्थि-विकास-केन्द्रों (Ossification Centres) का चित्रण है।

- १-अस्थि कर्णिकाएं तथा अस्थि मज्जा
- २-अस्थि-सिर तथा अस्थि दण्ड मध्य कास्थि
- ३-कास्थि का बहु-प्रज-प्रदेश (लम्बाई में अस्थि वृद्धि यहां होती है)
- ४-पर्यस्त-चौड़ाई में अस्थि वृद्धि यहां होती है

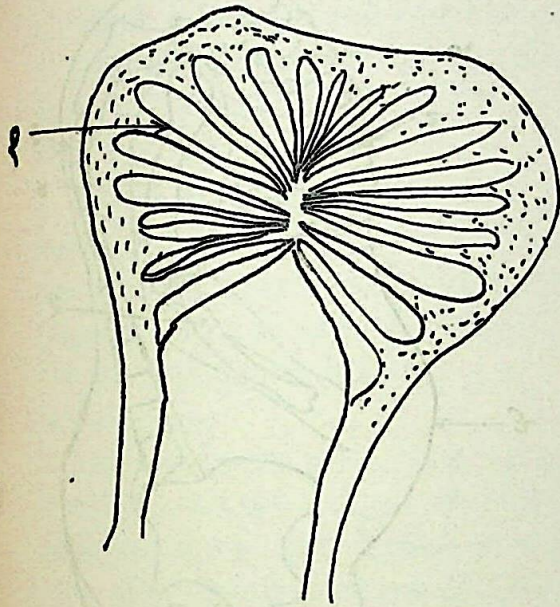
अस्थि निर्माण होता है वहां पर अस्थि शिर (Epiphysis) तथा अस्थि दण्ड (Diaphysis) के बीच के स्थान में जिसे बहु-प्रज-प्रदेश (Proliferative zone) कहते हैं, (देखिये चित्र ४३) अस्थायी तौर पर एक कास्थि (Cartilage) का निर्माण होता है जिसके कौण बहुगुणित (Multiplication) हो कर बढ़ते रहते हैं तथा अस्थि (ossein) नामक मृदु (Soft) तथा छिद्रित (Spongy) अस्थि का निर्माण होता है। चूर्णातु तथा भास्वर युक्त-तरल (Fluid of the blood which bathes the bone) जब इस प्रदेश में आता है, तब विशेष क्रियाओं के फलस्वरूप त्रिचूर्णातु भास्वीय (Tri Calcium phosphate) रक्त में से यहां निस्सादित (Deposited) होजाता है। इस निस्सादित यौगिक की रसायनिक रचना भास्वीय शैल (Phosphate rocks) के समतुल्य होती है। चूर्णातु तथा भास्वीय के इस प्रकार निस्सादित होने पर अस्थि में दृढ़ता आती है, सही अर्थ में स्वस्थ दृढ़ अस्थि का निर्माण होता है। बाल मृदुअस्थि में सिर्फ मृदु अस्थि-अस्थिकि (ossein) का ही निर्माण हो पाता है, उसमें चूर्णातु का निस्सादन अपूर्ण तथा अनियमित होता है।

(स) अस्थि में चूर्णातु का संग्रह (Storing) तथा बलिष्णुता (Mobilization) —

स्वस्थ रूप से निर्मित अस्थि में चूर्णातु तथा भास्वर का संग्रह भी रहता है। जब रक्त में इन पदार्थों का संतुलन प्रचुर प्रमाण में होता है तथा सुदृढ़ अस्थि निर्माण होने के बाद भी काफी संकेन्द्रण (Concentration) रहता है तो यह चूर्णातु तथा भास्वर के यौगिक के रूप में अस्थि के शिरों में (विशेषतः अस्थि शिर में) जालीदार रवों (Lace like crystals) के रूप में निस्सादित हो जाते हैं। इन्हें अस्थि-कर्णिकायें (Bone Trabeculae) कहते हैं (देखिये चित्र ४४)। ऐसे संग्रह से अस्थि के इन भागों के विशेष दृढ़ता भी रहती है। जब

शिशुरोगाङ्कः

किसी कारणवश रक्त में अथवा शरीर के अन्य अंगों में चूर्णातु आदि की कमी होजाती है तो अस्थि के इस भण्डार (Store house) में से चूर्णातु बिलीन होकर रक्त में पुनः प्रविष्ट होजाता



चित्र नं. ४४-अस्थि में अस्थि-कणिकाओं का परिपूर्ण विकास हुआ है। यह स्थिति चूर्णातु की देह में प्रचुर पोषण स्थिति सूचक चिन्ह है।

१-अस्थि कणिकाएं तथा मज्जा

है। इस तरह पोषण अवस्था (Nutritional Stage) तथा आवश्यकतानुसार चूर्णातु एवं भास्वर रक्त से अस्थि में तथा अस्थि से रक्त में चलायमान (Mobilized) होते रहते हैं।

(द) चूर्णातु तथा भास्वर का देह में से उत्सर्जन (Excretion) —

इन घटन-विघटन क्रियाओं से जो शेष रहा चूर्णातु तथा भास्वर है वह मलोत्सर्ग प्रणालियों से होता हुआ मूत्र तथा पुरीष के रूप में शरीर से बाहर उत्सर्जित (Excreted) हो जाता है।

बाल मृद्वस्थि के भेद—

अतः यह स्पष्ट है, कि रक्त से चूर्णातु अथवा

भास्वर की न्यूनता होने से तथा परिणामस्वरूप इनका चयापचय विक्षोभित होने से सुदृढ़ एवं स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं हो पाती है, तथा बाल मृद्वस्थि रोग की उत्पत्ति होती है। इन दो पोषक द्रव्यों की न्यूनताजन्य इस व्याधि को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

१-क्षीण चूर्णातु बाल मृद्वस्थि (Low Calcium Rickets)

२-क्षीण भास्वीय बाल मृद्वस्थि (Low phosphorus Rickets)

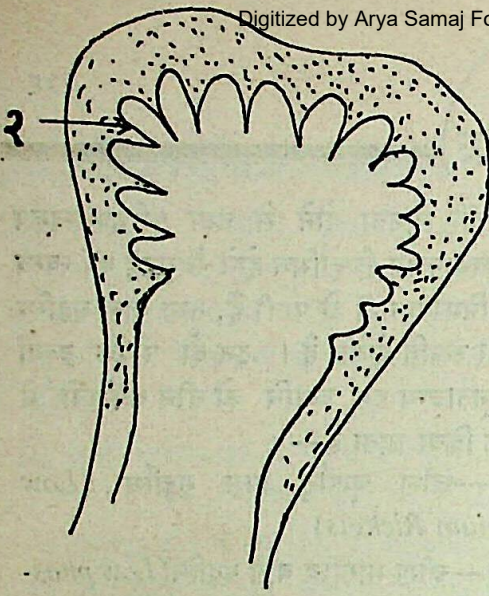
३-उभय द्रव्य क्षीण बाल मृद्वस्थि (Rickets due to deficiency of both Calcium & Phosphorus) — इसे अंग्रेजी में Osteoporosis भी कहते हैं।

संग्राप्ति (Pathology) —

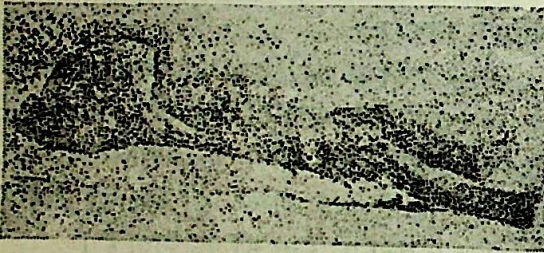
अस्थि में परिवर्तन—

(अ) अस्थि का आपेक्षिक घनत्व कम हो जाता है। जल तथा जीव द्रव्य (Organic Matter) का भाग अस्थि में बढ़ जाता है। खनिज द्रव्यों, विशेषतः चूर्णातु तथा भास्वर की कमी हो जाती है अस्थि में बसा का भाग भी बढ़ जाता है।

(ब) अनुवीक्षण यंत्र में देखने पर कई परिवर्तन स्पष्ट गोचर होते हैं—अस्थि शिर तथा अस्थि दण्ड के बीच के भाग में कास्थि (Cartilage) तथा मृदु अस्थि कोष समूहों (Soft bone tissues) का अधिक निर्माण होता है। दृढ़ अस्थि के रूप में चूर्णातु का निस्सादन अनियमित (Irregular) होता है। कास्थि (Cartilage) कहीं से मोटी कहीं से पतली होती है तथा उसमें स्थान स्थान पर अचूर्णित-स्थल (Uncalcified spots) स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। कास्थि में कहीं पर अधिक चूर्णित-यन हो जाने से छोटी गांठों के समान रचनाकृतियां हो जाती हैं—जैसी कि इस व्याधि से पशुकाष्ठों (Ribs) के वक्षस्थि (Sternum) से मिलने की जगह पाई जाती हैं। अस्थि-शिर-प्रदेश में भी मृदु



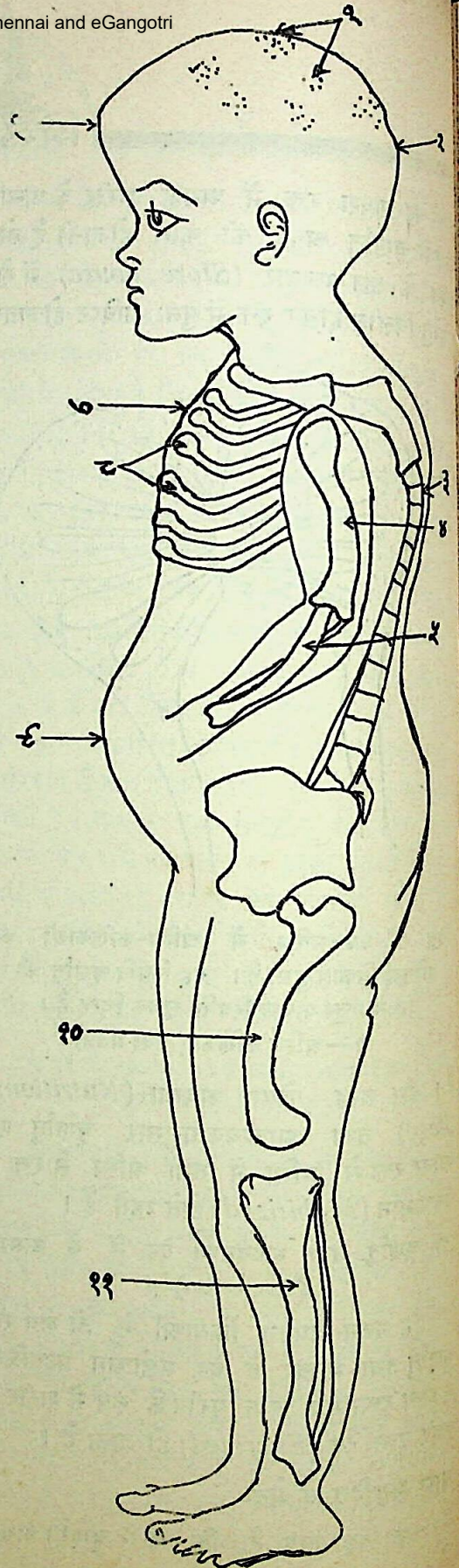
चित्र नं. ४५—अस्थि में अस्थि-कर्णिकाओं का
अपूर्ण विकास हुआ है। देह में चूर्णातु की
विद्योमित पोषण-स्थिति सूचक चिन्ह
२—अस्थि-कर्णिकाएं (अल्प-विकसित)



चित्र नं. ४६
बाल मृद्वस्थि जन्य अक्षमाला
(Rachitic Rosary)

चित्र नं. ४७ →

बाल मृद्वस्थि लक्षण प्रदर्शक चित्र
१—सिर में मृदु स्थल, २—बड़ा तथा बेडौल सिर
३—मेरु में बक्रता, ४—प्रगंडास्थि में बक्रता
५—प्रकोष्ठास्थियों में बक्रता, ६—भाल चौड़ा
तथा उभरा होता है। ७—कपोताकार वक्ष
८—पशुकाश्रों की गांठ (बाल मृद्वस्थिजन्य
अक्षमाला) ९—घटाकार उदर १०—उर्वस्थि में
बक्रता, ११—जंघास्थियों में बक्रता





शिशुरोगाङ्कः

तथा छिद्रिष्ठ अस्थि निर्माण से कोमलता उत्पन्न होती है तथा अस्थियां इतनी सुदृढ़ नहीं होतीं। अस्थि-शिर-प्रदेश में अस्थि कर्णिकाओं का निस्सादन भी बहुत कम होता है। अस्थियां दृढ़तारहित होने से लेटने-बैठने चलने आदि क्रियाओं से तथा मांसपेशियों के खिंचाव से उनमें भिन्न भिन्न तरह की विकृतियां तथा बक्रता आजाती है। अस्थि-शिर प्रदेश में रक्त-प्रणालिकाओं की क्रिया बढ़ी मालूम पड़ती है।

(स) खोपड़ी में भी अस्थियां पतली तथा मुलायम होती हैं। ललाटास्थि (*Frontal bone*) तथा पार्श्वस्थियां (*Parietals*) में अति-वृद्धिता (*Hypertrophy*) हो जाती है। सिर आगे से चौड़ा तथा ऊपर से चपटा होता है।

रक्त में परिवर्तन—

रक्त में चूर्णातु तथा भास्वर के प्रमाण में कमी हो जाती है। जिस द्रव्य की न्यूनता से रोग हो वह कम हो जाता है तथा दूसरे के प्रमाण में समानुपातिक वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ रक्त-लसी (*Blood Serum*) में ६ से १२ मिलीग्राम तक चूर्णातु प्रति १०० सी० सी० होता है। बाल-मृद्वस्थि में यह प्रमाण न्यून हो जाता है। बाल-मृद्वस्थि के साथ ही चूर्णातु क्षीणता सह आक्षेप (*Tetany with calcium deficiency*) हो तो रक्त लसी में चूर्णातु ३-४ मिलीग्राम प्रति शत सी० सी० तक भी पहुँच जाता है।

इसी तरह क्षीण-भास्वीय-बाल मृद्वस्थि में रक्त में से अप्रारंगारिक भास्वर (*Inorganic Phosphorous*) के प्रमाण में काफी न्यूनता हो जाती है। यह स्वस्थ रक्त में ४ से ६ मिलीग्राम प्रति शत सी० सी० होता है। इस व्याधि में घटकर ०.४ से २-३ मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी० तक हो जाता है।

ऐसा ज्ञात हुआ है कि भास्वीयेद नामक विकर (*Phosphatase enzyme*) चूर्णातु की चयापचय क्रियाओं से संबन्धित रहता है। चूर्णातु

का अस्थि के रूप में निस्सादन भी इस विकर (*Enzyme*) द्वारा प्रभावित होता है। जब बाल मृद्वस्थि रोग होता है तो रक्त में यह विकर भी क्षीण हो जाता है। रक्त के अतिरिक्त अस्थि भी इस विकर का स्थान है।

अन्य अङ्गों में परिवर्तन—

तिल्ली एवं यकृत तथा अन्य लसिका ग्रन्थियों में भी परिवर्तित सौत्रिक परिवर्तन (*Extensive fibrous changes*) मिलते हैं। तिल्ली तथा यकृत बढ़ जाते हैं। परिणामस्वरूप उदर भी बढ़ जाता है जिसे घटाकार-उदर (*Pot-belly*) कहा जाता है।

लक्षण एवं लक्षण विवेचन—(देखिये चित्र ४७)

रोग के परिपूर्ण लक्षण बहुत स्पष्ट होते हैं तथा आसानी से पहचाने जा सकते हैं। परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता है। परिपूर्ण लक्षण व्याधि के परिपूर्ण आक्रमण पर ही प्रकट होते हैं। बाल मृद्वस्थि साधारणतः अपने मध्य रूप में ही दृष्टिगोचर होती है।

इस रोग में चलने-बैठने आदि क्रियाओं से भिन्न भिन्न प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। विकृतियों की उग्रता (*Severity*) व्याधि की उग्रता, व्याधि काल, शिशु की उम्र तथा अस्थियों पर पड़ने वाले प्रत्याबल (*Stresses*) एवं आयास (*Strains*) पर निर्भर करती है, तथा उसीके अनुसार कम-ज्यादा होती है।

रोग-ग्रस्त शिशु का सिर बड़ा तथा बेडौल होता है। उसमें स्थान स्थान पर कोमल-स्थल छूने से ज्ञात होते हैं। कुछ प्रखर अस्थि स्थल भी अनुभूत होते हैं। सिर आगे से चौड़ा तथा पार्श्व से लम्बा होता है। खोपड़ी की मृदु अस्थियों पर सोते वक्त भार पड़ने से तथा अनियमित (*Irregular*) अस्थि-निस्सादन होने से यह विकृति होती है। रात्रि में सिर पर बहुत स्वेद आता रहता है। क्वचित् ज्वर भी हो जाता है। दांत तथा अस्थि रासायनिक



रचना में सूक्ष्म अन्तर को छोड़कर समान है। बाल मृद्वस्थि होने पर दांत देर से निकलते हैं तथा दांतों में सडान भी हो जाती है।

यदि शिशु बैठने लग गया है तो मेरु में बक्रता प्रारम्भ हो सकती है। अन्य अङ्गों की अपेक्षा बाहु-पद-अस्थियों पर लक्षण अधिक स्पष्ट होते हैं। अन्तः प्रकोष्ठास्थि (Ulna), बहिः प्रकोष्ठास्थि (Radius), जंघास्थि (Tibia), तथा अनुजंघास्थि (Fibula) में व्यधि-उप्राता, व्याधि काल तथा शिशु की अवस्थानुसार चलने बैठने से बक्रता उत्पन्न हो जाती है। शिशु शक्ति-क्षीण हो जाती है। चलना तथा अधिक काल तक बैठे रहना उसके लिये कष्टकर होता है। बैठते समय वह हाथों को जमीन के सहारे टिका कर बैठता है। ऐसा करने से उसे तनिक आराम मिलता है, परन्तु इससे पहुँचे की अस्थियों पर दबाव पड़ने से उनमें भी विकृति हो सकती है। पांव की अस्थियों में बाहु की अस्थियों की अपेक्षा वक्रता अधिक स्पष्ट होती है।

कास्थि तथा अस्थिकि (Osteoid) नामक मृदु अस्थि का अधिक निर्माण होने से पशुकाएं लम्बाई में बढ़ जाती हैं। परन्तु अद्द होने से तथा मांस-पेशियों के दबाव से मुड़ जाती हैं। वक्षस्थल में इस प्रकार से विकृत आकार का निर्माण होता है। ऐसे आकार के वक्ष को कपोताकार वक्ष (Pigeon Chest) अथवा निवापाकार वक्ष (Funel shaped Chest) कहते हैं। पशुकाओं की विकृति से शिशु के श्वास प्रश्वसन क्रिया में विक्षोभ उत्पन्न होता है। वक्ष में आकुंचन होने से फेफड़ों में वायु के लिये कम स्थान उपलब्ध होता है। अन्तः श्वास लेने में कठिनाई होती है। प्रकृति इस कमी को पूरा करने हेतु श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ा देती है परन्तु इस आयास से वक्ष में विकृति और भी बढ़ जाती है। प्रतिश्याय तथा कास के लक्षण भी वर्तमान हो सकते हैं।

पशुकायें जहां वक्षास्थि (Sternum) से जुड़ती है वहां कास्थि में असमान चूर्णयन (Irregular

Calcification) होने से तथा असमान मोटाई की कास्थि निर्माण होने से छोटी छोटी गांठों जैसी आकृतियां बन जाती हैं। इन्हें बाल मृद्वस्थिजन्य अक्षमाला (Rachitic Rosary) कहते हैं। (देखें चित्र संख्या ४६) क्षीण-भास्वीय बाल मृद्वस्थि का यह तद्विशिष्ट लक्षण है।

तिल्ली तथा यकृत बढ़ जाते हैं। गैस रोग भी इसके साथ होता है। उदर बढ़ा हो जाता है जिसे घटाकार उदर (Pot belly) संज्ञा दी जाती है। देह क्षीणता, रक्ताल्पता, बेचैनी, ओजक्षय आदि लक्षण इस व्याधि के साथ हमेशा संलग्न रहते हैं। शिशु की वृद्धि विमंदित हो जाती है। बाल मृद्वस्थि के साथ क्वचित् मांसपेशियों का आक्षेप (Tetany) भी वर्तमान होता है। यह बड़ी तीव्र होती है। रक्त में चूने के प्रमाण में अधिक न्यूनता होने पर ऐसा होता है। मांसपेशियों में जलन, संकोच (Contraction), तथा अङ्गप्रह (Spasm) के सामान्य लक्षण प्रकट होते हैं। ज्वर होता है। हृदय तथा नाड़ी की गति विकृत होती है। पसिने आते हैं। शिशु में भ्रम विकलता दृष्टिगोचर होती है। प्रांग प्रह (Tetany) में बाहु तथा पाद विशिष्ट तरह से वक्र होते हैं—

शिशु की त्वचा का रंग निलिमा युक्त (Cyanosis) हो जाता है। भ्रोग की तीव्र अवस्थाओं में पशुकाओं तथा अन्य अस्थियों में अस्थि भङ्ग (Fractures) होते हैं। देह में जीवनीय सत्व तथा ओज क्षीण होने से अन्य व्याधियां आसानी-पूर्वक आक्रमण करती हैं। यदि समय पर तथा सावधानीपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो शिशु का अनिष्ट तथा मृत्यु हो सकती है। उचित चिकित्सा से स्थिति में सुधार होता है। स्थायी विकृतियां यदि पूर्ण रूपेण ठीक न भी हो पायें, तो भी शिशु में जीवन तथा ओज का नव संचार होने लगता है। अस्थि में दृढ़ता उत्पन्न होती है तथा स्वास्थ्य प्राप्त होता है।



यदि रोग अधिक काल रहे तो कुछ अस्थि विकृतियां स्थायी रूप ले सकती हैं। अतः शिशु के हित को ध्यान में रखते हुए (क्योंकि उसे जीवन का बहुत अधिक भाग अब बिताना होगा) चिकित्सा शीघ्र की जानी चाहिये। स्मरण रहे कि उपरोक्त लक्षण हमने रोग के तीव्र प्रकोप के लिखे हैं। साधारणतया मिले जुले तथा मध्य-तीव्रता के लक्षण मिला करते हैं।

चिकित्सा—

जीवति डी का बाल मृद्वस्थि चिकित्सा में महत्वपूर्ण योग है। चूर्णातु तथा भास्वर की चयापचय क्रियाओं पर इसका अपरिमय प्रभाव है। इस जीवति के अभाव में न तो चूर्णातु का प्रचूषण ही भली प्रकार हो पाता है और न ही अस्थि के रूप में निस्सादन। इसके अभाव में चूर्णातु का मल-मूत्र के साथ उत्सर्जन भी अधिक प्रमाण में होने लग जाता है। अतः चिकित्सा शीघ्रान्तर्गत हम इसका वर्णन विस्तार से करेंगे ताकि चिकित्सकों को इसके प्रयोग में सुविधा रहे।

जीवति डी (Vitamin D) तथा अस्थयिन क्रिया (Ossification process) पर उसका प्रभावः—

जीवति डी देह में अस्थीयन क्रिया के लिये आवश्यक है। प्रकृति में यह बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। हां, प्राग्जीवति (Provitamin) जिससे उद्विकिरण (Irradiation) क्रियाओं से ही जीवति निर्माण होता है प्रकृति में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हमारे शरीर की त्वचा में भी प्राग्जीवति वर्तमान रहता है जिससे सूर्य रश्मियों के द्वारा जीवति डी निर्माण होता रहता है तथा त्वचा पर से ही इस जीवति का देह प्रचूषण (Absorption) हो जाता है। प्रकृति में जीवति डी सर्वाधिक मात्रा में मछली के तेल (Fish liver oils) में मिलता है। प्रयोगशालाओं तथा निर्माणशालाओं में सुनिश्चित तरङ्ग आयाम रश्मियों (Rays of particular wave lengths) के प्रभाव से इसका

निर्माण किया जाता है तथा यह औषधि व्यवहार के लिये सूचीबद्ध रूप में अन्य खाद्य पदार्थों में तथा औषधों में बाजार में उपलब्ध होता है।

जीवति डी की शोध सन् १९२२ में मैकोलस तथा उसके सहयोगियों ने की थी। तब से इस जीवति की रासायनिक रचना, निर्माण विधियों, देह क्रियाओं पर प्रभाव तथा चूर्णातु एवं भास्वर की चयापचय क्रियाओं पर प्रभाव के बारे में अनेक शोध हो चुकी हैं। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यह चूर्णातु का देह में प्रचूषण बढ़ाता है, इन खनिजों का देह से बाहर उत्सर्जन विमंदित करता है तथा संभवतः अस्थि तथा रक्त में पाये जाने वाले भास्वीदेय विकर [Phosphatase enzyme] को प्रभावित करके चूर्णातु की अस्थि के रूप में निस्सादन क्रिया को तीव्र करता है जिससे मुदृढ़ अस्थि का निर्माण होता है।

यह भी संभव है कि जीवति डी उपगल ग्रंथियों [Parathyroid glands] को प्रभावित कर चूर्णातु आदि की चयापचय क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। क्योंकि ऐसा ज्ञात हुआ है, कि जब उपगल ग्रंथियां अपना कार्य बन्द कर देती हैं तो रक्त में चूर्णातु की एक दम कमी हो जाती है तथा जब ये अति तीव्रता से कार्य करने लगती हैं तो रक्त में चूर्णातु का प्रमाण बढ़ जाता है। यदि आहार में चूर्णातु की इतनी अधिक मात्रा न हो तो ऐसी दशा में चूर्णातु अस्थि संग्रह में से चलायमान [Mobilized] होकर रक्त में आता है।]

जिस विधि से यह जीवति इन क्रियाओं को प्रभावित करता है यह अभी भी ज्ञात नहीं हो सकी है, परन्तु करता अवश्य है। यही नहीं, अपितु तीव्र रूप से प्रभावित करता है। यदि चूर्णातु तथा भास्वर आहार द्रव्यों में परिपूर्ण मात्रा में वर्तमान हों, परन्तु शरीर में आहार द्रव्यों में जीवति डी की न्यूनता हो तो भी बाल मृद्वस्थि के तथा अस्थि क्षय के वही लक्षण उपस्थित हो



जायंगे जो इन खनिज द्रव्यों की न्यूनता में होते हैं। क्योंकि इसके प्रभाव में चूर्णातु का प्रचूषण नहीं होगा, अस्थि के रूप में निस्सादन नहीं होगा तथा बिना उपयोग में लिया गया यह चूर्णातु अधिक प्रमाण में देह द्वारा उत्सर्जित कर दिया जायगा। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि जीवति डी की अनुपस्थिति में आहार रूप में ग्रहण किये चूर्णातु का केवल २० प्रतिशत भाग ही प्रचूषण हो पाता है, जहां यदि जीवति डी प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो तो आमाशय तथा आंत्र की कलाओं द्वारा ग्रहीत चूर्णातु का ५० से ८० प्रतिशत भाग तक प्रचूषण हो जाता है। साथ ही यह स्मरण रखने योग्य है कि चूर्णातु की अनुपस्थिति में जीवति डी (तथा जीवति ए भी) का भी आंत्र द्वारा प्रचूषण नहीं होगा। यह द्रव्य अंतर्संबंधित [Inter related] है। रक्त में चूर्णातु की न्यूनता है, परन्तु भास्वर ठीक प्रमाण में है तथा इस हेतु मृदस्थि रोग है। साथ ही जीवति डी की न्यूनता है। ऐसी दशा में चूर्णातु यौगिकों का सेवन कराया जाता है, अथवा सूचीबद्ध द्वारा देह में प्रविष्ट करा दिये जाते हैं। तो ऐसा देखने में आया है कि रक्त में चूर्णातु का प्रमाण तो बढ़ जायगा, परन्तु साथ ही भास्वर का प्रमाण घट जायगा। रोग की स्थिति में कोई सुधार न होगा। इसके साथ ही यदि जीवति डी का सेवन कराया जाता है तो स्थिति में आश्चर्यजनक रूप से शीघ्र सुधार होना प्रारम्भ होता है।

जीवति डी रासायनिक—रासायनिक दृष्टि से दो तरह के जीवति डी (अथवा प्रति बालक बक्र जीवति Anti rachitic vitamin) उपलब्ध हैं, जिन्हें निम्नलिखित नामों से पुकारा जाता है—

(१) जीवति डी_२ (Vitamin D_२), इरगो-स्टेरोल (Ergosterol) नामक वनस्पतिज द्रव्य को जो प्रकिण्व (Yeast) में बहुतायत से पाया जाता है। उद्विकिरण प्रक्रियायें (Irradiation methods) से जीवति डी_२ में परिवर्तित किया जाता है। इसे इरगोकेलसीफेरोल (Ergo calci-

ferol) अथवा केवल केलसीफेरोल कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र $C_{28}H_{44}O$ है। औषध के रूप में साधारणतः यही उपलब्ध होता है।

(२) जीवति डी_३ (Vitamin D_३) प्राणिज पदार्थों में प्राप्त कोलेस्ट्रॉल (Cholesterol) या ७-डी हाइड्रो कोलेस्ट्रॉल (7-Dehydro cholesterol) आदि प्राग् जीवति (Provitamin) द्रव्यों से उद्विकिरण प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है। इसे कोलोकेलसीफेरोल (Cholo calciferol) अथवा केवल केलसीफेरोल कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र $C_{28}H_{44}O$ है।

जीवति डी_२ वनस्पति पदार्थों से जैसे प्रकिण्व (Yeast) से उपलब्ध होता है तथा जीवति डी_३ मानव तथा पशुओं से जैसे मछली के यकृत में (जहां वह संग्रहीत रहता है) अतः काड लिवर आयल (Cod liver oil) में, उद्विकिरणीत दूध (Irradiated milk) में तथा उद्विकिरणीय त्वचा (Irradiated skin) पर से प्राप्त किया जाता है। बाल मृदस्थि पर दोनों ही समान रूप से गुणकारी हैं।

अधिक मात्रा में लिया जीवति डी शरीर में यकृत, वृक्क, फेफड़े, मांसपेशियों के कोष समूहों आदि अवयवों में संग्रहीत हो जाता है तथा आवश्यकतानुसार उपयोग में आता रहता है। जीवति डी की विषाक्त मात्रा (Toxic dose) एवं प्रशस्त मात्रा (Optimum dose) के मध्य काफी अन्तर है। अतः कुछ सीमा तक इसकी बहुत मात्रायें (Large dose) भी निर्भयतापूर्वक सेवन की जा सकती हैं। जीवति डी की वृद्ध मात्रा चिकित्सा विधि (Massive dose therapy: Stoss therapeutic method of preventing rickets in children, which consists in administering massive doses of Vitamin D at intervals of several months) पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में आजकल बहुत प्रचलित है।



शिशु रोगाङ्क

१६५

इस विधि में सावधान रहने की आवश्यकता है तथा रोगी का सतत निरीक्षण करते रहना चाहिये कि कहीं विषाक्त चिह्न तो प्रगट नहीं हो रहे हैं। विषाक्त चिह्न प्रकट होने से चिकित्सा बन्द कर देने पर यह लक्षण दूर होने लगते हैं तथा कुछ काल पश्चात् बिलबुल ठीक हो जाते हैं। विषाक्त चिह्न एकदम मिट जाने के कुछ काल बाद पुनः चिकित्सा प्रारम्भ की जा सकती है।

मात्रा—इसकी मात्रा आवश्यकतानुसार कम ज्यादा होती है। साधारणतया एक शिशु को प्रति दिन २००-४०० अन्तर्राष्ट्रिय एकक (International unit) की आवश्यकता होती है। बाल मृदस्थि रोग से यह आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। जीवति डी के १००० अन्तर्राष्ट्रिय एकक मछली के तैल के रूप में अथवा जल अथवा तैल के विलेय रूप में प्रतिदिन देने से अधिकांश बाल मृदस्थि प्रसित शिशु कुछ काल में स्वस्थ हो जाते हैं। साथ ही प्रशस्त मात्रा में चूर्णातु तथा भास्वर का उपयोग होना चाहिये। गर्भवती तथा धात्री माताओं को भी यही मात्रा प्रशस्त है।

वृहत् मात्रा चिकित्सा विधि में ३००००० अन्तर्राष्ट्रिय एकक से लगाकर ६००००० अन्तर्राष्ट्रिय एकक तक एक दिन में दिये जा सकते हैं। तदन्तर यदि आवश्यकता हो तो तीन माह पश्चात् फिर यही मात्रा दी जा सकती है। वृहत् मात्रा चिकित्सा (Massive dose therapy) से कई बार साधारण विधि चिकित्सा से अच्छे परिणाम प्राप्त हुये हैं। दीर्घकालीन बाल मृदस्थि तथा फक रोग (Coeliac disease) में जीवति डी की बार बार महत् मात्रा देने की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

विषाक्तता (Toxicity)—यदि सावधानी रक्खी जाय तथा विषाक्तता के चिह्न प्रकट होने पर मात्रा कम कर दी जाय अथवा स्थगित कर दी जाय तो कुछ भी स्थायी हानि नहीं होती है तथा विषाक्तता के चिह्न मिट जाते हैं। विषाक्तता के लक्षण ये हैं—प्यास अधिक लगाना, बार बार उसने सोना, जी

मचलाना तथा जी बैठना, भय सा लगाना, सिर में दर्द तथा मूत्राशय में जलन होना। अत्यधिक तीव्र अवस्था में रक्त में चूर्णातु का प्रमाण बहुत बढ़ जाता है तथा शिराओं आदि में भी चूर्णयन (Calcification, Pathogenic Calcification) होने लग जाता है। परन्तु साधारणतः इसकी बहुत कम संभावना है।

हृदय सम्बन्धी तथा वृक् सम्बन्धी रोग जहां हों वहां पर जीवति डी की महत् मात्रा का सेवन नहीं करना चाहिये।

चूर्णातु तथा भास्वर की मात्रा—प्रतिदिन आहार के रूप में अथवा औषध के रूप में इनकी शरीर में आवश्यकता रहती है। जो बालक समय से पूर्व उत्पन्न हुये हैं अथवा कमजोर होते हैं, उन्हें अधिक मात्रा की आवश्यकता रहती है। ज्यों ज्यों शिशु बढ़ता जाता है, उसकी अस्थि में विकास होता जाता है, त्यों त्यों आहार में इन खनिजों की आवश्यकता भी बढ़ जाती है। औसतन एक स्वस्थ शिशु को उसकी उम्र के अनुसार ०.१ ग्राम से १.० ग्राम तक चूर्णातु की प्रतिदिन आवश्यकता होती है। लगभग इतनी ही अथवा इससे डबोढ़ी मात्रा में भास्वर शिशु के लिये आवश्यक होता है। ३ वर्ष के शिशु के लिये १.१६ ग्राम प्रतिदिन अथवा इसके समतुल्य (आवश्यकतानुसार) मात्रा ली जा सकती है। रुग्णावस्था में इनकी मात्रा दैनिक आवश्यकताओं से कहीं अधिक होती है। उपरोक्त आवश्यकतायें शिशुओं तथा बालकों की हैं। बड़ों को विशेषकर गर्भवती तथा धात्री माताओं को अधिक आवश्यकता होती है।

नीचे एक तालिका दी जा रही है, उसमें प्रमुख भोज्य पदार्थों के चूर्णातु तथा भास्वर (Constituents) के प्रमाण दिये गये हैं। रोगी के पथ्य निर्देशन में अथवा रोग निरोधक (Preventive) भोज्य व्यवस्थाओं में इससे सहयोग मिलेगा।

तालिका १

कुछ प्रमुख खाद्य पदार्थों में चूर्णातु तथा



भास्वर की प्राप्त मात्रायें—

नाम खाद्य खनिज घटक मिलिग्राम प्रति १०० ग्राम पदार्थों के खाये जाने योग्य भाग (Edible portion) के।

	चूर्णातु	भास्वर
१—गोभी (पत्ता गोभी)	४२६	३४
१—फूल गोभी	२२	२०
३—केला	११	३१
४—जौ [पूर्ण]	७५	१७१
५—दूध [गाय का]	११८	६३
६—दूध [माता का]	३०	(प्रमाण अनुपलब्ध)
७—मक्खन	१६	१
८—नारियल [सूखा हुआ] (Coconut)	४३	७७
९—मछली (Cod)	१०	२२
१०—अंगूर	१७	७
११—शहद	५	६
१२—प्याज	३६	१६
१३—मूली	३७	१५
१४—सेलरी (Cellery) (हरी पत्तीदार सलाद) ६०		२५

दूध तथा हरी .सब्जियां इन खनिजों के प्रमुख स्रोत हैं।

चूर्णातु, भास्वर तथा जीवति डी के कई योग बाजार में उपलब्ध हैं, जो बाल मृद्वस्थि रोग पर सफलतापूर्वक दिये जाते हैं। उनकी आवश्यक मात्राओं के बारे में संकेत ऊपर दिये जा चुके हैं। चिकित्सक को समयानुकूल योग तथा मात्रा स्वयं निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। जितने भी योग बाजार में उपलब्ध हैं उन सबका वर्णन करना किंचित कठिन है। उदाहरणार्थ एक प्रयोग का उल्लेख करते हैं—

नाम शिशु—पूर्णेन्दु, उम्र ६ माह,

लक्षण—बाल मृद्वस्थि के स्पष्ट तीव्र लक्षण नहीं थे। सिर

साधारण अनुपान में बड़ा तथा लम्बा था। पर रात्रि में पसीने आना। कुछ कुछ कपोलवत् था, कमजोरी थी, शिशु बढ़ता नहीं था। पूरा दूध पीता था। फिर भी कभी अतिसार, कभी पेट में दर्द, कभी ज्वर होते रहते थे। चिकित्सक करते समय कोई विशेष उपद्रव नहीं थे।

रोग निर्णय—बाल मृद्वस्थि का प्रारम्भ।

औषधि व्यवस्था—ओस्टेलिन फोर्ट (Osteofort: Glaxo) नामक जीवति डी.६००००० के राष्ट्रीय एकक के सूचीबद्ध रूप में प्रयुक्त किये जाने के लिये छोटी छोटी कूपिकायें (Ampule) आती हैं। उसे लाकर एम्पुल को काटकर उसमें आधी औषधि शिशु के मुँह में डाल दी गई। ऊपर से स्तनपान करा दिया गया। बची हुई औषधि के मुँह पर भली प्रकार रुई इत्यादि रख कर बांधकर सावधानीपूर्वक रख दिया गया। दो दिन बाद यह बची हुई औषधि भी इसी प्रकार दे दी गई।

इसके साथ ही एडेक्सोलिन (Adexolin) नामक औषधि की (जिसमें जीवति ए तथा डी हैं) प्रतिदिन देने की व्यवस्था कर दी गई।

सैंडोज की चूर्णातु वटिका (Sandoz Calcium tablets) पीसकर दूध के साथ प्रतिदिन देने की व्यवस्था भी रही, जिससे चूर्णातु का मात्रा १.० ग्राम प्रतिदिन की रखली गई।

प्रभाव—जीवति डी की प्रथम मात्रा देने के तीन दिन बाद शिशु में स्वास्थ्य के लक्षण आने लगे। चेहरे तथा त्वचा पर ओज प्रकट होने लगा तथा बजन भी कुछ औंस बढ़ गया। पर पसीने आने कम हो गये तथा दस दिन के बाद बिल्कुल बन्द हो गये। ज्वर नहीं हुआ। पाँच दिन बाद शिशु अच्छी तरह से बैठने लगा तथा एक माह के अन्दर अन्दर दो दांत बिना कष्ट के निकल आये।

एक अन्य प्रयोग में चूर्णातु वटिका के

पर (Osto calcium syrup with vit-12) नामक चूर्णितु शर्बत मिश्रण दिया गया। शिशु की अवस्था कोई १६ माह की थी। Ostelin forte का आश्चर्यजनक परिणाम इस बार भी देखने में आया तथा शिशु की अवस्था में आशातीत सुधार हुआ।

इसी तरह से काड लिवर आइल का प्रयोग भी लाभकारी है। बहुत छोटे बच्चों को अधिक काड लिवर आइल नहीं देना चाहिए। अवस्थानुसार कुछ बूंदों से शुरू करना चाहिए। मछली का तैल मालिश के लिये भी लाभ के साथ प्रयोजित हो सकता है। जीवति डी त्वचा के रन्ध्रों द्वारा प्रचूषण कर लिया जाता है। काड लिवर आइल के साथ चूर्णितु प्रधान किसी भी औषधि की व्यवस्था भी कर देनी चाहिए। आयुर्वेदीय औषध शंख भस्म का भी विशेष प्रभाव देखने में आया है।

साधारणतया शिशुओं में अन्य जीवति द्रव्यों की भी न्यूनता रहती है; विशेषकर जब वे रुग्ण हों अतः इन द्रव्यों के मिश्रणों की योजना भी हितकारी होती है तथा अन्य औषध को प्रभावपूर्ण बना देती है।

एबडेक ड्रॉप्स [Abdec drops] तथा एडेक्सोलिन [Adexolin] आदि इस प्रकार के अनेक योग बाजार में उपलब्ध हैं।

यदि शिशु स्तनपान करता हो तो माता के आहार पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए ताकि आवश्यक द्रव्य उसे भी उपलब्ध हों। बाल मृद्वस्थि चिकित्सा में लघु तरंग आयाम रश्मियों (Short wave length rays) का भी बहुत लाभपूर्ण उपयोग किया जाता है। इस प्रकार से त्वचा को उद्दिकिरण [Irradiation] करने से त्वचा में जीवति डी का निर्माण होता है। कुछ खाद्य पदार्थों को जैसे दूध, प्रकिण्व [Yeast] कुछ खाने योग्य कुकरमुत्तों आदि को भी उद्दिकिरण प्रक्रिया से जीवति डी समृद्ध बना तब उपयोगित किया जाता

है। सूर्य किरणों में भी उद्दिकिरण की बहुत शक्ति होती है। इस रोग में धूप का सेवन अत्यन्त हितकारी है। इस रोग की सूर्य किरण चिकित्सा किंचित विस्तार से इसमें आग लिखेंगे यहां सिर्फ परिचय मात्र दिया है।

बाल मृद्वस्थि के साथ अन्य संबधित उपद्रवों तथा व्याधियों की चिकित्सा तद् तद् उपद्रवों तथा व्याधियों की शान्ति की लिये करनी चाहिये। सामान्यतः देह क्षीणताजन्य श्रम, विकलता, ज्वर, अतिसार, कास, प्रतिश्याय, श्वास रोग, गैस रोग आक्षेप आदि उपद्रव इस व्याधि के साथ होते हैं।

बाल मृद्वस्थि चिकित्सा पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण—

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में बाल मृद्वस्थि रोग के विशिष्ट लक्षण एवं वर्णन उपलब्ध नहीं हैं। वैसे अस्थि सम्बन्धी अनेक अन्य रोगों का वर्णन मिलता है। सुश्रुत संहिता में अध्वस्थि आदि कई अस्थि सम्बन्धी रोगों का वर्णन है। पंचदश अध्याय में रसादि घातुओं की क्षय वृद्धि के लक्षणों का वर्णन करते हुए लिखा है—

अस्थिच्येऽस्थि तो दो दन्त नख भंगा रौच्यञ्च।

अस्थि के क्षीण होने पर हड्डियों में वेदना, दांत और नख टूटना तथा रुखापन होता है।

वात का स्थान अस्थि में भी है। यथा—

पक्काशय कटि सक्थिभ्रोत्राऽस्थि स्पर्शनेन्द्रियम्।

स्थानं वातस्य तत्रापि पक्काधानं विशेषतः ॥

अस्थि क्षीणता से वात-प्रकोप भी होता है तथा लक्षण स्थान में पहले कहे गये सब लक्षणों का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि यह वात-प्रधान व्याधि है। तथापि इस विषय में प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं हैं। और शोध की अत्यन्त आवश्यकता है।

हारोत संहिता में अस्थि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है।



त्वङ्मांस केश रोमास्त्रिभूभागो जनयेत् तथा ।

यहां पर भू भाग का प्रधान आशय पृथ्वी महाभूत से है। अस्थि का निर्माण पृथ्वी महाभूत से होता है। अतः अस्थि का खनिज प्रयान द्रव्यों का योगिक होना अनुरूप ही है।

कुछ अर्वाचीन विद्वानों ने इसे फक्क रोग माना है। निसंदेह फक्क [Coeliac disease] अथवा रस क्षय तथा बाल मृद्वस्थि [Rickets] के लक्षण काफी सानुरूप हैं, तथापि इनमें भेद है। फक्क रोग की संप्राप्ति अंत्र के भीतर वसा के विमं-दित प्रचूर्ण से अथवा जन्य होती है। मल में वसा का उत्सर्जन अधिक होता है। अतः अतिसार होते हैं। देह तथा ओज, रसक्षीण होने से क्षीण हो जाते हैं। तथा अन्य धातुयें और मल भी क्षीण हो जाते हैं। इस रोग का प्रधान स्थल अन्य प्रणलिका में हैं तथा लक्षणों में प्रायः अतिसार अवश्य रहता है। जबकि बाल मृद्वस्थि में अतिसार होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यहां पर चूर्णातु तथा भास्वर की चयापचय क्रियाओं का विक्षोभ होता है; रस क्षय इसके साथ हो भी सकता है और नहीं भी। हां, रसक्षय अथवा फक्क के साथ प्रायः बाल मृद्वस्थि भी होता है। इस रोग के बारे में भी विशेष शोध की आवश्यकता है। काश्यप संहिता में तीन प्रकार के फक्क रोग वर्णन किये गये हैं—

१-क्षीरज फक्क

२-गर्भज फक्क

३-व्याधिज फक्क

संभवतः व्याधिज फक्क को हम बाल मृद्वस्थि के समतुल्य गिन सकते हैं। फक्क रोग को बाल शोष भी कहते हैं।

अन्य कुछ विद्वानों ने बाल मृद्वस्थि का वर्णन बाल बक्रास्थि नामकरण करके किया है। अस्थि बक्रता इस रोग में एक बाल लक्षण है, जो कभी स्पष्ट होता है तो कभी गुप्त (Latent)। फिर एक बाल लक्षण के आधार पर नाम-

करण करना भ्रांतिकारक भी हो सकता है। अस्थि बक्रता अन्य कारणों से भी हो सकती है। मृद्वस्थि शब्द व्याधी व्याख्याकारक [Disease describing] अधिक स्पष्ट सूत्र है, जिससे व्याधि की सही स्थिति का बोध हो सकता है। अतः लेखक ने इसी शब्द को बाल संवृत कर प्रयुक्त किया है।

व्याधि के नाम में मतभेद होने पर भी आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार चिकित्सा करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। अष्टांग हृदय में लिखा है-

विकार नामा कुशलो न जिह्यात्कदाचन ।

न हि सर्व विकाराणां नामतोस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥

जो चिकित्सक संपूर्ण व्याधियों के नामों को न जाने उसे चितित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण विकारों के नाम नहीं होते, तथा नाम से ही उनकी सही स्थिति का ज्ञान नहीं हो सकता।

सुश्रुत में कहा है—“नास्ति रोगो बिना दोषैः” अतः जो चिकित्सक दोषों के गुण धर्म भेद भली प्रकार जानता है, दोषों के स्थान, विकृति के लक्षण तथा कर्षण, वृंहण आदि क्रियाओं का ज्ञाता है, जिसे औषध ज्ञान पूरा है, वह व्याधि का बिना नाम जाने भी दोषानुसार सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकता है। चिकित्सा की व्याख्या करते हुये भगवान् आत्रेय ने कहा है—

यामि क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥

जिन क्रियाओं से देह में विकृत हुये धातु समान हों उन्हें चिकित्सा कहते हैं।

हेत्वादिरूपकृतिसाम्यं जातं भेदैः समीच्यातुर सर्वरोगान् ।
चिकित्सितं कर्षणं वृंहणं कुर्वीत वैद्यो विधिं वत्सुबोणे ॥

बालमृद्वस्थि रोग में वृंहण चिकित्सा प्रशस्त है। जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है इस रोग में अस्थि धातु का क्षय होता है। अतः विविध क्रियाओं से अस्थि की वृद्धि करना ही अभीष्ट है।

आयुर्वेदिक औषधों में चूर्णातु प्रधान यौगिक इस रोग में व्याधि शमनार्थ प्रशस्त हैं। मुक्ता, प्रवाल, शंख, कौड़ी आदि के भस्म अथवा पिष्टियें उचित मात्रानुसार देने से अवश्य लाभ करती हैं। परन्तु जीवति डी (Vitamin D) का भी साथ में विचार अवश्य करना चाहिए। आधुनिक शोधों को आयुर्वेदिक सिद्धान्तानुसार परख कर उनकी व्याख्या कर चिकित्सा में इन उपयोगी तत्वों का समावेश करना वर्तमान काल की प्रकट आवश्यकता (Felt need) है। यदि शिशु को प्रतिदिन कुछ काल के लिए धूप सेवन कराया जाय तो जीवति डी की यह आवश्यकता निरापद रीति से पूरी हो जाती जाती है। चूर्णातु प्रधान आयुर्वेदिक योगों के साथ (Ostelin forte) आदि जीवति डी द्रव्यों का प्रयोग पूर्ण निरापद है तथा आवश्यकतानुसार चिकित्सकों को प्रयोग में लाना चाहिये। ऐसे लाभदायक प्रयोगों के अनुभव लेखक को हैं। यहां पर सिद्धांत विवेचन करना ही अभीष्ट है। अरविन्दासव का उपयोग भी अति हितकर है।

काड लिवर आयल [Cod liver oil] तथा इसके अभाव में शार्क लिवर आयल [Shark liver oil] भोजन के पश्चात् मात्रानुसार देना चाहिए। शरीर पर इस तेल की मालिश भी करनी चाहिए।

निम्नलिखित तेल मालिश के लिए प्रयुक्त किया जाता है तथा अत्यन्त गुणकारी है—

मकोय के पत्ते, पियावांसा, करेला, नागरवेल के पान, भांगरा और छोटी दूधी का पंचाग इन सबका रस २०-२० तोले।

हल्दी, अगर, कूठ, सुगन्धवाला, असगंध, जटामांसी, लाल चन्दन, लौंग तथा जायफल इन सबको बराबर बराबर लेकर १० तोले कल्क करें।

तिली का तेल आधा सेरं लेकर उपरोक्त कल्क तथा रस मिला कर मंदाग्नि पर गर्म करें। जब रस जल जाय (बहुत थोड़ा रस रह जाना ठीक रहता है; नहीं तो तेल सब जल जायगा।) तब उतार कर छान लें। इस तैल को खुले बर्तन में ७ दिन तक

प्रतिदिन ५ घण्टे के हिसाब से धूप में रखें। इस तरह उद्विकिरणीत करने से इसके गुणों में वृद्धि होती है। पश्चात् आधा तोला कपूर पीसकर भली प्रकार भिलालें तथा बोतल में भर कर रख दें।

तिली के तैल की जगह नारियल का तैल भी इससे प्रयुक्त होता है। लेखक के दृष्टिकोण से यह अधिक गुणकर है। केवल नारियल के तेल को १५ दिन धूप में उद्विकिरणीत [Irradiation] कर मालिश में प्रयोग करना भी गुणकारी है।

हितकर विहार की भी पथ्य रूप में योजना करनी चाहिए। दुग्ध में वर्तमान चूर्णातु अन्य सामान्य खाद्य पदार्थों में वर्तमान चूर्णातु से अधिक सुगमतापूर्वक प्रचूर्णीय [Absorbable] है। अतः पथ्य में दुग्ध भी उचित प्रमाण में रहे, इसका स्मरण रखना चाहिए। चूर्णातु कुछ लोह-यौगिकों के साथ मिल कर अन्य प्रणाली में अविलेय यौगिक [Insoluble Compounds] भी बनाता है। अतः इस विषय में सावधानी रखनी चाहिए कि चिकित्सा काल में ऐसे कुयोग न होने पायें।

कुछ विद्वान चिकित्सकों के मतानुसार मधु-मालती बसंत, शृङ्गभस्म तथा प्रवाल पिष्टी, गिलोय सत्व तथा प्रवाल आदि का संयुक्त प्रयोग तथा कुमार कल्याण रस का प्रयोग भी हितकारी तथा व्याधि निरोधक है।

बाल मृद्वस्थि पर सूर्य-किरण चिकित्सा- विशेष विवेचन

भारतवर्ष में सूर्य रश्मियों का जीवनीय प्रभाव प्राचीन काल से विदित रहा है। सूर्योपस्थान उद्बोधक ऋचाओं से इनके स्पष्ट सूत्र मिलते हैं। पाश्चात्य चिकित्सकों ने भी आज से ८०-१०० वर्ष पूर्व सूर्य किरणों का प्रभाव बाल मृद्वस्थि चिकित्सा में अनुभव किया [Dr. Palm, 1840]। गत ३० वर्षों में इस चिकित्सा में पारजम्बु रश्मियों [Ultra-violet rays] के प्रभाव पर बहुत महत्वपूर्ण शोधें हुई हैं तथा प्रभावशाली तथ्य ज्ञात हुए हैं।



सूर्यरश्मियां सब तरह की ज्ञात अज्ञात रश्मियों का समूह है। इनमें जो (जैसे पारजम्बु) [Ultra violet] लघु तरंग आयाम रश्मियां [Short wavelength rays] होती हैं, उनके प्रभाव से मोम गुण धर्म वाले कुछ द्रव्यों [Sterols] के अणु समूहों [Molecules] में पुनर्विन्यसन [Rearrangement] होता है तथा जीवति डी का निर्माण होता है। हमारे शरीर की त्वचा में 7-dehydro chole sterol नामक द्रव्य होता है। लघु तरंग आयाम सूर्य रश्मियों [Short wave length Sunrays] के प्रभाव से इस द्रव्य के अणु समूहों में पुनर्विन्यसन होकर त्वचा के भीतर तथा त्वचा पर जीवति डी ₃ [Vit D₃-Cholo-calciferol] का निर्माण होता है जो यहीं से देह में प्रचूषित कर लिया जाता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि सूर्य रश्मियों में जो पारजम्बु रश्मियां जीवति डी के निर्माण करने में समर्थ हैं उनके तरंग आयाम [wave lengths] की सीमा [Range] २५० m.m. [मिलि माइक्रोन] से ३१३ m.m. है। एक मिलि माइक्रोन एक मिलिमिटर का १/१०००००० वां हिस्सा होता है। सूर्य रश्मियों की लघुतम तरंग आयाम जो पृथ्वी तक पहुंचती है यह २६० m.m. है। यह उष्ण प्रदेशों में गर्मी की श्रुति में पहुंचा करती है। इससे लघु आयाम की तरंग वायुमण्डल में ही रह जाती हैं, तथा पृथ्वी तक अथवा हमारी त्वचा तक नहीं पहुंच पाती हैं। अतः स्पष्ट है कि सूर्य किरणों का महत् प्रभाव उष्ण प्रदेशों में अधिक होता है।

स्टेरोल [Sterol] समूह प्रधान खाद्य पदार्थों को सूर्य की लघु तरंग आयाम रश्मियों में उद्विकिरण करके जीवति डी का निर्माण किया जा सकता है। धूप में सुखाये गये नारियल, गाजर, सेम, गोभी, कुछ खाये जाने वाले कुकुरमुत्ता [Mushrooms], प्रकिएव [Yeast] आदि अनेक खाद्य पदार्थों में इस तरह जीवति डी का निर्माण हो जाता है तथा इन्हें बाल मृदस्थ चिकित्सा में समझपूर्वक व्यवहृत किया जा सकता है। औषधियों

को सूर्य किरणों द्वारा उद्विकिरण करने की विधि पूर्व में लिखी जा चुकी है।

पाश्चात्य देशों में उद्विकिरण दूध [Irradiated Milk] का पर्याप्त प्रचलन है। यह निर्माण शालाओं में कृत्रिम तरंग आयाम रश्मियों में दूध को रखकर बनाया जाता है। भारतवर्ष में इसका प्रचलन नहीं है। डा० विश्वनाथ राय (१९६०) मतानुसार शिशुओं को गाय का दूध पिलाने में अपेक्षा यह उत्तम है कि धात्रियों को परिपूर्ण दूध आदि का पोषण मिले तथा मां को चाहिए कि शिशु को दूध पिलाने से पहले वह प्रतिदिन प्रातःकाल आधे से एक घण्टे तक धूप सेवन किया करें।

सूर्य रश्मियों का प्रभाव नंगे बदन पर अधिक होता है। धूप सेवन खुले स्थान में करना चाहिए। खिड़कियों के साधारण शीशे [Window glass] ३२० m.m. से लघु तरंग आयाम रश्मियों के लिए अपारदर्शक होते हैं तथा जीवति डी निर्माण में समर्थ रश्मियां ऐसे शीशों में से पार नहीं हो सकती हैं। बातावरण तथा वायुमण्डल में धूम, धूल, अथवा बादल छाये हों, तो यह गुणकारी लघु तरंग आयाम रश्मियों के लिए अल्पपारदर्शक तथा अपारदर्शक होते हैं जिस त्वचा पर अत्यधिक रोम हों वहां पर उद्विकिरण क्रिया का पूरा लाभ नहीं होता है। उद्विकिरण [Irradiation] गौरवर्ण त्वचाओं पर श्याम वर्ण त्वचाओं से अधिक प्रभावशाली है। अधिक धूप सेवन से त्वचा अस्थायी काल के लिये 'श्याम वर्ण' सी हो जाती है। संभवतः इसका प्रभाव त्वचा को और अधिक उद्विकिरण होने देने से बचाना है। अक्सर देखा गया है कि नीग्रो [Negro] आदि श्याम वर्ण जातियों में मृदस्थ रोग अधिक पाया जाता है। इसका आंशिक कारण उनकी त्वचा का श्याम वर्ण है।

उद्विकिरण प्रभाव के लिए धूप की ही आवश्यकता नहीं है। बर्फ पर से प्रतिबिम्बित सूर्य प्रकाश अथवा वायुमण्डल से प्रतिबिम्बित सूर्य प्रकाश

[Sky shine] में भा उद्विकिरणीय गुण होते हैं। सूर्य प्रकाश भी दिन भर में तथा ऋतु काल अनुसार कम ज्यादा होता रहता है। अतः उसके अनुपात में जीवति डी का निर्माण भी कम ज्यादा होगा। ग्रीष्म ऋतु में, तथा मध्याह्न काल से सूर्य किरणें क्रमशः अन्य ऋतुओं की अपेक्षा तथा दिन के अन्य समय की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती हैं।

अत्यधिक जीवति डी के सेवन से जिस प्रकार विषाक्त चिन्ह प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार त्वचा के अत्यधिक उद्विकिरण से भी हानि हो सकती है। अतः अत्यधिक सूर्य सेवन भी अहितकर है। सूर्य शक्ति दिन भर में तथा विभिन्न ऋतुओं में कम ज्यादा होती रहती है। सूर्य प्रकाश से औसतन मानव त्वचा पर कितना जीवति डी का निर्माण होता है, यह कहना कठिन है।

धूप सेवन के समय यदि सिर को स्वच्छ श्वेत वस्त्र से ढक लिया जाय तो ठीक रहता है अन्यथा तीव्र ऊष्मा के प्रभावस्वरूप शिरोवेदना हो जाना संभव है! धूप सेवन करते समय सर्वदा सूर्य की ओर पीठ रखनी चाहिए जिससे नेत्रों पर हानिकारक प्रभाव न होने पावे। तैल मर्दन के बाद सूर्यस्नान कर कुछ काल पश्चात् शुद्ध जल से स्नान करना चाहिए। शीघ्र स्नान कर लेने से पूरा लाभ

नहीं होता तथा क्वचित् हानि की भी संभावना रहती है। शीघ्र लाभ प्राप्ति की आशा में एक ही दिन बहुत देर तक धूप में नहीं रहना चाहिए। शनैः शनैः पर लगन के साथ कार्य करने से ही स्थायी लाभ मिलता है अन्यथा हानि होती है। सूर्य स्नान के शीघ्र पश्चात् शीतल पेय का ग्रहण करना भी हानिकारक है। पथ्य पालन के साथ उचित व्यवस्थानुसार सूर्य स्नान करने से व्याधिनाश तथा स्वास्थ्य प्राप्ति अवश्य होती है।

उपसंहार—

बालभृद्धस्थि शिशुओं में पाया जाने वाला चूर्णातु भास्वर तथा जीवति डी की चयापचय क्रियाओं में विक्षोभजन्य रोग है। इस व्याधि में मुटुद तथा स्वस्थ अस्थि निर्माण नहीं होता है। अस्थि मृदुता होने से कई तरह की विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं तथा देह क्षीण होने से अन्य कई व्याधियां आक्रमण करती हैं।

व्याधि शमनार्थ जीवति डी चूर्णातु तथा भास्वर के योग अत्यन्त प्रशस्त हैं। आयुर्वेदीय योगों में शंख, बराटिका, शृङ्ग, मुक्ता, मधुमालिनी वसन्त, अरविदासव, प्रबाल आदि मुख्य औषधियां हैं। सूर्य किरण चिकित्सा अत्यन्त हितावह है।

—श्री. पं. पुखराज शर्मा, ७८-अशोक नगर, कृषि कालेज, उदयपुर (राजस्थान)

अस्थि-विकार

श्री आचार्य सुदेवचन्द्र पाराशरी शास्त्री, D. I. M. S.

परिचय—

वृद्धिशाल छोटे शिशुओं में पोषण की कमी से उत्पन्न विकृति है जिसमें अस्थि वृद्धि विकृत होने के साथ साथ प्रायः अन्यतम श्लेष्मघर कलाओं का

प्रदाह शोफ, वातिक-अस्थिरता और रक्तक्षय मिलते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ 'कारयप-संहिता' में वर्णित फक्क-रोग अस्थि-विकार (Rickets) का



ही रूप है। एक वर्ष का होने पर भी शिशु यदि पैरों से नहीं चल सकता, तो उसे फक्क^१ कहते हैं। काश्यप ने इसके तीन भेद लिखे हैं—१. व्याधिज २. क्षीरज और ३. गर्भज।

१-व्याधिज फक्क को स्वतन्त्र (Primary) व्याधि सम्भूता चाहिए। पिता माता के शुक्रशोणित में पोषक जीवनीय तत्वों के अभाव से उत्पन्न शिशु में सम्बन्धित अस्थि प्रभृति धातुओं की यथेष्ट वृद्धि में रुकावट या प्रगति की कमी रहती है जिससे शिशु रोगग्रस्त हो जाता है।

आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने अनागत बाधा प्रतिषेध (Prophylaxis) की दृष्टि से गर्भाधान से पूर्व पुरुष व स्त्री दोनों को शुक्रार्त्तव-पोषक जीवनीय रसायन और बाजीकरण द्रव्यों का सेवन एक मास पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक करके परिपुष्ट शुक्रार्त्तव संयोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करने का विधान लिखा है। यदि शुक्रार्त्तव वायु-पित्त-कफ द्वन्द्व या सन्निपात दोषों से दुष्ट होंगे तो शिशु का संहज या उत्तर कालज व्याधिपीडित हो जाना स्वाभाविक है। अतः तत्तद् दोषों का अनुसन्धान करके उनकी शास्त्रोक्त चिकित्सा द्वारा शुद्धि करके ही गर्भाधान में प्रवृत्त होना चाहिए।

शुद्ध शुक्रार्त्तव वाले माता-पिता को भी बाजीकरण रसायन पोषक द्रव्यों व ब्रह्मचर्य द्वारा विशेष जीवनीय शक्ति सम्पन्नता प्राप्त करके ही सन्तानोत्पत्ति का निर्देश है। आज के युग में आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त का लोप हो जाने के कारण तथा समाज की दयनीय और विषम अर्थ व्यवस्था के फलस्वरूप पौष्टिक और जीवनीय आहार का प्रायिक अभाव हो गया है, फलस्वरूप शुक्र और आर्त्तव

में जीवनीय द्रव्यों के अभाव से 'व्याधिज फक्क' का भी विपुल प्रसार है।

२-क्षीरज फक्क—जननी क्षीर अथवा धात्री के दूध में जीवनीय एवं पोषक तत्वों के अभाव होने से दोषयुक्त होने के कारण 'क्षीरज फक्क' उत्पन्न होता है। दुग्ध में वातिक दोष परीक्षा सिद्ध होता है। श्लेष्म संघटक तत्वों विटामिन डी एवं सुषा (कैल्शियम) का अभाव रहता है। दुग्ध पिलाने वाली के दुग्धवर्जन एवं शोधन के साथ साथ पोषक आहार की व्यवस्था किए बिना रोग से रक्षा सम्भव नहीं होती^१।

काश्यप ने श्लेष्मदुग्धा धात्री से शिशु को मन्दग्नि होकर धात्वग्नियों के व्यापार मन्द हो जाने एवं रसवह स्रोतसों एवं अन्य (अस्थिवह विशेष कर) स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने से उत्तर धातुओं एवं अस्थि के पोषण के अभाव से दौर्बल्य, कृशता, कफरोग (श्लेष्मधर कला शोथ प्रतिश्याय कासादि) युक्त फक्क (अस्थि मार्दव) की सम्प्राप्ति लिखी है जो सर्वथा युक्त संगत है।

३-गर्भज फक्क—दुग्ध पिलाने वाली जननी के दूसरा गर्भ रह जाने से उसके दूध का पोषण-क्षम गर्भ के पोषण में अधिकांशतः व्यय हो जाता है। सुतरां स्तनपायी शिशु को वाञ्छित पोषक मातृ दुग्ध से मिलना असम्भव होता है। अतः शिशु को गर्भज फक्क हो जाता है।

ये क्रमाङ्क २ एवं ३ भेद परतन्त्र (Secondary) व्याधि के रूप में उत्पन्न होते हैं।

कारण—

आधुनिक वैज्ञानिक भी इन तीनों भेदों निरूपित सम्प्राप्ति को सर्वथा स्वीकार करते हैं। शुक्र में ही विटामिन डी का अभाव शिशु व्याधि प्रवर्त्तक होता है; अथवा शिशु के आहार

१ परिसंवत्सरो बालः पादाभ्यां यो न गच्छति।

स "फक्क" इति विज्ञेयः ॥

२ क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसम्भवम्।

फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तं ॥

—काश्यप संहिता

१ धात्री श्लेष्मिक दुग्धा तु फक्कदुग्धोत्पत्तिं सज्जिता।
तत्क्षीरपो बहुव्याधिः काश्यात्फक्कत्वमाप्नुयात् ॥

—काश्यप संहिता

शिशु रोगादि

में जीवनीय डी के अभाव से ही रिकेट्स होने की सम्भावना रहती है।

मुख्यतः आहार में जीवनीय डी का अभाव ही रोग का कारण है। भोजन में धान्य का अनुपात अत्यधिक रहने तथा जीवनीय डी के स्रोत दुग्ध मक्खन एवं अण्डों के अभाव से रोग-प्रवृत्ति होती है। सूर्य प्रकाश न मिलने के कारण अस्थिनिर्माण के लिए अपेक्षित सुधालवण (कैल्शियम) और फास्फोरस का पर्याप्त मात्रा में शोषण नहीं हो पाता क्योंकि सूर्य की अतीत नीललोहित किरणों (Ultra violet rays) ही त्वचा के मेद में जीवनीय डी का निर्माण करती हैं और जीवनीय डी की उपस्थिति में ही कैल्शियम और फास्फोरस का शोषण और आत्मीकरण सम्भव होता है।

धान्य-शाकादिमय कर्बोज प्रधान आहार से पेशियों की वृद्धि तो तीव्र गति से होती है किन्तु जीवनीय डी की पर्याप्त मात्रा के अभाव में तथा कैल्शियम और फास्फोरस की मात्रा अथवा शोषण और आत्मीकरण के अभाव से अस्थिकंकाल की समानुपात में वृद्धि नहीं हो पाती और अस्थिविकार उत्पन्न हो जाते हैं।

उष्ण प्रदेशों में शीतऋतु में रोग प्रसार अधिक देखा जाता है। अगहन से चैत्र तक विशेष कर सूर्य प्रकाश के अभाव के कारण नगरों में अधिक होता है। कृत्रिम भोजन तथा देर तक अथवा सगर्भा जननी का दुग्धपान भी इसके कारण हैं।

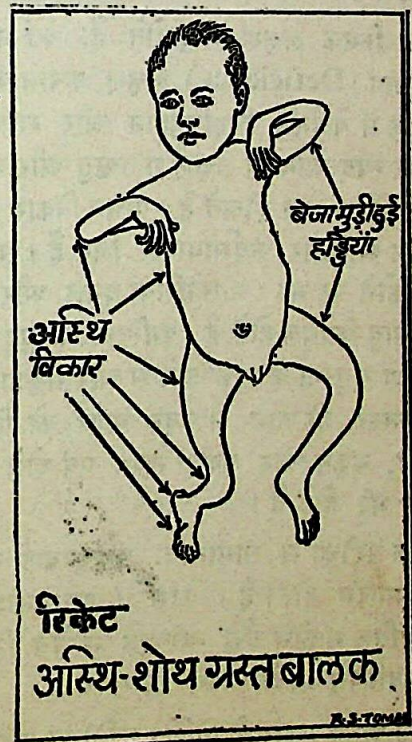
सूर्य प्रकाश में उन्मुक्त विचरण करने वाली जातियों तथा उष्ण-प्रदेश के अभिजनों में प्रायः रोग नहीं देखा जाता।

सम्प्राप्ति—

यह छोटे बच्चों का रोग है, ६ मास के वय में या तदुपरान्त आरम्भ होता है। बड़े बच्चों (६ से १४ वर्ष के वय में) में प्रायः कम मिलता है। उनमें विकृत अस्थि निर्माण देखा जाता है। अस्थि धातु पर्याप्त होने पर भी अस्थिधरा कला कोशाओं में

सुधालवण (कैल्शियम) की कमी रहती है। निर्मित अस्थि में कैल्शियम फास्फेट के उपादान न्यून होते हैं। प्राकृतिक ६३% के बजाय ३५% तक या और भी कम, रक्तस्थ कैल्शियम और खनिज फास्फोरस प्रति १०० सी. सी. में प्राकृतिक अनुपात १० और १५ मिलीग्राम के बजाय ६ और २ मिलीग्राम होते हैं। रक्तस में फास्फेटस प्राकृतिक औसत से १ से ४ यूनिट (अम्ल) और ८ से १४ यूनिट (क्षार) प्रति १०० सी. सी. बढ़ जाते हैं।

अस्थिविकार (Rickets) असंगठित खटिकी-भवन की अवस्था है। दीर्घ अस्थियों के किनारों पर मृद्वस्थि-कोषाणु अति मात्रा में होते हुए भी निश्चित स्तम्भों में व्यवस्थित न होकर अनियमित स्थिति में होते हैं। इससे एक चौड़ा नीलाभ क्षेत्र बन जाता है जिसमें सम्बन्धित मृद्वस्थि सन्धि मोटी होती है। उस क्षेत्र में स्रोतसों की संख्या



चित्र नं० ४८

बढ़ जाती है। अस्थि निर्माण की तैयारी समुचित होने पर भी अस्थि निर्माण विकृत खटिकीभवन के कारण मृदु होता है। पर्यस्थ्यावरण (Perio-steum) मोटा और मज्जा संकुलित होती है।

अस्थिघर-कोशाओं की अधिवृद्धि के कारण कतिपय क्षेत्र उभरे हुए (उत्पन्न) मालूम देते हैं जैसे मणिबन्ध पर अन्तः प्रकोष्ठास्थि का प्रान्तिक सिरा, उरःफलक पर मृद्वस्थिओं से पशुकाओं का सन्धिस्थल तथा पुरः और पार्श्व की कपालास्थियां।

किसी प्रकार के भार के पड़ने से अपूर्णखटिकी भूत मृदु-अस्थियां झुककर विकृत हो जाती हैं।

जब रोग दूर होने लगता है तो अस्थिघरा-कोशायें और उतक, खटिकपूर्ण, गहरे होकर पूर्णास्थियां बन जाती हैं और अनियमित अस्थिवृद्धियां लुप्त हो जाती हैं।

व्याधि चित्र -

आरम्भिक लक्षण मन्द होते हैं, कई महीने की न्यूनता (Deficiency) लक्षण उत्पन्न करती है। शुरु में बेचैनी, चिड़चिड़ापन और रात्रि में शिर पर स्वेद आना ये लक्षण शीतऋतु और बसंत ऋतु में विशेष स्पष्ट दीखते हैं। पाचन-विकार जैसे आध्मान अतिसार सर्वसाधारण लिंग हैं। मांस-क्षय न होने पर भी मांसपेशियां दुर्बल और कृश तथा स्नायु शिथिल होते हैं। अस्थियों के मृदु होने के कारण सुषुम्ना के झुक जाने से और महाप्राचीरा के निम्नतर हो जाने से उदर बाहर को निकल जाता है, यकृत और प्लीहा स्पृश्य एवं थोड़े बहुत बढ़े हुये भी होते हैं।

रक्त परीक्षा से सामान्यतः पाण्डुरवर्ण रक्त-स्पता मालूम होती है। कास (आसायनीशोथ) और वातिक-संक्षोभ जैसे स्वरयन्त्र संकोच, टिटैनी और कदाचित् आक्षेपक भी हो सकते हैं।

(१) अनेक प्रकार के विशिष्ट अस्थिगत परिवर्तन होते हैं।

(अ) करोटिगत—अस्थियां पतली, विशेषकर पश्चात्कपाल और पार्श्वकपालों के सन्धिस्थल के पास होती हैं। यह शीघ्रोत्पादी लक्षण है जो कि ३ मास की आयु में या पूर्व प्रकट होता है और ८-६ मास के वय में रोगारम्भ होने पर कम देखा जाता है। वर्ष के अन्त में अदृश्य हो जाता है। रोग के क्रियाशील रहने पर अन्य लक्षण प्रकट होते हैं। ब्रह्मरन्ध्र एवं अधिपति रन्ध्र प्रायः पूर्वरन्ध्र बन्द नहीं हो पाते, (प्राकृतिक दशा में १८ महीने के वय में बन्द हो जाने चाहिये।) ललाट वर्गाकार (पुरः कपाल और पार्श्वकपालों) से चपटा बन जाता है।

(ब) दन्तोद्गम बिलम्ब से होता है।

(स) पशुकाओं और मृद्वस्थियों की सन्धि उत्सन्न (उठी हुई) होती हैं।

(द) दीर्घास्थियों की मृद्वस्थि सन्धियां विशेषकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि, बहिःप्रकोष्ठास्थि और ऊर्वास्थि के निचले सिरे और जंघास्थि का ऊपरी सिरा उत्सन्न होते हैं। प्रथम वर्ष के अन्त में प्रायः ये लक्षण होते हैं।

(इ) भुजास्थियों के पर्यस्थ्यावरण के निर्माण की त्रुटि से अंगुल्यस्थियों बाह्य और मध्य भाग लम्बे हो जाते हैं।

(२) अस्थिमृदुता से अनेक विकृतियां होती हैं।

(i) वक्षोविकार (पशुकाओं) से—

(अ) 'कपोताकार वक्ष'—मृदु पशुकायें पीछे को और उरःफलक आगे को झुक जाते हैं।

(ब) उरःफल के दोनों ओर खात से बन जाते हैं महाप्राचीरा के खिंचाव और उठी हुई पशुकाओं पर फूले उदर का दबाव ऊपर को पड़ने से दोनों पार्श्वों में दरारें सी बन जाती हैं।

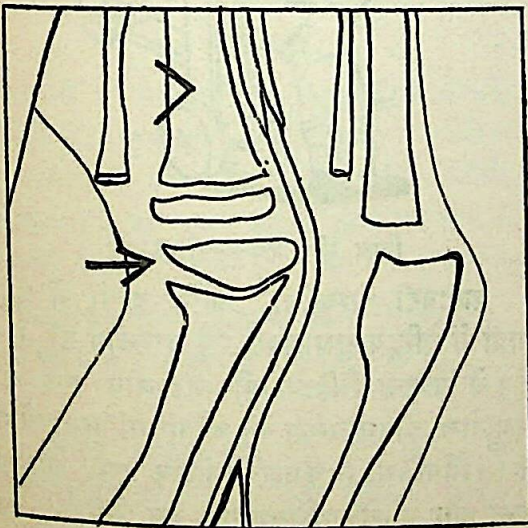
(अ) दीर्घास्थियां विभिन्न दिशाओं में झुक जाती हैं। विकृतियां मृदु अस्थियों पर बाह्य भार पड़ने से होती हैं। ऊर्वास्थियां आगे और बाहर को झुक जातीं तथा जान्वस्थि पृथक् हो जाती है। जंघास्थि और अनुजंघास्थियां झुक जाती हैं और

शिशुरोगाङ्कः

उनके तीक्ष्ण सिरें सामने दीखते हैं। शिशु के घुटनों चलने से प्रगण्डास्थि और प्रकोष्ठास्थियां भी बाहर को नम जाती हैं। इनमें कदाचित् एक ओर मुकाव व दूसरी ओर भग्न (Green stick fracture) हो जाता है।

(३) सुषुम्णा में निम्न कटि प्रदेश का मुकाव एक कोण पर हो जाता है। श्रोणि चपटी या तिकोनी होती है। ये विकृतियां कुछ देर से उत्पन्न होती हैं, जब शिशु बैठता या खड़ा होता है।

एकसरे परीक्षा से मृद्वस्थि सन्धि पर विशिष्ट परिवर्तन मिलते हैं। खटिकीभूत श्लक्ष्ण प्रातों का दीर्घास्थियों में अभाव रहने से विकृति होती है। कुछ समय बाद खटिकरहित प्रान्त अवनत होकर अधिवृद्ध, अनियमित और चौड़े हो जाते हैं। ये मणिबन्ध पर प्रकोष्ठास्थियों में सर्वाधिक प्रतीत होते हैं, जानु पर उर्वास्थि और जंघास्थि में ये विकार मिलते हैं। समूची अस्थि की घनता न्यून होती है।



चित्र नं० ४६

अस्थि मार्दव का एकसरे चित्र

अस्थि-प्रान्तों का अवनमन तथा अस्थि दण्डों का नमन

निदान प्रकार—

(१) सदोष आहार का इतिहास (२) विलम्बित दन्तोद्गम (३) स्पष्ट अस्थिगत परिवर्तन तथा विशिष्ट एकसरे चित्र और (४) पाचन संस्थान श्वास संस्थान, और वातसंस्थान के उपद्रव देखने चाहिए।

करोटि बड़ी ऊपर से देखने पर शीर्षाम्बु-रोग सदृश मालूम देती है। सुषुम्णा में निम्नकटि देश में कोणीय नमन होता है।

यौवनगत-अस्थिमार्दव-शिशु—अस्थि विकार का पुनराक्रमण यौवन में हो जाता है, अथवा स्वतन्त्र रूप से भी रोग हो सकता है; कदाचित् वृक्षों में सौत्रिक धातु बन जाती है। मुख्यतः दीर्घास्थियां प्रभावित होती हैं, भार पड़ने की जगह नम जाती हैं। करोटि की अस्थियां प्रभावित नहीं होतीं।

साध्यासाध्यता—

अधिकांशतः प्रथम दो वर्ष के उपरान्त क्रियाशील अस्थि-विकार लुप्त हो जाते हैं, परिणत-अस्थि विकार पूर्व इतिहास को बताते हैं। ये विकार भी बहुत बड़े हुए न हों तो काफी सुधर जाते हैं। श्वसनक और उग्र अतिसार के उपद्रव घातक हो सकते हैं।

चिकित्सा—

प्रतिबन्धक—

शिशु को ६ मास की आयु तक स्तनपान कराना चाहिए। स्तन छुड़ाने पर अच्छे गो-दुग्ध अथवा उत्तम निर्माण-चिह्नित चूर्णीकृत-दुग्ध जिसमें जीवनीय 'डी' पर्याप्त हो का आहार देना चाहिए। यदि उक्त दोनों उत्तम न मिल सकें, तो इनके साथ १००० यूनिट जीवनीय 'डी' प्रतिदिन देना चाहिए। क्षीर पिलाने वाली धात्री के दूध में भी पर्याप्त मात्रा में विटामिन 'डी' रहना चाहिए। प्रचुर सूर्यप्रकाश, ताजी हवा तथा मांसपोश्यों का व्यायाम आवश्यक है।

व्याधि निवारक—

रोगवृद्धि हो जाने पर ४००० से १०००० यूनिट



‘५०००० यूनिट भी’ विटामिन “डी” दैनिक आवश्यक है। एतदर्थ हालीवेरोल (Halivorol) ओस्टेलिन (Ostelin) नैवीटोल (Navitol) एडोक्सेलीन (Adoxelin) या, वोगैन (Vogan) १५ बूंद, में से कोई भी द्रव्य दिया जावे। मानीकृत काडलिवर आइल ६० बूंद या हैलीबट लिवर आइल १५ बूंद प्रतिमात्रा दिन में तीन बार दिए जा सकते हैं।

मर्करी लैम्प द्वारा अतीत लोहित किरणों (Ultra violet rays) अथवा सूर्यस्नान भी अत्युपयोगी हैं।

आहार प्रचुर मात्रा में गो-दुग्ध दिया जावे, और गाय को हरी घास, उड़द के पत्ते खिलाये जावें [माषपर्ण भृतीय]। नवनीत, मक्खन, अण्डे का गूदा तथा पर्याप्त जंगमस्नेह दिया जावे, किन्तु कर्बोज अधिक मात्रा में न दिया जावे।

बच्चे के विकृत-अङ्गों पर कुशा [Splint] लगा कर शय्या पर रक्खा जावे। पाचन ठीक और कोष्ठ शुद्ध रहे। श्वास संस्थान और अन्नवह स्रोतस् के कोई भी उपद्रव होने पर तुरन्त शान्त किए जावें।

आयुर्वेदः क्त चिकित्साक्रम—

प्रतिबन्धक—

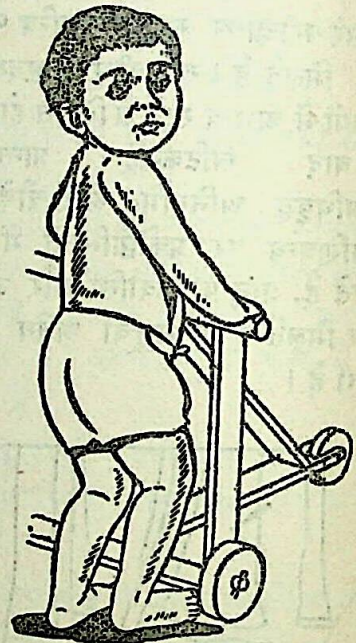
‘संचेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनं।’ शुक्रपोषक आहारोपचार द्वारा परिपुष्ट शुक्र व्यक्ति ही गर्भाधान करे; तथा दुष्टक्षीर वाली धात्री का दुग्ध पान न करावें। गर्भिणी माता का दूध पिलाना बन्द कर दें। पोषकत्व विहीन आहार न दें। पोषक व सुपाच्य भोजन दिया जावे।

रोग निवारक—

यथावश्यक स्रोतः शुद्धि करें, कल्याणक सर्पिः, षट् पल घृत से स्नेहन ७ दिन तक करावें, फिर त्रिवृत् [निसोथ] सिद्ध दूध से कोष्ठ शोधन करावें। संसर्जन क्रम के उपरान्त ब्राह्मी घृत, अश्वगंधादि घृत, शतावरी घृत का प्रयोग प्रकृति और दोष का विचार करते हुए करें।

रास्ना, मुलहठी, एकपर्णी, एरण्ड, सोंफ, पुनर्नवा, द्राक्षा, पीलु और त्रिवृत् सिद्ध क्षीर, के सेवन से कास, वातिक उपद्रव, शोथ, पीड़ा व उदर विकार ठीक होते हैं।

मांसरस सिद्ध यूष, संस्कृत क्षीर, वस्तिप्रयोग, स्नेहपान, स्वेदन, उद्वर्तन, एवं अभ्यङ्गार्थ राजतैल का प्रयोग काश्यप संहिताकार ने लिखा है। चलने के अभ्यास के लिए फक्करथ बनवा कर उसके सहारे धीरे धीरे चलाने को लिखा है।



चित्र नं० ५०—फक्करथ

शतावरी अश्वगंधा, आदि द्रव्यों में प्रचुर मात्रा में ऐन्द्रिय सुधालवण एवं जीवनीय डी रहते हैं। ये अत्यन्त पौष्टिक और जीवनीय द्रव्य हैं। सुश्रुतोक्त जीवनीयगण की औषधियां परमोपयोगी हैं। रसौषधियों में कुमारकल्याणक रस, बृहत्पूर्णचन्द्र और त्रैलोक्यचिन्तामणि रस सेन्द्रिय उच्च

१ त्रिचक्र फक्करथकं प्राज्ञः शिल्पिकनिर्मितम्।

विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यससेत् ॥

—काश्यप संहिता

कोटि के मुक्तारूपी कैल्शियम व स्वर्णघटित होने के कारण अनुभूत चमत्कार दिखाते हैं। कामदुधारस, शंख-शम्बूक-कपर्द-प्रबाल-शुक्ति-जह्नमोहरा खताई (हरिताश्म) और शृंग तथा अजास्थि भस्म का प्रयोग श्रेष्ठ अस्थि पोषक है। इसके साथ अरविन्दासव, अश्वगन्धारिष्ट और शतावरीक्षी का प्रयोग व अश्वगन्धा-बला तेल का प्रातःकालिक सूर्यरश्मियों में अभ्यङ्ग सोने में सुगन्ध का काम

करता है।

आयुर्वेदिक औषधों के साथ साथ आधुनिक जीवनीय डी के यौगिकों एवं उपचारोक्त व्यवस्थाओं का आश्रय लेना और भी उपयोगी प्रमाणित हुआ है।

—आचार्य श्री सुदेवचन्द्र पाराशरी शास्त्री, D.I.M.S.
प्रोफेसर-गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज
जयपुर।

फक्क रोग

कविराज रमाकान्त पाण्डेय आयुर्वेद वाचस्पति

संस्कृत भाषा के अनुसार फक्क शब्द की व्युत्पत्ति 'फक्क तेमन्दगमनं करोति' इस प्रकार होती है जो कि व्याधि का प्रत्यात्म लक्षण है। काश्यपोक्त भेद निम्न प्रकार से हैं—

- १—क्षीरज, २—मातृज या गर्भज,
३—व्याधिज।

ये तीनों ही भेद रोगग्रस्त बालकों में देखने को मिलते हैं किन्तु विशेषकर क्षीरज और व्याधिज अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। महर्षि काश्यप ने व्याधि का स्वरूप बताते हुये निम्न वाक्य अति सुन्दर वैज्ञानिक भाषा में लिखा है। यथा—

बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति ॥

स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्।

—का० सं० चि० फक्करोग ३

एक वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के बाद जो बच्चा कृशकाय हो तथा पैरों से गमन करने में असमर्थ हो उसे फक्करोग जानना चाहिये।

(१) क्षीरज फक्करोग—

यह माता के श्लेष्म दुष्ट स्तन्यपान करने से उत्पन्न होता है। यथा—

धात्री श्लैष्मिक दुग्धातु फक्क दुग्धेति संज्ञिता।

तत्क्षीरपो बहुव्याधिः काश्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥

जिस धात्री का क्षीर अथवा माता का दुग्ध श्लेष्म प्रदुष्ट हो, उसका क्षीर पान करने वाला शिशु बहुत सी व्याधियों यथा—अतिसार, कास, आस, अग्निमांघ, अरोचक, छर्दि, कृमि, शोष आदि से पीड़ित होकर कृश होता जाता है तथा कृश होने से उसकी चेष्टायें मन्द हो जाती हैं तब उसकी फक्क संज्ञा होती है। उपर्युक्त प्रकरणोक्त व्याधियां प्रायः श्लेष्म के आवरण धर्म से रसवाहि, प्राणवाहि स्रोतसों में विविध प्रकार से अवरोध आने पर ही उत्पन्न होती हैं, क्योंकि बाल्यावस्था में स्वभाव से ही श्लेष्मा प्रबल शक्ति वाला होता है।

वयोऽहोरात्रभुक्तानां तेनतमध्यादिगाः क्रमात्।

—वा० सू० १

इस प्रकार अन्य प्रकारान्तर से दूषित क्षीर भी उपर्युक्त प्रकार से ही मार्गावरोध कर शरीर के पोषण में बाधक बनकर रोगोत्पत्ति करता है।

पित्तानिल प्रकृतिकी पटुक्षीरी पटुग्रजा ॥

कृतः पंगु जडा मूकाखिदोषक्षीर भोजिनः।

—काश्यप सं० चि० फक्करोग ५

पित्त या वात प्रकृति वाली स्त्री जिसका दुग्ध लवण युक्त हो तथा बहु सन्तान वाली हो उसके स्तन्यपान से अथवा त्रिदोष दुष्ट क्षीरपान से पंगुत्व, जड़ता, मूकत्व आदि अवस्थाएँ भी उत्पन्न होती हैं।

यहां आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में हीनतत्व दुग्ध का निर्देश किया है जैसा कि आधुनिक विज्ञानवादी भी दुग्ध में विटामिन डी की कमी प्रस्फुटकतत्व का अभाव आदि मानते हैं।

उपर्युक्त समीकरणों से एक ही मन्तव्य सिद्ध होता है कि शिशु को जो दुग्धपान कराया जाता है वह हीन तत्व वाला होता है और हीनता जनित ही यह रोग है। इस प्रकार के दुग्धपान का प्रभाव बच्चे के शरीर संगठन पर ही नहीं अपितु उसकी इन्द्रियों और मन के भी ऊपर होता है ऐसा आचार्य ने स्पष्ट रूप से बड़े ही युक्तिपूर्वक ढङ्ग से निरूपित किया है जो प्रत्यक्ष सिद्ध भी है। यथा—

हृदयात् संप्रवर्तन्ते मनः पूर्वाणि देहिनाम् ।

× × ×

तत्र वागिन्द्रियं त्वेकं द्विधाभिन्नं यथाकरौ ।

अर्धेन शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुनः ॥

तस्माच्च मूका भूयिष्ठं भवन्ति बधिरानराः ।

वाङ्मूलं हि स्मृतं श्रोत्रं वाग्मं श्रोत्रश्रयते हितम् ॥

—काश्यप सं० चि० फक्करो ग ६—

यहां प्रत्यक्षपूर्वक आचार्य ने मूकत्व बधिरत्व का सम्बन्ध बताया है तथा बच्चे के मन, इन्द्रियों को रोग प्रभाव से ग्रसित निरूपित किया है। वागिन्द्रिय विकृति से श्रोत्रेन्द्रिय विकृत होवे, ऐसा नियम नहीं किंतु श्रोत्रेन्द्रिय विकृत होने से वागिन्द्रिय नष्ट अवश्य होती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों में ही देखने पर सुगम होगा। यहां तो फक्क रोग में लक्षण रूप ही बधिरता एवं मूकता के लिये सामान्यतया विवेचन किया गया है।

क्षीर की पूर्वोक्त विकृतियों के साथ साथ कुछ अन्य सहायक कारण भी हैं। यथा—

(१) माता के भोजन मात्र का तत्वहीन होना।

(२) विटामिन डी के विरुद्ध तत्वों की शरीर में उत्पत्ति।

(३) सूर्यताप का अभाव, क्योंकि सूर्यताप से विटामिन डी का निर्माण होता है।

(४) गन्दे वातावरण में बच्चे का निवास उपर्युक्त वातावरण होने पर कुछ रोग को प्रेरणा देने वाली अवस्थाएँ भी हैं जो अपना प्रभाव रोगोत्पत्ति में Predisposing cause के रूप में दिखाती हैं। यथा—

(१) आयु ६ से १८ मास तक

(२) ऋतु शीत या बसंत [कफ संचय एवं कोषकाल होने से]

(३) आवहवा-सघन नगर एवं गान्दी गलियां

(४) मातृस्तन्यपान का अभाव

(५) अधिक मातृस्तन्यपान

(६) शरीर की मन्दवृद्धि

आधुनिकों ने इसीलिये इस व्याधि को साधारण धातुपोषण विकृति जन्य माना है जिस धातुपोषण विकृति का प्रभाव विशेष बच्चे के शरीर की लम्बी अस्थियों के अन्तिम भाग पर जहां cartilage मय रचना होती है वक्रता के रूप में वा वृद्धि (Deposition) के रूप में होती है।

इस रोग में विकृति का स्थान प्रायः अस्थियां ही रहती हैं। अस्थियों में प्राकृत अवस्था में सुधा-प्रस्फुटक (Calcium phosphate) ६१% तक रहता है जबकि रोगावस्था में २१% तक पाया जाता है। सुधातत्व (Calcium) की कमी के कारण ही अस्थियां वक्र हो जाती हैं, यह वक्रता लम्बी अस्थियों में उनके अन्तिम भागों पर देखी जा सकती है तथा तरुणास्थि का भाग विपमाकृति के रूप में परिणित हो जाता है। सुधा (Calcium) की कमी का कारण आंत्र के द्वारा उसका सात्मीकरण (Absorption) न होना है तथा रक्त में भी उसका अभाव व्याधि रोग में देखा जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रोग की अवस्था में अस्थियों में निर्मित होने वाला प्रस्फुटक कार्य



सिद्धिरोगाङ्कः

१७६

कारी प्रस्फुटक (Phosphatase) के रूप में बनता है जो कि आंत्र की श्लैष्मिक कला एवं रक्त तथा वृक्कों में पाया जाता है। रोगी की अवस्था में प्रस्फुटक (विकृत) रक्तवारि में बढ़ जाता है और यकृत वृद्धि तथा प्लीहा में सौत्रिक तन्तु निर्माण होने लगता है।

उपर्युक्त आधुनिक प्रत्यक्ष सिद्ध सभी घटनायें विकृत श्लेष्मा के कार्यों में ली जा सकती हैं जो कि गवेषणीय विषय है।

(२) गर्भज—

यह द्वितीय प्रकार है इसमें माता के गर्भवती (pregnancy) शीघ्र हो जाने से बालक को पोषण पर्यन्त मातृदुग्ध नहीं मिल पाता। अतः यह भी हीनताजन्य ही है।

(३) व्याधिज—

जीर्ण रोगों यथा—

- १—आंत्रिक ज्वर की निवृत्ति के बाद
- २—अतिसार के बाद
- ३—आक्षेपकारी रोग के बाद
- ४—कृमि होने पर (Anthelmintics)
- ५—वात व्याधियों के बाद (Rheumatism)

संप्राप्ति—

इसका उद्भव प्रथमतः श्लेष्मा से अग्निमन्दता होकर ही होता है। ततः अग्निमांश के बाद ग्रहणी दोष होने पर भुक्त का सम्यक् परिपचन न होने से जब बालक हीनताजन्य अवस्था में अधिक भोजन दुग्ध आदि पीता है तो उसका सम्यक् पाक न होने से रस धातु अल्प बनती है तथा बहुपुरीषता एवं बहुमूत्रता होती है।

इसी प्रकार की संप्राप्ति महर्षि चरक ने राज-यक्ष्मा की संप्राप्ति में लिखी है यथा—

यथास्वेनोष्मया पाकं शरीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना॥
स्रोतसां सन्निरोधान्न रक्तादीनां च संब्रयात्।
धातुष्मया चापचयात्.....॥

तस्मिन् कालेपचत्यग्निर्यदनं कोष्ठ संश्रितम्।

मलीभवति तत्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥

यहां विशेषता राजयक्ष्मा से केवल इतनी ही है कि वह प्राणवह रसवह आदि स्रोतस को दुष्ट करता है। यहां मुख्यतः विकार अस्थिवह स्रोतस में उत्पन्न होते हैं क्योंकि जाठराग्निमांश से धात्वग्नियों का मांश होकर अस्थिधातु का निर्माण नहीं होता तथा बल मांस परिच्य होगा।

लक्षणानि—

- (१) क्षीणमांसता (शारीरिक)
- (२) क्षीणबलः
- (३) क्षीणद्युति
- (४) महोदरता
- (५) स्फिचबाहु शुष्कता
- (६) पीताक्ष
- (७) दृश्यमान अस्थिपञ्जरः
- (८) प्रमलानाधर कायः (अधोशास्त्रकर्महानि)
- (९) बहुमूत्रपुरीषकः
- (१०) पाणिजानुगन्ता
- (११) मन्दचेष्टः
- (१२) विशीर्णरोमाः
- (१३) दृष्टरोमाः
- (१४) मक्षिकादीनां गम्यः
- (१५) महानख
- (१६) दुर्गन्धी
- (१७) असिति

मानसिक—

- (१) अनाथवत् वीक्षते
- (२) क्लिश्यते
- (३) हृषिताङ्गता
- (४) मलिनः
- (५) क्रोधी
- (६) ताम्यति

उपर्युक्त लक्षण काश्यप संहिता में व्याधिज फक्क के लिये लिखे हैं किन्तु ये सामान्यतः अधिक



संख्या में तीनों ही भेदों में देखे जाते हैं। इनके साथ कुछ निम्न लक्षण भी प्रत्यक्षतः देखने को मिलते हैं। यथा—वेचैनी-रात्रिस्वेद (विशेषकर शिरपर) अतिसरणम्, शुष्ककास, आक्षेप, स्वरभेद, दन्तोद्गम (अपूर्ण) तथा ब्रह्मरंध्र में स्पन्दन, कपालास्थियों में आकारवृद्धि, कर्ण के पीछे की अस्थियों में मृदुता की अनुभूति, वक्ष में चिपटाकारता, तथा वक्षोऽस्थि का उभार यथा कपोताकृति वक्ष (Pigeon on chest), हस्तपाद एवं मेरुदंडबक्रता, प्रगण्डास्थि, प्रकोष्ठास्थि तथा उर्वस्थियों की वृद्धि, वस्ति गह्वर का चौड़ा होना, अस्थिभग्न (शाखाओं में), यकृत वृद्धि-सीधवृद्धि (स्पर्शगम्य)—पांडुता आदि।

चकिरण परीक्षा—

प्रारम्भिक परिवर्तन यथा—प्रगण्डास्थि के नीचे के अन्तिम भाग में तथा उर्वस्थि एवं प्रकोष्ठ में।

भेदक निदान—

(१) सहजफिरंगजन्य अस्थिविकार (वासरमैन रक्त परीक्षा से)

(२) स्कर्वी रोग (बालकों में)

(३) शीर्षतरलातिवृद्धि (Hydro-cephalus)

(४) बाल पक्षाघात (Poliomyelitis)

चिकित्सा सिद्धांत—

[१] स्रोतोरोध निवारण

[२] अग्निदीपन एवं आमपाचन

[३] धातुवर्द्धन

[४] आवश्यक हो तो मृदुशोधन

[५] लघु एवं सुपाच्य पौष्टिक आहार

[६] विविध प्रकार से बालक को गमन प्रवृत्ति कराना

[७] हर्षण-सान्त्वन-गीतादि श्रवण

औषधि योग—

प्रवालपंचामृत-मुक्तापंचामृत, मुक्ताभस्म, प्रवाल भस्म, शुक्ति भस्म, सुधाषट् रस, दन्तोद्गेदगदान्तक रस, लोकनाथरस, सुवर्ण मालतीवसन्त, आमलकी-लेह, द्राक्षावलेह, द्राक्षासव, अरविन्दासव, शृंग्यादि

चूर्ण (स्रोतोरोधनाशक), बराटिका भस्म, शंखभस्म (दीपन पाचन)।

भोजन—

गोदुग्ध-स्निग्धता रहित, तक्र, सन्तरा, मौसमी स्वरस, दक्षाण्ड का स्वरस

नोट—चिकित्सा का एक ही सिद्धान्त है कि अग्नि-मांश एवं स्रोतोरोध दूर कर सुखा का विनिमय प्राकृत अवस्था में लाना।

रोग में विभिन्न अवस्थानुसार चिकित्सा—

[१] अतिसार-कपूर रस, अतिसारवारणोरस, मुग्ध रस (Gray powder), कुटजपर्पटी, चातुर्भद्रचूर्ण, लवंगादि चूर्ण, कुटजारिष्ट।

[२] कास-तालीसादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण प्रवाल भस्म या पिष्टी, मुक्ताशुक्ति चूर्ण, बांसावलेह, भागोत्तर वटी, चन्द्रामृतावटी, पिप्पली चूर्ण।

[३] ज्वर-इन्द्रियवचूर्ण, त्रिभुवन कीर्तिरस, विषम ज्वरान्तक लोह, आरोग्यवर्धनी।

[५] वमन-संजीवनी, एलादिचूर्ण, जहरमोहप पिष्टी, चतुःषष्टिपिप्पली चूर्ण, मयूरपिच्छ भस्म, प्रवालपंचामृत।

[६] यकृतवृद्धि-आरोग्यवर्धनी, यकृदरिलौह, पुनर्नवामाण्डूर, माण्डूर वटक, गोमूत्र, कुमार्यासव, रोहितक लौह, रोहितकारिष्ट।

[७] पांडु-स्वर्णमाक्षिक भस्म, शिलाजतुवटी, चन्द्रप्रभा वटी, लोह भस्म, पांडुपंचानन रस, धात्री-लोह, नवायसचूर्ण, आरोग्यवर्धनी।

[८] हिक्का-हिंवादि चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, टंकण चूर्ण, यवचार, सामान्य विरेचनार्थ परण्डस्नेह बरित (अनुवासन)।

[९] श्वास-पिप्पल्यादि लौह, चन्द्रामृत, भागोत्तर वटी, यवचार, हेमगर्भ पोटली, सुवर्णमालिनी वसन्त, श्वास कास चिन्तामणि रस।

—कवि. श्री रमाकान्त पाण्डेय आयुर्वेद वाचस्पति बलभद्र महौषधालय, बलदेव (मथुरा)

फक्क-चिकित्सा

[१]

श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य



फक्क की चिकित्सा बहुत बड़ी सावधानी से करने की आवश्यकता है। आयुर्वेद में इस रोग की अच्छी चिकित्सा है। उसमें काथ घृत भस्म रस व तैलों की योजना है। समयानुसार और रोगी के बलाबल को देखते हुए वैद्य स्वयं इसकी कल्पना कर लेता है। सर्व प्रथम रोगी के बल और अग्नि की रक्षा करनी जरूरी है। बच्चा जितना सह सके पचा सके ऐसे उपचार तथा औषधि व भोजन रखना चाहिए।

बच्चों में तीन भेद हैं। दुग्धपायी—केवल दूध पायी बच्चा। अन्न दुग्धपायी—अन्न और दूध दोनों को ले सकने वाला। अन्नादा—अन्न मात्र खाने वाले। इसकी औषध मात्रा का वय और बल के अनुसार ठीक ठीक निर्णय कर लेना चाहिये।

सर्व प्रथम शास्त्रानुसार बच्चों को कल्याणक घृत दुग्धानुपान से २ या ३ बार देना चाहिए। मात्रा उसकी बलाग्नि पर निर्भर करती है। अच्छी तरह से स्नेहन होने पर हल्का विरेचन देना चाहिए। जब दूषित मल निकल जाय तो वृंहण क्रिया द्वारा शरीर के सम्पूर्ण धातुओं का परिवृंहण करना चाहिए। विशेषतया अस्थिपोषक द्रव्यों की अधिक आवश्यकता होती है। अतः प्रबाल पंचामृत १ रत्ती (गौदुग्ध भावित), स्वर्ण भस्म $\frac{1}{2}$ रत्ती, अभ्रक १०० पुटी $\frac{1}{2}$ रत्ती, शृङ्ग १३ रत्ती, मण्डूर $\frac{1}{2}$ रत्ती, ऐसी दशा में तीन मात्रा च्यवनप्राश अवलेह से देनी चाहिये। और अश्वगन्धारिष्ठ $\frac{1}{2}$ - $\frac{1}{2}$ तोला पिलाना चाहिये। मधु मालिती $\frac{1}{2}$ रत्ती, योग-रत्नाकरोक्त अभ्रकभस्म १०० पुटी $\frac{1}{2}$ रत्ती, मण्डूर १ रत्ती, शृङ्ग १॥ रत्ती मिश्रण कर घृत व मधु मिश्रण देने से अच्छा लाभ होता है।

सिद्ध योग संग्रह (पूज्य श्री यादव जी निर्मित) का बाल पंचमद्र योग भी बहुत लाभ करता है। योग निम्न है—

यशद भस्म $\frac{1}{2}$ तोले, रस सिंदूर, गोरोचन, शुद्ध गन्धक १-१ तोले, कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म ८ तोला, सबको एक दिन खरल में घोटकर रखें। मात्रा २ से ४ रत्ती मधु से खिलाकर ऊपर गौदुग्ध देना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ की बालशोष हर वटी भी परमोपादेय है। वैद्यों को व्यवहार में लाकर लाभ उठाना चाहिये।

मेरा अपना एक अनुभूत योग है जो अब तक प्रकाश में नहीं आया। वैद्य बन्धुओं की सेवा में दे रहा हूँ। बहुत लाभ करता है—

मुक्ता १ भाग, मुक्ता शुक्ती २ भाग, प्रवाल पिष्टी, शृङ्ग भस्म, मण्डूर, शङ्ख भस्म प्रत्येक २-२ भाग (भस्म के अनन्तर निम्बूस्वरस से घोटा हुआ) गोलोचन १ भाग, सत्वगुडूची २ भाग, रससिंदूर १ भाग और गोदन्ती २ भाग सबको आमलों के पथर या लकड़ी द्वारा पिष्टकर निकाले हुए स्वरस में ३ बार घोटकर १-१ रत्ती की गोली बना दिन में ३ या ४ बार योग्य अनुपान से देनी चाहिये। साथ ही च्यवनप्राशावलेह या ब्राह्मरसायन (चरकीय) देने से उत्तम लाभ होता है।

बलालाक्षादि तैल की मालिश $\frac{1}{2}$ घण्टे समय तक शरीर में करानी चाहिये। फलों में अंगूर, अनार, आम, फेला, अमरुद, बादाम, पिस्ते, चिरौजी प्रतिदिन देना चाहिये। सुपाच्य और पौष्टिक भोजन गाय का दुग्ध पनीर आदि पथ्य में रखना उत्तम होगा। मांस रस खाने वालों के लिये यह भी अच्छा है। पाश्चात्य मत से विटामिन डी—दूध, चावल,



सावूदाना या मात्र गौदुग्ध बहुत लाभदायक है और प्रत्यक्ष में ऐसा देखा भी गया है। यदि आयुर्वेदीय औषध द्रव्यों के साथ साथ विटामिन डी भी दे दी जाय तो अधिक अच्छा फल निकलता है। रोग दीर्घकालिक होने के कारण चिकित्सा भी बहुत लम्बी होती है अतः धैर्य और विश्वास की इस रोग में बड़ी आवश्यकता है।

बच्चे का मन सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करना चाहिये।

कुछ अन्य शास्त्रीय योग जो इस रोग में विशेष फल करते हैं—स्वर्ण वसंत मालती, ब्राह्म रसायन, वलारिष्ट, जीवनीय गण सिद्ध दुग्ध, मालिश के लिये

महालाक्षादि या महामाष तैल, अर्जुन घृत, शतावरी घृत, अरविदासव आदि शास्त्रीय औषध लाभदायक है।

नोट—पश्चात्त्य औषधि काड लिवर आयल आदि भी इसके लिए अच्छी औषधि है। इस प्रकार की चिकित्सा से बहुत से शिशुओं के रोग नष्ट होकर उनकी प्राण रक्षा हुई है।

यदि लेख में आये योगों का पूरा निर्देशन किया जाय तो लेख का कजेवर बढ़ जायगा। अतः मात्र नाम निर्देश किया है।

—श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयु.
२/५ सिंध सेवा समिति नगर
कोलीवाड़ा, बम्बई-२२

[२]

श्री गुरुचरण वर्णावाल आयुर्वेदविशारद

चिकित्सा कार्य कर्षण व वृंहण प्रयोगों द्वारा सम्पादित करना चाहिए। अतएव रोगी को जीवनीय शक्ति को प्रदान करने वाले तथा रोग नाश करने वाले योगों को नीचे दिया जा रहा है—

(१) इस रोग की प्रमुख औषधि जीवतित्ति डी है। इसकी उपस्थिति से आंतो द्वारा कैल्सियम आदि का पाचन व शोषण होकर अस्थि निर्माण कार्य चलता है। अतः विटामिन डी पर्याप्त मात्रा में इस रोग में देना अति आवश्यक है तथा इसी विटामिन की कमी से यह रोग पैदा होता है।

(२) काडलिवर आयल (Cod liver oil)—इसमें विटामिन ए एवं डी पर्याप्त मात्रा में होता है, इसको इमलशान् या दुग्ध में मिलाकर सेवन करें।

(३) एंडेक्सोलीन (ग्लैक्सो)—इसमें २००० यूनिट विटामिन डी तथा १२००० यूनिट विटामिन ए पाया जाता है। यह एक मिश्रित योग है जो इस रोग की चिकित्सा में प्रमुख स्थान रखता है।

(४) मुक्तादि वटी तथा विटामिन डी का साथ साथ प्रयोग करने से आशातीत फल प्राप्त होता है। (स्वानुभूत)

(५) च्यवनप्राशावलेह—इस मंहौषधि में जीवतित्ति ए, डी, सी तथा कैल्सियम व पौष्टिक तत्व सभी मौजूद हैं। यह रसायन है। इसके सेवन से बालकों की अस्थियां मजबूत, विकसित मस्तिष्क और शक्तिशाली मांसपेशियां निर्माण होती हैं, फलस्वरूप बच्चे हृष्ट-पुष्ट, उत्साही, फुर्तीले, चतुर और दीर्घजीवी होते हैं। यह एक पूर्ण रसायन (यज्ञर व्याधि विध्वंसि, भेषजम् तद्रसायनम्) है अतएव इस रोग में इसे शहद व गिलोय सत्व मिलाकर सेवन करावें तथा ऊपर से दूध पिलावें।

(६) ब्राह्म रसायन को प्रबाल, मुक्ता तथा अभ्रकादि के साथ सेवन करावें।

(७) इस रोग में सतावर, असगंध, गोखरू, तालमखाना, मुलेठी के चूर्ण को मक्खन या घी के

साथ सेवन करावें तथा ऊपर से ताजा सुखोष्ण दुग्ध पीने को दें।

(८) मार्तण्ड का खटिक या प्रबाल का मांसान्त-गन्त सूचिवेध करें तथा साथ-साथ मुख द्वारा आटो-माईसीन पाउडर (मार्तण्ड) का प्रयोग करना भी एक महत्वपूर्ण फलदायक चिकित्सा है।

(९) तैल मालिस करने से मांसपेशियां व अस्थियां मजबूत बनती हैं अतएव इस रोग से पीड़ित रोगी को लाक्षादि तैल, शंखपुष्पी तैल व चन्दनादि तैल की मालिस प्रातः व सायं करें। पंगुता दूर करने के लिए राज तैल का प्रयोग करें।

(१०) मिश्रित विटामिन (Vit. complex) जैसे बीकाडेक्स टोटाभिन आदि का प्रयोग करने से विशेष फल प्राप्त होता है तथा जीवनीय शक्ति को बल मिलता है। इनमें विटामिन A, B, C, D, E, सभी उचित मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस रोग में अवश्य प्रयोग करावें।

(११) कैल्सियाई ओस्टेलीन, कैल्सियम ग्लूकोनेट, ग्लूकोज आदि सूचिवेध भी इस रोग में अच्छा फल देते हैं।

(१२) इस रोग में नील लोहितातीत किरणों की चिकित्सा पद्धति द्वारा चिकित्सा करने से आशा-तीत सफलता प्राप्त होती है।

अन्य उपसर्गों की चिकित्सा --

[क] रस पीपरी शहद या मां के दुग्ध में मिला

कर चटावें। इससे बच्चों के सभी रोग जैसे सर्दी, जुकाम, ज्वर, पतले दस्त, कफ, खांसी आदि में विशेष फायदा पहुंचता है। [आरोग्य प्रकाश में वर्णित रस पीपरी]।

[ख] पसली [डब्बा] रोग, कब्जित, अफरा, श्वास, कास, पेशाब रुकना आदि रोग बाल जीवन वटी [आरोग्य प्रकाश] के सेवन दूर हो जाते हैं।

[ग] न्युमोनिया में निम्न योग अति लाभ-कर है—[स्वानुभूत] मकरध्वज १ भाग, लक्ष्मी-विलास रस [नारदीय] १ भाग, मृत्युञ्जय रस २ भाग, मृगशृंग भस्म २ भाग इसे तुलसी या अदरक के रस में मिलाकर चटावें। मीठा करने के लिए उसमें थोड़ा शहद मिला दें।

[घ] अजीर्ण आदि विकारों में तथा दस्त के विकारों में जन्म घूंट [आरोग्य प्रकाश] विशेष लाभकर औषधि है।

[ङ] बच्चों के सभी रोगों में बालरोगान्तक रस के सेवन से अच्छा फल प्राप्त होता है।

[च] ज्वरादि रोगों में मृत्युञ्जय रस, प्रबाल-पिष्टी, गिलोथ सत्व विशेष लाभ पहुंचाता है।

[च] आजकल की प्रचलित घुट्टियों में धन्वन्तरि कार्यालय की घुटी अधिक लाभकारी है।

—श्री गुरुचरण वर्णवाल,

आयुर्वेद विशारद, मुल्तानपुर।

[३]

श्री पं० रामेश्वर चौधरी शास्त्री

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

इस रोग में सर्वप्रथम माता के दूध पर ध्यान देना आवश्यक है। दुग्ध में जब रोग आदि कारणों से विकृति हो जाती है तब वह संतान के जीवन का पोषण के बदले शोषण करता है। इसलिये दूध दोष रहित हो तो अन्य चिकित्सा पर ध्यान दें।

अन्यथा माता को सुरा, सौवीर, तुष्णोदक, लहसुन, करंज आदि का प्रयोग दोषशामक आहार-विहार और औषधि दूध के दोषानुसार देना चाहिये। अस्थि मार्दव में जीवनीय शक्ति, अग्नि, मल बढ़ाने या अस्थिपोषक चिकित्सा करनी चाहिये जिसमें



निम्नलिखित दवा अति उपयोगी सिद्ध हुई हैं—

वैसे तो कितने ही रोगी अस्थिमार्दव के मिलते हैं जिसमें एक का पूरा विवरण यह है—एक तीन साल के बच्चे को यह रोग हुआ। सर्व प्रथम उसे एलौ-पैथी की चिकित्सा चली। दरभंगा, पटना के अच्छे अच्छे डाक्टरों की चिकित्सा के बावजूद भी तीन माह के बाद सब उस बच्चे से निराश हो चुके थे। अन्त में वह रोगी हमारे पास लाया गया, उसे देखकर मुझे यही सोचना पड़ा था कि अभी तक वह जिंदा क्यों है। आंख का ताकना और श्वास का चलना ही उसके जीवन का चिह्न मात्र था। पहले तो मैं निराश सा रहा, फिर भी चिकित्सा शुरू कर दी।

उसकी मां के दूध में गड़बड़ी मालूम हुई इसलिये सर्वप्रथम मां का दूध छुटाकर एक बकरी का दूध आहार में देने लगा। दवा निम्न दी—

(१) कुमार कल्याण रस $\frac{1}{2}$ रत्ती, प्रवाल पिष्टी $\frac{1}{2}$ रत्ती। यह १ मात्रा, मधु से।

(२) मोतीसीप भस्म $\frac{1}{2}$ रत्ती, स्वर्ण वसन्त मालती $\frac{1}{2}$ रत्ती, जहर मोहरा $\frac{1}{2}$ रत्ती, कुमार कल्याण $\frac{1}{2}$ रत्ती। यह १ मात्रा, मधु से।

(३) मकरध्वज, मण्डूर भस्म $\frac{1}{2}$ रत्ती, जहर मोहरा, मृगशृङ्ग $\frac{1}{2}$ रत्ती। यह १ मात्रा मधु से।

(४) अरविन्दासव $\frac{1}{2}$ औंस, दूध-पानी समभाग मिलाकर।

ये चारों दवा २-२ घण्टे पर देने का आदेश देकर १ सप्ताह की दवा देकर रोगी को विदा किया। महालाक्षादि तैल की मालिश खूब करने को कहा।

एक सप्ताह के बाद रोगी की हालत में किञ्चित् सुधार हुआ। हमने फिर से वही दवा दोहराकर १ सप्ताह की दी।

दूसरे सप्ताह के बाद से उस रोगी के सुधार का क्रम आश्चर्यजनक होने लगा। इसके बाद औषधि

नं० १ तथा नं० २ एवं अरविन्दासव ये तीनों दवा बराबर देता रहा। महालाक्षादि तैल में शुद्ध सरसों का तैल मिलाकर मालिश कराया। एक महीने के बाद उसे देखने का पुनः मौका लगा और उसे देखकर आश्चर्य हो गया। बाद में कुमार कल्याण रस एवं अरविन्दासव ये दोनों दवा एक महीने तक और चलायीं। बच्चा खूब मोटा-ताजा हो गया और अभी तक भी उसका वह सुन्दर शरीर देखते ही बनता है।

चूने (Calcium) का प्रभाव—

मनुष्य शरीर का पोषण करने के लिये और हड्डियों को मजबूत करने के लिये आजकल कैल्शियम नाम के तत्व बहुत उपयोगी माने जाते हैं और वह कैल्शियम चूने के अन्दर पाया जाने वाला एक तत्व है। बच्चों के लिये २॥ तोले चूने को १ तोले मिश्री के साथ खरल कर २॥ पाव पानी में मिलाकर कागदार शोशी में भर कर काक बन्द करके रख दें। जब चूना बैठ जाय तब इसमें से १५-२० बूंद पानी की दूध में डालकर पिलाने से उसके पेट में होने वाले दूध सम्बन्धी विकार नष्ट होते हैं। कैल्शियम की कमी से होने वाले उपद्रवों से पूर्ण रक्षा होती है। बच्चा तन्दुरुस्त रहता है। जहर मोहरा—

बालकों के अस्थि रोग पर जहर मोहरा एक बड़ी चमत्कारिक औषधि है। मोतियों की गुलाब जल में पिसी हुई पिष्टी, वंशलोचन, केशर, इलायची और जहरमोहरा खताई पिष्टी इन पांचों चीजों को समान भाग में लेकर गुलाब जल में घोटें। मूंग के बराबर गोली बनाकर इन गोलीयों में से प्रतिदिन सुबह दोपहर सायं १-१ गोली गाय के दूध के साथ देने से बालकों को होने वाला अस्थि रोग (Rickets) बहुत शीघ्र ठीक होता है।

—श्री पं. रामेश्वर चौधरी शास्त्री धन्वन्तरि लेबोरेटरीज, समस्तीपुर (दरभंगा)

बालशोष

कविराज श्री बंसरीलाल साहनी आयुर्वेदाचार्य

—५५५५५५—

यद्यपि बालशोष नाम का कोई रोग विशेष चरक मुश्रुतादि आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थों में नहीं मिलता तो भी जिन कारणों से यह रोग विशेष होता है, उन सब कारणों का तथा उनकी चिकित्सा का पृथक् वर्णन सब आचार्यों ने अवश्य किया है।

वाग्भटाचार्य ने भी 'स्पष्ट बालशोष' नाम न देकर "कुमारः शुष्यति ततः" शब्दों से बालशोषकादि वर्णन किया है। शाङ्गधर ने भी रोगों की गणना करते समय बाल रोगों में एक 'गान्न शोष' नाम का रोग लिखा है, वह भी यही बालशोष है।

इसी प्रकार क्षीरालसक, पारिगर्भिक, व्याधिज फक्क आदि रोगों का वर्णन पढ़ते सभ्रय ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही बालशोष रोग है, जिसके प्रति हमारी धारणा हो चुकी है कि हमारे शास्त्रों में इन का वर्णन नहीं है। चरक ने तो बालरोगों का वर्णन करते हुए किसी नाम विशेष का कोई निर्देश नहीं किया। वह तो दोषों के अनुसार बालरोगों का वर्णन कर रहे हैं। प्रथम वात दुष्ट स्तन्यपान जनित बालरोगों के स्पष्ट लक्षण बालशोष के ही हैं। किसी किसी शोषी बालक में पित्तज, कफज, द्वन्द्वज अथवा सन्निपातज लक्षण भी दिखाई देते हैं।

आप देखेंगे कि किसी बालक के शोषरोग का कारण सगर्भाधारी (माता, धाय, गौ अथवा भैंस जिसका दूध पिलाया जाता हो) का दुग्धपान होगा तो किसी का कारण धात्री का वातादि दोषों से दुष्ट दुग्धपान और किसी अन्य का दिन को सोना आदि, परन्तु भाव सबका एक ही है, अर्थात् दुग्ध के भारी होने से अथवा दिन को सोने आदि कारणों से बालक को अजीर्ण हो जाय। अजीर्ण होने से दुग्ध आदि आहार द्रव्यों का पूर्णतया पाक न हो। अपक आहार (आम) ही रसवाही स्रोतों का अवरोध कर ले। स्रोतों के अवरोध से वात

प्रकुपित हो जाय और बालक को सुखा दे अथवा वातदुष्ट दुग्धपान करने से बालक की शरीरस्थ वात प्रकुपित होकर उसे सुखा दे। कहने के ढङ्ग भिन्न भिन्न हो सकते हैं परन्तु तत्त्व एक ही है। अर्थात् बालक के अन्दर किसी भी प्रकार से (कफ प्रधान दोषों से भागों के अवरुद्ध होने से, उत्तरोत्तर धातुओं के न बनने से, बालक के क्षीण होने से) वातप्रकुपित होकर उसे सुखा देती है।

प्रधान लक्षण शोष होते हुए भी कारण भेद से उसके कुछ अन्य लक्षणों में भेद भी हो सकता है, अतः तदनुरूप ही उनके नाम भी भिन्न भिन्न कल्पना कर लिखे जाते हैं, यथा साधारणतया बालशोष तथा विशेषतया क्षीरालसक, पारिगर्भिक और व्याधिज फक्क आदि। अब इनका विचार यथा-शास्त्र दिया जाता है।

१-वातदोष से दुष्ट दुग्धपानजनित बालरोग

जब माता (धात्री) अनेक प्रकार के गुरु और दुष्ट अन्नों का सेवन करती है तब उसका स्तन्य भी गुरु तथा अनेक दोषों से दुष्ट हो जाता है। इस गुरु तथा अनेक दोषों से दुष्ट दुग्ध को जब बालक पीता है तो उसे वह पचा नहीं सकता, इसलिये अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाता है—

गुरुभिर्विभिधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम्।

क्षीरं मातुः कुमारस्य नाना रोगाय कल्पते ॥

—मा. नि. बाल रोग

यदि दुग्ध वात से दुष्ट होता है तब शिशु वात रोगों से पीड़ित होता है, उसका स्वर इस प्रकार निर्बल हो जाता है, जिस प्रकार किसी के अत्यन्त थक जाने से आवाज नहीं निकलती, सारे अङ्ग सूखकर पतले और दुर्बल हो जाते हैं, मल-मूत्र और अपान वायु की पूर्णतः प्रवृत्ति नहीं होती—



वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिवन् वातगदातुरः ।

क्षाम स्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्ध विद्यमुत्र मारुतः ॥

—मा० नि०

धात्री का दुग्ध कभी कभी दो दोषों से और कभी कभी तीनों दोषों से भी दुष्ट हो सकता है। तब दो दोषों से दुष्ट होने पर द्वन्द्वज लक्षण दिखाई देंगे और तीनों दोषों से दुष्ट होने पर सन्निपातज लक्षण दिखाई देंगे।

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ॥

—मा० नि०

अतः इसी बात के साथ जब पित्त भी दूषित होगा तब बालक को पूर्वोक्त लक्षणों के साथ ही पित्त के लक्षण (देखो माधव निदान) भी दिखाई देंगे, यथा—

बालक पसीने से भीगा सा रहे, टट्टियां पतली आने लगें, कामला सा दिखाई दे, प्यास अधिक लगे, शरीर में गर्मी रहती है।

स्विन्नो भिन्न मलोवालः कामला पित्त रोगवान् ।

वृष्णालुरुष्ण सर्वाङ्गः पित्त दुष्टं पयः पिवन् ॥

इसी प्रकार जब वात दोषों के साथ ही कफ भी मिला होगा तब बालक के मुख से लालास्राव होगा, कफ के रोगों से पीड़ित रहेगा, निद्रा में अधिक लीन रहे अर्थात् बहुत सोता रहे, अङ्ग मूढ़ (जकड़े रहें), नेत्रों में सूजन हो तथा दुग्ध का वमन करे।

इसी प्रकार धात्री का दुग्ध यदि तीनों दोषों से दुष्ट होगा तो उस दुग्ध को पीने वाला बालक पूर्वोक्त सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होगा।

यहां धात्री शब्द से अपनी माता का, धाय का जिसका बालक दूध पीता हो अथवा गौ-भैंस आदि पशु का, जिसका बच्चा दूध पीता हो ग्रहण होता है। कृत्रिम दूध सोयाबीन के पाउडर से बनाये दुग्ध भी इनही दोषों से युक्त हो सकते हैं। उनमें से सोयाबीन से बनाये हुए दूध को अधिक पौष्टिक, भारी, स्निग्ध तथा कफकारक होने से

कोमल प्रकृति शिशु प्रायः हजम नहीं कर सकते इसीलिये वह अनेक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं।

निदान—

दुग्धगत दोष किन कारणों से प्रकुपित होते हैं तथा उनके लक्षण आदि का वर्णन चरक ने इस प्रकार किया गया है—

अजीर्ण, असात्म्य, विषम तथा विरुद्ध भोजन करने से लवण, अम्ल, कटु, चार और क्लिप्त पदार्थ सेवन करने से, मन और शरीर के सन्तान से, रात्रि को न सोने से, शोकादि करने से, अप्राप्त वेगों को उदीर्ण करने से, मिठाइयां गुड़ के विकार, कृशरा, दही, मांस, मछली तथा अभिष्यन्द पदार्थ खाने से, दिन को सोने से, मद्य के अत्यन्त सेवन से, व्यायाम के न करने से, चोट आदि के लगने से, क्रोध से तथा अन्य रोगों से पीड़ित होने से दोष प्रकुपित होकर क्षीरवाही स्रोतों में जाकर दुग्ध को दूषित कर देते हैं। वह दोष आठ प्रकार के हो सकते हैं—

(१) वातदोष से—१. विरसता (स्वादरहित), २. फेन संघात (भाग सा इकट्ठा होना) और ३. रुक्षता—यह तीन दोष होते हैं।

(२) पित्तदोष से—४. निर्बलता (रंग का बदलना), ५. दुर्गन्धि—यह दो दोष होते हैं।

(३) कफदोष से—६. स्नेह, ७. पिच्छिलता और ८. गुरुता—यह तीन दोष होते हैं।

रुक्षादि अपने प्रकोपक कारणों से वात प्रकुपित होकर दुग्धाशय में पहुंच कर स्तन्य के रस को दूषित कर देती है अर्थात् दूध विरस हो जाता है। ऐसा दूध पीने से बालक कृश-दुबला पतला हो जाता है—सूख जाता है। उसे दूध स्वादिष्ट नहीं लगता इससे उसकी वृद्धि नहीं होती।

इसी प्रकार वायु प्रकुपित होकर जब स्तन्य को विलोडन कर देती है, तब स्तन्य भागदार हो जाता है जो बालक के चूसने पर भी प्रवृत्त नहीं होता। इससे बालक क्षामस्वर हो जाता है तथा उसके मल मूत्र और वात की प्रवृत्ति नहीं होती। इससे वातिक



शिशुरोगाङ्कः

रोग, सिर के रोग तथा पीनस आदि रोग हो जाते हैं ।

इसी प्रकार प्रकुपित वात स्तन्य में जाकर उसके स्नेहंश को सुखा देती है, फिर इस रूक्ष दुग्ध को पीकर बालक के बल का ह्रास हो जाता है । इस प्रकार शोष रोग की प्रवृत्ति होती है ।

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
लवणाम्लकटुचारप्रविलिन्नानां च सेवनात् ॥
मनःशरीरसन्तापादस्वप्नकृच्छिशि चिन्तनात् ।
प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि मन्दकम् ।
अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यान्पौदकानि च ॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मध्यस्यातिनिषेवणात् ।
अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातंककर्षणैः ॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।
कुयुरष्टविधं भूयः दोषतस्तन्निबोध मे ॥
वैरस्यं फैनसंघातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके ।
पित्ताद्वैरस्यदौर्गन्ध्यं स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥
कफाद्भवति, रूक्षाच्चैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।
क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥
विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत्पिबन् ।
न चास्य स्वेदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।
करोति फैनसंघातं तत्तु कृच्छ्रात्प्रवर्तते ॥
तेन क्षामस्वरो वालो वद्धवियमूत्रमारुतः ।
वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽऽविगच्छति ॥
पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।
रूक्षं तत्पिबतो रौक्ष्यद्वलहासः प्रजायते ॥

२- क्षीरालसक—

घातु के सन्निपात को कुपित करने वाले आहारदि का सेवन करने से तीनों दोष युगपद्वक्षस्थल में पहुँच कर क्षीरवाही रसायनियों का आश्रय ले दुग्ध को भी सन्निपात दोष से दुष्ट कर देते हैं । (इसी प्रकार बोलल सेवी बालकों का दुग्ध भी अनेक दोषों से दुष्ट होता है ।) यदि इस प्रकार के दुष्ट दुग्ध को अज्ञान के कारण, न ध्यान देने के कारण अथवा प्रमाद से धात्री शिशु को पिला देती है, तो बालक को उसके पीने से जल के सदृश पतले

स्वच्छ, फटे हुए, आम (कच्चे), दुर्गन्धित, भागदार, अनेक वर्णों वाले अतिसार होने लगते हैं । उसका मूत्र पीला, श्वेत और गाढ़ा हो जाता है । उसे तृष्णा, ज्वर, छर्दि, जृम्भा, सूखे उद्गार, अरुचि, भ्रम, अङ्ग भङ्ग, अङ्ग विक्षेप (अङ्गों का इधर उधर पटकना) अन्त्रियों में सूजन, आंख-मुख और नाक पक जाय, दृष्टि में उपसव हो तथा स्वरसाद आदि पीड़ायेँ होती हैं । इस रोग का नाम क्षीरालसक कहा गया है—

यदातुपुनर्धातुसन्निपातात्प्रकोपन्नान्यासेवते तदास्या-
ख्यो मला युगपद्वक्षोऽभिप्रपन्नाः क्षीरवहाः रसायनीः
समनुमृत्य संकीर्णं लिङ्गं स्तन्यमावहन्ति । तच्च द्विजानात्
सत्तमप्रत्यवेक्षणात् प्रमादाद्वाभातुः कुमारः पिबति । ततः
सतेन सलिलोपमच्छं विच्छिन्नमामं दुर्गन्धं नानावर्ण-
वेदनं फेनिलमतिसार्यते । पीतश्वेतमूत्रताविष्टम्भतृष्णाज्वर
छर्दि विजृम्भिकाशुष्कोद्गाराखि भ्रमाङ्गविक्षेप कूजन
प्राणाक्षिमुखपाकटण्डु पल्लवस्वरसादादयश्चास्य प्रादुर्भ-
वन्ति । तं क्षीरालसकमत्ययंचाचक्षते ।

स्तन्ये त्रिदोष मलिनं दुर्गन्ध्यामं जलोपमम् ।
विवद्धच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥
शकृन्नानान्यथावर्णं मूत्रं पीतं सितं घनम् ।
ज्वरारोचकटुछर्दि शुष्कोद्गार विजृम्भिकाः ॥
अङ्ग भङ्गोऽङ्ग विक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः ।
प्राणाक्षिमुखपाकाद्याः जायन्तेऽन्येऽपि तांगदम् ॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ।

—अ. ह. ३ अ. २।२० २३

इन लक्षणों से युक्त जिस रोग को आयुर्वेद में क्षीरालसक कहा गया है, उसको पाश्चात्य विज्ञानवादी एक औपसर्गिक रोग (Epidemic diarrhoea in children) मानते हैं । परन्तु निरन्तर अन्वेषण करने पर भी वह अपने जीवाणुवाद की पुष्टि के लिए इसके कारणभूत जीवाणुओं की खोज नहीं कर सके । अर्थात् अभी तक उन्हें यह निश्चय नहीं हुआ कि उस रोग में कौन से जीवाणुओं का संचय अथवा प्रकोप होता है । इसके फलस्वरूप उनका अनुमान है, कि यह रोग किसी एक ही प्रकार (दोष) के जीवाणुओं से नहीं होता, अपितु इसमें अन्त्र मन्थर प्रवाहिका वर्ग के कारक अनेक



जीवाणु (दोष) कारण हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस रोग का द्वितीय प्रधान कारण अस्वच्छ वातावरण माना है। धूलि का अधिक होना, मनुष्यों की भीड़भाड़ तथा दुष्ट दुग्ध का सेवन, दुग्ध का पात्र स्वच्छ न होना आदि अनेक कारण अस्वच्छ वातावरण के ही अंग समझे गये हैं। इस रोग की उत्पत्ति की सम्भावना अधिकतया रजः कणों से ही है पचन कर्म में कुछ भी बिकार होने से (विशेषतया बोटल-सेवी बालकों में) इस रोग के होने की सम्भावना बढ़ जाती है। यह रोग छूत से फैलता है।

It is generally agreed that the disease is caused by infection with microorganisms but in spite of much research the bacteriology is by no means clear. Next in importance as an aetiological factor must be put the influence of unhygienic surroundings such as dirt, overcrowding, a contaminated milk supply and want of cleanliness in feeding utensils. Any digestive derangement in the child may predispose to infection and bottlefed infants are specially liable.

(A text book of the practice of medicine by Frederick W. Price)

३-पारिगमिक रोग—

इसी प्रकार जब शिशु गर्भिणी धात्री (माता, विमाता, गौ अथवा भैंस आदि) का दूध पीता है तो उसे भारी होने के कारण पचा नहीं सकता। इसलिये उसे अग्निमान्द्य हो जाता है, तथा अग्निमान्द्य से होने वाले अनेक रोग कास, वमन, तन्द्रा, अरुचि, भ्रम और कोष्ठ वृद्धि (पेट का बढ़ना) हो जाती है। इन सब कारणों से भोजन पाक न हो कर जब रस रक्तादि धातुयें पूरी तरह नहीं बनती तब कार्य दुबलापन सूखापन हो जाता है। माता के दुग्ध में गर्भ में स्वयं की पूति के कारण समवर्तिक विकार से दुग्ध में पोषक सामग्री की न्यूनता हो जाती है। इसलिये इस अपोषक दूध को पीने से शिशु रोगग्रस्त हो जाता है। इसे पारिगमिक अथवा

परिमवाख्य रोग भी कहते हैं।

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिवन्निपि ।
कायाग्निसाद वमथुतन्द्रा कार्यारुचिभ्रमैः ॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या तमाहुः पारिगमिकम् ।
रोगं परिमवाख्यं च—

—अ. ह. चि.

काश्यप संहिता में भी ऐसा ही कहा गया है कि जिसकी माता गर्भिणी है ऐसे बालक तब अनाथ दुष्ट ग्रहणी रोग वाले और प्रायः अपि भोजन करने वाले बालक फट्ट रोगी होते हैं। अपि के मन्द होने से तथा रस का उत्सर्ग होने से जे मूत्र एवं पुरीष अधिक होता है—

.....मनाथानां विशेषतः ।
प्रदुष्ट ग्रहणीकारच प्रायशो बहुभोजिनः ॥
फट्टाभवन्ति तस्माच्च भुक्तं तेषामपाथकम् ।
मन्दाग्नित्वाद् रसोत्सर्गाद् बहुमूत्रपुरीषिणः ॥

—काश्यप संहिता फट्ट चिकित्साध्याय

४-बाल शोष रोग—

इसी प्रकार दिन में अत्यधिक सोने से, शीतल जल से, कफकारक पदार्थ अथवा कफकारक धात्री का दुग्ध सेवन करने से शिशुओं में कफ वृद्धि हो जाती है, अतएव रसवाहि स्रोतों का अवरोध हो जाता है। स्रोतों के अवरुद्ध होने से शिशु को अपे-चक, प्रतिश्याय, ज्वर और कास हो जाते हैं, बच्चा सूख जाता है, मुख और आंखें स्निग्ध और सफेद हो जाती हैं।

अत्यहःस्वप्नशीताम्बु श्लैष्मिकस्तन्यसेविनः ।
शिशोःकफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु ॥
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्चजायते ।
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्ध शुक्ल मुखेक्षणः ॥

—अ. ह. उत्तर २। ४४-४५

इस प्रकार के बाल शोष को पाश्चात्य लोग Wasting कहते हैं, तथा उनकी दृष्टि में उसके निम्नलिखित कारण हैं—

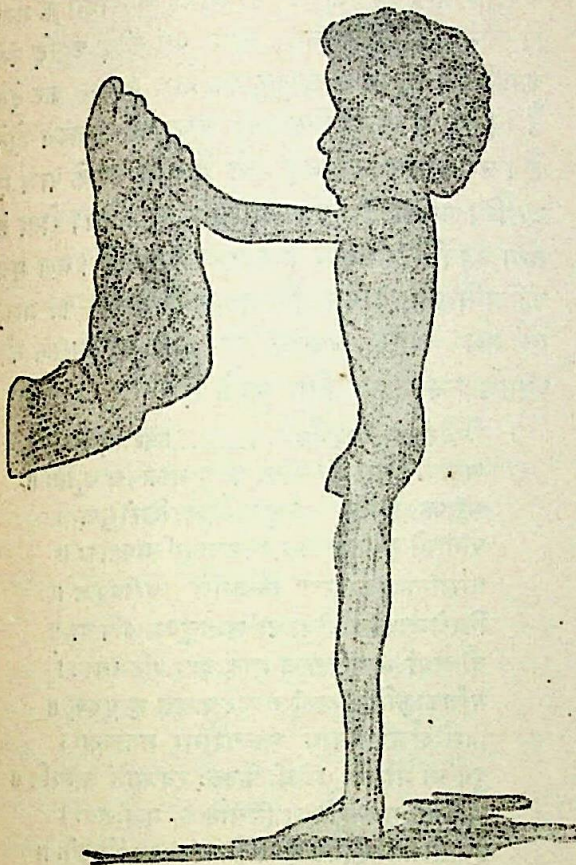
१. कुछ विशेष रोग—यक्ष्मा, सहज फिरंग, चिरकालीन श्वसनक ज्वर, गुप्त पूयोरस अथवा हृदय



शिशुरोगाङ्कः

१८६

का सहज रोग आदि—इनमें कोई भी शोषोत्पत्ति का हेतु हो सकता है।



चित्र नं० ५१

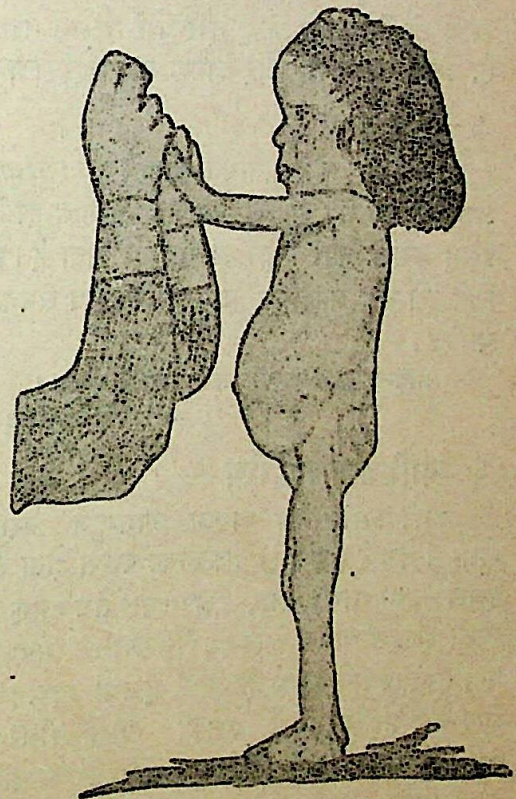
सूखा रोगी—टांगें, हाथ सूखे हुए,
उदर पिचका हुआ

२. अनशन—अल्प मात्रा में पोषक पदार्थ देने के कारण प्रायः शोष रोग देखा जाता है। कभी कभी बालकों की माता या धात्री दुग्ध में पानी मिलाकर उसे पतला करके शिशुओं को पिलाती हैं, जिनके कारण उनका भार कम होने लगता है। कुछ बालक खण्डौष्ठ (Harelip) होने से, दुर्बलता से, अर्दित (Facial paralysis) से या नाक बन्द हो जाने से पूरी पूरी मात्रा में स्तनों से दुग्ध का चूषण न कर सकने से अपोषित हो जाते हैं। स्तनों का मुख छोटा होने से भी बालक

को दुग्ध पूरी मात्रा में नहीं मिलता।

३. अर्द्ध प्रगल्भता (Prematurity)—अर्द्ध प्रगल्भ बालक बहुधा दुर्बल होते हैं। दूसरे समवर्त के लिए इन्हें शारीरिक ताप स्थिर करने के लिये अधिक भोजन लेना पड़ता है, जिससे शारीरिक वृद्धि के निमित्त बहुत कम भोजन रह जाता है तथा यह न तो अधिक भोजन पचा सकते हैं और न ही उसका सात्त्विकीकरण कर सकते हैं।

४. आहार का मिथ्या योग—मात्रा की दृष्टि से अत्यल्प अथवा अल्पशक्ति का आहार देना, अथवा अत्यधिक बलप्रद अधिक भोजन देना, अथवा ऐसा भोजन देना जिससे एक तत्व अत्यधिक हो और दूसरे तत्व अत्यल्प हों, अथवा बालक एक वस्तु को



चित्र नं० ५२

सूखा रोगी—टांगें तथा निम्न सूजकर पतले हो गये हैं, लेकिन उदर बड़ा हुआ है।



ठीक पचा ले तथा दूसरी वस्तु को ठीक न पचा सके जैसे कोई बालक सहज बिकारों के कारण स्नेहान्श को पचाने में समर्थ नहीं होते।

५. अजीर्ण—यह अधिकतर रोगियों में मिलता है। अजीर्ण, ग्रीष्मकालीन अतिसार में प्रगट होकर जीर्ण हो सकता है। यह सभी भोजन के अयोग, अल्पयोग, अतियोग अथवा मिथ्या योग के परिणामस्वरूप होता है। अजीर्ण के साथ अन्य संक्रमण हो जाने पर हरे रंग के दस्त आने लगते हैं, जो शीघ्र रोग को उत्पन्न करने में सहायता करते हैं।

६. स्वाभाविक (Iliopathic)—यह एक ऐसा कारण है जो अज्ञात है। इसमें समवर्त के विकृत होने से अथवा किसी प्रणालीविहीन ग्रन्थि के स्राव की विकृति से शिशु धीरे धीरे सूखने लगता है, उसके सूखने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता।

५-शुष्क रेवती—

इन रोगों के अतिरिक्त शुष्क रेवती (Marasmus) रोग भी बालकों को सुखाने वाला ही है। इसमें क्रमशः सारे अङ्गों का क्षय हो जाता है। इस लिये इसे भी बालशोष का ही एक रूप समझना चाहिये।

जायन्ते शुष्क रेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्गं संचयः।

—सं० ह० उत्तर ३।२६

६-व्याधिज फक्क रोग—

कभी कभी निज अथवा आगन्तुज ज्वरादि रोगों से बेचारे (अनाथ) बालकों को क्लेश होता है। इससे उनका मांस, रक्त, बल तथा तेज क्षीण हो जाता है। इस बालक के स्फिक् (नितम्ब-Buttocks) बाहु तथा जंघायें शुष्क हो जाती हैं तथा उदर, सिर मुख बड़े हो जाते हैं, उसकी आंखें पीली हो जाती हैं, अङ्गहर्ष (रोग हर्ष) युक्त होता है तथा शरीर केवल अस्थियों का पञ्जर (ढाँचा) ही दिखाई देता है उसके शरीर का निचला भाग (अधर काय) म्लान दिखाई देता है। उसका मल मूत्र सदा निकलता रहता है। उसका निचला भाग निश्चेष्ट (Para-

lysed) हो जाता है, तथा वह हाथों और भुजाओं के बल चलता है। दुर्बलता के कारण उसकी चेष्टायें मन्द हो जाती हैं, तथा चेष्टाओं के मन्द हो जाने से मक्खियां, कृमि एवं कीड़े आदि उसे आक्रांत करके शीघ्र मृत्युकारक रोग उत्पन्न कर देते हैं। शिशु के रोम विशीर्ण, हृष्ट और स्तब्ध होते हैं। उसके नख बड़े बड़े होते हैं तथा उसके पास से दुर्गन्धि आती है। वह मलिन तथा क्रोधी होता है तथा वह विशेष प्रकार से श्वास लेता है। मल मूत्र की अधिकता, दूषित सिंघाणक (नासिका का मल) एवं मल आदि लक्षणों को देख कर बालक को व्याधिजन्य फक्क रोग कहते हैं।

निजैरागन्तुभिश्चैवज्वरादिभिः।

अनाथः क्लेशयते बालः क्षीण मांसबल युक्तिः॥

संशुष्क स्फिक् बाहूरुर्महोदरशिरोमुखः।

पीताक्षो हर्षितांगश्च दृश्यमानास्थिपञ्जरः॥

प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्र पुरीषकृत।

निश्चेष्टाधरकायोवा पाणिजानुगमोऽपि वा॥

दौर्बल्यां मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतकः।

मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासन्न मृत्युर्युक्॥

विशीर्ण हृष्टरोमाश्च स्तब्धरोमा महानखः।

दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति॥

अतिविण्मूत्र दूषिका सिंघाणक मलोद्भवः।

इत्येतैः कारणैर्विद्याद्व्याधिजां फक्कतां शिशोः॥

—काश्यप संहिता फक्क चिकित्साधिका

इस प्रकार शोषी बालक के रोग के लक्षण देखकर किसी भी पूर्वोक्त अवस्थाओं (लक्षण समूहों) में से किसी अवस्था के साथ मिलाकर निश्चय कर सकते हैं कि यह रोग की कौन सी अवस्था है।

और भी देखिये—

शोष रोग और राजयक्ष्मा का आयुर्वेद में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। ज्वर कासादि से युक्त बालक की चिकित्सा राजयक्ष्मावत् करें और केवल शुष्क की शोषवत्। केवल उन योगों को मात्रा अल्प होनी चाहिए जैसे कहा भी है—दोष दूष्य मल तथा व्याधियां जो बड़ों में

कही हैं वह सब बालकों में भी होती हैं, केवल मात्र शोधी होती है ।

दोषदूष्यमलाश्चैव सहताव्याधयश्चये ।
त एव सर्वे बालानां मात्रास्वल्पतरामता ॥
निवृत्तिर्मादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ।
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित् ॥
भेषजं स्वल्प मात्रं तु यथा व्याधि प्रयोजयेत् ॥

—च. चि. ३०

बाल शोष की इन अनेक अवस्थाओं को कहने पर भी कई अवस्थायें शोष रह गई होंगी। यथा दन्त निकलते समय ज्वर, अतिसारादि आदि। यदि ठीक न हो तो बिगड़ कर यही बालशोष का रूप धारण कर सकते हैं। अतः पाठक इन अवस्थाओं के वर्णन को संकेत मात्र जानकर शोष अवस्थाओं का स्वयं अनुभव करें और देखें कि आयुर्वेद में बालशोष का कितना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

बाल शोष की चिकित्सा—

मेरे विचार में इस सम्पूर्ण वर्णन तथा और भी जिसका आप अनुभव करेंगे, उसका निष्कर्ष यही निकलेगा कि शोष का कारण प्रकृपित वात है और वात के प्रकोप का कारण धातुओं का क्षय अथवा मार्गों का अवरोध है। धातुओं का क्षय अथवा मार्गों का अवरोध बालक में अजीर्ण से ही हो सकता है। दुग्धपायी शिशु में धात्री के दुग्ध का ही अजीर्ण हो सकता है। अन्नाशी बालकों में अन्न का और क्षीरान्नाशी बालकों में दोनों का। इस प्रकार एक सिद्धांत का निश्चय कर लेने से चिकित्सा में अत्यन्त सरलता हो जाती है। किसी रोग विशेष के नाम के ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहती। चाहे इस अवस्था को हम बालशोष कहें, फक्क, पारिगर्भिक अथवा क्षीरलसक कहें। चिकित्सा हमारी बालक के अजीर्ण को नाश करने की ही होनी चाहिए। इस चिकित्सा के दो विभाग किये जा सकते हैं—

१—पहले भाग में—क्षीराशी बालक की धात्री

की चिकित्सा और ।

२—दूसरे भाग में स्वयं बालक की चिकित्सा ।

धात्री की चिकित्सा के भी दो प्रकार हैं—

१—धात्री के दुग्ध की परीक्षा की जाय, और जो दोष उसमें दिखाई दें, उसको दूर करने का उपाय किया जाये। दुग्ध की परीक्षा का प्रकार तथा दोषानुसार उसकी चिकित्सा विस्तारभय से यहां नहीं दी जाती है। चरक सुश्रुत तथा अष्टांग हृदय में विस्तार पूर्वक देखें—

२—धात्री का दुग्ध दूषित होने के कारण छुड़वा दिया जाये और दूसरी शुद्ध दुग्ध वाली धात्री (गौ अथवा बकरी) का प्रबन्ध किया जाए।

बालक की चिकित्सा के भी दो भेद हैं—

१—अन्तः प्रयोगार्थ—

(१) क्वाथ, चूर्ण आदि यदि बालक स्वयं न ले सके तो धात्री को दी जायें अथवा उसके स्तनों पर लेप कर बालक को दूध पिलावें।

(२) सूक्ष्म औषधियां मधु आदि में मिलाकर सब बालकों को दी जा सकती हैं। यथा—स्वर्ण भस्म मधु अथवा मधु घृत (विषम मात्रा में मिला कर) अथवा मधु, मक्खन से प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म, मुक्ता शुक्ति भस्म, स्वर्ण मालती बसन्त, लोह भस्म, कुमारकल्याण रस आदि सब श्रेष्ठ अजीर्ण नाशक, बल मांसबद्धक औषधियां हैं। इसमें कुछ खटिक (*Calcium*) भी हैं।

(३) यदि बालक स्वयं औषधि न ले सके तो कुमारकल्याण घृत, च्यवनप्राश आदि दूध में मिला कर दे सकते हैं। (हम च्यवनप्राश को दूध में घोल कर प्रयोग करते हैं, इससे इसका शीघ्र ही पाचन हो जाता है।)

(४) यदि बालक गोलियों का सेवन कर सके तो—

१. चने की दाल में गूलर के दूध की एक अथवा तीन भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनाकर गंधी के दूध से दें। रोगी अवश्य ठीक हो जायेगा।



(२) इसके अतिरिक्त केकड़े का सूक्ष्म चूर्ण, कछुए की खोपड़ी की काली भस्म भी बहुत उपयोगी है।

(३) कृष्णाश्रक भस्म गंधी के दूध से अनेक बार पुट दी हुई भी अवश्य लाभ करती है।

२-बाह्य प्रयोगार्थ—

बालक के शरीर पर नारायण तैल, महानारायण तैल, बला तैल, शतावरी तैल, लाक्षादि तैल, अथवा महालाक्षादि तैल का अभ्यङ्गार्थ अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

बाजरा घी में जलाकर घी को निथार कर उस घी की मालिश बालक की पीठ पर करें।

हमारा निश्चय है कि यदि आप किसी बालक को अन्तः प्रयोगार्थ कोई औषधि न देकर केवल महालाक्षादि तैल का अभ्यङ्ग करवाते हैं तो भी बालक थोड़े ही दिनों में अवश्य रोगमुक्त होकर सर्वथा स्वस्थ हो जायेगा। यह निश्चय हमारे अनुभव के आधार पर है तथा शास्त्र सम्मत भी है।

—कविराज श्री बंसरीलाल साहनी आयुर्वेदाचार्य,
५२६ बीडनपुरा, करौलबाग, नई दिल्ली

बालशोष बनाम फक्क उपचार

कविराज श्री डा० शिवपूजनसिंह जी कुशवाहा 'पथिक' बी. ए. एच. एन. डी. एस.

फक्करोग सूखा रोग के अन्तर्गत ही आ जाता है। इसके अन्य नाम सुखण्डी, फक्क, गात्रशोष, बालशोष भी हैं। किसी किसी ने 'अस्थिमृदुता' नाम भी लिखा है। आंग्ल भाषा में इसे Rickets, Tetany, Wasting, Osteomalacia कहते हैं।

कारण—

बच्चों को यह रोग श्रमिक वर्ग तथा मध्यमवर्ग के शिशुओं में विशेष पाया जाता है। तीन वर्ष तक इस रोग के होने की संभावना रहती है। कभी कभी बड़ी आयु के बच्चे भी इस रोग से ग्रसित हो जाते हैं।

आधुनिक दृष्टि से जीवति (विटामिन) क और ख की कमी, जो शुद्ध दुग्ध व मक्खन के अभाव में मिलती है इसका स्पष्ट कारण है।

अन्य कारण—(क) गर्भवती माताओं को उपयुक्त रूप से आहार न मिलना और यदि मिल भी जावे तो उसमें पौष्टिक तत्वों का अभाव होना। गर्भकाल में माता के लिये कैल्शियम की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

(ख) प्रसवोपरांत पौष्टिक पदार्थों का न मिलना—प्राचीनकाल में प्रसव के पश्चात् प्रसूता को १०-१२ सेर शुद्ध घृत अन्य पौष्टिक पदार्थों के साथ खिलाया जाता था जिससे उसकी निर्बलता दूर होकर पुनः शरीर में शक्ति आ जाती थी। पौष्टिक पदार्थों के न सेवन करने से अथवा असमर्थ होने से माता का दूध भी पौष्टिक नहीं होता अतः शिशु का विकास रुक जाता है।

(ग) अत्यन्त छोटी आयु में अन्न का सेवन कराना। जब शिशु के दन्तोद्भव का समय होता है तो उनके मसूढ़ों में खुजली सी ज्ञात होती है। उस खुजली को दूर करने के लिये शिशु खिलौनों को लेकर चवाने लगता है। अशिक्षित मातायें जब यह देखती हैं तो रोटी के किनारे को चूसने के लिए पकड़ा देती हैं। प्रारम्भ में तो शिशु केवल चूसता रहता है। परन्तु धीरे धीरे खाने लगता है। वह अन्न शिशु के पेट में जाकर अजीर्ण उत्पन्न कर देता है जिससे उसे हरे पीले मल आने लगते हैं। ज्वर, खांसी का प्रकोप हो जाता है, शिशु प्रतिदिन सूखने लगता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि बच्चों का १ वर्ष तक भोजन केवल दुग्धपान ही रहना चाहिये।

दुग्धाशी वर्षं पर्यन्तं स्यात् । —भाव प्रकाश
यावत् पिबति पयम् (तावत्स बालकः) क्षीरपः ।

—काश्यप संहिता

पहले छः मास माता का दूध शिशुओं को पिलाने से उसकी वृद्धि भलीभांति होती है।

मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहं वृद्धये ।

—वाग्भट

छः महीने पश्चात् अधिक से अधिक १ वर्ष तक शिशु को गोदुग्ध देने से सूखा होने का प्रायः भय नहीं रहता है।

सम्प्रति बहुत शिशुओं को माता का दूध नहीं मिलता है या अत्यल्प मिलता है (अक्षीरा जननी-काश्यप संहिता), (अल्पक्षीरा जननी-काश्यप संहिता) माता के खानपान-और जलवायु में होने वाले परिवर्तन और जन्तुओं का संसर्ग आदि कारणों से शिशुओं में कृशता दृष्टिगोचर होती है। निर्बलता बढ़ने से बच्चे पंगु बन जाते हैं।

तीन कारण प्रमुख लिखे हैं—

क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधि संभवम् ।

फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम्.....

—काश्यप संहिता

अर्थात् क्षीरज, गर्भज, व्याधिज तीन फक्कत्व कहे जाते हैं।

क्षीरज-शिशु को प्रथम वर्ष में माता का, गौदूध पौष्टिक रहता है परन्तु वही दूध पूर्व से ही दूषित रहा तो शिशु शक्तिशाली के बदले निर्बल होता है।

जिस माता का दूध कफ दुष्ट है उसे 'फक्क दुग्धाः' कहा है।

धात्री श्लेष्मिक दुग्धात् फक्क दुग्धेति संज्ञिता ।

तत्क्षीरपो बहुव्याधिः कार्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥

—काश्यप संहिता

कफकारक दुग्धपान से अग्निमांश उत्पन्न होकर कफ स्थान में—वक्षस्थल, गला, श्वास, नाड़ी प्रभृति

स्थानों में कफ समाविष्ट होकर बच्चा कृश होने लगता है।

माता को उसके बलानुसार तीक्ष्ण विरेचन देकर दशमूलों का उपयोग करना चाहिये और लघु आहार देना चाहिये।

गर्भज—

गर्भिणी मातृकः क्षिप्रं स्तन्यस्य विनिवर्तनात् ।

क्षीयते म्रियते वाऽपि सफक्को गर्भं पीडितः ॥

—काश्यप संहिता

गर्भिणी माता का बदला हुआ दूषित दूध पी कर उस पर ही रहने का प्रसङ्ग शिशु पर आने से वह धीरे धीरे क्षीण होकर अन्त में काल के गाल में चला जाता है।

गर्भ धारण होने से स्तन्य में परिवर्तन होता है और गर्भिणी स्तन्य से बच्चे का पोषण भली-भांति नहीं होता। नैसर्गिक रूप से छः मास में मातृस्तन्य का प्रमाण भी बहुत कम होने लगता है। शिशु स्तन्यपान को न पाकर स्तनपान के लिए हठ करता है। अनशन से शिशु को अग्निमांश हो जाता है। यकृत खराब हो जाता है।

यह माता पिता का दोष है कि शिशु के दुग्धपान काल में मैथुन करते हैं। जब तक शिशु दुग्धपान करता है तब तक माता-पिता को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। शत-प्रतिशत शिशुओं को सूखा रोग होने का प्रमुख कारण यही है। मैथुनोपरांत शीघ्र दुग्धपान से शिशु को अग्निमांश, वमन, दस्त हो जाते हैं।

गर्भकाल से शिशु के दुग्धपान तक लगभग २½ वर्ष तक माता पिता को मैथुन से बचाना अनिवार्य है। अन्यथा शिशु को सूखारोग होने का भय अवश्य रहेगा।

व्याधिज—ग्रहणी, पांडु, यकृत वृद्धि, अनुलोम क्षय, मलेरिया (विषम ज्वर), जातज फिरङ्ग (आतशक) प्रभृति रोगों की क्षीणता के कारण बाद में सूखा रोग होजाता है।

लक्षण—

सूखारोग में नितम्ब के मांस प्रदेश पर सलबट पड़ना, हाथ-पैरों की दुर्बलता, वक्षस्थल का दब जाना और पेट का उभार व उस पर नसों का दीखना, हरे-पीले दस्तों का बार बार होना, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, दांतों का ठीक समय पर न निकलना, अस्थियों में वक्रता ज्ञात होना, चलने फिरने की शक्ति डेढ़ वर्ष तक होने पर भी न होना। शिशु की आंखें चिकनी तथा श्वेत हो जाती हैं।

इस रोग में अस्थि विकृति अधिक रहती है। इस समय अग्निमांश, मांसधातु क्षीणता, अस्थि धातु की कम बाढ़ और अस्थियों की टेढ़ी-मेढ़ी वृद्धि होती है। इससे शिशु अधिक क्षीण होता है।

मांस धातु, उरुभाग और बाह्य क्षीण होने के कारण वह भाग सूखा हुआ दिखाई देता है।

यकृत प्लीहा वृद्धि होकर और मांसधातु शैथिल्य से उदर भाग बहुत बड़ा दिखाई देता है। शिर भी बड़ा दिखाई पड़ने लगता है। शरीर कृश होकर अस्थियों का पिंडवा दिखाई देता है।

पाचकाग्नि में बिगाड़ होकर ग्रहणी विकार के लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

प्रचलित चिकित्सा—

झाड़ना फूंकना, इस क्रिया पर मेरा विश्वास नहीं है। झाड़ फूंक से सूखा रोग दूर नहीं हो सकता है। मेरुदण्ड की अस्थि की मालिश औषधोपचार आदि लाभकारी हैं।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

(१) 'भैषज्यरत्नावली' में लिखा है कि—“लाल कमल के फूल, खस, केशर या गम्भीराफल, नील कमल, मजीठ, छोटी इलायची, खरैटी, जटामांसी मोथा, अनन्तमूल, हर्, बहेड़ा, आमला, बच, कचूर, निशोथकाली, नील-पंचांग, परवल का पत्ता, पित्त-

पापड़ा, अर्जुन की छाल, मुलेठी, महुए के फूल, मुरामांसी प्रत्येक का चूर्ण ४-४ तोला। और मुनक्का, १ सेर तथा धाय के फूल ६४ तोला का भी चूर्ण बनालें।

चिकनी मिट्टी के पात्र में २५॥ सेर ८ तोला जल डालकर उसमें ५ सेर उत्तम चीनी और शहद २॥ सेर डालकर घोल दें। पुनः पात्र का मुख बन्द कर एक मास तक रखा रहने दें। पुनः प्रयोग में लावें।

मात्रा व अनुपान—बच्चों को २ से ४ मांशे तक और बड़ों को १ से १॥ तोले तक बराबर जल के साथ देना चाहिए।

गुण—यह सुखण्डी की सर्वोत्तम औषधि है।

(२) असगंध चूर्ण ६ रत्ती गरम जल से दें।

(३) शंखभस्म ३ भाग, प्रवाल भस्म १ भाग, शुक्तिभस्म २ भाग, कौडी भस्म ४ भाग, गोदन्ती भस्म ६ भाग। इनको एकत्र नींबू के स्वरस में खरल कर रखें। २ से ८ रत्ती तक माता को प्रातः व सायं दूध से दें।

(४) शुद्ध गन्धक १ तोला, यशद भस्म ३ तोला, गोदन्ती भस्म ८ तोला, रस सिंदूर १ तोला, गोरोचन १ तोला—एकत्र खरल कर शीशी में रखें। मात्रा—२ से ४ रत्ती मधु के साथ दें।

(५) शंख भस्म ४ तोला को २० तोला जल में रात्रि में भिगो दिया जाय। प्रातःकाल उसको नितार लिया जाय। उस जल में ३२ तोला मिश्री डालकर पका लिया जाय। शर्बत या शहद के समान होने पर शीशी में डाल दिया जाय। यह शर्बत १ तोला, शंख भस्म १ रत्ती, गोदन्ती भस्म १ रत्ती मिलाकर प्रातः सायं चटा दिया जाय।

लाक्षादि तैल अभ्यङ्ग भी लाभप्रद है।

(६) यकृत ठीक करने के लिए 'गौमूत्र' सर्वोत्तम औषधि है। यह सहायक औषधि के रूप में करना चाहिये। एक वर्ष से कम आयु के शिशु को गौमूत्र नहीं देना चाहिये। १ से ४ वर्ष तक की आयु के शिशु को ६ माशा से लेकर १



आँस तक शुद्ध वस्त्र से छाना हुआ गोमूत्र समान भाग जल में मिश्रण करके देना चाहिये। दिन में तीन बार से अधिक नहीं देना चाहिए। गोमूत्र सेवन काल में अन्न का त्याग करके केवल गो दुग्ध तथा फलों का ही सेवन करना चाहिए।

(७) नरकचूर का चूर्ण २-२ रत्ती मात्रा में दूध में घोटकर देना चाहिये।

(८) स्वच्छ 'खूबकला' १ तोला के दानों को एक श्वेत कपड़े में डालकर ढीली सी पोटली बनालें। किसी स्वस्थ बकरी के एक सेर दूध में दोलायन्त्र विधि से मन्द मन्द आंच पर पकावें। जब दूध शुष्क होने पर आंच तो पोटली निकाल लें। पोटली खोलने पर 'खूबकला' के दाने खूब फूले हुये मिलेंगे। अब इन्हें शुद्ध पानी से धो डालें। पश्चात् खरल में डालकर महीन पीस डालें और सूख जाने पर शीशी में डालकर रख छोड़ें। १-१ रत्ती की मात्रा से दिन में ३ बार अर्क गाजवान या माता के शुद्ध दूध को मिलाकर दें।

(९) अष्टांग संप्रह—(उत्तर अ० २) में वर्णित थिरादि घृत पिलावें।

(१०) कटि और पैर सूखने से 'नारायण तैल' लगाकर धीरे धीरे मलकर निर्गुण्डी के पानी में अबगाहन स्वेद कटिभाग को देने से शीघ्र ही बच्चे सुधरते हैं।

'शंख पुष्पी तैल' भी शरीर में मालिश करें।

(११) मकोय काली, पान का पत्ता, काकमाची प्रत्येक समभाग का स्वरस निकालकर शहद में मिलाकर तीन सप्ताह तक मेरुदण्ड के ऊपर मालिश करनी चाहिये।

(१२) सफेद मुर्गी के अण्डे को तोड़ कर एक पत्ते पर उसके भीतर का पदार्थ रख कर कम्बल पर रखें और उसी पर शिशु को बैठा दें। यदि सूखा रोग होगा तो गुदा मार्ग से वह अंडा के भीतर का जल पेट में चला जायगा। इसी प्रकार एक सप्ताह तक करने से शिशु एकदम स्वस्थ हो जायगा।

होमियोपैथिक चिकित्सा—

[१] एन्टोटेनम ३०—शिशु का सारा शरीर सूख जाय, लेकिन पैर का सूखना ही अधिक दिखाई पड़े इसे देने से जादू के समान असर करता है।

[२] कलकेरिया आर्श (Calcaria Arsenicum) ३०—शिशुओं के यकृत और लीहा बढ़ने पर यह लाभदायक है।

[३] कई डाक्टरों का सिद्धांत है कि पहले "सलफर ३०" इसके बाद "कलकेरिया कार्ब" ३० इस रोग की उत्कृष्ट औषधियां हैं।

[४] आर्सेनिक ६ या आर्सेनिक-आयोड २×—शिशु के भलीभांति पोषण नहोने के कारण रिकेट होने पर देना चाहिए।

[५] फासफोरस ३०, साइलिया ६, एसिड-फास ६ ये भी कभी कभी लाभ पहुंचाते हैं।
वायोकेमिक चिकित्सा—

[१] कलकेरिया फास्फोरिकम ६×—यह इस रोग की प्रधान औषधि है। इससे मेरुदण्ड की वक्रता और ग्रीवा की शक्तिहीनता दूर होकर स्वाभाविक दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

[२] नेट्रम फास्फोरिकम ६×—खाद्य पदार्थ के ठीक से न पचने के कारण रोग होने पर यही प्रधान औषधि है। परन्तु इसके साथ "कलकेरिया फासफोरिकम" पर्यायक्रम से बीच बीच में २।१ मात्रा करके व्यवहार करना चाहिए।

[३] साइलिसिया ६×—रोगी के मस्तक में अधिक परिमाण में पसीना और उदरामय के मल में अधिक दुर्गन्ध रहने पर यह उपयोगी है।

एलोपैथिक चिकित्सा—

सूचीभेद—

[१] हेपर १२ड्यु मैक्स कम्पनी का बना हुआ सर्वोत्तम औषधि है। नितम्ब पर इन्जेक्शन लगाना चाहिए (यदि इन्जेक्शन के साथ "ओस्टो कैलशि-



यम" (*Osto-calcuim*) ग्लाक्सो कम्पनी का बना हुआ मिलाकर लगावें तो जाडू के समान काम करता है। १ सी.सी. हेपर + १ सी.सी. ओस्टो कैल्शियम = कुल २ सी. सी. का नितम्ब पर सूचिका-भेदन करें।

वास्तव में एलोपैथिक में 'लिबर एक्सट्रैक्ट वीथ विटामिन बी कम्प्लेक्स' ही इस रोग की सर्वोत्तम औषधि मानी गई है।

[२] कैल्शियम ग्लुकोनेट = बूट्स द्वारा निर्मित।

[३] कैल्शियम सैण्डोज = सैण्डोज द्वारा निर्मित।

[४] फौलाड कैल्शियम विट विटामिन डी = अल्टा द्वारा निर्मित।

[५] कैल्सिमा डी-सीपला द्वारा निर्मित।

औषधियां—

बाह्य प्रयोग व मुख द्वारा सेवन के लिए—

[१] 'लाल तैल' की मालिश शरीर में करानी चाहिए।

[२] कोलायडल कैल्शियम विट विटामिन डी १ ग्राम दिन में तीन बार पीना चाहिए। (बंगाल कैमिकल कम्पनी द्वारा निर्मित।)

[३] मिनोलैड (*Minolad*)—१-२ छोटी चम्मच दिन में ३ बार। यह टी. सी. एफ. का बना है।

[४] कैला ग्लुकोल 'डी' = १-२ गोली २ बार प्रतिदिन। यू. डी. एच. द्वारा निर्मित है।

[५] कैल्फोसोन डी (*Calfosron D-Di-calcium Phosphate with Vitamin D and Iron*) लिली द्वारा निर्मित।

[६] कैल्सियम 'डी' रिडोक्सन टेबलेट = रोची कम्पनी द्वारा निर्मित।

[७] नेविटालमाल्ट कम्पाउण्ड (पेय) = स्क्वीव द्वारा निर्मित।

[८] डाइकैल्शियम फास विथ विटामिन डी (मुख) = पी. डी. कम्पनी द्वारा निर्मित।

[९] एडवाइट (द्रव) — ५ से १० बूंद तक = एलेम्बिक कम्पनी द्वारा निर्मित।

मैंने इस निबन्ध में आयुर्वेदिक, होमियो, बायोकेमिक और एलोपैथिक पद्धति से उपयुक्त विवेचन किया है।

—कविराज श्री डा० शिवपूजनसिंह कुशवाहा
'पथिक' बी. ए. एच. एम. डी. एस.
कानपुर

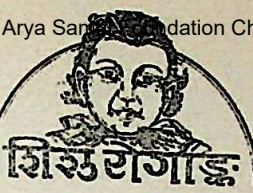
सूखा रोग

श्री डा० बलवीरदत्त शास्त्री बी० आई० एम० एस० आयुर्वेदाचार्य



पर्याय—सूखा, सूखिया, मसाल, बालशोष, पारिगर्भिक, शोष, मैरस्मस (*Marasmus*)। यह एक प्रसिद्ध बहुव्यापक रोग है। शोष की प्रकृति बच्चों में प्रायः होती है। कोई भी प्रबल व्याधि हो जाने पर बालकों की जीवनीय शक्ति (*Vitality*) सत्वर कम हो जाती है। फिर धातु परिपोषण सम्यक् नहीं होता। इस हेतु से यकृत आदि इन्द्रियां सबल नहीं बन पातीं। फिर दूध या भोजन का पाचन योग्य नहीं होता। रसोत्पत्ति लगभग बन्द हो जाती है

बालक दिन प्रतिदिन सूखता जाता है। इसे ही बालशोष कहते हैं। इस अवस्था में शुष्क निस्तेज मुख मण्डल, म्लानदेह, दुर्बल हाथ-पैर, उदर वृद्धि, नितम्ब पर सलबट पड़ जाना, सारे दिन रोना करना, अग्निमांघ, अरुचि, अपचन और मलाशय रोध आदि लक्षण उपस्थित होते हैं, मलमूत्र दुर्गन्ध युक्त हो जाते हैं तथा मल में आम प्रवृत्ति होती है, तालु बैठ जाता है मन्द ज्वर रहने लगता है, कभी दस्त और कभी वमन हुआ करते हैं, कभी कभी



शिशुरोगाङ्क

तो दस्त इतने हो जाते हैं कि २४ घण्टों में ही बच्चा सूखकर कांटा हो जाता है, आंखें धंस जाती हैं। जलीयांश निकलने से त्वचा में स्थिति स्थापकता प्रकट हो जाती है, शरीर का वजन आधे से भी कम हो रह जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सूखा रोग को उत्पन्न करने वाला एक कृमि विशेष होता है। इस कृमि के कारण यह रोग हुआ है यह जानने का एक उपाय है कि जमीन में एक छोटा सा गड्ढा बनाकर उसमें मुर्गी का अण्डा तोड़ कर रख दें और उस रोगी बच्चे को उस पर इस प्रकार बैठें कि गुदा उस गड्ढे पर रहे। यदि बालक को बालशोष कृमिजनित होगा तो अण्डा गुदद्वार द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो जावेगा और कृमिजनित रोग नहीं होगा तो अण्डा गुदा में प्रवेश नहीं करेगा।

पहचान के साथ-साथ यही इस कृमिजनित शोष की औषध भी है अर्थात् ८ दिन तक प्रतिदिन १-१ अण्डा रोगी को गुदा में जाता रहेगा और बच्चा कृमि मरने से स्वस्थ होता जायगा।

कुछ विद्वान् इस रोग को संसर्गज भी मानते हैं अर्थात् यह रोग लगने वाला है। सूखा रोग से पीड़ित बच्चे के संसर्ग से अच्छे बच्चे को यह रोग लग जाता है। ग्रामीण जनता में ऐसा अधिक विश्वास किया जाता है। उनका विचार है कि यह रोग माता को होता है। आगे उनके होने वाले गर्भ में ही यह रोग लग जाता है। ऐसी माताओं के बच्चे या तो गर्भ में ही समाप्त हो जाते हैं यदि उत्पन्न भी हो गये तो कुछ दिन जीवित रह कर मर जाते हैं। उनको किसी को दस्त लगते हैं तो किसी को बमन होकर दूध ही पचन नहीं होता। किसी-किसी बच्चे का मृत्यु से पूर्व शारीरिक वर्ण परिवर्तन होता है। कभी नीला तो कभी पीला या लाल या या सफेद हो जाता है और बच्चा काल कवलित हो जाता है। ऐसी बहुत सी मातायें हैं जिन्होंने अपने आठ-आठ, नौ-नौ बच्चों को उत्पन्न करके कुछ ही

दिन मुंह देखे हैं।

इस प्रकार की माताओं के दुग्ध में भी ऐसा विष उत्पन्न हो जाता है कि वह यदि किसी दूसरी माता के बच्चे को अपना स्तन पिला दें या उसके शरीर पर कहीं भी अपने स्तन का दुग्ध डाल दें तो बच्चा इस रोग का शिकार बनकर गलने व सूखने लग जाता है। इस प्रकार की माताओं का गर्भावस्था से ही उपचार किया जाता है जिससे गर्भस्थ शिशु को बनाने वाला रस रक्त औषधि युक्त होता रहे और बच्चे में रोग का आक्रमण न हो सके। माता के खानपान तथा रहन-सहन का पथ्य किया जाता है और गर्भावस्था में ही 'मसाण बटी' खिलाई जाती है। शिशु जन्म के उपरान्त भी माता तथा शिशु दोनों ही उस बटी का प्रयोग करते रहते हैं। ऐसा उपचार करने से मेरे पूज्यपाद पिता जी को सैकड़ों बच्चों के जीवित रहने का श्रेय प्राप्त हो चुका है।

गर्भावस्था से चलने के कारण ही इस रोग को पारिर्गमिक शोष संज्ञा प्राप्त हुई है।

भारतवर्ष में इस रोग की उत्पत्ति का कारण मुख्यतः इस देश का निर्धन होना है। कितनी ही माताएँ पूर्ण भोजन भी प्राप्त नहीं कर पातीं, घी दूध की तो कहानी क्या? जिससे वे निर्बल और कृश ही गर्भ धारण कर लेती हैं और गर्भावस्था में कोई न कोई बीमारी आ घेरती है जिससे गर्भ का समुचित विकास ही नहीं हो पाता। शिशु जन्म के समय निर्बल व कृश ही रहता है फिर माता की कृशता व निर्बलता के हेतु शिशु का योग्य पोषण और संवर्धन हो उतने परिमाण में दूध (स्तन्य) की प्राप्ति ही नहीं होती। जो थोड़ा बहुत दूध आता भी है वह भी पौष्टिक नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह रोग बच्चों को प्राप्त ही होता है।

कारण—

शोष रोग की हम दो भागों में कल्पना करते हैं—



१—दो वर्ष से छोटे बालकों में शोष

२—दो वर्ष से बड़े बालकों में शोष

दो वर्ष से छोटे बालकों में शोष के कारण—

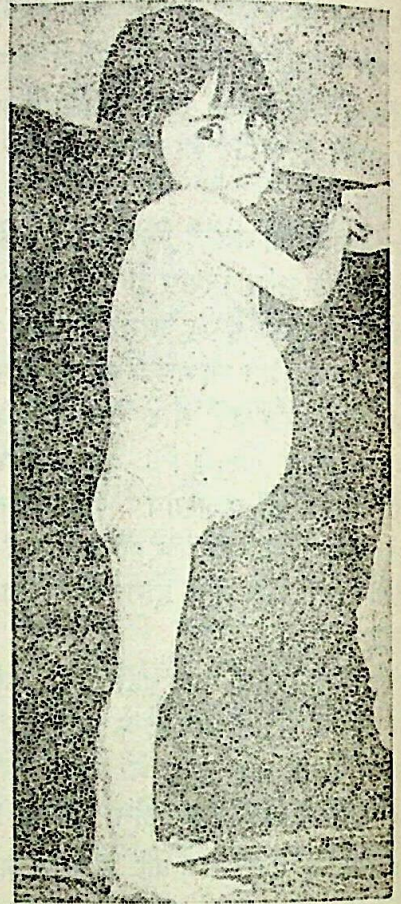
१. भोजन के दोष, २. अतिसार व कब्ज,
३. लगातार वमन, ४. फिरङ्ग रोग, ५. अस्थि-
मार्दव (Rickets)

दो वर्ष से बड़े बालकों में शोष के कारण—

१. स्नायु सम्बन्धी रोग, २. शारीरिक रोग,
३. फुफ्फुस, अन्त्रावरण कला तथा लसीका ग्रन्थियों
का क्षय ।

दो वर्ष से छोटे बालकों में शोष के कारण—

१. भोजन के दोष—मुख्य कारण है बालशोष के, इसके कारण प्रायः बच्चे चिड़चिड़े, भारहीन और देर से दांत निकलते हैं, मांसपेशियों की शक्ति दुर्बल हो जाती है, शौच अनियमित कब्ज के उप-
रान्त अतिसार और अतिसार के उपरान्त कब्ज होता रहता है, पाचन शक्ति मन्द हो जाती है । इन दोनों को देखने में मल परीक्षा सहायता करती है जेने कि प्रोटीन की अधिकता से मल में दही निकलती है, वसा (Fat) की अधिकता से चर्बी और साबुन के चिकने कण निकलते हैं, कार्बोहाइड्रेट (मिष्ठान) की अधिकता से मल शब्द युक्त व भागदार उतरता है । स्तन से दूध थोड़ा या बहुत अधिक उतरता है तो भी मल शब्दयुक्त आता है । एक वर्ष के पश्चात् भी बच्चा यदि माता का दूध पीता रहता है तो वह उसे हानिकारक है । दो वर्ष से अधिक आयु के बालक में भोजन के अनुचित होने से या दरिद्रता के कारण रोटी ज्यादा खाने से भी यह रोग प्रगट होता है या बच्चों को कोई ऐसा रोग हो जिसके कारण वह दूध न पी सकता हो जैसे मुंह के छाले (Ulcer) होना या दूध पीने वाली बोतल का मुंह इतना छोटा हो कि दुग्ध थोड़ा थोड़ा निकले और बच्चे का पेट ही न भरे तो भी बच्चा सूखने लगेगा ।



चित्र नं० ५३

सूखा रोगी—टांगे तथा नितम्बी सूख कर पतले हो गये हैं लेकिन उदर बड़ा हुआ है ।

२. अतिसार व कब्ज—भी विशेष कारण है शोष रोग के विशेषकर शैशावस्था में । क्योंकि ये दोनों भोजन की अनियमितता से होते हैं या पोषण परिचर्या में स्वच्छता न होने के कारण होते हैं और कभी कभी अन्तर्द्वियों में कृमि (Worms) होने से भी हो जाते हैं । शोष रोग की उत्पत्ति में पुराना कब्ज भी विशेष महत्व रखता है क्योंकि इसके लक्षण अकस्मात् प्रकट नहीं होते । यह धीरे धीरे चलता रहता है जिसकी पहिचान मल परीक्षा से ही होती है । डा० सैविल लिखते हैं कि एक परिवार से मेरा बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था । उसमें दो



शिरुरोगाः

बच्चे सूखा रोग से पीड़ित होकर मरे हैं। उनके सूखारोग का एकमात्र कारण लगातार कब्ज का बना रहना था और तीसरे बच्चे की भी जब यही दशा प्रारम्भ हुई तो उसकी माता को विशेष ट्रेनिङ्ग दी गई कि स्वच्छता तथा नियम के साथ बच्चे का पालन करो तथा इसके मल निःसरण का पूरा ध्यान रखो जिसके लिये एक मृदु विरेचक मिश्रण बनाकर दिया गया तब कहीं जाकर वह बच्चा जी सका।

३-लगातार वमन—यह भी अनियमित भोजन का परिणाम होता है विशेष कर बार बार और अधिक मात्रा में दूध पिलाना, या आमाशय और लघु अन्त्र की सूजन। अन्य रोग सम्बन्धी प्रत्यावर्तित (Reflex) कारणों से भी वमन हो जाती है, कई बार न रुकने वाली वमन भी हो जाती है जबकि नासा मार्ग द्वारा रबरनलिका चढ़ाकर ही आमाशय में द्रव पहुंचा कर बच्चे का जीवन बचाया जाता है। कभी कभी आमाशय के मुट्रिका द्वार के अत्यधिक संकोच के कारण भी वमन होने लगती है।

४-जन्मजात क्रिङ्ग रोग—इसकी पहचान बच्चे की नाक से लगातार रेंट बहती रहे तो हो जाती है सूखा के प्रारम्भ के ६ महीनों में यह सूखा का मुख्य कारण है।

५-अस्थि मार्दव (Rickets)—यह भी शोष रोग का सम्बन्धी है। यह विशेष कर उन बच्चों में होता है जो अधिक भार वाले होते हैं। यह ६ से १८ माह के बीच में अधिक होता है। दो वर्ष से बड़े बच्चों में शोष रोग का कारण अस्थि मार्दव नहीं होता जब तक कि कोई वृद्ध सम्बन्धी या पाचन सम्बन्धी विकार न हो।

दो वर्ष से बड़े बच्चों में शोष के कारण—

१-स्नायु सम्बन्धी रोग—इसमें बच्चा स्वभाव से ही चिड़चिड़ा होता है और जन्म से ही वात प्रकृति का होता है शरीर से दुबला पतला और बेचैन रहता है। बार बार उदर बिकार का शिकार होता

रहता है। डा० कामरन ने एक ऐसे बच्चे की ओर ध्यान दिलाया है जोकि शक्ति से पूर्ण था परन्तु श्रान्त सा दीखता था तथा सफेद (रक्तहीन) चेहरे से युक्त दुर्बल होता जा रहा था। बीच बीच में चिड़चिड़ापन में उत्तेजित सा होता जा रहा था और वमन व ज्वर से आक्रान्त था। ऐसे बच्चों को बसा का पाचन व सात्मीकरण ठीक नहीं होता। यदि उनकी खुराक में बसा का मिश्रण कम और चीनी अधिक करदी जाय तो इनका स्वास्थ्य ठीक हो जाता है।

२-शारीरिक रोग—जैसे श्वास रोग, पाचन सम्बन्धी रोग, बार बार आने वाली खांसी, जन्मजात फिरंग, हृदय रोग आदि भी शोष के कारण हैं।

३-क्षय रोग—यह युवकों के समान बच्चों में धीरे धीरे आक्रमण करता है। यह बच्चों के फुफ्फुस के आधार (Base) पर अधिक शुरू होता है अपेक्षाकृत सिरों (Apices) के। लगातार पुरानी खांसी और पुराना ज्वर तथा शोष साथ ही रहते हैं। क्षय के कीटाणु वलगम से प्राप्त किये जा सकते हैं। आमाशय प्रक्षालन से ये मल में भी आ जाते हैं।

क्षयजन्य अन्त्रावरण शोथ व लसीका ग्रन्थि-शोथ भी शोष के कारण हैं। यह दो वर्ष के उपर के बच्चों में होता है अन्तडियों की ग्रन्थियां फूल जाती हैं रक्त वनना बन्द हो जाने से बच्चा सूख जाता है।

उपद्रव—

इस रोग में कुछ उपद्रव भी हो जाया करते हैं जैसे—

१-पूयोत्पादक जीवाणुओं का संक्रमण—इसके कारण शरीर की त्वचा पर स्थान स्थान पर जले हुए के समान फफोले उठ उठकर फूटते रहते हैं। सन्धियों की त्वचा विदीर्ण हो जाती है जैसे कान, कक्षा, वंक्षण प्रदेश में।

२-क्षय रोग—यह फुफ्फुस तथा अंतां का हो सकता है।

३-श्लैष्मिक सन्निपात-ठण्ड लगने से होता है।

४-संक्रामित आन्त्र प्रदाह

५-अम्लीयता (Acidosis) उदर में बढ़ जाती है। टट्टी जलती आती है मुख में छाले पड़ जाते हैं।

६-वृक्क शोथ होने पर मूत्रावरोध होकर सारे शरीर पर सूजन आ जाती है।

७-जलीयांश की कमी-इससे त्वचा में स्थिति स्थापकता आ जाती है।

साध्यासाध्यता —

यदि शोषी बच्चा ठीक चलता हुआ भी अकस्मात् अतिसार होकर अवसन्न होता है तो असाध्य और दांत निकलने पर शोष हो तो साध्य है।

चिकित्सा--

प्रतिषेधात्मक व रोगनाशक दो प्रकार की है।

(१) प्रतिषेधात्मक चिकित्सा—

यदि माता पिता इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही सतर्क हों तो रोग का आक्रमण ही नहीं हो पाता। गर्भ से ही इसका समुचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए। इसके लिए माता को "गोरखपान" (एक प्रकार का कन्द की आकृति वाला द्रव्य जमीन से खोद कर निकाला जाता है। ऊपर पान के पत्ते के आकार वाले पत्तों वाली बेल सी फैली रहती है जिसको पहचान कर यह उद्यान-बाटिका-जङ्गलों से उखाड़ा जा सकता है।) एक पाव लेकर उसमें १ तोला गोदन्ती भस्म मिला कर पानी के संयोग से मसूर के बराबर बटी बनाली जावें। गर्भवती गर्भस्थिति से लेकर प्रातः समय १-१ बटी ताजे जल से निगलती रहे और बच्चे के जन्मोपरान्त माता व शिशु दोनों ही जब तक बच्चा दूध पीवे लेते रहें। इसी प्रकार गर्भपाल रस या गर्भ चिन्तामणि रस भी गर्भवती पी ले सकती है।

आधुनिक मत से यह रोग विटामिन्स के प्रयोग से दूर हो जाता है। जिनको गर्भक्षीण हो गया

हो वे अगली गर्भावस्था में विटामिन ई ३० एम. जी. का एक कैप्सूल या ६ एम. जी. के ३ कैप्सूल प्रतिदिन शिशु जन्म होने तक लेती रहें तो बीर में गर्भ क्षीण नहीं होता।

शिशु जन्मोपरान्त विटामिन ए व डी की मिश्रित बूंदें एडेक्सोलोन (Adexolin) नाम से मिलती हैं। २-२ बूंद दिन में ३ बार दूध में मिला कर देते रहने से बच्चा शोष रोग से बचा रहेगा। कुमार कल्याण रस और अरविन्दासव देते रहने से बच्चा स्वस्थ बना रहेगा।

धन्वन्तरि कार्यालय द्वारा निर्मित कुमार कल्याण घुटी भी इस अवस्था में देने से शोष का भय नहीं रहता।

(२) रोगनाशक चिकित्सा--

१-चिकित्सा के विषय में रोगी के घर वाले तथा धाय व चिकित्सक सभी धैर्य से काम लें क्योंकि रोगी धीरे धीरे ठीक होता है।

२-शरीर को नीरोग रखने के लिये भोजन या औषधि से शुद्ध वायु और शुद्ध दूध आदि देने का विशेष महत्व है। किन्तु अधिक ठंड से भी बचाकर रखने की आवश्यकता है। परिचर्या ऐसी हो कि बच्चा सर्वदा पालने में ही न पड़ा रहे अपितु माता की गोद में रहे और उसके खिलाते पिलाते समय हंसाते रहना चाहिए।

(३) स्नान कराने के लिए अधिक ठण्डा पानी न लेकर कंबोष्ण पानी ही लेना चाहिए।

(४) रोग का कारण दूर करने का यत्न करना चाहिए। रोगी के कमरे में शनैः शनैः चलें कहीं ऐसा न हो कि पैरों की आहट से बच्चा डर जाय।

(५) भोजन उसकी शक्ति के अनुसार उचित परिमाण में ही देना चाहिए।

(६) भोजन में परिवर्तन करना पड़े तो धीरे से करें। विशेष कर वसा (Fat) अधिक न दें।

(७) यदि विषमयता के कारण लक्षण तीव्र हो जाय तो कुछ घण्टों के लिए सब भोजन बन्द

शिशुरोगाङ्कः

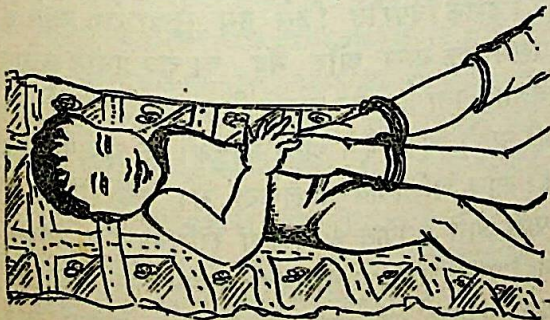
कर दें, केवल अर्धलवण जल (Half normal saline) दें, किंतु उपवास दीर्घकाल तक न करें क्योंकि दुर्बल को उपवास सहा नहीं होता। बच्चे के लिये मातृस्तन्य ही श्रेष्ठ होता है। यदि कृत्रिम भोजन पर रखना ही पड़े तो उसमें बसा कम हो मिष्टान्न अधिक और प्रोटीन सम हों। मल की परीक्षा करते रहना चाहिए। उसके अनुसार ही भोजन देना चाहिए। भोजन कब और कितनी मात्रा में देना है इसका अनुमान अपनी बुद्धि से करना चाहिए।

बालक जितना अधिक दुर्बल व सूखा हो उतनी ही भोजन की मात्रा और समय थोड़ा करना चाहिए। शिशु अधिक दुर्बल है तो रक्तदान किया जा सकता है। बच्चे के शरीर पर तैल की मालिश करना अच्छा है। इससे सांस फूलता है और रक्त संचार सुचारु रूप से होने लगता है।

औषध चिकित्सा—

आयुर्वेदिक—

(१) प्रवाल भस्म, पीली कौड़ी भस्म, मुक्ता शुक्ति भस्म, फिटकरी भस्म, सुहागा भस्म, शंख भस्म, मुनी हल्दी, शुद्ध रसौत ६-६ माशा, छोटी पीपल ६ माशा, तुलसी पत्र ७। तोले, अपामार्ग पत्र ७। तोले इन सभी को कूट छानकर पानी के संयोग से १२ घण्टे खरल कर १-१ रत्ती की गोलियां बना लें।



चित्र नं० ५४

सूखा रोगी के हल्के हाथ से मालिश करें

प्रातः सायं १-१ गोली शीत ऋतु में मधु से, वर्षा ऋतु में मिश्री से, ग्रीष्म ऋतु में शर्बत कासनी से दें। यह सूखा रोग पर बहुत उपयोगी है।

(२) साथ में बाल सूखा तैल की मालिश करें। बाल सूखा तैल का योग यह है—

भांगरा, मकोय, धींग्वार, छोटी दुद्धी, बंगला पान और ताल मखाना देशी इनका स्वरस १०-१० तोले निकाल कर आधा सेर तैल (काले तिल का) निकालकर तैल पाक विधि से पका लें। पश्चात् दाल-चीनी का तैल और देसी कपूर १ तोले डालकर शीशी में रख लें।

इस तैल के सर्वाङ्ग पर मालिश करने तथा कानों में डालने से सूखारोग, ज्वर, अतिसार, सिर दर्द और दुर्बलता नष्ट होती है।

(३) मुरादाबाद की मसना भी इस रोग की अच्छी औषध है।

(४) धन्वन्तरि कुमार कल्याण घुटी बहुत अक्सीर है।

प्लोपैथिक चिकित्सा—

इस रोग से पीड़ित बच्चे की मैं केवल दस दिन चिकित्सा करता हूँ, ११ वें दिन औषध की आवश्यकता नहीं रहती, इन्हीं १० दिन में रोगी बच्चा ठीक हो जाता है और भूख खूब लगने लगती है और दुग्ध का खब पाचन होने लगता है, मांस फूलने लगता है।

(१) विटामिन बी_{१२} (एनाकोबीन या मैक्रा-बीन) २०० माइक्रो ग्राम ५ सी. सी. या १०० माइ-क्रोग्राम १० सी. सी. के १० इन्जेक्शन बनाता हूँ। १ सी. सी. प्रतिदिन नितम्ब प्रान्त पर देता हूँ।

(२) सल्फाडायजीन ४ टिकिया, कैल्शियम ग्लुकोनेट १५ ग्रोन, विटामिन सी १०० एम. जी. की २ टिकिया, विटामिन बी कम्प्लैक्स २ टिकिया—मिलाकर २० पुडिया बना लें। चार पुडियां रोजाना पानी या मातृदुग्ध में।

(३) ग्राइप वाटर १-१ चम्मच तीन बार दिन में केवल पानी, या दुग्ध या पानी में।

(४) काडलिवर आयल की सिर के अतिरिक्त सर्वाङ्ग शरीर पर मालिश प्रातः की सूर्य की किरणों में लिटाकर करें। जिन बच्चों को हरे दस्त आधिक होते हैं, उनके लिए—

(५) सिरप मिथियोनिन विद् कोलोन फोर्ट ५-१५ बूँद अवस्थानुसार देता हूँ या प्रो पाउडर १/३ प्रेन, सोडाबाई कार्ब २ प्रेन मिला ४ पुड़िया एक दिन में दें। तीसरी मात्रा में हरा रंग बदल जाता है।

नं. १ से ५ तक का एक ही व्यवस्थापत्र है जो एक साथ चलता है।

इसका अनुभव मैंने कई सौ बच्चों को स्वस्थ

करके किया है जो कि १० दिन में स्वस्थ हो गये हैं। होम्योपैथिक चिकित्सा -

इस चिकित्सा का भी मुझे काफी विश्वास है। इस पद्धति में सूखा रोग पर मैंने कई बच्चों को कैल्केरिया फौस ३० × दिन में ३ बार देकर अनुभव किया है कि यह बहुत अच्छा काम करता है, इससे सूखा बच्चा फूलता मोटा ताजा होता चला जाता है।

—श्री डा० बलवीरदत्त शास्त्री
बी. आई. एम. एस. आयुर्वेदाचार्य
प्रहलादपुर पो० गोवर्धनपुर (मुजफ्फरनगर)

सूखा रोग

आचार्य श्री दौलतराम रसशास्त्री

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

सूखा रोग का निदान एवं चिकित्सा लिखने के पूर्व मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि यह कोई पृथक् रोग नहीं है। अधिकांश पाठकों को यह पढ़ कर आश्चर्य होगा किन्तु बात अक्षरशः सत्य एवं अनुभव सिद्ध है। आगे के विवेचन को पढ़कर अनुभव करने के बाद आप इसे स्वीकार कर लेंगे।

माधव निदानांक में मैंने स्पष्ट किया था कि सूखा रोग और अस्थिच्छय (Rickets) दो पृथक्-पृथक् रोग हैं किन्तु ऐसा लगता है कि बहुत से लोग अभी तक उस पुरानी भूल को छोड़ नहीं पाये हैं।



चित्र नं० ५५
सूखा रोगी

शायद बहुत से लोग ऐसे हैं जो धन्वन्तरि को मंगाने मात्र का शौक रखते हैं, पढ़ने का नहीं। रिकेट्स (अस्थिच्छय) कैल्शियम और विटामिन डी की कमी से होता है। इसमें तालु देर से भरता है, दांत देर से निकलते हैं और हड्डियां भुक जाती हैं। शुद्ध रिकेट्स (अर्थात् जहां अन्य रोग का अनुबन्ध न हो) में पाचन क्रिया में कोई गड़बड़ी नहीं होती और रक्त मांस आदि अन्य धातुओं का क्षय नहीं होता अर्थात् बालक देखने में हृष्ट-पुष्ट ही रहता है। इसके विपरीत जिसे हम सूखा रोग कहते हैं उसमें रक्त मांस और मेद का क्षय प्रधान लक्षण माना जाता है और पाचन-क्रिया अधिकतर विकृत ही पायी जाती है। अन्य धातुओं के क्षय के साथ ही साथ अस्थिच्छय के लक्षण भी कुछ रोगियों में पाये जाते हैं किन्तु अधिकांश रोगियों में अस्थिच्छय नहीं पाया जाता अर्थात् तालु समय पर भरता है, दांत समय पर निकलते हैं और हड्डियां नहीं भुकतीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये दोनों रोग पृथक् पृथक् हैं, इनमें कोई सामञ्जस्य नहीं है।

जहां सूखा रोग में अस्थिच्छय के भी लक्षण मिलें वहां अस्थिच्छय को आनुवंशिक रोग मानना चाहिए। सूखा रोग के अंग्रेजी पर्याय सीलियक डिजीज (Coeliac Disease) और मारस्मस (Marasmus) हैं।

ऊपर मैं लिख चुका हूँ कि सूखा रोग कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं मिलता। ऐलोपैथी के पुराने ग्रन्थों में इसका वर्णन अवश्य मिलता है किन्तु नये ग्रन्थकार इसे स्वतन्त्र रोग नहीं मानते। भारत के अशिक्षित वर्ग में इसकी अनेक औषधियां, भाङ्ग-फूँक एवं टोटेके प्रचलित हैं। ये लोग बड़ी लम्बी चौड़ी डींगें हांकते हैं, इनके द्वारा चिकित्सा कराने वालों की संख्या भी बहुत बड़ी है किन्तु लाभ शायद ही किसी को होता है। सूखा रोग की अनेक पेटेण्ट औषधियां भी निकली हैं किन्तु उनसे भी शायद ही किसी को लाभ होता है, यद्यपि उनके बारे में बड़े बड़े दावे विज्ञापनों में किये जाते हैं। सूखा रोग के चिकित्सक प्रत्येक मोहल्ले और गांव में मिलते हैं, इसकी तथाकथित अचूक पेटेण्ट औषधियां हर जगह मिलती हैं फिर भी इस रोग से मरने वालों की संख्या सबसे अधिक है। चिकित्सा की इतनी विविधता एवं प्रचुरता के बावजूद भी यह रोग लगभग असाध्य सा माना जा रहा है। रोगी के माता-पिता एक स्थान से लाभ न होते देख दूसरे तीसरे और चौथे स्थानों पर भटकते रहते हैं। यहां तक कि रोगी का जीवन ही समाप्त हो जाता है। प्रत्येक जगह उन्हें बड़ी बड़ी आशाएँ दी जाती हैं किन्तु सब मृगमरीचिका ही सिद्ध होती है।

वैद्यों के पास इसकी चिकित्सा दो प्रकार की पायी जाती है—पहला प्रकार वह है जो अशिक्षित व्यक्तियों और ओम्माओं में प्रचलित है एवं जिसे वैद्यों ने बड़ी कठिनाई से उनसे पूछ कर प्राप्त किया है और दूसरे प्रकार में कैलशियम अर्थात् मुक्ता, मुक्ताशुक्ति, प्रवाल, शंख, बराटिका, गोदन्ती,

कच्छप-पृष्ठ आदि के योग हैं जो इस रोग को रिकेट्स मानकर रिकेट्स की ऐलोपैथी चिकित्सा की देखा-देखी बनाये गये हैं। उक्त दोनों प्रकार की सैकड़ों औषधियां गुप्त सिद्ध प्रयोग के नाम से धन्वन्तरि एवं अन्य पत्रों में छप चुकी हैं।

वस्तुतः यह कोई कठिन या असाध्य रोग नहीं है। चिकित्सा में कठिनाई सिर्फ इसे पृथक् रोग समझने के कारण होती है। यदि रोग के निदान को भलीभांति समझकर चिकित्सा की जावे तो शत-प्रतिशत सफलता निश्चित है। ध्यान रखिये सूखना या दुबला होना स्वतः कोई रोग नहीं है, किसी भी रोग की उपस्थिति में मनुष्य मात्र बल्कि प्राणी मात्र चाहे वह बालक हो या वृद्ध स्त्री हो या पुरुष, वह दुबला और कमजोर ही होता है।

बालक के सूखने या कमजोर होने के अधिकतर निम्नलिखित कारण हुआ करते हैं—

१. चिरकारी अतिसार या प्रवाहिका
२. कृमि रोग (विशेषतया गण्डूपद कृमि याने पटार)
३. जीर्ण ज्वर
४. राजयक्ष्मा
५. खाद्याभाव या खाद्य में पोषक तत्वों का अभाव

उपर्युक्त कारणों में से जो भी कारण पाया जावे उसकी ठीक ठीक चिकित्सा कर देने से बालक का सूखना निश्चित रूप से बन्द हो जाता है और उसका शरीर पुनः दृष्ट-पुष्ट होने लगता है। यदि रोगोपशम के पश्चात् शक्तिवर्धक चिकित्सा भी कर दी जावे तो पूछना ही क्या।

उपरोक्त ५ कारणों में से प्रथम कारण ही प्रधान है और अधिकांश अर्थात् लगभग ६५% प्रतिशत मामलों में यही पाया जाता है। इसलिये केवल इसी एक प्रकार का सनिदान चिकित्सा क्रम देते हुए इस लेख को समाप्त करूंगा।

चिरकारी अतिसार एवं प्रवाहिका के कारण होने वाले सूखा रोग के कारणः—



१. अत्यधिक आहार—बहुत से मां बाप अपने बच्चे को इतना अधिक प्यार करते हैं कि एक मिनिट के लिये भी बच्चे का रोना बर्दास्त नहीं कर सकते और बच्चे को चुप करने का एक तरीका उनके पास रहता है—दूध पिलाना। बच्चा किसी भी कारण से रोता हो, उसे भूख हो या न हो, यहां तक कि उसका पेट फूला हो तो भी अशिक्षित मातायें उसे दूध पिलाकर ही चुप करना अपना कर्तव्य समझती हैं। बहुत सी मातायें बच्चे को स्तन से लगाकर ही सोती हैं जिससे बच्चा रात भर दूध पीता रहता है। इस प्रकार अत्यधिक आहार देने से कुछ काल तक तो कोई स्पष्ट गड़बड़ी नहीं दिखाई देती किन्तु छठवें महीने के आसपास से अतिसार होने लगता है। चिकित्सा यदि की भी गयी तो उस समय भले ही लाभ हो जाता है किन्तु आहार में सुधार न होने कारण बारम्बार अतिसार के आक्रमण होते हैं, मल हमेशा (अतिसार शान्त रहने पर भी) अपाचित या अर्धपाचित (फटा, छिछड़ेदार, लसदार, अत्यन्त दुर्गन्धित) ही निकलता है और बालक कमजोर होता जाता है।

बच्चे को निश्चित काल के अन्तर से दूध पिलाना चाहिए और पिलाने के पूर्व प्रत्येक बार यह निर्णय कर लेना चाहिये कि वह वास्तव में भूखा है या नहीं। रात में सोने के पूर्व बच्चे को दूध पिला देना चाहिये। इसके बाद रात भर दूध नहीं देना चाहिये। बच्चा यदि रोवे तो उसे थोड़ा सा उबाला हुआ पानी पिलाकर थपकी देकर सुला देना चाहिए। यदि बच्चा अत्यधिक भूखा हो और दूध दिये बिना किसी प्रकार काम न चल सके तो माता बैठ कर उसे केवल एक दूध पिलावे। एक बार से अधिक न पिलावे और लेटे लेटे हरगिज न पिलावे।

भूख के अतिरिक्त रोने के बहुत से कारण होते हैं जैसे—अजीर्ण, ज्वर, उदर-शूल, कर्णशूल, ज्वर, जुकाम या न्युमोनिया के कारण होने वाला आस-कष्ट, कृमि रोग (विशेषतः चूरी कृमि अर्थात् चुनूने-Pinworm) दांत निकलने का कष्ट, गर्मी लगना

कपड़े अधिक कसे हुए होना, एक जगह काफी समय तक पड़े रहने के कारण घूमने की इच्छा होना, खटमल मच्छड़ या चींटियों द्वारा काटे जाना, हसली या कंधे की हड्डी खिसक जाना, अमौरी (Prickly heat) खाज-खुजली आदि। इनमें से या इन्हीं सरीखे किसी कारण से तो बच्चा नहीं रो रहा है—बच्चे के अधिक रोने पर बारम्बार दूध पिलाने के बदले यह विचार करना चाहिए। उचित जांच पड़ताल से कारण ज्ञात हो जावेगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ४ माह की उम्र तक बच्चे अधिक रोते हैं। उनका यह रोना एक प्रकार का व्यायाम है। यदि उसे उपयुक्त कष्टों में से कोई कष्ट न हो तो उसके रोने की उपेक्षा करना या घुसा फिरा कर चुप करना ही उचित है। बच्चा सामान्यतौर से जितना रोता है यदि किसी दिन उसकी अपेक्षा बहुत अधिक रोवे तो समझना चाहिये कि उसे कोई न कोई कष्ट अवश्य है। इस प्रकार के मामलों में हर अनुभवी चिकित्सक कष्ट का पता लगाने और उसे दूर करने में समर्थ होगा।

तात्पर्य यह कि बच्चा वास्तव में भूखा है यह निर्णय हो जाने पर ही दूध पिलाना चाहिए। यदि बच्चा किसी अन्य कारण से रोता है तो उसका उचित उपचार होना आवश्यक है। ऐसी दशा में दूध पिलाने से बच्चे की पाचन क्रिया बिगड़ कर वह सूखा रोग का शिकार हो जाता है।

२. गरिष्ठ आहार—स्त्रियों को प्रारम्भ में (प्रसव के बाद) सबसे अधिक दूध निकलता है और फिर वह क्रमशः कम होते होते बन्द होता है। उसके विपरीत प्रारम्भ में बालक छोटा रहता है इसलिये उसे थोड़े दूध की आवश्यकता होती है और फिर वह ब्यों ब्यों बढ़ा होता है त्यों त्यों उसे अधिक दूध की आवश्यकता होती है। इस विपरीतता के कारण प्रारम्भ में जहां स्त्री दूध की अधिकता से परेशान रहती है वहां बाद में वह दूध की कमी से परेशान होती है। अधिकांश माताओं को



शिशु रोगाङ्कः

२०५

आठवें माह के आस पास ऊपरी दूध या अन्न का सहारा लेना पड़ता है। कुछ स्त्रियों को प्रारम्भ से ही दूध कम होता है और उन्हें लगभग प्रारम्भ से ही ऊपरी दूध का सहारा लेना पड़ता है।

ऊपरी दूध पिलाने एवं अनाज देने में अधिकांश स्त्रियां गलती करती हैं जिससे पाचन क्रिया बिगड़ती है। अधिकांश स्त्रियां दूध को खूब औटाकर गाढ़ा करके पिलाती हैं और कुछ स्त्रियां कच्चा या उबला चाहे जब चाहे जैसे पिलाती रहती हैं। समय एवं भूख का भी ध्यान नहीं रखतीं। अन्न भी चाहे जब चाहे जैसा और चाहे जितना दिया जाता है। अनेक स्त्रियां मिठाई और नमकीन खिलाती हैं। अधिकतर अशिक्षित स्त्रियां बच्चे को अधिक से अधिक खिलाने का प्रयत्न करती हैं। इन गलतियों से अतिसार होता है और बच्चा सूखता है।

ऊपरी दूध के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दूध ताजा और मिलावटरहित हो। जहां तक हो सके सामने दुहवा कर लेवें। यदि अच्छा दूध सुलभ न हो तो डब्बे का दूध पिलाया जा सकता है किंतु वही लें जो खासतौर से बच्चे के लिये आता है। अन्य कामों के लिये मिलने वाले दूध के डब्बों का प्रयोग कदापि न करें।

गाय, भैंस या बकरी जिसका भी दूध सुलभ हो काम में ले सकते हैं, वैसे गाय का सर्वोत्तम है। सुबह का दुहा दूध दिन भर के लिए और शाम का रात के लिये उपयोग में लेना चाहिए। उपर्युक्त पशुओं में से किसी का भी दूध इतना हल्का नहीं होता कि शिशु उसे उबो का त्यों पचा सके अतएव पानी मिलाना आवश्यक होता है। पानी मिलाने एवं ऊपरी दूध को मां के दूध के समान बनाने के अनेक योग भिन्न भिन्न विद्वानों ने निर्दिष्ट किये हैं जिन्हें आप अन्यत्र पढ़ चुके होंगे। वे तरीके विशेष पढ़ी लिखी एवं सुसंस्कृत गृहणियों के लिये भले ही साध्य हों किन्तु सर्वसाधारण के लिये व्यवहार्य नहीं। मैं अपने रोगियों पर नित्य प्रति जो योग

प्रयुक्त करता हूँ और जिसे शत प्रतिशत लाभकारी पाया है वह नीचे देता हूँ—

३ माह से कम के बालक के लिये अथवा अधिक उम्र के अत्यन्त कमजोर एवं अतिसारयुक्त बालक के लिये—१ भाग दूध और ३ भाग अर्थात् तिगुना पानी।

३ माह से १ वर्ष तक के बालक के लिये अथवा इससे अधिक उम्र के कमजोर बालक के लिये १ भाग दूध और २ भाग अर्थात् दूना पानी।

१ वर्ष से ३ वर्ष तक के बालक के लिये अथवा इससे अधिक उम्र के कमजोर बालक के लिये—१ भाग दूध और १ भाग पानी अर्थात् बराबर पानी।

उपर्युक्त मात्रानुसार पानी नाप से मिलाना चाहिए अन्दाज से नहीं। फिर आवश्यकतानुसार शक्कर मिलाकर तेज आंच देकर जल्दी से उबाल लें। उबलते ही उतार कर ठंडा होने दें। धीमी आंच पर देर तक पकाना गलत है क्योंकि इससे जल का बहुत सा भाग उड़ जाता है, दूध के पौष्टिक तत्व नष्ट हो जाते हैं और दूध की सुपाच्यता कम हो जाती है। सुबह तैयार किया हुआ दूध शाम तक काम में लें, शाम को दूसरा तैयार करें। दिन भर में जिनका दूध बालक पीता हो रात में उससे आधा या आधे से भी कम देना चाहिए। बचा हुआ बासा दूध अन्य कामों में लें, बालक को हर-गिज न पिलावें। शक्कर से कोई हानि नहीं होती और वह बराबर हजम होती है। फिर भी जो लोग शक्कर के बदले ग्लूकोज देना चाहें वे बिना शक्कर डाले उपर्युक्त विधि से दूध पकाकर ठण्डा होने पर ग्लूकोज मिला सकते हैं।

दूध में इतना अधिक पानी मिलाने की बात पर बहुतों को विस्मय होगा किंतु हाथ कंगन को आरसी क्या। करके देखिये और लाभ उठाइये। इसमें आपका कुछ खर्च होने वाला नहीं है बल्कि बहुत सा अनावश्यक खर्च बचने वाला है। मेरे कथन पर जरा भी सन्देह न करते हुए पूर्ण आत्मविश्वास के



साथ माताओं को इस प्रकार का दूध पिलाने का परामर्श दीजिये । आप देखेंगे कि जिन बालकों के अतिसार को आप काफी परिश्रम करके भी ठीक न कर सकने के कारण असाध्य मान बैठे थे वे भी जल्दी से जल्दी रोग मुक्त होते हैं ।

विशिष्ट मामलों में जल की मात्रा और अधिक बढ़ाई जा सकती है विशेषतः—१. जब मल का रंग सफेद हो, २. जब उचित चिकित्सा से भी अतिसार में लाभ न हो अथवा ३. जब अतिसार के आक्रमण बार बार हों । अधिक जल मिलाने से हानि कदापि नहीं होती लाभ ही होता है । जब अतिसार अत्यन्त उग्र प्रकार का एवं मल अत्यन्त दूषित हो उस समय दूध विलकुल बन्द करके केवल उबला हुआ जल देने से सत्वर लाभ होता है । इस प्रकार के मामलों में मैं साधारणतः १२ घण्टे और विशेष मामलों में २४ घण्टे तक की लंघन करता हूँ । इससे हमेशा लाभ हो हुआ है, हानि कभी नहीं हुई । जल अधिक से अधिक मात्रा में देना चाहिए । जहां तक हो सके, जल में ग्लूकोज मिला कर दें तो मां बाप को भी तसल्ली रहती है कि बालक को कुछ आहार तो दिया जा रहा है । यदि गरीब हो तो जल में थोड़ा सा नमक मिलाकर देने का निर्देश दें । यदि बच्चे को जल से अरुचि हो तो कभी सादा उबाला हुआ जल, कभी ग्लूकोज मिश्रित और कभी नमक मिश्रित देने का निर्देश दें । इस प्रकार के लंघन से दोषों का सत्वर पाचन होकर अतिसार की शांति होती है ।

अनाज के पदार्थों की तरफ बालकों की रुचि छठवें मास के आसपास उत्पन्न होती है और अधिकांश माता पिता इसी समय अनाज देना प्रारम्भ कर देते हैं । अधिकांश बच्चे इस उम्र में अनाज पचाने की योग्यता नहीं रखते अतएव उन्हें अतिसार होकर सूखा रोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं अथवा यकृत-वृद्धि हो जाती है । वैसे यदि बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा और पाचन क्रिया तीव्र हो तो इस उम्र में भी अनाज देना बुरा नहीं । तथापि

अनाज प्रारम्भ करने की सबसे अच्छी उम्र १। सात के आस-पास है । ६ माह की उम्र के आस-पास बच्चा अनाज के पदार्थों के लिये झपटने लगता है उस समय यदि उसे उन पदार्थों से वंचित रखा जाय तो क्रमशः वह झपटना बन्द कर देता है । फिर १। सात के आस-पास पुनः झपटना प्रारम्भ करता है—यही समय अनाज प्रारम्भ करने के लिये श्रेष्ठ है क्योंकि इस समय तक काफी दांत निकल चुकते हैं और शरीर का विकास भी काफी हद तक हो चुकता है ।

अनाज प्रारम्भ करते समय आहार की सुपाच्यता, मात्रा और समय का बड़ा विचार रखना चाहिए । आहार परिवर्तन क्रमशः करना चाहिए, यदि एकदम से किया जावेगा तो हानि निश्चित है । अधिकांश लोग इसका ध्यान नहीं रखते और हानि उठाते हैं अशिक्षित लोग इस अवस्था में बच्चों को मिठाइयां, बेसन एवं मैदा के नमकीन पकवान तथा बिस्कुट आदि खिलाते हैं, मात्रा और समय का भी विचार नहीं रखते जिसके फलस्वरूप पाचन क्रिया बिगड़ कर अतिसार और तत्पश्चात् सूखा रोग की उत्पत्ति होती है ।

प्रारम्भ में बच्चों को देने योग्य सुपाच्य पदार्थ ये हैं—दलिया, खिचड़ी, गीला पका हुआ चावल, लपसी, दूध में गलाई हुई रोटी, धान की लाई तथा विदेशों से आने वाले अनेक प्रकार के बेबी फूड । जब तक बालक इन पदार्थों को भलीभांति न पचाने लगे तब तक उसे मैदा और बेसन के पदार्थ तथा तली हुई चीजें कदापि नहीं देनी चाहिए ।

प्रारम्भ में उपर्युक्त पदार्थों का सेवन थोड़ी थोड़ी मात्रा में दिन में केवल दो बार करना चाहिये । और उसी अनुपात से दूध की मात्रा घटाते जाना चाहिए । यदि पाचन क्रिया में कोई गड़बड़ी न हो तो मात्रा क्रमशः बढ़ाते हुये पेट भर तक ले जावें । पेट भर खिलाने का अर्थ यह है कि बच्चा जब तक रुचिपूर्वक खाता जावे तब तक खिलावें । ज्यों ही वह अरुचि प्रकट करे खिलाना बन्द कर दें, बचे हुए पदार्थ का मोह न करें । बहुत सी मातायें जब-



शिशुरोगाङ्कः

रन एक दो ग्रास अधिक खिला देती हैं—यह बहुत बड़ी मूर्खता है। जब पेट भर अनाज देने लगें तब यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अनाज देने के दो घंटे पहले से दूध न दिया गया हो और बाद में ३ घंटे तक न दिया जावे। जब बच्चे को उपयुक्त पदार्थ पचाने का भलीभांति अभ्यास हो जावे तब अन्य पदार्थ भी धीरे धीरे देना प्रारम्भ करें। सामान्यतः अन्न खाने वाले बच्चों को ४ बार भोजन देना आवश्यक होता है। २ बार दूध और २ बार अन्न से प्रारम्भ करके आगे भी यही चालू रख सकें तो उत्तम है अन्यथा कुछ काल बाद १ बार दूध और ३ बार अन्न तथा फिर कुछ काल बाद चारों बार अन्न देना प्रारम्भ कर सकते हैं।

बच्चों को प्रति ४ घंटे पर भोजन (अन्न या दूध) देना नितांत आवश्यक है। जहां कुछ लोग जल्दी जल्दी पिलाने की भूल करते हैं वहां कुछ लोग ऐसे भी मिलते हैं जो खिलाने में अत्यधिक देर करते हैं। भूख लगने पर भी भोजन न देना एक बहुत बड़ा अन्याय है। इससे स्वास्थ्य तो नष्ट होता ही है, अधिक खाने की आदत भी पड़ जाती है जो आगे चिकित्सा को अत्यन्त दुष्कर बना देती है।

मेरे पास यकृत वृद्धि एवं चिरकालीन अतिसार से पीड़ित एक २॥ वर्षीया बालिका चिकित्सा लायी गई थी जिसे २४ घण्टे में केवल एक ही बार आहार दिया जाता था। अन्य समय दूध वगैरह कुछ भी नहीं दिया जाता था। कई माह से यही क्रम चालू था। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस बालिका के माता-पिता दोनों ही शिक्षित थे और किसी तथाकथित डाक्टर की सलाह से ऐसा किया जा रहा था। मैंने एक बार में दिए जाने वाले आहार के ४ भाग करके दिन में ४ बार देने का निर्देश दिया और चिकित्सा आरम्भ की। सामान्य चिकित्सा से अल्पकाल में ही वह बच्ची पूर्णरूप से स्वस्थ हो गई।

(३) अस्वच्छता—अस्वच्छता से अनेक प्रकार

के जीवाणुओं का संसर्ग होकर अतिसार एवं प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है जो उपेक्षित रहने से कालान्तर में चिरकालीन हो जाती है।

(५) अतिसार की उपेक्षा—बच्चों के अतिसार की उपेक्षा अधिकांश लोग करते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि इस देश में छोटी मोटी तकलीफों की चिकित्सा कराना व्यर्थ समझा जाता है किंतु जब वही छोटी तकलीफ भयङ्कर रूप धारण कर लेती है तब उसकी चिकित्सा में अन्धा-धुन्ध खर्च किया जाता है। दूसरा महान कारण है यह अन्धविश्वास कि बच्चों के दांत निकलते समय अतिसार होना स्वाभाविक है और इस अतिसार की चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुतः यह अन्धविश्वास ही सूखा रोग का जन्मदाता है तथा लाखों बच्चों की मृत्यु का कारण है^१।

हम सुनते हैं, देखते हैं और पढ़ते भी हैं कि दांत निकलने के समय पर बच्चों को अतिसार होता है और यह सच भी है, किंतु यह सोचना गलत है कि दांत निकलने के कारण अतिसार होता है। मेरा यह अनुभव है कि दांत निकलने के अवसर पर होने वाला अतिसार अन्य कारणों से होता है, दांतों के कारण नहीं। वे कारण निम्नलिखित हैं—

(१) संचित दोष—दांत निकलने के समय पर मसूढ़े कटने से बच्चों को पीड़ा और बेचैनी होती है जिससे ज्वर, अरुचि, अनिद्रा आदि भी उत्पन्न होकर निर्बलता आती है। जिन बच्चों के आहार में पहले से उपयुक्त में से किसी प्रकार की भी भूल होती चली आ रही हो उन्हें यदि पहले अति-

^१ इसी प्रकार का अन्ध-विश्वास बच्चों के सम्बन्ध में भी प्रचलित है कि गर्भिणी को होने वाले समस्त रोग गर्भ के कारण होते हैं, उनकी चिकित्सा व्यर्थ एवं हानिकर है। यदि ये दोनों अन्ध-विश्वास उठा दिये जायें और इन दशाओं में होने वाले कष्टों का उपचार भी सदा की भांति किया जावे तो बच्चों और बच्चों की मृत्यु संख्या आधी रह जावेगी, यह निश्चित है।



सार न हुआ हो तो इस समय हो जाता है। यह नियम है कि किसी भी कारण से निर्बलता उत्पन्न होने पर संचित दोष तुरन्त प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

(२) अत्याहार—मसूदे कटने की पीड़ा से बच्चा अधिक रोता है और जैसा कि ऊपर कहा गया है 'माताओं के पास बच्चे के रोने की एक ही दवा होती है और वह है दूध पिलाना', अतएव उसे बार बार एवं अधिक दूध पिलाया जाता है। अधिक दूध पीने से अजीर्ण होकर अतिसार होना स्वाभाविक है।

(३) आहार परिवर्तन—प्रायः दांत निकलने के समय के आसपास ही ऊपरी दूध एवं अनाज के पदार्थ देना प्रारम्भ किया जाता है। इन नये पदार्थों का प्रयोग असावधानी के साथ करने से अजीर्ण होकर अतिसार होता है।

(४) अतिसार उत्पादक अन्य कारण—जिन कारणों से सामान्य अवस्था में भी अतिसार होता है, वे कारण दांत निकलने के समय पर भी उपस्थित हो सकते हैं और अतिसार हो सकता है।

उपर्युक्त कारणों से होने वाले अतिसार के विषय में लोग यह सोचते हैं कि यह दांत निकलने के कारण हो रहा है, अतएव चिकित्सा की जरूरत नहीं। अतिसारजन्य धातुक्षय से बच्चा सूखता जाता है और जब वह काफी निर्बल हो चुकता है तब सूखा रोग की कल्पना करके भाड़-फूंक टोटके तथा सूखा रोग के लिए अचूक कही जाने वाली गुप्त औषधियों तथा पेटेन्ट औषधियों का आश्रय लिया जाता है। वस्तुतः ये सब धोखे की टट्टी हैं। इनमें से किसी से भी कोई लाभ नहीं होता। अधिकांश रोगी क्रमशः धुल धुल कर मरते हैं। कुछ अवश्य अच्छे हो जाते हैं किंतु वे इन उपायों से नहीं, भाग्य से ही अच्छे होते हैं।

(५) गलत चिकित्सा—सूखा रोग उत्पन्न करने में अनाड़ी चिकित्सकों का भी बड़ा भारी हाथ

रहता है। ये लोग अतिसार एवं प्रवाहिका के निदानादि पर विचार करके उचित चिकित्सा द्वारा दोष का पाचन कराना नहीं जानते, किसी भी दशा में अफीम युक्त औषधियों के द्वारा दस्त बन्द करते ही ये लोग अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं। इस प्रकार की चिकित्सा से दस्तों की संख्या कम हो जाती है और मल गाढ़ा भी हो जाता है किंतु पाचन क्रिया विकृत ही रहती है और मल अपाचित एवं दूषित ही निकलता है। इसी दशा का नाम चिरकारी अतिसार है, यदि इसके साथ मरोह, कुंथन और मल में कफ की अधिकता हो तो इसे ही चिरकारी प्रवाहिका कहते हैं। इस प्रकार का रोगी दिनों-दिन सूखता जाता है। बच्चे को सूखते देखकर माता-पिता को चिंता होती है कि मेरा बच्चा क्यों सूखता जा रहा है। उस समय मूर्ख मंडली एक स्वर से उत्तर देती है, इसे सूखा रोग होगया है।

चिरकारी अतिसार एवं प्रवाहिका के लक्षण—

मल पतला, कुछ बंधा और कुछ पतला अथवा अधिकांश बंधा हुआ किंतु कच्चेपन अर्थात् अपचन की विशेष गंध अवश्य पायी जाती है। रंग सफेद, पीला या हरा रहता है और उसमें चमकदार एवं लसदार छिछड़े अवश्य पाये जाते हैं। साधारणतः दिन में १-२ या ३ बार शौच होता है किंतु कुछ मामलों में इतना कब्ज भी पाया जाता है कि २-३ दिनों तक शौच नहीं होता तथापि जब भी शौच होगा मल उपर्युक्त प्रकार का होगा। थोड़े थोड़े समय के अन्तर से अतिसार के जोरदार आक्रमण होते हैं। इस रोग का निदान करते समय दस्तों की संख्या पर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है, मल का स्वरूप ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत से मामलों में मल के पश्चात् फेन निकलता है। यह भी एक महत्वपूर्ण लक्षण है। चिरकारी प्रवाहिका में मल में कफ और रक्त भी पाये जाते हैं। बच्चे में चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है जिससे वह अकारण ही रोता और मचलता है।



शिशुरोगाङ्कः

शरीर दुर्बल और सुस्त हो जाता है। खेलना कम होता जाता है और धातुक्षय होने के कारण बजन घट जाता है, रक्त की कमी के कारण रंग फीका (श्वेताभ) होता जाता है। मेद एवं मांस की कमी से चूतड़, चेंथों (गर्दन का पिछला भाग) और कर्ण-पाली सूखती है तथा बाढ़ रुक जाती है। १-१॥ माह तक रोग रहा आने पर रक्त की कमी से पैरों पर शोथ उत्पन्न होने लगता है और तीसरे माह तक काफी स्पष्ट रूप से शोथ दीखने लगता है। शोथ के कारण चेहरा भरा हुआ दीखता है। कुछ मामलों में सारे शरीर पर एकसा शोथ पाया जाता है जिससे पहचान पाना कठिन हो जाता है किंतु यदि रंग पर ध्यान दें तो बात स्पष्ट हो जाती है। कुछ मामलों में अन्त तक शोथ नहीं पाया जाता। पोषण की कमी से बाल पतले, रूखे एवं फीके (रंग में) होते जाते हैं। यह एक बहुत बड़ा निदानात्मक लक्षण है। मूत्र कम होता है और उसका रंग पीला रहता है। कुछ मामलों में कैल्शियम की कमी से अस्थिच्छय (Rickets) के लक्षण यथा दांत देर से निकलना, तालु देर से भरना, हड्डियां मुकना आदि भी पाये जाते हैं। निकोटिनामाइड की कमी से मुंह में छाले, रिबोफ्लेविन की कमी से ओष्ठकोणों में ब्रण, विटामिन ए की कमी से त्वचा एवं आंखों में रूखापन तथा शुष्काक्षिपाक (Xerophthalmia) भी पाये जा सकते हैं।

उपद्रव—

परिवर्तित जुधा (Perverted appetite) के कारण मिट्टी आदि अभक्ष्य पदार्थ खाने की इच्छा, भस्मक रोग, कृमि रोग, ज्वर, न्युमोनिया, मोती-फला, यकृत वृद्धि, वृक्करोग, अनेक प्रकार के फोड़े फुसी, गुदा के चारों ओर की त्वचा गल जाना, राजयक्ष्मा, आमबात, अङ्गघात आदि। अत्यधिक धातु क्षय हो चुकने के बाद होने वाला न्युमोनियां

हमेशा घातक (मारक) ही होता है, उसकी चिकित्सा करना व्यर्थ होता है।

रोग प्रतिरोधक चिकित्सा—

यदि आहार का नियमन उपर्युक्त ढङ्ग से किया जावे तथा किसी भी कारण से उत्पन्न हुए अतिसार की चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र एवं उचित रीति से की जावे तो यह रोग नहीं हो सकता।

रोगोपशामक चिकित्सा—

सर्व प्रथम कारण को दूर करें अर्थात् आहार का नियमन उपर्युक्त रीति से करें। इसके साथ ही अतिसार एवं प्रवाहिका की उचित चिकित्सा करें। देर की परवाह न करें, स्तम्भक औषधियों का प्रयोग कदापि न करें। अतिसार प्रवाहिका की शांति के पश्चात् अग्निवर्धक औषधियों का प्रयोग करें। जल हमेशा उबला हुआ ही दें। यदि रोगी माता का दूध पीता हो तो माता के पथ्य एवं स्वास्थ्य का भी ध्यान रखें। यदि कोई उपद्रव उपस्थित हो तो उसका भी यथाविधि उपचार करें।

उपर्युक्त चिकित्सा सूत्रों को ध्यान में रखते हुए किसी भी पद्धति के अनुसार की गई चिकित्सा से पूर्ण एवं स्थायी लाभ होगा। इस रोग में आहार का नियमन एवं अतिसार-प्रवाहिका की उचित चिकित्सा ही महत्वपूर्ण है। इनके बिना यह रोग अच्छा नहीं हो सकता। यदि आहार का नियमन नहीं किया गया तो बड़ी से बड़ी औषधियां भी इस रोग को अच्छा नहीं कर सकेंगी। यह मन्त्र अवश्य याद रखें। जो माता-पिता आहार का नियमन करने को तैयार नहीं उनके बच्चों के इस रोग की चिकित्सा कदापि न करें क्योंकि उससे आपको अपयश ही मिलेगा।

—श्री दौलतराम रसशास्त्री, आयुर्वेदरत्न
६२८ गोहलपुर, ५५२ उपरैनगंज, जबलपुर (म. प्र.)



बालकों का रसक्षय

श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

अष्टाङ्ग आयुर्वेद का एक अंग कौमारभृत्य भी है। खेद है कि आयुर्वेद का यह अंग आज दुर्लभ हो गया है। इस समय बालकों की चिकित्सा के लिये जो कुछ साहित्य यत्र तत्र मिलता है वह अपूर्ण है। यद्यपि महर्षि आत्रेय भी इस सम्बन्ध में केवल एक ही सूत्र में कुछ संकेत करके आगे बढ़ गये, इतना भी इसलिये कि वे प्रतिज्ञा कर चुके थे “यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्” आयुर्वेद सम्बन्धी जो ज्ञान हमारी चरकसंहिता में है वह अन्यत्र भी मिल सकता है जो इसमें नहीं, वह कहीं नहीं मिल सकता।

यद्यपि आयुर्वेद में ‘कौमारभृत्य’ तन्त्र को पांचवां स्थान दिया है किन्तु हमारी समझ से यही आयुर्वेद का सर्व प्रथम तन्त्र होना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद के उपयोग का श्रीगणेश शिशु के जन्म से ही आरम्भ होजाता है। अस्तु अब यहां पर हम अपने उद्देश्य की पूर्ति छिट फुट प्राप्त साहित्य तथा अपने चिरकालिक अनुभव के बल पर करेंगे।

कारण—

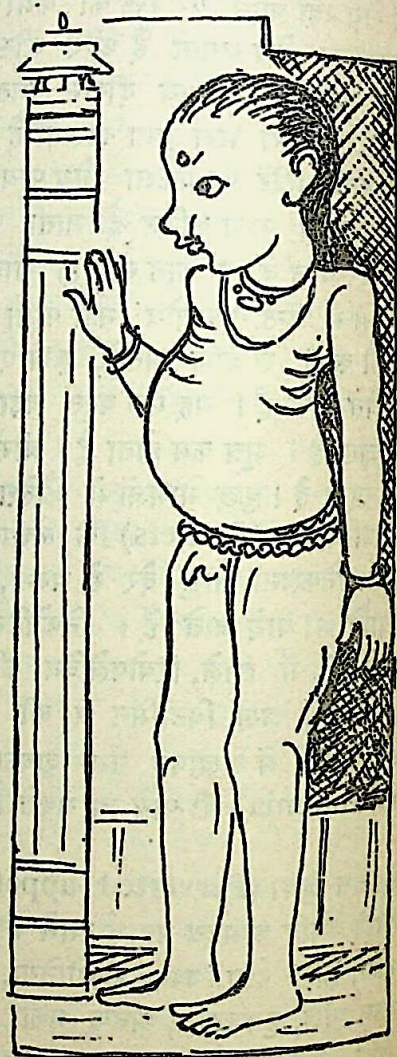
काश्यप संहिता में इस रोग का अन्तर्भाव फक्क रोग—बाल शोष में किया गया है। संहिता—कार इस रोग के निम्नलिखित तीन भेद मानते हैं—

१. क्षीरज, २. गर्भज, ३. व्याधिज।

क्षीरज फक्क निदान—कफ प्रकोपयुक्त धात्री अथवा माता के दूध को पिलाने से बालकों को अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण बालक कृश एवं चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। इसी प्रकार वात अथवा पित्त प्रकोपज दुग्धों के पीने से भी बालक रुग्ण हो जाते हैं। उनमें उन उन दोषों के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

गर्भज फक्क निदान—इस रोग को पारिगर्भिक या परिभव भी कहते हैं। यह रोग सगर्भा माता होता है /

का दूध पीने वाले बालकों को हो जाता है। इस विकारयुक्त दुग्ध के पान करने से वह अस्वस्थ होकर कुछ दिनों के बाद असाध्य हो जाता है।



चित्र नं० ५६

बालकों का रसक्षय

व्याधिज फक्क निदान—यह रोग १ से ५ वर्ष तक के बालकों को ज्वर आदि रूप से प्रारम्भ होता है /

क्षीरज फक्क लक्षण—इस रोग में रसवाही स्रोत
 अवरुद्ध हो जाते हैं अतः रसादि सातों धातुयें पुष्ट
 नहीं हो पातीं फलतः बालक कृश, बलहीन, निष्प्रभ
 हो जाते हैं, इसके बाद उपद्रवस्वरूप बालशोष या
 अस्थिवक्रता (Rickets) रोग हो जाता है।

व्याधिज फक्क लक्षण—इसमें अन्यान्य रोगों से पीड़ित होने पर बालकों के रक्तादि का क्षय हो जाता है। बालक के चूतड़, बांह, टांग सूख जाते हैं, सरबटों पड़ जाती हैं, पेट और सिर का भाग बड़ा दिखाई देता है, कमर से निचला भाग अशक्त होजाता है, शरीर से अरुचिकर गन्ध आती है, सांस लेने में कष्ट, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, नाक से सिंघाण (रैट) का निकलते रहना अथवा मुख से निरन्तर लार की प्रवृत्ति होती रहती है।

फक्क रोग के सम्बन्ध में डाक्टरी निदान—

यह रोग प्रथम वर्ष से लेकर सात वर्ष तक के बालकों को होता है। इसका कोई निश्चित काल नहीं है। कहीं कहीं बंशानुगत भी यह रोग देखा जाता है किन्तु आश्चर्य है कि बंशानुगत होने पर भी उक्त रोग के रोगी प्रायः साल छः महीने के पश्चात् स्वयं अच्छे होते देखे गये हैं जबकि आयुर्वेद के "येचापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति हांस्तान्प्रव-

इसमें रसवाही स्रोतों का विविध प्रकार से संशोधन करना चाहिये। धात्री अथवा माता जिसका बालक दुग्धपान करता हो उसको भोजन में घी, तेल आदि वसावर्धक पदार्थ न दें या कम दें। भोजन में विष्किर पक्षियों (गौरैया आदि) का मांसरस दें। शक्तिवर्धन के लिये मछली के यकृत का तेल (काडलीवर आयल) का भी प्रयोग करना चाहिए, पीने के लिये बकरी या गाय का दूध दें। यदि दूध में से मक्खन निकाल दें तो और अच्छा है। दूध और फलों का रस थोड़ा थोड़ा अनेक बार दें किन्तु एक साथ दोनों कभी न दें। घोंघे का शोरवा भी दिया जाता है इससे अस्थितत्व पुष्ट हो जाते हैं।



अन्नाद बालकों के लिये कुछ विशेष—इनको स्वभावविरुद्ध अथवा किसी प्रकार का भी विरुद्ध भोजन न दें। दालें, नये चावल, भैंस का दूध, कन्द एवं पत्र शाक सभी मधुर पदार्थ न दें या कम दें। अत्यधिक उष्ण या शीत पदार्थ कभी न दें। यदि रोगी के मूत्र में चार वसा आदि द्रव्य पाये जाय अथवा मूत्र का रंग पीला या लाल हो तब यवचार या आम को पचाने वाली औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सुश्रुत के मत से बालकों को औषधि देने की युक्ति—बालक को जो दवा देनी हो उसका कल्क (चटनी सी) बनाकर मां के स्तन के अग्रभाग में लगा देने से दुग्ध के साथ औषधि भी आसानी से पेट में चली जायगी।

सूखानाशक योग—यदि इस रोग में अग्निमन्द हो तो उसको तीव्र करने का उपाय करें। यदि अग्निमान्द्य न हो फिर भी बालक सूख रहा हो तो उसको विदारीकन्द का चूर्ण, जौ का आटा दोनों समभाग वंसलोचन, मुलेठी सत अष्टमांश मिलाकर घी में हलुवा बनाकर खिलायें। साथ में मिश्री मिलाकर

दूध दें, लाभ होगा।

दूसरा योग—सैंधानमक, सोंठ, मरिच, पीपल, सतगुरुच, पाढल, नागरमोथा, करंज, पूतिकर, इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करलें। एक रसी का मात्रा में मधु के साथ रुग्ण बालक को दिन रात तीन बार दें। इसका कुछ दिन सेवन करने से पाक शक्ति की वृद्धि होकर रोग समूल नष्ट होजाता है।

अनुभूत चिकित्सा—मुर्गी के अण्डा को फोड़ कर उसका तरल पदार्थ एक कम्बल के टुकड़े के ऊपर उस रोगी बालक को नंगा करके धीरे से बैठा दो। यदि वह तरल पदार्थ स्वयं गुदमार्ग से भीतर चला जाय तो निश्चित रोगी स्वस्थ हो जायगा, किंतु यह प्रयोग दो चार बार दो-दो या तीन-दिन का अन्तर देकर करना चाहिए जब तक कि बालक स्वस्थ न हो जाय। इस रोग में शीघ्र सफलता पाने के लिये इस योग का एक प्रयोग अवश्य कर लेना चाहिए।

—श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
सी. के ७६६ सिद्धेश्वरी, वाराणसी

सूखा रोग की चिकित्सा

[१]

श्री सत्यनारायण खरे

इस रोग की चिकित्सा जानने के पहले कुछ सावधानी रखना आवश्यक है। वह सावधानियां निम्नोक्त हैं—

१—अतिसार, वमन और ज्वर होने पर तुरन्त ही इनको निमूर्ल नष्ट कराना चाहिये। किसी भी रोग को दबाना नहीं चाहिये। जैसे किसी को दस्त लगते हों तो दस्त रोकने की दवा नहीं देनी चाहिये परन्तु दीपन पाचन औषधि देकर पाचन क्रिया ठीक करनी चाहिये।

२—जो लोग इस रोग को न समझकर भूतादि

के चक्कर में फंस कर मंत्र पूजा आदि करवाते हैं वह अपना धन नष्ट करने के साथ बच्चे का जीवन नष्ट करते हैं। ऐसी घटनायें मैं देहातों में हमेशा देखा करता हूँ। इसलिये आजकल इस रोग की किसी सुयोग्य चिकित्सक द्वारा चिकित्सा करवाना चाहिये जिससे कि वह हृष्ट पुष्ट हो। आजकल के यह गुनिया लोग केवल अपनी पेट पूजा करने के बाद कह देते हैं कि इन्हें कोई भूतव्याधि नहीं है इसकी तो किसी डाक्टर से चिकित्सा कराओ। इसलिये क्यों न पहले से चिकित्सक से चिकित्सा



शिशुरोगाङ्क

: २१३

कराई जावे जिससे बच्चे का जीवन सुखमय बीते। मंत्रों से लाभ अवश्य होता है परन्तु उनके जानने वाले अब देहात व शहरों में नहीं हैं। कभी कोई विरला ही ऐसा होता है जिसे मंत्रों का वास्तविक ज्ञान हो। अवास्तविक ज्ञान का ढोंग बनाने वाले देहातों में हजारों हैं। जनता को उनसे सतर्क रहना चाहिए।

३—बच्चे की मां को उचित आहार विहार करना चाहिए। मां को खट्टी, चरपरी, भारी वस्तुओं से पहरज करना चाहिए। बैर, चिन्ता एवं क्रोध को बिल्कुल त्याग देना चाहिये जिससे कि मां के दूध में कोई विकृति उत्पन्न न हो और बच्चा स्वस्थ रहे।

४—मां को यदि कोई व्याधि हो तो उसका निवारण शीघ्र करना चाहिये जिससे कि उस रोग का प्रभाव बच्चे के ऊपर न पड़े।

५—बच्चे को खुली हवा एवं प्रकाशयुक्त स्थान में रखना चाहिये। साथ ही साथ बच्चे को स्वच्छ और ढीले वस्त्र पहनाने चाहिये।

६—दीपन, पाचन, स्नेहपान कराना एवं पोषक पदार्थों का सेवन कराना चाहिये।

७—बालक को ६ माह तक मां का दूध पीना चाहिये। इसके बाद मां और गाय का दूध पिलाना चाहिये। मां को विटामिनों से युक्त आहार जैसे घी, दूध, टमाटर, मक्खन, हरी साक, अण्डे की जर्दी, चावल एवं अमरूद, आम, सन्तरा, मोसम्मी, नीबू, अंगूर इत्यादि फल सेवन करने चाहिए। इन तत्वों से मां के दूध द्वारा बच्चे को कैल्शियम एवं विटामिन मिलते रहते हैं।

८—बच्चे की पाचन क्रिया ठीक होने पर गाय के दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये। अण्डे की पीतिमा का सेवन भी लाभप्रद होता है। इसमें फास्फोरस अधिक होने से हड्डी मजबूत हो जाती है। मांसरस भी बच्चे को अत्यन्त लाभदायक है।

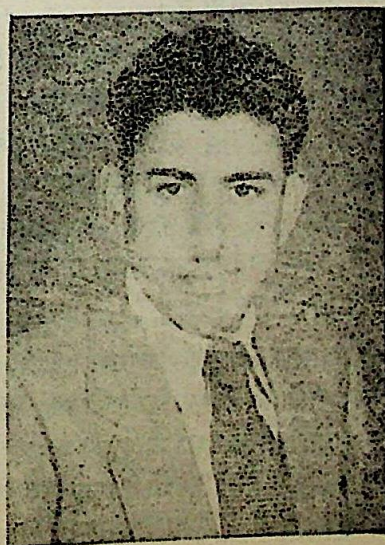
९—छोटी उम्र में यदि बच्चों को अन्न या ठोस द्रव्य दिये जायंगे तो पाचन क्रिया विकृत हो जावेगी और उदर में वृद्धि हो जाती है।

१०—बच्चों को मालिश करके स्वच्छ वायु में धूप में प्रातः लिटाना चाहिये। इससे विटामिन डी का निर्माण होकर शरीर के काम आता है।

११—इस रोग के साथ यदि कोई अन्य रोग हो तो उसे पहले शमन करना चाहिये।

सूखा रोग की सामान्य चिकित्सा—

१—एक बोतल के साफ पानी में ढाई तोला पत्थर का सूखा चूना डाल कर हिला दें। इस प्रकार ६ घण्टे तक रख छोड़ें। इसके बाद चूना तल में बैठ जायगा और ऊपर का चूने का पानी निथार कर अलग शीशी में रख लें। इसकी ६ माशा की मात्रा दूध के साथ मिलाकर दिन में तीन बार सेवन करने से अमृत के समान गुणकारी होता है। बच्चे की पाचन क्रिया ठीक रहती है और कुछ समय बाद बच्चा स्वस्थ व हृष्ट पुष्ट हो जावेगा। इससे बच्चे की हड्डी मजबूत हो जाती है और दांत शीघ्र निकल आते हैं।





२—सूखारोग की पहचान एवं चिकित्सा—अण्डे की जरदी निकाल कर अपनी हथेली पर रखें और बच्चे के पाखाने का मुकाम इस जरदी पर रक्खा जावे। अगर सूखा रोग होगा तो जरदी अपने आप खिंचकर बच्चे के पेट में चली जावेगी। यह पहचान है एवं यही चिकित्सा है। इसी प्रकार रोजाना कम से कम एक सप्ताह करें।

३—शरीर में चूना की कमी पूरी करने के लिए प्रबाल, शुक्ति भस्म एवं जहरमोहरा खताई पिष्टी का प्रयोग करना चाहिए।

४—यदि ज्वर, दस्त और वमन हो रहे हों तो कुमार कल्याण रस १ रत्ती, गौदन्तीभस्म १ रत्ती प्रबालपिष्टी १ रत्ती और बालोर्क रस १ रत्ती को मिला कर एक पुड़िया बनाकर शहद के साथ या मां के दूध में घोल कर पिलाना चाहिए। इससे उपरोक्त सभी उपद्रवों का शमन हो जाता है।

५—यदि स्वेदाधिक्य हो तो जहरमोहरा पिष्टी १ रत्ती उपरोक्त योग में मिलाकर दे सकते हैं। इससे दिल को भी शक्ति मिलती है।

६—स्नेहमर्दन के लिए चन्दन बलालाक्षादि तैल की मालिश करनी चाहिए इससे धातुगत आन्तरिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

७—पीने के लिये आयुर्वेद चिकित्सा में सर्वोत्तम योग “धन्वन्तरि कुमार कल्याण घुटी” है जो कि परीक्षित है। यदि इसका प्रयोग बच्चे को प्रारम्भ से ही कराया जावे तो बच्चा हमेशा हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ रहेगा। कोई भी रोग उसे प्रसित नहीं कर सकेगा। यह सर्वसाधारण जनता के लिये कम मूल्य वाली औषधि है।

८—अरविन्दासव-यह भैषज्यरत्नावली का योग है। यह बालकों के समस्त रोगों को नष्ट करता है। यह बल, पुष्टि, अग्नि तथा आयु को बढ़ाता है। यह ग्रहदोष एवं सूखा रोग (Rickets) की सर्वोत्तम औषधि है। इसको ३ माशा बराबर जल के साथ मिलाकर दिन में तीन बार पिलाना चाहिए।

९—मुक्तादि वटी—यह सिद्ध योग संग्रह की अमूल्य औषधि है। इसकी एक गोली को मां या गाय के दूध के साथ मिलाकर खिलाना चाहिये। इससे बालकों के जीर्ण ज्वर, बालशोष (सूखा रोग), दस्त या उल्टी होना, खांसी आदि रोग नष्ट हो कर बालक अच्छा हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

१०—रक्तालपता के लिए नवायश लौह या मयङ्गूर भस्म का प्रयोग करना चाहिये।

११—सूखा तेल का योग बाजार में मिलता है इसको शरीर पर मालिश करने से बच्चे के शरीर का ताप नष्ट होकर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और त्वचा की झुर्रियां मिटकर नवीन त्वचा का निर्माण हो जाता है। पन्द्रह दिन मालिश करने से बालक का शरीर सुडौल एवं सुन्दर हो जाता है। इसी के साथ, एक “रिक्टोपिल्स” की गोलियां बाजार में मिलती हैं। इनका सेवन बच्चे को दिन में तीन बार एक गोली मां या गाय के दूध में कराना चाहिये। इनसे शरीर में कैल्शियम की कमी पूरी होकर अस्थि एवं रक्त का निर्माण होता है एवं शरीर में नयी स्फूर्ति पैदा हो जाती है। यह परीक्षित है।

१२—आयुर्वेद व्याधिज फक्क को मलीनता (गन्दगी से रहना) के कारण ही मानता है। इसलिये बालक को शारीरिक, कालिक और बाहरी बातावरण की स्वच्छता बहुत लाभप्रद होती है।

१३—आयुर्वेद में फक्क रोग की चिकित्सा कश्यप संहिता में इस प्रकार उल्लिखित है—

“कल्याणकं पिवेत फक्कः षट्पलं वा यथाऽमृतम् ।
ससरात्रात् परं चैतं त्रिवृत्तीरेण शोधयेत् ॥
शुद्धं कोष्ठस्वतः फक्कः पि..... ।

अर्थात् फक्क रोगी को सबसे पहले स्नेहन कराने के लिये षट्पल कल्याण घृत या अमृत घृत पिलाना चाहिए। इसके बाद त्रिवृत्तीर से सात रात्रि पर्यन्त कोष्ठ का शोधन करें। इसके बाद ब्राह्मी घृत का सेवन कराना चाहिये।

१४—उपरोक्त चिकित्सा के साथ साथ—

त्रिचक्रं फक्करथकं प्राज्ञः शिल्पिकनिर्मितम् ।
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत ॥

अर्थात् किसी शिल्पी से एक लकड़ी के तीन पहिये की गाड़ी (त्रिचक्र *Tricycle*) बनवा कर धीरे धीरे फक्क रोगी बालक को उसके सहारे चलाना चाहिये। ऐसा अभ्यास करने से अस्थियों में कुछ शक्ति आयेगी। यह अभ्यास उन बच्चों को न कराना चाहिये जो बहुत कमजोर हैं या जिनकी अस्थियां अधिक पतली या बक्र हों ऐसे बालकों को पूर्ण शैया विश्राम (*Complete bed rest*) कुछ महीनों तक कराना चाहिये।

आधुनिक मतानुसार चिकित्सा—

१—बाजार के जितने भी कैल्शियम, विटामिन ए और डी के योग हैं वह सभी सूखा रोग के लिये लाभदायक हैं। कुछ योग जो स्वयं परीक्षित हैं वह निम्न हैं—

(अ) कैल्सीफैरोल (*Calciferol*)—इसे विटामिन डी कहते हैं। ग्लैक्सो कम्पनी का ओस्टलिन लिक्विड (*Ostelin-liq.*) नाम से मिलता है। इसे १० बूंद दूध या बुडवर्ड ग्राइप मिक्चर के साथ दिन में तीन बार पिलाने से यह रोग मूल से नष्ट हो जाता है। इसके इन्जैक्सन भी लगते हैं।

(आ) एडोक्सलीन (*Adexolin drops*)—यह विटामिन ए और डी का योग है। इसको भी ६ बूंद ग्राइपवाटर की १५ बूंद के साथ दिन में तीन बार पिलाना चाहिये।

(इ)—ओस्टोकैल्शियम (*Ostocalcium tablet*)—इसकी गोलियां आती हैं जो कि कैल्शियम फास्फोरस और विटामिन D की बनी होती हैं। यह अस्थि का निर्माण करती हैं। इसकी एक एक गोली दिन में तीन बार दूध के साथ खिलानी चाहिये। इससे सूखा रोग नष्ट होने के साथ दन्तोद्गम भी शीघ्र होता है।

(ई) मल्टी विटामिन ड्रॉप्स के योग भी बाजार

में अनेकों मिलते हैं। इसका भी प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद होता है। इनको १० बूंद की मात्रा में में तीन बार पिलाना चाहिये। बाजार में बीकाडैक्स, इनरविट, एबडैक, एडवीटोल इत्यादि योग मिलते हैं। यह सभी परीक्षित योग हैं।

(उ) विटामिन ए और डी के इन्जैक्सन भी आते हैं जो कि १ सी.सी. एम्प्यूल में होते हैं। इन्हें मांसान्तर्गत प्रति दूसरे दिन अर्थात् सप्ताह में तीन बार लगाना चाहिये। इससे बच्चा पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है। इसका नाम डीकाएडोक्सलिन है।

(ऊ) यदि प्रारम्भ में ही बालक अस्वस्थ एवं हड्डी पतली और कमजोर हों तो उसे “ओस्टो-कैल्शियम बी १२ शर्बत (*Ostocalcium B 12 syrup*) का प्रयोग कराना चाहिये। यह कैल्शियम, फास्फोरस, विटामिन D एवं बी १२ का योग है। यह रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि एवं मज्जा सभी का निर्माण करता है। यह ग्लैक्सो या योग है। हर स्थान पर उपलब्ध है।

(ए) इसी प्रकार एडीकाल १२ (*Adical 12*) नामक शर्बत भी बाजार में मिलता है। इसकी एक चम्मच प्रातः दोपहर एवं सायंकाल में पिलाना चाहिए। इससे अस्थियों में मजबूती एवं वृद्धि, रक्त निर्माण, शरीर की वृद्धि, दन्तोद्गम शीघ्र होता है। इस नाम का इन्जैक्सन भी आता है। इसकी १½ सी. सी. की मात्रा प्रति दूसरे दिन मांसान्तर्गत लगानी चाहिये।

२—इस रोग में सबसे अच्छा इन्जैक्सन का योग कैल्शियोस्टलिन विटामिन बी १२ (*Calcio vitamin with vitamine B 12*) १½ सी.सी. और बीकाडैक्स (*Becadex injection*) इन्जैक्सन १सी.सी. दोनों एक साथ मिलाकर मांसान्तर्गत देना चाहिए। इनको सप्ताह में तीन बार लगाना चाहिए। कुल ८-१० इन्जैक्सन लगवाने से बच्चा पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इससे दस्त और कै (वमन) भी बन्द हो जाते हैं क्योंकि यह आहार को पचाते हैं।



३—मालिस के लिये आधुनिक चिकित्सा में काडलिवर आइल है। इसमें विटामिन डी अधिक होता है। इसको पूरे शरीर पर मर्दन करना चाहिए। साथ में ६० ब'द की मात्रा में दिन में तीन बार पिला भी सकते हैं। इससे अस्थि मजबूत होकर अस्थियों की वक्रता नष्ट हो जाती है और बच्चा शीघ्र चलने लगता है। जिनके बच्चे तीन साल तक की उम्र में भी नहीं चल पाते हैं उन्हें इसीकी मालिश एवं मुख द्वारा सेवन कराना चाहिये। इसकी निम्न विशेषता है—

The superiority of the Cod-liver-oil over other oil depends chiefly upon—

- (1) Rapid absorption.
- (2) Quick assimilation.
- (3) Ready oxidation.
- (4) High Nutritive value.
- (5) High Vitamin contents and
- (9) Its powerful effect on cell-growth and metabolism.

Therefore many morbid conditions of the system are slowly revived by it.

इस तेल का शोषण पाचन जारण शीघ्र हो जाता है इसमें अधिक पोषण शक्ति, अधिक विटामिन्स होते हैं। कोषाणु की वृद्धि में अधिक प्रभावशाली है। इसलिये संस्थान सम्बन्धी कई विकृतियां इससे हट जाती हैं। इसकी दुर्गन्धि केवल इसका दोष है। इसके लिये इसी प्रकार के दूसरे निम्न तेल हैं—

४—हैलीबट लिवर आइल, शार्क लिवर आइल—यह उपरोक्त तेल से अधिक उत्कृष्ट द्रव्य हैं क्योंकि इसके ग्राम में २००० यूनिट डी और ३०००० यूनिट ए के होते हैं। यह उसकी अपेक्षा कम दुर्गन्धयुक्त है।

५—जहां अल्ट्रावायलेट किरण की चिकित्सा के साधन हों तो इससे भी यह रोग नष्ट हो जाता है परन्तु यह साधन प्रत्येक रोगी के लिये उपलब्ध नहीं है।

—आयुर्वेदाचार्य श्री डा० सत्यनारायण खरे
ए., एम. बी. एस., सेबक औषधालय,
ककबारा (भांसी) यू. पी.

[२]

वैद्य श्री नटवरलाल शास्त्री वैद्य भूषण

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

(१) सेवनीय (खिलाने-पिलाने के) प्रयोगों में महालवङ्गादि चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, अश्वक भस्म, मौक्तिक भस्म, प्रबाल भस्म, लोह भस्म, प्रबाल पिष्टी, हरिताम्भ पिष्टी (जह्रस्मोहरा खताई), मृगशृङ्ग भस्म, रौप्य भस्म, सुवर्ण भस्म, कुक्कुटाण्ड त्वक् भस्म, शंख भस्म, मांझूर भस्म, प्रबाल पंचामृत आदि में से एकाकी प्रयोग अथवा यथावश्यक कतिपय का संयोजन, ऋतुमान, प्रकृति, वयोमान और दोष तारतम्य की दृष्टि से योग्य प्रयोग और मात्रा निश्चित की जाकर देना गुणावह होता है।

उसी प्रकार—

अ—अश्वगन्धापाक, अश्वगन्धावलेह, अश्वगन्धा घृत (रोगी का अग्निबल यदि अचच्छा हो तो) बहुत गुणावह होते हैं। अन्यथा—

आ—अश्वगन्धारिष्ट, लोहासव, दशमूलारिष्ट, द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट का एकाकी प्रयोग अथवा योग कतिपय का संयोजन लाभदायक होता है।

इ—यदि उदर रोग का अनुबन्ध पाया जाय तो कुमारी आसव, आरोग्यवधिनी रस अथवा तत्सम प्रयोग प्रयुक्त किये जाय।

ई—विदग्धाजीर्ण, अम्लपित्त का अनुबन्ध हो तो अथवा परिणामतः भस्मक का लक्षण स्पष्ट हो तो उपरोक्त १ अङ्क में निर्दिष्ट प्रयोगों में मुक्ता, शुभा-
वर्ग के भस्मादिक विशेष गुणावह होते हैं। उसी प्रकार द्राक्षावलेह या द्राक्षासव, कुष्माण्डासव, कुष्माण्डावलेह। यह भी उपयुक्त होते हैं।

उ—सुवर्ण मालती वसंत, सुवर्ण सूतशेखर, चन्द्रकला रस, कुमार कल्याण रस यह प्रयोग भी चिकित्सा में मदद देते हैं और प्रभाव दिखाते हैं।

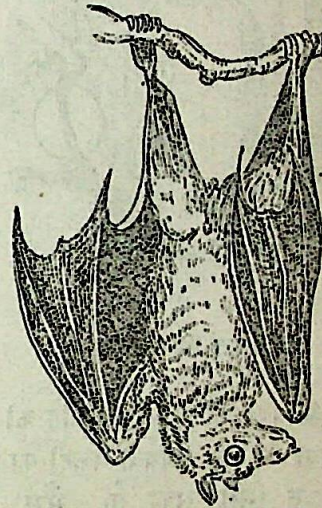
(२) बाह्योपचार के प्रयोग—

अ—महालक्ष्मीविलास तैल, चन्दनबलाला-
क्षादि तैल, लाक्षादि तैल, अश्वगन्धा घृत, महा-
माष तैल इनका अभ्यङ्ग और इसकी जोड़ में पूर्व में या पश्चात् 'सूर्य रश्मि रत्नान' सुतरां उपकारक होता है।

उपरोक्त शास्त्रीय प्रयोगों का सदा-सर्वदा अनेक रोगियों पर समाधानकारक अनुभव आया और आता है परन्तु कतिपय असाध्य अथवा कष्ट-
साध्य रोगियों पर निम्नांकित (किसी महात्मा के वतलाये हुए) प्रयोगों से चमत्कारिक लाभ अनुभव में आया है—

(१) बड़वागन (मराठी में बट वाधूल कहते हैं)—यह पक्षी सूर्योदय से अस्त होने तक भाड़ पर (प्रायः बट वृत्त पर) औंधा लटका हुआ होता है (चिमकादड़)। इसकी ताजी गीली विष्टा और वह न मिलने की सूरत में सूखी हुई विष्टा भी काम देती है परन्तु पुरानी न हो। वयोमान और शरीर के कद की दृष्टि से अर्ध तोले से ३ तोले प्रमाण में लेकर किंचित पानी मिलाकर अभ्यङ्ग योग्य गाढ़ा, पतला कर लिया जाय और दिन उतरते (यदि उष्णकाल हो तो सन्ध्या में अन्यथा सूर्य की गर्मी के विद्यमान समय में) रोगी के सर्वाङ्ग शरीर पर (सिर से लेकर पैरों के तलवों तक अङ्ग प्रत्यङ्ग में यथा बगलें और शरीर के जोड़ भी छूटने न पाय) लगाकर धीमे धीमे हाथों से

कुछ ही सूखने तक मर्दन किया जाकर शरीर अच्छी तरह सूखने के पश्चात् वस्त्र पहना दिए जाय, प्रातःकाल में यथाशक्य जल्दी सुखोष्ण जल से स्नान करा दिया जाय और महीन वस्त्र से धीमे हलके से पोंछ लिया जाय। रगड़ कर नहीं पोंछना चाहिये ताकि शरीर पर दृश्यादृश्य रूप में रही हुई औषध शरीर पर टिकी रहे। इस प्रकार सप्ताह में दो बार अथवा स्नानातिरेक का रोगी पर अनिष्ट प्रभाव



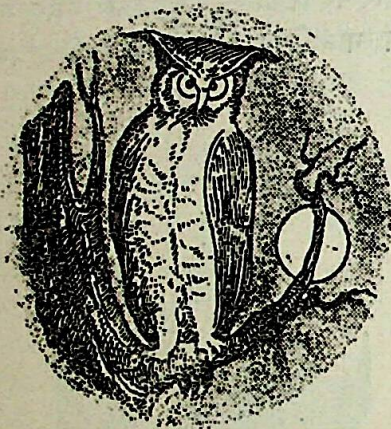
चित्र नं. ५७—चमगादड़

प्रतीत न हो तो तीन अथवा चार बार पर्यन्त यह प्रयोग किया जा सकता है। व्याधि की उप्रता अथवा जीर्णविस्था होते हुये भी ज्यादा से ज्यादा तीन सप्ताह तक लगातार और यदि वैसी स्थिति न हो तो एक सप्ताह तक लगातार यह प्रयोग जारी रखकर हर स्थिति में १-१ सप्ताह तक प्रयोग बन्द किया जाय। अनन्तर इसी नियमानुसार आरोग्य सुधरने तक प्रयोग किया जाय। ज्यादा से ज्यादा तीन मास में उत्तम आरोग्य लाभ होता है। स्नान में साबुन या बेसन अथवा तेल का उपयोग हर स्नान पर नहीं करना चाहिये किन्तु सप्ताह में एक बार करना अनुचित भी न होगा।



घूबड़ घृत (मर्दन के लिये) —

एक घूबड़ जिसको उल्लू भी कहते हैं और इन नामों से प्रायः सभी प्रान्तों में लोग पहिचान लेते हैं। विशेषतः इस प्राणी की पहिचान यह है कि यह दिन में मन्द दृष्टि वाला होता है।



चित्र ५८—उल्लू

इस एक घूबड़ को प्रथम एक लोहे की कढ़ाई में गौघृत अथवा मेंढी का अथवा बकरी का घृत और यदि यह न मिल सका तो भैंस का घृत आधा सेर डालकर कढ़ाई पर इस अन्दाज से उस प्राणी को हाथ में रखकर बध किया जाय कि उसका रक्त और शरीर का कोई भाग बाहर न जा सके। इसी रीति से उसके शरीर के टुकड़े छोटे छोटे (यथाशक्य) बनाकर घृत में डालकर उपलों की अग्नि पर मृदाग्नि से इस तरह पाचित किया जाय कि उन टुकड़ों में नरमी न रहने पाए, किंतु खंगार के जैसे शुष्क हो जाय वैसे जलने भी न पाये। इस रीति से घृत और तैल पाचन करें। पाचन होते ही अग्नि पर से पात्र को उतार लिया जाय और तुरन्त उष्ण रहते ही वस्त्र से छानकर एक-आध घण्टे भर उस पोटली को ऊब वाली जगह में टिंगा रखा जाय ताकि घृत का पूर्णांश हस्तगत हो सके। उस घृत को जरा ठण्डा होने पर बड़े मुंह वाले कांच पात्र में अथवा चीनी

के पात्र में भर कर रख लिखा जाय।

(विज्ञेय वि.) यह घृत सिद्ध करने के लिए जंगल में जाकर सिद्ध करके खाना चाहिए। ऐसा प्रयोग दाता ने कहा है और वह अनेक दृष्टि से ठीक मालूम होता है।

इस घृत को यथावश्यक प्रमाण में (जो रोगी के शरीर के कद के मान से पर्याप्त हो सके परन्तु १ या १॥ तोले से ज्यादा नहीं लेना चाहिये) लेकर प्रतिदिन रात्रि में सिर से पैर के तलवों समेत अङ्ग प्रत्यङ्ग में धीरे धीरे मर्दनपूर्वक अभ्यस्य कराया जाय और यदि सिर पर बाल ज्यादा हों तो कम कर दिए जाय ताकि घृत का अपव्यय न हो तथैव सिर का तालु प्रदेश, मन्या प्रदेश और मलने से छूट न जाय। खासकर यह घृत आगे पीछे की पसलियों, पृष्ठवंश, और बड़े सन्धि प्रदेशों पर कुछ ज्यादा देर तक मर्दन करना चाहिए। इसके बाद यथावश्यक ऋतुमानानुसार कपड़ा बदल दिया जाय परन्तु एक घण्टे तक तो अङ्ग में कपड़े नहीं पहिनाने चाहिये, किंतु उसके बाद पहिनाया जाय। लगातार एक सप्ताह तो प्रयोग इस प्रकार किया जाना ही चाहिये। सप्ताह पूर्ण होने पर १ या २ दिन का अवकाश दिया जाय। इस प्रकार अवकाश देते हुए सवा महीना पर्यन्त यह प्रयोग करने से बहुत बड़ा लाभ प्रतीत होगा। इस प्रयोग के कालखंड में ऋतुमान, रोगावस्था, रोग की सहनशीलता के तारताम्यानुसारेण १ से ७ दिन का अन्तर तक देकर जिस जिस दिन योग्य मालूम होता रहे सुखोष्णोदक से निर्वात स्थान में स्नान कराया जा सकता है। स्नान के लिये इस प्रयोग में साबुन, रीठा, बेसन, उड़द के आटे का उद्धर्तन प्रयोग किया जाय। जैसे जैसे रोगी सुधरता जाय उसके अवकाश करने की कालावधि बढ़ाते रहना चाहिये।

—श्री वैद्य नटवरलाल वैद्यभूषण औरंगाबाद।

[३]

श्री वैद्य बनारसीदास दीक्षित H. M. B.



सबसे प्रथम रोग के कारण का पता लगाना अति आवश्यक है। अतः इस प्रकार के बच्चों का निदान बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए। निदान के समय माता-पिता के बारे में पूरी पूरी जानकारी करनी चाहिये। यह भी जान लेना अति आवश्यक है कि पूर्व बच्चों को भी यह रोग हुआ था या नहीं। यदि किसी माता के पहले भी बच्चे इसी रोग से मरे हों तो उस माता का दूध तुरन्त बन्द करा देना चाहिए। परिपाक शक्ति कमजोर होने पर लघु भोजन देना चाहिये।

इस रोग में प्रायः कैलसियम प्रधान औषधियाँ ही अधिक व्यवहार की जाती हैं क्योंकि कैलसियम की कमी इस रोग का प्रधान कारण है।

प्रबाल पिष्टी १ रत्ती, गिलोय सत्व १ रत्ती, कुमारकल्याण रस १ रत्ती-१ मात्रा-अनुपान-माता का दूध या मधु से दिन में ३ बार दें। यह उपरोक्त मिश्रण छोटे बड़े सब बच्चों के लिये उपयुक्त है।

अरविन्दासव ३ तोला जल भिलाकर दिन में दो बार जिन बच्चों के पीले रंग के पतले दस्त होते हों, मल द्वार की चर्म लाल हो गई हो, मुँह में घाव हों, ज्वर हो ज्वर में प्यास, बेचैनी, अनिद्रा आदि उपसर्ग युक्त सुखंडी में उपरोक्त व्यवस्था करें। यदि रक्त में रक्ताणु की कमी हो गई हो तो मंडूर भस्म १ रत्ती, प्रबाल पिष्टी १ रत्ती, गिलोयसत्व १ रत्ती, १ मात्रा-अनुपान-मधु से दिन में ३ बार दें। दिन में दो बार अरविन्दासव आधा तोला जलसे दें। यदि माता गर्भिणी होवे तो उस समय बच्चों को दूध पिलाने से पारिवर्तिक रोग की उत्पत्ति हो जाती है एवं बच्चे को उपरोक्त सब लक्षण हो जाते हैं। ऐसी हालत में उस माता का दूध बन्द करा देना चाहिये एवं निम्नलिखित मिश्रण देना चाहिये-

मण्डूर भस्म, शृङ्ग भस्म, सुधापटक् योग,

सितोपलादि चूर्ण, मधु मालती बसन्त। मात्रा अवस्थानुसार दें। इस योग के द्वारा मैंने चार पांच बच्चों की चिकित्सा की। प्रायः सफलता मिली। इस योग के अलावा मैं मालिश के लिए काडलिवर आयल, और ओलिव आयल मिलाकर मालिश कराता था, सर्दी की मौसम में। और गर्मी की मौसम होने पर शंखपुष्पी तेल की मालिश करने का कहता था।

इसके अलावा मुक्तादि वटी, मालती चूर्ण, बाल वटी आदि भी अति हितकर हैं। और इनको प्रायः व्यवहार कराता हूँ।

नोट—शंखपुष्पी तेल की मालिश बराबर चालू रखें।

होमियोपैथिक चिकित्सा—

होमियोपैथिक चिकित्सा लिखने के पूर्व मैं पाठकों का इसके मूल सिद्धांतों की ओर ध्यान दिलाना जरूरी समझता हूँ। होमियोपैथिक का मूल मन्त्र है समःसमम् समयति (१) औषधी के लक्षण और रोग लक्षण मिलने जरूरी हैं। (२) एक साथ एक ही दवा दें। इसके साथ अन्य दवा न दें। (३) सूक्ष्म मात्रा (शक्तिवृत्त) परमाणु शक्ति में। (४) जब तक दवा से लाभ होता रहे तब तक दूसरी खुराक न दी जावे।

अब हम होमियोपैथिक में इस रोग में व्यवहार आने वाली खास खास दवाओं के लक्षण संक्षेप में लिखते हैं।

एग्रोटैनम ३०, २००-

बच्चे का मिजाज चिड़चिड़ा, सब समय खाता है किंतु फिर भी शरीर सूखता जाता है। पहले पैरों की तरफ से सूखना आरम्भ होता है। पहले पैरों की तरफ से सूखता जाता है। चमड़े में सलबट पड़ती है जो भी खाता पीता है अजीर्ण हो दस्त में निकलता है। उपरोक्त 'पहले पैरों की ओर से सूखना' लक्षण जरूरी है।

वैराइटा कार्व ३०, २००—

इस दवा के प्रकृतिगत लक्षणों पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। बच्चा नाटा (छोटे कद का उम्र की अपेक्षा छोटा लगता है) शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। इस तरह का बच्चा देर से चलना एवं देर से बोलना आरम्भ करता है। क्योंकि उसकी बुद्धि का विकास रुक जाता है और वह चलने और बोलने की क्रिया को करने में असमर्थ रहता है जिसे चालू भाषा में बुद्धू कहते हैं। ऐसे बच्चों को प्रायः सर्दी हो जाती है और ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं। टांग्सिल प्रायः ही बढ़ता है। अति भूख, खाता है पर सूखता जाता है, पेट में वायु का अधिक होना। ऐसे बच्चों को वैराइटा कार्व उच्च शक्ति की १ मात्रा देकर १ मास तक देखिये। उसकी प्रकृति में परिवर्तन हो जावेगा। एवं उसका विकास आरम्भ होगा। जहां बच्चा चलना जानता है पर पैरों की कमजोरी के कारण नहीं चल सकता उस जगह कल्केरिया फास उच्च क्रम दें।

आर्जेन्टम नाइट्रीकम ३०, २००, १०००—

बच्चे में मीठा खाने की अति इच्छा रहती है। पाखाना हरे रंग का आम मिला हुआ होता है। उसी के साथ वायु निकलती है। बच्चे का चेहरा सूखकर बन्दर की तरह होता है।

कल्केरिया काव ३०, २००, १०००—

कल्केरिया (कैलसियम) जाति की जितनी भी दवा है वह लक्षण मिलने पर बच्चे की *Rickets* की प्रकृति को ही बदल देती है। अतः इनके धातु-गत लक्षणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। बच्चे का माथा और पेट शरीर की अपेक्षा अधिक बढ़ा रहता है। हाथ पैर पतले २ होते हैं किंतु माथा और पेट बढ़ा रहता है। बच्चा सर्दी जरा भी सहन नहीं करता है। माथे में, कपाल पर तथा हाथ पैरों में पसीना होता है। पाखाने में एवं वमन में खट्टी गंध रहती है। दूध हजम नहीं होता पीने के बाद वमन करता है। उस वमन में खट्टी गंध एवं दूध फटा फटा निकलता है।

कल्केरिया फास ३०, २००, १०००—

यह सुखंडी रोग की प्रधान दवा है। प्रकृतिगत लक्षण हैं—कमजोर पूरा शरीर सूखा पर पसीना, दूध हजम नहीं करता, तालु का जो जल्दी नहीं लगता है, पतले सफेद हरे पीले रंग के दस्त होना। शरीर की हड्डियां कमजोर, मेरुदण्ड टेढ़ा हो जाता है। बच्चा जो भी कुछ खाता है उसमें से कैलसियम ग्रहण नहीं करता अतः वह भी बिलंब से निकलते हैं। बच्चे की गर्दन इनके कमजोर हो जाती है कि माथा भी सीधा नहीं रह सकता। गर्दन की तरफ अधिक सूखता है। सखाता रहता है फिर भी सूखता जाता है। पेट अन्दर की तरफ घुसा हुआ होता है।

ह्याथोडियम २००, ३०—

बच्चा खूब खाता पीता है फिर भी सूखा जाता है। इस दवा में बच्चे का पूरा शरीर ही एक साथ सूखता है। बच्चा हमेशा ठंडी जगह में रहना चाहता है। गरमी बर्दास्त नहीं होती। ठंडी दवा, ठंडा भोजन, ठंडे जल से स्नान अधिक पसन्द करता है। गरमी से रोग लक्षण बढ़ जाते हैं। प्लीहा और यकृत बढ़ा हुआ होता है। खास विशेषता यह है कि जगह जगह की गांठें (ग्रन्थियां) बढ़ जाती हैं और रात में पसीना अधिक आता है। मंद मंद ज्वर भी रहता है। ज्वर में यदि गरमी से उपशम हो और बाकी लक्षण उपरोक्त हों तो इसके पहले आर्य आयोड दें।

लाइकोपोडियम २००, १०००—

पेट में गड़ गड़ शब्द होना, पेट में खास करके नीचे के पेट में वायु जमा होना, कब्ज रहना, शाम को ४ बजे से ८ बजे के बीच में मन्द मन्द ज्वर का होना, शरीर सूखते जाना, पेसाब में लाल लाल बालू की तरह तली जमना। भूख अधिक, खूब खाता पीता है फिर भी सूखता जाता है, खास करके ऊपर का हिस्सा पहले सूखता है। इस दवा की १-२ खुराक देकर दवा बन्द रखें।



शिशु रोगादि

नेदरमथूर २००, १०००—

खाता पीता खूब है फिर भी सूखता जाता है गर्दन का पिछला हिस्सा पहले सूखता है कब्ज रहती है। जिन बच्चों में मलेरिया विष हो या गर्भा-वस्था में माता को मलेरिया काफी हुआ हो उनके लिये अधिक लाभप्रद है। १० बजे दिन से मन्द-मन्द ज्वर होना बच्चा नमकीन चीज अधिक पसन्द करता है।

तलफर ३०, २००—

बच्चे को अस्वाभाविक भूख, हाथ पैर के तलवे गरम रहते हैं, बच्चा स्नान करना पसन्द नहीं करता, पित्त प्रकृति प्रधान बच्चा, चर्म रोग के कारण रोगोत्पत्ति।

सोरीनम् २००—

किसी बच्चे में चर्म रोग दाद खाज एकजीमा फोड़े फुन्सी आदि ऊपरी मरहम आदि से दबाये गये हों उसके बाद से ही बच्चा सूखा रोग से आक्रांत हो, एवं पसीने पाखाने आदि में सड़ी हुई गंध बच्चे को कितना भी नहा देवें फिर गन्ध आती रहती है। बच्चा ठंडी हवा या सर्दी बर्दास्त नहीं करता है। यह नोसोड (रोग विष से निर्मित) दवा है, अतः उच्च क्रम सिर्फ १ मात्रा देकर फलाफल देखें। बार बार दवा न देवें।

ट्यूबर क्यूलीनम् २००, १०००—

यह भी अति गहराई तक कार्य करने वाली नोसोड (रोगज) औषधी है। इसके लक्षण मिलने पर इसका कार्य देखकर आश्चर्य से मुग्ध हो जाना होता है। किन्तु इसके व्यवहार में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यह क्षय रोग प्रवणता तथा क्षय अवस्था में दोनों ही हालतों में व्यवहार की जा सकती है। लक्षण निम्न प्रकार हैं—

माता-पिता में क्षय रोग का इतिहास मिले, और उनकी संतान सुखंडी रोग से आक्रांत होवे, उनमें इस दवा के लक्षण, जैसे बच्चा दिन रात खाता पीता है— किन्तु सूखता जाता है। सर्दी जुखाम तो

उसका जीवन साथी हो जाता है, ठंडी हवा लगी कि सर्दी होगई, माता यह निर्णय तक नहीं कर सकती कि बच्चे को कैसे सर्दी लगी है। रोग लक्षण परिवर्तन शील रहते हैं। कभी किस यन्त्र पर रोग का आक्रमण होता है, कभी किसी पर, इस प्रकार एक के बाद एक नया रोग होता ही रहता है। और इन सब रोगों में आपस में कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के रोगों के आक्रमण होते हुये भी रोगी का मन प्रसन्न रहता है, यह विशेषता है। हमेशा बच्चा अस्थिर रहता है एक जगह रहना पसन्द नहीं करता। शरीर में जगह जगह छोटे छोटे फोड़े होते हैं या जगह जगह एकजीमा होता है। उपरोक्त लक्षणों में जब वंशगत ट्यूबर क्लोसिस (Tuberculosis) दोष हो उस हालत में आप इसकी २०० या १००० शक्ति की मात्रा देकर २-३ मास उसको कार्य करने दीजिये। आप अपने रोगी को जो कि क्षय रोग प्रवणतायुक्त है क्षय से बचा लेंगे। जहां उक्त क्षेत्र न हो वहां इसका नाम तक न लेवें। यही है हौमियो-पैथिक का बी. सी. जी. वैक्सीन। नीचे एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट समझा देना आवश्यक है।

उदाहरण—श्री बलरामप्रसाद जी (एक्सार्ज सिपाई रक्सौल) का बच्चा उम्र ५ वर्ष जन्म के कुछ दिन बाद से ही सुखंडी रोग से आक्रांत हुआ। भूख काफी अच्छा खाता पीता था पौष्टिक लघु पदार्थ खाते हुए भी सूखता ही जाता था। कभी टाईफाइड कभी साधारण ज्वर ६८।। से १०० तक कभी दस्त कभी कान का बहना आदि अनेक रोगों से आक्रांत रहता था। सर्दी जुखाम ब्रॉकाइटिस आदि तो उसके जीवन साथी थे। सब ही तरह का इलाज हुआ किन्तु प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अन्त में यही निर्णय किया कि इस बच्चे की ट्यूबरक्यूलोसिस प्रकृति है अतः एक योग्य चिकित्सक से परामर्श करके दोनों ने निर्णय करके उसे २०० शक्ति की १ खुराक दी। देखकर बहुत ही



आश्चर्य हुआ कि बच्चे के सब उपसर्ग एक एक करके दूर हो गए और बच्चा स्वस्थ है। अब उसे सर्दी खांसी नहीं होती। अभी १ खुराक दिये १॥ मास हुआ है शायद दूसरी खुराक की आवश्यकता ही न हो। पर इसका निर्णय सावधानी से करें।
थूजा २००—

यह भी एक प्रमेह विघनाशक दवा है। जहां पर माता पिता में गनोरिया का इतिहास मिले और उनका बच्चा सुखंडी रोग से आक्रांत हो, और निम्न लक्षण होवें तब इसका व्यवहार करें—

शरीर में जगह जगह मसे निकलना जिनका आकार फूल गोभी की तरह होवे। ज्वर उदरामय आदि यदि गोबीज (चेचक का टीका) देने के बाद बच्चों को इस रोग का सूत्रपात हो तो यह १-२ खुराक अवश्य दें।

साईलिसिपा ३०, २००—

बच्चों का शारीरिक नाप कम, खूब खाते पीते भी सूखते जाना क्योंकि वह खाद्य पदार्थों से पुष्टी कर तत्वों को ग्रहण नहीं करता है। माथे के पिछले भाग में, हाथ पैरों के तलवों में बदबूदार पसीना होता है। उस पसीने के बन्द होते ही अनेक उपद्रव पैदा हो जाते हैं। कान से पतला पीव गिरता है। रोगी ठण्ड सहन नहीं कर सकता।

सावधानियां—

ऊपर कुछ खास खास दवाइयां हैं जोकि खूब गहराई तक क्रिया करके रोगी की प्रकृति का संशोधन कर देती हैं उनही दवाइयों का विवरण दिया है। इनके प्रयोग में निम्न बातें याद रखें—

२०० या १००० क्रम की दवा की १ या २ खुराक देने पर उसकी क्रिया कुछ भी आरम्भ हो जावे फिर दवा बिलकुल बन्द रखें। उच्च शक्ति की दवा का बार बार प्रयोग लाभ के बदले हानि कर होगा। १००० शक्ति की दवा की १-२ खुराक देकर कम से कम ७ दिन उसकी क्रिया को देखो। यदि क्रिया आरम्भ हो जावे तो दूसरी खुराक नहीं दें। जो सज्जन नये नये ही होमियोपैथिक

दवा व्यवहार करें उनको ३०, २०० शक्ति से उच्च शक्ति व्यवहार नहीं करनी चाहिए।

बायोकैमिक चिकित्सा—

बायोकैमिक चिकित्सा का सिद्धांत है कि मनुष्य के शरीर में जिस तत्व की कमी हो उसे पूरा करें। इसमें २, ३, ४ दवा मिलाकर भी दी जाती हैं। इन दवाइयों को गरम जल में मिलाकर प्रयोग करना अच्छा है।

कल्केरिया फास ६×, १२×, ३०×—

यह सुखंडी रोग की मुख्य दवा है। जिन बच्चों की हड्डियां कमजोर हों माथे पर पसीना अधिक आता हो उनके लिये लाभदायक है। इस दवा से बच्चों के शरीर में कैल्सियम और फास्फेट की पूर्ति होती है।

फेरमफास ६×, १२×, ३०×—

रक्त की कमी होने पर कल्केरिया फास के साथ मिलाकर दें।

नेट्रम फास ६×, १२×, ३०×—

पतला दस्त होता हो एवं उसमें पित्त की अधिकता होवे, खट्टी बदबू आती होवे, दस्त का रंग हरा या अधिक पीला होवे, दूध पीने के बाद ही फटी फटी खट्टी बदबूदार वमन होती हो ऐसी हालत में कल्केरिया फास के साथ मिला कर या पर्याय क्रम से दें। यह कृमि रोग की अच्छी दवा है।

काली फास ६×, १२×, ३०×—

काली फास स्नायु का उपादान है। जहां स्नायु विकल लक्षणों की अधिकता हो थकावट अनिद्रा आदि पतला दस्त उसमें सड़ी गन्ध में यह कल्केरिया फास के साथ दें।

उपरोक्त दवा ६× दिन में २ बार एवं १२× १ बार, ३०× दिन १ बार गरम जल में मिलाकर दें।

—वैद्य श्री बनारसीदास दोक्षित एच. एम. बी.
शर्मा मैडीकल स्टोर्स, रक्सौल
(चम्पारण) बिहार

8

डा० एल० बी० लौगानी M. I. M. S.

विटामिन डी, कैल्शियम व फासफोरस की कमी ही इस रोग का प्रधान कारण है। तब तो इसकी पूर्ति से ही यह बीमारी ठीक हो सकती है। इसलिए प्रायः ऐसे भोजन कराये जाय जो जल्दी हजम भी हो सकें और उनमें विटामिन डी-कैल्शियम और फासफोरस अधिक मात्रा में पाया जाय।

दूध, घी, दूध की मलाई, मक्खन, अण्डा, मछली, फ्रूट इत्यादि—इन भोजनों में विटामिन डी अच्छी मात्रा में पाई जाती है। मगर अब प्रश्न यह उठता है कि छोटे बच्चे तो मक्खन, दूध के अलावा और चीज ऊपर लिखी हुई विटामिन भरपूर नहीं खा पाते। अतः विटामिन डी की कमी होना अवश्यम्भावी हो जाता है जिससे यह रोग उत्पन्न हो जाता है। मगर इन विटामिन डी, कैल्शियम और फासफोरस की बनी हुई दवाइयां बाजार से मिल सकती हैं जिनके प्रयोग से यह रोग ठीक किया जा सकता है।

Injection Ostolin Fort (Vitamin D)—यह सूई सप्ताह में एक बार मांस में (Intra-muscular route से) लगानी चाहिये। ओस्टोलिन लिक्विड भी आता है जिसकी १० बूँदें दिन में दो बार पिलानी चाहिये। यह औषधि ग्लेक्सो (Glaxo co.) की बनाई हुई है।

इन्जेक्शन डेकाडेक्सोलिन (Injection Decadexolin-Glaxo co.) १ c. c. एम्प्यूल सप्ताह में दो बार बच्चों को मांसान्तर्गत इन्जेक्शन करनी चाहिये। यह विटामिन ए और डी की बनाई हुई है।

Injection Calci ostelin with vitamin B₁₂-Glaxo co.)—इन्जेक्शन कैल्साई ओस्टीलिन विट विटामिन बी₁₂ १ c. c. सप्ताह में तीन बार मांसान्तर्गत इन्जेक्शन करनी

चाहिये। १५ c. c. का वाइल या १ c. c. के एम्प्यूल आते हैं।

Injection Multi-vitamin (Becadex or Vimix)—१ c. c. सप्ताह में २ या ३ बार लगाई जा सकती है।

एबडेक ड्रॉप्स पी. डी. कम्पनी (Abdec drops P.-D. co.), एडेक्सोलिन ड्रॉप्स (Ade-xolin drop-Glaxo co.), बेकाडेक्स ड्रॉप्स लिक्विड (Becadex drops-Glaxo), वाई सेनरल (Vi-Syneral drop-American Product) यूनी वाईट ड्रॉप्स (Univite drop-Unichem co.), इनमें से किसी एक औषधि की १० या १५ बूँदें दिन में २-३ बार दी जा सकती हैं।

मिनोलैड (Minolad T. C. F.)—यह दवाई १०० ml. की बोतल में बाजार में मिलती है। यह विटामिन, कैल्शियम, मैगनीसियम से बनाई जाती है। २ वर्ष से नीचे आयु वाले बच्चों के लिये आधी से १ चम्मच, दो वर्ष से बड़े बच्चों के लिये १ से २ चम्मच दिन में २ बार देनी चाहिए।

सीरप मीनाडेक्स (Syrup Minadex-Glaxo co.)—इस दवाई में विटामिन ए, डी के साथ साथ कैल्शियम ग्लेसेरोफोसफेट (Calcium Glycerophosphate), पोटैशियम ग्लेसेरोफोसफेट (Pottassium Glycerophosphate), मैगनीसियम ग्लेसेरोफोसफेट (Mang. Glyce-rophosphate), फेरीएट अमोनिया साइट्रेट (Ferri. et amm. cit.), कॉपर सल्फ. (Copper sulph), सीरप ग्लूकोज लिक्विड (Syrup Glucose liq) भी मिली हुई है। ताकत के लिये अकसीर है। सूखा के बच्चों को बड़ा लाभ पहुँचाती है। दो वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिये



४ से १ चम्मच दिन में तीन बार, दो वर्ष से ऊपर वाले को १ से २ चम्मच दिन में तीन बार देनी चाहिए।

एडीकाल १२ (Adical 12-Therapeutic Co.)—इसमें भी कैल्शियम और विटामिन ए, डी मिला हुआ है और सूखा रोग के लिए अकसीर है। एक चम्मच दिन में तीन बार दी जा सकती है।

डाई-कैल्सिआई प्लेक्स (Di-Calciplx Khandelwal Co.)—यह दवाई भी सूखा रोग में लाभदायक है। एक चम्मच दिन में तीन बार दी जा सकती है।

सूखा रोग में एलोपैथिक मिक्चर—

(१) कैल्शियम ग्लूकोनेट १५ ग्रोन, लिक्विड

कैल्सीफैरोल १० बूंद, स्यूसिरेज एकेकिया [गौंद] आवश्यकतानुसार, एकवा मैन्था पिपरैटा १ औंस, यह मिक्चर दिन में २ या ३ बार दें।

(२) कैल्शियम हाइपोफॉस्फेट ५ ग्रोन, आइस मिर्ह (काड लिवर आइल) १ ड्राम, गौंद आवश्यकतानुसार, सीरप टोलू १ ड्राम, एकवा सिनामोनाई १ औंस—भोजन के बाद दिन में २-३ बार दें।

(३) फैरी एट एमोनिया साइट्रेट २ ग्रोन, काड लिवर आइल ६० बूंद, गौंद आवश्यकतानुसार, आइल लेमन १ बूंद, एकवा क्लोरोफार्म ४ ड्राम—दिन में तीन बार दें।

—श्री डा. एल. बी. लौगानी M. I. M. S.
जीवनदाता दवाखाना, पाली बाजार,
व्यावर (राजस्थान)

बालशोष पर सफल प्रयोग

[१]

अश्वगन्धा, अर्जुन छाल, मुलहठी २॥—२॥ तोला का कल्क बनालें। अलग से अश्वगन्धा १ पाव भर का ४ सेर जल काथ करें। पुनः गोघृत १ सेर को गर्म करके कुछ शीतल होने पर कल्क काथ को एकत्र कर मन्दान्नि से पकावें। घृत मात्र शोष रहने पर छानकर बंशलोचन २॥ तोला, छोटी इलायची १ तोला, मधु, मिश्री २०-२० तोला मिलावें। कांच के पात्र में सुरक्षित रखें। ३ माशा से १ तोला तक आयु बल का बिचार कर प्रातः सायं दुग्ध में या ऐसे ही चटावें। २-३ मास सेवन से बालक हृष्ट-पुष्ट बलवान बनते हैं। इसके साथ प्रबाल पिष्टी या भस्म, मुक्ता पिष्टी या भस्म भी दें तो विशेष लाभ होगा।

आजकल जो लोग पाश्चात्य पद्धति से बने चूने के पानी मिले नाना प्रकार के शर्बतों का सेवन करा कर बालकों के स्वास्थ्य को नष्ट करते हैं और उनके

शरीर को रोग का घर बनाते हैं उन्हें यह स्वल्प मूल्य में अत्यधिक लाभप्रद प्रयोग का सेवन करा कर अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

—श्री गिरजादत्त पाठक वैद्यशास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य
बक्सर (शाहाबाद-आरा)

[२]

श्वेत अपामार्ग मूल पानी में घिस कर माता के स्तन चूचुक पर लेप करायें। प्रातः जब बच्चा सोकर उठे तो उसे स्तनपान करायें। उसके पश्चात् धो दें। ४० दिन प्रयोग करें। अवश्य लाभ होगा।
मुधाषटक—यह योग श्री यादव जी त्रिक्रम जी का है—

प्रबाल भस्म १ भाग, मुक्ताशुक्ति भस्म २ भाग, शंख भस्म ३ भाग, कपर्दिका भस्म ४ भाग, कच्छप पृष्ठास्थि भस्म ५ भाग, गौदन्तीहरताल भस्म ६ भाग—निम्बू के रस में ३ दिन खरल

करें। १ से ४ रत्ती की मात्रा में प्रातः सायं मां के दूध के साथ दें। अच्छा काम करता है।

—श्रीरामफल मिश्र आयु० वि०
खलारी भीमखोजा (रायपुर)

[३]

लोह भस्म गौदन्ती भस्म शृंग भस्म मुक्ताशुक्ति भस्म शंख भस्म प्रत्येक १-१ तोला, खूबकला शुद्ध ४ तोला इन सबको मिलाकर खूब खरल करें। एक-जात हो जाने पर इसमें निम्न स्वरसों की १-१ भावना देकर शुष्क होने पर मधु के संयोग से ४-४ रत्ती की बटी बनावें।

भावनार्थ स्वरस-तुलसी, भांगरा, हरी कासना, मकोय का स्वरस दें।

मात्रा-१-१ बटी दिन में ३-४ बार।

गुण व अनुपान—सूखा मसान के अतिरिक्त भी ये गोलियां अनेक बाल रोगों में लाभप्रद हैं। यथा कास दन्तोद्गम में मधु में पीस कर चटाना, मंथर ज्वर में खमीरा मोती मिला कर चटाना अत्यन्त लाभप्रद होता है। सूखा व जीर्ण ज्वर में चूर्णोदक में धोल कर पिलाना चाहिये।

सूखा मसान में रोगी बालक को नित्य प्रातः काल तथा सायंकाल (हलकी धूप में) बैठा कर मालिश करनी चाहिये। मालिश के लिए शास्त्रोक्त लाक्षादि व नारायण तैल अथवा जैतून तिल या काड लिबर आइल आदि तैल अति उपयुक्त हैं। मालिस के एक १ घंटा बाद स्नान करा दें अथवा गर्मजल में तौलिया निचोड़ कर उससे सारा शरीर रगड़ कर पोंछ दिया करें।

यदि उक्त योग के साथ आस्टोकैल्शियम विट-विटामिन बी तत्व, विटामिन बी कम्प्लेक्स $\frac{1}{2}$ - $\frac{1}{2}$ सी. सी. मिलाकर प्रति तीसरे दिन एक माह तक नितम्ब प्रदेश में टीका लगाते रहें तो सूखा मसान में और भी चमत्कारिक लाभ होता है।

सूखा आदि कई बाल रोग मां के दूध के बिकार से भी होते हैं अतः माता को दुग्ध शुद्धि के लिए

नित्य रात्रि को शयन करते समय २ तोला सौंफ पिंसी हुई फांकनी चाहिए तथा शोक चिन्ता कुढ़न व संयोग से बचकर प्रसन्नचित्त ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। पौष्टिक (विटामिन) आहार करना चाहिए। गर्भावस्था में बच्चे को अपना दूध पिलाने के बजाय गौ बकरी का दूध पिलाना ही श्रेष्ठ है।

—श्री वैद्य अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य,
चमरौआ (रामपुर)

[४]

कंधी जिसे लोग कंधई या ककयी कहते हैं। उसकी २॥ (ढाई) पत्ती लेकर चूना, कथा लगे पान में रख कर मुंह से खूब चबायें। जब उसकी पीक बन जावे तब उस पीक को लेकर (हाथ की तीन अंगुलियों में) सूखा रोग वाले बालक की पीठ पर गुदा से ४ अंगुल ऊपर रीढ़ की हड्डी पर डालकर ७-८ इंच तक लम्बी उस पीक को रगड़ें। जब रगड़ते रगड़ते पन्द्रह मिनट लगभग हो जाय तब उस जगह को साफ बख्ख से पोंछ डालें। पोंछी हुई जगह में आप देखेंगे कि सूखा रोग के सब कीड़े निकल आये हैं। इन कीड़ों को नोंच कर बाहर फेंक दें। इसी प्रकार दूसरे दिन फिर ऐसा ही करें। जब कीड़े निकलना बन्द होजाय तब दवा बन्द कर दें, बस बालक तन्दुरुस्त हो जायगा। वाद में बच्चे की मां को ७ दिन तक नीम की ११ पत्तियों की ठण्डाई नित्य घोट कर पिला देने से यह रोग फिर कभी नहीं होगा।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू (रायबरेली)

[५]

ऐसी काली गौ का मूत्र जिसके शरीर पर दूसरे रंग का कोई धब्बा न हो सूर्योदय से पहले १ सेर लेकर तथा अस्सली कश्मीरी केशर १ तोला लेकर दोनों को गौमूत्र में पीस कर लुगदी बना लें। फिर इस केशर की लुगदी को शेष गौमूत्र में मिलाकर एक शुद्ध कांच की बोतल में भर दें। और कार्क लगाकर बोतल का मुंह बन्द कर दें। बस

दबा बन गई। मात्रा—६ माह के बच्चे को ४ बूंद दवा और ४ बूंद माता के दूध के साथ मिलाकर, और ६ माह से अधिक उम्र के बच्चे को ८ बूंद दवा और ८ बूंद माता का दूध मिलाकर पिला देना चाहिए। लाभ दो तीन दिन में हो जायगा पर लगातार ७ दिन तक दवा पिलाते रहें। हिफाजत से रखने पर दवा ३ वर्ष काम दे सकती है।

[६]

सूखे बच्चे जिनका मांस सूख कर चूतड़ (नितम्ब) की खाल भी सिकुड़ गई है रीढ़ की हड्डी घनुषाकार हो गई हो, सारा शरीर हड्डियों का ढांचा प्रतीत होता हो, ज्वर, अतिसार हो, प्यास अधिक हो, शिर को इधर उधर पटकता हो इस प्रकार के बच्चे के लिये अद्भुत प्रयोग जो निरंतर १० वर्ष से सफल अनुभूत रहा है पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

कच्छपाथि भस्म—कछुए की हड्डी की भस्म में खूबकला स्वरस, १ तोला गाजबां स्वरस, घी कुमारी के गूदे के रस की भावना देकर भस्म करें। प्रवाल भस्म, शंख भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, गेरू, गिलोय-सत्व, इन छहों वस्तुओं को १-१ तोला मिला पीस कर अवस्थानुसार मात्रा १ रत्ती से ४ रत्ती तक मधु घृत विषम मात्रा में मिला दिन में तीन बार दें।

मालिश के लिये महालाक्षादि तैल या काड़-लिबर आयल की मालिश करें।

माता बादी की तथा गर्म चीजें न खाय, हल्का सुपाच्य भोजन करे। प्रभु अवश्य कल्याण करेंगे।

—श्री सुरेशदत्त शर्मा आ. विशारद
आत्रेय आयु० भवन, जलालाबाद (मुजफ्फनगर)

[७]

हरड़, जायफल, सैंधानमक, लौंग, सोंठ, काली-मिर्च, पीपर, वेलफल का गूदा (मगज), नागर-मोथा, केशर, सोंचर नमक, सोहागा फूला, अतीस।

विधि—प्रत्येक २-२ तोला लेकर अलग अलग कूट कपड़कन करके एक जगह करलें। पश्चात् कुटी पिसी दवा खरल में डाल कर जल के साथ घोट्टाई करें। जब गोली बनने योग्य हो जाय तब २-२

रत्ती की गोली बांध कर शीशी में रखलें।

सेवन विधि—१ से २ गोली बालक के बलाबल को देख माता के या गाय के दूध में या गरम जल में प्रातः मध्याह्न सायं दें।

गुण—रक्त मांस से बालक की शरीर की क्षीणता, ज्वर अतिसार कास मन्दाग्नि दूध का जलटना डब्बा पेट का बढ़ जाना चिड़चिड़ापन समस्त रोग दूर होकर शिशु पुष्ट बलवान हो जाता है।

—वैद्य बाबा श्री लक्ष्मणदास महन्त
दानापुर (अकोला)

[८]

असली केशर १ तोला, कुक्कुटाण्ड त्वग्भस्म १ तोला दोनों को नारी दुग्ध में घोटकर १-१ रत्ती की बटिका बनालें। १ वटी केवल कृष्ण गौ के मूत्र ६ माशा में घोलकर प्रातः रोगी बालक को पिलायें। केवल औषधि प्रातः ही देनी है, न्यून-तिन्यून ७ दिवस अधिकाधिक २१ दिवस में रोगी निश्चित रूपेण स्वस्थ हो जाता है। [यह प्रयोग धन्वन्तरि में बहुत दिवस पूर्व प्रकाशित हो चुका है]

—आयुर्वेदाचार्य श्री पं. कृष्णदेव शर्मा शास्त्री
श्रीकृष्ण आयुर्वेद भवन, सीकरी (भरतपुर)

[९]

जहरमोहरा खताई पिष्टी, नारियल दरयाई, बंशलोचन, गुलाब का जीरा, हरीत की छाल, संगे-यहूद (बेरपत्थर), कमल गट्टे की गिरी प्रत्येक १-१ तोला, मोती सच्चे की पिष्टी ६ माशे।

विधि—पीसने वाली दवाई पीस, पिष्टी आदि मिला, अर्क गुलाब में ३ दिन खरल कर आध-आध रत्ती की गोलियां बनावें। मात्रा—१-१ गोली पीस गुलाब का अर्क या काहजवान अर्क के साथ दें। समय-दिन में २ बार।

गुण—यह वटी लगातार २-३ हफ्ते बच्चों को देनी चाहिये। इसके सेवन से बालशोष, असती, निर्बलता, अपचन, हरे पीले दस्त, दूध पलटना सब ठीक होकर बच्चा हृष्ट पुष्ट हो जाता।

—श्री सुदागरसिंह वैद्य, कोकरीकलां (फीरोजपुर)

[१०]

बालरौष्टिकावलेह (Ayurvedic Rajmalt)-

अध्रक भस्म १ तोले, मण्डूर भस्म २ तोला, कान्त लोह भस्म ६ माशे, गिलोय सत्व ४ तोले, शुद्ध अति-विष, श्वेत मिर्च, सौंठ, पीपल, बायविडङ्ग ये सब १-१ तोले, ज्येष्ठ मद्य ३ तोला, करंज बीज ६ माशे उपरोक्त सब चीजों को खूब कूट कपड़छन कर चूर्ण तैयार कर लेवें। अनन्तर शुद्ध मधु ३० तोले में उपरोक्त मिलाकर ७ दिन तक खरल करें। बाद में बरनी भर लेवें।

मात्रा—३ से १० रत्ती दिन में दो बार मां का दूध या से गौदुग्ध।

गुण—जीर्ण ज्वर, रक्ताल्पता, यकृतवृद्धि, कृमि, बालरोग, सुखण्डी, कान्तिदायक एवं पौष्टिक है।

कुमार संजीवन (Ayu. Raj lime water)—

कली चूना ६ तोला, मिश्री १२ तोला, जल स्वच्छ १२८ तोला उपरोक्त पानी कली चूना व मिश्री मिला देवें। रात्रि को भिगो देवें तथा सुबह पानी को नितार लेवें व स्वच्छ शीशी में भर लेवें।

मात्रा—३ से ६ माह तक के बच्चों को ५ से १० बूंद, १ वर्ष तक के बच्चों को २० से २५ बूंद दूध या जल के साथ देवें।

गुण—बच्चे की वसन तथा पचन क्रिया को ठीक करता है। पेट दर्द व कंजनाशक है। बच्चों के सुखण्डी रोग में ज्यादा दिन तक सेवन से आशातीत फायदा होते देखा गया है।

—श्री डा०जी.के.दाधीच आयुर्वेदाचार्य L.M.S.A.
कारंजा (महाराष्ट्र)

[११]

शंबूक प्रयोग -

एक शंबूक सरि से मंगाओ सखे।
बन्द ढक्कन को जिसके जलौका रखे।
गुन गुनी इक कटोरी को कर लीजिए।
और शंबूक उसमें ही घर दीजिये॥

बारि छूटे उसे दुग्ध मां का मिला।
शुक्ति में डाल बच्चे को दीजै पिला॥
तीन दिन चार-छः बूंद से दीजिए।
बाल अम्भोज ऐसा खिला लीजिए॥
क्षीर माता से शंबूक भर दीजिए।
अग्नि अरने के कंठे में रख दीजिये॥
डाल साठी के तन्दुल पकाओ सखे।
शीत होने पै शिशु को खिलाओ सखे॥
चार छः रोज यह भोज्य देते रहो।
साफ सुथरा रहे बाल मां से कहो॥
लौंग करपूर गर में बंधा दीजिये।
व्याधि हर सुत को चंगा बना दीजिये॥

सूखा-हरा -

भस्म शंबूक त्रिफला को सम कीजिए।
तीन रत्ती की मात्रा से नित दीजिए॥
दुग्ध लीजे गधी का ही सहपान में।
शुद्ध मधु बंद द्वै तीन अनुपान में॥
योग सूखा हरा एक सप्ताह दो।
रक्त संचार नव, दूर गद शोष हो॥
तैल लाक्षादि अभ्यंग में लीजिए।
योग लघु है, परीक्षित इसे कीजिए॥

एक अन्य विधि

चित्रक मूल पिसाय, आड़ी वेड़ी रेखमै।
दीजै रीड़ बनाय, शोष जाय दिन चार में॥

दंती प्रयोग

बीज दंती अशोधित को धिस लीजिए।
पौछ चाकू से आड़ा तिलक कीजिए॥
मेठ पाए न बच्चा इसे दो घड़ी।
माल में होय दानों की पैदा लड़ी॥
तीन ही चार दिन में सभी वे मिटैं।
कष्ट सब शोष के शीघ्र शिशु के कटैं॥
एक ही बार इसकी क्रिया कीजिए।
बार रविवार मंगल को चुन लीजिए॥

—वैद्य श्री बाबूसिंह गहावार
जीवन औषधालय, हंसपुर (उन्नाव)

कर्णस्राव तथा कर्णशूल और चिकित्सा

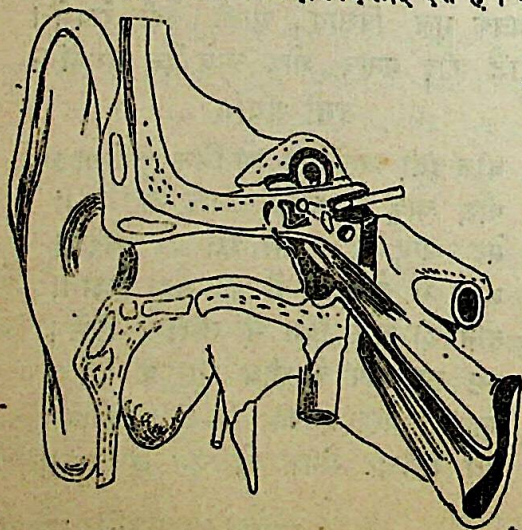
वैद्य श्री कमलेश्वर वशिष्ठ वैद्य विशारद

कर्णस्राव और कर्णशूल का वर्णन करने से पहले हमें कर्ण की रचना पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि सुश्रुत ने २८ कर्णरोग बतलाये किंतु यहां पर सिर्फ इन दो ही रोगों का वर्णन किया जायगा। क्योंकि यह दोनों रोग बच्चों में मुख्य रूप से पाये जाते हैं।

कर्ण की संक्षिप्त रचना—

कान के तीन भाग होते हैं—

(१) कान का बाहरी भाग कर्णशुष्कुली (Pinna) कहलाता है। इसीका निचला मुलायम भाग कर्णपाली कहलाता है। कर्ण के भीतर जाती हुई एक नली दिखाई देती है वह भीतर की एक मजबूत झिल्ली से बन्द हो जाती है। कर्ण शुष्कुली और नलिका तक का पर्दे वाला भाग बहिःकर्ण कहलाता है। (External ear) यह कर्ण का पहला भाग है। बहिःकर्ण के आखरी सिरे पर स्थित उपयुक्त पर्दे को कर्ण परद (Tympanic membrane) कहते हैं। परदे का मध्य भाग किंचित् भीतर दबा रहता है। परदे को ध्यानपूर्वक देखने पर एक श्वेत रेखा दिखाई देती है। यह स्वस्थ-वस्था में श्वेत और चमकदार दिखाई देते हैं। कर्ण



चित्र नं ५६—श्रवणोन्द्रिय



को साधारण रूप से देखने पर यह दिखाई नहीं पड़ती। इसको देखने के लिये कर्णदर्शक यन्त्र (Auroscope) की सहायता लेनी पड़ती है। परदे के दूसरी ओर मध्यकर्ण (Middle ear) स्थित है। इसका अधिकांश भाग शंखास्थि में रहता है। इसमें मुद्गर, निहाई [शूर्मिक] और रकाब आदि अस्थियां लगी हैं। जिनमें मुद्गर (Malleus) का एक सिरा कर्णपरद से लगा है, और दूसरा सिरा निहाई (Incus) से और दूसरा अन्तः कर्ण के एक छिद्र से लगा रहता है। अर्थात् ये अस्थियां मिलकर एक ऐसी शृङ्खला बना देती हैं जिसके द्वारा कर्ण परद अन्तःकर्ण से सम्बन्धित हो जाता है। मध्यकर्ण (Middle-ear) से एक नली जाकर गले में खुलती है। इसे श्रुति सुरंगा (Eustachian-tube) कहते हैं। यह सुरंगा और मध्य कर्ण श्लेष्मल कला से घिरे हुए हैं। मुख नासिका और गले की खराबी के कारण इसी मार्ग द्वारा मध्यकर्ण में पहुँचकर उसमें भी शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इसी सुरंगा के द्वारा मध्यकर्ण में वायु



प्रविष्ट होकर कर्ण परद के दोनों ओर की वायु दबाव समान रखती है जिससे कर्ण परद स्वाभाविक स्थिति में रहता है और समुचित प्रकार से कम्पन भी हो जाता है। कर्ण का अन्तिम भाग अन्तःकर्ण कहलाता है। यह अन्तःकर्ण (Internal ear) श्रवण नाड़ी से बना है और शङ्खास्थि में स्थित है। शब्दजन्य लहरें बहिःकर्ण में होकर टकराती हैं जिससे परदे में तद्रूप कम्पन होता है। यह कम्पन उपर्युक्त कर्णस्थियों द्वारा अन्तःकर्ण तक पहुँचा दिया जाता है। जहाँ से मस्तिष्क में श्रवण नाड़ी द्वारा कम्पन का ज्ञान पहुँचने से शब्द का ज्ञान होता है।

कर्णशूल

कर्णशूल को पाश्चात्य मतानुसार Otalgia या pain in the ear कहते हैं। यह एक लक्षण है जो कर्ण रोगों में अधिकतर देखा जाता है। निम्नलिखित कर्ण रोगों में कर्णशूल होता है—

(१) कर्णगत तीव्र विचचिका—(Acute eczema) में जलनयुक्त पीड़ा होती है किन्तु अधिक नहीं होती।

(२) Furunculosis—इसमें बहुत तीव्र कौंचने जैसी पीड़ा होती है जो रात में सोने भी नहीं देती।

(३) मध्यकर्ण के तीव्र सपाक शोथ में भी तीव्र पीड़ा होती है।

(४) कभी कभी शङ्खास्थि में अथवा मस्तिष्क आवरण तथा करोटि की अस्थियों के बीच में किसी प्रकार का शोथ या विद्रधि होने पर कर्ण में तीव्र पीड़ा होती है। यह पीड़ा एक सीमित स्थान में प्रतीत होती है और सिर के एक पार्श्व से होती हुई ग्रीवा तक पहुँच जाती है।

(५) सबसे तीव्र प्रकार की पीड़ा मध्य कर्ण और अन्तःकर्ण के तीव्र शोथ में होती है।

(६) कभी कभी जैसे ऊपरी जबड़े के दांत से प्रसनिक्ता (Pharynx) और स्वरयन्त्र (Larynx) के दुष्ट अर्बुद के कारण पीड़ा होती है। ऐसी दशा में कर्ण के अन्दर देखने पर कुछ प्रतीत नहीं होता है।

(७) नासा मार्ग के बन्द हो जाने तथा श्रुति-सुरंगा (Eustachian tube) के प्रसनिक्ता की ओर स्थित सिर में ब्रण हो जाने से भी कान में पीड़ा होती है।

(८) यदि यह पीड़ा स्पर्शानुमता (tenderness) कर्णमूलिका स्थान में हो तो उसी स्थान के Mastoid में शोथादि समझना चाहिए।

प्रायः देखने में आता है कि बच्चों से लेकर मध्यम आयु तक के लोगों को या उससे अधिक आयु के लोगों को कर्णशूल होता है। किन्तु कर्ण और उसके आसपास के अङ्गों की परीक्षा करने पर कोई विकृति प्रतीत नहीं होती। ऐसी दशा में कर्णपाली के मूल के नीचे की स्थिति शङ्खास्थि और निचले जबड़े की अस्थि की सन्धि (Temporomandibular-joint) की सन्धि-शोथ के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

बच्चों में कर्णशूल परीक्षा—

कर्ण छूने या धोने पर बच्चा रोवे या बारबार अपना हाथ कर्ण के समीप ले जाये और सिर को इधर उधर पटके तो समझना चाहिये कि उसके कर्ण में पीड़ा हो रही है। यदि त्रांकोन्यूमोनिया के कारण बच्चे को कर्णशूल उत्पन्न हो तो बच्चे का सिर कभी कभी पीछे की ओर झुका रहता है।

कर्णशूल का सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा

चरन्समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।

करोति दोषेश्च यथास्वमाधृतः

स कर्णशूला कथतो बुराचराः

अर्थात्—अपने कारणों से कुपित वायु दोषों द्वारा आवृत होने पर उस दोषयुक्त लक्षणों द्वारा कर्ण में कष्टसाध्य शूल को उत्पन्न करता है।

कर्णशूल चिकित्सा—

(१) अद्रक स्वरस, शहद, सैंधव तथा तेल मिलाकर किंचित गरम करके कान में डालें।

(२) लहसुन, अद्रक, सहजना, मूली, बरना, केला, इनके रस से सिद्ध तेल कान में डालें।



(३) सुदर्शन नाम के पौधे के पत्तों को किंचित् गरम करके कर्ण में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है।

(४) हींग, सैधानमक और सौंठ से साधित तेल भी कर्णशूल को नष्ट करता है।

(५) चार तेल का प्रयोग भी इसमें लाभप्रद देखा गया है। मदार के पीले पत्तों को तेल से चुपड़कर किंचित् गरम कर इस का रस डालें।

(६) सरसों के तेल में अहिफेन [अफीम] और कर्पूर मिला कर्ण में डालने से कर्णशूल तत्काल शांत हो जाता है।

(७) अजवाइन का धूँआं देना भी कर्णशूल में लाभप्रद है।

कर्णस्राव

कर्णस्राव के लक्षण—

सिर में चोट लगने के कारण, जल में डूबने से या कान के बल गिरने से, कर्ण में पानी भर जाने से अथवा कर्ण में फोड़ा होने से वायु प्रकुपित होकर कर्ण में से पीव या कभी कभी पानी जैसा स्राव बहता है। उसे कर्णस्राव कहते हैं।

यह निम्नलिखित रोगों के कारण होता है—

(१) बहिःकर्ण की विचर्चिका (Eczema of the external ear)—इसमें पानी जैसा या गोंद के समान स्राव पाया जाता है। इसमें गाढ़ा स्राव बहुत कम पाया जाता है। कभी कभी जब विचर्चिका बहुत पुरानी हो जाती है तब गाढ़ा पूय-युक्त स्राव भी आ सकता है।

(२) बहिःकर्णगत पिडिका (Furunculosis of the meatus)—बहिःकर्णगत पिडिका के कारण स्राव से पूर्व पीड़ा भी अधिक रहती है। स्राव गाढ़ा और थोड़ा पूय सम होता है।

(३) तीव्र मध्यम कर्णशोथ (Acute otitis media)—इसकी प्रारम्भिक दशा में स्राव पतला और अन्त में गाढ़ा और तारदार हो जाता है।

(४) रक्तस्रावी मध्य कर्णशोथ (Otitis media haemorrhagica)—इसमें बहिःकर्ण द्वारा एक

या अनेक बार रक्तस्राव देखा जाता है। प्रायः इन्फ्लूएन्जा में या इसके बाद कभी कभी घृक् रोगों के उपद्रव में तथा अज्ञात कारणों से होता है।

(५) चिरकालीन मध्य कर्णशोथ (Chronic otitis media)—इसमें कभी कभी कर्णस्राव होता है किन्तु अधिकतर कर्णस्राव पर्याप्त मात्रा में होता है यहां तक कि रात को बिस्तर और तकिया भी गीला हो जाता है। यह स्राव अधिकतर पूययुक्त और बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है। कभी पानी जैसा पतला और गन्धहीन भी पाया जाता है। कर्णगत मांसवृद्धि (Polypus) या रोहण धातु (Granulation) के कारण बहुधा रक्त मिश्रित स्राव होता है। कभी कभी कान की सड़ी अस्थियों के टुकड़े भी स्राव में आ जाते हैं जिनसे एक निश्चित प्रकार की गन्ध आती है।

(६) करोटि तल का भग्न (Fracture of the base of the skull)—इसमें यदि मस्तिष्क शङ्कास्थि में हुआ हो तो कर्ण से रक्तस्राव होता है। कभी कभी इसमें थोड़ा या अधिक पानी जैसा स्राव अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव (Cerebro-spinal fluid) निकलते हैं।

(७) बहिःकर्ण या मध्य कर्ण के घातक अर्बुद (Malignant Disease of the middle ear of the meatus)—इसमें स्राव थोड़ा पतला और प्रायः बहुत दुर्गन्धयुक्त होता है।

भावप्रकाश और सुश्रुत इसमें दो भेद करते हैं। (१) एक को पूतिकर्ण कहते हैं जिससे बहुत दुर्गन्धयुक्त स्राव आता है। (२) दूसरा कर्णस्राव कहलाता है जिसमें सभी प्रकार के स्रावों का समावेश होता है। कर्णस्राव और पूतिकर्ण को पार्श्व शालाक्य दृष्टि से Otorrhoea अथवा Discharge from the ear कहते हैं।

कर्णस्राव चिकित्सा—

[१] सज्जीखार और बिजौरा निम्बू का रस कर्ण में डालने से कर्णस्राव, पीड़ा और जलन

नष्ट होती है।

[२] आम, जामुन, महुआ और बरगद के कोमल पत्तों से तेल सिद्धकर कर्ण में डालने से कर्ण-स्राव नष्ट होता है।

[३] चमेली के पत्तों का रस तेल में पका डालने से पूतिकर्ण नष्ट होता है। स्त्री के दूध में रसौत मधु पीसकर कान में डालने से कर्णस्राव नष्ट होता है।

[४] कुष्ठादि तेल का प्रयोग भी कर्णस्राव को नष्ट करता है।

[५] गन्धक, मैन्सिल, हल्दी १ पल, कड़आ तेल ४ पल तथा घत्तूर के पत्ते का रस ४ पल इनसे सिद्ध तेल कर्ण में डालने से कर्णस्राव नष्ट होता है।

[६] मालकांगनी, मुलहठी, पाठा, घाय के फूल, पृश्नपर्णी, शालपर्णी, मंजीठ, लोध, लाख इनके कल्क और कैथ के रस में तेल को पकावें। इस तेल को कान में भरने से तत्काल कर्णस्राव बन्द हो जाता है।

(७) समुद्रफेन को ग्लिसरीन के साथ डालने पर भी कर्णस्राव बन्द होता है।

आधुनिक चिकित्सा—

कर्णस्राव की चिकित्सा दो प्रकार से होती है। विसंक्रामक (Antiseptics) द्रव्यों का या संकोचक द्रव्यों (Astringents) का प्रयोग किया जाता है। विसंक्रामक चिकित्सा शुष्क और सद्रव दो प्रकार की होती है। इसमें सद्रव चिकित्सा अधिक लाभकर होती है। इस कार्य के लिये बिना आयोडाइड या परक्लोराइड आफ मर्करी, बोरिक एसिड क्रिमोलिन और Lysol का बहुधा उपयोग होता है।

(२) हाइड्रोजन पेराक्साइड का उपयोग करने से भी इसमें पर्याप्त लाभ होता है।

शुष्क चिकित्सा के लिए बोरिक एसिड और बोरिक आइडोफार्म मिलाकर कर्ण में प्रथमन करें और हर चौथे रोज कर्ण को हाइड्रोजन पेराक्साइड द्वारा साफ कर दिया करें।

[३] एक्रिफ्लेविन ग्लिसरीन (Acriflavin glycerine) का प्रयोग करें।

[४] कार्बोलिक ग्लिसरीन कान में डालें।

[५] Locula नामक पेटेन्ट औषधि भी इसमें पूर्णतया लाभकारी है।

(७) सिबाजौल पाउडर का प्रयोग कर्ण में और गोलियां खाने से कर्णस्राव बन्द होता है।

[८] Pencilin का सूचीवेध कर्णस्राव को रोकता है।

—श्री दैद्य कमलेश्वर वशिष्ठ वैद्य विशारद चौक बाजार, रेवाड़ी।

कर्णरोगों में सफल प्रयोग

[१] बधिरता में—बिस्बादि तैल दिन में २-३ बार डालें।

[२] कर्णद्वेड तथा शूल में नारायण तैल एवं अर्क तैल डालें।

[३] कान में फुन्सी होने पर—निगुन्डी तैल या जात्यादि तैल डालें। कानों में तैल डालते रहने से कर्ण रोगों का भय नहीं रहता। कर्ण रोगों में सारिवादि वटी या जपावटी (जयावटी) प्रातः सायम खाने को दें।

[४] कानखजूरा कान में जाने पर—सैंधव नमक जल में घोलकर डालें।

—श्रीमती यशोदादेवी शर्मा वैद्याचार्य, बाड़ा हिन्दुराव, देहली—६

[५] लोध को महीन पीसकर कान में डालने से कान का बहना बन्द हो जाता है।

[६] समुद्रफेन, सुपारी की राख, कत्था—इनको महीन पीस कागज की बत्ती बना कान में फूंक दें।

[७] मोर के पंजे को जलाकर कान में डालें।

—श्री रामभरोसे लाल धवाई लवांयन (जयपुर)

काली खांसी [Whooping Cough]

श्री द्वारिकादत्त मिश्र जी० ए० एम० एस०



आयुर्वेद विशेषज्ञों ने कास रोग को दोषानुसार 'वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज' पांच प्रकार का माना है। क्षतज वा क्षयज कास शोष रोग तथा रक्त-निष्ठीवन में पाई जाती हैं।

प्राणेषु दानानुगतः प्रदुष्टः

संमिन्न कांस्य स्वर तुल्य घोषः ।

निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो

मनीषिमः कास इति प्रदिष्टः ॥

अर्थात्—प्राणवायु दुष्ट होकर मुख से बाहर निकले। उसका शब्द फूटे पात्र का सा हो उसे कास कहते हैं। फुफ्फुस वायु बाहर निकलती हुई अपने साथ वायु कोष्ठों व प्रणालियों में जमा हुआ तरल कफ अथवा किसी द्रव पदार्थ को बाहर निकालने का यत्न करती है। वायु मार्ग को साफ करने के लिये यह एक परावर्तित क्रिया है, जिसमें बद्ध उदर मध्यस्थ पेशी, फेफड़ों की मांसपेशियां तथा फेफड़े काम करते हैं। कास श्वास संस्थान के भीतर की विकृति का सूचक है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसे लक्षणानुसार व दोषानुसार विभाजित किया है। पाश्चात्य विद्वान इसे उत्पत्ति व स्थानानुसार विभाजित करते हैं।

खांसी को वास्तव में एक लक्षण ही गिनना चाहिए। यदि आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार इसे यह कहा जाए कि यह फेफड़ों के भीतर के सदोष पदार्थ (बलगमादि) को निकालने के लिये एक क्रिया है तो अधिक ठीक होगा। आंग्ल भाषा में इस लक्षण का तुल्यार्थ शब्द कफ (Cough) मिलता है और खांसने को कफिंग कहा जाता है। अतः खांसना तो नाना विध रोगों में हो सकता है। समय समय के अनुसार रोगी के खांसने से ही रोग का निर्णय बहुत हद तक हो जाता है। भिन्न भिन्न समयों की खांसी कौन कौन से रोग में होती

है उसे अंकित करता हूँ। यथा—

१. प्रातः काल की खांसी—त्रांकाइटिस तथा फुफ्फुसीय यक्ष्मा जिसमें कि कैविटी अर्थात् गर्त (रन्ध्रगार) भी होता है। इसमें रात भर को इक्का हुआ थूक बाहर फेंका जाता है।

२. रात्रि को सोते समय की खांसी—गले की खराबी में।

३. करबटें लेने पर—(रोगी अस्वस्थ पार्श्व पर लेटा हो) फुफ्फुस में गर्त क्योंकि कफ स्वस्थ श्वास मार्ग में घूमता है।

४. स्वस्थ-पार्श्व पर लेटा हो—उरस्तोय व निमोनिया में।

५. रोकी हुई खांसी—छाती की वेदनायुक्त दशाओं में विशेषतया उरस्तोय में।

६. खांसी वमनयुक्त तथा दौरे के साथ—काली खांसी व गले की खराबी में।

७. परिश्रम के बाद—दिल की कमजोरी व उसकी कार्य असमर्थता में।

८. खाना खाते ही—बदहजमी व गर्भावस्था के शुरु में।

९. दुश्थु की खांसी—सदोष विलायती घी के भक्षण से तथा तीक्ष्ण गैस में खुले मुख सांस लेने से।

अब इनके बाद बच्चों में ही खास कर होने के कारण यहां पर कास काली खांसी के परिचयादि के साथ वर्ण एवं स्वानुभूत चिकित्सा लिखेंगे।

रोग परिचय—

यह श्वसन संस्थान के प्रसेक सह विशेष संक्रामक व्याधि है। इस रोग में आक्षेप के अन्त में श्वास ग्रहण काल में एक गम्भीर और बड़ी कुक्कुर ध्वनिवत् 'हूप' आवाज निकलती है।

शिशुरोगाङ्कः

कभी यह रोग जनपद-व्याधि बन जाता है। सामान्यतः स्थानिक यत्र-तत्र उपस्थित। विशेषतः शीतकाल और वसन्तऋतु में प्रकोप होता है। अधिक से अधिक मार्च में एवं कम से कम सितम्बर में।

सामान्यतः २ से ५ वर्ष की आयु वालों की सम्प्राप्ति—किन्तु सर्वांश में यह नियम नहीं है। कभी कभी छोटे शिशुओं को भी। वृद्धों में सामान्यतः गम्भीर। बालिकाओं पर बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक आक्रमण। इस रोग के साथ रोमान्तिका भी सामान्यतः उपस्थित। चेतनाधिक्य होता है, किन्तु सर्वत्र नहीं।

कीटाणुजन्य विवेचना—कीटाणुओं का शोध १९०६ ई० में बोर्ड और गेंगू ने किया है। कीटाणुओं को वेसिलस पटुसिस संज्ञा दी है। ये कीटाणु आवेग के अन्त में निकलने वाले चिपचिपे श्लेष्मा में से मिलते हैं। जीर्णवस्थामें ये कठिनाई से मिलते हैं या नहीं मिलते। सामान्यतः कुक्कुर कास के कारण रूप इन कीटाणुओं का स्वीकार हुआ है, तथापि सप्रमाण सिद्ध नहीं हुआ।

शारीरिक विकृति—विशेष परिवर्तन नहीं। अपूर्ण घातक रोगियों में शक्तिपात और वायुकोष प्रसारण प्रदेश और वृहद् और मध्यम श्वास नलिका की ग्रन्थियों की वृद्धि प्रतीत होती है।

संक्रमण प्रकार—

कफ में से सीधा संक्रमण। कफ से छोटे परमाणु उड़ते हैं, वे चारों ओर फैलकर दूसरों को लग जाते हैं। बिल्ली और कुत्ते भी इन कीटाणुओं के वाहक बन जाते हैं।

संक्रामक स्थिति—

आक्रमण होने के पश्चात् ६ सप्ताह या आवेग के आक्रमण के बाद ४ सप्ताह। जब तक २ सप्ताह तक हूप का अभाव न हो जाय और जब तक दौरे का वेग बन्द नहीं होता, तब तक उससे संक्रमण हो सकता है। हूप की निवृत्ति के पश्चात् जो कफ

शेष रहता है वह आवेग उत्पन्न करने पर भी संक्रमण शील नहीं है।

प्रतिबन्ध—३ सप्ताह।

चयकाल—६ से १५ दिन।

कुक्कुर कास की अवस्थायें—

प्रसेकावस्था (*Catarrhal stage*)—गुप्त आक्रमण, मामूली बेचैनी से प्रारम्भ, प्रतिश्याय और कास ज्वर मन्द (१००° तक), कास विशेषतः रात्रि में अधिक, श्वास ग्रहण में आक्षेप की वृद्धि। कास की कुछ आवृत्ति के अन्त में रोग-दर्शक हूप आवाज।

आवेगावस्था (*Proxymal stage*)—पहले हूप से ही आरम्भ। प्रतिश्याय पहले से कम। ज्वर मन्द या अभाव।

कास का दौरा आदर्श क्रमानुसार—(१) वेग के अन्त में दीर्घ श्वास ग्रह। (२) लघु निश्वास की आवृत्ति (प्रायः १०-१२ निश्वास) उर पंजर आकर्षित भीतर वायु न रहना, दौरे में श्वासावरोध होता है, तब मुख मण्डल रक्त। श्वास ग्रहण हूप ध्वनि सह। बच्चाक्लांत हो जाता है। बहुधा वेग के अंत में बमन हो जाती है यह रोग निर्णय करती है। अनेक बार इसका चक्र धारावाहिक चलता है। आवेग के अन्त में थोड़ा सा लसदार श्लेष्मा निकलता है। एक दिन में आवेग की संख्या ४० से अधिक हो जाती है, रात्रि को अधिक स्पष्ट। बालक आक्रमण आरम्भ होने के पहिले से जाग जाता है और उसे दवा देने का प्रयत्न करता है। पुनः भयभीत हो जाता है। कितनेक बच्चे सोये हों तो उठकर बैठ जाते हैं और अधिक कष्ट से बचने के लिये लकड़ी आदि जो कुछ समीप हो उसे पकड़ लेता है या माता के पास दौड़ जाता है। आक्रमण शमन होने पर थोड़े समय तक निद्रा आजाती है या बड़े बच्चे सिर दर्द की फरयाद करते हैं। दौरे के आगे या पीछे सूब छींक आती हैं। मूत्र में मूत्रांश बढ़ जाता है। बार बार रक्त संग्रह होते रहने से मुख



मण्डल स्फीत हो जाता है, नेत्रों पर शीथ भासता है जो प्रायः व्यथा की सूचना देता है।

कभी कभी जिह्वा के नीचे ब्रण हो जाता है। दो निम्न मध्य कर्तनक दांत उत्क्षिप्त हो जाते हैं। ये कभी आवेगावस्था के पहले नहीं।

आवेग सामान्यतः स्वतः सिद्ध, कमरे में वायु का रोध होने पर उग्रता धारण करता है। मन क्षुब्ध हो जाता है, किसी स्थिति में चैन नहीं पड़ता शिशु में हूप का सामान्यतः अभाव। आयु बड़ी हो तो नैमित्तिक हूप।

चिन्ह—

नाड़ी अति तेज। निश्वासज कास के समय ध्वनि अपूर्ण और परीक्षा करने पर फुफ्फुसतल पर कुछ अस्वाभाविक आवाज।

उपद्रव—

१—फुफ्फुस में उपद्रव—श्वास प्रणालिका प्रदाह, फुफ्फुस प्रदाह, बालक दो आक्रमणों के बीच में बीमार रहता है।

२—वमन वृद्धि—सामान्य वमन की अतिवृद्धि।

३—श्वासनलिका ग्रन्थियों की बार बार वृद्धि होती है।

४—आक्षेप—शिशुओं में सामान्य, दृढ़ हो तो प्रायः घातक।

रोगस्थिति—

अति भिन्नतायुक्त। प्रसेकावस्था लगभग १ सप्ताह। सामान्यतः ३ दिन से २ सप्ताह तक। आवेगावस्था ४ सप्ताह अधिक। सब मिलकर ६ से ८ सप्ताह तक किन्तु बढ़ भी जाता है।

साध्यासाध्यता—

बहुधा शुभफल। मृत्यु आयु भेद से नानाविध १ वर्ष के भीतर में अधिक ३ वर्ष के भीतर सामान्य। ५ वर्ष से बड़ी आयु में १ प्रतिशत से कम। वृद्धों के लिये गम्भीर। आक्षेप आने पर

अधिक मृत्यु। श्वास प्रणालिका प्रदाह (डब्बा) होने पर अधिक मृत्यु।

चिकित्सोपयोगी सूचना—

आतुर को हवादार कमरे में रखें, जहां अधिक शीत या अधिक उष्णता न हो। प्रसेकावस्था में शय्या पर आराम करावें। गरम कपड़ा पहना कर छाती की रक्षा करें। आवेगावस्था में उदर पर पट्टी बांधें। ३-४ सप्ताह मकान में रहें।

भोजन—दूध, फलों का रस या मांस रस थोड़ा थोड़ा देते रहें। भोजन आवेग की समाप्ति पर दें। नीलगिरी तैल को वस्त्र पर छिड़कें। नख गले में भी इसे छिड़कें। छाती पर कपूर एवं लाक्षादि तेल की गरम करके मालिश करें। बड़ी आयु वाले बच्चे को कपूर और एमोनियां मिली लिनिमेंट की मालिस लाभदायक होती है।

काली खांसी की अनुभूत चिकित्सा—

नाम रोगी—सुकुन तोला, ग्राम—होरो (हिन्दू भूमि) औरत। आयु ४० वर्ष की, रोग—काली खांसी। दिनांक १०-६-६१ को उपरोक्त रुग्णा राजकीय आ० चि० केन्द्र में मेरे यहां चिकित्सा आयी थी। इसे निम्नलिखित औषधियां दी। उक्त रुग्णा खांसते खांसते वमन कर देती थी, आंखें लाल-लाल, बोलने में कष्ट और शीघ्र-शीघ्र आक्रमण, मुख से कफादि का निस्सार नहीं, अकबकाकर रोने लगती थी।

[१] चिकित्सा—प्रातः सायं भार्ग्यादि लेह ४ सारो, प्रबाल भस्म २ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती, मधु के साथ चटाया। छाती पर—लाक्षादि तेल और कपूर की मालिश, सूंघने के लिये नीलगिरी तेल का प्रयोग कराया। रुग्णा एक सप्ताह के इलाज में ठीक होगयी।

भार्ग्यादिलेह का योग—भारङ्गी, मुनक्का (बीज रहित), कचूर, काकड़ासिंगी, पीपल और सांठ सभी का बराबर मात्रा में चूर्ण कपड़छन बनालें और रखलें। साथ ही मधुयष्टी (मुलैठी) का चूर्ण भी



शिशु रोगाङ्क

कपड़छन करलें तीन हिस्सा ऊपर के चूर्ण में १२ हिस्सा मुलैठी चूर्ण मिलाकर रखलें और व्यवहार करें। यह अपना अनुभूत योग है।

[२] प्रधान—कुमडीह (सिंहभूमि) उम्र १ वर्ष लड़का। रोग—हृपिंग कफ (काली खांसी)—

इसे एक सप्ताह से खांसी और दूध का नहीं पचना तथा अकबकता आंख मुंह फाड़ना आदि भयानक उपद्रव थे। हमारे अस्पताल में लाया। मैंने देखा उसका वेग एवं ज्वर देख बड़ी घबड़ाहट हुई—अवगत होता था कि यह नहीं बचेगा। उसे खांसते खांसते पाखाना पेशाब भी हो जाता था। इसे मैंने निम्नलिखित उपाय एवं दवा दी—

प्रातः सायं दोपहर—काकड़ासिंगी, पीपल, अतीस और नागरमोथा को बराबर बराबर चूर्ण कर कपड़छन किया और १-१ रत्ती की मात्रा में दिया गया। व्यवहार विधि—माता के दूध या शहद से। छाती पर तारपीन के गुनगुने तैल की मालिश करवायी और तीन दिन में ठीक पाया। एक सप्ताह तक दवा का सेवन किया। (हृदय को बचाकर) इसे एक विशेष क्रिया यह करवाते थे कि बच्चे की मां को आदेश दिया था कि बच्चे के गुदा मार्ग पर सरसों का तैल ३-४ बार लगवाया। शीघ्र ही शांत हो गया और चंगा हो गया।

मेरे व्यवहार में आये और शतशः अनुभूत

बच्चों को काली खांसी की दवा मैं नीचे लिख देता हूँ। आप व्यवहार कर अवश्य लाभ उठावेंगे।

१. छोटी कटेली का पंचांग क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलाने से तीव्रता नष्ट होती है।

२. कस्तूरी १ रत्ती को शहद या दूध के साथ देने से काली खांसी शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

३. कण्टकारी घृत, जुद्रामृतप्राश, बाल घोर कासघ्न चूर्ण का व्यवहार भी अतिलाभकर है।

४. प्रबाल पिष्टी अकेली या शृङ्ग भस्म के साथ देने पर आशाजनक कार्य करती है।

पथ्य—

अवस्थानुसार साबूदाना, बाली, अरारोट देते हैं। गरम पानी ठण्डा करके व्यवहार में लाते हैं। फल, दुग्ध आदि का व्यवहार भी कराते हैं।

काली खांसी वालों को अवस्था देखकर सायं सोते समय मलाई मिश्री, और सुबह मक्खन मिश्री खिलाते हैं।

इस मण्डल में मैं विशेष मांसाहारियों को घोंघा (शम्बुक) मांस का व्यवहार कराता हूँ।

—श्री द्वारिकादत्त मिश्र G. A. M. S.

“आनर्स” आयुर्वेदाचार्य (बी. एस. ए.)

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्स केन्द्र
ओरेगा (सिंहभूमि)

कुक्कुर कास

प्राणाचार्य श्री पं० हर्षुल मिश्र B. A. (आनर्स)

कुक्कुर कास एक ऐसा वातज कास है, जो बच्चों को अधिक होता है। वातज कास के लक्षण ही इसमें प्रधान रूप से पाये जाते हैं और यह है भी वातज। वातज कास के लक्षण आयुर्वेद में संक्षेप में दिये गये हैं और आधुनिक वैद्यक पंडितों ने कुक्कुर कास, काली खांसी, हृपिंग कफ (Who-

oping cough) के नाम से बच्चों को होने वाली विशेष रूप की खांसी के रूप में इसका वर्णन किया है। परन्तु यह खांसी बच्चों को ही होती है, यह बात नहीं है। यह बालिगों (बयस्कों) को भी होती है, हां वयस्कों को यह अधिक कष्टप्रद तथा प्राणघातक नहीं होती जैसे छोटे बच्चों को होती है। छः वर्ष



और ७ वर्ष तक के बच्चों पर इसका प्रभाव अत्यन्त कष्टदायक और कभी कभी प्राणघातक भी होता है। जितने बच्चे छोटे होंगे उतना ही यह रोग भयङ्कर रूप धारण करता है। बड़े बच्चों पर इस रोग का भयङ्कर अथवा घातक प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता। बलवान बच्चों को यह कास यदि होता है और उनकी चिकित्सा समय पर ठीक ढङ्ग से हो जाती है तो शीघ्र आराम हो जाता है। अधिक से अधिक ४० दिन की इसकी अवधि रहती है। ४० दिन के बाद यह कुक्कुर कास रोग अपने आप शांत हो जाता है। इसे कुक्कुर कास इसलिये कहते हैं कि रोगी को सूखी खांसी आती है और उसके गले से कुत्ते की खांसी के समान “हों हों”, वा “खों खों” की आवाज होती है। इसीसे इसको मराठी में डांग्या, खोकला भी कहते हैं। विदेशी वैद्यक शास्त्र में इसे Whooping cough कहते हैं। विदेशी वैद्यक पंडितों का कहना है कि खांसते खांसते रोगी के गले से ‘हूप’ शब्द निकलने लगता है इसलिये इसका नाम Whooping cough पड़ा है। कुछ भी हो यह बच्चों को होने वाला एक विशेष प्रकार का वातज कास है। अतः वातज कास का शास्त्रीय लक्षण सर्व प्रथम उद्धृत करना यहां उचित प्रतीत होता है।

हृच्छंख पारवोंदरमूर्धशूली

क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।

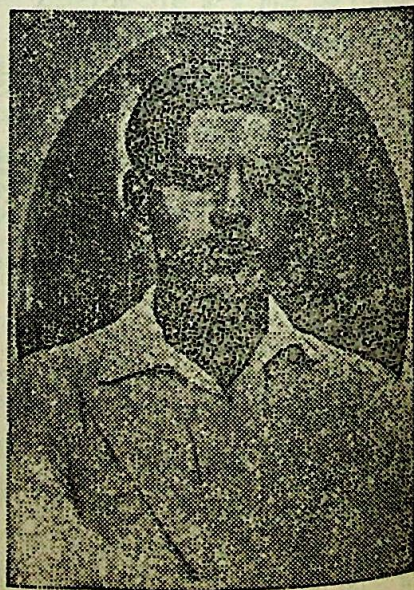
प्रसक्त वेगस्तु समीरणेन

भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥

अर्थात्—वातज कास में हृदय, शङ्खप्रदेश, उदर, पसली और शिर में पीड़ा होती है। मुख प्रभाहीन हो जाता है। बल स्वर तथा ओज क्षीण हो जाते हैं। खांसी सूखी और वेग से आती है।

उपर्युक्त लक्षण कुक्कुर कास में सामान्य रूप से मिलते हैं। बच्चों के शरीर धर्म के अनुसार प्रारम्भ में कुछ दिन तक थोड़ा ज्वर रहता है और बच्चा खांसते खांसते वमन कर देता है। अधिक देर तक खांसी चलते रहने से बच्चे की श्वास बढ़

जाती है। शरीर में आक्षेप आने लगते हैं। कफ आंख फेरता हुआ वेहोश हो जाता है। शरीर निर्बल होने पर कास का वेग उत्तरोत्तर बढ़ते खों पर ओज की कमी के कारण कुपित उर्ध्वगामी वात के भयङ्कर दबाव से नाक, मुंह, कर्ण से रक्त वाह आ जाता है। कभी कभी मस्तिष्क की आवरण कला भी रक्त से भर जाती है जिससे वक्त्र मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता है और उसका जीव संकट में पड़ जाता है। इसमें श्वसनक पीड़ा (निमोनियां) आदि होने की भी संभावना रहती है, परन्तु उपर्युक्त समस्त लक्षण उपद्रव मात्र हैं सामान्य लक्षण नहीं हैं। सभी बच्चों के कुक्कुर कास में उपर्युक्त उपद्रव नहीं होते। उपर्युक्त उपद्रव प्रायः पांच प्रतिशत रोगियों में ही होते हैं। प्रारम्भ में प्रतिश्याय और ज्वर के साथ खांसी आना और खांसते खांसते वमन हो जाना अथवा वमन करने के ढङ्ग से मुंह फाड़ देना और उसके बाद खांसी का बन्द हो जाना सभी कुक्कुर कास में उपर्युक्त वातज कास के लक्षणों के साथ सामान्य रूप से होता है। प्रतिश्याय, वमन, ज्वर आदि लक्षण ही बच्चों के वातज कास में विशेष रूप से





शिशु रोगाङ्कः

रहते हैं। प्रतिश्याय, वमन और ज्वर होने का कारण बच्चों के शरीर की कोमलता और अक्षमता है। उपद्रव भी इसी कारण होते हैं।

कुक्कुर कास का विशेष वर्णन—

कुक्कुर कास, जिसे विदेशी वैद्यक विज्ञान में Whooping cough कहते हैं वास्तव में बच्चों में पाया जाने वाले वातज कास के रूप में एक संक्रामक रोग है। जहां घर के किसी एक बच्चे को यह रोग हुआ कि धीरे धीरे उस घर के सभी बच्चे कुक्कुर कास से पीड़ित हो जाते हैं। इस रोग से छोटे बच्चों की अपेक्षा छोटी बालिकायें अधिक पीड़ित होती हैं। पाश्चात्य वैद्यक इस रोग की उत्पत्ति विशेष प्रकार के रोगाणु से मानता है जिसे Pertussis कहते हैं। यह रोगाणु खांसते समय श्वास नली की वाष्प के साथ बाहर आकर समीप रहने वाले बच्चा में श्वसन क्रिया द्वारा तत्काल संक्रमण करते हैं। यह रोग प्रारम्भ होता है साधारण प्रतिश्याय और ज्वर के साथ धीरे धीरे खांसी बढ़ती है। १ सप्ताह के अन्दर प्रतिश्याय और ज्वर तो शांत हो जाता है परन्तु खांसी उपरूप धारण करती जाती है। खांसी का वेग जोरदार और लम्बा होता है। जब खांसी का वेग आता है तब बच्चा घबड़ाकर मातापिता अथवा किसी भी ममतायुक्त व्यक्ति के पास सहारे के लिए दौड़ता है।

यह पहले मामूली शुष्क कास के रूप में प्रगट होती है परन्तु कुछ दिनों के बाद इसका रूप उग्र होने लगता है। इसके वेग (fits) आने लगते हैं। खांसी का वेग जब आता है तब बच्चा खांसते खांसते मुंह फाड़ देता है, मानो वमन करेगा और उसके हूँ हूँ शब्द के साथ बड़ी कठिनाई से सांस खींचकर कुछ स्वस्थ हो लेता है। बच्चा कुछ बड़ा होता है तो वह खांसते खांसते पेट पटकने लगता है, हाथ की मुटियां बांध लेता है। खांसते खांसते बच्चे का खाया हुआ अन्न वमन द्वारा पेट से बाहर गिर जाता है। बच्चे का पेट खाली हो जाता

है और वह इस प्रकार बार बार खांसी आने और वमन होने से भूखा बना रहता है। खाया हुआ अन्न हजम नहीं होता। उसकी दुर्बलता आहार की कमी से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। कास के वेग से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त भी हो जाता है। प्रायः खांसी का दौरा भी होने लगता है। कास के वेग से कान के पर्दे फट जाने पर कान से खून निकलने लगता है। श्वसनक पीड़ा (Bronchitis) हो जाती है। बढ़ते बढ़ते फुफ्फुस प्रदाह (निमोनिया) हो जाता है। पाचन क्रिया बिगड़ जाने से पतले दस्त भी होने लगते हैं। आक्षेप (Convulsion) ज्वर आदि अनेक उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं। आहारण अवस्था में यह रोग कुछ दिनों में औषधि से अथवा अपने आप भी अच्छा हो जाता है। बढ़ने पर उचित चिकित्सा करने पर ६ सप्ताह में आराम हो जाता है। ६ सप्ताह तक इस रोग का संक्रमण काल रहता है। ६ सप्ताह के बाद इस रोग की संक्रमण शक्ति कम हो जाती है। रोग में आराम होने के १ माह बाद इस रोग के संक्रमण का कोई भय नहीं रह जाता।

चिकित्सा —

१. जब बच्चे को कुक्कुर कास का वेग प्रारम्भ रहे तब उसकी पीठ को एक हाथ से और उसके मस्तक को दूसरे हाथ से सहारा देना चाहिये।

२. यदि मुंह में कफ आ जाय अथवा वमन आ जाय तो उसे अपने मुंह से बाहर कर देना चाहिये।

३. जब कुक्कुर कास का वेग शांत हो जाय तो दूसरे वेग के आने के पहिले बीच के समय में बच्चे की छाती को वारुणी, एरण्ड तेल, सरसों और नीलगिरी तेल के समान मिश्रण की मालिश छाती पर धीरे धीरे करनी चाहिये। इसी तेल मिश्रण को ५ से १० बूंद गरम पानी में डालकर बच्चे को चम्मच से धीरे धीरे पिलाना चाहिये।

४. बड़े बच्चे को उचित मात्रा में विशुद्ध



एरण्ड तैल गरम मोठे दूध के साथ मिलाकर प्रति ४ दिन के अन्तर से पिलाना चाहिए। साल व दो साल के अन्दर के बच्चे को धीरे धीरे चाय के चम्मच से दो तीन चम्मच विशुद्ध एरण्ड तैल पिलाना चाहिये अथवा ४ रत्ती से आठ रत्ती तक सनाय का चूर्ण अथवा आधा तोला—एक तोला सनाय का गरम क्वाथ थोड़ा शहद मिलाकर प्रति ४ दिन के अन्तर से सेवन कराना चाहिये। अथवा अश्वकंचुकी ३ रत्ती, ३ रत्ती व १ रत्ती तक बच्चे के मृदु और क्रूर कोष्ठ के अनुसार प्रति ४ दिन के अन्तर से जीरे के चूर्ण और मधु के साथ चटाना चाहिए। जीरे के चूर्ण की मात्रा ४ रत्ती से ८ रत्ती तक पर्याप्त है।

५. बच्चे को ज्वर न रहने पर सहन करने योग्य गरमपानी में थोड़ा तारपीन का तैल मिलाकर और बच्चे के शरीर में सरसों तैल व एरण्ड तैल लगाकर नित्य सूर्य रश्मियों में बैठालकर स्नान कराना चाहिये। ज्वर रहने पर केवल तारपीन के तेल युक्त गरम पानी में भिगोकर निचोड़े हुए कपड़े से शरीर को नित्य मध्याह्न के समय पौछना चाहिए। इस प्रकार के स्नान से बालक के शरीर का बल और ओज कम नहीं होता। इसका शरीर पर लायवकर प्रभाव पड़ता है। रोग के वेग को शरीर सम्हालने में समर्थ बना रहता है।

६. यदि कफ संकोच और एंठन के साथ सूखा निकले तो बालक को सर्पगंधा ३ रत्ती से ३ रत्ती और मुलैठी चूर्ण १ रत्ती से २ रत्ती, प्रवाल पंचा-मृत आधी से १ रत्ती शहद के साथ प्रति ४ घंटे के अन्तर से चटाना चाहिये। उपर्युक्त औषधियों को मिश्रण बनाकर भी २ रत्ती से ३ रत्ती की मात्रा में चटाया जा सकता है।

७. जब कुक्कुर कास के लम्बे वेग से खांसते खांसते बालक थक कर शिथिल होजाय, तो उसे तत्काल निम्नांकित द्रव्यों का निर्माण धीरे धीरे पिलाना चाहिये—

“उत्तम वारुणी वा ब्राण्डी १० से २० बुँद, अर्जुनत्वक् का तर्पण (शर्बत) आधा तोला जल २ तोला”। इस मिश्रण को यथाप्रसङ्ग बच्चों की इच्छा के अनुकूल गाय के गरम दूध में मिलाकर भी पिलाना चाहिए। इससे बच्चे की शिथिलता तत्काल दूर होती है।

८. जब बालक को कुक्कुर कास के वेग से बार बार वमन हों, तो ठोस अन्न अथवा दूध से पचने वाला अन्न कदापि सेवन न कराया जाय। अंगूर की शक्कर अथवा ग्लुकोज १ तोला से २ तोला तक ५ तोला जल में घोलकर धीरे धीरे चम्मच से पिलाया जाय। पुराने चावलों का मण्ड, मुद्गायूष, साबूदाना का पतला यवागू, गौदुग्ध पथ्य रूप में दिया जाय।

९. कुक्कुर कास वाले बच्चे पर जलवायु के परिवर्तन का सुखावह प्रभाव पड़ता है। जिस जलवायु में रहते हुए बच्चा बीमार हुआ है उस जलवायु से हटाकर उत्तम जलवायु के प्रदेश में बच्चे को ले जाते ही वह अपने आप स्वास्थ्य लाभ करने लगता है। इसलिये औषधियां जहां तत्काल लाभ नहीं करती हों, वहां जलवायु का परिवर्तन आवश्यक है।

१०. जब बालक को कुक्कुर कास के साथ ज्वर, प्रतिश्याय, श्वसनक पीड़ा, फुफ्फुस प्रवाह (निमोनियां), अतिसार, श्वास आदि उपद्रव हों तो उस समय वही चिकित्सा करनी चाहिये, जो उपर्युक्त रोगों के लिये प्रयुक्त की जाती हैं। उपद्रव में केवल कुक्कुर कास की ही चिकित्सा पर्याप्त नहीं।

कुक्कुर कास पर अनुभूत योग—

(१) फूली हुई फिटकरी ३ रत्ती, फुलाया हुआ सुहागा चूर्ण आधा रत्ती, बबूल का घृत या बच चूर्ण गोंद का चूर्ण १ रत्ती मधु के साथ प्रति ४ घंटे के अन्तर से चटाना चाहिए। बड़े बच्चों को इस योग की मात्रा दुगुनी देनी चाहिये। इस औषधि के प्रयोग से तीन दिन में ही कुक्कुर कास का वेग शिथिल हो जाता है। एक सप्ताह में खांसी मिट

जाती है। यह योग निमोनियां, प्रतिश्याय, श्वसनक पीड़ा में भी लाभप्रद है। इससे क्षयज कास को भी आशातीत लाभ होता है।

(२) परिष्कृत जल ५ तोला, पिपरमेंट मद्यसार १० बूंद, नीलगिरी मद्यसार १० बूंद, मुलैठी मद्यसार २० बूंद, विशुद्ध क्लोरोफार्म ५ बूंद समस्त मिश्रण की ८ मात्रा बनायें। १ वर्ष, या २ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये १२ मात्रा बनायी जाय। १ मात्रा चाय के चम्मच से धीरे धीरे प्रति ४ घंटे के अन्तर से दिन रात में ४ से ६ बार पिलायें।

इससे कुक्कुर कास, प्रतिश्याय का वेग उसी दिन से कम होने लगता है, जिस दिन से औषधि प्रारम्भ होती है।

(३) हर्षुल कासारुजा—काली मिट्टी का लवण १ तोले, पीली वा घुई मिट्टी का लवण १ तोला, नीलगिरी वृक्ष का गोंद १ तोला, बबूल का घृत पक्व गोंद १ तोला, सर्पगन्धा महीन चूर्ण १ तोला, भुनी हुई हल्दी २ तोला, सत्व मुलैठी २ तोला, अजामूत्र शोधित बहेड़े की पक की छाल का चूर्ण ४ तोला, प्रबाल पिष्टी चन्द्रपुटी १ तोला, मुक्तापिष्टी १ तोला, कंटकारी चार १ तोला, कसौ-धिका घन सत्व १ तोला, हिंगुल भस्म १ तोला।

समस्त औषधियों को कंटकारी के स्वरस वा क्वाथ में ७२ घंटे लगातार मर्दन कर दो दो रत्नों की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर और शीशी में भर कर सुरक्षित रखलें। मात्रा १ गोली।

अनुपान—मां का दूध, गरम जल अथवा मधु।
समय—प्रति ४ घंटे के अन्तर से दिन रात में ४ से ६ बार दें।

(४) हर्षुल कासहा—कंटकारी स्वरस २० तोला, कसौधिका स्वरस २० तोला, मुलैठी क्वाथ २० तोला, पंचकोल क्वाथ २० तोला, भांसास्वरस २० तोला, अकरकरा का क्वाथ २० तोला, बहेड़े का स्वरस २० तोला, मिश्री १६० तोला।

विधि—समस्त द्रव्यों को कलई किये हुये बर्तन में डालकर आग पर चढ़ा इतना पकावें कि यह शहद के समान गाढ़ा हो जाय। फिर उसे शीतल होने पर कांच की चौड़े मुंह की बड़ी शीशी में भरकर उसमें १॥ माशा पीपरमेंट, मद्यसार १ तोला, इलायची मद्यसार १॥ माशा, दालचीनी मद्यसार १॥ माशा, लवङ्ग मद्यसार ४० बूंद, विशुद्ध क्लोरोफार्म (२॥ तोला से ५ तोला तक चारुणी वा ब्राण्डी वा अल्कोहल वा रैक्टीफाइड स्पिरिट) मिला दें और शीशी का मुंह मजबूत कार्क से बन्द करके सुरक्षित रखें।

अनुपान—उबाला हुआ निष्फेण निर्मल जल १ तोले से २ तोले। मात्रा एक से दो चम्मच भर। समय—दिन रात में रोग के वेगानुसार प्रति ४ घण्टे के अन्तर से तीन चार बार दें।

गुण—यह 'कासहा' मेरा अनुभूत और आशु-गुणकारी प्रयोग है। यह 'कासहा' कुक्कुर कास, क्षयज कास, वातज कास, पित्तज कास, कफज कास आदि सभी कासों पर रामबाण है। इसका प्रयोग असफल कभी नहीं होता। रोगी को औषधि सेवन करते ही चैन पड़ जाता है। कासरुजा के समान यह भी तीन दिन में कुक्कुर कास को शमन करने में समर्थ है। बच्चे इसे बड़े चाव से चाटते हैं। एक सप्ताह में रोग पूरी तरह काबू में आजाता है और एक पक्ष में रोग का समूल नाश हो जाता है।

यह प्रतिश्याय (ब्रांकाइटिस) निमोनियां क्षयज कास, श्वास कास में आशुगुणकारी है। यह केवल बच्चों की ही खांसी में नहीं प्रयुक्त बड़ों की खांसी में भी तत्काल लाभप्रद है।

—श्री प्राणाचार्य पं. हर्षुल मिश्र बी. ए.
(आनर्स) आयुर्वेदरत्न आयुर्वेदिक निरीक्षक
रुक्तीशगढ़ विभाग, रायपुर (मध्यप्र.)

काली खांसी

श्रीमती इन्दिरादेवी शास्त्रिणी आयुर्वेदमणि

यह कश्वत बहुत प्रसिद्ध है “लड़ाई की जड़ हांसी-रोग की जड़ खांसी” इसका अर्थ यह है कि हांसी-मजाक लड़ाई भाड़े की जड़ होती है और खांसी अनेक रोगों की जड़ होती है। खांसी बहुत बुरी चीज है। बहुत कष्ट देती है। खांसी से बहुत सावधान रहना चाहिए। आपको छोटे बच्चों की एक खास खांसी के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाती हूँ। इस खांसी का नाम है “काली खांसी” इसे “कुकुर खांसी” और “हूपिंग कफ” भी कहते हैं। हूपिंग कफ यह अंग्रेजी नाम है। जब बच्चों को इस खांसी का दौरा होता है तो उनके गले से जैसे कुत्तों के गले से “हुपहुप” की आवाज निकलती है, वैसी ही आवाज निकलती है। इस लिए उस आवाज का अनुकरण करके डाक्टरों ने इस खांसी का नाम रखा “हूपिंग कफ” हूपिंग कफ का अनुवाद है कुकुर खांसी। लेकिन आमतौर पर इसे “काली खांसी” कहते हैं।

२ मास से लेकर १० वर्ष की आयु तक के बच्चों को “काली खांसी” होती देखी गई है। दूध पीने वाले बच्चों को जब यह खांसी होती है तो उसका कारण—गले में या श्वास लेने वाली नली में धुआँ और धूल के कणों का जाना श्वास की नली में सर्दी लग जाने से सूजन आकर जलन पैदा हो जाना, खाया हुआ अन्न न पचने पर भी बराबर कुछ न कुछ खाते रहना, चाकलेट पिपरमैट आदि बाजारू मिठाइयों को खाना और अनेक प्रकार की प्रकृति विरुद्ध वस्तुओं के खाने पीने से वायु और कफ का कुपित होना होता है। “काली खांसी” यह संक्रामक रोग है। संक्रामक रोग का अर्थ है, एक बच्चे में दूसरे बच्चे को काली खांसी का कष्ट हो जाना। इसका कारण यह है कि काली खांसी के रोगी के कफ में कुछ ऐसे विषैले कीटाणु होते हैं

जो खाने पीने की चीजों के द्वारा समीप रहने वाले बच्चों के शरीर में प्रविष्ट होकर रोग को उत्पन्न करते हैं। इसलिए यदि घर के किसी एक बच्चे को काली खांसी हो गयी हो तो उसके समीप घर के किसी दूसरे स्वस्थ बच्चे को नहीं जाने दें।

मैं पहले बतला चुकी हूँ कि काली खांसी की बीमारी बहुत दुःख देने वाली होती है। जब बच्चे को इस खांसी का दौरा होता है तो उसका श्वास रुक जाता है, खांसते खांसते मुख लाल हो जाता है, आंखों से आंसू निकलने लग जाते हैं, और कई बार कष्ट की अधिकता के कारण छोटे बच्चों का मतल-मूत्र भी निकल जाता है। काली खांसी का यह दौरा १५ सेंकड से लेकर एक दो मिनिट तक रहता है। २ मास से ६ मास तक के दुर्बल बच्चों की “काली खांसी” के दौरे के समय मृत्यु तक होती देखी गई है। १ सप्ताह से ६ अथवा ८ सप्ताह तक यह रोग कष्ट देता है। उत्तम चिकित्सा से धीरे धीरे यह कष्ट दूर हो जाता है।

चिकित्सा—

१—बच्चों को धूल धूआँ आंधी-पानी और सर्दी लगाने से बचाना। बच्चे को शुद्ध दूध और हवा मिल सके, ऐसी व्यवस्था करना।

२—५ तोला तारपीन के तेल में १ तोला पिसा हुआ कपूर डालकर कडी काग लगा कर शीशी को धूप में रख देना। कपूर गल जायगा। बच्चे के बच्चस्थल (सीने) पर और पार्श्व भाग में इस तैल की मालिस से कफ सरलता के साथ निकल जाता है और बच्चे को आराम मिलता है।

३—सरसों का तैल ५ तोला, पिसा हुआ लाहौरी नमक १ तोले किसी साफ कटोरी में डाल कर आग पर चढ़ाना। नमक के गल जाने पर तैल को छान



शिशुरोगाङ्कः

कर किसी शीशी में रखना। इसी शोशी को थोड़ा गरम करके बच्चे के सीने पर धीरे धीरे तैल मलने से बच्चे को आराम मिलता है और कफ आसानी से निकल जाता है।

४-५ तोला सफेद फिटकरी को पीस कर कोयले की तेज आंच वाली अंगीठी पर रखे हुए गर्म तवे पर डालना और फिटकरी का फूला बनाना। फूला बन जाने पर तवे को अंगीठी से उतारना और औषध को पीस छान कर साफ शीशी में रख लेना। प्रातः सायम् या दिन में ३ बार १ रत्ती से २ रत्ती तक इस औषध को शहद में मिला कर बच्चों को

चटाने से “काली खांसी” दूर होती है।

५-काकड़ासिन्धी, पीपल, अतीस, नागरमोथा चारों चीजें एक एक तोला और कूट पीस तथा कपड़े से छान कर साफ शीशी में भर कर रख लें। १ रत्ती से २ रत्ती तक बालक की अवस्था के अनुसार माता के दूध या शहद के साथ इस औषध को प्रातः सायं देने से बच्चों की “काली-खांसी” ज्वर और बमन आदि कष्ट दूर होते हैं।

श्रीमती डा० इन्दरादेवी शास्त्रिणी, आयुर्वेदमणि
मुरलीधरबाग, हैदराबाद (आ. प्र.)

खांसी पर सफल प्रयोग

[१]

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव

रोगी बच्चे से स्वस्थ बच्चे को मिलने न दें। भोजन लघु और सुपाच्य देवे। स्वस्थ वायु और प्रकाशयुक्त कमरे में बच्चे को रखें। मलावरोध न होने दें।

(१) चन्द्रामृत रस २-२ रत्ती ३ माशे मधु से मिला चटाते रहें। १ दिन में ५-७ मात्रा दे सकते हैं।

(२) कासारि ६ माशे में लवंगादि चूर्ण १ माशे मधु ३ माशे मिला चटावें। यह १ मात्रा है।

(३) कासारि ३ माशे में अभ्रम भस्म शतपुटी १ रत्ती, सुहागा की खील १ रत्ती, मधु ३ माशे सब को मिला चटावें। यह १ मात्रा है।

(४) करंज को गरम कर चूर्ण करें, २-२ रत्ती ३ माशे मधु में मिला चटावें। यदि चाहें तो

कासारि ३ माशे मिला लेवें। यह १ मात्रा है।

(५) डेनगाइन [डीशेन] का प्रयोग करें।

(६) सितोपलादि १ माशे काकड़ासिन्धी चूर्ण १ माशे, अभ्रक भस्म २ रत्ती, मधु ३ माशे में मिला कर दें। बांसारिष्ट ३ माशे, कासारि ३ माशे भी मिला सकते हैं।

(७) ६६३ की वटी २ रत्ती, [सितोपलादि ४ रत्ती उष्ण जल से दें। निमोनियां शमन हो जावेगा कुक्कुर कास न शमन होने पर निमोनियां अवश्य हो जाता है। यह ध्यान रखें।

ये प्रयोग खाली नहीं जाते। अनुभूत हैं।

—श्री जगदम्बाप्रसाद
महदेवा, पो० अरौल [कानपुर]

[२]

श्री कमलेश्वर बशिष्ठ

आयुर्वेद की निम्न वटी इस कास में उपयोगी पाई गई हैं—

यथा—मरिचादि वटी, खदिरादि, लवंगादि

वटी, कस्तूरी वटी और व्योषादि वटी और सम-शर्करा चूर्ण का प्रयोग भी लाभप्रद देखा गया है। निम्न वटी भी हुंकर कास में अत्यन्त लाभ-



कारी है—

लौंग ३ माशे, पीपल २ तोले, काकड़ासिंगी ३ तोले, मिश्री समभाग ।

विधि—सबको कपड़छन कर कटसरैया (पीत-बांसा) रस की सात भावना देकर गोली बनाके इसका सेवन करने से कूकर कास समूल नष्ट होती है ।

निम्न प्रयोग भी इसमें लाभप्रद देखे गये हैं—

[१] तुलसीपत्र १० नग, कालीभिर्च ४ नग, पसर कटेली (छोटी कटेली) ६ माशे, कटसरैया (पीतबांसा) पत्र ५ नग लेकर काथ करें । फिर मिश्री मिलाकर सेवन करने से लाभ होता है ।

मात्रा—बच्चों को २ चम्मच और बड़ों को २ छटांक ।

[२] कटसरैया पत्र १० नग, अनार का छिलका २ माशे, समुद्र लवण ६ माशे, हल्दी पर बाजरे के दाने ३० नग का क्वाथ बनाकर पीने से कास ३ दिन में नष्ट हो जाती है । उपर्युक्त द्रव्य १ पाव पानी में डालकर पकावें । आधा शेष रहने पर छान कर प्रयोग करें ।

मात्रा—बच्चों को २ चम्मच और बड़ों को २ छटांक दिन में २ बार ।

[३] गुडूची, नागरमोथा, काकड़ासिंगी, सोंठ, पीपल, जंवांसा, कटसरैया समान भाग लेकर काथ बनावें अथवा इन द्रव्यों का चूर्ण कर मिश्री, शहद मिला अवलेह के समान चाटें ।

मात्रा—काथ की २ चम्मच अवलेह बड़ों को १ माशे अवलेह चटाने के बाद थोड़ा गरम जल पी लें । अत्यन्त अनुभूत है ।

[४] कस्तूरी वटी २ गोली, शृङ्गभस्म २ चावल, सितोपलादि २ रत्ती को शहद मिलाकर चटाने से भी पूर्ण लाभ होता है ।

[५] काकड़ासिंगी चूर्ण २ रत्ती, दाड़िमत्वक

चूर्ण ६ रत्ती, मिश्री और मधु मिलाकर सेवन करावे बड़ों को इससे चौगुनी मात्रा दें ।

[६] निम्न अवलेह भी इसमें लाभ करता है—

काले तिल, रब्बेसूस, पिस्ता, शकर तिगार, बादाम गिरी, काकड़ासिंगी, खसखस प्रत्येक १-१ तोले मिश्री १० तोले ।

निर्माण विधि—सब औषधियों को कपड़छन करके मिश्री की चाशनी कर उसमें मिला दें ।

मात्रा - ३ से ६ माशे, जिस समय खांसी का वेग हो उस समय गरम दूध के साथ दें ।

[७] पीतबांसा पत्र को पान के समान मुंह में मुलहठी २ नग डालकर चबाने से भी कास नष्ट हो जाता है ।

पीतबांसा पत्र और अनार का छिलका तथा नमक को भी मुंह में रखने से कास नष्ट होती है ।

[८] निम्न शर्बत भी कूकर कास (Whooping cough) में लाभकारी है—

कटसरैया (पीतबांसा-पियाबांसा) पत्र १ पाव, काकड़ासिंगी ४॥ तोले, दाड़िमत्वक (अनार का छिलका) १॥ छटांक, पीपल १ छटांक, नागरमोथा १ छटांक, सोंठ या अद्रक ३ छटांक, हरी गिलोय १ छटांक, छोटी कटेरी १ छटांक ।

निर्माण विधि—सबको लेकर ५ सेर जल में पकावें । जब पकते पकते आधा रह जावे तब १ सेर चीनी डालकर चाशनी बनावें । जब एक तार की चाशनी हो जावे तब उतार लें और अगर पसंद हो तो उसमें कोई खुशबू भी डाल सकते हैं ।

मात्रा—बच्चों को १ तोला, बड़ों को २ से ५ तोला तक । यह शर्बत कूकर कास में शीघ्र लाभ करता है ।

—श्री वैद्य कमलेश्वर वशिष्ठ
चौक बाजार, रेवाड़ी ।

बाल कास पर सफल प्रयोग

१-तम्बाखू के पत्तों की नशें (पत्तों तथा शाखा न लें) २० तोले को मिट्टी पात्र में कपड़छन कर अन्तर्धूम जला दें या खुला जलावें। निर्धूम अग्नि होने पर दूक दें जिससे अग्नि बुझ कर कोयले हो जावें।

इसमें २० तोला सेंधा नमक मिलाकर बारीक पीस कर कड़ी डाट की शीशी में रख दें।

मात्रा—१ से ३ रत्ती तक दिन में ३ समय दें।

अनुपान—ज्वर श्वास अतिसार या सामान्य कास में अजमाइन १-२ रत्ती, बंगलापान १ पका हुआ का रस २-३ माशे जल मिलाकर गरम कर पिलावें। दिन भर में ३-४ मात्रा दें।

२-बंगला पान १ छोटी इलायची छिलका सहित जल से पीस कर १ से ३ रत्ती दवा मिलावें। जरा गर्म कर दिन भर में ३-४ मात्रा दें।

योग रसतंत्रसार का है तथा स्वानुभूत है।

श्री रामफल मिश्र आयु० विशारद
खलारी भीमखोल (रायपुर)

३-यह गुप्तसिद्ध प्रयोगांक प्रथम भाग (धन्वन्तरि में २६ पृष्ठ पर राजन्य श्री महाराज दीन सिंह जी वैद्य शास्त्री द्वारा) प्रकाशित हुआ है। यह चमत्कारी लाभदायक है परन्तु हमारी निम्नलिखित प्रयोग विधि विशेष लाभदायक है। सर्व प्रथम बालश्चान कासी को अवस्थानुसार ४ रत्ती से १५ रत्ती तक मदनफल चूर्ण द्वारा वमन करा दें पुनः कासारि मधु दिन में ३-४ बार दें। प्रति तीसरे दिन मैग्नेशिया द्वारा उदर शुद्धि कराते रहें लाभ प्रथम दिवस ही प्रतीत होगा। लगभग १०-१२ दिवस में पूर्ण लाभ हो जाता है।

कासारि मधु निर्माण विधि—

बांसा के पीले ताजे पत्र लेकर साफ कर बारुणी यंत्र में तहें लगा कर केवल पत्र ही इतने भर दें कि यंत्र कुछ ही खाली रह जाय।

मंदाग्नि द्वारा निर्मल पत्र बाष्प परिश्रुत कर लें। पुनः इस परिश्रुत अर्क के बराबर शुद्ध मधु मिला कर रख लें। यही “कासारि मधु” है।

नोट—अग्नि अवश्य ही मंद रहनी चाहिए अन्यथा अर्क में तीव्रगंध व स्वाद में कटुता आ जाती है जो पीने में कठिनाई पैदा करती है।

—आयुर्वेदाचार्य श्री पं० कृष्णदेव शर्मा शास्त्री
संचालक—श्री कृष्ण आयुर्वेद भवन
सीकरी (भरतपुर)

४-काला नमक १ छटांक कूटकर चीनी अथवा कांच के बरतन में डाल लें। उसके बाद आक (मदार) के दूध की एक भावना दें। शराब सम्पुट में रख कर ५ सेर उपलों की अग्नि दें। शीतल होने पर उसे निकाल कूट कपड़छन कर शीशी में भर लें।

मात्रा—१ वर्ष के बच्चों के लिए मधु (शुद्ध) के साथ दिन में एक मात्रा (खूराक) और रात में दो मात्रा एक एक रत्ती की दें।

उपयोग—काली खांसी (शुष्क कास) एक सप्ताह के सेवन करने से समूल नष्ट हो जाती है।

५-अतीस का चूर्ण एवं मुलहठी (मुलेठी) का चूर्ण बराबर मात्रा में और दोनों का आधा भाग मिश्री का चूर्ण मिलाकर १ रत्ती से १ मास तक की मात्रा में शहद के साथ चटावें तो पुरानी खांसी जिसमें बालक खांसते खांसते वमन कर दे ठीक होती है।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू (रायवरेली)

६-काली मिर्च, कासनी, मुलहठी, सौंफ प्रत्येक २-२ माशे को २॥ तोला जल में पीस एक तोले लोहे को गर्म करके बुझाव दें लें। फिर छान कर १ मासा मधु मिला कर नित्य प्रातःकाल केवल १ मात्रा दे दिया करें। कुकुर कास में तो लाभ करती ही है साथ ही अन्य कासों में भी लाभप्रद है।

—श्री अमरनाथ शर्मा आयुर्वेदाचार्य
चमरौआ (रामपुर)

कृमि रोग

कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन जी.ए.एम.एस.

—१२५३—

कविराज जी ने यह लेख पुरुष्कार योजनान्तर्गत भेजा था लेख अत्युत्तम एवं पुरुष्कार प्राप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त था लेकिन अधिक विस्तृत होने के कारण साधारण अंक में प्रकाशित करना कठिन प्रतीत हुआ और कविराज जी की स्वीकृति लेकर इस विशेषांक में प्रकाशित कर रहे हैं। —सम्पादक

वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थों में इस सम्बन्ध जो कुछ लिखा मिलता है उससे ऐसा भान होता है कि ये तदविषयक किसी सम्पूर्ण एवं विषद वर्णन के भग्नावशेष हैं। चूंकि इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा मिलता है उन सभी का भी पूर्ण वर्णन नहीं मिलता। जैसे कृमियों के भिन्न भिन्न नामों का वर्णन है मगर सिवाय उनके एक सामान्य आकार तथा उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य लक्षण के यह नहीं मिलता कि कौनसा विशिष्ट कृमि किस विशिष्ट आकार, वर्ण एवं रूप का है और कौन-कौन से विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करता है। जैसे—

कफादामाशयो जाता वृद्धा सपन्ति सवतः।

... ..पीनसान ॥७—१०॥

—कृमिनिदानः माधवनिदान

इसमें विभिन्न आकार एवं वर्णन रूपादिका वर्णन है, विभिन्न नामों का उल्लेख है तथा इनसे उत्पन्न कुछ एक लक्षणों का उल्लेख तो है मगर यह नहीं बताया गया कि आन्त्रदा कैसे आकार, वर्ण एवं रूप विशेष का होता है और कौन से विशिष्ट लक्षण या लक्षणों को उत्पन्न करता है और हृदयादा कैसा होता है और कौन कौन से विशिष्ट लक्षणों को उत्पन्न करता है।

यह मानी हुई बात है बल्कि साधारण तर्क भी यही है कि जब तक इन सबों के आकार वर्ण एवं रूप आदि में भेद नहीं होता तब तक ये विभिन्न नाम नहीं होते। इन विभिन्न नामों का उल्लेख एवं कृमियों के वर्गीकरण से ही यह सिद्ध होता है कि हर एक के आकार वर्ण रूप आदि से तथा उनसे उत्पन्न होने वाले लक्षणों का पूर्ण ज्ञान था—अन्यथा न तो

विभिन्न नामों ही का उल्लेख होता और न उनका वर्गीकरण करना ही संभव था। इससे यह साक्ष्य पड़ता है कि किसी समय में इस विषय के पूर्ण ज्ञान का वर्णन मिलता था मगर समय के फेर से आज इतना ही प्राप्त है।

इस सम्बन्ध में आयुर्वेद में जो कुछ इस समय हमें मिल रहा है उसका सारांश निम्नलिखित है।

१. कृमि दो वर्ग के हैं—एक बाह्य दूसरा अभ्यन्तर। बाह्य वह है जो शरीर पर ही बाहर की ओर उत्पन्न हो और बाहर ही रहकर कष्टकर लक्षणों को उत्पन्न करें।

कृमियश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदतः।

२. बाह्य कृमि भी दो प्रकार के हैं, कोई बहुपाद है कोई सूक्ष्म है, ये कोठ पिडिका कण्डू आदि रोगों या लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। ये बाह्य मल से होते हैं।

.....बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।

तिलप्रमाण संस्थान वर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥

बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूकाः लिङ्गाः नामतः।

द्विधा ते कोठ पिडिका कण्डूगदान प्रकुर्वते ॥ ३ ॥

—माधव निदानः कृमिरोग

३. जन्म भेद से इनके चार भेद हैं, बाह्य कफज, रक्तज एवं पुरीषज।

बहिर्मल, कफासृग्विड् जन्म भेदाच्चतुर्विधा ॥ १ ॥

—माधव

४. इनके उपभेद २० हैं।

नामतो विंशति विधाः ॥

दो बाह्य—बाह्यमलोद्भवा द्विधा



७ कफज—कफदा आमाशये जाता, नमतः सप्तधातुते ।

६ रक्तज—रक्तवाहि-सिरा-स्थान रक्तजा पट्टे कण्ठकर्माणः ॥

५ पुरीषज—पक्वाशय पुरीषोत्था ते पञ्च नाम्ना कृमयः

५. कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं बढ़ते हैं या वृद्धि प्राप्त करते हैं और शरीर के तमाम याने हर सम्भव भागों में पहुंचने वाले होते हैं । इनमें कोई मोटा, कोई चर्मलता (ब्रन्), कोई भूनाग, कोई एक पर एक चढ़े धान्याकुर सा, कोई पतला, कोई बहुत लम्बा तथा कोई अणु जैसा होता है । इसमें कोई श्वेत, कोई ताम्रवर्ण का होता है ।

कफादामाशये जाता.....ताम्रावभासाश्च ।

६. कफज कृमि सात प्रकार के हैं । उनके नाम हैं—१. आन्त्रदा, २. उदरावेष्टा, ३. हृदयादा, ४. महागुदा, ५. चुरवो, ६ दर्भ कसुमो तथा ७. सुगन्धा ।

७. ये हृत्लास, मुंह में पानी आना याने शुक्-शुकी, अविपाक, अरुचि, मूर्च्छा, छदि, ज्वर, आनाह, काश्य, क्षवथु एवं पीनस उत्पन्न करते हैं ।

८. रक्तज कृमि रक्तवह स्थान या सिरास्थान में रहते हैं और ये अत्यन्त छोटे अणु परमाणु, अपाद, गोल, ताम्रवर्ण और कोई स्थूल नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ने वाले होते हैं ।

रक्तवाहिसिरा स्थान.....अदर्शना ॥११॥ माधवा॥

९. रक्तज ६ प्रकार के हैं उनके नाम हैं—१. केशादा, २. रोमविध्वंसा, ३. रोमद्विपा, ४. उदम्बरा, ५. सहसौरस, तथा ७. मातरः ।

१०. रक्तज कृमि कुष्ठ जैसा लक्षण उत्पन्न करते हैं ।

११. पुरीष कृमि पक्वाशय में होते हैं और अधः गति वाले होते हैं याने नीचे मलद्वार की ओर गति करने वाले होते हैं । मगर अधिक बढ़ने पर ये ऊपर की ओर याने आमाशय की ओर भी गति करते हैं । ये मोटे गोल, पतले, बड़े श्याम वर्ण, पीत या श्वेत वर्ण के होते हैं ।

पक्वाशये पुरीषथा.....सिता ॥१३-१४॥ माधवा॥

१२. पुरीषज कृमि पांच प्रकार के होते हैं उनके नाम हैं १. सौसुराद, २. सशूला, ३. लेलिहा, ४. ककेरुक, ५. मकेरुक ।

१३. ये कृमि विहभेद, शूल, विष्टम्भ, कृशता, पारुष्य, पाण्डु, रोमर्ष, अग्निमांघ, गुदकण्डू और गुदा के बाहर अन्य मार्गों जैसे योनि मार्ग प्रभृति की ओर गमन करने वाले होते हैं ।

वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त कृमिजन्य हृदय रोग एवं कृमिजन्य शिरोरोग का उल्लेख भी मिलता है । इसके अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई स्पष्ट लेख नहीं मिलता कि कौनसा कृमि किस आकार एवं वर्ण का है या कौन सा कृमि विशिष्ट प्रकार के लक्षणों को उत्पन्न करता है । मगर उक्त वर्णन ही इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि इन बातों का ज्ञान आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में अवश्य रहा होगा जो आज समय के फेर से नहीं रह गये हैं ।

नवीन विज्ञान ने भी कृमि को दो वर्गों में रखा है एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर । बाह्य के पुनः दो भेद हैं एक को *Pediculi* एवं दूसरे को *Acari* कहते हैं । आभ्यन्तर के पुनः तीन भेद हैं—१. नेमाटोडस (*Nematodes*) २. ट्रेमाटोडस (*Trematodes*) ३. सेसटोडस (*Cestodes*) । इन सबों के भी उपभेद हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा । आयुर्वेद एवं नवीन विज्ञान के वर्णन में यहां पर इतना ही भेद है कि आयुर्वेद ने इनका भेद जन्म एवं स्थान के अनुसार किया है और नवीन विज्ञान ने इनके आकार के अनुसार इसका भेद किया है । आयुर्वेद ने जन्म एवं स्थान भेद से आभ्यन्तर कृमियों के ३ भेद किये हैं और नवीन ने आकार भेद से जिनका वर्णन आगे किया जायगा । दोनों की कुल संख्याओं में भी कुछ अन्तर है । आयुर्वेद के अनुसार इनकी कुल संख्या २० है मगर नवीन विज्ञान ने ऐसी कोई संख्या निर्धारित नहीं की है



यद्यपि कि इनकी भी कुल संख्या लगभग २० के ही है—जैसा कि नीचे दिया जा रहा है।

बाह्य [External]—

१. पेडिकुली कौरपोरिस (*Pediculi Corporis*)
२. पेडिकुली कैपिटिस (*Pediculi Capitis*)
३. पेडिकुली प्यूबिस (*Pediculi Pubis*)
४. ऐकरस स्कैवीई (*Acarus Scabiei*)

आन्तर [Internal]—

नेमाटोड्स (*Nematodes*)—

५. ऐसकैरिस लम्बरीकोयड्स (*Scaris Lumbricoids*)
६. ऑक्सियूरस वरमीकुलरिस (*Oxyuris Vermicularis*)
७. ऐन्क्लोस्टोमा डियोडिनेल (*Ankylostoma duodenale*)
८. ट्रिचीनेला स्पाइरलिस (*Trichinella Spiralis*)

९. फाईलेरी (*Filariae*)

१०. ड्राकौन्टीएस (*Dracontias*)

११. ट्रिचोसेफालियस (*Trichocephalias*)

ट्रेमाटोड्स (*Trematodes*)

१२. डिस्टोमा पल्मिनेल (*Distoma Pulmonale*) या डिस्टोमा हेमोप्टैसिस (*Dictoma Haemoptysis*)

१३. हेपेटिक डिस्टोमा (*Hepatic distoma*)

१४. हेमिक डिस्टोमा (*Haemic distoma*)

सेसटोड्स (*Cestodes*)

१५. टीनिया सौलियम (*Taenia Solium*)

१६. टीनिया सैजीनाटा (*Taenia Saginata*)

१७. डिबोथ्रियोसेफालस-लैटस (*Dibothriocephalus Latus*)

१८. टीनिया ऐकिनोकोकस (*Taenia Echinococcus*)

इस प्रकार यह पाते हैं कि नवीन विज्ञान एवं आयुर्वेद की संख्या में कोई खास अन्तर नहीं है।

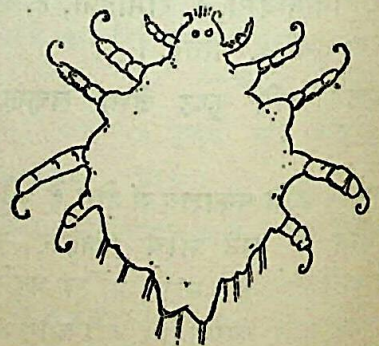
कृमि के सम्बन्ध में नवीन विज्ञान ने जो कुछ लिखा है उसको सारांश नीचे दिया जा रहा है।

बाह्य कृमि (External)

बाह्य कृमि मुख्यतः दो प्रकार के हैं—एक वे जो शरीर पर बाहर की ओर ही उत्पन्न होते हैं वक्रे हैं और कण्डू आदि उत्पन्न करते हैं, इसे पेडीकुली (*Pedicule*) कहते हैं। आयुर्वेद में शायद इसे ही “कैशाम्बराश्रयाः बहुपादा, तिल प्रमाणा” आदि कहा है। आयुर्वेद में इसे ‘लिच्छ’ कहते हैं। दूसरे वे हैं जिसे ऐकरस (*Acarus*) कहते हैं। यह शरीर पर बाहर की ही ओर होता तो अवश्य है मगर बाह्य त्वचा (*Epidermis*) को आश्रित कर रहता है। आयुर्वेद में इसे ही “सूक्ष्मा” कहते हैं चूंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसे ‘यूक’ कहते हैं।

लिच्छ (पेडीकुली *Pediculi*)—

यह तीन प्रकार का होता है। १. पेडीकुली कौरपोरस, २. पेडीकुली कैपिटस, ३. पेडीकुली प्यूबिस। इनमें याने हर एक भेद में नर एवं नारी दोनों योनि के कृमि होते हैं। नर की अपेक्षा नारी का आकार बड़ा होता है। हर प्रकार के कृमियों की यह एक विशेषता है कि इसके नर लम्बाई में नारी की अपेक्षा आधे या दो तिहाई हुआ करते हैं और ये अंडे देने वाले याने अण्डज जाति के हैं। इसके



चित्र नं० ६०

लिच्छ (*Pediculi*)

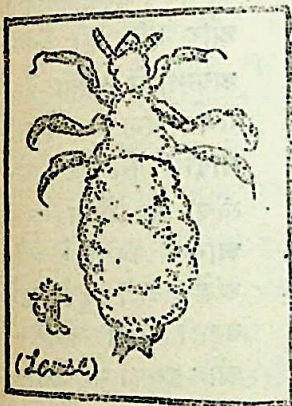


शिशु योगादि

अंडे-४-५ दिनों में फूट कर लार्वा के रूप में आते हैं और २-३ दिनों में बच्चे के रूप में रेंगने वाले हो जाते हैं। प्रायः १५ दिनों में ये वयस्क होकर अंडे देने वाली अवस्था में चले आते हैं। बाह्य त्वचा में अपने मुख को चुभाकर मानव रक्त को चूसते हैं और वृद्धि प्राप्त करते हैं।

बहुपाद (पैडीकुली कौरपोरिस *Pediculi Corporis*) —

बाह्य कृमियों में सबसे बड़े आकार का यह है। इसे लोक भाषा में बहुपाद या अठगोरबा कहते हैं। यह केकड़े की तरह का तिल प्रमाण का कई पैरों



वाला होता है जैसा कि चित्र में दिया गया है। यह बड़ी तेजी से चलता है। यह रोम कूपों में या रोम के साथ चिपक कर रहता है और अपने मुख को चूभो कर मानव रक्त पान कर जीवित रहता है। इसके काटने से एवं इसके मल

चित्र नं० ६१

मूत्रादि से उस स्थान पर या उसके आस पास कुछ दूर तक पर्याप्त रूप से कण्डू उत्पन्न होता है। यह बहुधा छाती, जांघ और कांख के रोमों में होता है और वहां से ही इधर उधर प्रसार पाता है। यह धूसर वर्ण का होता है।

चिकित्सा—

नीम, कनेर, घतूर, चक्रमर्द तथा शरीफा के पत्तों का स्वरस प्रत्येक एक एक छटांक-पानी १ सेर सरसों का तैल एक पाव। इन सबों को मिलाकर गोथठे के आंच पर मन्द मन्द आंच से पकायें। जब तैल मात्र बच रहे तब उतार कर छान लें। इसे निम्बादि तैल भी कहते हैं। इसके लगाने से ये कृमि मर जाते हैं। यह हर प्रकार के कण्डू एवं

पामा में उपकारी है।

लिङ्ग, लीक (पैडीकुला कैपिटिस—*Pedicula Capitis*)—

इस लोक में “लीक” भी कहते हैं। यह अत्यन्त छोटा-चिपटा एवं अपाद सा होता है। यह यद्यपि कि श्वेतवर्ण का होता है मगर अपने आश्रय स्थान के त्वचा के वर्ण से मिल जाता है। यह अधिकतर सिर के केशों की जड़ में होता है। यह एक बार पचास पचास अंडे देती है जो केशों में या उसके जड़ में रहते हैं।

चिकित्सा—

कपूर देला और सत अजवाइन सम भाग में मिलावें। मिलाने पर यह पिघल कर पानी जैसा हो जायगा। एक तोला सादे तिल के तैल में ३-४ बूंद इस तरह वस्तु की मिलावें। इस तैल को सिर में लगावें या जिस स्थान पर ये हों वहां लगावें। एक दो सप्ताह के प्रयोग से यह समूल नष्ट हो जाता है।

चीलर (पैडीकुला प्यूबिस—*Pedicula Pubis*)

यह लीक से भी अधिक छोटा होता है। यह अधिकतर गुप्तांगों या कांख के लोमों में जहां सफाई ठीक से नहीं हो पाती वहां होता है। गन्दे कपड़े जो मानव स्वेद से तर रहते हैं और बराबर मानव शरीर के सम्पर्क में रहते हैं उसमें ही ये उत्पन्न होते हैं। यह मैथुनिक एवं अमैथुनिक दोनों ही होता है। गन्दगी एवं मानव स्वेद से यह पहले स्वतः उत्पन्न होता है याने अमैथुनिक रूप से इसीलिये इसे स्वेदज भी कहते हैं बाद में यह मैथुनिक रूप से वृद्धि करने लगता है। एक बार में यह १५-२० अण्डे देती है। यह धूसर वर्ण का अत्यन्त छोटा होता है। अगले दोनों पैर छोटे होते हैं और पिछले दो जोड़े पैर बड़े एवं पञ्जे के आकार के होते हैं—ये मजबूत होते हैं। इससे यह बड़ी दृढ़तापूर्वक बाह्य त्वचा को या रोमों के मूल को पकड़ता है और उससे चिपटा रहता है। यह भी अपने मुख को त्वचा में



चुभोकर मानव रस को चूसता है और कण्डू उत्पन्न करता है। अंगुलियों में फंस कर कभी कभी यह नासिका लोमों में चला जाता है और नासा कण्डू तथा नासास्त्राव (पीनस) उत्पन्न करता है।
चिकित्सा—

लोमों को दूर कर देना चाहिए। हड़ताल को खूब महीन चूर्ण करलें। हड़ताल चूर्ण एवं शंख भस्म को बराबर लेकर व्यवहार करते समय मिलावें उसमें थोड़ा पानी मिलाकर लेप जैसा बनावें और इस लेप को लगाकर कुछ देर छोड़ दें। या भीगे कपड़े से रगड़ कर उस स्थान को साफ करें। इससे ये कृमि भी मर जायेंगे और स्थानीय लोम भी दूर हो जायेंगे।

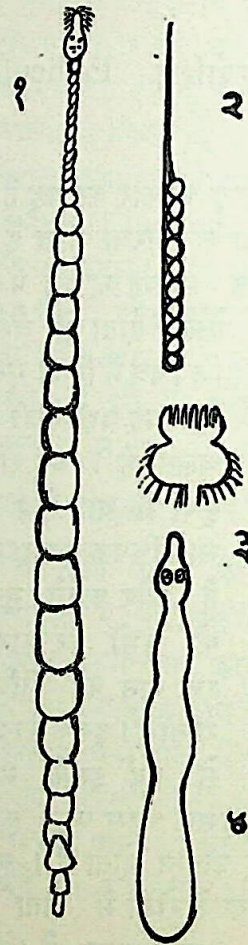
तारपीन का तैल, यूकलिप्टस का तैल और तिल का तैल आधा आधा आँस कपूर डेला दो आना भर मिलाकर रखें। नासिका में इसे डालने से वहां के ये कृमि मरते हैं।

यूक (Acar))

यद्यपि कि यह भी एक बाह्य कृमि है मगर यह एकदम बाहर की ओर नहीं रहता। यह शरीर के बाह्य त्वचा (epidermis) के भीतर रहता है। इसकी दो जातियां हैं ऐकरस स्केवीई (Acarus scabiei) तथा ड्युमोडेक्स फौलीक्युलोरम (demodex folliculorum)। दोनों ही प्रायः एक सा लक्षण उत्पन्न करते हैं। इन्होंने पहला कुछ बड़ा होता है। इतना जो स्थूल नेत्रों से भी देखा जा सकता है। इसका आकार ठीक कछुये जैसा होता है। यह बाह्य त्वचा का भेदन कर उसी के बीच अपना आश्रय स्थान बना लेता है। दूसरी जाति का अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा छोटा होता है। और यह बाह्य त्वचा पर ही त्वचा की सिकुड़नों (folds) के बीच रहता है।

ऐकरस स्केवीई, जिसे लोक भाषा में खुजली या कलकल या पामा कहते हैं नामक रोग उत्पन्न करता है। इस कृमि की मादा बाह्य त्वचा का भेदन

कर उसके भीतर भीतर आगे बढ़ती है और देती जाती है आगे बढ़ती जाती है। अगर इसके बस्तुओं के सम्पर्क में नहीं आया तो सप्ताह तक यह एक अंडे रोज के हिसाब से दिन देती जाती है इसके बाद यह स्वयं मर



चित्र नं. ६२

- १-पुरीषजा (Tapeworm)
- २-Whip worm
- ३-यूक (Acar)
- ४-हृदयाद (Taenia Ebnicocus)

स्थान चतग्रस्त हो जाता है। इसके मलमूत्रादि से प्रदूषित होता है। जब वह स्थान कण्डू से अत्यधिक प्रदूषित हो जाता है तो वहां पर शीघ्र ही पूयोत्पादन

है। इसका नर त्वचा का भेदन कर भीतर प्रवेश नहीं करता है बल्कि बाहर की ओर रहता है। इसके अंडे इस बीच कृमि कर लार्वा के रूप में आते हैं और यह त्वचा का भेदन करने लगता है और शीघ्र ही वयस्क अवस्था में आता है। गर्भ धारण करने के बाद मादा आगे की ओर त्वचा का भेदन कर आरम्भ करती है और अंडे देती हुई आगे बढ़ती चली जाती है और इसका नर वहीं पर रह जाता है जहां पर मादा ने त्वचा का भेदन करना आरम्भ किया था क्योंकि इसमें भेदन करने की शक्ति नहीं होती। नर उसी स्थान पर इधर उधर घूमता रहता है।

नर के इधर उधर घूमने से आक्रान्त स्थान पर तीव्र रूप का कण्डू होता है और खुजलाते खुजलाते



शिरुरोगाङ्कः

कीटाणुओं का आविर्भाव होता है और उस स्थान पर एक छोटी पिड़िका निकल आती है। इसमें तीव्र पीड़ा होती है। यह पक कर फूट जाती है और स्थानीय तन्तुओं को नष्ट कर देती है और उस स्थान पर इसके कृमि रेंगते हैं। इसके विशिष्ट स्थान हैं—अंगुलियों के बीच के स्थान या गुप्तांग। यहां पर ये विशिष्ट रूप से होते हैं। यह सम्पर्क से बहुत ज्यादा बढ़ता है।

चिकित्सा—

इस जाति की कृमि के लिए गंधक जैसा अन्य कोई द्रव्य नहीं है। गंधक के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों ही प्रयोग इसके लिए अच्छे हैं। रसतन्त्र सार का गंधक रसायन या भैषज्यरत्नावली के रसायनाधिकार का हरशंशाक रस अत्यन्त लाभदायक है। यह अनुभूत एवं अव्यर्थ औषध है। लगाने के लिए निम्न योग भी सहस्र अनुभूत है—

गंधक साधारण लेकर इतना खरल करें कि उसमें अणु (रवा) नहीं रहे याने एकदम अणुबिहीन चूर्ण बनावें। तिल का तैल ४ तोला लेकर खूब गरम करें। बाद में उसमें एक तोला देशी मोम डाल दें। मोम के पिघल जाने के बाद तैल को उतारकर छान लें और शीतल होने दें। शीतल होने पर यह मलहम जैसा हो जायगा। इसमें उपरोक्त रीति से तैयार किया गया गन्धक का चूर्ण १ तोला डालकर खूब मिलायें। इसका प्रयोग लगाने में करें। इस मलहम से खुजली कलकल ३-४ दिनों में ही दूर हो जाती है। मगर इसमें दोष यह है कि यह गंध बहुत करता है। इसकी गन्ध दूर करने के लिए इसमें चन्दन का तैल मिला कर प्रयोग किया जा सकता है। मगर तब अधिक मंहगा पड़ जाता है। चार तोले मलहम के लिए एक तोला चन्दन का तैल देना चाहिए।

मगर इस रोग में गंधक का आभ्यन्तर प्रयोग भी करना चाहिये। गंधक जब शरीर द्वारा शोषित होता है तब यह रोम कूपों से बाहर भी निकलता है। और रोमकूपों से बाहर निकलने में यह इस

कृमि के सभी अण्डों बच्चों को मार देता है चाहे वह शरीर के किसी भी भाग में क्यों न हों। बाह्य प्रयोग सद्यः लाभदायक अवश्य है मगर इसकी क्रिया क्षत स्थान पर ही होती है।

आभ्यन्तर कृमि

आभ्यन्तर कृमि ३ प्रकार के होते हैं। १-नेमाटोड्स (*Nematodes*) २-ट्रेमाटोड्स (*Trematodes*) ३-सेसटोड्स (*Cestodes*) इनके कई उपभेद हैं जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

नेमाटोड्स (*Nematodes*)

यह एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है “धागा”। याने इस भेद के अन्तर्गत वे सभी कृमि आते हैं जो लम्बे गोल एवं पतले धागे के आकार के होते हैं। ये लम्बाई में छोटे बड़े या गोलाई में मोटे पतले हो सकते हैं मगर सभी तागे की तरह लम्बे होते हैं। इसकी सात जातियां हैं—

१ ऐसकारिस लम्बरीकोयड्स (*Ascaris Lumbricoids-Round worm*)

२ औक्सीयुरिस वर्मीक्युलरिस (*Oxyuris vermicularis-Thread worm*)

३ ऐन्क्लोस्टोमा डियोडिनेल (*Ankylostoma duodenale-Hook worm*);

४ ट्रिचीनेला स्पाइरलिस (*Trichinella spiralis-Small round worms*)

५ फाईलेरी (*Filerea*)

६ ड्रैकौनटियस (*Dracontias*)

७ ट्रिचोसेफालिस (*Trichocephalis-Whip worm*)

ऐसकारिस लम्बरीकोयड्स—
(*Round worm*)

यह लम्बा गोल भूनाग के जैसा होता है। यह नर एवं मादा होता है। इसका मादा प्रायः एक फुट



लम्बा एवं नर आधा फुट लम्बा होता है। यह श्वेत या ईषत् पीत या श्याम वर्ण का होता है। इसका स्थान वृहद एवं जुद्रान्त्र दोनों ही हैं।

इसके सिर के बीच में मुख होता है जिसमें तीन ओष्ठ होते हैं। यह बहुत अधिक संख्या में नहीं होता है। किसी एक रोगी में इसकी संख्या अधिक से अधिक १५ या २० होती है मगर ये अंडे बहुत देते हैं। ये अंडे रोगी के मल से बाहर आते हैं। मक्खियों द्वारा अंडे खाने पीने की चीजों पर जाते हैं और उससे मानव शरीर में प्रविष्ट

निचला ओष्ठ

मलोत्सर्गिक छिद्र

गर्भाशय छिद्र

शुदा

चित्र नं० ६३—अन्त्रादा (Round worm)

होते हैं। मानव आमाशय में पहुँच कर ये श्वेत वृद्धि प्राप्त करते हैं फूटते हैं लार्वा के रूप में फिर लार्वा के रूप में आते हैं। और वहाँ से आन्त्र में आकर बड़े होते हैं। एक मास में ये प्रायः बयस्क हो जाते हैं। इनकी जीवन अवधि कुछ मासों की होती है। इसके लार्वा या बच्चे उदर गुहा मध्य कर्ण (Middle ear) एवं योनि मार्ग या भग स्थान तक पहुँच जाते हैं और तद् स्थान के प्रदाह, कृमि आदि उत्पन्न होते हैं। इसके अंडे तब तक नहीं फूटते जब तक आमाशय में नहीं पहुँचें। यह अधिकतर गन्दे रहने वाले बच्चों में होता है और फिर उन्हें दूसरों को होता है।

प्रभाव—

इसके इधर उधर चलने से या उसके क़ाटने से आन्त्र में साधारण प्रकार का शूल (Colic) पैदा होती है। क्षीणकाय एवं दुर्बल बच्चों में इसके आपेक्ष (Convulsions) उत्पन्न होते हैं। कभी कभी यह पाँच सात की संख्या में एक साथ बंध जाते हैं और बंध कर यह आन्त्र मार्गवरोध कर भयानक रूप का शूल वमन आदि उत्पन्न करते हैं। कभी कभी अधिक संख्या में बढ़ने पर यह आमाशय एवं पित्तनलिका की ओर भी चला जाता है। पित्तनलिका में जाकर मार्गवरोध कर पौष्टिक शूल एवं कामला उत्पन्न कर देता है। आमाशय में आकर यह हृत्लास उत्पन्न करता है। इसके मल मूत्रादि से एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है जिससे बच्चों में आक्षेप, कृशता, दुर्बलता, मूर्च्छा, ज्वर, श्वास में दुर्गन्ध, अतिसार एवं रक्त-ल्पता उत्पन्न होते हैं। कभी कभी यह अविषय ज्वर अतिसार आदि के साथ उत्पन्न होता है जिसका रूप टायफायड से मिलता जुलता होता है। इससे बच्चों में बेचैनी, नाक खुजलाना, दाँत कटकिताना, सारे शरीर में ऐंठन (Twitching) वत पीड़ा होती और बच्चा इधर उधर शरीर दबाने को कहता है।

विक्रिसा—

इसमें रोगी को मुलायम आहार जैसे भात बगैरह पर रखना चाहिए और तीव्र रेचन देना चाहिए ताकि इसके अण्डे एवं मल मूत्रादि का निष्कासन हो। रेचन से आन्त्र की बढ़ी गति के कारण ये कृमि भी बाहर निकल जाते हैं। जब तक इसके कृमि बाहर नहीं निकले, तब तक इसमें बराबर साधारण रेचन दो एक रोज के अन्तर से देते रहना चाहिये ताकि इनके मल मूत्रादि के संचय से विष उत्पन्न नहीं हो। इस रोग में दूध एवं मीठा अपथ्य है। इसमें सेन्टोनीन के योगों का व्यवहार नवीन विज्ञान के अनुसार लाभदायक है। इससे ये कृमि बाहर निकल आते हैं। मगर सेंटोनीन यकृत के लिये अच्छी चीज नहीं है अतः संभल कर प्रयोग करना चाहिए। सेंटोनीन के साथ कैलोमेल या अन्य रेचक औषध देना चाहिए। आयुर्वेद में इसके लिये कृमिमुद्गर रस अच्छी दवा है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित योग भी अच्छे हैं—

१. कम्पविल्ल वटी—

कम्पविल्ल ३ तोला, अजवाइन, वायविडङ्ग, बथुआ के बीज १-१ तोले।

इसे पानी से खरल कर इसमें १०० गोलियां बनावें। मात्रा—१-२ गोली १ बार में। २४ घण्टे में २ बार। सुसुप्त पानी से। इसके प्रयोग से इस जाति के कृमि बाहर निकल आते हैं। मगर इसका प्रयोग लगातार एक सप्ताह करना चाहिये।

२. अजाज्यादि वटी—

अजवाइन का सत, बथुआ के बीज, पलाश बीज, इन्द्र जौ प्रत्येक ३-३ तोले।

इसे जल में पीसें और इसमें ५० गोलियां बनावें। मात्रा—३-२ गोली एक बार में २४ घण्टे में दो बार। अनुपान—कोष्णजल। इससे इस जाति के कृमि मर जाते हैं। गल भी जाते हैं और मल से निकल जाते हैं।

३. विडङ्ग वटी—

पलाश बीज, इन्द्रयव, बथुआ के बीज, अज-

वाइन प्रत्येक १-१ तोले, वायविडङ्ग २ तोला।

इसे खजूर के पत्तों के रस की भावना दे इसमें १०० गोलियां बनावें। मात्रा—१-२ गोली एक बार में, २४ घण्टे में ३ बार मधु से।

उपयोग—दिन भर में ३ बार इसे दें और रात में हलका रेचन दें। इस प्रकार एक सप्ताह करने पर छोटे बड़े कृमि एवं उसके अण्डे सभी मर कर बाहर निकल जाते हैं।

४. कृमिरेचनी गुटिका—

कम्पविल्ल १ तोले, उत्तम एलुआ १ तोले, इन्द्रायण मूल ३ तोले, खुरासानी अजवाइन १ तोले, निशोथ २ तोले।

घृतकुमारी के रस में खरल कर इसमें १०० गोलियां बनावें। १-२ गोली एक बार में, २४ घण्टे में एक बार कोष्ण जल से। इसके लेने के ६ घण्टे बाद हलका रेचन होता है। यह कृमि रोग में रेचन के लिये अच्छा योग है।

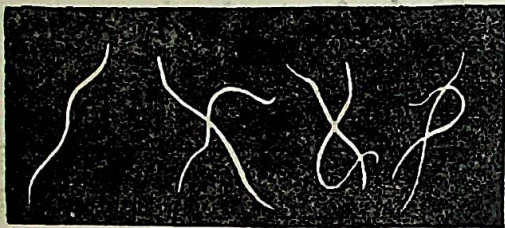
इसके अतिरिक्त भैषज्य रत्नावली के कृमि-रोगोक्त 'कृमिघातनी वटी' का प्रयोग करना चाहिए। इससे कृमिजन्य शोथ, शूल, हृत्तास, वमन, ज्वर, कृशता एवं अरुचि आदि उपद्रव शान्त होते हैं। कृमिजन्य आन्त्रावरुध के लक्षण होने पर उदावर्त रोगाधिकार का उदयमार्तण्ड रस का प्रयोग करना चाहिए। कृमिजन्य आक्षेप (Convulsion) में बंग भस्म १ ग्रोन, ताम्र भस्म ३ ग्रोन, मकरध्वज ३ ग्रोन एक साथ मिलाकर खजूर के पत्तों के १ तोले रस एवं थोड़े से मद्य के साथ ३-३ घण्टे पर या आवश्यकतानुसार कम अधिक समय के अन्तर से प्रयोग करना चाहिए।

औक्सुरिस वर्मीक्युलरिस (Thread worm) —

यह कृमि पुरीषोण्डुक (Caecum) एवं बृह-दान्त्र के आरोही अवरोही भाग (Colon) में रहता है। इसका मादा आध इंच से पौन इंच तक है। इसका मादा आध इंच लम्बा होता है। यह लम्बा और नर चौथाई इंच लम्बा होता है। यह बटे हुए पतले धागे के आकार का एवं श्वेत वर्ण



का होता है। यद्यपि यह अधिकतर बच्चों को ही होता है तथा इसके लिये अवस्था का कोई बन्धन नहीं है। युवा वृद्ध सभी को हो सकता है। इसके अन्धे विचित्र प्रकार के होते हैं जो अण्डाकार गोल तो होते हैं मगर नतोदर होते हैं। यह भी अन्धे बहुत देती है। मगर इसके अन्धे तब तक नहीं फूटते हैं जब तक कि ये आमाशय में नहीं पहुँचे।



चित्र नं. ६४—दम कुसुम (Thread worms)

आमाशय में पहुँचने पर ही ये फूटते हैं और बच्चे के रूप में आते हैं और वहाँ से वृहदन्त्र में आकार बढ़ाते हैं। इसके अन्धे मल द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं और मक्खियों द्वारा खाने-पीने की चीजों पर आ वहाँ से आमाशय में पहुँच जाते हैं। यह अधिकतर फलों द्वारा या ऐसी सज्जी द्वारा जिन्हें हम कच्चा ही खाते हैं या पानी द्वारा आमाशय में पहुँचते हैं।

प्रभाव—

यह एक प्रकार का चिपचिपा तरल पदार्थ उत्पन्न करता है जो मल द्वारा बाहर निकलता है जो देखने में आंव के श्लेष्मिक स्राव जैसा मालूम पड़ता है। यह गुदमार्ग में भयानक रूप का कण्डू उत्पन्न करता है। इससे गुदभ्रंश, गुद संकोच एवं गुदव्रण होते हैं। गुदसंकोच से यह मलबन्ध या मल त्याग में कठिनाई उत्पन्न करता है और अर्शवत् कुछ लक्षणों को उत्पन्न करता है। गुदव्रण उत्पन्न कर यह अर्शवत् लक्षण भी प्रकट करता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसकी मादा रात में सोयी अवस्था में गुदमार्ग से बाहर निकलती है और भयानक रूप की कण्डू गुदा पर उत्पन्न करती है। यह कण्डू इतनी तीव्र रूप की होती है कि बहुधा खुजलाते खुजलाते गुदमार्ग क्षतयुक्त हो जाया करता है और अंगुलियों के नख में इसके अन्धे

भर जाया करते हैं। नींद में इसी हाथ से खुजलाने से नख में भरे अन्धे होते हुए आमाशय में पहुँचते हैं इसकी वृद्धि का चक्र बन जाता है। किसी के मुख के दोनों कोनों पर इस कृमि के सट भी भयानक कण्डू होती है और उसे बचा खुजलाता है, यानी कभी गुद मार्ग से आती है और कभी मुख। इस प्रकार इस कृमि के मुख में जाने का एक क्रम बन जाता है मुख के दोनों किनारों पर इससे व्रण उत्पन्न होते हैं और इस व्रण में बहुधा इसके बयल पाये जाते हैं। अन्धे तो पर्याप्त रूप से पाये जाते हैं जो नख से इस पर आते हैं। सोयी अवस्था में कृमि की मादा इतनी पर्याप्त संख्या में बाहर निकलती है कि नितम्ब शय्या आदि पर चली जाती है। स्त्रियों में यह बहुधा भगस्थान में चली जाती है और भग कण्डू या योनि कण्डू उत्पन्न करती है इससे अरुचि, अग्निमांद्य एवं रक्ताल्पता होती है और रोगी अत्यन्त कृश हो जाता है।

चिकित्सा—

इसमें गुद कण्डू सबसे अधिक कष्टकर होता है जिससे कष्ट के अतिरिक्त अन्धों के मुख का खतरा रहता है। इसे दूर करने के लिये निम्न लिखित योग का व्यवहार करना चाहिये—

सत अजवाइन सत पिपरमेंट ३-३ दोनों को एक साथ १ शीशी में डालें और एक साथ मिलते ही पानी की पतला हो जाता है १ तोले सादे तिल के तैल में इसकी १० बूँद मिलाये और अच्छी तरह मिलाकर रखें। इस तैल को गुदा मार्ग पर चुपड़ दें। अगर इस लगाने से गुदा पर अधिक दाह हो तो इसमें थोड़ा से थोड़ा और तिल का तैल मिला दें। इससे योनि कण्डू, भगकण्डू, ओष्ठ कण्डू आदि सभी होते हैं। थोड़ी सी चीनी में या बताशे पर इसकी बूँद डालकर खाने को दिन भर में तीन बार १५ दिन खाने से यह कृमि समूल दूर होता है। पूर्वोक्त अजाज्यादि बटी से भी इस कृमि तत्काल नष्ट होते हैं। इससे उत्पन्न अग्नि

शिशुरोगाङ्कः

एवं अरुचि दूर करने के लिये भैषज्य रत्नावली के कृमिरोगाधिकार की “कृमिघातिनी गुटिका” रक्ताल्पता के लिये “विडंगलौह”, “कृमि विनाशन रस” उत्तम हैं। इससे उत्पन्न कृशता में निम्नलिखित योग का व्यवहार अच्छा है।
वंग रस, यन—

वंग भस्म, प्रवाल भस्म, लौह भस्म ६-६ माशे,
ताम्र भस्म, शुद्ध कुचला, त्रिकुटा ३-३ माशे।

पानी से खरल कर इसमें १०० गोलियां बनावें।
१-२ गोली एक बार में। २४ घंटे में २ बार मधु से।

ऐन्कलोस्टोमा ड्युडिनेल (Hook worm)—

इसकी दो जाति होती हैं। एक को ऐन्कलो-

स्टोमा ड्युडिनेल कहते हैं

और दूसरे को नेकाटर

अमेरिकन्स कहते हैं। यह

दूसरी जाति अमेरिका

में ही अधिकतर होती है

और प्रथम जाति सारे संसार

में पाई जाती है जहां पानी

कीचड़ का बहुतायत होता

है खासकर ऐसे कीचड़

पानी में जिसमें विष्टा का

संयोग पर्याप्त हो। भारत

वर्ष में यह पूर्वी गाल एवं

असम में बहुत होता है।

या ऐसे स्थानों में जहां वर्षा

काफी होती है। इसकी

दोनों ही जाति एक समान

होती हैं। केवल अन्तर

इतना ही है कि पहिले की

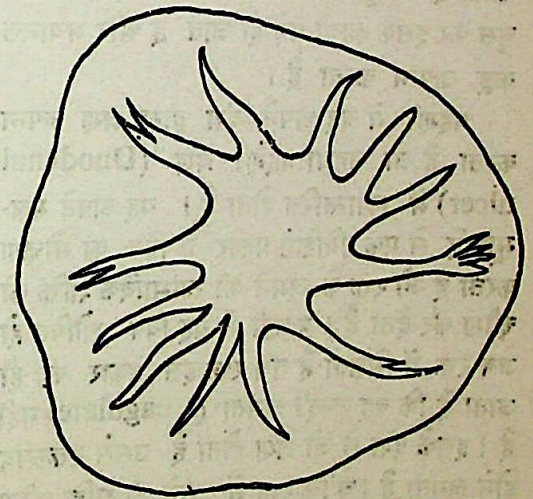
अपेक्षा दूसरा छोटा होता

है। इसका (Ankylostoma duodenale) मादा

प्रायः आध इंच लम्बे

तथा नर ३ इंच लम्बे

होते हैं। इसके सिर में ४ अंकुशानुमा शुङ्ग (Hooks) होते हैं और दो दांते होते हैं। इसके अन्दे अन्डाकार होते हैं और मलमूत्र मिले कीचड़ पानी में वृद्धि प्राप्त करते हैं। जहां फूटकर यह लार्वा के रूप में आता है। कीचड़ पानी में इसके लार्वा अपने रूप में यानी लार्वा के रूप में महीनों पड़े रह जाते हैं। मानव शरीर के सम्पर्क में आने पर इसका लार्वा शरीर से चिपक जाता है और वहां पर कंड़ आदि चर्मरोग उत्पन्न करता है। कंड़ से वह स्थान क्षतयुक्त होता है और वह क्षत स्थान से यह रक्त में पहुँच जाता है और रक्तवाहिनी द्वारा फुफ्फुस, आसनलिका एवं अन्नपचन स्रोत में आता है। मानव शरीर में प्रवेश पाया लार्वा विकास पाने लगता है और प्रायः १॥ मास में यह वयस्क अवस्था में चला आता है और ग्रहणी (Duodenum) एवं मध्यान्त्र (Jejunum) में आकर रुक जाता है।



चित्र नं. ६६—रोम विध्वंसा का समतल काट
(Transverse section of Hook Worm)

यहां आकर स्थानीय श्लेष्मिक कला में यह अपने अंकुश शुङ्गों (Hook) को गढ़ा कर टंग जाता है। अपने मुख को उससे घंसाकर उपश्लेष्मिक कला तक (Sub-mucous membrane) डूबे मानव रक्त को चूस चूसकर अपना पोषण प्राप्त करता है और वहां ही अपने अन्दे ग्रहणी कला के सिङ्-



चित्र नं. ६५
रोम विध्वंसा (Hook worms)—इन्हें अंकुश कृमि भी कहते हैं।

इनो (Folds) के बीच देता है।

यह अधिकतर ऐसी जगहों के श्रमजीवियों मजदूरी आदि में होता है जो कीचड़ पानी में खड़े होकर काम करते हैं या तालाब (गन्दे) आदि में जिसमें मलमूत्रादि का सम्पर्क होता है उसमें स्नान आदि करते हैं। इस रोग के रोगियों में शत प्रतिशत चर्मरोग, विशेषकर हाथ पांव में होता है। अगर उस समय नहीं हो तो इसका इतिहास अवश्य रहता है। ऐसे गन्दे तालाब के पानी पीने से भी यह रोग होता है जिसमें इसके लार्वा रहते हैं। ग्रहणी से लेकर ६ फुट की दूरी तक के स्थान इसके स्थान विशेष हैं, जहां यह अपना आश्रय स्थान बनाता है।

प्रभाव—

इसका पहला प्रभाव तो त्वचा पर होता है जहां यह किसी न किसी प्रकार का चर्मरोग उत्पन्न करता है। बहुधा उस स्थान पर भी मानव रक्त चूस कर इसके लार्वा बड़े हो जाते हैं और भयानक कंड़ उत्पन्न करता है।

ग्रहणी में यह अपने दंश द्वारा व्रण उत्पन्न करता है जो बहुधा ग्रहणी व्रण (Duodenal ulcer) में रूपान्तरित होता है। यह अपने मलमूत्रादि से एक विशिष्ट प्रकार के विष का मोक्षण करता है जो रक्त के जमने की स्वाभाविक शक्ति को क्षीण कर देता है। ग्रहणी से यह विष शोषित हो जब रक्त में मिलता है तब रक्त इस प्रकार का हो जाता है कि वह जल्दी जमता (Coagulate) नहीं है। इसके दंश से जो व्रण होता है उससे रक्तस्राव होने लगता है। चूंकि रक्त में जमने की शक्ति क्षीण होने से वह साधारण दंश द्वारा भी स्रवित होने लगता है। और उस स्थान पर शीघ्र ही विघटन (Necrosis) क्रिया होने लगती है जिससे स्थानीय तन्तु टूट टूटकर गिरने लगते हैं। इससे ग्रहणी व्रण के अनेक प्रमुख लक्षण प्रकट होते हैं। इस रोगी के मल के साथ साथ बहुधा रक्त मिला रहता है। कभी कभी तो इससे अधोग रक्तपित्त के लक्षण भी प्रकट होते हैं। मगर मल में आये इस रक्त में

यह कृमि वर्तमान रहता है जो तन्तुओं के टूटने से उसके साथ साथ क्षरित हो जाता है। अतः मल में आए इस रक्त की परीक्षा से यह विवेक हो जाता है कि यह ग्रहणी व्रण है या रक्तपित्त या इस जाति का कृमिरोग है।

किसी किसी में तो यह पर्याप्त संख्या में रहने हुए भी कोई कष्टकर लक्षण प्रकट नहीं करता है और किसी किसी में यह तीव्र लक्षणों को उत्पन्न करता है। इससे तीव्र रूप का उदर शूल, मल द्वारा रक्त आना तथा आंत्र प्रदाह (Catarrh) होता है। जिस किसी में यह रोग होता है उसका शरीर पाण्डु वर्ण का हो जाता है। उसमें एक दूसरी प्रकार की रक्ताल्पता होती है जो इन कृमियों द्वारा छोड़े गये विष के कारण होती है। तथापि इनके दंश क्षत से रक्तस्राव होने के कारण भी रक्ताल्पता होती है। मगर इससे भी अधिक रक्ताल्पता के लिए उत्तरदायी इसके द्वारा छोड़ा गया विष होता है। इतना ही नहीं इस विष के प्रभाव से इसके रोगी के शरीर का विकास प्रतिबन्धित हो जाता है। अवस्था के अनुसार उनमें शरीर का विकास नहीं होता है।

प्रमुख लक्षण—

बहुधा पेट में न्यूनाधिक्य रूप की पीड़ा होना विशेषकर पेट के दाहिनी ओर यकृत के नीचे, मल के साथ रक्त आना, रक्त के कारण मल का कृष्णवर्ण या धूसर वर्ण का होना, रक्ताल्पता, कृशता, आलस्य, निःशक्ति होना, किसी भी काम को करने की इच्छा का नहीं रहना, स्त्रियों में शैथिल्य का अभाव, चिड़चिड़ापन, अतिसार (आंत्र प्रदाह Intestinal catarrh होने पर), शोथ, अग्निमान्द्य, हृदय विस्फार एवं अरुचि होती है। इससे आक्रान्त रोगियों में मिट्टी (सॉंधी मिट्टी), चौक एवं कागज खाने की प्रवृत्ति होती है। इसे खाने वालों में यह होता भी है।

चिकित्सा—

यह एक बहुत जिद्दी रोग है। इससे निम्न

लिखित औषधों का व्यवहार करना चाहिए—

१—सत अजवाइन १ तोला, सत पीपरमेंट ३ माशे, कपूर डेला ३ माशे ।

इन्हें एक शीशी में परस्पर मिलावें । मिलाने पर यह पिघल कर पानी हो जायगा । मात्रा—४ बूंद १ बतारो में रखकर हर ४-४ घंटे पर खायें ।

इस जाति की कृमि के लिये यह योग रामबाण है । इसके माध्यम में ये कृमि मर जाते हैं या अपने स्थान को छोड़ देते हैं और दूसरे स्थान को नहीं पकड़ते । चूंकि वह भी इस औषध के प्रभाव से प्रभावित रहता है । इसका सेवन एक मास नियमित रूप से करना चाहिये ।

२—लौह ३ ग्रैन, ताम्र ३ ग्रैन, स्वर्णमाक्षिक, वज्र, जहर्मोह्य भस्म, प्रबाल भस्म प्रत्येक १-१ ग्रैन ।

मिलाकर १ मात्रा । सुबह शाम १-१ मात्रा मधु के साथ । इससे इसके विषज प्रभाव दूर होते हैं तथा रक्ताल्पता दूर होती है ।

उपरोक्त दोनों योगों का एक साथ व्यवहार करना चाहिये । एक सप्ताह के प्रयोग से इस रोग में उत्पन्न उदर पीड़ा, अतिसार, अग्निमान्द्य आदि दूर होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और एक मास में प्रायः सभी लक्षण दूर होते हैं ।

इस कृमि से उत्पन्न कृशता को दूर करने के लिये उपरोक्त द्वितीय योग बहुत उत्तम है । इससे उत्पन्न रक्ताल्पता भी इससे दूर होती है । कृमिजन्य रक्ताल्पता को दूर करने में निम्नलिखित योग बहुत उत्तम है ।

लौह रसायन—

शुक्रराज रस से ७ बार भावना दिया हुआ कासीस ३ तोला, शुद्ध शिलाजीत, अजवाइन, अजमोद १-१ तोला, तूतिया भस्म ४ रत्ती [८ ग्रैन]

१ तूतिया की भस्म बनाने की विधि—२ तोला तूतिया को लेकर इसे खूब महीन चूर्ण कर ल । बाद में छोटी इलायची का काय डालकर इसकी टिकिया बना धूप में

शुद्ध कुचला १ तोले ।

घृतकुमारी के स्वरस से ६ घंटा खरल कर इसमें १०० गोलियां बनावें । मात्रा—१ गोली १ बार में, २४ घंटे में २ बार, अनुपान—कोष्ण जल ।

इससे उत्पन्न आंत्रप्रदाह में हिरण्यगर्भ पोटली रस उत्तम है । अतिसार में महाराज नृपतिबल्लभ, शोथ में त्रिनेत्रारुख रस या शोथ कालानल का प्रयोग करना चाहिए ।

नवीन विज्ञान के अनुसार भी इसकी सर्वोत्तम दवा सत अजवाइन [Thyomol] है । इसके देने की विधि यह है कि एक दिन पूर्व साधारण रेचन दें । खासकर लवण रेचन दें । इसमें तेल (स्नेह) रेचन वर्जित है । दूसरे दिन सुबह अजवायन सत्व का चूर्ण कर कैपसूल में भरकर एक कैपसूल पानी से निगल जायें । ३ घंटे बाद १ कैपसूल फिर दें और दूसरी मात्रा देने के २ घंटे बाद फिर लवणीय विरेचन दें । पूर्व रेचन होने के बाद बाली आदि लघु आहार दें । इस प्रकार हर ७ रोज का अन्तर देकर एक दिन करें । ५-७ बार ऐसा करने से इस जाति के कृमि दूर हो जाते हैं । भगर चूंकि अजवाइन सत्व बड़ी मात्रा से इसमें प्रयुक्त होती है और यह दाहक होता है इसीलिये सभी कोई इसे सहन नहीं कर पाते हैं ।

इस प्रकार की चिकित्सा जब तक चले तब तक मद्य, तेल, घी आदि नहीं खाना चाहिये ।

अजवाइन सत्व की मात्रा-कैपसूल में भरने के लिये—

५ वर्ष के बालक के लिये—५ ग्रैन

५ से १० वर्ष तक के बालक के लिये—७ ग्रैन

सुखालें । कपडमिटी कर (दो प्यालों में) ४-५ गोयठे का यानी कपोतपुट दें । फिर शीतल होने पर छोटी इलायची के काय में घोट टिकिया बना सुखाकर कपोतपुट दें । इस प्रकार सात बार करें । श्वेतवर्ण का भस्म बनेगा । लाल होने पर खराब हुआ समझना चाहिए ।



१० से १५ वर्ष के बच्चे के लिये—१० ग्रोन
१५ से २० वर्ष तक के तहण के लिये—२० ग्रोन
२० से ऊंचे के लिये अवस्थानुसार—२० ग्रोन
से ६० ग्रोन तक।

लवणीय रेचन—

मैगसलफ—आधा औंस

सोडाबाई कार्ब—१० ग्रोन

पोट० बाई कार्ब—५ ग्रोन

इसे एक ग्लास पानी में घोल कर एक बार में पीवें। एक डेढ़ घण्टे में रेचन आरम्भ होता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त अत्राध्यादि वटी भी उत्तम औषधि है। जिसे बराबर प्रयोग किया जा सकता है।

ट्रिकिनिया स्पाइरलिम —

यह एक अत्यन्त सूक्ष्म कृमि है। इसकी मादा २ इंच लम्बी एवं नर १/१८ इंच लम्बा एवं गोल होता है। इसका सिर बर्छे की तरह या सूई की तरह नोकीला होता है। यह कृमि बाराह के त्द्रांत्र में विशिष्ट रूप से होता है। यद्यपि कि यह पशुओं में होता है और उन्हीं से मनुष्यों में होता है। मूलतः यह बाराह में ही होता है। इसकी मादा हजारों की संख्या में अंडे देती है जो बाराह विट के साथ यत्र-तत्र बाहर निकलते हैं। ये अंडे कुछ दिनों तक भी खुले वातावरण में रहने पर नहीं मरते। और आस पास की घासों पर रह जाते हैं। इन घासों के खाने से बकरी गाय आदि पशुओं के पेट में जाते हैं। ये अण्डे आमाशय में जाकर फूट जाते हैं और लार्वा के रूप में आते हैं। ये लार्वा वहां से त्द्रांत्र में आकर वृद्धि प्राप्त करते हैं। ये लार्वा ५-६ दिनों में ही बृहत् हो अण्डे देने योग्य हो जाते हैं। ये हजारों की संख्या में अण्डे देते हैं। यह रसांकुरों (Villi) के मुख पर अण्डे देते हैं जिससे ये अण्डे रसांकुरों द्वारा रसवाहिनी एवं रक्तवाहिनियों में पहुंच जाते हैं और फिर रक्तवाहिकाओं से बाहर निकल मांसपेशियों में जमा हो जाते हैं। यह मांस-

पेशियों में वगैरह जमा रह सकते हैं। इन अण्डों की विशेषता यह है कि बिना नष्ट हुए त्द्रांत्र में या मांसपेशियों में वर्षों तक पड़ा रह सकता है मगर आमाशय में पहुंचते ही फूटकर लार्वा के रूप में आजाता है। ऐसे पशुओं के मांस खाने से जिनकी मांसपेशियों के बीच इसके अण्डे संचित हैं यह मानव शरीर में पहुंचता है। मानव आमाशय में आकर यह फूटता है, लार्वा के रूप में आता और त्द्रांत्र की तहों (folds) में जाकर ५-६ दिनों में बृहत् हो अण्डे देने लगता है। या ऐसे स्थानों के शाक शब्जी खाने से जहां बाराहों का आना जाना मलमूत्र आदि का होना होता है यह मानव आमाशय में आता है।

बिना आमाशय में आये इसके अण्डे नहीं फूटते और न बच्चे (लार्वा) के रूप में आ सकते हैं। चाहे वह आमाशय मानव आमाशय हो वा पशु आमाशय। ये अण्डे वर्षों तक योंही पड़े रह सकते हैं और नष्ट नहीं होते। और सदी गर्मी बर्दास्त करने वाले होते हैं।

प्रभाव एवं लक्षण—

इसके आक्रमण के १०-१५ दिनों बाद से ही पेट में भयानक दर्द अरुचि, वमन, और अतिसार होता है। यदि अधिक संख्या में अण्डे शरीर में आकर लार्वा में रूपांतरित होगये होते हैं तो विमूचिका-वत् लक्षण उत्पन्न होते हैं। अङ्ग अङ्ग में भयानक पीड़ा-ऐसा मालूम पड़ता है कि पेशियां कुचल दी गई हैं—निर्बलता, कम्प, तीव्र ज्वर (१०४°-तक) होता है जो प्रायः अविराम सा रहता है (१०२°-१०४° के बीच)। इसके अण्डों के मांसपेशियों में संचित होने से पेशी काठिन्य, पेशी पीड़ा होती है। इसके अण्डे जहां कहीं भी जमते हैं उस स्थान को कड़ा और शोथमय बना देते हैं। उसकी स्थानीय गति अवरोधित होने लगती है। यदि यह गले में जमता है तो गले का अवरोध-स्वर भेद आदि उत्पन्न करता है। हृदय पेशियों पर जमा हो तो हृदया-वरोध, यकृत पर जमा हो यकृत शोथ आदि भयानक



शिशु रोगाङ्कः

रोगों को उत्पन्न करता है ।

पहचान—

रक्त परीक्षा द्वारा इसकी पहचान होती है । इसके अण्डे रक्त में सुष्मन्ता जल में तथा मांस-पेशियों में मिल जाते हैं ।

बाह्य लक्षणों में अविराम ज्वर के साथ पेशी-काठिन्य, अतिसार, वमन आदि होने से इस रोग का सन्देह करना चाहिये । पेशी-काठिन्य इसकी सबसे बड़ी पहचान है । इसकी हर दशा में यह अवश्य वर्तमान रहता है ।

चिकित्सा—

जिसमें पेशी-काठिन्य के साथ साथ विसूचिका-वत् लक्षण उत्पन्न होते हैं, वह प्रायः असाध्य होता है और जिसमें हृदय या यकृत की मांसपेशियों के कड़े पड़ जाने के लक्षण उत्पन्न हों वह कष्टसाध्य है । इसमें प्रथम दस दिनों का समय रोग के तीव्र-तम होने का समय है ।

इसके साधारण आक्रमण बहुधा २-३ सप्ताह में ठीक होते हैं । ज्वर, अतिसार, वमन, उदरशूल आदि टायफाइडवत् लक्षण उत्पन्न होते हैं । वे दो सप्ताह तक चलते हैं । इसमें इसके साथ जो पेशी काठिन्य होता है वह नहीं जाता, वह वर्षों तक चलता है । यद्यपि कि इसमें तीव्र ज्वर एवं अतिसार रहता है तथापि इसमें तीव्र रेचन विशेषकर क्षारीय या लवणीय रेचन देना चाहिये । प्रतिदिन एक बार या दो बार ताकि इसके अण्डे सब बाहर निकलते रहें उन्हें रक्त बाहिनियों में पहुंचने का अवसर नहीं मिले । इसके लिये पूर्वोक्त अजाज्यादि वटी, भैषज्य रत्नावली की कृमिधातनी वटिका उत्तम योग है । इसके ज्वर के लिये भैषज्य रत्नावली के ज्वराधिकार का 'ज्वरविद्रावण रस, सौभाग्य वटी, स्वल्प कस्तूरी भैरव रस' उत्तम है । इसके अतिरिक्त इसमें निम्न-लिखित योगों का व्यवहार किया जा सकता है ।

१. रसपुष्पादि वटी—

विडङ्ग चूर्ण १ तोला, बथुआ के बीज १ तोला,

रस पुष्प ३ तोला या Calomal १ तोला—इन्हें पानी से खरल कर इसमें ५० गोलियां बनावें । मात्रा—१ या २ गोली एक बार में—पानी से निगल जायें चबाये नहीं । २४ घण्टे में दो बार ।

उपयोग—

उसके उपयोग से रेचन होता है और साथ ही साथ यह हर प्रकार के कृमियों के लिये 'कृमिनाशक' है । इसके प्रयोग से पतले एवं तीव्र गतियुक्त दो तीन रेचन होते हैं जिससे कृमि एवं उसके अण्डे धुल जाते हैं । इसका उपयोग ज्वर अतिसार—यहां तक कि टायफाइड में भी हानिकर नहीं है ।

नोट—रसपुष्प का निर्माण 'रसतरंगणी' की विधि से करें । अगर रसपुष्प सुलभ नहीं हो तो उसके स्थान पर नवीन विज्ञान की औषधि कैलोमेल (Calomal) डालें । मगर कैलोमेल की अपेक्षा रसपुष्प हजार गुणा अच्छा है चूंकि (Calomal) असंस्कृत पारद से बनता है और "रस-पुष्प" संस्कृत पारद से अतः यह अधिक निर्दोष एवं लाभ-दायक है ।

२. कृमिधातनी गुग्गुल—

शुद्ध गुग्गुल ४ तोले, शुद्ध गन्धक १ तोला, चित्रकमूल १ तोला, गुग्गुल, वायबिडङ्ग २ तोला को पहले थोड़ा घी डालकर कूटकर मुलायम कर लें और गंधक को अणुविहीन खूब महीन चूर्ण कर लें । इसके बाद शेष औषधों को मिलाकर थोड़ा पानी का छीटा देकर खूब कूटें । एकदम मिल जाने पर इसमें १०० गोलियां बनावें । मात्रा—१ गोली एक बार में कोष्ण जल से । २४ घण्टे में दो बार ।

उपयोग—

यह औषध के सेवन करने बाद त्वचा के राह बाहर निकलती है और ऐसी दशा में मांसपेशियों में अटके इस जाति के कृमि के अण्डों को दूर करती है । इसका प्रयोग लगातार २-३ मास करना चाहिये । इसके सेवन से बहुधा शरीर पर फुन्सियां निकल आती हैं इससे घबड़ाना नहीं चाहिये । दो-तीन दिन दवा बन्द कर देनी चाहिये इसके बाद फिर चलानी चाहिये ।



फाइलेरी-ई (Fileræ) —

यह भी एक प्रकार का कृमि है जिसका स्थान रसवह स्रोत एवं रसप्रस्थियां है। यह मूलतः मच्छरों का रोग है और मच्छरों से मानवों में पुनः मानव से मच्छरों में और उससे फिर मानव में।

यह तीन या साढ़े तीन इन्च (मादा) लम्बी एवं $\frac{1}{16}$ इन्च व्यास की गोल पतली केश या तागे के समान होता है। इसमें नर $\frac{1}{16}$ इन्च लम्बा और इतना ही पतला हुआ करता है। इसकी मादा डिम्ब के (ova) रूप में अंडे बहुत बड़ी संख्या में देती है जो विकास प्राप्त कर भ्रूणाण्ड (embryo) के रूप में आता है। यद्यपि कि भ्रूणाण्ड भी एक किस्म का अंडा ही है मगर यह चलने फिरने में समर्थ है और तीव्र गति से चलता है। इनके ऊपर यद्यपि कि एक आवरण चढ़ा रहता है तथापि इससे इसकी गति में कोई बाधा नहीं होती है। यह प्रायः $\frac{1}{16}$ इन्च लम्बा तथा $\frac{1}{16}$ इन्च मोटा होता है। इस कारण यह आसानी से जालक स्रोतों से निकल जाया करता है। इसके बयस्क कृमि एक प्रकार के केंचुल (आवरण) से ढके होते हैं अतः ये स्वयं चल फिर नहीं सकते रस के प्रवाह से प्रवाहित हो इधर उधर खिसक भले जायें बरना ये रस-स्रोत या रस प्रस्थि में पड़े रहते हैं और अण्डे देते रहते हैं। इसका भ्रूणाण्ड गतियुक्त है और यह रस जालकों में, रक्तजालकों में तथा स्रोतों में घूमते रहते हैं—विशेषकर सायंकाल या जबकि आदमी सोया रहता है तब। इससे पीड़ित प्राणी को जब मच्छर काटता है तो ये भ्रूणाण्ड बड़ी शीघ्रतापूर्वक उसके मुख में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसके आमाशय में पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचते ही इनका आवरण फट जाता है और एक बच्चे के रूप में यह परिवर्तन पाता है। इस परिवर्तन के पाते ही यह फिर उर्ध्व गति करता है और मच्छर के सिर में उस स्थान पर पहुँच जाता है जिससे वह दंश करता है। और जैसे ही वह दंश करता है मानव शरीर

में दंश स्थान पर चला आता है और वहाँ से रक्त वह जालक स्रोतों से मानव शरीर में प्रविष्ट होता है और वृद्धि प्राप्त करता है। यह रस प्रवाह से प्रवाहित होता हुआ रसप्रस्थियों में आ बैठता है। इस बीच इसकी वृद्धि पूर्ण हो जाती है और इस पर भी एक आवरण चढ़ जाता है जिससे यह स्वयं गति करने में असमर्थ हो जाता है। यदि रस-प्रस्थियों में पहुँचने के पहले ही इसका विकास अधिक हो गया तो यह रसजालक स्रोतों में ही रुक जाता है। क्योंकि वहाँ बड़े होने के कारण उससे वह बाहर नहीं निकल पाता। इस प्रकार वहाँ स्रोतावरोध होने से बहुत से भ्रूणाण्ड एवं अण्डे भी आकर जमा हो जाते हैं। इस प्रकार यदि अधिक स्रोतों का अवरोध हुआ तो वहाँ पर रस संचार अवरुद्ध हो जाता है और वहाँ पर शोथ उत्पन्न होता है। यह उदर की रसप्रस्थियों में या श्रोणीफलक या मूत्रयन्त्र या शाखाओं या अण्ड-कोष या कुक्षि एवं वक्ष की रस प्रस्थियों में अधिकतर जमते हैं।

प्रभाव एवं लक्षण—

रस स्रोतों में अवरोध कर वहाँ पर तनतनाहट, शोथ, पीड़ा, भयानक कम्प के साथ तीव्र ज्वर, प्रस्थियों में सूजन, पीड़ा एवं प्रदाह उत्पन्न करता है। यदि मूत्र यन्त्र के रस रक्तवह स्रोतों में या रस प्रस्थियों में अधिक मात्रा में जमा हो जाता है तो अधिक स्थान नहीं दे सकने के कारण वे फट जाते हैं। इससे रक्तमिश्रित लसीका मूत्र में आता है। इसीको आयुर्वेद में लसीकामेह कहते हैं। इसमें मूत्र या तो दुग्धवत् श्वेत एवं अपारदर्शी होता है और जम जाने वाला होता है। जमा पदार्थ ईषत् रक्त श्वेत वर्ण का होता है। या मूत्र का वर्ण अपारदर्शी एवं जम जाने वाला होता है—जैसा कि सूत्र रूप में कहा भी है—

दुषितौ वृक्कयोः मूत्रकोषे च नयतः क्षतम् ।
तस्माद्धि मत्र मार्गेण तरलं शोणित मिश्रितम् ॥

सलसीकं समेदस्कं जतूकं जलसन्निभम् ।
मत्र प्रवर्तते स्थूलं सूत्रवद्धा कचिद् घनम् ॥
—भै० १० लसीकामेह

स्त्रियों में यह कांख एवं बच्चे के रसस्रोतों को अवरुद्ध कर थनैल नामक रोग को उत्पन्न करता है जिसमें स्तन कड़े, शोथ, दाह, पीड़ा आदि युक्त होता है। एवं कम्प दे तीव्र ज्वर होता है। शाखा के रसस्रोतों को अवरुद्ध कर वहां पर शोथ पीड़ा एवं कम्प सह तीव्र ज्वर उत्पन्न करता है। इसका ज्वर दो तीन दिनों में स्वतः ठीक हो जाता है। अंडकोष की रस ग्रन्थियों में जमा हो उसे शोथमय, कड़ा, दाहयुक्त एवं पीड़ायुक्त करता है और तीव्र ज्वर उत्पन्न करता है।

इसकी दूसरी जाति जिसके अण्डे-बच्चे कुछ अधिक बड़े होते हैं वे शाखाओं के निम्न भागों में जहां संचार गति या प्रवाह गति मन्द होती है वहां रुक कर भी शोथ पीड़ा ज्वर आदि उत्पन्न करते हैं और बड़े आकार के होने से वे स्थायी रूप से स्रोतवरोध उत्पन्न करते हैं और श्लीपद नामक रोग उत्पन्न करते हैं। शोथ के अधिक होने से रस के अधिक संचय से वहां पर या तो त्वचा फट जाती है और रसस्राव होता है या वहां पर ऊभर खाबड़ रूप से सूजन होती है।

पहचान—

तीव्र कम्प सह ज्वर एवं रस ग्रन्थियों में सूजन यह इसका प्रमुख लक्षण है। सायंकाल के रक्त या सोये अवस्था के मध्य रात्रि का रक्त या इसके तीव्र ज्वर के समय का रक्त लेकर अगर उसी समय परीक्षा की जाये तो उसमें इसके भ्रूणाण्ड मिलेंगे।

चिकित्सा—

इसमें ज्वर के लिये स्वच्छन्द भैरव, दुर्जल जेता रस, पंचामृत रस तथा ज्वरारि अन्न (भैषज्य २० ज्वर) का प्रयोग करना चाहिए। इससे ज्वर एवं पीड़ा दूर होती है धीरे धीरे सूजन विखर जाती है। निस्थानन्द रस एवं वृद्धि बाधिका वटी के प्रयोग

से इनका बार बार का होना रुकता है। वृद्धि-बाधिका इसके विरुद्ध एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जिससे ये कृमि अधिक संख्या में जम नहीं पाते अतः रसस्रोत या रसग्रन्थि और अधिक शोथमय नहीं होते। इसके लगातार एक वर्ष के सेवन से दो एक रोगियों में यह पाया है कि पांच सात वर्ष से उसे इसका आक्रमण नहीं हुआ है। सम्भव है यह जमे हुए इस जाति के कृमि को नष्ट करता हो।

इससे उत्पन्न लसीका मेह में लसीका मेहवत् चिकित्सा करनी चाहिए।

ड्राकौनटियूस (Dracontios)—

यह कृमि मूलतः बन्दरों में होने वाला है। इसके अण्डे-बच्चे उनके मल से बाहर निकलते हैं और मक्खियों द्वारा मानव शरीर में प्रवेश पाते हैं। यह लम्बा गोल होता है—इसका मादा लगभग ५० cm. लम्बा एवं नर २० cm. लम्बा होता है। इसकी मोटाई का व्यास २ mm. होता है। इसका नर युवावस्था में आने पर कुछ दिनों में ही मर जाता है मगर मादा गर्भधारण करने के बाद आन्त्र प्राचीर का भेदन कर उसमें घुस जाती है और धीरे धीरे घुसती हुई उसका भेदन कर उसके बाहर चली आती है और अन्य अवयवों को मांस-पेशियों का भेदन कर उसमें घुसती हुई आगे बढ़ती जाती है। यह मांसल स्थानों को ही चुनती है अतः अधिकतर पैरों की ओर बढ़ती है। मांस-पेशियों का भेदन करती हुई यह अन्तःत्वचा के नीचे चली आती है और त्वचा का भी भेदन कर एक ब्रण बना देती है और उसकी राह अपना सर बाहर निकाल देती है। उस स्थान से एक उजले रंग का चिपचिपा स्राव होता है। इस ब्रण स्थान से बाहर निकलते निकलते इसका गर्भाशय फूट जाता है और उसके अण्डे उस ब्रण स्थान पर छितरा जाते हैं। संख्या में ये अण्डे असंख्य होते हैं। इसके बाद वह मादा मर जाती है। इसकी मादा



की उम्र काफी बड़ी होती है बल्कि यह तब तक नहीं मरती जब तक यह त्वचा का भेदन कर बाहर न आ जाये और न तब तक अंडे ही देती है। नख आदि के सम्पर्क से ये अंडे-बच्चे पुनः मानव शरीर में जाते हैं और आमाशय में आकर फूटते हैं और वहां से आन्त्र में आते हैं। इस प्रकार इसका चक्र चलता है।

जब यह त्वचा के नीचे आ जाती है तो उस स्थान की त्वचा उभरी सी मालूम पड़ती है और उसे दबा कर देखने से यह पता चलेगा कि त्वचा के नीचे बड़ा हुआ कुछ मोटा एवं कड़ा धागा पड़ा है। इसके कुछ दिनों बाद ही वह त्वचा का भेदन कर बाहर निकलती है।

लक्षण—

त्वचा के नीचे मोटे बटे कड़े तागे का होना जैसा मालूम पड़े फिर उस स्थान पर ब्रण हो जिससे तीव्र रूप का प्रदाह एवं कण्डू हो और कुछ दिनों के बाद वह स्वयं ठीक हो जाये।

चिकित्सा—

रस पुष्प या रस कपूर मिला तैल उस ब्रण पर लगाने से इसके अंडे मर जाते हैं और पुनः उनका संक्रमण नहीं होता है।

शुद्ध हींग २ ग्रैन की मात्रा में सुबह साम खाने से इस जाति की आन्त्रस्थ कृमि मर जाती है मगर जो मांसपेशियों में चली आती है वहां किसी भी औषध से नहीं मरती जब तक वह स्वतः त्वचा का भेदन कर बाहर न आये।

ट्रिकोसेफालस (Trichocephalis, Whip worm) —

इस जाति की कृमि की मादा प्रायः पांच सेन्टीमीटर लम्बी होती है और नर प्रायः ३ सेन्टीमीटर। इसका आगे का भाग केश की तरह पतला लम्बा होता है और पीछे का भाग कुछ छोटा और मोटा तथा उस तरह का होता है जैसा रौल किया गोल स्प्रिंग होता है। इस प्रकार इसकी आकृति एक

चाबुक जैसी दीख पड़ती है। इसके अण्डे कड़े तथा नारङ्गी जैसे गोल चिपटे एवं गहरे बादामी रङ्ग के होते हैं जिसके बीच में बटन जैसा छुब बना रहता है। इसके अण्डे आमाशय में आकर फूटते हैं। मूलतः यह कृमि बाराहों की कृमि है। यह मानव में कम होता है विशेष कर भारत में। यह बाराह मांस भक्षी या बाराह पालकों में होता है और उनसे ही प्रसार पाता है।

लक्षण—

१५-२० दिनों के अन्तर से बार बार अतिसार का होना और अतिसार की तुलना में रक्ताल्पता का कहीं अधिक होना। किसी किसी में मरोड़ देकर प्रवाहिकावत् लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी भयानक रक्ताल्पता ही इस रोग का सन्देह देता है। सन्देह होते ही मल परीक्षा कराकर इसके अण्डों को देखना चाहिये।

चिकित्सा—

इस कृमि को दूर करने के लिये 'अजाज्यादि वटी' का प्रयोग करना चाहिये और रक्ताल्पता के लिए 'बिडंग लौह' तथा 'शिलाजत्वादिलौह (भै. र.) का प्रयोग करना चाहिये।

नेमाटोड्स जाति के ये सात कृमि प्रधान हैं। मगर इन सात के अतिरिक्त दो और होते हैं। यद्यपि कि ये बहुत कम होते हैं मगर कहीं कहीं पाये जाते हैं।

१. डिक्टोफार्म रिनैल (Dictophyme renale) —

यह केश की तरह पतला होता है जिसका मादा प्रायः ३ फुट लम्बा होता है। मगर यह वृक्क में होता है—आन्त्र में नहीं। यह समूचे वृक्क को नष्ट कर देता है। यह वृक्काशमरी, वृक्क प्रदाह, मूत्रकृच्छ्र, सर्वाङ्ग शोथ, मद मूच्छ्रा एवं भ्रम आदि उत्पन्न करता है।

चिकित्सा—

यह एक असाध्य रोग है चूंकि इसका निदान समय पर नहीं होपाता। इसका सन्देह होते ही निम्न

शिशु रोगादि

औषध का प्रयोग इतनी मात्रा में करना चाहिये कि रक्त इससे परिपूर्ण (Saturated) हो जाये और वृक्षस्थ कृमि इससे मरे।

कबाव चीनी का तेल, चन्दन का तैल तथा गंधा बिरोजा का तैल ५-५ बूंद एक बत्तासे में रख कर ४-५ दिनों तक हर एक एक घण्टे पर खायें।

२. स्ट्रॉंगीलाइड्स स्टर्कोरालिस (Strongyloides Stercoralis)

यह छोटा पतला रुई के रेशे की तरह का होता है। यह कोचीन चायना में होता है। यह चूद्रांत्र के ऊपरी भाग में होता है और अतिसार एवं रक्ता-लता लाता है। इसकी चिकित्सा लक्षणानुसार करनी चाहिये।

सेसटोड्स [Cestodes]

सेस शब्द एक ग्रीक शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है रोटी सेकने का लोहे का तबा। इस जाति की कृमि वे सभी कृमि हैं जिनका आकार तबे के पेंदे जैसा गोल उन्नतोदर चौरस एवं वृताकार होता है। इस जाति में चार प्रकार के कृमि हैं—

१. टीनीया सोलियम (*Taenia Solium*)
२. टीनीया सेगमेटा (*Taenia Segmata*)
३. डिबोथ्रियो सेफालस लैटस (*Dibothriocephalus Latus*)
४. टीनीया एकनीकोकस (*Taenia Echinococcus*)

ये चारों प्रायः एक दूसरे के समान हैं बहुत थोड़ा थोड़ा का अन्तर है। जीवन इतिहास याने विकास (development) भी एक है और प्रायः एक समान लक्षण उत्पन्न करते हैं।

टीनीया सौलियम (*Taenia Solium-Tape worm*)

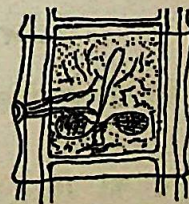
इस जाति की कृमि प्रायः १०-१२ फुट लम्बी

और आठ मिलीमीटर चौड़ी होती है। यह गांठदार (Segment) होती है। जिस प्रकार ईख देखने में गांठदार है उसी प्रकार इसका समूचा शरीर गांठदार होता है। हर गांठ प्रायः एक सेन्टीमीटर लम्बी और आठ मिलीमीटर चौड़ी होती है। यदि दो रोटी सेकने वाले तबे को इस प्रकार जोड़ें कि दोनों की पेंदी बाहर की ओर रहे तब जैसे आकार का निर्माण होता है ठीक उसी प्रकार का आकार इसके हर गांठों का होता है। इसमें प्रायः ४५० गांठ होती हैं। हर गांठ को वृत्त (Segment) कहते हैं। इसकी एकदूसरी विशेषता यह है कि इस कृमि में नर एवं मादा अलग नहीं होते। एक ही कृमि नर एवं मादा दोनों ही हैं। इसकी हर गांठ में हजारों की संख्या में अण्डे होते हैं।

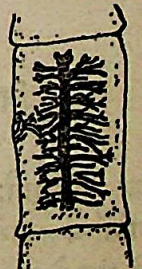
इसका सिर गोल होता है जिसमें दो पत्कियां अंकुशानुमा शुङ्गों (Hooks) की होती हैं और चार मुख होते हैं जिससे यह रस रक्त चूस अपना पोषण एवं वृद्धि करता है। इसका सिर बहुत छोटा होता है एक बड़े आलपीन के सिर बराबर होता है। इसके सिर के बाद इसकी गर्दन है जो गांठदार तो होती है मगर केश की तरह पतली होती है। और गांठें एकदम छोटी होती हैं। बाद में इसका शरीर भाग आरम्भ होता है जो पर्याप्त चौड़ा याने आठ मिलीमीटर चौड़ा होता है और मोटा होता है। यह पहले छोटा होता है याने इसके केवल सिर भाग होते हैं।



(अ)



(ब)



(स)

चित्र नं० ६७

टीनीया सौलियम (अ) सिर (ब)(स) प्रजनन संस्थान



गर्दन भाग होते हैं, शरीर भाग नहीं होता। जैसे-जैसे पोषण ग्रहण कर यह वृद्धि प्राप्त करता है इसका शरीर भाग बनता है। पहले एक गांठ निकलती है फिर दूसरी इस प्रकार धीरे धीरे ४५० गांठ निकलती हैं तब यह बयस्क होता है। इसमें प्रायः ११० दिन का समय लग जाता है। जब इसमें ४५० गांठें निकल आती हैं तब पीछे की ओर से एक एक गांठ

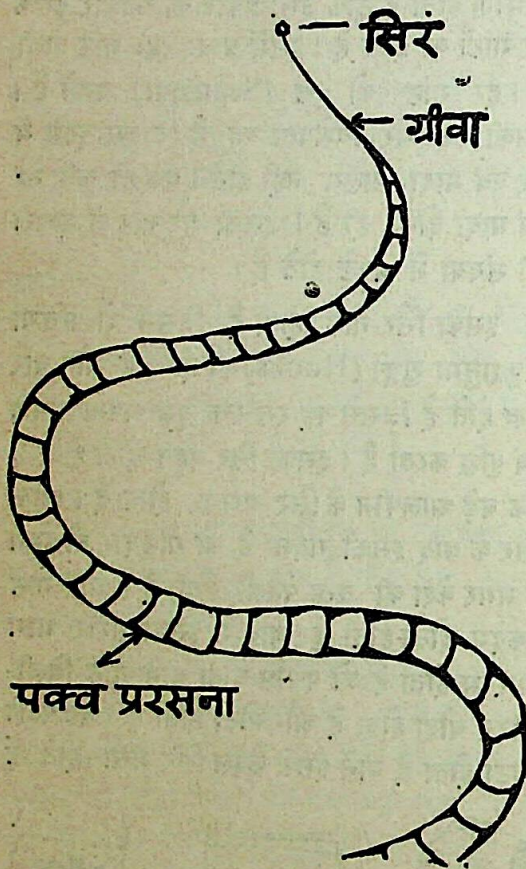
इसका शरीर पूर्ण होता है। शरीर पूर्ण होने पर फिर पूर्ववत् एक एक कर सभी गांठ टूटती हैं। इस प्रकार इसमें पुनः पुनः होता रहता है। यह जीव बहुवर्ष जीवी है और जिस किसी में होता है उसमें एक ही रहता है। शायद ही कभी किसी में इनकी संख्या अधिक हो।

विकास क्रम—

यह मनुष्य, गाय, बैल, भैंस एवं बकरे आदि बड़े आकार के प्राणियों में होता है मगर घोड़े में नहीं के बराबर है। बड़ी मछलियों में खास कर समुद्री मछलियों में यह काफी होता है। कुत्तों में भी होता है मगर यह उससे भिन्न होता है।

इसके विकास का क्रम यह है कि यह एकाएक अण्डे से ही विकास नहीं पाता है। ऐसा नहीं होता कि इसके अण्डे प्राणी के पेट में जाकर फूट जाय और बच्चे के रूप में आकर उसी में अपने बयस्क रूप में आये यद्यपि कि इसके अण्डे तब तक नहीं फूटते जब तक कि ये किसी प्राणी के आमाशय में न पहुँचें। बाहर ये हफ्तों यों ही जीवितावस्था में पड़े रह सकते हैं। इन्हें अपने बयस्क रूप में आने के लिये यह आवश्यक है कि उस प्राणी से, जिसमें इसके अण्डे फूटकर बच्चे के रूप में आते हैं, फिर किसी दूसरे प्राणी के आंत्र में बच्चे के रूप में आये।

पहले लिख चुके हैं कि इसकी गांठ स्वतः एक एक कर प्राणी की आन्त्र में गिरते हैं। इन गांठों में ४०००-५००० हजार तक अण्डे (हर गांठ में) रहते हैं। ये प्राणी के मल द्वारा बाहर निकलते हैं और मक्खियों या अन्य माध्यम से ये अण्डे अन्य प्राणियों के आमाशय में पहुँचते हैं। आमाशय में पहुँच कर ये अण्डे फूटते हैं और इसमें से एक भ्रूण निकलता है जिसमें ६ अंकुश शुङ्ग (Hooks) होते हैं। ये भ्रूण (embryo) आमाशय प्राचीर का भेदन अपने शुङ्गों द्वारा करते हैं और किसी स्थानीय रक्तस्रोत में प्रवेश पा शरीर के भिन्न भिन्न हिस्सों में पहुँचते हैं। इस बीच इनका कुछ



चित्र नं० ६८—टीनिया सोलियम

कर शनैः शनैः टूट टूट कर गिरने लगते हैं। हर गांठों में हजारों अण्डे भरे रहते हैं। ये गांठ रोगी के मल से बाहर निकल जाते हैं। जब इसके एक एक कर सब गांठ टूट जाते हैं केवल सिर एवं गर्दन बच जाता है तब फिर नये सिर से इसमें गांठें निकलनी आरम्भ होती हैं और फिर ११० दिनों में



शिशु रोगादि

विकास भी होता है। शरीर के अन्य भागों में पहुँच ये तन्तुओं से अपने अंकुशशुङ्गों के सहारे चिपक जाते हैं। मगर वहाँ पर ये अपने अंकुश-शुङ्गों से गहरा भेदन नहीं कर पाते चूँकि तब तक इनके अंकुशशुङ्ग अन्तर्हित हो जाते हैं। बहुत साधारण चूत कर पाते हैं और उसी चूत स्थान में वे अटक कर रुके रहते हैं। अंकुश शुङ्गों के अन्तर्हित होते ही इसका दूसरा छोर फट जाता है और यह समूचा भ्रूण एक स्थाली (Disc) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस स्थाली में से इस कृमि का एक पूर्ण विकसित सिर बाहर होता है। मगर यह शरीर उस स्थान से हट नहीं पाता चूँकि जब तक यह इस रूप में आता है तब तक स्थानीय तन्तु (Tissues) चारों ओर से बढ़ कर उस चूत स्थान को ढक लेते हैं यानी उनका ब्रणरोपण हो जाता है। अतः इस कृमि का वह सिर इसी ब्रण के भीतर बन्द हो जाता है। भ्रूण फूट कर इस प्रकार बच्चे के रूप में याने सिर के रूप में आते हैं और इस रूप में आते आते ये बन्दी हो जाते हैं। ये बच्चे जब इस प्रकार चूत के भीतर बन्द हो जाते हैं तब वे उसके भीतर ही रह जाते हैं न तो उसका ये भेदन कर सकते हैं न इधर उधर ही भेदन कर किसी ओर आगे बढ़ सकते हैं। जहाँ पर बन्द होते हैं वहीं पड़े रहते हैं। कुछ बच्चे तो उसके भीतर फौरन ही मृत हो जाते हैं और कुछ जीवित रहते हैं। जो जीवित रहते हैं उनमें कुछ २-४-१०-१५ दिनों तक जीवित रहते हैं, कुछ महीनों तक जीवित रहते हैं। जो मर जाता है उसका रोपित ब्रण कड़ा (Calcified) हो जाता है। इस रोपित चूत को जिसमें कि बच्चे बन्दी होते हैं छाला (सिस्ट Cyst) कहते हैं। चूँकि इसका रूप एक छोटे से छाले के जैसा लगता है। इस प्रकार अन्डों से प्राणियों के शरीर में इस कृमि के बच्चे बनते हैं। यदि ये बच्चे प्राणी की आँतों में रख दिये जावें तो शीघ्र ही वृद्धि प्राप्त करते हैं और क्रम से वयस्क रूप में आते हैं। मगर ये

बच्चे मुक्त रूप में आंत्र तक किसी रूप में पहुँच नहीं सकते। चूँकि ये छाले के भीतर बन्द रहते हैं और ये छाले धीरे धीरे दृढ़ (Calcified) पड़ते जाते हैं जिससे स्वयं टूटते नहीं हैं और भीतर से कृमि के बच्चे भी नहीं तोड़ सकते चूँकि तोड़ने वाली कोई वस्तु इसमें नहीं होती न दाँते न अंकुशशुङ्ग। ऐसी दशा में ये किसी भी प्राणी के आंत्र में तभी पहुँच सकते हैं जबकि ऐसा मांस जिसमें इसके छाले हैं या स्वयं छाले ही आमाशय में आयें और पचन यन्त्र अपनी पाचन क्रिया से इन छालों को पचाकर तोड़ डाले तभी ये बच्चे मुक्त रूप में प्राणी की आन्त्र में पहुँच सकते हैं। इस प्रकार जब दो बार ये आमाशय में आते हैं तभी ये कृमि के रूप में विकास पाते हैं। अतः इन्हें विकास में आने के लिये बारी बारी से दो प्राणियों के शरीर में प्रवेश पाना जरूरी होता है। एक प्राणी में अन्डे से भ्रूण एवं बच्चे (सिर) के रूप में आता है। फिर दूसरे प्राणी में बच्चे से वयस्क कृमि के रूप में आता है, दोनों ही के लिए इसे प्राणी के आमाशय में पहुँचना आवश्यक होता है।

पोषण एवं वृद्धि—

पहले लिख चुके हैं कि इसके सिर में चार मुख होते हैं जो एक स्थाली (Disc) के जैसा होता है। आन्त्र में अपने सिर को सटाकर यह इन्हीं स्थाली मुखों द्वारा रस रक्त चूसता है और अपना पोषण ग्रहण कर वृद्धि प्राप्त करता है।

इससे उत्पन्न होने वाले लक्षण—

इससे उत्पन्न होने वाले लक्षणों को दो वर्गों में रख सकते हैं। १. कृमि (वयस्क कृमि) द्वारा उत्पन्न लक्षण, २. इसके छालों से उत्पन्न (अन्डों के कारण उत्पन्न) होने वाले लक्षण।

(१) इसके वयस्क कृमि जब आँतों में होते हैं तब साधारण रूप से उदरशूल (Colic) साधारण रक्ताल्पता एवं साधारण अतिसार होता है।



मगर रोगी को भूख अत्यन्त तीव्र होती है और भोजन से उसे रुचि नहीं होती। बार बार और बहुत बहुत भोजन करता है। यह कृमि अपने मल-मूत्रादि से एक प्रकार का विष उत्पन्न करता रहता है। इस विष के कारण प्राणी में भयानक रूप के नाड़ी विकार (Nervous disorders) होते हैं। इसका रोगी अत्यन्त भीरु प्रकृति का एवं मानस विकारयुक्त होता है। स्त्रियों में तो यह बहुधा योषापस्मार, उन्मादवत् लक्षणों को लाता है। बालकों में अधिकतर आक्षेप (Convulsion) लाता है।

(२) इसका भ्रूण बहुधा यकृत, हृदय, मस्तिष्क, सुष्म्ना एवं अन्य पेशियों में अटक जाता है जिससे वहां पर छाले (cyst) पड़ जाते हैं। इससे स्थानीय अवयवों के कार्य में बाधा पहुँचती है और उन अवयवों की अस्वस्थता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रथम यानी जिस समय ये भ्रूण उसमें अटकते हैं उस समय वहां के यह तीव्र लक्षणों को प्रगट करता है जैसे वहां की पीड़ा आदि। इसके बाद जब छाले का निर्माण हो जाता है तब यह उस स्थान के जीर्ण लक्षणों को उत्पन्न करता है मस्तिष्क या सुष्म्ना में होकर तो यह उन्मादवत् लक्षण प्रगट करता है। बालकों में आक्षेप, मन्दबुद्धि आदि लाता है। हृदय एवं यकृत में होकर हृद्रोग एवं यकृत दोनों के लक्षण उत्पन्न करता है। साधारण मांस-पेशियों में होकर कोई विशेष कष्टकर लक्षण उत्पन्न नहीं करता।

चिकित्सा—

प्रथम दो दिनों तक रोगी को लघु या तरल आहार पर रखें। सम्भव हो तो केवल बाली या यवागू पर रखें। दूसरे दिन सायंकाल एरण्ड तेल का रेचन दें। तीसरे दिन प्रातःकाल लवणीय विरेचन दें और इसके बाद निम्नलिखित काथ हर ३-३ घण्टे पर दें।

अनार की जड़ (मिट्टी के नीचे का) छिलका

२ छटांक, पानी १ सेर मिलाकर औटावें।
३ छटांक पानी शेष रहे उतार कर छान लें। इसमें ३ मात्रायें बनायें। १-१ मात्रा हर ३-३ घण्टे पर दें।
इस तीन मात्रा काथ को दे सायंकाल फिर विरेचन दें। लवणीय विरेचन अच्छा होता है। लवणीय विरेचन में मैगसल्ट ३-१ औंस तक। गिलास पानी में घोलकर पिलाना अच्छा है। इससे १ घण्टे में दस्त आ जाते हैं और ३-४ दस्त ही होते हैं।

चौथे दिन से सुबह, दोपहर, शाम अजान्यादि बटी पानी के साथ एक सप्ताह तक खायें। एक सप्ताह इसे खाने के बाद फिर उपरोक्त विधि की क्रिया करें। इस प्रकार लगातार ४-५ बार इस क्रम से क्रिया करने पर यह समूल नष्ट होता है। यह अनुभूत योग है।

यदि अनार की जड़ नहीं मिले तो इसके स्थान पर पेलीटाइरिन टैनेट (Pelletierie tannate) नामक दवा को २-१० ग्रेन प्रति मात्रा के हिसाब से दो बार दें। एक मात्रा देने के एक घंटे बाद ही लवणीय रेचन दें। रेचन बन्द होने पर फिर इसकी दूसरी मात्रा दें और एक घंटे बाद फिर लवणीय रेचन दें। फिर चौथे दिन से अजान्यादि बटी का प्रयोग करें। यह औषध अनार की जड़ के छिलके से ही बनती है। दोनों एक ही वस्तु हैं, यह तमाम ऐलोपैथिक औषधालयों में मिलता है।

अनार की जड़ के काथ या पेलीटाइरीन टैनेट के प्रयोग से पेट में मरोड़ या उदरशूल होता है। अतः मात्रा को अनुकूल रूप से ठीक करना चाहिए और घबड़ाना नहीं चाहिये।

लवणीय रेचन—

सैधव लवण, सामुद्र लवण, सांभर लवण, सौवर्चल लवण, बिड् लवण, अपामार्ग चार, पुनर्नवा चार, यवचार, स्वर्जीचार।

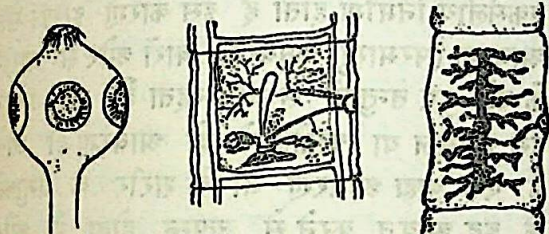
सभी यानी प्रत्येक १-१ आना भर (१० तोले) लेकर एक ग्लास पानी में घोल दें और पी जायें।

शिशु रोगाङ्क

इससे भी रेचन होता है। मगर मैगसलफ की तरह इसकी निश्चित क्रिया नहीं। किसी में होता है, किसी में नहीं। लेकिन लेखक पहले इसीका व्यवहार करता है।

टीनिया सेगमेटा (Taenia Segmeta)—

यह भी टीनिया सौलियम ऐसा ही होता है। मगर यह अधिक लम्बा होता है—१५ से २० फुट तक। इसमें अंकुश शुङ्ग नहीं होते हैं। इसके शरीर के बयस्क गांठ १७-१८ मिलीमीटर लम्बे और ८-१०



(अ)

(ब)

(स)

चित्र नं० ६६

टीनिया सैजिनाटा (अ) सिर (ब) (स) प्रजनन संस्थान मिलीमीटर चौड़े होते हैं। इसके अण्डे भी बड़े होते हैं।

इसका विकास एवं इससे उत्पन्न लक्षण एवं इसकी चिकित्सा सभी वही होती है जो टीनिया सौलियम के होते हैं।

यह अधिकतर गाय, बैल, भैंस, भेड़ एवं बकरी में होता है।

डिबोथ्रियोसेफालस (Dibothriocephalus)—

यह भी टीनिया सौलियम जैसा ही होता है। मगर यह टीनिया सेगमेटा से भी बड़ा होता है। यह २५-३० फुट लम्बा होता है। इसके सिर में बजाय चार मुख के दो ही मुख होते हैं। इसमें भी अंकुश शुङ्ग नहीं होते हैं। इसके शरीर के गांठ एवं अण्डे सभी टीनिया सेगमेटा से भी बड़े होते हैं। यह समुद्री मछलियों में होता है।

इसका विकास एवं इससे उत्पन्न लक्षण और



(अ)



(ब)



(स)

चित्र नं० ७०

डिबोथ्रियोसेफालस (अ) सिर (ब) (स) प्रजनन संस्थान इसकी चिकित्सा सभी टीनिया सौलियम जैसे ही होते हैं। इसके अण्डे से उत्पन्न छाले (cyst) भी बड़े होते हैं।

यह बड़ी मछलियों में होता है और उनके मांस में इसके छाले होते हैं।

टीनिया ऐकनीकोकस

(Taenia Echinococcus)—

यद्यपि कि यह भी टीनिया सौलियम की जाति का ही है मगर यह बहुत छोटे आकार का होता है। इसका बयस्क कृमि ४-५ मिलीमीटर ही लम्बा होता है। इसके गांठ भी एकदम छोटे लगभग पौन मिलीमीटर लम्बे होते हैं। इसके अन्तिम गांठ ही बयस्क होते हैं और उसी एक में अण्डे होते हैं। इस अन्तिम गांठ की लम्बाई सबसे बड़ी होती है और लगभग २ मिलीमीटर लम्बे और आधा मिलीमीटर चौड़े होते हैं। इसका सिर बहुत छोटा एवं चार मुख वाला टीनिया सौलियम की ही तरह होता है। इसमें अंकुश शुङ्गों की दो पंक्तियां होती हैं। इसका विकास एवं वृद्धि सभी टीनिया सौलियम की ही तरह होता है। इसकी इस एक ही गांठ यानी अन्तिम गांठ में लगभग ५००० अण्डे होते हैं। ये अण्डे टीनिया सौलियम की तरह आमाशय में जा फूटते हैं और वहां से रक्त द्वारा सारे शरीर में पहुंच छाले का निर्माण करते हैं। यह कृमि कुत्तों में विशेष रूप से होता है और इसके अण्डों का विकास गाय, बैल, भैंस एवं शूकरों में विशिष्ट रूप से होता है। यह भेड़ या घोड़े में नहीं के बरा-



वर विकास पाता है। मनुष्य भी इसके विकास के लिये अच्छा माध्यम है। यह अधिकतर गौमांस एवं शूकर मांस भक्षी लोगों में होता है। यह भास्त्वर्ष में कम होता है, होता भी है तो ईसा-इयों या मुसलमानों में ही होता है। यह रोग यूरोपियन देशों में जहां कुत्ते अधिक पाले जाते हैं और जहां गौमांस, बाराह मांस आदि प्रतिदिन के आहार में हैं वहां अधिक होता है।

इसके अन्डों का विकास टीनिया सौलियम ही की तरह होता है। मगर इससे उत्पन्न होने वाले छाले कुछ भिन्न रूप के होते हैं। यद्यपि कि टीनिया सौलियम की भांति ही इसके छाले शरीर के किसी भी भाग में हो सकते हैं। मगर यह अधिकतर यकृत में ही होता पाया गया है।

इस कृमि द्वारा जो कुछ भी कष्टकर लक्षण उत्पन्न होते हैं वे इन्हीं छालों द्वारा होते हैं। अतः इनके छालों के विषय में जानना चाहिये। इससे उत्पन्न छाले छाले मात्र नहीं रहकर फफोले जैसे बड़े होते हैं और क्रम क्रम से वृद्धि प्राप्त करते हुए एक अबुर्द (Tumor) के रूप में आते हैं। अतः इससे उत्पन्न इन छालों को कृम्याबुर्द कहते हैं। टीनिया के और किसी भेद से उत्पन्न छालों में ऐसा नहीं होता है बल्कि वे जो आरम्भ में होते हैं वह जैसे जैसे समय व्यतीत होता है वैसे वैसे सूखते चले जाते हैं और अन्त में एक कड़ी सूखी पपड़ी की तरह हो जाते हैं जिनका शोषण धीरे धीरे हो जाता है। टीनिया के जितने अन्य भेद हैं उनके अन्डे से निकले भ्रूण जब शरीर के अवयवों से सट छाले का निर्माण करते हैं तो वह छाले में स्वयं बन्द होने के कारण शीघ्र ही मर जाते हैं जो कुछ जिन्दे रहते हैं वे भी ४-५ मास से अधिक जिन्दे नहीं रहते, इनके मरने के बाद छाले सूखकर पपड़ीवत् हो जाते हैं। मगर इसमें ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार अबुर्द बढ़ता जाता है उस प्रकार इसमें छाले बढ़कर अबुर्द के रूप में आते हैं।

अबुर्द विकास (Development of cyst)—

इस जाति के कृमि के भ्रूण जब शरीर के अन्य भागों में पहुंच मांसपेशियों में सट उसका भेदन कर जब शुङ्गों (Hooks) के भङ्ग जाने से अटक जाता है तब वहां पर एक फफोले का निर्माण होता है। शरीर के तन्तु चारों ओर से बढ़कर उस क्षत स्थान एवं कृमि भ्रूण को आवृत कर लेते हैं। इस प्रकार एक कैपसूल का निर्माण हो जाता है जिसके भीतर भ्रूण भरा रहता है। चूंकि यह भ्रूण एक एकसेलीय निर्माण होता है इस कारण इसका सेल आवरण (परमाणु आवरण) चारों ओर से शरीर के बड़े हुए तन्तुओं से सटा रहता है। इस प्रकार इस कैपसूल या फफोले के दो आवरण हो जाते हैं एक बाह्य आवरण जो कि शरीर के तन्तुओं के बढ़ आवृत करने से उत्पन्न होता है और इसीका (शरीर का) ही एक भाग होता है। यह एक अत्यन्त तनुकला होता है। दूसरा अन्तः आवरण जो भ्रूण का परमाणु आवरण होता है और भ्रूण का ही भाग है। अन्तः आवरण चूंकि भ्रूण परमाणु का परमाणु आवरण है इसलिए यह प्रजनन, पोषण एवं वृद्धि गुणयुक्त होता है और शीघ्र ही शरीर के तन्तुओं से सौत्रिक सम्बन्ध (Fibrous investment) स्थापित कर लेता है जिसके द्वारा यह अपना पोषण प्राप्त करता है। यह बात टीनिया जाति के अन्य कृमियों के भ्रूण में नहीं होती है।

इस प्रकार पोषण ग्रहण कर यह बढ़ता है और एक अवस्था ऐसी आती है जबकि इसके अन्तः स्तर पर कुछ अंकुर जैसे निमी निकलने लगते हैं।

इस प्रकार यह भ्रूण एक फफोले का निर्माण करता है जिसमें दो स्तर होते हैं। एक बाह्य एवं दूसरा अन्तः और इसके भीतर एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है जैसा कि हर भ्रूण परमाणु में होता है। चूंकि इसका अन्तःस्तर भ्रूण परमाणु आवरण से बना है और उत्पादन क्षमतायुक्त है

इसलिये इसे उत्पादक स्तर (Germinal layer) भी कहते हैं। यह हर भ्रूण परमाणु के साथ होता है मगर इसकी विशेषता यह है कि शारीरिक तन्तुओं से सम्बन्ध स्थापित कर पोषण ग्रहण करता है जबकि अन्य जाति के भ्रूण परमाणु ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं और पोषणाभाव से वे मर कर सूख जाते हैं, दृढ़ (Calcified) होजाया करते हैं।

जब इस प्रकार उत्पन्न फफोला पोषण ग्रहण कर वृद्धि प्राप्त करते हैं तब एक ऐसी अवस्था आती है जब इन फफोलों के स्तर से अंकुर (Buds) उत्पन्न होने लगते हैं और धीरे धीरे ये अंकुर फफोले के भीतर ही एक दूसरे फफोले के रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार मूल फफोले के भीतर कई द्वितीय जाति (Secondary) फफोले उत्पन्न हो सकते हैं जिनकी संख्या दर्जन तक हो सकती है।

यह द्वितीय जातीय (Secondary) फफोले बाह्य आवरण मूल फफोले के अन्तःस्तर या उत्पादक स्तर के ही अंश होते हैं। अतः इसमें भी उत्पादक गुण होता है। इसके अन्तःस्तर साधारण कला के होते हैं जो मूल फफोले के बाह्यस्तर का ही अंश (Extension) होता है। इसके भीतर भी एक तरल पदार्थ भरा रहता है। पुनः यह भी पोषण ग्रहण कर प्रवृद्ध होता है और इसके बाह्यस्तर पर एक अंकुर (Bud) निकलता है। इस अंकुर (Bud) की आकृति इस जाति के कृमि के सर जैसा होती है जिसमें अविकसित अंकुश गुच्छों (Hooklets) तथा चार स्थाली मुख (Disc) होते हैं। कभी कभी ऐसा मूल फफोले के ही अन्तःस्तर पर निकलता है। मगर बहुधा यह द्वितीय जातीय फफोले के ही बाह्यस्तर पर निकलता है। बहुधा द्वितीय जातीय फफोले पर उसी तरह तृतीय जातीय (Tertiary) फफोले भी विकसित होते हैं जिस तरह द्वितीय जातीय फफोले विकसित हुये थे। कृमि सिर बहुधा द्वितीय या तृतीय जातीय फफोले के बाह्यस्तर पर निकलते हैं।

सर्वप्रथम तो द्वितीय एवं तृतीय फफोले मूल

फफोले के अन्तःस्तर से जुटे रहते हैं। मगर शीघ्र ही ये एक से दूसरा टूट कर मुक्त हो जाता है और मूल फफोले के प्रकोष्ठ (Cavity) में तैरते रहते हैं। इस अवस्था में ये बीसों वर्ष तक जीवित रह सकते हैं और मर भी जा सकते हैं।

मूल फफोला तब तक जीवित रूप में रह सकता है जब तक यह अपना आहार ग्रहण करने में समर्थ होता है। यह तभी ऐसा नहीं कर पाता है जब इसके अन्तःस्तर के हर अंश खिंचकर द्वितीय तृतीय के निर्माण में लग जाते हैं। ऐसी अवस्था में मूल फफोले का बाह्यस्तर सिर्फ बच जाता है और इसके प्रकोष्ठ में तरल पदार्थ रह जाता है जिसमें द्वितीय तृतीय फफोले तैरते रहते हैं। ऐसी अवस्था में मूल फफोले के बाह्यस्तर पर खटिक आवरण (Calcification) हो जाता है एवं यह कड़ा हो जाता है। ऐसा होने पर ही इसके भीतर के तरल पदार्थ में तैरते द्वितीय या तृतीय फफोले जिनके बाह्यस्तर पर कृमि सिर का निर्माण होता है, मृत होते हैं अन्यथा बीसों वर्ष तक जीवित रहते हैं।

इन द्वितीय या तृतीय फफोले जिन पर कृमि सिर का निर्माण हो गया होता है उनकी विशेषता यह है कि यदि उसे कुत्ते के पेट में रख दिया जाये तो यह एक पूर्ण विकसित ऐकनीकोकश कृमि के रूप में शीघ्र ही परिवर्तित हो जाता है।

अनूकूल स्थान—

निम्नलिखित अवयव इसके लिये अनुकूल स्थान हैं जहां यह कृमि भ्रूण इस प्रकार के फफोलों को उत्पन्न करता है और ये अनुकूल रूप में विकास प्राप्त करते हैं। यह निम्नलिखित अवयवों में निम्नानुसार होता पाया गया है—

यकृत में—

५० प्रति०

मस्तिष्क सुष्मना या नाड़ी संस्थान में

१५ प्रति०

हृदय या रक्त संवहन संस्थान में

१५ प्रति०

वृक्क में

२ प्रति०

प्रजनन संस्थान में

२ प्रति०

उदर्या कला में

५ प्रति०



फुफ्फुस या फुफ्फुस धराकोष में ३ प्रति०
अन्य स्थानों में ८ प्रति०

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि यकृत, मस्तिष्क एवं हृदय इसके सर्वाधिक अनुकूल स्थान हैं।

अर्बुद में होने वाले परिवर्तन—

इस कृमि भ्रूण से उत्पन्न होने वाले फफोलों में जो परिवर्तन स्वतः आते हैं उन्हें हम तीन वर्ग में रख सकते हैं—

१. आकार वृद्धि २. फूटना ३. पूय का होना

आकारवृद्धि—पहले लिखा जा चुका है कि ये फफोले धीरे धीरे विकास पाने वाले होते हैं। जैसे जैसे इनके भीतर द्वितीय तृतीय जातीय फफोलों का विकास होता है वैसे वैसे इनका आकार बढ़ता जाता है। इनका आकार इतना अधिक बढ़ जाता है कि ये एक मझोले आलू के आकार तक के हो जाया करते हैं। इस आकार वृद्धि का परिणाम यह होता है कि जिस अवयव में ये होते हैं उसका आकार बढ़ा देते हैं, उस पर दबाव डाले रहते हैं जिससे उस अवयव की अपनी क्रिया तो बाधित होती ही है समीपस्थ अवयव भी इसके दबाव से दबे रहते हैं, या स्वस्थान से हट जाते हैं और उनकी क्रिया भी बाधित होती है। अपने बढ़ते हुये आकार के कारण उस स्थान पर शूल उत्पन्न करते हैं।

फूटना—मूल फफोलों के अन्तःस्तर जब द्वितीय तृतीय जातीय फफोलों के निर्माण में लग जाते हैं तब खिंचते-खिंचते यह स्वयं समाप्त हो जाता है और टूटे द्वितीय तृतीय जातीय फफोले इसके भीतर तरल भाग में तैरते रहते हैं। और तब मूल फफोले की वृद्धि बन्द हो जाती है। बाह्य स्तर कड़ा एवं दृढ़ हो जाता है और इस रूप में बीसों वर्ष तक यह पड़ा रह सकता है जिसके भीतर द्वितीय तृतीय जातीय फफोले जिन पर कृमि के अविकसित शिर रहते हैं जीवित अवस्था में तब तक बन्द रह सकते हैं। मगर जिस मूल फफोले के भीतर द्वितीय तृतीय जातीय फफोले का निर्माण होना और अधिक जारी रहता

है उसमें ये मूल फफोले और अधिक बड़े होते जाते हैं। इस कारण इसका बाह्य स्तर और अधिक तनु होता जाता है। यदि आकार वृद्धि रुकी नहीं जारी ही रही तो बाह्यस्तर को दृढ़ होने का अवसर नहीं मिलता और अधिकाधिक या बढ़ते हुए तनाव के कारण फट जाता है। इसके फटने से इसमें का तरल पदार्थ मुक्त होता है जो कि एक विष सा होता है। इस तरल पदार्थ से समीपस्थ अवयव तो भयंकर रूप से प्रदाहित होते ही हैं साथ साथ उस तरल पदार्थ के रक्त में मिल संवाहित होने से अन्य भयंकर विषज लक्षण (Toxic effects) प्रगट होते हैं। इसके साथ द्वितीय जातीय फफोले जिन पर कृमि सिर रहता है वह भी मुक्त होता है और यदि किसी प्रकार अधरा महासिरा या अन्य किसी मोटे रक्त वाहिनियों में यह प्रवेश पा गया (यकृत के अर्बुद के फटने से ही प्रायः ऐसा होता है) तो यह हृदय में पहुँच हृदय कपाटों का अवरोध उत्पन्न करता है और रोगी शीघ्र ही मर जाता है। इसका फटना एक भयंकर स्थिति है और बहुधा इसके रोगी इसके फटते ही मर जाते हैं।

पूय—जिस समय मूल फफोला अपनी आकार वृद्धि में लगा रहता है उस समय उस स्थान पर साधारण प्रदाह होता ही है। कभी कभी यह प्रदाह तीव्र हो जाया करता है और उस स्थान पर पूय का निर्माण हो जाता है। इससे फफोले का अन्तः स्तर नष्ट हो जाता है और फफोले के भीतर सब कुछ धीरे धीरे पूय में परिवर्तन पा जाता है। अब यह फफोला साधारण फफोला नहीं रह कर पूययुक्त एक ब्रण सा हो जाता है और तोड़ दाह शूल उत्पन्न करता है। इस अवस्था में पूयजन्य सभी लक्षण (Pyæmia) होते हैं—भयानक शीत कम्पपूर्वक तीव्र ताप, खूब स्वेद दंकर ताप का एकदम ठंडा पड़ जाना आदि लक्षण प्रगट होते हैं। यदि यह फूट गया तो पूय का मोक्षण होता है और उन सभी लक्षणों को भी उत्पन्न करता है जिसका वर्णन अर्बुद के फूटने के प्रसंग में किया गया है। यह भी

एक भयंकर स्थिति है और सांघातिक है मगर इसके एक या दो प्रतिशत रोगी अच्छे भी हो जाते हैं।

लक्षण—
यकृत में होने से—

यह फफोले के आकार पर निर्भर करता है। यदि फफोला साधारण आकार का रहा तब तो कोई लक्षण प्रगट नहीं करता। दूसरे स्थान के ऊपर भी इसके लक्षण निर्भर करते हैं। साधारण-तया यकृत वृद्धि होती है जो कड़ा एवं पीड़ामय होता है याने दबाने से दर्द का होना, दबाने पर यह इधर उधर खिसकता सा भी मालूम पड़ता है। यदि यह पित्तनलिका के समीप हुआ तो भयानक रूप की काला को उत्पन्न करता है, यह यकृत विद्रधि (Cancer), यकृत ब्रण (Abscess), यकृतार्बुद (Tumor) यकृतशोथ (Cirrhosis) आदि से मिलते जुलते लक्षण उत्पन्न करता है। और इनका विभेदक ज्ञान नहीं हो पाता है। बहुत दिनों से याने २-४ वर्षों से या इससे भी अधिक समय से चलती आयी यकृतवृद्धि बिना अन्य कोई कष्टकर लक्षणों के इस रोग के सन्देह को पुष्ट करती है।

चिकित्सा—इस रोग की अभी तक कोई सफल चिकित्सा नहीं है सिवा लाक्षणिक चिकित्सा के या किसी तरह उसके अग्नि बल मांसादि की रक्षा कर उसे अधिक से अधिक दिन तक रखने के कोई चिकित्सा नहीं है।

अस्तित्व में होने पर—

बराबर रहने वाला सिरः शूल, आक्षेप, नेत्रज्योति का कम होना, नाक से दुर्गन्ध का निकलना तथा बेचैनी होते हैं। इसके सम्बन्ध में आयुर्वेद में निम्न-लिखित पक्तियां मिलती हैं—

अथवेदरुजा कण्डू शोफ दौर्गन्ध्य दुःखितम्।

कृमिरोगातुरं विद्यात्किमीणां लक्षणैश्च ॥२८॥

—च० सू० १७-२८

विस्तृण्तेयस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीवचान्तः।

आपाच्च गच्छेत्सखिलं सपर्यं शिरोऽभितापः कृमिभिः सुषोरः॥

—सुश्रुत

यद्यपि कि इसके सम्बन्ध में स्पष्ट वर्णन आयुर्वेद में नहीं मिलता है कि किस जाति के कृमि से यह होता है मगर कृमिज शिरो रोग में जो यह वर्णन है वह इसी को इङ्गित करता है।

हृदय में होने पर—

हृदय में होने पर यह हृदय-विस्तार लाता है। हृदयधरा कोष प्रदाह, रक्तधराकला प्रदाह आदि इससे होते हैं। यह असाध्य एवं मारक होता है। इस विभिन्न हृदय रोगों के लक्षण स्थान के अनुसार हो सकते हैं। आयुर्वेद में इसके सम्बन्ध में एक लेख मिलता है जो इस रोग के कारण के सम्बन्ध में आहार विहार के दोष को प्रमुख मानते हैं। मगर यह स्पष्ट नहीं है कि किस जाति के कृमि से यह होता है। न उस कृमि के विषय में ही कुछ लिखा मिलता है कि वह कैसा होता है उसका जीवन इतिहास क्या है। नवीन विज्ञान भी इन कृमियों के अंडे को पेट में जाने का कारण आहार दोष ही मानते हैं। कृमिज शिरोरोग एवं कृमिज हृदय रोग के कारण भी एक ही बताये हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि एक ही जाति के कृमि दोनों स्थान में दोष उत्पन्न करती हैं। दोष के सम्बन्ध में भी यह लिखा मिलता है कि यह कृमि वहां एक “ग्रन्थी” उत्पन्न करता है। ग्रन्थी के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा मिलता कि यह कैसा होता है—फिर लक्षणों के सम्बन्ध में लिखा मिलता है जो एकनिकोकस के फफोलों से उत्पन्न लक्षणों से समता रखता है। जैसाकि सूत्र रूप में लिखा मिलता है—

.....ग्रन्थिस्तस्योप जायते ॥३१॥

ममैकदेशे संक्लेदं रसरचास्योप गच्छति।

संक्लेदात्कृमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः॥

ममैकदेशे संजाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च।

तुष्टमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते॥

क्षिप्तमानं यथा शब्जैर्जातं कण्डू महारुजम्।

हृद्रोगं कृमिजत्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्या सुदारुणम्॥

इन पक्तियों से इतना स्पष्ट है कि एक कृमि विशेष है जिसके प्रभाव से हृदय में एक ‘ग्रन्थी’ जैसी



धर्मशास्त्र

वस्तु बनती है। यह ग्रन्थ भीतर से खोखली होती है जिसमें एक चिपचिपा तरल (सक्लेदं रसश्च) पदार्थ भरा रहता है और उस तरल पदार्थ से कृमि की उत्पत्ति होती है (संक्लेदात्कृमयश्चास्य भवन्ति)।

संक्षेप में एकेनीकोकस से उत्पन्न फफोलों के सम्बन्ध में भी इतना ही कहा जा सकता है। विस्तृत वर्णन में चाहे जितना भी लिखा जाये। वर्तमान आयुर्वेद ग्रन्थों में विस्तृत का सर्वथा अभाव है। अतः कृमिज हृदय रोग एवं शिरो रोग को एकेनीकोकस जन्य कहा गया रोग मानना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

चिकित्सा—

एकेनीकोकस से उत्पन्न इस प्रकार के रोग की कोई चिकित्सा नवीन विज्ञान के पास नहीं है। मगर आयुर्वेद में कृमिज शिरो-रोग की एवं कृमिज हृदय रोग की विशेष चिकित्सा है। चूंकि लेखक को इसके एक भी रोगी नहीं मिले हैं इसलिये इस पर प्रकाश डालने में असमर्थ है। मगर एकेनीकोकस में यदि आयुर्वेद के औषधों का प्रयोग किया जाये तो लाभ की आशा रखता है।

वृक्क में होने पर—वृक्क का कृम्याबुद्ध उतना सांघातिक नहीं। जब तक यह फूटता नहीं है तब तक यह मूत्राल्पता-मूत्रकृच्छ्र, वृक्कशूल आदि उत्पन्न करता है। फूटने पर यह मूत्र द्वारा बाहर निकल जाया करता है। कभी कभी गंवीनी में इसके सिस्ट के अटकने से उपद्रव खड़े होते हैं।

प्रजनन संस्थान में—यह पुसंत्व का नाश करता है और अबुद्ध के अन्य लक्षणों को उत्पन्न करता है। इसमें भी यह सांघातिक होता है।

उदर्याकला में—उदर्या कला में होने पर गुल्म-वत् लक्षण प्रकट करता है। ऊपर से देखने पर फफोले का स्पर्श होता है—पेट निकल आता है जैसे पानी भरा हो मगर वास्तव में ऐसा नहीं रहता। फूटने पर सांघातिक होता है।

फुफुस में—यहां होने पर यह सांघातिक होता

है। उरस्तोयवत् पाश्च पीडा, श्वासकष्ट, कफ-श्वास आदि उत्पन्न करता है। फूटने पर सांघातिक होता है।

ट्रेमाटोड्स [Trematodes]

इस शब्द की व्युत्पत्ति भी एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है द्वार कपाट। याने पत्र की तरह के आकार वाले जितने कृमि हैं वे इस नाम से सम्बोधित किये गये हैं। इसकी निम्नलिखित तीन जातियां हैं—

१. पल्मोनरी डिस्टोमा (Pulmonary distoma)
२. हेपेटिक डिस्टोमा (Hepatic distoma)
३. हेमिक डिस्टोमा (Haemic distoma)

पल्मोनरी डिस्टोमा—

यह कृमि प्रायः ८-१६ मिलीमीटर लम्बी और ४-८ मिलीमीटर चौड़ी पतले कागज की तरह मोटी या चौरस होती है। देखने पर यह कला के एक टुकड़े सा-मालूम पड़ता है। यह लाल या गुलाबी रंग का होता है और फुफुस में होता है। यह तृष्ण कटिबन्ध (Tropical) देशों में अधिक होता है विशेष कर एशिया के देशों में।

यह सड़े गले गन्दे स्थानों में स्वयं उत्पन्न होता है और वहां अण्डे देता है। हवा धूल के माध्यम से नासिका द्वारा मानव शरीर में प्रवेश करता है। मानव शरीर भी इसकी वृद्धि के लिये अच्छा माध्यम है। यदि इसके कृमि ही फुफुस में पहुंच गये तो वहां वृद्धि प्राप्त करते हैं अण्डे देते हैं।

लक्षण—

यह फुफुस में पहुंच वहां वायु प्रकोष्ठों में अटक जाता है जिससे जीर्ण शुष्क कास उत्पन्न करता है। रस में कृष्णाम लाल (Rusty) रंग निकलता है जिसमें इसके अण्डे (ova) पाये जा सकते हैं। कभी कभी रक्त के साथ (मिला) निकलता है। कभी कभी साधारण रक्त वमन भी होती है जो खांसते खांसते होता है। इसमें ज्वर आता



शिशु रोगादि

नहीं होता है। हां स्वास्थ्य गिरने पर एवं रोग के बहुत पुराना होने पर होता है। अन्यथा साधारण स्वास्थ्य अच्छा रहता है सिवाय साधारण जीर्ण कास एवं कभी कभी रक्तमिश्रित कफ के अन्य कुछ नहीं होता है।

हेपाटिक डिस्टोमा -

इस जाति का कृमि अत्यन्त सूक्ष्म कृमि होता है। यह लगभग आध इंच लम्बा तागे की तरह पतला एवं चौरस होता है। सड़े गले फलों पर यह अधिकतर होता है और उसीके माध्यम से मानव शरीर में प्रवेश पाता है। यकृत इसका विशिष्ट स्थान है जहां यह वृद्धि प्राप्त करता है अण्डे देता है। ये अण्डे पित्त के माध्यम से ग्रहणी में आते हैं और मल द्वारा बाहर निकलते हैं। फिर मक्खियों के माध्यम से मानव शरीर में प्रवेश पाते हैं। यह अधिकतर बच्चों में होता है जो गन्दे तरह के आहार विहार में पलते हैं। यह भारतवर्ष में बहुत होता पाया गया है। इसकी ६ जातियां होती हैं मगर सभी में इसकी हेपाटिक जाति ही प्रमुख है। यह बहुधा एक परिवार के अनेक बच्चों को पकड़ता पाया गया है। कहीं कहीं तो समूचे गांव या कस्बे के बच्चे इससे पीड़ित हो जाते हैं। इसका प्रसार इसके अण्डों के कारण होता है जो इसके रोगी के मल से बाहर निकालते हैं।

लक्षण—

पहले इस रोग में कुछ दिनों का अन्तर देकर अतिसार होता है, इसके बाद रक्तप्रवाहिकावत् लक्षण उत्पन्न होते हैं। यकृत बढ़ जाता है और बाल्यकृत (Infantile liver) या यकृत शोथ (Cirrhosis of liver) के सभी लक्षण प्रगट होते हैं या इन रोगों में परिवर्तन पाता है। पेट में दर्द और कामला का बार बार आक्रमण होता है—१०-१५ दिन कामला रहता है फिर हट जाता है फिर आता है। खर नहीं के बराबर रहता है। पेट हमेशा खराब रहता है। बच्चा दुर्बल, चिड़चिड़ा होता है, रक्ताल्पता

होती है। जलोदर या हाथ पैर पर शोथ होता है। यह रोग छूट छूट कर पुनः पुनः होता रहता है और बहुत दिनों तक ५-६ वर्ष तक चलता रहता है। जिसमें छूट छूट कर नहीं होता उसमें प्रायः दो तीन वर्षों तक चलता है और सांघातिक सिद्ध होता है।

इस रोग का सन्देह मल परीक्षा द्वारा पुष्ट किया जा सकता है। मल में इसके अण्डे बहुतायत से रहते हैं। इसके अण्डे अण्डाकार गोल और गहरे भूरे रङ्ग के होते हैं।

चिकित्सा—

नवीन विज्ञान में इसकी चिकित्सा कोई अच्छी नहीं है। टारटार ऐमेटिक का प्रयोग ये कुछ हद तक सफलतापूर्वक करते हैं मगर वैसी सफल औषधि यह भी सिद्ध नहीं हुई है। लक्षणानुसार इसकी चिकित्सा होती है मगर रोग समूल नष्ट नहीं होता।

लेखक को इस रोग के कुछ रोगी मिले हैं। लक्षणानुसार लेखक ने अन्य औषधों का प्रयोग किया है और उसके साथ साथ प्रमुख रूप से निम्नलिखित योग का उपयोग किया है। इससे लेखक ने प्रायः ३०-४०% रोगियों में सफलता प्राप्त की है। इसके साथ साथ अन्य आवश्यक (रोगलक्षणानुसार) भिन्न भिन्न प्रकार के औषध भी व्यवहृत किये गये हैं चूंकि इसमें सूखा रोग (Rickets), यकृत, लीहा, शोथ, अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्ताल्पता आदि अनेक लक्षण भी होते हैं।

स्वर्णभस्मातक रसायन—

स्वर्ण भस्म ३ तोला, स्वर्णमाक्षिक भस्म ३ तोला, रौप्यमाक्षिक भस्म ३ तोला, लौह भस्म ३ तोला, ताम्र भस्म ३ तोला, वंग भस्म ३ तोला, अर्कमूल चूर्ण ३ तोला, चित्रकमूल चूर्ण १ तोला, गुलदाचदीमूल चूर्ण १ तोला, भिलावे की मांग २ तोला।

निर्माण—पहले भिलावे की मांग को खूब खरल कर स्वर्ण भस्म मिलाकर फिर खरल करें। इसके बाद शेष औषधियों को मिलाकर खूब खरल



करें। बाद में पानी से पीस कर इसमें १०० गोलियां बनायें।

उपयोग—

मात्रा— $\frac{1}{2}$ —१ गोली एक बार में २४ घंटों में दो बार मधु से।

इसका प्रयोग यकृत वृद्धि, बाल यकृत, यकृत-शोष, जीर्ण प्रवाहिका, जीर्ण ग्रहणी, रक्ताल्पता, कृमि, कृमिजन्य विभिन्न उपद्रव आदि में लेखक करता आया है।

शोथ में—मधु से औषधि खिला उपर से गोखरू फलों का पानी देना चाहिये।

चेतावनी—

इसके प्रयोग करने के पहले रोगी की मूत्र परीक्षा कर यह अवश्य देखना चाहिये कि मूत्र में ऐल्ब्युमिन (Albumin) है या नहीं। रहने पर इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

हेयमिक डिस्टोमा—

यह भारतवर्ष में प्रायः नहीं होता। यह मिश्र एवं अरब देशों में होता है। इसके विकास के लिये एक जलजीव का जो कि मिश्र की नदियों में ही पाया जाता है माध्यम आवश्यक है। इसके अंडे पानी में तैरते हुये हफ्तों जिन्दा रहते हैं और स्नेल (Snail) नामक जन्तु इसे ग्रहण करता है। इसके आमाशय में जाकर इसके अंडे फूटते हैं और भ्रूण के रूप में आते हैं। ये भ्रूण उसके आमाशय का भेदन कर उनके शरीर से बाहर निकल जाता है और पुनः पानी पर तैरता रहता है। पानी इसके लिये अच्छा माध्यम है खासकर मलमूत्रादि मिला गन्दा पानी। इसके बाद यह भ्रूण मौल्युस (Molluss) नामक जल जन्तु या मनुष्य के सम्पर्क में आने के बाद उनकी त्वचा का भेदन कर उनके शरीर में प्रवेश करता है और रक्तस्रोतों द्वारा शरीर के अन्य भागों में आता है। इसके विशिष्ट स्थान हैं मलाशय, मूत्राशय, एवं

गुदनलिका के सिरायें या प्रतिहारिणी महासिपा। इन स्थानों में आकर यह रुक जाता है अपना पोषण ग्रहण करता है वृद्धि प्राप्त करता है और भी देता है।

यह लगभग $\frac{1}{2}$ इंच लम्बा एवं अत्यन्त पतल दुग्धवत् श्वेत वर्ण का होता है। यह इतना पतल होता है कि रक्तस्रोतों से आसानी से गुजर जाता है। इसके अंडे मल मूत्र दोनों से बाहर निकलते हैं।

लक्षण—

इससे मूत्र स्थान एवं गुदनलिका में कष्ट होती है प्रदाह होता है पीड़ा होती है। इसके कारण गुदनलिका प्राचीर मोटा होता है और अर्शस लक्षण उत्पन्न करते हैं। मूत्रस्थान विशेषकर योनि में भी ऐसा होता है और मूत्रघातवत् लक्षण उत्पन्न करता है। जीर्ण होने पर वहां पर क गुदाश या वस्त्याश (Cystitis) उत्पन्न करते हैं। इन अर्शाकुरों में इसके अंडे भरे रहते हैं। ये अंडे स्वयं फूट जाया करते हैं जिससे मल द्वारा या मूत्र द्वारा रक्तस्राव होता है। और रक्ताश या रक्तमूत्र से मिलते लक्षण उत्पन्न करता है। स्त्रियों में क योनि सिराओं में अटक इस प्रकार योन्त्यश एवं प्रदाह उत्पन्न कर भयानक रक्तप्रदर के लक्षण से मिलता लक्षण उत्पन्न करता है। इससे उत्पन्न प्रदाह के कारण बहुधा वृक्काशमरी या वस्त्याशमरी धीरे धीरे विकास पाती है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा लक्षणानुसार करनी चाहिए। लेखक का इस पर कोई अनुभव नहीं है चूंकि इसके रोगी हमें नहीं मिले हैं।

आयुर्वेद से समन्वय

आयुर्वेद में आमाशयज कृमियों में उन सभी कृमियों को स्थान दिया गया मालूम पड़ता है जिनके अंडों को भ्रूण के रूप में आने के लिये आमाशय में आना आवश्यक है और तब आमा-

शिशिरोगाङ्क

शय से शरीर के विभिन्न भागों में जाकर रोग लक्षण उत्पन्न करें। जो कृमि केवल आन्त्रों एवं मलाशय में इस प्रकार आकर रोग लक्षण उत्पन्न करते हैं और वृद्धि प्राप्त करते हैं उनकी विशिष्ट संज्ञा पुरीषज दे दी गई है और इसके अतिरिक्त को आमाशयज कहा गया है और जिन कृमियों का विकास, पोषण, वृद्धि एवं अण्डे आदि देना तो मानव शरीर में हो मगर उनके अण्डों को भ्रूण के रूप में आने के लिए मानव आमाशय में आना आवश्यक नहीं है वे शरीर से बाहर ही भ्रूण के रूप में आते और मानव त्वचा का सम्पर्क मिलने पर उसी के सहारे या उसका भेदन कर रस रक्त-वह स्रोतों द्वारा शरीर के विभिन्न स्थानों में पहुँच रोग लक्षण उत्पन्न करें तथा रोग लक्षण उत्पन्न करने योग्य अवस्था में आने के पहले उन्हें रसवह स्रोतों का आश्रय आवश्यक हो वे रक्तज कृमि के नाम से जाने गये हैं। आयुर्वेद में वर्णित आकार एवं वर्ण से भी तुलना करने पर हम निम्नलिखित रूप से नवीन के साथ समयन्वय कर सकते हैं।

आमाशयज—

आकार—भूनाग, केंचुये, एवं धान्यांकुर के आकार से कुछ बड़े होते हैं। वर्ण—श्वेत या ताम्र वर्ण के होते हैं।

(१) ऐसकेरिस लम्बरीकोयाडस (*Ascaris lumbricoids*—Round worm) आकार—१ फुट गोल लम्बा, वर्ण—श्वेत लाल, श्वेत नील,

(२) औक्सयुरिस वर्मीक्युलरिस (*Oxyuris vermicularis*—Thread worm), आकार— $\frac{1}{2}$ इंच गोल लम्बा, वर्ण—श्वेत

(३) ट्रिक्नीया स्पाइरलिस (*Trichnia spiralis*) आकार—धान्यांकुरनुमा $\frac{1}{2}$ इंच

(४) ट्रिक्नो सेफालस (*Trichno-cephalis*)—आकार लम्बा गोल $\frac{1}{4}$ इंच

(५) स्ट्रोन्गीलायडस (*Strongyloids*)—आकार $\frac{3}{4}$ इंच लम्बा

(६) टीनिया एकनीकोकस (*Taenia echin-*

icoccus)—आकार—धान्यांकुरनुमा $\frac{1}{2}$ इंच रक्तज—

आकार—गोल, पतला, कोई नहीं दिखाई पड़ने वाला, पतला (लम्बा), वर्ण—ताम्र वर्ण

(१) ऐन्कोस्टोमा ड्यूडिनेल (*Ankylostoma duodenale*—Hook worm) आकार पतला, $\frac{1}{2}$ इंच लम्बा, वर्ण ताम्र

(२) फाईलेरिया (*Filariae*)—आकार $3\frac{1}{2}$ इंच पतला तागे की तरह, वर्ण ताम्र

(३) पल्मोनरी डिस्टोमा (*Pulmonary distoma*)—आकार $\frac{1}{2}$ इंच गोल चक्रिका की तरह ताम्र वर्ण

(४) हेपेटिक डिस्टोमा (*Hepatic distoma*)—आकार $\frac{1}{2}$ इंच लम्बा पतला

(५) हेमिक डिस्टोमा (*Haemic distoma*)—आकार $\frac{1}{2}$ इंच गोल चक्रिका की तरह वर्ण श्वेत पुरीषज—

आकार—चौड़े वृत्ताकार पतले, लम्बे, वर्ण—श्यामपी श्यामश्वेत।

(१) टीनिया सौलियम (*Taenia Solium*—Tape worm)—आकार ७-१२ फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्ताकार, वर्ण श्वेतपीत

(२) टीनिया सेगमेटा (*Taenia Segmeta*)—आकार १५-२० फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्तमय, वर्ण-श्वेतपीत

(३) डिब्रोथ्रियो सेफालस (*Dibrothriocephalus*)—आकार २५-३० फीट लम्बा, चिपटा, गोल, वृत्तमय, वर्ण-श्वेतश्याम

(४) ड्राकौनटियस (*Dracontias*)—आकार, ५० सेन्टीमीटर लम्बा, गोल, वर्ण-श्वेतपीत

चूँकि आयुर्वेद में हर कृमि का न तो आकार न वर्ण, न रोग लक्षण ही अलग अलग लिखा मिलता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता (निश्चित रूप से) कि नवीन विज्ञान के अनुसार किसे क्या कहा जा सकता है तथापि अनुमान —शेषांश पृष्ठ २८६ पर

कृमि-रोग और उसकी चिकित्सा

श्री सन्तोषकुमार जैन A. M. S. आयुर्वेदाचार्य

इस जड़ एवं चेतनमय संसार का महान कारीगर प्रकृति ही है। यों तो इस उभयात्मक संसार के केवल जड़वर्ग की रचना पर ही यदि गम्भीरतापूर्वक विचार दृष्टि सन्निवेशित किया जाय तो आधुनिक चमत्कारिक वैज्ञानिक युग के बड़े बड़े वैज्ञानिकों, दार्शनिकों एवं विचारकों को आश्चर्य सागर में निमग्न होना ही पड़ेगा, फिर प्राणिवर्ग के छोटे बड़े जीवाणु, रुणाणु, कीटाणु, विषाणु, कृमियों एवं मानव वर्गों पर तो दृष्टि डालकर तथा उनका निगूढ़ गम्भीर अध्ययन करके महान आश्चर्य का सागर उमड़ पड़े तो इसका कहना ही क्या?

इस जड़-चेतनमय संसार के सम्पूर्ण वर्गों का प्रधान नियन्ता और शिरोमणि, विश्व की सारी सम्पत्तियों का अधिकारी व उपभोक्ता, प्रकृति की कारीगरी का दर्शनीय, मननीय एवं पठनीय तमूना तथा जीवाणुओं, कीटाणुओं, रुणाणुओं, विषाणुओं एवं कृमियों का आश्रय स्थल तथा शिकार यह मानववर्ग ही है, जिसका विशद सम्बन्ध एवं वर्णन सृष्टि के प्रारम्भ से ही है एवं आयुर्वेद वाङ्मय की आर्ष संहिताओं तथा उत्तरकालीन संग्रह ग्रन्थों में अन्वेषणात्मक दृष्टि से गोचक उल्लेख मिलता है। यदि इस ओर विशाल दृष्टिकोण से विचार किया जावे तो पराश्रयी जीवाणुओं [Parasites] के सम्बन्ध में दिव्यदर्शी असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि के प्रतीक बड़े बड़े ऋषि महर्षियों के प्रत्यक्ष एवं अनुमानगम्य पर्याप्त सामग्री आयुर्वेद से ही उपलब्ध हो सकेगी ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। इस विषय के अन्तर्गत केवल उदर कृमियों (Worms) पर यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके लिखा जावे तो निश्चित ही पुस्तकाकार लेख-माला का प्रकाशन हो सकेगा। अभी तो संक्षेप में इन बाल उदर कृमियों का वर्णन एवं संक्षिप्त परिचय

मात्र ही दिया जा रहा है।

प्राचीन महर्षियों ने जो कुछ वर्णन किया है वह एक असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि का प्रतीक है। यद्यपि उस समय उनके पास सूक्ष्मदर्शक यन्त्र नहीं था तथापि उनके पास ज्ञानोपार्जन के अन्य साधन बहुत ही महत्वपूर्ण रहे होंगे जिनसे 'जले जीवा, स्थले जीवा, जीवा पर्वत मस्तके' का सूक्ष्म अध्ययन बखूबी प्रत्यक्ष रूप में किया है और उसीका वर्णन आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने ढङ्ग से उनसे होने वाली बीमारियों (Diseases) का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से सबको प्रत्यक्ष दिखाते हुए किया है और अब तो मानववर्ग के मुख नासिका अथवा गुदमार्ग द्वारा प्रत्यक्ष निर्गमन इन कृमियों का देखा जा रहा है और इनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों से ग्रसित प्राणिवर्ग को प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। कृमियों से उत्पन्न व्याधियों की व्यापकता इनकी गम्भीरता की परिचायिका है। विश्व के समस्त प्रदेशों में सर्वत्र पाये जाने वाले भयोत्पादक रोगों से हमारा प्यारा भारत देश भी ग्रसित है। इसके आनूप क्षेत्रों तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी मण्डलों में तो इन रोगों का प्रसार अत्यधिक पाया जा रहा है। रोकथाम के लिये भी अनेक बाह्य प्रयत्न एवं औषधियों द्वारा आन्तरिक प्रयत्न किये जा रहे हैं जो आवश्यक ही हैं।

मनुष्यों में रोग उत्पन्न करने वाले कृमियों के गोल कृमि, चपटे कृमि और पर्ण कृमि करके तीन वर्ग होते हैं। ये कृमि आन्त्र में निवास करके या घातुओं का आश्रय करके विकार उत्पन्न कर सकते हैं। सूत्रकृमि, गण्डूपद कृमि इत्यादि कुछ कृमि केवल आन्त्राश्रयी होते हैं। श्लीपद कृमि, स्तम्भ कृमि इत्यादि कुछ केवल घात्वाश्रयी होते हैं, कुछ



दोनों में विकृति (टीनिया सौलियम) कर सकते हैं। यहां पर केवल आन्त्राश्रयी कृमियों का विवरण दिया जा रहा है।

कृमि उपसर्ग सब देशों में एकसा नहीं होता है और यह मुख्यतया जलवायु और स्थानिक स्वच्छता के ऊपर निर्भर है। जलवायु में वर्षा, स्थली (Soil) और वातावरण का ताप विशेष महत्व के होते हैं। स्थानिक स्वच्छता में मलनाशन का प्रबन्ध विशेष महत्व का होता है। आन्त्राश्रयी कृमियों के अण्डे मल के साथ शरीर के बाहर आते हैं और उन्हीं के द्वारा अन्य मनुष्यों में प्रत्यक्षतया या अप्रत्यक्षतया उपसर्ग पहुँचता है। इसलिये जिन स्थानों में या प्रदेशों में खाद के लिये मैला प्रयुक्त होता है तथा जहां पर मल त्यागने का कार्य शौच कूपों या शौचस्थानों में न होकर इतस्तः होता है वहां पर कृमिरोग अधिक हुआ करते हैं। कृमिरोग बचपन में अधिक हुआ करते हैं और ४-वर्ष की अवस्था तक वे वैसे ही पाये जाते हैं। उसके पश्चात् उनका आपात (Incidence) कम हो जाता है। बचपन में हो जाने के कारण उनमें स्त्री पुरुषों की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं होती। केवल अंकुश मुख कृमिरोग में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक दिखाई देते हैं।

कृमि भेद -

साधारणतया कृमियों को दो भागों या भेदों में विभक्त किया गया है।^१ (१) बाह्य कृमि, (२) आन्त्राश्रयी कृमि। किन्तु इनके उत्पत्ति कारणों को मध्यनजर रखते हुए जन्म भेद से चार भेद माने गये हैं। (१) स्वेदज (२) कफज (३) रक्तज और (४) मलज। आगे इन चार भेदों के अतिरिक्त

कृमियों की संख्या नाम भेद से २० बतलाई गई है। वैसे देखा जाय तो संसार में इनकी संख्या अगणित है और इसीलिये इन सबका नामकरण आसानीसे नहीं किया जा सकता है।^१ महर्षि चरक तो इन बीस कृमियों के अतिरिक्त सहज कृमियों के भी शरीर में पाये जाने का संकेत कर रहे हैं और इन सहज कृमियों से शारीरिक विकारों की उत्पत्ति नहीं होती है फिर भी इनका संचित विवरण आज की *Parasitology* में बराबर मिलता है।^२ इस उपरोक्त वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषि महर्षियों ने जो विस्तारपूर्वक गम्भीर अध्ययन करके वर्णन किया है वह एक असाधारण दृष्टि एवं बुद्धि का प्रतीक है। अथर्ववेद, सूर्य पुराण एवं गरुड पुराण में इन कृमियों का बड़ा रोचक एवं ऐतिहासिक वर्णन तथा वर्गीकरण यथास्थान देखकर ज्ञानवृद्धि की जा सकती है।

कृमियों का जीवन वृत्त

कृमियों का विस्तार से जीवन वृत्त (*Life history*) एवं इनसे उत्पन्न होने वाले विकार (*Pathogenicity*) यदि वर्णन किया जाय तो विशेष पृष्ठों का अवलोकन करना पड़ेगा। अतः संक्षेपतः जीवन वृत्त निम्न प्रकार से वर्णित है—

(१) स्वेदज कृमि—स्वेदमल से उत्पन्न होने एवं पोषित होने वाले बाह्य कृमि तिल के प्रमाण की आकृति वाले या श्वेत वर्ण के होते हैं जो बच्चों एवं केशों में रहते हैं। ये कृमि शरीर की त्वचा पर चकत्ते (*Urticarial rashes*), पिडिका (*Boils*)

^१ इह खल्वग्निवेशः। विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टानानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः।

—च. चि. स्था. अ. ७

^२ The endoparasites which live on superfluous fluids or solids in the hosts and are non pathogenic are called comminals. (*Parasites & Parasitology by Cnattergee*)

^१ क्रिमीयां स्थानादि भेदेन संख्यां दर्शयति—

(१) क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदतः

(२) बहिर्मुखकामृमिद्वयजन्मभेदाच्चतुर्विधाः

(३) नामतो विंशतिविधाः बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः



खुजली (Itching or Scabies) तथा लसिका ग्रन्थिशोथ (Lymph Adenoiditis) उत्पन्न करते हैं।^१

(२) कफज कृमि—त्रिदोष सिद्धान्तानुसार शरीर में कफ की अधिकता होने से कफज कृमि आमाशय में उत्पन्न होकर वहां वृद्धिगत होते हुए उर्ध्व एवं अधोगति करते हैं। उनमें कुछ का आकार मोटी तांत के समान केंचुए (Earth worms) की भांति लम्बे एवं नवीन उत्पन्न हुए धान्य के अंकुरों के समान आकार वाले श्वेत या ताम्र वर्ण के होता हैं जिनको Round worms कहते हैं।

इनके प्रकार सात होते हैं। (१) अन्नाद (२) उदरावेष्टा (३) हृदयाद (४) महागुद (५) चुरव (६) दर्भकुसुम (७) सुगन्ध। इस श्रेणी के कृमियों से निम्नोक्त लक्षण रोगियों में उत्पन्न होते हुये देखे गए हैं।^२ छर्दि (Vomitting), जी मिचलाना (Tendency to vomit), लालास्राव, अजीर्ण (Irregular Appetite), अरोचकता (Dyspepsia), आनाह (Flatulence), मूर्च्छा (unconsciousness), कृशता (Debility), छींक (Sneezing) एवं पीनस रोग (Chronic Bronchitis), उषषिप्रियता तथा श्वास (Eosinophilia & Asthma)

(३) रक्तज कृमि—रक्तोत्पन्न कृमि महास्रोतस वासी न होकर रक्तवह संस्थान में ही रहते हैं। ये रक्तवाही शिराओं में रहने वाले अतिसूक्ष्म पादरहित गोल तथा ताम्रवर्ण के नेत्रों से अदृश्य एवं सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखे जाने वाले होते हैं। प्राचीन समय के ऋषि महर्षियों ने इन अदृश्य जीवाणुओं का ज्ञान गम्भीर एवं तथ्यपूर्ण किया था जिसकी पुष्टि आज प्रत्यक्ष हो

रही है। इनके ६ प्रकार देखे गये हैं।—(१) केशाद (२) रोमविध्वंस (३) रोमद्वीप (४) उदुम्बर (५) सौरस (६) मातृ।

शरीरस्थ कृमि के स्थान

जूरें, लीरें—

चर्मजुं समस्त शरीरमें
(त्वचाके रोमजड़में)
(आमाशयमें) कफज कृमि
Tapeworm स्फीत कृमि (पुरीषज कृमि)
Hookworm कट्टू दामें (पुरीषज कृमि)
Threadworm सूत्रकृमि (पुरीषज कृमि)

रक्तज कृमि (नसोंमें)

वाह्य कृमि (दाद खाज कोद)



चित्र नं० ७१

इस श्रेणी के कृमियों द्वारा रक्त विकार, चर्म विकार, खालित्य, पालित्य, शीतपित्त, कुष्ठादि विकारों की उत्पत्ति होती है। विषमज्वर (Malaria), आन्त्रिकज्वर-मन्थर ज्वर (Typhoid) लापरक ज्वर (Kalazar) श्वसनक ज्वर (Pneumonia) आदि ज्वर भी इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। शूक अक्षिस्राव, मस्तिष्क सौषुम्निक तरल में पाये जाने वाले कृमियों से क्षय (Tuberculosis) फुफ्फुस विकार, मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर (Meningitis) आदि अनेक रोगों का उत्पन्न होना आधुनिक अन्वेषण द्वारा सिद्ध हो चुका है। अतएव प्राचीन मतानुसार इनको अदृश्य जीवाणु न कहकर दिव्य दृष्टिगम्य जीवाणु ही कहना उचित है क्योंकि प्राचीन साहित्य देखने से इनकी आज भी पुष्टि हो रही है तथा

^१ ते कोष्ठ पिडिका कण्डू गण्डान् प्रकुर्वते।

—वाग्भट्ट निदान १४

^२ हृल्लास समास्थस्रवणम् विपाकमरोचकम्।

मूर्च्छा छर्दि ज्वरानाह काश्य चवथुपीनसान्॥

—वाग्भट्ट निदान १४



शिशु रोगाङ्क

२७७

उसी के अनुसार चिकित्सा करते हुए रोगोन्मूलन में भी काफी सफलता मिल रही है।

(४) पुरीषज कृमि—इन कृमियों का उत्पत्ति स्थान पक्षाशय है। अधिक संख्या में होने पर ये अपने भोजन की तलाश में ऊपर की ओर आमाशय में जाते हैं और बढ़कर मोटे-गोल तथा छोटी या लम्बी आकृति के हो जाते हैं फिर उनकी गति हमेशा नीचे की ओर होती है।

विकृति—इन कृमियों के द्वारा रोगी में मल-भेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रुद्धता, पाण्डुता, रोमांच, अग्निमांघ तथा गुदा में कंड़ के लक्षण मिलते हैं एवं रोगी के आस एवं उद्गार में विष्टा (मल) के समान गंध आती है।

प्रकार—इनके ५ प्रकार देखने को मिलते हैं। [१] ककरुक, [२] सौसुराद, [३] मकरुक, [४] सशूल एवं [५] लेलिह।

नैदानिक प्रक्रियाओं को सुलभ एवं स्पष्ट करने के लिये आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से मुख्य उद्गार कृमियों का निम्न प्रकार से वर्णन जानना अत्यन्त आवश्यक है जो चिकित्सा की दृष्टि से भी बहुत महत्व का है।

गण्डपदकृमि, कैंचुए की बीमारी (Ascariasis)–

यह रोग आन्त्र में कैंचवे के उपसर्ग से होने वाला होता है। इसका कारण बरसाती कैंचवे की तरह का धूसर श्वेत या मैले श्वेत रंग का एक कृमि होता है। इसलिये यह कृमि भी कैंचुआ (Round worm-*Ascaris lumbricoides*) कहलाता है। चरक में भी वर्णन मिलता है कि 'केचिद् वृत्त परि-याहा गण्डपदाकृतयः श्वेतास्ताम्रावभासाश्च।' (चरक) ये चौड़ाई में गोल और मोटाई में १ इंच तक होते हैं। पुरुष कृमि लम्बाई में १० इंच होते हैं उसका पिछला सिरा नुकीला और मुड़ा रहता है। स्त्री कृमि लम्बाई में १२-१६ इंच लम्बा होकर पिछला सिरा सीधा और नुकीला होता है। अगला सिरा नुकीला

किन्तु कुछ थोथा होता है। उस पर तीन गण्ड या ओष्ठ होते हैं और भीतर दांत होते हैं। इससे असंख्य अण्डे प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं और मल के साथ बाहर निकलते हैं। इनकी लम्बाई ७० म्यू और चौड़ाई ५० म्यू होती है। पुरुष कृमि बहुत कम देखने में आते हैं। इसलिये यदि आन्त्र में पुरुष कृमि हो तो मल में अण्डे नहीं मिलते हैं। रोग का संक्रमण पाखाने में निकले हुये अण्डों के द्वारा होता है। कैंचुए अधिकतर बालक, पागल तथा शुद्धता का जिनमें विचार और आचार न हो ऐसी गन्दी आदत वाले व्यक्तियों में पाये जाते हैं।

प्रतोदकृमि (Whip worm—*Trichuris trichuria*, *Tricocephalus dispar*)—

इसका उपसर्ग आन्त्र में होने से उत्पन्न हुआ विकार प्रतोद कृमि रोग कहलाता है। यह कृमि धूसर वर्ण का सिर की ओर $\frac{3}{4}$ हिस्सा तन्तु के समान बहुत पतला, $\frac{1}{4}$ भाग पुच्छ की तरफ का मोटा, चाबुक या घोड़े की भांति शरीर वाला होता है^१। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न भिन्न होते हैं। स्त्री कृमि की संख्या पुरुष कृमि की अपेक्षा बहुत अधिक होती है एवं असंख्य अण्डे (लम्बाई में ५० म्यू और चौड़ाई में २५ म्यू) उत्पन्न करने वाले होते हैं तथा लम्बाई में पुरुष कृमि की अपेक्षा ज्यादा होते हैं। पुरुष कृमि की लम्बाई १॥ से २ इंच होती है। अण्डों के दोनों सिरों गांठदार होते हैं। ये तन्तु सदृश कृमि छुद्रान्त्र के अन्तिम भाग में स्थूलान्त्र और आन्त्रपुच्छ की श्लेष्मल कला में अपने अगले भाग से चिपटे रहते हैं।

तन्तुकृमि (Thread worm—*Enterobius vermicularis*, *Oxyuris vermicularis*)—

यह कृमि सूत के धागे के समान श्वेतवर्ण का

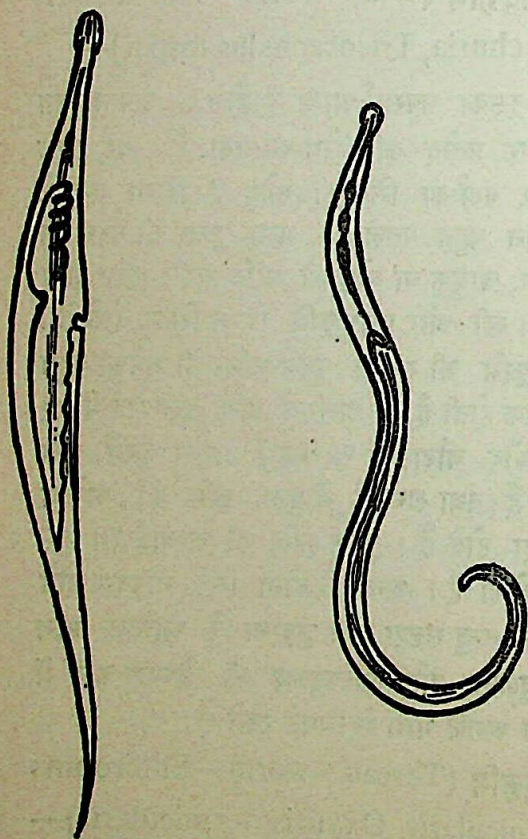
^१ सुश्रुत में वर्णन है कि—

तेषामेवापरे पुच्छेः पृथक्श्व भवन्ति हि ॥

—सुश्रुत



होता है। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न भिन्न होते हैं। चरक में इनका वर्णन है कि 'केचिदणवो दीर्घास्तन्वाकृतयः श्वेताः ॥' चरक ॥ स्त्री कृमि आधा इंच लम्बा, पतला और नोंकदार, पूंछवाला एवं असंख्य अण्डे उत्पन्न करने वाला होता है। पुरुष कृमि उससे आधा थोड़ी गोल और कंटकयुक्त पूंछ वाला होता है। इनके अण्डे दीर्घवृत्त, वर्णहीन, तस्तरी के समान एक तरफ चपटे और एक तरफ उन्नत होते हैं तथा मल में बहुत कम मिलते हैं। इनके ऊपर का कोष पतला और भीतर मुड़ा हुआ भ्रूण होता है। अण्डे गुदा की आसपास की



चित्र नं० ७२—आक्सीयूरिस वर्मीकूलरिस ।

त्वचा पर लगे रहते हैं और कृमि अधिकतर स्थूलान्त्र के प्रारम्भिक भाग में रहते हैं और जुद्रान्त्र के मध्य भाग में भी पाये जाते हैं। स्त्री कृमि

गर्भवती होने पर आन्त्र कुण्डलिका और मलाशय में चली जाती है और इसी कारण रात्रि में गुदा के बाहर आकर वहां पर अण्डे देती है। इस कृमि का उपसर्ग प्रायः बच्चों में होता है।

अंकुशमुख कृमि (Hook worms—Ancylostomiasis)—

यह कृमि गोल, लम्बा, श्वेतधूसर वर्ण का होता है। पुरुष कृमि की लम्बाई ८-११ मिलीमीटर और स्त्री कृमि की १०-१३ मिलीमीटर होती है। मुख का सिरा कुछ नुकीला होता है। मुख में चार अंकुश और दांत होते हैं जिनके द्वारा जुद्रान्त्र की श्लेष्मल त्वचा में चिपटे रहकर रक्त चूसते रहते हैं। एक स्थान से जब पर्याप्त रक्त निर्वाह के लिये नहीं मिलता है तब वे दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। सिर में दो ग्रन्थियां होती हैं जिनसे दंश स्थान पर विषैला पदार्थ स्रवता रहता है। दोनों का पिछला सिरा मोटा और थोथा होता है। पुरुष कृमि में छत्र सदृश चौड़ा होता है। स्त्री कृमि से असंख्य अण्डे उत्पन्न होकर प्रतिदिन मल के साथ उत्सर्जित होते हैं। ये आकार में दीर्घवृत्त ६० म्यू लम्बे और ४० म्यू चौड़े होते हैं। इनके ऊपर चिकना पार्श्वदर्शक पतला कोश होता है जिसके भीतर २-८ कोशाएँ दिखाई देती हैं जिनकी आन्त्र में वृद्धि नहीं होती है।

कृमि के उत्सर्जित अण्डे शरीर के बाहर उष्णता आर्द्रता और वायु की अनुकूल परिस्थिति में १-२ दिन में इल्ली में (छोटे बच्चे के रूप में) परिवर्तित हो जाते हैं। तीसरे दिन उनकी लम्बाई ३०० म्यू होती है। उनके ऊपर एक कठिन आवरण बन जाने से आर्द्रता और छायायुक्त भूमि में करीब ४ माह तक सजीव रह सकती है। इस अवस्था में इनकी लम्बाई ५५० म्यू हो जाती है। यदि उस अवस्था में इनको मनुष्य शरीर में प्रवेश करने का मौका मिल जाय तो वे प्रवेश करके अपने इच्छित स्थान तक पहुंच सकते हैं।

शिशु रोगादिः

इस कृमि के पांच प्रकार हैं, लेकिन इनमें दो ही बड़े महत्व के हैं—

(१) एड्डिलोस्टोमा ड्यूडिनेल (A. Duodenale) और (२) निकेटर अमेरिकन्स (Necator Americans) ।

प्रथम प्रकार का कृमि दूसरे से अधिक लम्बा और मोटा होता है। दूसरे के अन्धे दीर्घवृत्त होने पर भी पहिले की अपेक्षा अधिक लम्बे और पतले होते हैं। उत्तर भारत में प्रथम प्रकार और दक्षिण भारत में दूसरा प्रकार अधिक होता है।

पट्ट या स्फीत कृमिरोग (Tapeworm — Taeniasis)—

यह रोग अनेक फीते के समान चपटे लम्बे कृमियों के उपसर्ग से होता है। इस परिवार में अनेक कृमि हैं। इनके कोष्ठ गाय, भैंस, सूअर, बिल्ली, कुत्ते, भालू, लोमड़ी, नौला, मछली, चूहे आदि के शरीर में मिलते हैं। भारतवर्ष में यह कृमि नहीं मिलता है। इन जानवारों का मांस खाने से उपसर्ग मनुष्य के आन्त्र में प्रवेश कर कृमि की उत्पत्ति करता है। इसका उपसर्ग नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड, साइबेरिया, चीन, जापान, अफ्रीका, अमेरिका में होता है। इन कृमियों के परिमाण में बहुत अन्तर होता है। कुछ कृमि अत्यन्त छोटे तथा कुछ अत्यन्त बड़े होते हैं। इनके उपसर्ग से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। इनका संचयकाल (I. P.) ३-४ मास है। रक्त परीक्षा में प्रायः श्वेत काया-गुणों की वृद्धि (Leucocytosis) विशेषकर एबोसिनोफिलिया (Eosinophilia) की वृद्धि मिलती है। किसी किसी कृमि के उपसर्ग में मल परीक्षा में कृमि के खंड (Segment-gravid proglottids) मिलते हैं तथा अन्य में अन्धे मिलते हैं। क्योंकि इनके अन्धे भारी होने के कारण परम-बल लवण घोल पर तैरते नहीं किंतु नीचे चड़े जाते हैं। जब इनका सिर आन्त्र से निकल जाय तभी समझना चाहिये कि रोगी रोग-

मुक्त हो गया अन्यथा सिर आन्त्र में रह जाने पर इनके शरीर की पुनः वृद्धि होने लगती है। इसलिये रोगी को विशिष्ट औषधि लेने के २४ घंटे पश्चात् तक मल का निरीक्षण करना चाहिये।

टीनिया सौलियम (Teania solium)—

टीनिया सौलियम के कोष्ठ प्रकृति में सूअर के मांस में मिलते हैं परन्तु कभी कभी इसके अन्धे भोजन द्वारा मनुष्य की आन्त्र में प्रवेश करने पर मनुष्य के शरीर में कोष्ठ बना सकते हैं। अन्धे आन्त्र में पहुँचकर भ्रूण उत्पन्न करते हैं। ये भ्रूण (Embryo) मनुष्य के शरीर में विशेषकर मस्तिष्क में जाकर कोष्ठ बन जाते हैं और आक्षेप आदि लक्षण होते हैं। ये कोष्ठ टीनिया सौलियम, टीनिया सेजिनाटा तथा टीनिया ऐकोनीकोकस के मिलते हैं। टीनिया ऐकोनीकोकस के कोष्ठ से बने रोगों को कृमिकोष्ठपुञ्ज (Hydatid) कहते हैं। ये प्रायः यकृत में बनते हैं।

कृमियों की उत्पत्ति के कारण —

१-वस्त्रादि एवं शारीरिक अस्वच्छता के कारण स्वेदज कृमियों की उत्पत्ति होती है। शारीरिक उष्णता से स्वेद की उत्पत्ति होती है आंतरिक मूल बाहर निकलता है उसीसे इनकी उत्पत्ति होती है।

२-मांस मछली गुड़, दूध, दही तथा सिरके से कफज कृमियों की उत्पत्ति होती है।

३-विरुद्ध भोजन जैसे मछली तथा दूध आदि के सेवन से एवं भोजनोपरांत पुनः भोजन करने से रक्तज कृमियों की उत्पत्ति होती है।^१

४-उद्द पिष्टमय पदार्थ, अम्ल तथा लवणरस बहुल पदार्थ गुड़ तथा शाक इनके सेवन से पुरीषज कृमियों की उत्पत्ति देखी गई है।^२

१ माषपिष्टाम्ल लवण गुडशकैः पुरीषजा ।

मांसमत्स्य गुड क्षीर दधि शुक्तैः कफोद्भवाः ॥

२ विरुद्धाजीर्ण शोकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ।

आधुनिक विज्ञान के दृष्टि-
कोण से कृमि के उत्पत्ति कारणों
का समान्य रूप से यही सर्वत्र
वर्णन मिलता है—

[१] जल द्वारा—अशुद्ध जल
का सेवन-स्थिर जल वाले तालाब
या नहर में स्नान करने से।

[२] भोजन द्वारा—कच्ची
सड़ी गली शाक सब्जियों के सेवन
से, मांसादि विरुद्ध भोजन से,
कच्चे गन्दे खाद्यों के सेवन से
कृमि उदर में पहुँचते हैं और वहाँ
वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

[३] वस्त्र नाखून मलमूत्र हाथ
मुँह एवं कृमिग्रस्त बालक बालि-
काओं तथा पुरुष महिलाओं के
माध्यम से मक्खियों मच्छरों व
पिस्तू के द्वारा कृमियों का एक
स्थान से दूसरे स्थान पर एक से
दूसरे में संक्रमण एवं प्रसरण
होता है। कृमि के अंडे बच्चे के
घुटने चलने से एवं फर्श पर
लोटने व खेलने से उनके शरीर में
लग जाते हैं और नाखूनों द्वारा
खुजाने से स्थानान्तरित हो जाते
हैं। रक्तवह तथा रसवह संस्थान
द्वारा संक्रमण कर वृद्धि को प्राप्त
होते हैं।

चिन्ह तथा लक्षण—

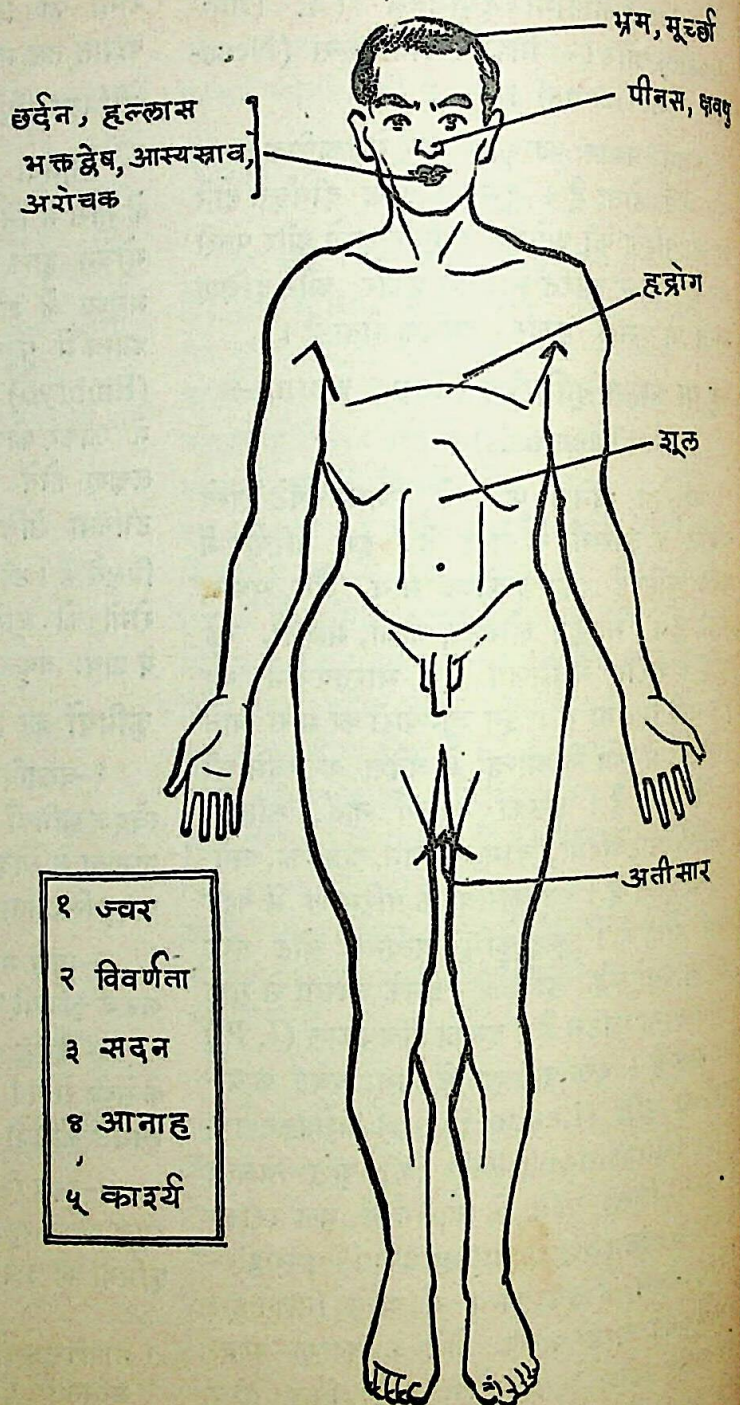
[१] ज्वर—Fever.

ज्वरो, विवर्णता, शूलं हृद्रोगः
सदनं त्रयः।

भक्त द्वैषोऽतिसारश्च संज्ञात
कृमि लक्षणम्॥

—सु० उ० १४

संज्ञात कृमि लक्षण



- | |
|------------|
| १ ज्वर |
| २ विवर्णता |
| ३ सदन |
| ४ आनाह |
| ५ काश्य |

चित्र नं० ७३

[२] विवर्णता—Discolouration of the skin & face, odema of the feet & Ankles, anaemia.

[३] शूल—Colic, constipation, diarrhoea.

[४] हृदय रोग—Heart disease (Dyspnoea, palpitation of the heart)

[५] अङ्गों की शिथिलता—Pernicious anaemia.

[६] भ्रम—The patient may be stunted physically & mentally & in some cases anaemia may be severe.

[७] भक्तद्वेष—खाने में अरुचि (Loss of Appetite)

[८] अतिसार—Dysentery, Diarrhoea.

इन उपरोक्त लक्षणों एवं चिह्नों की पुष्टि आधुनिक विज्ञान शास्त्र में—Human Parasitology में वर्णित है। (देखें चित्र ७३)

निदान -

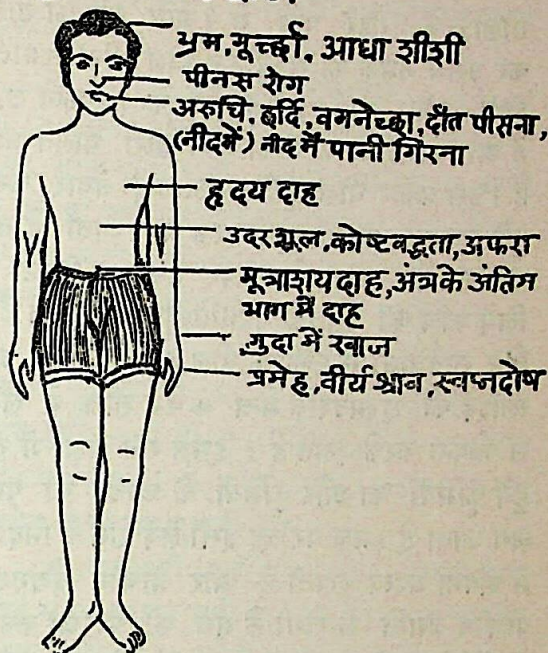
(क) मल परीक्षा द्वारा—

कृमियों के अपने कोई खास लक्षण नहीं होते, जिनको देख कर उनका निदान किया जा सके। रोग निदान का एकमात्र साधन मल परीक्षा है। मल में कृमियों का निश्चय दो प्रकार से संभव है। एक तो उसमें स्वयं कृमि और उनके पर्व दिखाई पड़ें और दूसरा उपाय मल में प्राप्त हुये कृमि अण्डों का सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा प्रत्यक्षीकरण हो।

(१) कृमियों को देखने के लिये रोगी को रात्रि में तीव्र विरेचन चूर्ण या Saline purgative

इस्तेवास आस्यसंख्यणमरोचकाविपाकौ ज्वरो मूर्च्छा कुम्भा चवधुतानाहोऽङ्गमर्दश्छर्दिः कार्यं पारुष्यं चेति।
पुरीषमेदः कार्यं पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वर्तनं च, त एव चास्य गुदमुखं परितुदन्तः कण्डू चोपज्जनयन्तो गुदमुखं पर्यासते, त एव जातहर्षा गुदनिष्क्रमणमतिबलं कुर्वन्ति।

कृमि के लक्षण



चित्र नं० ७४

दे देते हैं। प्रातःकाल या रात्रि में मल त्याग के समय मल के साथ बाहर निकलते हुये कृमि और पर्व स्वयं दिखाई देने लगते हैं।

(२) छोटे छोटे कृमि अण्डों का प्रत्यक्षीकरण एवं निश्चयकरण बिना सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा नहीं हो सकता है अतः उनके प्रत्यक्ष के लिये निम्न विधियां काम में लाई जाती हैं। अण्डों को देखने की दृष्टि से मल का गाढ़ा होना हितकर होता है। अतः इस विधि में विरेचन का कोई प्रयोग नहीं करना चाहिये।

[A] प्रथम विधि—Simple smear में जल द्वारा मल को बहुत पतला करके उसे एक कांच की पटरी (Slide) पर बहुत पतला लगा देते हैं और उसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के कम शक्ति के लेंस द्वारा देखते हैं। इससे सबका पता लग जाता है।

(B) द्वितीय विधि—विलीज मेथड (Willis method) के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत उत्तम



एवं प्रचलित विधि है। किसी आधे औंस (१ तोला) के गहरे पात्र में १ ग्राम मल को डालकर उसमें नमक का सच्युरेटेड घोल [Saturated salt solution] को बूंद बूंद करके डालते जाते हैं और शीशे या कांच की नली द्वारा घोलते जाते हैं। इस प्रकार घोल [Emulsion] तैयार करते हुये जब वह पात्र किनारों तक भर जाता है तब उस पात्र के घोल के ऊपर ५-१० मिनट के लिये कांच की स्लाइड [Slide] को रख देते हैं। फिर सावधानी से एकाएक घोल न गिराते हुये उस स्लाइड को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के कम शक्ति के लेंस से फोकस करके देखते हैं। इससे सब मल में रहे हुये कृमियों का और कृमियों के अण्डों का पता लग जाता है। मल परीक्षा इसीलिये रोग के निदान में अपना महत्व रखती है और प्राचीन वैद्यगण, प्राचीन जमाने में रोगी के मल की परीक्षा कच्चे पक्के मल को पानी में प्रत्यक्ष देखते हुये और कृमियों के प्रत्यक्षीकरण के लिये करते ही रहे थे एवं अभी भी करते आ रहे हैं जिसका कि महत्व आजकल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा विशेष स्पष्ट हो रहा है।

रक्त परीक्षा—

रक्तगत उषसिग्रियों (Eosinophils) की बढ़ती हुई संख्या को खून परीक्षा द्वारा देखकर कृमियों के उपसर्ग का ज्ञान किया जा सकता है लेकिन यह विधि निश्चयात्मक नहीं है।

साध्यासाध्यता (Prognosis)—

कृमिग्रस्त रोगियों की चिकित्सा सुसाध्य है। लेकिन कृमियों का उपद्रव यदि मस्तिष्क में देखने को मिलता है अर्थात् मस्तिष्कगत कृमि यदि हैं और उससे रोगी को काफी तकलीफ हो रही हो तो ऐसे लक्षण में कृच्छ्रसाध्य ही है और फिर तो असाध्य ही समझना चाहिये।

सम्प्राप्ति—

कृमि रोग में जो विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं उनकी सम्प्राप्ति निम्न प्रकार की होती है—

(१) स्थानिक प्रक्षोभ [Mechanical irritation]—कृमियों के अवस्थान से महास्रोत के प्रक्षोभ उत्पन्न होकर उससे जी मचलाना, वमन, प्रवाहिका, बेचैनी, पीड़ा, शूल, गुदकण्डू इत्यादि पचन संस्थान के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण न्यूनाधिकस्वरूप में प्रायः सब आन्त्रस्थ कृमियों के उपसर्ग में होते हैं परन्तु कैंचुवे में अधिक दिखाई देते हैं।

(२) प्रत्याक्षिप्त क्रिया [Reflex action]—आन्त्रिक प्रक्षोभ का परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होकर तद् द्वारा आक्षेप, अपस्मार जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह विकृति अधिकतर बालकों में तथा अस्थिर स्वभाव वाले जवान मनुष्यों में और गण्डूपद कृमि के उपसर्ग में दिखाई देती है।

(३) मार्गावरोध [Obstruction]—कृमियों की उपस्थिति के कारण कभी कभी महास्रोत का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। कभी कभी कृमि स्थानान्तर करके शरीर की अन्य प्रणालियों को भी अवरुद्ध किया करते हैं। यह विकृति गण्डूपद कृमियों के उपसर्ग में दिखाई देती है।

(४) भ्रमण—कैंचुआ आन्त्र से सम्बन्धित अनेक अङ्गों में जाकर स्थानिक विकृतियां किया करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी और अंकुश कृमि की इलियों जब फुफ्फुसों में से होकर आन्त्र में आया करती हैं तब अनेक बार उनमें भी बिकार उत्पन्न किया करती हैं। जैसे फुफ्फुस पाक (Pneumonia), रक्ताल्पता (Anaemia)-बालक में रक्ताणुओं के नष्ट होने से

(५) रक्तनाश—कृमि अपने अंकुशों से या चूषकों से आन्त्र की श्लेष्मकला में चिपट कर रक्त चूसते रहते हैं। कभी कभी ये गहराई में जाकर रक्तवाहिनी को खोलकर उससे रक्त ग्रहण करते हैं। जब एक स्थान से उनको पर्याप्त रक्त नहीं मिल पाता है तब वे उस रक्तहीन स्थान को छोड़कर रक्त वाले अन्य स्थान में जा चिपकते हैं। इस प्रकार कृमियों

द्वारा रक्त चूसने से तथा त्यक्त स्थानों से रक्त और लसिका का स्राव जारी रहने से रक्तनाश होता है। जिसके फलस्वरूप रक्तक्षय (Anaemia) और पाण्डुता तथा स्थानिक लक्षण भू-विचर्चिका (Ground itch) उत्पन्न होते हैं। यह विकृति अंकुश कृमि के उपसर्ग में विशेषतया दिखाई देती है।

(६) विष, विषमयता (Toxins-toxaemia)—कृमियों से कुछ विष भी बनता है जो शरीर में जाकर अनेक लक्षण उत्पन्न करता है। मछली के स्फीत कृमि से जो रक्तक्षय उत्पन्न होता है वह उसके विष का प्रभाव माना जाता है। बचपन में अंकुश कृमि का उपसर्ग होने से शरीर की वृद्धि मलीभांति नहीं हो पाती है। यह परिणाम भी उसके विष के प्रभाव का ही है। इसके अतिरिक्त एसिनोफिलिया (Eosinophilia) शीतपित्त इत्यादि अलर्जी (Allergy) लक्षण भी विष के कारण ही हुआ करते हैं।

चिकित्सा (Treatment)

इसकी चिकित्सा का मूल सिद्धांत यह है—
कि 'निदानम् परिवर्जनम्'

"Prevention is better than Cure"

यह दो प्रकार से संभव है।

[१] एक तो बालकों के लिये दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नित्य की क्रियायें जैसे स्नान वस्त्र शय्या शौचादिके सम्पर्क में आने पर स्वच्छता से रहना रखना एवं यदि कोई संक्रमण हो गया हो तो उससे खुद बचना एवं दूसरों को बचाना एवं संक्रमण दूर करने का तात्कालिक उपाय करना।

[२] दूसरे बालकों के जीवन के मुख्य एवं महत्वपूर्ण स्वच्छ एवं पौष्टिक तात्विक अंश को भोजन में प्रदण करवाना।

कृमि से उपसृष्ट जो भी बालक रहते हैं उनके इतस्ततः मल त्यागने से भूमि और जल दूषित होकर ज्वर रोग का प्रसार होता है इसलिये रोग प्रति-

बन्धन के लिये निम्न उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

(१) उपसृष्ट बालकों की चिकित्सा—जहां पर यह रोग जारी होता है (जैसे चाय काफी कोको केला नींबू मांसभक्षी) वहां के बालकों व लोगों के मल का परीक्षण करके उपसृष्टों का पता लगाकर बराबर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये तथा देशांत-गमन करने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये।

(२) शौचस्थानों का उपयोग—इतस्ततः मल त्यागने की आदतों को सुधारकर मलतोसर्जन के लिये दोषिकटंकी (Septic Tank) के या: नालीदार (Bored hole) के शौच स्थान बनाकर उनका प्रयोग किया जाना चाहिये।

(३) पादत्राणों (जूतों) का प्रयोग—घरके बाहर जाते समय बराबर जूतों का उपयोग करना चाहिए जिससे कृमि के उपसर्ग से बचने में काफी सहायता मिलती है।

(४) जल, दूध, साग, फल इत्यादि को उबाल कर तथा अच्छी तरह धोकर सेवन करना चाहिये। मांस भक्षण करना बन्द कर देना चाहिये।

(५) रोग से बचने के लिये बच्चों को स्वच्छ आदतें सीखनी चाहिये। नाखून ठीक से काटना, दांत से नाखून को न काटना, गुदादि गंदे स्थानों को नहीं खुजलाना, पाजामा चट्टियां आदि पहनने का सोते उठते बैठते प्रबन्ध रखना, भोजन के पूर्व हाथों को ठीक से धुलाना गुदा के सम्पर्क में आने वाले बच्चों को प्रतिदिन साबुन से धोना, प्रतिदिन स्नान कराना, शय्या आदि की चादर बच्चों को प्रतिदिन गरम जल में उबालना, धोबी को देकर भट्टी पर चढ़वाकर धुलवाना, मल परित्याग करने के पश्चात् गुदा तथा हाथों को साबुन से ठीक साफ करवाना आदि साधारण स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धांतों पर चलाकर बच्चों को उदर कृमियों के उपसर्ग से बचाना आवश्यक है।

संक्षेप में कृमि रोग से बचने के लिये शारीरिक एवं व्यवहारिक स्वच्छता रखना अत्यन्त आवश्यक



है। शारीरिक स्वच्छता में बच्चों बालों, नाखूनों, हाथों दांतों, मुख तथा गुहांगों का विशेष रूप से स्वास्थ्य सिद्धान्तानुसार ध्यान रखना चाहिये। यदि परिवार में एक भी व्यक्ति को कृमि रोग हो गया हो तो सभी की चिकित्सा करना कराना उचित है अन्यथा संक्रमण पुनः एक दूसरे से होता चला जायेगा और रोग निवृत्ति संभव नहीं होगी।

आंत्रस्थ कृमियों का प्रधान चिकित्सा-सूत्र—

अपकर्षणमेवादौ कृमिणां भेषजं स्मृतम्।

ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्॥

—चरक वि० अ० ७ श्लोक ३१

बसनं विरेचनमास्थापनं च, इत्यपकर्षण विधिः।

—चरक

प्रकृति विघातस्त्वेषां कटुतिक्त कषाय चारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः॥चरक॥

चिकित्सा करते समय ध्यान देने योग्य बातें—

कृमिसृष्ट रोगी की चिकित्सा २ प्रकार से की जाती है। (१) कृमि हरण (२) शोणित वर्धन। इसमें यह देखा गया है कि केवल कृमियों का नाश करने से रक्त की स्थिति में आपसे आप जल्दी सुधार नहीं होता है अतः रक्तक्षय की चिकित्सा भी करना आवश्यक हो जाता। यदि रक्तक्षय अधिक हो तो प्रथम शोणित वर्धन करके पश्चात् हरण चिकित्सा करना उचित रहता है। केवल एक प्रकार की चिकित्सा पर्याप्त लाभप्रद सिद्ध नहीं हो पाती है किन्तु इस सिद्धान्त को भी नहीं भूल जाना चाहिये कि कृमि पेट में रहने पर भी रक्तक्षय की चिकित्सा करने से रोगी की स्थिति में सुधार तो हो जाता है फिर भी पुनः स्थिति खराब हो जाया करती है अतः प्रथम कृमियों का अपकर्षण करके पश्चात् रक्तक्षय की चिकित्सा करना आवश्यक होता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उदर कृमियों की चिकित्सा में प्रायः जो औषधियां प्रयोग की जाती हैं वे

विषाक्त होती हैं और साथ साथ विरेचक (Purgative) औषधियों के कारण रोगी बालक अत्यन्त दुर्बल हो जाते हैं इसलिये रोगी को पौष्टिक आहार प्रोटीन (Protin), जीवतिक्तियां (Vitamins A, B, C, D, E.) कैल्शियम (Calcium) ग्लूकोज (Glucose) क्षार (Alkali) तथा अमायनोएसिड (Aminoacid) आदि देकर यकृत को विकृत होने से बचाना आवश्यक है। कभी कभी रोगी को अल्प मात्रा में औषधि देने से कृमि क्रियाशील हो जाते हैं और रोगी बालकों को महान कष्ट होता है इसलिये औषधि को अवस्थानुसार पर्याप्त मात्रा में देना अच्छा है। विशिष्ट चिकित्सा का क्रम समाप्त होने के एक सप्ताह पश्चात् दो या तीन बार लगातार मल परीक्षा कर कृमि के अण्डों की उपस्थिति मल में रहती है या नहीं देख लेना चाहिये। आवश्यकतानुसार पुनः विशिष्ट औषधि का प्रयोग करना चाहिये। इन औषधियों के देने के पश्चात् रोगी बालक को बिस्तरे पर आराम से रखना उचित है। रोगी को मलोत्सर्ग एक पात्र में करके जो पानी से आधा भरा हो। इसमें कृमियों को ढूँढ़ना चाहिये। यदि कृमि का सिर मिल जाय तो फिर औषधि देने का आवश्यकता प्रायः नहीं रहती है।

कृमि रोग चिकित्सा में सबसे प्रथम कृमियों को निकालने के लिये औषधि प्रयोग द्वारा यथा विधान विवेचन एवं आस्थापन विधि द्वारा अपकर्षण क्रिया काम में ली जाती है। दूसरी विधि कृमियों का प्रकृति विघात है जो कटु तिक्त कषाय और चार तथा उष्ण द्रव्यों के प्रयोग से किया जाता है। यहां पर प्रकृति से कारण का तात्पर्य भी निकलता है। कफ और पुरीष दोनों कृमि के उत्पन्न होने एवं निवास करने में कारण हैं अतः ये दोनों दूषित हुये हुये ही कारण होते हैं। इनका नाश या प्रतिकार करना विघात कहलाता है। अपकर्षण से उत्पन्न हुये हुये कृमियों को निकाल सकते हैं। परन्तु यदि कारण का नाश नहीं किया जाता

है तो वे कृमि पुनः उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि कारण के रहने पर कार्य अवश्यम्भावी है। अतएव अपकर्षण के पश्चात् प्रकृति विघात करना चाहिये।

तात्पर्य यही है कि सर्व प्रथम कृमियों का मूर्च्छन करना चाहिये अथवा कृमिघातक चिकित्सा करनी चाहिये। तदनन्तर कृमिपातन चिकित्सा करनी चाहिये। कृमिपातन के लिये अर्वाचीन चिकित्सा पद्धति में लवण विरेचकों (*Mag. Sulph. Mixtures*) का प्रयोग होता है। और प्राच्य चिकित्सा शास्त्र में एरण्ड तैल या जायफल तैल के प्रयोग का विधान मिलता है।

वस्ति प्रयोग (*Enema*)^१ का उल्लेख दोनों मतों से सम्मत एवं आशुलाभकारी माना गया है।

कृमिनाशक औषधियों के प्रयोग के पूर्व यथेष्ट-मात्रा में गुड़, पिंड खजूर या छुहारों का प्रयोग करना चाहिए जिसके खाने के लिये कृमियों को स्वस्थान छोड़कर आमाशय की ओर आना पड़ता है और लगभग ३ घंटे बाद औषध का प्रयोग कराया जाता है जिससे एकत्रित हुये कृमियों पर उसका प्रभाव हो और वह मूर्च्छित हो जाय। कृमि मूर्च्छन के अनन्तर कृमिपातन विधि के लिये तीव्र विरेचनों (*Drastic purgatives e. g. Saline*) का प्रयोग उत्तम माना गया है। इस प्रकार के विरेचन से मूर्च्छित हुये कृमि मल मार्ग से विसर्जित हो जाते हैं अर्थात् बाहर निकल जाते हैं।

^१वस्ति का प्रयोग कृमिनाशक द्रव्यों यथा कासा (*Quasia*) की लकड़ी या लवण जल (*NaCl*) का घोल अथवा साबुन तथा पानी के सम्मिश्रण से बने घोल द्वारा प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त *Hexyl resorcinol* २ ग्रैन को १० औंस जल में घोलकर अथवा टैनिन एसिड (*Tannic acid*) १ प्रतिशत या तृतीया (*Copper sulphate*) ०.०५ प्रतिशत का भी एनीमा लगा सकते हैं। अन्य औषधियां देने के पूर्व अथवा पश्चात् भी एनीमा द्वारा चिकित्सा कर सकते हैं।

आयुर्वेद में कम्पिलक^१ (*Kamala-कबीला*) को कृमिघ्न और विरेचक औषधि वर्णित किया है और प्रत्यक्ष में इससे कृमि विकार में काफी लाभ होता हुआ पाया गया है। इसके लिये रोगी को पूर्व कर्म और पश्चात् विरेचन कर्म कराने की जरूरत नहीं होती है और सौम्य होने से बालक और दुर्बल रोगियों में काफी उपयोगी होता है। मात्रा-२-३ ड्राम गुड़ दूध या मधु के साथ।

आयुर्वेद में पारसीक यमानी^२—कृमिघ्न चोर यमानी या किरमार्गी (*Artemisia Maritima*) का पुष्प चूर्ण प्रयुक्त होता है। सेंटोनीन (*Santonin*) इसी वृक्ष के फूलों से निकाला जाता है। चूर्ण सस्ता और उतना ही कार्यकर होता है। बच्चों के लिये चूर्ण की मात्रा १०-२० ग्रैन और जवानों के लिये ३०-६० ग्रैन होती है। इसके सेवन के समय पूर्व एवं पश्चात् दोनों कर्म करवाना आवश्यक है। अर्थात् औषधि देने के एक दिन पूर्व कृमिबर्धक पदार्थों यथा तिल, गुड़, दूध, दही, मत्स्य, मिष्ठान आदि का भोजन करावे जिससे कृमि कोष्ठ में निकल आवें फिर इस के दूसरे दिन प्रातः विरेचन दें।^३

- १ कम्पिलक को विरेचीत्यात् कटूष्णो व्रण नाशनः ।
गुल्मोदर विबन्धाध्म श्लेष्म कृमि बिनाशनः ।
कम्पिल चूर्ण कर्षार्थं गुडेन सह भक्षितम् ।
पातयेत्तु कृमीन सर्वाणुदरस्थान्न संशयः ॥

—भावप्रकाश

- २ पारसीकयवानिका पीता पर्युषित वारिणा प्रातः ।
गुड पूर्वा कृमिजातं कोष्ठगतं पातयस्याशु ॥

—चक्रदत्त

- ३ सेंटोनीन (*Santonin*)—

यह कैचुओं के लिये अचूक औषधि है। जवानों के लिए १-३ ग्रैन स्वास्थ्य के अनुसार बालकों के लिए चौथाई ग्रैन प्रत्येक वर्ष के पीछे। यह एक तेज औषधि होने से खाली पेट कभी न दें एवं मल परीक्षा द्वारा कैचुए के उत्सर्ग का ठीक निदान होने पर ही इसका उपयोग करें। इसके देने के पूर्व २४ घण्टे रोगी को हलका तरल आहार देना चाहिए और एक बार विरेचन भी दे दिया



दाडिमत्वक् अनार का दाना—मूल या स्कन्ध की छाल स्फीत कृमि (Tape worm)—जो भारत वर्ष में नहीं पाया जाता या बहुत कम अंश में मांस मछली, सूअर का मांस खाने वालों में देखा गया है, के लिये बहुत अच्छी साबित हुई है। वैसे सभी कृमिरोगों में देते हैं। मूलत्वक् में क्षार (Alkaly) की राशि अधिक होने के कारण अधिक गुणकारी होती है। त्वक् में पेलेटिरिन (Pelletierine) नामक कृमिघ्न क्षाराम्ल रहता है।

पैलेटिरिन टेन्नेट (Pelletierine Tannate)—यह औषधि अनार से ही बनी है इसकी ३ से ४ रत्ती औषधि मद्य (Alcohol) में घोलकर एक बार अथवा ३-४ बार में विभाजित कर एक मात्रा प्रति घंटे रोगी को देना चाहिये। दो घण्टे पश्चात् कोई विरेचन चूर्ण या मैगसल्फ (Magsulph) २-४ ग्राम देना चाहिये।

^१ अनार के वृक्ष की जड़ का छिलका ३ से ४ १/२ औंस (८ से १० तोला) लेकर २० से ४० तोले जल में भिगोकर १२ घण्टे रखना चाहिये। पश्चात् उबालना

जाय तो अच्छा है।

सैन्टोनिन २ ग्रैन, कैलोमल ६ ग्रैन तथा सोडाबाईकार्ब १० ग्रैन।

उपयुक्त मात्रा सोने के पर्व रात्रि में दें।

इस औषधि के साथ कैलोमल (Calomal) मिला देने से इसकी कृमिघ्न शक्ति विशेष बढ़ जाती है। १-२ सप्ताह के बाद दूसरी बार इसका प्रयोग करने से प्रायः उदरस्थ केंचुओं का निर्मूलन हो जाता है।

इस औषधि को १-३ ग्रैन की मात्रा में २-४ ग्रैन कैलोमल मिलाकर बच्चों को चीनी के साथ रात के ६ या १० बजे कृमियों को मूर्च्छित करने को दिया जाता है। दूसरे दिन सुबह ६ बजे विरेचनार्थ मैगसल्फ (Magsulph) ३ से ४ ग्राम की मात्रा में पानी में घोलकर दिया जाता है जिससे सारे मूर्च्छित कृमि बाहर निकल जाते हैं।

^१ दाडिमत्वक् कृतः क्वाथस्ति तैलेन संयुतः।

त्रिदिनात्पातयेत्येवं कोष्ठ कृमि जालकम्॥

—योगरत्नाकर

चाहिये और जब जल की मात्रा आधी रह जाय तब छानकर तीन मात्रा बराबर प्रति ३ या १ घण्टे के अन्तर से देना चाहिये। अन्तिम मात्रा के एक घंटे पश्चात् विरेचन चूर्ण या मैगसल्फ ३-४ ग्राम देना चाहिये। इस प्रकार इससे कृमि निष्कासन एवं मूर्च्छन करने में काफी लाभ होते देखा गया है।

काशीफल का बीज (Pumpkin Seeds)—बीज ताजा १-४ औंस (२॥ से १० तोला) लेकर उनको कुचलकर काफी पानी और चीनी के साथ मिलाकर दिये जाते हैं। पूर्व कर्म और पश्चात् विरेचन दिया जाता है। यह औषधि बिषैली नहीं है और केंचवे (Round worm) के ऊपर भी कार्य करती है इसलिये बालक दुर्बल वृद्ध और गर्भिणी इनको तथा जिनको सेन्टोनिन आदि विषैली औषधियों से फायदा नहीं होता है उनको भी बिना भय के देते हैं। लाल कोंहड़े के बदले सफेद कोंहड़े (पेठा) के बीज का भी उपयोग किया जाता है।

इसी तरह तरबूजे के बीज (Melon Seeds) कृमियों के विकार में औषधि रूप में काम में लाते हैं। बीजों का छिलका निकाल कर रोगी को १०-२० औंस की मात्रा में खिलाया जाता है तथा २ घण्टे पश्चात् विरेचन दिया जाता है।

शास्त्रोक्त कृमिघ्न औषधियों के योग—

यथास्थान उनका वर्णन देखकर उपयोग में लाना चाहिए—

क्वाथ—मुस्तादि क्वाथ, कृमिघ्न काथ (र. त. सा.)

उपयोग—(१) कृमिमुद्गर रस ३ रत्ती, नवा-यस लौह ३ रत्ती, शंख भस्म ३ रत्ती—३ मात्रा मधु के साथ।

(२) बिडंगासब १ १/२ तोला दो मात्रा समजल के साथ भोजन के बाद।

(३) पलाश बीजादि चूर्ण १ माशा, आरोग्य बर्धनी १ गोली मिलाकर १ मात्रा रात्रि को गुड़ के साथ।

चूर्ण—काम्पिल्ल चूर्ण पलाश बीजादि चूर्ण

पाराशीयादि चूर्ण विडंगादि चूर्ण (शाङ्गधर) पला-
शादि चूर्ण (शाङ्गधर) ।

आसवारिष्ट—विडंगासव विडंगारिष्ट रक्त-
शोधकारिष्ट (शाङ्गधर)

सार—कचनारसार नीमसार वचसार ।

तैल—विडंगाद्यतैल, वृहद् सोमराजी तैल का
स्थानिक प्रयोग

वटी—कम्पिल्लादि वटी (भै. सार. संग्रह)
कृमिघ्न गुटिका (र. तं. सा.) कृमिघातनी गुटिका
(आ. वे. प्र.) वृद्धि बाधिकावटी (भै. र.)

भस्म—ताम्रभस्म, पित्तलरसायन

रस—उदरघ्न (भै. र.), कीटमर्दरस (रसे.
सा. सं.), कृमिकुठार रस, कृमिमुद्गर (भै. र.),
कृमिहर रस (नारायण विलास), मुस्तादियोग (सिद्ध
योगसंग्रह), योगराज रस, कृमिघ्न रस (रसेन्द्रसार
संग्रह), कृमिकालानलरस, कीटारिरस, कृमिविध्वंसन
रस (रसायन संग्रह), उदरजन्तुविध्वंस (रस सागर)

लौह—विडंगादि लौह

घृत—विडङ्ग घृत (चक्रदत्त)

आधुनिक विज्ञानोक्त कृमिघ्न चिकित्सा—

- [१] कार्बन टेट्राक्लोरो (*Carbon Tetrachlor*)
- [२] टेट्राक्लोरो एथिलीन (*Tetrachlor Ethylene*)
- [३] सैन्टोनीन (*Santonin*)
- [४] हेक्सेमिल रीसोरसीनाल (*Hexyl Resorcinal Crystloids S. D.*)
- [५] एन्टीपार शर्बत (*Antipar Syrup B. W. & co.*)
- [६] एन्टासिल (*Entacyl B. D. H*)
- [७] डायफेनीनम (*Diaphenenum B. P.*)
- [८] मीथिलीन ब्लू (*Methylene Blue*)
- १—बूटालोन (*Butalon*) ('Ba')
- २—निक्सोलान (*Nyxolan H. H. D.C.*)
- [९] जैन्शियन वायोलेट (*Gentian Violet*)
- मेरोक्सिल (*Meroxl-wan*)
- [१०] हेट्रोजान (*Hetrozon*)

[११] हैलमासिड शर्बत (*Helmacid Syrup*)

[१२] फीलिक्समास (*Filoxmas*)—यह दो प्रकार
का होता है । तरल सत्व तथा शुष्क सत्व
(१) *Ext. Filicis liq.* ६० बूंद से १२० बूंद
(२) *Aspidium Oleoresin* ६० से ७५ ग्रैन

[१३] थाइमोल (*Thymol*)

[१४] चीनोपोडियम तैल (*Oil Chenapodium*)

[१५] टेट्राकैप (*Tetracap ICI*)

इन उपरोक्त औषधियों की मात्रा, प्रयोग विधि
एवं विशेष ज्ञातव्य बातें इन पर लिखे गए लिटरे-
चरों को पढ़कर यथास्थान ज्ञात करें । यदि मैं इन
औषधियों की पूरी पूरी प्रयोग विधि लिखूँ तो लेख
काफी विस्तृत एवं लम्बा हो जायेगा ।

स्थानिक उपचार—

गुदादि गुह्य अङ्गों की बाह्य त्वचा में उत्पन्न
हुई कण्डू पर कृमिनाशक तैल जैसे बिड तैल,
महामरिच्यादि तैल, कण्डूघ्न तैल या कृमिहर तैल,
मलहर जैसे कैलोमल का १० से २० प्रतिशत का
हाइड्रार्ज अमोनियटा का २ से ३ प्रतिशत का मल-
हर लेप, धूआदि का प्रयोग यथावश्यक संभव उपायों
द्वारा किया जाता है । कृमिब्रण के कारण पीड़ा होने
पर न्यूपरकेन पेन्टोकेन नोवोकेन अथवा एन्थासान
की २ से ५ प्रतिशत की मलहर काम में लाई जाती
है । कहीं कहीं जर्मेक्स एवं स्केवेजीन की मलहर भी
लाभकारी सिद्ध हुई है । स्वयं अनुभूत प्रयोग निम्न
प्रकार से हैं—

कृमिघ्न क्वाथ—अनार की जड़ की ताजी छाल के
टुकड़े कूटे हुए ५ तोला, पलाश बीज का चूर्ण ६
माशा, वायबिडङ्ग का चूर्ण १ तोला और जल १
तोला लें । सबको मिलाकर ढक्कनदार कलई के बर्तन
में १॥ घण्टा तक आधा जल शेष रहने तक उबाल
लें फिर शीतल होने पर छानकर बोतलों में भरलें ।

मात्रा—५-५ तोला, ६ माशा शहद मिलाकर
सुबह से आधा घण्टे पर ४ बार पिलावें ।

उपयोग—यह क्वाथ उदरवेष्टा कृमि, चिपटे

कहूदाना कृमि (Tape worm), महागुदा गोलकेंचवे कृमि (Round worm) चुरव कृमि सूत्र कृमि (Thread worm), अन्नदाकृमि धान्वांकुर के सदृश गुदे हुये (Hook worms) इन सबको निकाल देता है। इन सब में यह प्रयोग विशेषतः उदरावेष्टा के लिये है। यह कृमि अति कष्ट देने वाला है।

अनार के मूल की छाल में कहूदाना को नष्ट करने का गुण अधिक है। पलाश बीज और बाय-बिडङ्ग केंचवे और कहूदाना दोनों के निकालने में सहायक है। बायबिडङ्ग सूक्ष्म कृमियों का नाशक दीपन पाचन रक्तप्रसादन सारक चर्म रोग हर है।

इस क्वाथ के सेवन से कुछ बेचैनी होती है परन्तु वमन नहीं होती है। इस अवस्था में कृमि स्थान च्युत होते हैं। फिर वे स्थिर न हों इसके लिये जुलाब देकर निकाल देना चाहिये। एरण्ड तैल का जुलाब विशेष हितकर है। यह आन्त्र में स्निग्धता लाता है कृमि और आम को निकालता है तथा विरेचन होजाने के बाद आंत्र को संकुचित होने में सहायक होता है।

कृमि रोग में बहुधा पाण्डु अग्निमान्द्य अरुचि वमन रक्त विकृति मांसपेशियों और वातबाहिनियों की निर्बलता आदि अनुगामी विकार उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये इस क्वाथ के सेवन के पश्चात् ताप्यादि लोह २ रत्ती, नवायस लोह ३ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती और ६४ पहरा पीपल ४ रत्ती का मिश्रण ३ मात्रा रोज कुछ दिनों तक सेवन करायें।

कृमिनाशनी बटी—

बायबिडङ्ग १ तोला, खुरासानी अजवायन १ तोल, कबीला १ तोला, ढाक के बीज १ तोला, करंज बीज की गिरी १ तोला, गुड़ २॥ तोला।

सबको यथाविधि कपड़ चूर्ण करके मिलाकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। प्रातः सायम् १ से २ गोली की मात्रा में शीतल जल के साथ सेवन कराने से पेट के प्रत्येक प्रकार के कीड़े नष्ट होते देखे गये हैं। यह अनुभूत प्रयोग है।

कृमिनाशक चूर्ण—

बायबिडङ्ग १ तोला, हरड़ की बकला १ तोला, अजमोद १ तोला, छोटी पीपल १ तोला, जवाखार १ तोला, सेंधानमक १ तोला, सोंठ १ तोला धी धी मुनी हुई हींग १ तोला।

समस्त औषधियों को कूट-पीस छानकर चूर्ण बनालें। आधा से १॥ माशे तक की मात्रा में ताजा या गरम जल से सुबह शाम या भोजन के बाद सेवन करावें। इससे पेट के कीड़े नष्ट होते हैं उदर-शूल, उदराभ्मान, अपच तथा मन्दाग्नि लक्षण दूर होते हैं यह अनुभूत प्रयोग है।

कृमिघ्न मण्डूर—

मण्डूर भस्म १ तोला, कुटकी चूर्ण १ तोला, बायबिडङ्ग चूर्ण १ तोला, हरड़ का चूर्ण १ तोला।

इन समस्त औषधियों को भली भांति खरल करके आधा माशा से १ माशा की मात्रा में १ तोला गौमूत्र २ तोला पानी के साथ सुबह शाम सेवन करावें। इससे पेट के कीड़े, पांडुरोग, बवासीर यकृद्विकार तथा मलावरोध दूर होते हैं। अनुभूत है।

कृमिकालकूट रस—

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध विष १ तोला, गंधक २ तोला, ढाक के बीज २॥ तोला, अभ्रक भस्म ३ तोला, कुड़ा की छाल २॥ तोला, लोह भस्म ४ तोले, बायबिडङ्ग चूर्ण ५ तोला, पारद गंधक की अत्युत्तम कज्जली करके समस्त भस्मों एवं काष्ठादि औषधियों के सूक्ष्म चूर्ण को मिलाकर अच्छी तरह खरल करके रखलें। २ से ४ रत्ती तक की मात्रा में प्रातः सायम् मधु या गरम पानी से सेवन कराते रहने से समस्त कृमिजन्य उदर विकार एवं पेट के कीड़े दूर होते हैं। यह भी अनुभूत है।

कृमि कुठार रस—

पारद गन्धक की कज्जली २ तोला, सोंठ, खुरासानी अजवायन, काली मिरच, ढाक के बीज, पीपल, खैरसार, चित्रक, करंज बीजगिरी, हरड़ की बकली, शुद्ध गुग्गुल, दूधिया बच्च, हल्दी, शुद्ध

शिशुरोगादि

लहसुन, बायबिडङ्ग, घी में भुनीं हींग, मीठाकूठ, ईश्वरबोल, जीरा सफेद, सेंधा नमक, इन्द्रजव, काला नमक—प्रत्येक १-१ तोला लेकर यथाविधि कूट-पीस छानकर चूर्ण बनाकर एक एक रत्ती की गोलियां बनालें। १ गोली से २ गोली तक की मात्रा में मधु या ताजे जल के साथ प्रातः सायम् सेवन करावें। इससे पेट के कीड़े, उदर विकार तथा बाल-हिस्टरिया रोग दूर होते हैं। अत्यन्त अनुभूत है।

—श्री सन्तोषकुमार जैन A. M. S.
आयुर्वेदाचार्य, राज० आयु० अस्पताल
त्रिपोलिया गेट, रतलाम (म० प्र०)

कृमिहर वस्ति

१-निम्बपत्र को जल में औटाकर छानलें। फिर उसमें नमक कुछ प्रमाण में मिलाकर एनीमा यंत्र से बालक की गुदा में भरकर जितना अधिक समय तक रोका जाना संभव हो पानी को पेट में रोक रखें फिर निकल जाने दें। इस प्रकार सप्ताह में दो बार करें। समस्त चनूने मर कर निकल जावेंगे।

२-कृमिप्रस्त बालक के उदर में कृमियों के इतने गुच्छे बन जाया करते हैं कि रेचन औषधियों एवं एनीमा का भी संतोषजनक प्रभाव नहीं होता। श्रुतिका भक्षण यदि बालक करता रहा है तब तो अधिक कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है। हमारे अनुभव के अनुसार एलौपैथिक औषधि पेट्रोलेगर अच्छा कार्य करती है। ३ से १ तोला तक पिलायें।

३-हिंवाष्टक चूर्ण अग्निमांश की औषधि है ऐसा सबका अनुभव है। किन्तु कृमि को निर्जीव करने वाली निर्दोष औषधि के रूप में इसका अनुभव हमने किया है। परिवर्तन केवल इतना ही करना है कि हिंगु भर्जित करके न मिलाएं। मा. ४ रत्ती से १ माशा अनु गरम जल दिन रात में ३ मात्रा देकर एरंड तैल या पेट्रोलेगर का विरेचन दें। कृमि मरकर निकल जावेंगे।

—श्री उमाशंकर दाधीच साहित्यायुर्वेद विशारद
सनावद (उज्जैन)

पृष्ठ २७३ का शेषांश

निम्नलिखित अनुसार किया जा सकता है।

आन्त्रदा—इस नाम से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह आन्त्रों में ही रहकर रोग लक्षण उत्पन्न करने वाला है और चूंकि नवीन विज्ञान का ऐसकैरिस लम्बरीकोयाड्स (राउन्ड वर्म) भी ऐसा ही है अतः इसे राउन्ड वर्म कह सकते हैं।

हृदयादा—इस नाम से यह अनुमान होता है कि हृदय आदि मर्म देश में रहकर यह रोग लक्षण उत्पन्न करता है। टीनिया एकनीकोकस से इस कारण सादृश्य है। अतः इसे ऐकनीकोकस कह सकते हैं।

दर्भ कुसुम—इस नाम से यह अनुमान होता है कि जो दर्भ कुसुम की तरह गुच्छे गुच्छे हो, जो कि नवीन विज्ञान के औक्सीयूरिस वर्मीक्युलरिस से मिलता है। यह दर्भ कुसुम के आकार वर्ण आदि से मिलता है। अतः इसे औक्सीयूरिस वर्मीक्युलरिस या थ्रेड वर्म कह सकते हैं।

रोमविध्वंसा—इस नाम से यह अनुमान होता है कि इसके कारण रोमों का नाश होता है। ऐन्क्लोस्टोमा या हुकवर्म जिस स्थान यानी त्वचा पर ब्रण बना (कुष्ठ जैसा) देता है वह स्थान ब्रण छूटने के बाद रोम विहीन ही रहता है, वहां पर पुनः रोम नहीं होते। दूसरे जिसे ऐन्क्लोस्टोमा होता है उनके सिर के केश मरने लगते हैं डाढ़ी मूँछ केश सभी की वृद्धि बाधित होती है। अतः इसे हुकवर्म कह सकते हैं।

केशाद—इससे यह अनुमान होता है कि यह केश की तरह है जो फाइलेरिआई से मिलता है। अतः इसे फाइलेरिआई कह सकते हैं।

पुरीषज—चूंकि तीनों टीनिया जाति के कृमि एक ही हैं अतः पुरीषज से टेपवर्म को ग्रहण किया जा सकता है।

—कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन
जी. ए. एम. एस. मोतीमंल (मुजफ्फरपुर)

अथर्व वेद में कृमि वर्णन

प्राचार्य श्री दारोगाप्रसाद मिश्र

शिशुरोग के शारीरिक कृमिओं के बारे में अथर्ववेद से लेकर आयुर्वेद के मौलिक ग्रन्थों में भी वर्णन आया है। अथर्ववेद में तो स्पष्ट रूप से वर्णित है—

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीण धनपते जहि ।

हता विश्वा अरातयः उग्रैण बचसा मम ॥

अथर्व का० १ सू. २३ ऋ. २

बच्चों में विशेषतः सूत्रकृमि यानि थ्रेडवर्म पाये जाते हैं। सूत्रकृमि को माधव निदान में अंत्रादा कृमि कहा गया है। पाश्चात्यों ने इसे अन्य नाम भी दिये हैं जो आकृति ग्रहणात् जाति का पृष्ठ-पोषक है जैसे पीनवर्म (Pin worm) या सीट-वर्म (Seat worm)।

इनके अतिरिक्त बच्चों में जो हरिजन परिवार के होते हैं जैसे गौ खाने वाले चमार, सुअर खाने वाले मुसहर या दुसाध और घोड़ा खाने वाले डोम तथा भैंस, चूहे-गौह खाने वाले हलखोर, मेहतर, मांझी आदि हरजनों में एवं गद्दा खाने वाले किरातों उनके बच्चों को स्फीत कृमि भी हो जाते हैं। स्फीत कृमि को हम महागुदा के नाम से जानते हैं। और डाक्टर लोग इसे टेप वर्म (Tape worm) नाम देते हैं। बकील, वैरिष्टर, प्रोफेसर, औफीसरी के बच्चों में अंकुशकृमि हुकवर्म (Hook-worm) भी मैंने प्रत्यक्षतः देखा है एवं चिकित्सा भी की है। डाक्टर लोगों के हुकवर्म को आयुर्वेद में चरु क्रिमि या दर्भकुसुम कृमि नाम दिये जाते हैं।

राउण्ड वर्म [Round worm] कैल्सियम से रहित आहार वाले बच्चों में अक्सर पाये जाते हैं और जीवातित्ति एवं प्रोटीन के अभाव में ये स्थानिक लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। राउण्ड वर्म को लोक में कंचुआ कहते हैं पर माधवकर ने उदरावेष्टा नाम दिया है। उदरावेष्टा नामक कीड़े बच्चों के

मुख से भी कभी कभी आ जाते हैं। कभी कभी तो धोवियों के बच्चों में पाखाने की राह में आधा भीतर आधा बाहर अटक कर बड़ा तंग करते हैं। बच्चे के पास उसकी मां कीड़े को खींचने जाती है तो बच्चा चिल्लाता है और सांप सांप कह कर बड़ा हल्ला करता है। बड़े कष्ट से वह उसे खींचने देता है। कभी कभी वह बेहोश भी हो जाता है। इन कीड़ों को हम अपने आयुर्वेद में या वेद में कृमि रोग में अन्तर्भावित कर लेते हैं। कृमिवाद का सिद्धान्त लाक्षणिक सिद्धान्त है मूल कारणवाद नहीं है। दोष कारणत्व की भी मीमांसा करने पर कृमिवाद न दोष में आते हैं और न कारण में। कृमियों में भी पंचभूत और आत्मा हैं। इनमें भी उत्तेज्य, समीकरण, वर्धन मलोत्पादन और सर्जन होते हैं। मेरा त्रिदोषवाद इन कृमिवाद से मूल का विषय है अतः रोगों का मूलभूत कारण कृमिवाद नहीं हो सकता है। साथ साथ छुधा, तृष्णा, राग, द्वेष, अरुचि, उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा, संन्यास, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, अभिमान, गुप्त्रसी बात (सिंघाटिका) आदि बात रोग के डाक्टरों के पास कोई भी कीटाणु नहीं होते हैं जिनसे ये रोग पैदा होते हैं। अतः मूलतः रोगों के कारण कीड़े नहीं त्रिदोष है। मैं कृमि के प्रसङ्ग में कृमिवाद पर कहने के बाद बाल कृमि पर कहूँगा।

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीण धनपते जहि ।

हता विश्वा अरातयः उग्रैण बचसा मम ॥

अथर्ववेद का० १ सू० २३ ऋ. १

अर्थ यह है कि हे धनपते इन्द्र ! (अस्य कुमारस्य क्रिमीण जहि) इस बच्चे के क्रिमियों को दूर करो (मम उग्रैण बचसा विश्वाः अरातयः हताः) मेरे पास की उग्रगन्धावच से संसार के दुःखकर कीड़े मारे गये हैं। इस ऋचा में पठित बचा पर

शिशुरोगाङ्कः

२६१

बच्चों को रिसर्च करना चाहिए। उग्रगन्धा वच के बारे में भावप्रकाश ने कहा है कि “अपस्मार कफोन्माद भूत जन्तु अनिलाम् हरेत्” इसमें सन्धि से पृथक् भूत और जन्तु शब्द रोग कृमी का ही पूर्णतः संज्ञान कराते हैं।

बच्चे में कृमि रोग के ज्ञान के पूर्व गर्भ के ऊपर क्रमियों का आक्रमण होता है एवं गर्भवती कृमि रोग से पीड़ित होती है। आप अथर्ववेद के काण्ड ८ सूक्त ६ के मन्त्र नवम का पाठ करें।

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
ज्जमोषधे नाशाः स्याः कमलमज्जिवम् ॥
इसमें प्रसूति के समय में स्त्रियों की सावधानी किम्बा मृतवत्सा स्त्री के गर्भ की रक्षा के वास्ते सावधानता बताई गई है। व्याख्या देखें—

“यः इमां स्त्रियं मृतवत्सां वा अवतोकां कृणोति” यानि जो दोष इस स्त्री को मृतवत्सा या गर्भपात होने वाली करते हैं तू इसके उस दोष का नाश कर गर्भ द्वार रूपी कमल को रोग रहित करो। अक्सर देखा जाता है कि जिनके गर्भाशय में सिफलिस या गोनोरिया के कीड़े आक्रान्त करके गर्भाशय को दुष्ट कर देते हैं वे स्त्रियां मृतवत्सा यानि गर्भ में ही बच्चे का मरना या अवतोका (गर्भपात हो जाना) हो जाती हैं। दूसरे १६ मन्त्र में भी आप पढ़ें—

ये अम्बो जातान मारयन्ति सूतिका अनुशेरते स्त्रीभगो
पिङ्गो गन्धर्वाणि वातौ अश्रमिवाजतु ॥

व्याख्या—हे पिङ्ग औषधि ! जो आधे उत्पन्न गर्भ को मारते हैं एवं जो प्रसूतिगृह में रहते हैं उन गन्धर्वाणि स्त्रियों के भाग में रहने वाले रोग कृमियों को जैसे वायु मेघ को हटाती है वैसे हटा दो। यहां पिङ्ग औषधि के बारे में भाष्यकार रसायनाचार्य ने अपने अथर्वभाष्य में श्वेत सर्षप पढ़ा है। ठीक है श्वेत सर्षप भी कृमिनाशक है। इसे भी राजनिघण्टु में देखें—

तिकाः तीक्ष्णोष्ण वातकफघ्न उष्णाः कृमि कुण्ठघ्न,
शीतासित भेदने द्विधा।—राज०

रोगकृमियों का नाम —

(१) पलाल-अनुपलाल—मांस जिनको अनुकूल है या जो मांस रस से बढ़ते हों।

(२) शकु—हिंसक जो नाश करते हैं।

(३) कोक—काम को बढ़ा वीर्यनाश करने वाले

(४) मलिम्लुच-मलीनता से बढ़ने वाले, मलीनता में उत्पन्न होने वाले।

(५) पलीजक-पलित रोग को करने वाले।

(६) आश्रये-किसी के साथ रहने वाले।

(७) प्रमीलन—सुस्ती लाने वाले।

(८) कृष्ण—काले रंग के किम्बा खींचने वाले।

(९) केशी—बालों वाले या जन्तुवाले।

(१०) असुर—प्राणाघात करने वाले।

(११) तुष्टिक—छोटे मुख वाले।

(१२) अराय—आरोग्यादि न देने वाले।

(१३) अनुजिघ्र-सूँघने से शरीर में प्रवेश करने वाले (नासिका मार्ग द्वारा फुफ्फुस में प्रवेश करने वाले)।

(१४) प्रमृशण—स्पर्शेन्द्रिय से प्रवेश करने वाले।

(१५) क्रव्याद—शरीर के रक्त-मांस खाने वाले

(१६) रेरिह—हिंसक, घातक या नाशक।

(१७) श्वकिष्की—कुत्ते के समान पीड़ाकारक

इन कृमियों का वर्णन अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त ६ के सोलह मंत्रों में सुस्पष्ट किया गया है। अथर्ववेद के काण्ड ५ और सूक्त ३ के तीसरे मंत्र से तेरह मंत्रों तक कृमियों का ही वर्णन है।

यो अच्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।

दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृधः कोकश्च ते हताः ॥

ये क्रिमयः शितिकृत्वाः ये कृष्णाः शितिवाहवः ।

ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीण् जम्भयामसि ॥

३-४-५ मन्त्रों की व्याख्या—जो आंखों में भ्रमण करते हैं, जो नाक में प्रविष्ट होते हैं एवं जो दन्तों के मूलों में संक्रमित होते हैं उन क्रमियों को हम नाश करते हैं। कुछ ऐसे भी कीड़े हैं जो



धन्वन्तरि

दो समान रूप वाले और दो ही विरुद्ध रूप वाले भी हैं। और लाल एवं भूरा और भूरे कान वाले गृध्र एवं भेड़िये के शरीर से उत्पन्न होने वाले कीड़े भी मारे गये। पांचवे मंत्र में लिखा है कि जो क्रिमि श्वेत कच्चावाले हों जो काले भुजा वाले हों और जो बहुरूपी हों उनका नाश भी हम करते हैं।

भावार्थ यह है कि इन मन्त्रों से यह सुस्पष्ट हो रहा है कि हमारे आचार्यों को अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग की कीड़ियों का एवं पायरिया आदि दन्तमूल में होने वाले रोगों के कीड़ों का पूर्ण ज्ञान था। आप जानते हैं कि माधव निदान के कुष्ठरोगाधिकार के अन्तिम पृष्ठ पर—

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।

औपसर्गिक रोगांश्च संक्रमन्ति नरान्तरम् ॥

का सुस्पष्ट कथारणक बताया गया है। कुष्ठ के सभी प्रभेद, ज्वर के सभी प्रभेद, राजयक्ष्मा के सभी प्रभेद और अभिष्यन्द आदि नेत्र रोग तथा औपसर्गिक रोग यानि चेचक, प्लेग, मम्प्स, बेरीबेरी, गोनोरिया, सिफलीस, हैजा आदि रोग भी कीटाणुजन्य हैं। यही कारण है कि ये दूसरे से तीसरे में फैल जाते हैं। ज्वर के प्रभेदों में डेंगूफीवर (दण्डकज्वर) न्युमोनिया (श्वसनकज्वर) कालाअजार (कालाज्वर) मलेरिया (विषमज्वर) फैलेरिया (श्लेष्मिकज्वर) और प्लेग (ग्रन्थिकज्वर) स्मालपाक्स (छोटी माता) चिकेणपाक्स (बड़ी माता) मीजल्स (रोमान्तिका) आदि सभी कीटाणु से ही उत्पन्न होते हैं। पर सिद्धान्त यह है कि आयुर्वेद कीटाणुओं को ही मूल कारण नहीं मान कर वात, पित्त, कफ, रक्त को मूल भूत रोगोत्पादक कारण मानता है। छठे मन्त्र से बताया है कि—

उत्पुस्तत् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।

दृष्टांश्च धनन्तदृष्टांश्च सर्वान्श्च प्रमृणाम् क्रिमीण ॥६॥

येपावसः कण्कषाश्च एजकत्काः शिपवित्तुकाः ।

दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरूहादृष्टश्च हन्यताम् ॥७॥

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।

सर्वान् निमग्मवाकरं हपदा खल्वा इव ॥८॥

त्रिशीर्षाण त्रिककुदं क्रिमि सारङ्गमञ्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि पृश्चामि यत्किरः ॥९॥

अत्रिचद्वः क्रिमयो हन्मि कप्पस्ज्जमर्दागावत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पि नष्टम्यहं क्रिमीन् ॥१०॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषा स्थपतिहृतः ।

हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥११॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।

अथो ये क्षुत्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥१२॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।

भिषज्जयश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥१३॥

व्याख्या इस प्रकार है—सूर्य आगे से चलते हैं वह विश्वदृष्ट हैं और सभी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कीड़ों को नाश करने वाले हैं। येवाष, कयकष, एजत्क और शिपवित्तुक नाम जो कीड़े हैं इनमें जो अदृष्ट हों या दृष्ट हों उन्हें सूर्य मार देते हैं। इन मन्त्रों से तात्पर्य यह प्राप्त होता है कि सूर्य की प्रखर किरण के द्वारा कीड़ों का नाश होता है, तथा सूर्य किरण चिकित्सा के द्वारा जीवाणु विज्ञान में साहाय्य प्राप्त हो सकता है। बैक्टीरियलोजी के साथ सूर्य की किरणों का गहरा सम्बन्ध है इसलिये क्रिमियों के रंगों का वर्णन भी चौथे पांचवे मंत्रों में किया गया है। सूर्य में भी सात रंगों की किरणें होती हैं। वैज्ञानिकों ने सूत्र रूप में उनका नाम स्मृत रहने के लिए “पानीस्याहपीनार” नाम दिया है। “पा” शब्द से पाटल रंग “नी” से नील, “स्वा” से स्वाह रंग “ह” से हरित और “पी” से पीत रंग एवं “ना” से नारङ्गी रंग और “र” रक्त रंग लिये जाते हैं। इस तरह सातों रंगों की किरणों का प्रभाव विभिन्न रंगों की क्रिमियों पर पड़ते हैं इस तरह से आठवें मंत्र के बाद से सुस्पष्ट कहा गया है कि जो तीन शिर वाले, तीन नितम्ब वाले, साढ़े अर्जुन यानि चित्रविचित्र और श्वेत रंग वाले सभी कीड़े मारे गये। अत्रि ऋषि, जमदग्नि और कण्व ऋषि की तरह मैं उन कीड़ों को मारता हूँ। एवं अगस्त्य ऋषि के आप से रोग कीड़ों का नाश करता हूँ। रोग कीड़ों के नर मारे गये, पिस्सू मारे गये और उनके मां बाप भाई बहन सभी मारे गये।



इनके घर वाले तथा जुल्लका नामक कीड़े थे वे सभी मारे गये। जुल्लका शब्द से जुधा स्थान के अन्नाद, उदरावेष्ट एवं महागुद कीड़ों का नाम आता है। माधवकर ने—

अन्नादा उदरावेष्टा, हृदयादा महागुदा ।

चुरवो दम्भकुसुमाः सुगन्धा तेजकथ्यते ॥

के रूप में राउण्डवर्म, टेपवर्म, हुकवर्म और ग्रेडवर्म का वर्णन किया है। उसमें वेद के जुल्लक भी आ जाते हैं। भगवान् आत्रेय ने चरक में 'विशित क्रिमिजातयः' कह कर सूत्रस्थान के १६ अध्याय में नामाङ्कन किया है और विभाग के सप्तम अध्याय में कृमि रोग का सम्पूर्ण वर्णन ही आया है। मूलतः चार प्रकार की योनियों से चार प्रकार की कृमियां उत्पन्न होती हैं—पुरीषज, श्लेष्मज, शोणितज और मलज ।

मलज कृमि का स्थान गन्दे कपड़ों में चीलर के रूप में तथा शरीर गुप्तेन्द्रिय स्थान के केशों एवं कक्षा बन्धन में आठगोड़वा के रूप में और पद्म में श्मश्रु में, लोम, में ढील-लीख के रूप में इन्हें यूका लिङ्गा पिपीलिका, अष्टपादिका और चीलर को परिवक्षा नाम से वैद्यक शास्त्रों में वर्णन है ।

भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत में मलज कृमियों का वर्णन उत्तर तन्त्र के ४४ वें अध्याय में किया है। उसमें उन्होंने स्वेदज की गणना नहीं की है। सुश्रुत ने आभ्यन्तर कृमियों में पुरीषज, रक्तज और कफज की ही गिनती की है ।

श्लेष्मज कीड़ों की गति मस्तिष्क में, हृदय में एवं फुफ्फुस आदि कफ स्थानों में भी हो जाती है। डाक्टरों ने भी बताया है कि टेपवर्म के अणु मस्तिष्क में जाकर कोष्ठ बनाते हैं और ये कोष्ठ टीनिया सोलियम (*Taenia Solium*), टीनिया सैजनाटा और टीनिया ऐकौनीकौकस [*T. Echinococcus*] में मिलते हैं। इनके द्वारा हुए रोग को कृमिकोष्ठ पुञ्ज [*Hydatid*] कहते हैं। ये प्रायः यकृत में बनते हैं। इनके वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि पुरीषज कृमि जैसे ककरुक, मके-

रुक, लेलिहा, सशूलका, सौसुरादा को कौकस, वैसिलस, अमीवा, बैक्टिरिया एवं स्फीत कीड़ों के मूल कारणों में भी अन्तर्निहित किये जा सकते हैं। पुरीषज कृमि में ही स्फीत कृमि, सूत्रकृमि और और आन्त्र कृमि एवं मलजकृमि भी आती हैं। श्लेष्मज कृमि को अगर हम मूलतः यक्ष्मा, न्यूमोनियां, श्वास, डिप्थीरिया, सेप्टिक टॉसिल आदि कफज रोगों में गणना करें तो बड़ा सुगम होगा। पर चरक या सुश्रुत में कफज कृमियों को अन्नादा कहने के बाद हृदयादा भी कह दिया है। अन्नादा से जहां पुरीषज का आभास होता है, वहां हृदयादा से रक्तज कृमि भी गोचर होने लगती है। पढ़ने में बड़ा भ्रम होता है। रक्तज कृमियों में वातरक्त, कुष्ठ, सिफलिस, गोनोरिया और अभिष्यन्द तथा विविध जुद्र रोग के कीड़े भी आ जाते हैं। चरक ने कहा है कि 'रक्तजानां स्थानं रक्त वाहिन्यः धमन्यः' और सुश्रुत ने भी कहा है कि 'धमन्यां रक्तजानां च प्रसवः प्रायशः स्मृतः' माधव निदान में तो 'रक्तवाही-शिरास्थान रक्तजा जन्तु षोडशवः' कहकर बड़े सुन्दर तरीके से रक्तज कीड़ों का स्थान निदर्शित किया है। यही पर 'सौक्ष्म्यात् केचिद् अदर्शाणाः' कहकर यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीन युग में भी माइक्रोप था। 'अदर्शनं लोपः' व्याकरण में सूत्र है जिसका भाष्य है कि 'प्रसक्तस्य अदर्शनं लोप संज्ञा स्यात्' यानी जो वर्तमान हो, पर देखा न जाय उसे लोप कहते हैं और लोप के लिये ही लोपदर्शन यन्त्र का निर्माण है। अतः रक्त कण, श्वेत कण, अणु-चक्रिका आदि रक्त सैलों की तरह मलेरिया के रक्तज कीड़े जैसे प्लाजमोडियम का कोई भेद या प्रोटोजोवा (*Protozoa*) का कोई प्रकार या काला जार के लेशमान डोनोवाण बाढ़ी और म्लेग के (*P. Pestis*) म्लेग दंडाणु और कुष्ठ रोग के रक्तज कीड़े जैसे कुष्ठ दंडाणु [*Mycobacterium Lepae*] आन्त्रिक स्वर के एवरथीलिया टाइफोसा भी रक्तज जन्तु के अन्दर ही गिने जाते हैं। रोहिणी रोग यानी डिप्थीरिया रोग तो विशेष-



धर्मन्तारि

षकर बच्चों में ही होता है और इसके कीड़े कोरोंनी बैक्टीरियम डिफ्थीरी तो बच्चों को शीघ्र ही मार देता है। इसे अगर हम बालरोग की घातक कृमि मानें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसे गांवों में 'जम्बुआ जातना' कहते हैं। स्कन्दग्रह, पूतना, अन्धपूतना, स्कन्दापस्मार आदि बालरोग के नव-ग्रह भी नव प्रकार की कृमियों से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे डिफ्थीरिया यानी रोहिणी के कीड़े घातक होते हैं उसी तरह घातक इनके भी कीड़े होते हैं जिन्हें अथर्ववेद के पूर्वलिखित सूक्तों के कीड़ों से सामंजस्य देखें। डिफ्थीरिया भी कण्ठ का ही रोग है और बालरोग भी प्रायशः कण्ठ में ही 'जम्बुआ जातकर' गला देश में शोथ होकर या कण्ठनाली संकोच होकर पैदा हो जाते हैं। रक्तज कृमियों के प्रसार का मूल प्रमाण तो कृमिजन्य शिरोरोग कृमिज हृद्रोग और आंख, कान, नाक तथा त्रणों से कीड़ों का निकलना है। इनके परिसर्पण से नाना-विध रोग होते हैं। सुश्रुत ने पुरीषज कीड़ों को अजया, विजया, किप्या, चिप्या, गंडूपदा, चुरव, द्विमुखा के नाम से बताये हैं और कफज कीड़ों को दर्भपुष्पा, महापुष्पा, प्रलूना, चिपिटा, पिपीलिका, दारुणा इत्यादि नाम दिये हैं।

रक्तज कीड़ों को किक्किशा, दन्तादा, केश, रोम, नखादा, कुष्ठजा, सपरीसर्पा नाम से सुस्पष्ट हैं। चूंकि इनसे पूर्वोक्त वाणत रक्तज रोग अवश्य ही होते हैं।

आयुर्वेद में कृमि रोग के निदान और उसकी चिकित्सा के लिये भूतविद्या नामक अङ्ग का ही वर्णन है। भूताभिषंगज ज्वर या उन्माद में मूर्च्छा, संन्यास, अपस्मार में भूत, यक्ष, रक्ष, अराति, पिशाच का वर्णन भी उन राक्षस कीड़ों का ही वर्णन है जिन्हें समन्वय की आवश्यकता है। बालरोगों की दवा और पथ्य पर भी इन राक्षसों का आक्रमण होता है। बच्चों की दूध पिलाई, स्त्री के स्तन पर तथा बच्चों के पिच्छावन पर भी इन कीड़ों का घातक आक्रमण होता है। बच्चों के बिच्छापन,

खाट के समीप हवन करने का विधान है। इस विधान से रोग कीट का नाश करना ही मूल में उद्देश्यनिहित मैं मानता हूँ। [अथर्ववेद काण्ड ६ सू. ३३ ऋचा १ से ३ चक्र पढ़ें] उनमें रोग कीटाणु-नाशक धूप का वर्णन करते हुये निम्न कीटों का नाम आया है जैसे—

[१] पिशाचा—मांस की क्षीणता करने वाले या रक्त क्षीणकारक।

[२] यातुधाना—शरीर में यातना या पीड़ा उत्पन्न करने वाले कीड़े।

[३] राक्षसाः—क्षीणता उत्पन्न करने वाले कीड़े या क्षासा भी।

[४] अत्रिण—'अरन्ति इति अत्रिणः' की व्युत्पत्ति से शरीर भक्षण करने वाले रोगजन्तु।

इसके लिये हवन की व्यवस्था करते हुये ईश्वर का वाक्य यह है "विश्वतो वीर्या वीरुत" अत्यन्त गुणवाली वनस्पति से एवं धूप से इनका नाश होता है। अतः धूपण प्रमुख चिकित्सा बच्चों में होती है।

चिकित्सा—

हवन में यव, तिल, गुड़, घी, देवदारु, छड़ीला, जटामांसी, कपूर और अगर, तगर, गुग्गुलु का चूर्ण अत्यन्त बारीक करके जन्मकाल से ही प्रसवागार में धूपन करें। बेर की लकड़ी की आग सूखे सेहुण्ड के अंगार हल जलाकर अंगार बना कर दिन रात में सात बार धूपण करें। प्रसवागार के द्वार पर सेहुण्ड [थूहर-स्तुही] रख दें। बन्दूक तलवार या लहसुन हींग कपड़े में बांधकर रखें। काले कपड़े में सरसों, हींग, तुलसी का बीज, तिल, गुग्गुलु, सरसों की खली बांधकर द्वार में लटका दें। प्रसूता की कमर में ठीक योनि के सामने बँडेब बांध दें जिससे योनि में कीड़े प्रवेश न करें। पेशाब, पाखाना विसंक्रमित स्थान पर करें। नारी में कृमि हो जाने पर स्तन्य पर अदृष्ट कृमि से आक्रान्त होकर रक्तजकीट दुग्धपान से बच्चे में आकर कंठनली को संकुचित कर देते हैं। बच्चे के हाथ



शिशुरोगादिः

में गन्दगी न रहे, माता का या धात्री का नख बख साफ रहे। क्षीरासी बच्चों के बालग्रह में पूर्ण विसंक्रमण्यता रखें। गन्दे पैर से कोई न जाय या गन्दी चीजें न रहें। बच्चे के विच्छावन में पखाना, पेशाब हो जाने पर उसे पूर्ण विसंक्रमण करें। विसंक्रमणता के अभाव में नवग्रहों (स्कन्दग्रह आदि) के आक्रमण का भय रहता है। निराकार सूक्ष्म कृमियों से बच्चे को बचाना मूल उपचार माना गया है। निराकार कृमियों के प्रवेश होने पर ही गांवों में लोग भूत, प्रेत और डाइन (कात्यायनी) आदि का प्रवेश मानकर मूर्ख तान्त्रिकों के द्वारा भाड़ फूंक कराते कराते बच्चों को मार देते हैं। इन निराकार कृमियों के बच्चों में प्रवेश होने पर बच्चे दूध नहीं पीते हैं, बहुत रोते हैं, भयभीत होते हैं, वमन करते हैं, पतला पखाना करते हैं, हाथ-पैर फेंकते हैं और मुट्ठी बांधकर शरीर को ऐंठते हैं। उनका पञ्जरा नथना फूलता है और कफ के मारे घर घर करते हैं, बेहोश हो जाते हैं तथा उनकी सुषुप्ता में लसीका संचय होकर मेनीन्जाइटिस रोग होकर या कण्ठ में डिफ्थीरिया रोग होकर मृत्यु भी हो जाती है। कभी कभी इन अदृश्य सूक्ष्म कीड़ों के आक्रमण होने पर बच्चे में १०८% F. ज्वर हो जाता है। इनसे बचने के लिये बच्चों की खाट पर बकरी की पूंछ का केश, बिलाई की पूंछ का केश, बिलाई, बकरी का पाखाना प्रत्येक १-१ तोला, राई, सरसों, हिंग, अजवाइन, गन्धक, शिलारस १-१ तोले, धी ५ तोला लेकर हवन करें और हवन की आग से हाथ तपाकर बच्चे की देह को सेक करें। कुमार कल्याण रस ३ गोली, कृमिमुद्गर ३ गोली, पलास के बीज को पानी से पीसकर रसगार कर उसी में दवा घोलकर ३-३ घंटे पर या हालत खराब होने पर आदी के रस ८ आना भर में ३०-३० मिनट पर देते रहें। तुलसी के पत्तों का रस स्तन के चूचुक पर बच्चे को पिलाने में मां अवश्य लगाएँ या बच्चे को भी १-१ चम्मच तुलसी रस दें। कृष्ण

के मामा कंस ने पूतना नामक अदृश्य कृमि को एक हृष्ट-पुष्ट नारी के स्तन चूचुक में लगाकर कृष्ण के घर में जाकर छल से कृष्ण को दुग्धपान कराकर मार देने की आज्ञा दी थी, पर भूतभावन भगवान् कृष्ण ने दुग्ध-पीते पीते उस नारी के प्राण ही हर लिए। उस दिन से अज्ञातनामा नारी को लोग पूतना ही कहने लगे चूंकि पोस्टमार्टम में पूतना पाया गया होगा या उस युग के विकसित विज्ञान का कोई और चमत्कार होगा। राम के समय में, कृष्ण के समय में बैक्टिरियोलौजी भारतवर्ष में अधिक विकसित था। विज्ञान का सभी अङ्ग अभ्युत्थान बना हुआ था। कीटाणुओं के बाण बनाये जाते थे। देखिये भागवत कृष्ण और शंकर का युद्ध दशमस्कन्ध में। जो बच्चे क्षीरान्नाशी हों उन्हें चरक के सिद्धान्त से चिकित्सा करें।

अपकर्षणमेवादौ कृमीणां भेषजं स्थितम्।

ततो विधातः प्रकृतेः निदानस्य च वर्जनम् ॥

मतलब यह है कि कृमि रोग में कृमि अपकर्षक दवाओं से कृमि का अपकर्षण करे, उसके पश्चात् प्रकृति विधात और निदान परिमार्जन करना चाहिए। यदि बच्चों के पेट में कीड़े हो गये हों तो पहले तिल-कूट (तिलपिष्ट) तिलवा खिलावे एवं मछली खाने वाले को मछली दें, दूध, दही, मिष्ठान्न या लड्डू या कषार खिलावे। इनके खिलाने से कृमि कोष्ठ में आ जाते हैं और उसके ऊपर से बच्चे को विरेचक दवा दें। जैसे निशोथ को ८ आना भर लेकर पानी से पीसकर पिलावे या कालादाना को १० आना भर पीसकर पिलावे या मुस्तादि क्वाथ में दूध देकर आस्थापन बस्ति का प्रयोग करें। इनसे कीड़े दूर न हों तो बच्चों को मुस्तादि क्वाथ १ तोले सुबह, दोपहर, शाम और रात को ६ बजे पिलावे या काम्पिल्ल चूर्ण ४ रत्ती मधु से चटावे या पानी से पीसकर औटी दें। पलाशबीजादि चूर्ण ४ रत्ती की मात्रा ४-४ घंटे बाद ४ बार लगातार तीन दिनों तक खिलाकर चौथे दिन प्रातःकाल एरण्ड तैल ३ औंस या १ औंस (२॥ तोला) की मात्रा में ५ तोले गाय के दूध में देकर पिलावे। पलाशबीजादि चूर्ण,

हरिद्राखण्ड को ४-४ रत्ती की मात्रा में दूध से पीसकर औटी दें या विडङ्गाद्य तैल की वस्ति का प्रयोग करें। विडङ्गादि तैल २ औंस, दूध आधा सेर (१ पौंड) गरम करके पखाने की राह में ७ दिनों तक सुबह में चढ़ावें।

अगर बच्चे धनिक घर के हों तो उन्हें कृमि-मुद्गर रस ३ गोली, विडङ्गासव १ तोला में घोलकर ४-४ घंटे पर ४ बार लगातार तीन दिनों तक दें, बाद में विरेचक दवा में जलाफा दो आने भर पीसकर पिला दें। पुनः लगातार इसी तरह ४ बार करें तो कीड़े नष्ट होकर कायाकल्प हो जायगा।

कीड़े के लक्षण—

कीड़े हो जाने पर बच्चों का शरीर पीला और उदास हो जाता है। पेट निकल आता है। बच्चे विशेषतः पेट के बल सोते हैं। रात में चेहा चेहा कर उठते हैं। भूँजा, मिठाई, सत्तू, दाल, अलुई, पापड़, गुड़, कच्चा चावल, कच्चा चना और भोजन अधिक मांगते हैं। चुराकर भी खाते रहते हैं। बेसन की चीजें ज्यादा खाते हैं। बाजार से कचरी घुघनी ज्यादा खरीदकर खाते हैं। चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं। उनके पाखाना से एवं अपान वायु के उत्सर्ग से बड़ी बदबू होती है। पाखाना पूरा पूरा और चित्र विचित्र एवं छोटी छोटी कृमियों से युक्त होता है। कभी कभी गुच्छे के गुच्छे टेपवर्म बच्चों के गुदा में भर जाते हैं और बच्चे पाखाने की राह को नौचते हैं एवं बुई बुई करके रोते चिल्लाते हैं। जो बच्चे दिन भर खाते रहें, मां के साथ खांय, बाप के साथ खांय, पिता-मह या मातामह के साथ खांय, पितामही या माता-मही के साथ, अकेले खांय या अन्य बच्चों के साथ खांय, पर ये आदत कृमियों के लिये घोर संक्रामक है। बच्चों को सिर्फ अकेले खिलावें। बाजार की चीजें न दें। मिट्टी खाने नहीं दें। अक्सर बच्चे मिट्टी को खाने लगते हैं।

इन लक्षणों से आक्रान्त कृमिजन्योपसर्ग में

बच्चों को निम्न दवा दें—कृमि कालानल रस १ वटी, विडङ्गादि लौह १ वटी, विडङ्गासव १ तोला में घोल ४-४ घंटे पर ४ बार १५ दिनों तक दें। इसके बाद १५ दिनों तक कीटारि रस १ वटी और नवायस चूर्ण २ रत्ती या आरोग्यवर्धिनी १ वटी रात में गुड़ से या मद्य से या रसगुल्ला में भर कर लगातार ४-४ घण्टे पर ४ बार खिलावें। इनसे पूर्वोक्त सभी लक्षण एक मास में ठीक हो जायेंगे। शास्त्रों में वामक, विरेचक औषधि भी स्नेहन, स्वेदन कराकर देने की आज्ञा है पर इन्हें बच्चों पर या राजा-महाराजा या बड़े लोगों के युवक, प्रौढ़ों में नहीं दें अन्यथा असात्म्य होता है।

पथ्य—

बाली, अरारोट, मिश्री मिलाकर २ कप सुबह शाम दें। भात दें और करेली, कुन्दरी, त्रिकोल, चठैल, भिण्डी, अगस्त्य के फूल, गुमां के फूल, कचनार के फूल की झुरी, सन्जी बनाकर दें। भूंग की दाल का पानी बायविडिङ्ग का चूर्ण और घी, हींग से बघार कर दें। इन्द्र जौ के १ तोले को काढ़े में मिलाकर गाय का दूध भी दे सकते हैं। इन्हें भी जरूर दें। गरीबों को मांड़ भात दें और प्याज की भूँजिया, लशुन की चटनी दें। साफ सुथरा रखें।

—प्राचार्य श्री दारोगाप्रसाद मिश्र
आयुर्वेदिक कालेज, मोतीहारी (चम्पारण)



गुदपाक-गुदभ्रंश व गुदार्श

वैद्य श्री नागेशदत्त शुक्ल आयुर्वेदाचार्य

गुदपाक

गुदपाक, गुदभ्रंश, गुदार्श ये तीनों रोग आयुर्वेद क्षेत्र विचार सीमा की दृष्टि से कायचिकित्सा और शल्यतंत्र दोनों के अन्तर्गत आते हैं। इन तीनों रोगों में आभ्यन्तर व बाह्य, दोनों चिकित्साओं का आश्रय लिया जाता है। ये तीनों रोग बाल, युवा, वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होते हैं। काय चिकित्सा की दृष्टि से ये तीनों रोग परतंत्र (उपद्रवस्वरूप) होकर स्वतंत्र रोग के नाश के बाद नष्ट हो जाते हैं। गुदपाक पित्तज अतिसार व सन्निपातज अतिसार की तीव्रावस्था में उत्पन्न होता है। 'तृष्णा दाह स्वेद मूर्च्छा शूल त्रिधन संतापपाक परीत इति पित्तातिसारः। अस्तपक्वगुदं पतित गुदबलिम्।' च. चि. अ. ११ सू. ६-१३। पित्तातिसार में प्यास, जलन, पसीना, चक्कर, शूल, गुदा में जलन और पाक उत्पन्न होता है। सन्निपातज अतिसार में गुदा शिथिल होजाती है, पक जाती है, गुदा का बलि स्थान भ्रष्ट हो जाता है। शिशुरोगाङ्क की दृष्टि से इस लेख में उक्त तीनों रोगों पर बाल रोगों की दृष्टि से विचार करना है। गुदपाक चिरकाल तक अतिसार रहने के कारण उत्पन्न होता है। यदि बालक को अतिसारजनित गुदपाक हो तो अतिसार चिकित्सा द्वारा अतिसार शान्त होने पर सामान्य स्थानिक चिकित्सा द्वारा गुदपाक मिट जाता है।

कभी कभी अतिसार के उपद्रव में गुदपाक होने पर माता द्वारा प्रक्षालन प्रोच्छन्न की उपेक्षा के कारण गुदा व्रणित हो जाती है। ऐसी व्रणितावस्था में अतिसार चिकित्सा से अधिक स्थानिक चिकित्सा को महत्व दिया जाता है। गुदपाक की सामान्य व विशेष दो संप्राप्ति मान्य हो सकती हैं।

अतिसार के अभाव में भी बालकों को गुदपाक होता है। ऐसे गुदपाक का समावेश आयुर्वेदाङ्ग की दृष्टि से कौमारश्रुत्य व क्षुद्ररोगाधिकार में किया गया है। बालकों की आहार की दृष्टि से तीन अवस्थायें होती हैं—क्षीराद, क्षीरान्नाद, अन्नाद। वागभट्टाचार्य ने अष्टाङ्ग हृदय के उत्तरतंत्र में लिखा है कि माता के दूध में दोष होने के कारण बालक के पाचन संस्थान में दूध का पाचन ठीक ठीक नहीं होता, मलसाव होता रहता है, मल गुदद्वार पर बहिर्भाग में लगा रहता है। स्वच्छता की असावधानी में गुदा पर लगा मल गुदा के चारों ओर के चर्म को दूषित करता है।

बच्चे की मां यदि चरपरे, गरम मसाले युक्त, तेल से तले, तेज पदार्थ खाती है, बीड़ी सिग्रेट पीती है, धूप में काम करती है, पित्त संचय करने वाले पदार्थ खाती है तो पित्त संचित होकर दूध को दूषित कर दूध द्वारा बालक को प्राप्त होता है। ऐसे दूध में द्रवत्व, तीक्ष्णता तथा उष्णता अधिक रहती है।

उष्ण तीक्ष्ण अग्लतायुक्त दूध से निर्मित स्थूलमल के गुदा में लगे रहने से गुदपरिसर चर्म पर तीक्ष्णता से गुदा का अन्तर्गत व बहिर्भाग लाल रंग का हो जाता है। चर्म पर पिडिकायें आजाती हैं या व्रण हो जाता है, खुजली होती है, दूध की उष्णता के कारण बालक की गुदा पर पसीना अधिक आता है। पसीने के न पौछने से, स्नान न कराने से पसीना के द्वार से गुदपाक हो जाता है।

बालकों के इस गुदपाक के तंत्रकारों ने अनेक नाम दिये हैं। माता के दुष्ट दूध के कारण इस रोग का एक नाम मातृकादोष है। इसे अहिपूतन, प्रशार, गुदकुन्द, गुदकुट्टक कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने निदान स्थान के तेरहवें



अध्याय जुद्रोगाधिकार में अहिपूतन लिखा है। यदि मां ध्यान न दे तो बच्चे मलत्याग पांव पर बैठ कर नहीं करते हैं, ऐसी अवस्था में मूत्र भी बहकर गुदा पर जाता है। मल मूत्र दोनों मिल कर गुदा चर्म पर लगे रहने से अपान स्थान को दूषित करते हैं। च्चारीय तीक्ष्णता से चर्मगत आजक पित्त और आर्द्रता से कफ दूषित होता है जिससे त्वचा में लाली और खाज पैदा होती है, फुन्सियां आती हैं बच्चा खुजलाता है, फुन्सियां फूट जाती हैं। फिर उन फूटी हुई फुन्सियों पर मलमूत्र लगता है। ब्रण दूषित होकर पिड़िका हो जाते हैं।

माता के दूषित दूध से या मधुररस, पेपरमेन्ट शकर, गुड़ अदि के बच्चों को अधिक सेवन कराने से बच्चों के पेट में छोटे कृमि हो जाते हैं। वे कृमि मल के साथ बाहर आते हैं। और गुद बलि में लगे हुये मल में कृमि एकत्रित हो जाते हैं जिन्हें चुने कहते हैं। ये कृमि गुदा की आभ्यन्तर त्वचा को काटते हैं। गुदा में खुजली होती है गुदा लाल रंग की हो जाती है। इस प्रकार कृमिज गुदपाक भी बालकों में प्रायः पाया जाता है।

इस प्रकार निदान व संप्राप्ति भेद से गुदपाक के तीन भेद हैं—अतिसारज गुदपाक, स्तन्यदोष व अस्वच्छताजनित गुदपाक, व कृमिज गुदपाक।

चिकित्सा—

अतिसारज गुदपाक प्रायः परतंत्र होता है। अतिसारज गुदपाक में बालकों की आहारावस्था की दृष्टि से चिकित्सा करनी चाहिये। यदि बालक केवल दूध पीता है तो बालक की माता की परीक्षा कर स्तन्य शुद्धि के लिये चिकित्सा करनी चाहिए। यदि माता को प्रसूतिका, अतिसार या ग्रहणी हो तो रोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिये। मां को यदि अतिसार प्रबल हो तो मां का दूध बच्चे के लिए छुड़ा देना चाहिये। बच्चे को थोड़े ही दिनों की व्यायी हुई गाय के दूध पर रखना चाहिये। बच्चे को ४ गुंज (रत्ती) चातुर्भद्र चूर्ण को दूध में कथित

कर दिन में तीन बार देना चाहिये, या महागन्ध रस के एक गुंज को तीन मात्रा में विभाजित कर दिन रात में देना चाहिये। स्थानिक चिकित्सा के लिए रसौत थोड़े पानी में गीला कर मधु में मिला कर लगाना चाहिये। या बेर के हरे पत्तों को सिल पर बारीक पीसकर मधु में मिलाकर लगाना चाहिये। जैसे जैसे बालक का अतिसार ठीक होता जाता है वैसे वैसे बालकों का गुदपाक ठीक होता जाता है, मिट जाता है।

जिन बालकों को अस्वच्छता के कारण गुदपाक हो जाता है उनकी स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि गुदपाक होकर ज्यादा दिन हो गये हों, या गुदपाक तीव्र हो ज्यादा लाली हो, दाह हो, चोष हो तो जौंक लगाकर रक्त निकाल देना चाहिए। रक्त निकल जाने से रोग शीघ्र शान्त हो जाता है।

गुदपाक जनित ब्रण को त्रिफला बेर की पत्ती या पाकर (पीपल भेद) के पत्तों को पानी में उबाल कर उस पानी से धोना चाहिये। ब्रण ज्यादा बढ़ गया हो पीप हो तो हीराकशीश, गौरोचन, नीला-थोथा, मैन्सिल, हरताल, रसौत प्रत्येक एक एक माशा लेकर एक छटांक धोये हुये घी में या बैल-लीन में मलहम बनाकर घावों में लगाना चाहिये। घावों पर कपास रखकर गोफणबंध पट्टी से करना चाहिये।

यदि खुजली ज्यादा हो तो मुलेठी, सारिवा, शंखनाभि, कालासुरमा, सफेद सुरमा, असन की छाल सब समान भाग कूटकर कपड़े में छानकर रख लेना चाहिये। इस सूक्ष्म चूर्ण को ब्रण पर बुकाना चाहिये और त्रिफला काथ से धोना चाहिये।

सामान्यावस्था में त्रिफला की कालीभस्म १ तोला, निम्ब तैल २॥ तोला में मिलाकर लगाने से अस्वच्छताजनित गुदपाक शीघ्र चला जाता है। गुदकुन्दक, अहिपूतनादि गुदपाकी बालक के माता के स्तन्य की परीक्षा करनी चाहिये। स्तन्य

विषद बातज, पित्तज, कफज जिस स्वरूप की हो उसके अनुसार स्तन्य संपत्ति के लिये यथादोष चिकित्सा करनी चाहिये। माता के बातज दुग्ध दोष के लिये पाद्री शुंठी देवदारु गुड़ बेल का एक तोला का काथ पिलाना चाहिये। पित्तज में नागरमोथा, सारिवा विषयता, कुटकी का काथ, तथा कफज में मरोड़फली, इन्द्रयव, नागरमोथा का काथ पिलाना चाहिये।

औषधि शुरू करने के पहले एक तोला मैन-फल चूर्ण को सेर भर दूध में पकाकर बच्चे की मां को प्रातः ६ बजे भरपेट गले तक भोजन कराके ब्रमन के लिये पिलाना चाहिये। ब्रमन के बाद काथ देने से शीघ्र लाभ होता है। उक्त औषधों का लेप मातृस्तनों पर करना चाहिये। एक घंटे लगे रहने के बाद गरम जल से धो देना चाहिये। इस प्रकार दूध की शुद्धि हो जाती है।

कृमिज गुदपाक में—कृमिनाशक चिकित्सा की जाती है। बायबिडंग व कबीला को समभाग चूर्ण कर १ माशा चूर्ण व एक माशा हल्दा चूर्ण के साथ मां के दूध में एक मात्रा में लगातार तीन दिन देना चाहिये। इस दूध में थोड़ा मधु मिलाकर देने से बच्चे पी लेते हैं। उक्त औषधों का काथ कर दूध में मिलाकर भी दिया जाता है।

१ तोला बायबिडंग चूर्ण को आधा सेर जल में चतुर्थांश काथ कर ग्लेसरिन सिरिज से वस्ति देनी चाहिये। बाद में २ गुंज कुचिला चूर्ण एक माशा कबीला को मधु में मिलाकर गुदा के अन्दर लगाना चाहिये। इस प्रकार कृमि नष्ट हो जाते हैं। बाद में स्थानिक चिकित्सा की दृष्टि से रक्तिमा को दूर करने के लिये के लिये तिल को पानी में भिगोकर पीस कर मधु में मिलाकर लगाना चाहिये।

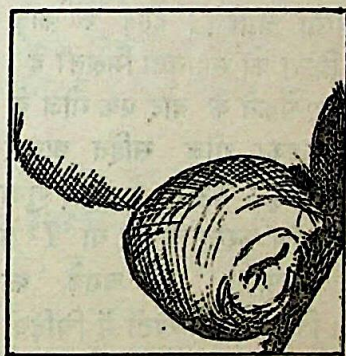
गुदभ्रंश

बातज अतिसार में उपद्रवस्वरूप गुदभ्रंश होता है। 'भ्रष्ट गुदो मुहुर्मुहुर्विप्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्।' च. चि. १६-७। बातज अतिसार

बाल, युवा, वृद्ध तीनों अवस्थाओं में होता है। वृद्धावस्था का अतिसार तो यूँ ही असाध्य होता है यदि बातज प्रकृति हो, बातज अतिसार हो, और गुदभ्रंश हो तो सर्वथा असाध्य है। इस लेख में बालगुदभ्रंश पर ही विचार करना है।

आचार्य सुश्रुत ने निदानस्थान के छुद्ररोगाधिकार में लिखा है कि पुरीष के वेग को बलात् उदीरण करने से चिरकाल तक अतिसार रहने के कारण से शरीर की रुक्षता व दुर्बलता के कारण गुदा बाहर गिरने लगती है। वातप्रकोप से गुदा की आकुञ्चन क्रिया शिथिल हो जाती है। गुद बलि की निर्बलता से गुदभ्रंश होता है जिसे कांच निकलना भी कहते हैं।

वातज अतिसार में मल आसानी से नहीं गिरता कूथना पड़ता है। बार बार कूथने से गुदबलि पर जोर पड़ता है। जबरदस्ती कूथकर मल निकालने से कांच बाहर पड़ने लगती, रूखे दुबले शरीर के बच्चों की गुदबलि में संधारण क्रिया शिथिल हो



चित्र नं० ७४—गुद-भ्रंश

जाती है, गुदभ्रंश हो जाता है। बलात् मलबिसर्जन, अधिक मल बिसर्जन एवं दौर्बल्यजनित गुद असंधारण तीन भेद शास्त्रीय प्राप्त होते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बच्चे स्वस्थ देखे जाते हैं, और उन्हें गुदभ्रंश होजाता है और गुदभ्रंश के बाद अतिसार शुरू हो जाता है और गुदभ्रंश ठीक होते ही अतिसार भी नष्ट हो जाता है।



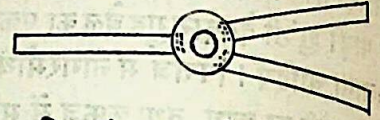
जिन बालकों को अशमरी होती है या जिन्हें सन्निरुद्ध गुद पहले हुआ रहता है उन्हें मलत्याग को बल देकर कूथना पड़ता है। उन्हें भी गुदभ्रंश हो जाता है। इस प्रकार गुदभ्रंश स्वतन्त्र भी है परतन्त्र भी है।

गुदभ्रंश के स्वरूप में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ बालकों की गुदा का थोड़ा भाग, श्लेष्मकला बाहर आती है। कुछ के गुदा की पूरी भित्ति बाहर आती है। इस प्रकार यह एकदेशीय और पूर्ण गुदभ्रंश के रूप में दिखायी पड़ता है।

चिकित्सा

जब कांच बाहर पड़ जाती है तब फौरन गुदा को बैठाने का प्रथमोपचार आवश्यक है। नये रोगी की गुदा जब थोड़े प्रमाण में निकलती है तब गुदा को साधारण गरम जल या वृहत् पंचभूत के क्वाथ से धोकर गुदा को अंगुलि से ऊपर की उठाने से गुदा अपने स्थान में बैठ जाती है। जब पूरी गुदा बाहर आजाती है, तब उसे वृहत्पंचमूल के साधारण गरम क्वाथ से सेकना चाहिये। या बड़े हल्ड़े के काढ़े से धोना चाहिये। हल्ड़े के काढ़े से गुदा में संकोचन क्रिया को सहायता मिलती है। बालक को पट्टी लिटाकर सेंकने के बाद एक गौज के टुकड़े से आंत को पकड़कर गौज सहित अन्दर ढकेल कर बैठाया जाता है। बैठाने के बाद गुदा पर चमड़े का गोफणा बंध करना चाहिए या 'T' पट्टी बांधनी चाहिये। गोफणा बंध चमड़े का बनाया जाता है। किसान लोग खेतों में चिड़ियों को उड़ाने के लिये रस्सी की गोफन बनाते हैं। गोफन के मध्य भाग के आकार का गोफणा बंध होता है। चर्म के मध्य में मल और वायु निकलने के लिये छिद्र रहता है। एक चौड़े चमड़े के टुकड़े में मध्य में गुदा की गोलाई का छिद्र रहता है। पीठ के भाग में ऊपर कमर में लेजाने को एक चमड़े की पतली पट्टी या बद्धी रहती है। नीचे के भाग में दो इंच के अन्तर पर दोनों तरफ एक एक दो पट्टियां रहती हैं। नीचे की पट्टियों को सामने के भाग में

अण्डकोष के दोनों तरफ से ऊपर की ओर लाकर कमर में बांधा जाता है। कमर के पट्टे के



चित्र नं० ७५—गोफणा-बन्ध

गोफणा बंध बांधा जाता है या क्लिप लगाते हैं। गोफणाबंध के बांधने पर, कूथने पर भी गुदा बाहर नहीं निकलती है। अन्दर का गौज मल के साथ बाहर निकल जाता है।

पहली बार इस प्रकार गुदा को बैठाने पर दुबारा भ्रंश पर या बिना भ्रंश के गुदा सुख बनाने के लिये गाय की चर्बी या चूहे की चर्बी बनी उपयोगी है। चर्बी के चुपड़ने से गुदा का वायु स्रव हो जाता है। गुदभ्रंश पर चूहे के मांस को उबाल कर पोटली द्वारा सेंकने से लाभ होता है। मधु मूसिक (छछुंदर) की आंत को पृथक कर छछुंदर के मांस से सिद्ध तैल को चुपड़ने से गुदभ्रंश मिट जाता है। आयुर्वेद सेवा संघ नासिक द्वारा निर्मित मधु मूसिक तैल गुदभ्रंश के लिये उपयोगी है।

गुदभ्रंश रोगी बालक को मलत्याग के लिये उकड़ु मुकड़ु (उत्कटुक) नहीं बैठना चाहिये। बड़े लेटे दाहिने करबट में मल त्याग कराना चाहिए। दोनों नितम्बों को हाथ से इकट्ठे रखना चाहिये। इस प्रकार वगैरे कूथे मलत्याग हो जाता है।

साथ ही कायचिकित्सा पर ध्यान दिया जाता है। यदि बालक को अशमरी हो तो ४ गुंज (रत्ती) श्वेतपर्पटी, २ गुंज गोक्षुरादि गुग्गुल का सेवन कराना चाहिये। यदि सन्निरुद्ध गुद हो, मल बाहर छोटा हो तो सुअर या मगर की चर्बी गुदा में चुपड़ानी चाहिये। गुदाद्वार के अनुसार लकड़ी या प्लास्टिक की छोटी नली चक्रतैल या घी में चुपड़ कर गुदा में प्रविष्ट करनी चाहिये। क्रमशः धीरे धीरे बड़े वृत्त की काष्ठ नली प्रवेश करनी चाहिये।

शिशु रोगाङ्कः

इस क्रम से गुद द्वार बड़ा हो जाता है, मल आने की रुकावट दूर हो जाती है कूथना नहीं पड़ता और गुदभ्रंश ठीक हो जाता है।

यदि बालक को विबन्ध हो, विबन्ध के कारण गुदभ्रंश हो तो अमलतास का गुदा दूध में मिला कर देना चाहिये। अतिसार न हो और विबन्ध ही कारण हो तो मल को पतला कर निकालने के लिये १ गुंज अश्वकंचुकी रस दूध में देना चाहिये। कुछ दिन नियमित देने से विबन्ध मिट जाता है।

यदि बालक को अतिसार मुख्य व्याधि हो तो चातुर्भद्र चूर्ण, सुग्ध रस, रसपर्पटी, या महागन्धकरस में से किसी एक औषधि की योजना करनी चाहिये। अतिसार चिकित्सा व स्थानिक चिकित्सा से बालक अच्छा हो जाता है।

दुर्बल बालक को माता का दूध पूरा नहीं मिलता। अतः पोषक आहार देना चाहिए। गाय का दूध घी, मधु परमौषध हैं। शरीर पर चंदन बला लाक्षादि तैल या लाक्षादि तैल की मालिश करनी चाहिए। १ गुंज बालाकरस २ मात्रा दिन भर कुछ काल तक देते रहना चाहिए। धन्वन्तरि कार्यालय की कुमारकल्याण घुटी देनी चाहिये। साथ ही स्थानिक चिकित्सा करनी चाहिए।

कुछ सम्पन्न घरों में एक ही छोटा बच्चा होता है। मां प्यार के मारे आहार की अधिक मात्रा रोज देते रह कर भी रुप्त नहीं होती। जिससे बालक को मलबद्धता हो जाती है और मल बद्धता दूर करने को सारक औषधियां दी जाती हैं और गुदभ्रंश हो जाता है। ऐसी स्थिति में आहार पर नियन्त्रण करना चाहिये। साम मल को पचाने के लिये पाचक औषधियां देनी चाहिए।

पाचकाग्नि को ठीक करने और गुदभ्रंश की व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की दृष्टि से तिनपतिया (चांगेरी), बेर, दही के पानी, सोंठ, सेंधानमक से सिद्ध चांगेरी घृत अत्यन्त लाभदायक है।

बाल गुदार्श

बालक के माता पिता के अर्श होने से, गर्भा-

धान काल में अर्श प्रकोप के रहने से गर्भगृथ संतति को भी अर्श हो जाता है जिसे सहज अर्श कहते हैं। आचार्य गगभट ने अर्श के उत्थान भेद से दो भेद बतलाये हैं, प्रथम सहज, दूसरा आहार विहारों के



चित्र नं० ७६

गुदार्श-मस्सा गुदा के अन्दर है।

रखकर ही स्वस्थ रखा जा सकता है।

अर्श के स्त्राव की दृष्टि से दो भेद हैं, एक सूखा, दूसरा स्त्रावी। दोष और उत्थान के भेद से वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्तज व सहज छः भेद होते हैं। बालकों के सहज अर्श होने पर भी दोष भेद से ही निदान और चिकित्सा की जाती है। साध्यासाध्य के लिये उत्थान का विचार आवश्यक है।

दोष भेद से अर्श पांच प्रकार का ही होता है। यदि उत्तरकालज अर्श हो तो बालकों का अर्श सुसाध्य है। 'तत अचिरकाल जातात्यल्प दोष लिंगो-पद्रवाणि भेषज साध्यानि' सु. चि. ६-३। यदि अर्श थोड़े ही समय का हो तो दोष लिंग उपद्रव कम रहते हैं। अतः साध्य होता है।

वयस्क पुरुष के शरीर में अर्श का अधिष्ठान गुदा के साढ़े पांच अंगुल में होता है। पर शिशु के शरीर का विकास अल्प होता है। उसकी अंगुलियों के अनुपात से उतना ही होता है।

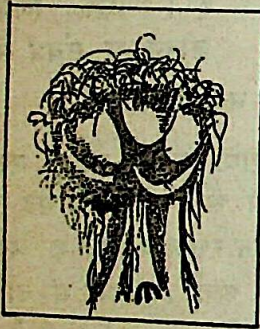
अधिष्ठान की दृष्टि से अर्श गुदा की तीन बलियों में होता है। प्रवाहिणी में, विसर्जिनी में, संवरणी अर्थात् गुदा के नीचे के हिस्से में। वयस्क



के एक अंगुल प्रमाण में शिशु की गुदा की तीनों बलियां रहती हैं। अर्श को बलि की दृष्टि से आभ्यन्तर और बहिः कहा जाता है। बच्चों का आभ्यन्तर अर्श भी साध्य है। अर्श अतिसार और प्रहणी प्रायः अन्योन्य निदान होते हैं। ये तीनों रोग मंदाग्नि से उत्पन्न होते हैं। इन तीनों में समाग्नि स्थापित करने पर रोग नष्ट हो जाते हैं।

अर्श-त्रिदोष और रक्त या अन्यतम प्रकुपित होकर अपान संस्थानगत त्वचा, मांस और मेदोधातु को दूषितकर गुदा में मांसाकुरों को (कोम को) उत्पन्न करते हैं जिन्हें अर्श कहा जाता है।

अर्शस्वरूप—सहज अर्श देखने में खराब, खड़-



चित्र ०७७

गुदाश-यु... से बाहर मस्से निकले हुए हैं।

बड़े, ऊपर से धूलि लगे से दीखने वाले और अन्दर के भाग में होते हैं। शरीर कृश, मन्दाग्नि, अल्पाहारी, सुस्त, शरीर की शिरायें देख पड़ती हैं। ऐसा रोगी नाक, आंख, कान और शिर का भी रोगी होता है।

वातार्श—मांसांकुर सूखे हुये, गुलाबी रंग के होते हैं कोम का मध्यभाग दबा हुआ होता है। स्वरूप कदम्ब के फूल कुन्दरु के आकार के होते हैं, रोगी का पेट, यकृत सीढ़ा बढ़ी हुई होती हैं। गुदा में, कमर में, नाभि में पीड़ा होती है इससे बालक वहां हाथ का स्पर्श करता रहता है।

पित्तार्श—मांसांकुर पतले, फूले हुये, पीले, लाल, तोते की नोंक की शकल के या जोंक के मुंह की तरह होते हैं, गीले रहते हैं। रोगी का शरीर गरम, ज्वर, प्यास साथ रहती है।

कफार्श—मांसांकुर सफेद, बड़े, गोल, चिकने किशमिश के आकार के होते हैं। खुजली ज्यादा

आती है। फूटते नहीं, बालक खुजाने को गुदा पर हाथ लगाता है। खुजाने पर बच्चे को गुदा पर मालूम होता है। शरीर सुस्त रहता है गुदा पर सूजन रहती है।

सन्निपातजार्श—तीनों दोषों के एकत्रित चिह्न रोगी में देख पड़ते हैं।

रक्तजार्श—मांसांकुर बड़े के पत्रांकुर की तरह मूंगे के रंग के, पित्तज अर्श के लक्षणों वाले होते हैं, रोगी के अर्श से कभी कभी दूषित रक्त ज्यादा प्रमाण में निकलता है। ज्यादा रक्त निकलने से रक्तक्षय के चिह्न बालक के शरीर में देख पड़ते हैं।

बालकों का अर्श संस्थान अल्पायतन होता है, इससे अंकुर भी अति परिगणित होते हैं।

चिकित्सा—

अर्श की चार चिकित्सायें आचार्य सुश्रुत ने बतलायी हैं—आभ्यन्तर औषधि और बाह्य औषधि। अर्श संस्थान पर चारपात, अग्नि, दाह और शस्त्र द्वारा शल्यकर्म। चार प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्य ने बतलाया है कि “दुर्बल बाल स्थविरादि नैते चार कृत्याः”। बालकों के लिये चार प्रयोग असह्य है। अर्श के बाल रोगी चार प्रयोग के अधिकारी नहीं हैं। जब बच्चों के लिये चार क्रिया निषिद्ध है तब उससे बड़ी क्रिया अधिक निषिद्ध है। ‘चारादग्नि-गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः’ सु. सू. १२-३। अर्शपर शस्त्र क्रिया के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि ‘तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण’ जिन मांसांकुरों की जड़ें सूक्ष्म गई हुई हों, उभरे हुए हों, गीले हों, उनकी चिकित्सा शस्त्र क्रिया द्वारा करनी चाहिये। अतः बच्चों के लिये ‘तत्र अचिर काल जातात्यल्प दोष लिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि’ श्रेष्ठ सूत्र है।

वातार्श में—बालक रोगी के उदर की परीक्षा करनी चाहिये। यदि बालक क्षीरान्ताद है तो माता और बालक दोनों को औषधि देनी चाहिये। यकृत

लीहा वृद्धि में बड़ी हरड़ को घिसकर पिलाना चाहिये। सूरण या भिलावे का चार १।४ गुंज, ३ माशा कुमार्यासय में मिला कर पिलाना चाहिये। 'नैते चार कृत्याः' से विशेष चार ही निषिद्ध हैं। इससे यकृत्लीहा विकार नष्ट होने के साथ ही अर्श भी नष्ट हो जाते हैं। मांसांकुर पर सुअर की चर्बी गरमकर लगानी मलनी चाहिये। चर्बी कमर में मलने से दर्द दूर हो जाता है। गोमूत्र से सेंकना चाहिये। १ माशा गोरोचन और १ तोला पिप्पली का चूर्ण, २॥ तोला घी में मलहम कर लगाना चाहिये।

पित्तार्श में—बालकों को ज्वर हो तो चातुर्भद्र चूर्ण २ गुंज गुडूची सत्व १ गंज मिलाकर दूध में देने से ज्वर शान्त होजाता है। अर्श के लिये कुटजघन आधा गुंज अथवा कुटजारिष्ट ३ माशा दूध में मिलाकर देना चाहिये। अर्श स्थान में काले तिल को भिगोकर पीस कर मधु में मिलाकर लगाना चाहिये।

रक्तार्श में—चन्द्रपुटी प्रबालभस्म आध गुंज कुटजारिष्ट के साथ दूध में देना चाहिये। अथवा मधुमाण्डूर १/४ गुंज कुटजारिष्ट के साथ देना चाहिये। पित्तार्श में वर्णित लेप लगाना चाहिये।

कफार्श में—बालकों को बालहल्डा को दूध में घिसकर रोज सायंकाल देते रहने से मल शुद्ध होता रहता है। सूरण मोदक २ गुंज, गोमूत्र ४ बूंद दूध में मिला कर रोज दो बार पिलाना चाहिये। कडुबी तुम्बी (लौकी) कडुबी सहपुतिया के अन्दर के

मगज को बारीक चूर्ण कर मांसांकुर पर मलना चाहिये। या बृहत् काशीशादि तैल चुपड़ना चाहिये।

अर्श और गुदभ्रंश संकर—बाज बाज बालकों अर्श और गुदभ्रंश दोनों होते हैं। अगर अर्श अन्तर्बलि में हो तो और भी कठिनाई होती है। अन्तर्बलि में अर्श रहने पर जब गुदभ्रंश होता है तब मांसांकुर सूज जाते हैं और गुदा शीघ्र अन्दर नहीं जाती। ऐसी स्थिति में बृहत्पंचमूल या दशमूल के क्वाथ से सेंकना चाहिये। सेंकने से सूजन कम हो जाती है। दशाङ्गलेप के सूक्ष्मचूर्ण को घी में मिलाकर भ्रंश अंत्र पर लगाना चाहिये। बाद में एक गाज से गुदा को बैठाना चाहिये। ऊपर से गोफणा बंध करना चाहिये। मल को द्रव प्रवाहित करने लिये अमलतास का मगज, या बालहल्डा दूध में रोज रात्रि में देते रहना चाहिये।

बड़ी हरड़ के छिलके को रात्रि में जल में भिगो देना चाहिये। और हल्डे के जल से आवदस्त कराना चाहिये। लसोड़े के फलों से सिद्ध घृत ग्लेसरीनसिरिज द्वारा गुदा में पहुंचाना चाहिये। महागंधक रस आधा गुंज, भिलावे का चार ३ गुंज मिलाकर दूध में देना चाहिये। साथ ही आहार में द्रवपदार्थ हो देते रहना चाहिये। इस क्रिया से गुदभ्रंशयुक्त अर्श भी नष्ट हो जाते हैं।

—श्री नागेशदत्त शुक्ल आयुर्वेदाचार्य
जालना (महाराष्ट्र)

बालकों का गुदपाक

आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री एम. ए. विद्याभास्कर

गुदपाक रोग शिशु के लिये घोर कष्टदायक है। यह गुदामार्ग के अन्तः एवं बहिः दोनों ही स्थानों पर हो जाता है। इसमें बच्चों की गुदा पक जाती है और उसमें फोड़े फुन्सियां, छाले व घाव

हो जाते हैं और उनमें से पूयस्राव, रक्तस्राव या जलस्राव होता रहता है। बालकों को तीव्र वेदना होती है। टट्टी जाते समय भयंकर पीड़ाये होती हैं। कभी कभी पके हुए ब्रणों में कृमि भी पड़ जाते हैं।



कारण —

मिथ्याहारविहार करने वाली, पित्त प्रधान आहार पेय आदि सेवन करने वाली एवं गरिष्ठ पदार्थ प्रयोग करने वाली और अत्यधिक पित्तोत्पादक परिश्रम करने वाली माता का दूध पीने से वा दूषित प्रतिकूल गोदुग्ध आदि के सेवन से या तीव्र पित्त प्रधान औषधों के सेवन से बालक के गुद स्थान के मलों को न धोने से गुदा पक जाती है। हरे, पीले, श्वेत व रक्त फोड़े टट्टी के स्थान पर उत्पन्न हो जाते हैं। भैषज्य रत्नावली के बाल रोगाधिकार में इसका स्पष्ट उल्लेख है—

दुष्टमन्नादिभिर्मातुः स्तन्यं सम्पिबतः [शिशोः ।
यदाप्रकुपितं पित्तं गुदं सममिधावति ॥ १ ॥
तदा सञ्जायते तत्र जलौकोदर सन्निभः ।
व्रणः सदाहो व्यक्तोष्मा तदास्यस्याज्ज्वरः परः ॥ २ ॥
हरितं पीतकं वापि बर्चस्तेन भवेद्भ्रुवम् ।
व्रणः पश्चाद् रजोनाम व्याधिः परमदारुणः ॥ ३ ॥

गुदपाक रोग में प्रधानतया पित्त का ही प्रकोप होता है और उसके दूषित होने से गुदस्थली पर जोंक के पेट के समान व्रण बालकों के हो जाते हैं। इसमें दाह, उष्णता, ज्वर, हरे पीले अतिसार तथा बेचैनी होती है। इस रोग का नाम 'पश्चाद्रुज' है यह अत्यधिक कष्टदायक है।

लक्षण —

बालक के मल निर्गमस्थान के भीतर तथा बाहर बड़े छोटे हरे पीले लाल, जोंक के पेट के समान पीले, चितकबरे, दाहयुक्त स्पर्श में उष्ण, कंठयुक्त, स्राववाले, अलग अलग या एक छत्ते वाले फोड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके उपद्रव ज्वर, दाह, बेचैनी, पीतहरित अतिसार आदि हो जाते हैं।

गुदपाक

१—माता के दूषित आहार विहार के द्वारा प्रकुपित पित्त की दुग्ध द्वारा बालक के गुद मार्ग की ओर गति।

इस रोग से दुःखित बालक दिन रात तड़फड़ाता रहता है। चिकित्सा ठीक न होने से व्रणों में कृमि भी पड़ जाते हैं, जिनसे घाव बहुत ही विकृत व कष्टसाध्य बन जाता है।

चिकित्सा —

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनम् विशेषेण पानालेपनयोहितम् ॥
चन्दनं सारिवे द्वे शंखिनीति समायुक्तैः ।
पश्चाद्रुजे प्रलेपोऽयं अवलेहस्तुशस्यते ॥
—भैषज्य०

योग रत्नाकर में भी निम्न प्रकार से चिकित्सा लिखी गई है—

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
शंख यष्टयञ्जन चूर्णं शिशूनां गुदपाकनुत् ॥
—योगरत्नाकर

छोटे बालकों के गुदपाक रोग में पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। विशेषकर रसौत का प्रयोग पान व लेप में हितावह है। चन्दन कृष्ण व श्वेत, अनन्तमूल तथा शंखिनी इनका लेप तथा अवलेह पश्चाद्रुज [गुदपाक] रोग को नष्ट करता है। योगरत्नाकर नामक आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी लिखा है कि बालकों के गुदपाक रोग में पित्तनाशक उपचार करना चाहिये। शङ्ख, मधुयष्टि और अञ्जन का चूर्ण शिशुओं के गुदपाक रोग को नष्ट करता है।

गुदपाक और अहिपूतन रोग—

आयुर्वेदोक्त ग्रन्थों में उक्त दोनों रोगों का उल्लेख मिलता है। दोनों की तुलना निम्न तालिका से की जा सकती है—

अहिपूतनक

१—बालक के गुदा के मल मूत्र व पसीने को न धोने से दोषों का प्रकोप।

२—पित्त की प्रधानता से गुद स्थान पर ब्रण दाह आदि का होना ।

३—पित्त के दोष से उष्णता, दाहयुक्त फोड़े होना तथा ज्वर का होना (गुदस्थान पर)

४—पश्चाद्गुज नामक व्याधि अत्यन्त कष्टदायक है। इसी को गुदपाक कहते हैं ।

२—स्नान के पश्चात् गुद स्थान के गीले रह जाने से क्लेद होना ।

३—रक्त कफ दोष से कण्डू व स्फोट आदि की उत्पत्ति ।

४—ब्रणों का एकीभूत होना, इसी को अहिपूतन रोग कहते हैं ।

गुदपाक व अहिपूतन की मीमांसा-

दोनों रोगों के कारण की वैभिन्न्यता होने पर भी स्थान व आकृति में प्रायः कुछ समानता है। दोनों ही गुदस्थली पर होते हैं। दोनों ही ब्रण व स्फोट रूप में उत्पन्न होते हैं, उपद्रव भी साधारणतया कुछ कुछ मिलते हैं। इतने से ही दोनों रोग एक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों रोगों के उत्पत्ति कारण भिन्न भिन्न हैं ।

गुदपाक में माता के पित्त प्रधान दूषित दुग्ध से दुग्धपायी शिशु का पित्त प्रकोप से गुदपाक हो जाता है जबकि अहिपूतन में रक्तकफ दोष से रोगोत्पत्ति है। गुदपाक अन्तःदोषों के प्रकोप से होता है और अहिपूतन बाह्य मल मूत्र स्वेदादि से होता है अतएव दोनों रोग पृथक् पृथक् हैं, इनमें एकीभाव नहीं हो सकता। आयुर्वेद शास्त्र में दोनों का अलग अलग उल्लेख है। आचार्य वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय के उत्तर स्थान में लिखा है और दोनों रोगों पर कुछ प्रकाश डाला है—

मलोपलेपात् स्वेदाद्वा गुदे रक्त कफोज्वरः ।

ताम्रोवर्णोऽन्तः कण्डूमान् जायते भूयःपद्रवः ॥१॥

केचित् मातृका दोषाद् बदन्त्यन्येऽहिपूतनम् ।

प्रष्टारुगुदकुन्दं च केचिच्च तमनामिकम् ॥२॥

उक्त पद्य संदर्भ में आचार्य ने केवल अहिपूतन को ही निश्चित नाम नहीं माना, अपितु भिन्न भिन्न मत दर्शाये हैं उनमें मातृका दोष की भी सम्पुष्टि है, अहिपूतन, प्रष्टास, अनामिक और गुदकुन्द ये नाम अन्य आचार्यों के मत में प्रसिद्ध हैं। गुदपाक दोनों ही रोगों में होता है, परन्तु निदान भिन्नता दोनों

ही रोगों में भिन्नता प्रदर्शित करती है।

अहिपूतन व गुदपाक की चिकित्सा--

तत्र धात्र्याः पयः शोध्यं पित्तश्लेष्म हरौषधैः ।

शृतशीतं च शीताम्बु युक्तमन्तर पानकम् ।

सचौद्र ताक्ष्यं शैलेन ब्रणं तेन च लेपयेत् ॥

वाग्भट्टाचार्य ने सबसे पूर्व पित्तकफनाशक औषधियों से माता के दूध का शोधन लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि अन्य आचार्यों के असमान वाग्भट्ट अहिपूतन को भी आन्तरिक दोष व बाह्य दोषों से दूषित मानते हैं। इसमें गुदपाक के समान ही रसौत व शीतल वस्तुओं के द्वारा उपचार विदित है। हीराकसीस, गोरोचन, नीला थोथा शुद्ध, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरिताल तथा शुद्ध रसौत को सूक्ष्म चूर्णकर बुरकें या खटाई में पीसकर लगावें। मुलहठी, शङ्ख, सौवीराञ्जन, सारिवा को सूक्ष्म पीसकर लेप करें। इन औषधियों का विधान करते हुए वाग्भट्ट ने एक महत्वपूर्ण निर्देश किया है।

सर्गं च पित्त ब्रणजित् शस्यते गुद कुट्टके ॥

—वाग्भट्ट उत्तर अ० २

उक्त गुद कुट्टक रोग में पित्त ब्रणों के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये। यही चिकित्सा गुदपाक रोग में भी होती है जैसे—

गुदपाकेतु बालानां पित्तधर्मी कारयेत् क्रियाम् ॥ —योग २०

अतएव दोनों की चिकित्सा वाग्भट्ट के मत में समानता रखती है।

दोनों रोगों का अधिकार—

गुदपाक रोग बाल रोगाधिकार में पठित है। और अहिपूतन रोग क्षुद्ररोगों में तथा बाल रोगों में दोनों ही स्थानों पर पढ़ा गया है परन्तु इस रोग



का शिशुओं से ही उभयत्र सम्बन्ध है। अब संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् कुछ प्रयोग स्वानुभूत लिख रहा हूँ—

स्वानुभूत चिकित्सा—

गुदपाक पर जो चिकित्सा सफल हुई उसके कुछ बाह्य प्रयोग वैद्य बन्धुओं के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ—

(१) मुर्दासङ्ग १। तोला, कासगरी सफेदा १। तोले दोनों को एकत्र पीस शतधौत शुद्ध घृत १। छटांक में मिलाकर दिन में तीन बार लगावें।

(२) सिन्दूर शुद्ध, चन्दन चूरा मलय, कत्था पपरिया, छोटी इलायची इनको समभाग लेकर चूर्ण कर शुद्ध घृत में लगावें।

(३) शीतल चीनी, नीम के फूल, मुलहठी, पद्माक्ष का सूक्ष्म चूर्ण कर शतधौत घृत से लगावें।

(४) मेंहदी पत्र, नीम के पत्र, गेंदे के पत्र, अनार के पत्र इनको छायाशुष्क कर कपड़छन कर बुरकें या शतधौत घृत में लगावें। केवल रसौत को गुलाब जल में धोलकर लगाना भी लाभप्रद है।

(५) माजूफल, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, कत्था पपरिया, मुर्दासङ्ग, सिंदूर, कासगरी सफेदा इनका समभाग चूर्ण घृत या बैसलीन में लगावें।

(६) कैलीमैना पिपरमेंट, जिंक आक्साइड, बोरिक एसिड इनको समभाग मिलाकर शुद्ध घृत में या बैसलीन में लगावें।

(७) पित्तनाशक औषधियों द्वारा माता का दूध अवश्य शुद्ध करावें। यदि मां का दूध न हो तो गौदुग्ध में पानी मिलाकर मुलहठी, नीलोफर, गुल-बनफसा, राइज पुष्पी, मुनक्का या सारिवात्वक् डालकर पकावें और छान मात्रा से बालक को पिलावें।

विज्ञप्ति—प्रतिदिन औषधि लगाने से पूर्व नीम, चन्दन, बकायन या अनन्तमूल के काथ से मृदु रुई से धोकर शुष्क कर लें, पुनः दवा का प्रयोग करें, चन्दन या नीम की धूनी देना भी हितकर है।

विशेष अवस्था में योग्य वैद्य की सम्मति लेना अत्यन्त आवश्यक है।

—आचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री वैद्य
विद्याभास्कर, वेद-आयुर्वेद, व्याकरण-साहित्याचार्य
इन्द्र औषधालय, नाई की मंडी, आगरा।

कुछ सफल प्रयोग

[१]

गुदपाक

(१) मुर्दासंग को कपड़छन करके गाय के तनीत में मिला मरहम तैयार कर लगावें।

(२) सल्फेनीलोमाइड भी नवनीत में मिला लगाने से ठीक हो जाता है।

—श्री डा० रामप्रसाद मिश्र वैद्य विशारद
ढोदर (रतलाप)

[२]

गुदभ्रंश

[१] बालक के मूत्र से उसे शौच करावें।

[२] कड़ुवा तैल लगाकर जला और पिसा हुआ लिसोड़ा लगावें।

[३] आम और जामुन की छाल और पत्तों को पानी में औटाकर उस पानी से शौच करावें—
श्री रामभरोसेलाल धाबाई
लवायन [जयपुर]

[३]

बच्चों की कांच बन्द करने वाली बूटी
अपराजिता कहीं कहीं इसकी बूटी का नाम
कृष्णकान्ता और योनि पुष्पी भी प्रचलित है।
इस बूटी की जड़ को मंगलवार और रविवार के
दिन लेकर बच्चे की कमर में बांध दें तो कांच
निकलना बन्द हो जाती है।

—श्री शारदाप्रसाद विशारद
सलेथू [रायबरेली]

डिफथीरिया

कविराज श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय

आयुर्वेद में रोहिणी नामक एक रोग का वर्णन है। वह गले में होता है, उसका समावेश डिफथीरिया में हो जाता है। उसकी सम्प्राप्ति में लिखा है—

गलेऽनिलः पित्त कफौ च मूर्च्छितौ,
प्रदूष्यमांसं च तथैव शोणितम् ।
गलोप संरोध करैस्तथाङ्कुरै,
निहत्यसून, व्याधिरियंतु रोहिणी ॥

अर्थात्—गले में पित्त वायु और कफ मूर्च्छित हो करके रक्त और मांस को दूषित करके गले को घेर लेने वाले या रोक देने वाले अङ्कुर या मिल्खी उत्पन्न कर देते हैं। यह रोहिणी रोग है और शीघ्र ही प्राणों का नाश करने वाला है। यह त्रिदोष—वात पित्त और कफ के बिगड़ने से उत्पन्न होता है। इसी कारण शीघ्र मारक है। त्रिदोषात्मक होने पर भी जिस दोष की विशेषता होती है उसी दोष के नाम से रोग माना जाता है। एलोपैथी के जितने लक्षण हैं सब ऊपर के एक श्लोक में ही आ गये हैं। यह रोहिणी रोग पांच तरह का होता है—वातज रोहिणी, पित्तज रोहिणी, कफज रोहिणी, सन्निपातज रोहिणी और रक्तज रोहिणी।

वातज रोहिणी

इसमें जीभ में चारों ओर वेदना होती है कण्ठ को रोक देने वाले मांसाङ्कुर या मिल्खी उत्पन्न हो जाती है और वायु सम्बन्धी अनेक उपद्रव हो जाते हैं, आक्षेप आदि वात के उपद्रव हैं।

पित्तज रोहिणी

यह बड़ी जल्दी ही बढ़ती है जल्दी पकती है इसमें ज्वर बहुत तेज हो जाता है, इसी रोग में ज्वर १०४-५-६ तक जाता है।

कफज रोहिणी—

यह धीरे धीरे बढ़ती है, देर में पकती है ज्वर बहुत हल्का रहता है।

सन्निपातज रोहिणी

इसमें तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित रहते हैं अर्थात् ज्वर तेज, विक्षेप, जुकाम, अरुचि आदि होते हैं। यह रोग वेग से बढ़ता है और रोक नहीं रुकता। यह रोग बड़ा गम्भीर है।

रक्तज रोहिणी

इसमें पित्त के से लक्षण होते हैं, यह असाध्य है और इसमें स्फोट या फफोले भी निकल आते हैं।

इस रोग के साध्य-असाध्य के सम्बन्ध में यह ऋषियों का निर्देश है—

सद्यः त्रिदोषजा हन्ति, त्र्यहात्कफ समुद्भवा ।

पंचाहात् पित्त सम्भूता सप्ताहात् पवनोत्थिता ॥

आरम्भ में ही अच्छी चिकित्सा से वातज, पित्तज, और कफज रोहिणी अच्छी हो सकती है। यदि देर की जाय और उचित चिकित्सा की व्यवस्था न हो सके तो कफज तीन दिनों में, पित्तज ५ दिनों में, और वातज ७ दिनों में असाध्य हो कर मारक हो जाती है। परन्तु सन्निपातज रोहिणी आरम्भ से ही असाध्य है। अतः इसकी चिकित्सा ही नहीं है। फिर भी पथ्य की उचित व्यवस्था करनी चाहिये सम्भव है भाग्य से रोगी बच जाय।

डिफथीरिया—एलोपैथीमत

डिफथीरिया गले का रोग है। बच्चों को यह बहुत अधिक होता है परन्तु बड़ों को भी हो सकता है। आरम्भ में इसका पता नहीं लगता। क्योंकि अकसर ऐसा होता है कि डिफथीरिया के आरम्भ में टांसिल में भी कुछ विकार आता है और चिकित्सक आरम्भ में यही समझने लगता है कि टांसिल बढ़ रहे हैं।

इस रोग का प्रादुर्भाव कभी तो बहुत हलका होता है और कभी बड़ा सांघातिक होता है। इस रोग में अकसर हलका ज्वर आता है। गले में



खराबी रहती है और शक्ति क्षीणता के साथ साथ कमजोरी रहती है गले में टांसिल में प्रदाह रहता है और वह लाल रहता है। अकसर एक ही टांसिल में प्रदाह रहता है, दोनों में प्रदाह हो ऐसा बहुत कम देखने में आता है। एक टांसिल पर एक भिखी दिखाई पड़ती है। इसका रङ्ग भूरा राख के रङ्ग का या त्राउन किंचित लाल रङ्ग का होता है। यह भिखी किसी में मोटी होती है किसी में पतली होती है इसका आकार छोटा ही होता है परन्तु यह बढ़ती है। ऐसा भी सम्भव है कि यह भिखी बहुत न बढ़े और यह भी सम्भव है कि भिखी बढ़ कर पूरे गले को ढक ले। यह बढ़ कर नाक के छेद में प्रवेश कर सकती है और सांस लेने के लिये हवा न मिलने के कारण प्राण निकल जाना सम्भव है। ऐसा भी सम्भव है कि भिखी बढ़ कर गले के नीचे लेरिंग्स में भी चली जाय। यह भी सम्भव है कि भिखी एक टांसिल पर ही रह जाय बढ़े नहीं।

डिफथीरिया का एक रूप और होता है। उसमें यह भिखी नहीं उत्पन्न होती, परन्तु टांसिल में प्रदाह हो जाता है, ज्वर रहता है और गले में डिफथीरिया के कीटाणु मिलते हैं। रोगी में कमजोरी रहती है। नाक में जब रोग का संक्रमण हो जाता है तब गले की ग्रंथियां विशेष रूप से बढ़ जाती हैं रोग में रक्त की कमी के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, दुर्बलता बढ़ जाती है। रक्त की कमी से शरीर पीला पड़ जाता है। दुर्बलता इतनी अधिक बढ़ती है कि हृदय भी कमजोर हो जाता है और हृदय की गति रुक जाने से भी मृत्यु होने का डर रहता है।

गले की तालु में इस रोग का संक्रमण होता है। ऐसी दशा में उस पर सफेद, पीला या हरा धन्वा पड़ जाता है।

जब लेरिंग्स में विकार चला जाता है तब उसे लेरिंग्स का डिफथीरिया कहते हैं और जब नाक में चला जाता है तब नाक का डिफथीरिया या

नाजल डिफथीरिया। इस रोग का प्रारम्भ हल्के जुकाम, गले में खराश, हल्की खांसी के साथ होता है और ज्वर बहुत थोड़ा रहता है। नवज काफी तेज और कमजोर रहती है। उसे देखते हुए जर कहीं कम होता है। इस रोग की उत्पत्ति क्लेन्स लोएफ्लर नामक कीटाणु से मानी जाती है। रोग का संक्रमण होने के दो दिनों से लेकर १० दिनों के भीतर रोग उत्पन्न हो जाता है परन्तु अकसर चौथे दिन ही रोग उत्पन्न हो जाता है।

रोग के कीटाणु मुख चूमने, बात करने, हँसने, खांसने, और छींकने आदि कारणों से एक से दूसरे को लगते हैं। वायु के द्वारा भी रोग के कीटाणु एक स्थान को पहुँच जाते हैं और दूध आदि के द्वारा भी कीटाणुओं का संक्रमण होता है। दूसरे का रुमाल आदि इस्तेमाल करने से भी यह रोग संक्रमण कर सकता है। आरम्भ में इस रोग में जुकाम या खांसी नहीं होती बल्कि ज्वर होता है।

एलौपैथ चिकित्सक रोगों की उत्पत्ति कीटाणु से ही मानते हैं। परन्तु जब तक उन कीटाणुओं को पनपने देने के लिए पहले से शरीर में विकार नहीं रहता ये कीटाणु शरीर में जाकर भी रोग नहीं उत्पन्न कर पाते। बहुत से बच्चों में और बड़े लोगों में भी डिफथीरिया के कीटाणु काफी मात्रा में मिलते हैं परन्तु सबको डिफथीरिया का रोग नहीं होता है। रोग केवल उन्हीं को होता है जिनके अन्दर गलत तरीके के भोजन के कारण विकार भरा है, खनिज लवण और विटामिनों से रहित भोजन करने के कारण जिनके रक्त की अम्लता बढ़ गई है, जिनके शरीर में जीवीय शक्ति का हास हो गया रहता है वे ही कीटाणुओं से रोगी होते हैं। अतः किसी भी रोग से बचने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर की जीवीय शक्ति बढ़ाई जाय, उचित आहार विहार द्वारा शरीर निर्विष रखा जाय, रक्त में अम्लता न आने दी जाय।



जो कृत्रिम मिक्ली बनती है उसमें मवाद, रक्त कणिका, दैहिक सूत्र और मरे हुए कीटाणु प्रभृति रहते हैं। आरम्भ में यह मिक्ली नरम रहती है फिर कड़ी हो जाती है और पीली पड़ जाती है। रोग यदि भयङ्कर हो तो यह मिक्ली श्याम वर्ण की भी हो जाती है। बीमारी यदि बहुत अधिक बढ़ जाय तो रोगी प्रलाप करता है, ज्वर १०५ से १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है।

रोग के अन्त में कभी कभी लकवा मार जाता है कुछ दिनों तक गले के नीचे कष्ट रहता है नाड़ी की गति घट जाती है, ४० या ५० रह जाती है। मूत्राघात और मूत्र कृच्छ्र भी हो जाता है। कभी कभी दृष्टि में विकार आ जाता है और एक ही चीज दो दिखाई पड़ती हैं।

चिकित्सा—

डिफ्थीरिया के इलाज के लिये डिफ्थीरिया का एक प्रतिविष आविष्कृत हुआ है। उनके इन्जेक्शन से कहीं-कहीं आश्चर्यजनक लाभ होता है। परन्तु इस प्रतिविष से जितने लोगों को लाभ दिखाई पड़ता है उससे कहीं अधिक लोगों को नुकसान होता है। बहुत से बच्चे ही नहीं जवान लोग भी इस प्रतिविष के प्रभाव से मरते देखे गये हैं। क्योंकि शरीर में प्रविष्ट हो यह विष का ही प्रभाव अक्सर दिखाता है। लोग मरते हैं विषैली के औषधि प्रभाव से और उनसे यह कहा जाता है कि ज्वर के कारण उनकी मृत्यु हो गई। किसी भी प्रकार का सीरम (रोग का पीव) शरीर में प्रवेश करना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है, विशेष करके बचपन में किसी का सीरम शरीर में प्रवेश करना मनुष्यता के साथ शत्रुता करना है। इस रोग का सीधा प्राकृतिक इलाज इस प्रकार होना चाहिये—

बच्चे को उपवास कराइये। उपवास में सन्तरे का रस दीजिये अथवा मिल सके तो अनन्नास का रस दीजिये। दूध बिलकुल ही बन्द कर दीजिये। सवेरे शाम दोनों समय गरम जल का एनिमा

दीजिये रोगी को चित्त मत लेटने दीजिये उसे उस कर-बट से लिटाइये जिस बगल डिफ्थीरिया का रोग हुआ है, जिधर मिक्ली बढ़ रही हो। जरूरत पड़े तो गरम पानी पीने को दीजिये। हर दो घंटे पर गले का पैक दीजिये। गले पर गीला कपड़ा लपेटकर ऊपर से फलालैन लपेट दीजिये। आप देखेंगे कि रोग घट रहा है और बच्चे का स्वास्थ्य लौट रहा है।

लहसुन का रस निकालकर उसमें थोड़ा सा गरम जल मिला कर गले में भीसी मारने (स्त्रे) से बहुत लाभ होता है। परन्तु यह भीसी मारने की क्रिया प्रत्येक १५-२० मिनट पर करनी चाहिए। अथवा यदि बच्चा बड़ा और समझदार हो तो उसके मुंह में लहसुन का जवा (टुकड़ा) डाल देना चाहिये और बच्चों से कह देना चाहिए कि थोड़ा थोड़ा कुचले कर लहसुन का रस हर समय गले में पहुँचाता रहे और हर घंटे या आधे घंटे पर लहसुन का जवा बदलते रहना चाहिए। लहसुन के प्रयोग से मिक्ली बढ़ती नहीं, रुक जाती है और धीरे-धीरे रोग के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। तथा गले की ग्रन्थियों का प्रदाह शान्त हो जाता है और डिफ्थीरिया का रोग दबने लगता है।

अदरक और नमक डाल कर पानी गरम करके और उसकी भाप लेने से तथा उसी पानी से गरारा देने से भी लाभ होता है।

जब रोग शान्त हो जाय प्रदाह मिट जाय तब बच्चे को फल खाने को देना चाहिये और तीन दिन या आवश्यकतानुसार फलाहार कराने के बाद धीरे धीरे रोटी-सब्जी पर आना चाहिये और बच्चे को उचित आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार का शुद्ध भोजन देना चाहिये जिसमें शरीर में फिर विकार इकट्ठा न हो।

डिफ्थीरिया के इलाज में किसी अनुभवी चिकित्सक से परामर्श और सहायता लेना अच्छा है। जहां कोई सहायता मिलनी सम्भव न हो वहां स्वयं ही इलाज हाथ में लेने का प्रयास करना चाहिए।



जो लोग कीटाणुओं को मारने का प्रयत्न करते हैं वे औषधियों द्वारा रोग के कीटाणुओं का नाश तो कर डालते हैं किन्तु विषैला अंश जो शरीर में पैदा हो गया रहता है, अथवा वह कीटाणु भी स्वयं उत्पन्न कर देता है उसे दूर करने का कोई भी उपाय वे नहीं करते। अतः भविष्य में और भी भयानक रोगों के उत्पन्न होने के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया जाता है।

यदि रोग की रुकावट न हो सके तो रोगी की जान संकट में पड़ जाती है और ट्रिकियोटोमी नामक आपरेशन करने की आवश्यकता पड़ती है जिसमें थाईराइड ग्रन्थि में सावधानी से आपरेशन करके श्वास नली में शुद्ध वायु पहुंचाने की चेष्टा की जाती है। यह क्रिया कोई सिद्धहस्त सर्जन ही कर सकता है।

रोहिणी चिकित्सा

साध्य रोहिणी की चिकित्सा रक्त निकलवाकर, वमन कराकर, औषधियों का धुवां पिला कर, कुल्ले और गरारे कराकर तथा नाक में औषधियां डालकर करनी चाहिये। इस रोग की प्रधान चिकित्सा वमन

कर देना और रक्त निकलवा देना है। आजकल चिकित्सक लोग रक्त नहीं निकालते इसी कारण इस रोग से मृत्यु-संख्या अधिक होती है। जिस स्थान पर रोग आक्रमण कर रहा हो वहीं से रक्त निकालना चाहिये। इसके लिए बहुत अच्छे सर्जन की आवश्यकता रहती है।

वातज रोहिणी में रक्त निकलवा कर नमक लगा दें और बार-बार गरम घी या तेल या औषधियों से पकाये हुये तेल को मुंह में लेकर कुछ देर रखें। पित्तज रोहिणी में रक्त निकलवा कर शहद, प्रियंगु और मिश्री का लेप करें। कफज रोहिणी में रक्त निकलवाकर सोंठ, मिर्च और पीपरः का लेप करें। मैन्फल, चमेली, वायबिडंग, अपामार्ग और दन्तीमूल तथा सेंधानमक डालकर विधि से सिद्ध किये तेल से कुल्ले करें, मुंह में रखें और नाक में टपकावें।

पथ्य वैसा ही रखें जैसे प्राकृतिक चिकित्सा में बताया गया है।

—कविराज श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय
महेन्द्र रसायनशाला, कटरा-इलाहाबाद

रोहिणी (Diphtheria)

श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी वैद्याचार्य आयुर्वेदाचार्य

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

आयुर्वेद में इसे रोहिणी, एलोपैथिक में डिफ्थीरिया तथा यूनानी लोग इसे खुनाक कहते हैं।

परिचय—यह एक अति संक्रामक रोग है। इस रोग में प्रायः गले में एक मिल्ली बन जाती है। उसी से उसके विषैले जीवाणु रक्त में मिश्रित हो कर हृदय में कार्यावरोध पक्षाघात आदि रोग उत्पन्न कर देते हैं।

कारण—

एलोपैथिक मत से इसका कारण एक प्रकार का

दण्डाकार जीवाणु है जिसे बैसिलस डिफ्थीरिया कहते हैं। इसके साथ अन्य कीटाणु स्ट्रेप्टोकोकस भी प्रायः उपस्थित रहते हैं। यह जीवाणु प्रायः नासिका, कण्ठ की श्लेष्मा में उपस्थित रहता है। यह जीवाणु श्वास प्रश्वास द्वारा एक दूसरे प्राणी पर जाकर गले में शोथ तथा मिल्ली उत्पन्न कर देता है। यह रोग अति तीव्र संक्रामक होता है। यह प्रायः बच्चों को ही होता है। यह प्रायः २ वर्ष से १० तक के बच्चों को ही होता है।

इस रोग में जीवाणु कण्ठ में जाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कण्ठ की ग्लेष्मिक कला की सेलें मर जाती हैं। तथा वहां पर एक प्रकार का स्राव होता है। यह स्राव जम जाता है। स्राव के जमने से मृत सेलों में श्वेताणु एवं क्राणुओं के जाने से एक फिल्ली बन जाती है जो दृढ़ श्वेत तथा चमकीली होती है। इस फिल्ली में अनेक कीटाणु होते हैं। जितनी यह अधिक हो उतना ही रोग भयानक होगा तथा उतना ही विष अधिक बनेगा। विष रक्त में मिलकर अन्य उपद्रव पैदा करता है। विष का प्रभाव निम्न अङ्गों पर पड़ता है—

हृदय—हृदय की मांसपेशी क्षीण हो जाती है। हृदय विस्तृत हो जाता है। रोग काल में हृदय के कार्यावरोध का भय रहता है।

फुफ्फुस—कभी कभी फुफ्फुस में दाह हो जाता है। फुफ्फुस प्रदाह केवल विष के कारण से ही नहीं अपितु अत्यन्त संख्या में कीटाणुओं के उत्पन्न होने से भी होता है।

वृक्क—इसमें सूक्ष्म प्रणालियों की सेलें क्षीण होकर मर जाती हैं। मूत्र प्रणाली भी दूषित हो जाती है। इस रोग का कुछ मतानुसार परिपाक काल दो दिन से सात दिन तक माना है परन्तु महर्षि चरक का कथन है कि—

वातपित्तकफाद्यस्य युगपत्कुपितास्त्रय,
जिह्वामूले तिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रिता ।
जनयन्ति अशंशोथं वेदनाश्च प्रथग्विदा,
तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणी केति विनिर्दिशेत् ॥
त्रिरात्रं परमन्तस्य जन्तो भवति जीवितम्,
कुशलेन त्वनुक्रन्तः क्षिप्रं सम्पद्यते सुखी ॥

—च० सू० अ० १८

वात, पित्त, कफ यह तीनों दोष कुपित होकर जिह्वा के शोथ मूल में स्थित हो जाते हैं। वहां पर जलन दारुण उत्पन्न शोथ करके अनेकानेक प्रकार की पीड़ा देते हैं यह अति संक्रामक रोग है। इसे रोहिणी कहते हैं। इस रोग के कारण मानव केवल

तीन दिन तक जीवित रहता है। इस समय कुशल वैद्य से चिकित्सा कराने पर फल अच्छा होता है अर्थात् रोगी बच जाता है।

गलेऽनिलः पित्तकफी च मर्च्चितौ,
प्रथक समस्तारचत तथैव शोणितम् ।

प्रदूष्य मांसं गलरोधिर्नोऽकुरात्,
सजन्ति यान् सासुहाडु रोहिणी ।

—सू० नि० अ० १६

वात, पित्त, कफ कुपित होकर गले में अनेक प्रकार के मांसांकुर उत्पन्न कर देते हैं। उसे रोहिणी कहते हैं। यह आचार्य सुश्रुत का मत है।

विशेष लक्षण—

इस रोग में कभी थोड़ा कभी तीव्र ज्वर होता है। गर्दन—ग्रीवा जकड़ी रहती है। उस रोगी की लसीका ग्रंथियां जो कि गले में स्थित हैं उनमें शोथ हो जाता है। कहीं कहीं पर फिल्ली ही रोग का कारण बनती है। प्रारम्भ में यह बड़ी आसानी से उखाड़ी जा सकती है। कभी कभी यह बहुत ही बढ़ जाती है। उस समय बलपूर्वक उखाड़ देने पर रोगी के रक्तस्राव होने लगता है। पुनः यह धीरे धीरे नीचे बढ़कर स्वर यन्त्र को रोक देती है। तत्पश्चात् यह रोग बढ़ जाता है तथा विष का प्रभाव हृदय पर, फुफ्फुस, वात संस्थान एवं वृक्कों पर होता हुआ प्रतीत होने लगता है। इसमें ज्वर मन्द कभी तीव्र तथा कभी किंचित् मात्र भी नहीं रहता है।

उपद्रव—

इस रोग का सबसे भयानक उपद्रव हृदय का कार्यावरोध होना ही है। हृदय कार्यावरोध में प्रायः नाड़ी मन्द अनियमित तथा तीव्र चलने लगती है। कभी कभी हृदय कार्यावरोध शीघ्र अचानक भी हो जाता है।

चिकित्सा—

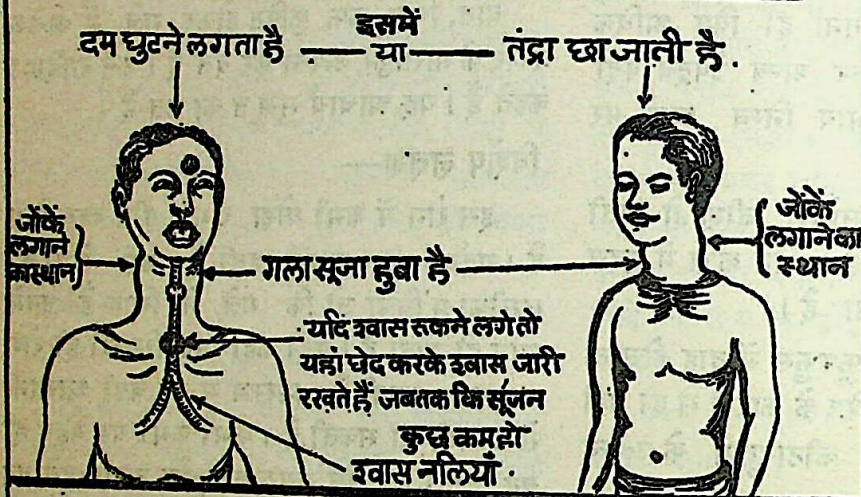
आयुर्वेद के महान ग्रन्थों में असाध्य रोग की चिकित्सा करने का विधान नहीं है। यथा—

साध्यासाध्य विभागज्ञो, ज्ञान पूर्व च केत्सकः ।
कालेचा रमते कर्म, यत्तत् साधयति ध्रुवम् ॥
अर्थ विद्या यशो हानिमुपक्रोशमसंग्रहम् ।
प्राप्नुयान्निवतं वैद्यौ, यो साध्यं समुपाचरेत् ॥

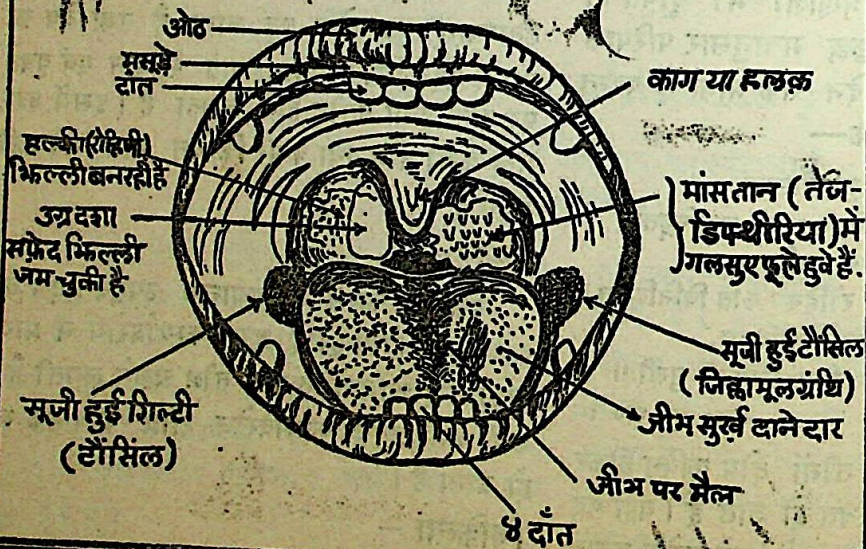
—च० सू० अ० १०

जो चिकित्सक साध्यासाध्य का ध्यान रखकर
चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त होता है वह उत्तम वैद्य है ।
नहीं तो असाध्य की चिकित्सा करने वाला वैद्य अर्थ
विद्या यश की हानि कर जगत में निन्दनीय बनता
है । अतः महर्षि सुश्रुत का मत है कि—

मांसतान (डिफ्थीरिया - रोहिणी) कण्ठ योग



डिफ्थीरिया में हलक की दशा



चित्र नं० ७६

साध्यानां रोहिणीनाम्, हितं शोषित मोक्षाय मर्दनं धूपनानश्च, गण्डूषो नस्य कर्म च ॥ सुखोष्णान स्नेह गण्डूपान, धारयेच्चापि मीक्षणशः । पतंग शर्करा चौद्रै पोतिकीं प्रतिसारयेत् ॥ द्राक्षापरुषक क्वाथ, हितौ च कवचग्रहं ।

—सु० चि० अ० १२

साध्य रोहिणी में रक्तमोक्षण करना चाहिये । तैल मर्दन, धूपनान, उष्ण तैल की गण्डूप, एवं नस्य कर्म करना चाहिये या पतंग, शर्करा, चौद्र, पोतिकी से प्रतिसारण करना चाहिये या सैंधव नमक से प्रतिसारण करना चाहिये या एरण्ड काकड़ी, पपीता के दूध का पिचु रोहिणी की फिल्ली पर लगाना परम लाभकारी सिद्ध हुआ है । या आगर धूम, कुटकी का चूर्ण जल से अथवा कुछ गरम दूध के साथ सेवन करना चाहिये ।

—शेवांश पृष्ठ ३१५

शीर्षाम्बुरोग

श्री पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज



मद्यातिपानादतिशैत्ययोगाद्
विरुद्धभोज्यादनिल प्रदोषात् ।
दुष्टाम्बुपानादभिघाततश्च
तथान्त्रमध्ये कृमि संभवाच्च ॥
शिरोगतस्नेहवृत्तौ क्रमेण
संचायते तोयमतिप्रभूतम् ।

शीर्षाम्बुनामापद एष पूर्वैः
प्रकीर्तितः कृच्छ्रतरोभिषग्भिः ॥

प्रायशः शैशवे व्याधिविविधाहितसेवनात्
तथादन्तोद्गतेरेष बाहुल्येनाभिजायते ॥

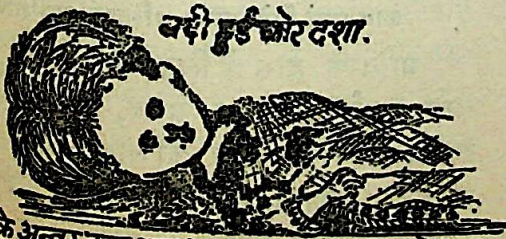
अर्थ-मद्य के अतिपान से, अधिक शीत के कारण विरुद्ध भोजन से, वायुरोग से, विदूषित जलपान से, चोट लगने से, आंतों में कृमि होने से, शिरोगत स्नेह (मस्तुलुङ्ग) के जमने पर अन्दर करोटिका में जल संचय होने लगता है। पूर्वाचार्य इस शीर्षाम्बुरोग को कृच्छ्रसाध्य मानते हैं।

यह बीमारी प्रायः बच्चों में १ से ३ साल तक अहित सेवनजन्य या दांत निकलते समय देखी जाती है।

तस्यपूर्वरूपम्-

निह्नालिताति निद्रत्यं दौर्बल्यं आसपृत्तिता ।
गाद्विद्वता च तस्मिस्तु भविष्यति भविष्यति ॥

शीर्षाम्बु (हाइड्रोसिफेलस) की-



बड़ी हुई ओर दशा.

शिरके अन्तर रक्त रस भरकर इतना बड़ा होगया

प्राग्भिक अवस्था



चित्र नं० ८०

जीमः पर सफेदी (मलावृत्त), ज्यादा निद्रा आवे, दुर्बलता बढ़े, आस में दुर्गन्धि, पाखाना कड़ा यह उसके होने से पूर्व होते हैं।

तल्लक्षणम्-

शिरसोवेदनाघोरा श्रुतेष्टृष्टश्च तीक्ष्णता ।
मूत्राल्पत्वं कृष्णवितकं धमनीवेगवाहिनी ॥
त्वग्रक्षोष्णा छर्दिविषमा च कनीनिका ।
कोपित्वं मुखवैचर्यं निद्रायां दन्तघर्षणम् ॥
कण्डूरोषस्यानासाया आक्षेपो रक्तनेत्रता ।
पक्षाघातः प्रलापश्च शीर्षाम्बुगद लक्षणम् ॥

शिर में कठिन पीड़ा, नेत्र ज्योति, श्रवण शक्ति में तीव्रता, भूख में कमी, काला मल निकले, नाड़ी तेज हो, चमड़ी रूखी, वमन, आंख की क्रिया विषम हो जाय, क्रोध ज्यादा हो, मुख की कांति विवर्ण हो, नाँद में दांत घिसे, ओष्ठ और नाक में खुजली, आक्षेप हों नेत्र लाल हों, पक्षाघात, प्रलाप हो, शिर बहुत बड़ा हो जाता है (वेडौल) यह शीर्षाम्बु रोग के लक्षण हैं।

चिकित्सा -

भेषजं रेचनं यच्च
यन्मूत्रस्य प्रवर्तनम् ।
रक्तदोषहरं यच्च
तच्छीर्षाम्बुगदे शमम् ॥

रेचक, मूत्र प्रवर्तक, रक्तदोषहर औषधियां शीर्षाम्बुरोग में हितकर हैं। शिर के बाल उत्तरे से साफकर गर्म कपड़े से ढक रखें और नारियल जल पिलावें। रस चूर्ण

का सेवन करावें, रस तैल सिर में मलें, यदि शान्त न हो तो त्रिकूर्च यन्त्र से पानी निकाल दें। यह कार्य प्रवीण चिकित्सक का ही है।

रसचूर्ण [सलिलशोषण चूर्णम्]

रस चूर्णं यववारं पीतमूर्ली त्रिजातकम् ।
भागीमेलानं तथा लघ्वीमभयामिन्द्रवारुणीम् ॥
समांशेन पुष्टह्वाथ प्रयुज्यात् पयसासह ।
शीर्षाम्बुतेन्निराकुर्वत् चूर्णं सलिलशोषणम् ॥

रस पुष्प [शास्त्रीय रस कर्पूर भेद—यह शीशी में बालुका यन्त्र से उड़ाया जाता है] यवक्षार, रेवंद चीनी, दालचीनी असली, बड़ी इलायची, पत्रज, भारङ्गी, इलायची छोटी के बीज, हरड़ गुठली रहित, इन्द्रायण मूल बराबर लें। रस पुष्प को छोड़कर इनका चूर्ण कपड़छन कर खरल में डाल रसपुष्प मिला एक दिन घोटें। ३-३ रत्ती की मात्रा से मधु में मिला चटावें, प्रातःसायं दो बार दें।

रस तैल

धत्तूर बीज, धाय के फूल, मूर्वा मूलकन्द, मुलहठी, महुआ पुष्प, विडनमक, सोंठ, नील की जड़, पीपल छोटी, कायफल, कुटकी, सुगन्धवाला ३-३ माशे, कड़वा तैल ४० तोला में महीन पीस डाल मुख बन्द कर सात दिन रक्खें। बाद में छानकर १ तोला पारा गन्धक की कज्जली मिला रक्खें और बालहीन सिर पर मलें। [आ० वि०]

मस्तिष्क चयापचय—

देहस्वभावाद् दृष्ट्याच वद्धतेमस्तुलंगकः ।
करोटिरपि बालानां युगञ्चापि कदाचन ॥
मस्तिष्कस्य करोटेश्च यदिवृद्धिर्द्योभवेत् ।
न चिन्हं दृश्यते किञ्चित् प्रायशः समवर्द्धनात् ॥
मस्तिष्कस्यैव चेद्वृद्धिर्न करोटेऽन्याभवेत् ।
तदानीपिङ्गनात् तस्यजायन्तेविचित्रारुजः ॥
शिरसोतिरुजा तीव्रा दौर्गत्यं भ्रममुच्छ्वने ।
पक्षाघातस्तथाक्षेप स्ततोमरणमेव च ॥
हासमायाति मस्तिष्कं देहदोषाददृष्टतः ।
एकपार्श्वं हसेत् यच्चेन्न शोभं जीवन क्षयः ॥
समन्तात् हसनात् तस्य प्राणान्तस्त्वरयामवेत् ॥

देह के स्वभाव से, भाग्य से, मस्तुलुङ्ग (शिर के

अन्दर की धातु) बढ़ती है, कहीं सिर्फ करोटि प्रदेश ही बढ़ता है, बालकों का कदाचित् ही जवानों का भी। मस्तुलुङ्ग और करोटि प्रदेश दोनों की वृद्धि एक साथ हो तो कोई भी चिन्ह विशेष नहीं मालूम देता। यदि केवल मस्तुलुङ्ग की ही वृद्धि हो और करोटि की वृद्धि न हो तो दबाने से पीड़ा होती है, स्थान पिलपिलाता है। सिर में अधिक तीव्र पीड़ा, दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, पक्षाघात, आक्षेप और मृत्यु होती है। यदि मस्तुलुङ्ग का हास देह दोष या भाग्य [पूर्व जन्मार्जित पाप] से हो तब सिर का एक भाग ही सूखता है पर शीघ्र मृत्यु नहीं होती। परन्तु करोटि और मस्तुलुङ्ग दोनों की एक साथ वृद्धि होनेसे जीवन क्षय जल्द हो जाता है।

चिकित्सा—

मस्तुलुङ्गस्य संवृद्धिर्जायते मरणाय हि ।
नौषधं तत्र चेत् सेव्यं तथापि च रसायनम् ॥
पेयमन्न पंचगव्यं घृत मधुयुतं तथा ।

मस्तुलुङ्ग की वृद्धि होने पर निश्चित मरण होता है। अतः यहां औषधि सेवन करें, केवल रसायन औषधियों का सेवन करें। पंचगव्य घृत मधु के साथ पीना परम लाभदायक है।

मस्तिष्कस्य यदि हासो मरणायैव जायते ।
तदाप्यत्र सदासेव्यं नौषधं परिवृंहणम् ॥

मस्तिष्क हास होने पर भी मृत्यु होती है। वृंहण दवाइयों का सेवन लाभकारी होता है।

चन्दनादि काथ

चन्दनं द्वितयं सर्वा श्यामाद्वन्द्वं निशाद्वयम् ।
लाक्षा वांसी गैरिकं च जीवन्तीमधुकर्षी ॥
बाजिगन्धावचा कृष्णा काकोली जीवकर्षी ॥
काथ एषां पिबेत्प्रायः मस्तिष्क हास शान्तये ॥

मस्तिष्क हास के लिये चन्दन सफेद, चन्द लाल, मूर्वा, अनन्तमूल सफेद, अनन्तमूल काला, हल्दी, दारुहल्दी, पीपर की लाख, बंशलोचन, गेरू, जीवन्ती, मुलहठी, शतावर, असगन्ध, बच सीठी, पीपल, काकोली, जीवक, ऋषभक का २ तोले का काथ बना दूध में मिलाकर ३-४ बार में दें।



शिशिरोगाङ्कः

वाताधिकारोक्त तैल, घृतों का प्रयोग करें या अपसाराधिकारोक्त औषधियों का प्रयोग करें। पथ्य में पोषक अन्नपान का सेवन करावें।

शीर्षाम्बुरोग में जो अन्य दवाइयां न बना सके वह निम्न काथ का प्रयोग भी कर सकते हैं। यथा—

रेवद चीनी, निशोथ, दोनों अनन्तमूल [कृष्ण स्वेत], हर गुठली रहित, आमला गुठली रहित, कपूर कचरी, जवासामूल, मुलहठी, मोंथा, धनियां, कुटकी, हल्दी, दारु हल्दी, दालचीनी, इलायची बड़ी के बीज, पत्रज का काथ १-१ तोला, २० तोले पानी में पका ५ तोले रहने पर छाल यवच्चार १-१ रत्ती मिला दिन में ३-४ बार प्रयोग करें।

पथ्य—इलका, पुष्टिकर अन्नपान दें।

वह्निभास्कर रस

स्वर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, वैक्रान्त भस्म ३-३ माशा, लौहभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्ण माक्षिक भस्म १-१ तोला लें। प्रथम पारा गन्धक की कज्जली बनाकर अन्य द्रव्य १-१ कर मिलालें। और रक्त चित्रक मूल रस की और ब्राह्मी के रस की २१-२१ भावना दे १-१ रत्ती की गोलियां बना मधु से प्रातः सायं दें, रस तैल का मर्दन करें, निश्चय रोग दूर होता है। गरीबों के लिये सलिल शोषण चूर्ण, रस तैल ही काफी हैं अनुभूत भी हैं।

—श्री पं. विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज
सम्पादक—अनुभूत योगमाला,
बरालोकपुर (इटवा)

:: रोहिणी ::

:: पृष्ठ ३१२ का शेषांश ::

एलोपैथिक मत से चिकित्सा —

फिल्ली को देखकर उसे उतार देना चाहिये, रोगी को सदा प्रथक रखना चाहिये। तथा रोग शुक्ति के तीन सप्ताह बाद तक, तथा जब तक मुख से श्लेष्मा आती रहे तब तक रोगी को अन्य बच्चों से न मिलने देना चाहिए।

रोग का सन्देह होने पर ही तत्काल सीरम (Serum) का आधी सी० सी० का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। रोगका वास्तविक निर्णय हो जाने पर तत्काल ही एन्टीडिफ्थीरिया सीरम (Anti-Diphtheria serum) का ४०० से १२०० युनिट्स का इन्जेक्शन ४० से १२० सी० सी० तक मांसा-

न्तर्गत लगा देना चाहिये। पुनः बारह घण्टे बाद पुनः इतनी ही मात्रा का इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। इस रोग की जितनी विलम्ब से चिकित्सा का अवसर आये तो अधिक मात्रा का इन्जेक्शन लगाना चाहिये। यदि स्वरयंत्र अवरुद्ध हो जावे तो शल्य कम विशेषज्ञ द्वितीय स्वर यन्त्र भी बनाकर श्वास कार्य संचालन कर देते हैं। सीरम के साथ स्ट्रेप्टोकोकस (*Streptococcus*) जीवाणु के नाश के लिए टेरासाइसिन (*Terramycin*) का मांसान्तर्गत का इन्जेक्शन लगाना चाहिए।

—श्री प्रेमशंकर त्रिवेदी वैद्याचार्य, आयुर्वेद रत्न
पिलखना (अलीगढ़)



उपजिह्विकाओं की विकृतियाँ

[Affections of the Tonsils]

श्री डा० अनन्तराम शर्मा शास्त्री D. I. M. S.



यस्यश्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते ।

आशु संजनयेत् शोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥

अर्थात्-प्रकुपित होने के उपरांत श्लेष्मा जिह्वा-मूल में स्थित होता है जहां वह शीघ्र ही शोथ उत्पन्न कर देता है यह विकार 'उपजिह्विका' कहलाता है

उपजिह्विका (Tonsils) ग्रन्थियां लुद्र कोल-फल की गुठलियों की आकृति सदृश होती हैं तथा ये गले में दोनों ओर अग्रपश्चिम स्तम्भिकाओं के मध्य स्थित होती हैं। रोगोत्पादक जीवाणुओं से शरीर की रक्षा करना तथा श्वेत कोषाणुओं के निर्माण में सहायता करना इनका कार्य होता है। किन्तु जीवाणुओं को नष्ट करने की इनकी शक्ति अल्पमात्र होने से ये इस प्रयत्न में प्रायः शोथग्रस्त हो जाती हैं। इनके इस प्रकार के शोथात्मक विकार बालकों में अधिक पाये जाते हैं।

ऊपर चरकानुसार वर्णित उपजिह्विका विकार तीव्र उपजिह्विका शोथ (Acute tonsillitis) भी कहलाता है। यह संक्रमण के परिणामस्वरूप होता है। इस शोथात्मक प्रक्रिया में तालु, महातोरणिकायें (Fauces) और ग्रसनिका भित्तियां (Pharyngeal walls) भी सम्मिलित हुई होती हैं। इस अवस्था में पाये जाने वाले जीवाणुओं में स्ट्रेप्टो कोकाई, न्यूमोकोकाई, स्टेफिलोकोकाई आदि होते हैं। शोथ के उपरांत पूर्य निर्मित हो जाने की अवस्था का चरक ने 'तालुविद्रधि' के नाम से वर्णन किया है। यह तालुविद्रधि दो प्रकार (मर्मीय और स्राव कोषीय) की होती है किन्तु इन भेदों में परस्पर अन्तर करना आसान नहीं होता।

तालुविद्रधि—

स्यात्तालु विद्रध्यपिदाहराग

पाकान्विता तालुनिसा त्रिदोषात् । —च. चि.

अर्थात् तालु में त्रिदोष से होने वाली दाह, राग और पाक युक्त विद्रधि 'तालुविद्रधि' कहलाती है। यह विद्रधि दो प्रकार की होती है।

(१) तीव्र मर्मीय उपजिह्विका शोथ (Acute Parenchymatous Tonsillitis)

इसके कारण अङ्ग का आकार बड़ा हो जाता है और वह वर्ण में धूमिल रक्त हो जाता है। जिन रोगियों में दोनों ओर की उपजिह्विकायें बढ़कर मध्यरेखा में मिल जाती हैं उनमें निगलने में और कभी कभी श्वास लेने में भी कष्ट होता है। ताप उच्च (High) होता है, ग्रन्थिहनुकोण के नीचे बढ़ी हुई और स्पर्श सहिष्णु होती है, जिह्वा घन और श्वेत आवरण से आच्छादित होती है। और बिबन्ध उपस्थित होता है। कुछ रोगियों में स्थानिक रूप से विष संचार भी पाया जाता है।

(२) तीव्र स्रावकोषीय उपजिह्विका शोथ (Acute Follicular Tonsillitis)

इसमें उपजिह्विका के कोष रोगग्रस्त हुए होते हैं जिनमें से पीले रंग का स्राव निकल कर ग्रन्थि पृष्ठ पर जम जाता है और एक प्रकार के आवरण/सा प्रतीत होता है तथा रोहिणी (Diphtheria) के आवरण सदृश लगता है। इस आवरण को हटाने से रोहिणी के आवरण की तरह इसमें शोणित स्राव नहीं होता है।

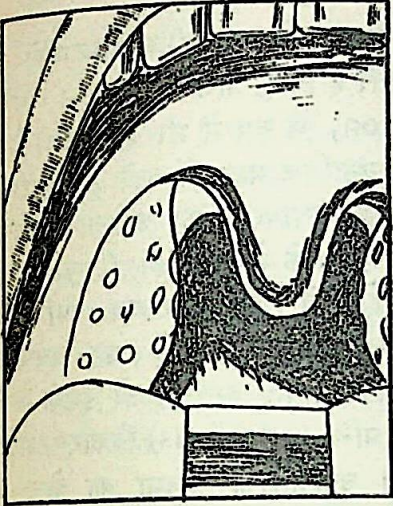
शोथ का यह प्रकार लीन (Buried) उपजिह्विकाओं में अधिक पाया जाता है और पूर्व वर्णित मर्मीय प्रकार उभरी हुई (Prominent) उपजिह्विकाओं में अधिक होता है।

परि-उपजिह्विकीय विद्रधि (Peritonsillar

Abscess or Quinsy)

यह तीव्र उपजिह्विका शोथ का उपद्रव है जिसमें

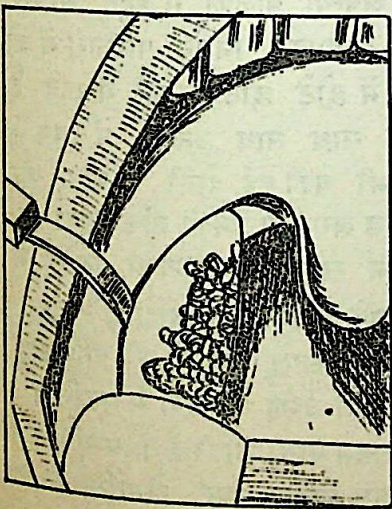
ग्रन्थि के चारों ओर पूयोत्पादन होता है। सामान्यतः विद्रधि का स्थान ग्रन्थि का ऊर्ध्वशिखर होता है,



चित्र नं० ८१

तीव्र क्षावकोषीय उपजिह्विकाशोथ (Acute follicular tonsillitis)

संक्रमण ऊर्ध्वउपजिह्विकीय खात (Fossa) में से होकर कोष के स्तरों में प्रविष्ट होता है। कभी कभी ग्रन्थि के अन्दर भी विद्रधि पायी जाती है। शोथ



चित्र नं० ८२

तीव्र क्षावकोषीय उपजिह्विका-शोथ—क्षाव निकल कर ग्रन्थि पर जम गया है और एक आवरण सा प्रतीत होता है।

दोनों ओर उपस्थित होता है किन्तु पूयोत्पादन एक ओर ही होता है, यदि दोनों ओर हो तो पहिले एक उपजिह्विका पीड़ित होती है तदनन्तर दूसरी। पूय उत्पन्न होने में तीन से सात दिन लग जाते हैं। तालु उभर आता है और रोगग्रस्त पार्श्व की ओर से गतिरहित होता है, गलशुल्डिका (Uvula) उत्सेध और आर्द्र शोथयुक्त होती है तथा इसका तीक्ष्णप्रभाग विद्रधि की ओर होता है। उत्सेध के बढ़े होने के कारण निगलना और सांस लेना दोनों में कष्ट होता, ताप उच्च, वेदना अत्यधिक और ग्रंथीयक ग्रन्थियां (Cervical glands) स्पष्ट रूप से बड़ी हुई होती हैं। तन्त्री द्वार (Glottis) का आर्द्र शोथ भी हो सकता है। इसके अन्य लक्षण ऊपर वर्णित अन्य लक्षणों के अनुसार होते हैं। यदि चिकित्सा न की जाय तो विद्रधि शीघ्र या विलम्ब से मृदुतालु में उपजिह्विका के ऊपर या बहिःपार्श्व में विदीर्ण हो जाती है जिससे रोगी को तत्काल लाभ पहुँचता है। त्रिदोष कोष से होने वाले इस विकार को चरक ने 'तालुविद्रधि' कहा है (स्यात्तालुविद्रध्यपि दाह दाग पाकाच्चिता तालुनि सा त्रिदोषात्-च. चि. १२)।

रोगनिर्णय—

लोहित (scarlet) ज्वर पिडकार्यें उपस्थित होती हैं और जिह्वा का रङ्ग लाल होता है, रोहिणी में आवरण संसक्त हुआ होता है तथा रोहिणी के जीवाणु पाये जाते हैं। तीव्र उपजिह्विका शोथ में नाप उच्च होता है।

चिकित्सा—

शान्ति नयेदोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदन भेद दाहैः।

—च. चि. १२

रोगी की सनामिका (सनाय) चूर्ण ४ माशा या कैलोमल १॥-२ ग्रैन के प्रयोग से कोष्ठ शुद्धिकर ज्वर तथा वेदनाहर औषधियां, संजीवनी वटी १-२ गोली या सोडा सेलिसिलेट १० ग्रैन दिन में दो बार देना चाहिए। मेन्थल ३ ग्रैन को उष्ण जल में



(१८०° फा) डालकर उसका वाष्प लेने से भी रोगी को पर्याप्त आराम मिलता है। ग्रन्थि पर मधुसौभाग्य, कालक चूर्ण मधु या *Guaiacol* का ग्लिसरीन में ५ प्रतिशत घोल उपजिह्विका पर प्रलिप्त (Paint) करने से भी लाभ होता है। यह (अन्तिम) योग जीवाणु वृद्धिनिरोधक और स्थानिक संज्ञाहर दोनों हैं। रोग की तीव्रावस्था में सल्फोनेमाइडस या पेनिसिलीन का प्रयोग करना चाहिये। यदि विद्रधि को पहिले ही रोक दिया जाय तो जीर्ण प्रस्रवण अवस्था (chronic leaking state) के होने की आशंका होती है। ग्रन्थि के पृष्ठ को कोकेन (१० प्रतिशत) और एड्रेनेलीन को समभाग लेकर तथा पिचु से लगाकर चेतनाहीन कर लेने के उपरान्त भेदन करते हैं तथा पूय को निकाल लिया जाता है। भेदन बहुत गहरा और बाहर की ओर को अधिक नहीं होना चाहिये। शस्त्रकर्म से पूर्व तथा पश्चात् भी ग्रीवा तथा कण्ठ पर उष्ण स्वेद करना चाहिये। और रोगी को पर्याप्त तरल तथा बल्य (tonics) औषधियां देनी चाहिये। उपजिह्विका शोथ को पुनः होने से रोकने के लिये ग्रन्थि को रोग के प्रशमनकाल में निकलवा देना चाहिये।

उपद्रव (Complications) —

संक्रमण उपजिह्विका के कोष से बाहर भी फैल कर उपग्रसनिका प्रदेश (parapharyngeal space) को भी ग्रस्त कर लेता है। ताप उच्च बना रहता है और रक्तिस्रा तथा उभार सन्मुखीण त्रिकोण (anterior triangle) में उपस्थित होता है, कभी कभी पूय तरंग भी प्रतीत की जाती है। संक्रमण का मध्यान्तराल (mediastinum) फैल जाना एक भयंकर अवस्था है, किंतु अधिकतर अन्तर्ग्रीविका (internal jugular) सिरा या उसकी किसी शाखा की घनास्त्रसिराशोथता (Thrombophlebitis) पायी जाती है। कभी कभी किसी धमनी वा सिरा का कोथ (slough) हो जाता है और जब शोथयुक्त उपजिह्विका को खोला जाता है तो भयंकर शोणित स्राव होता

है। उपग्रसनिका विद्रधि में एन्टिबायोटिक्स प्रयोग करना चाहिये।

जीर्ण उपजिह्विका शोथ—

यह अवस्था रोग के तीव्र आक्रमणों के बाद पायी जाती है किन्तु प्राथमिक अवस्था (primary condition) के रूप में भी हो सकती है। उपजिह्विका न्यूनाधिक मात्रा में बढ़ी हुई होती है और उसका रङ्ग स्वस्थावस्था की अपेक्षा अधिक लाल होता है। ग्रन्थि के कोष्ठ खंडों (crypts) में स्राव उपस्थित होता है। विशेषकर जब उपजिह्विका लुप्त (buried) प्रकार की होती है। यह अवस्था अधिकतर बालकों में पाई जाती है जो इसके अतिरिक्त प्रसनिका ग्रन्थि (adenoids) विकार से भी पीड़ित होते हैं। उपजिह्विका यक्ष्मा का केन्द्र भी हो सकती है। ग्रीवा की ग्रन्थियां भी संक्रमणग्रस्त होकर आकार में बढ़ जाती हैं, इनमें विद्रधि भी पायी जा सकती है जो अधिकतर यक्ष्माजन्य होती है। कभी कभी शोथ साधारण भी होता है।

बढ़ी हुई उपजिह्विकार्य और ग्रसनिका ग्रन्थियां (Enlarged tonsils & Adenoids)—

यह अवस्था बालकों में बहुत अधिक पायी जाती है, विशेषकर निर्धन परिवारों में जो बड़े बड़े शहरों में छोटे छोटे मकानों में रहते हैं। इस विकार के साथ साथ उनकी ग्रैवैयक लसिका ग्रन्थियां भी बढ़ी हुई होती हैं और बार बार निरन्तर ठंड लगने से उनकी नाक बहती रहती है। उनका रहन सहन अस्वास्थ्यकर स्थानों में होता है और उनके आहार में कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थों [चावल, गेहूँ, आलू आदि] की अधिकता होती है। उष्ण तथा-उष्ण आवहवा में प्रसनिका ग्रन्थियां अपेक्षाकृत कम पायी जाती हैं। प्रसनिका विकारों के साथ साथ लोहित ज्वर, रोमान्तिका और अन्य संक्रमणजन्य रोगों के परिणामस्वरूप भी यह विकार पाया जाता है। नासावरोध के कारण बालक मुँह से सांस लेता है और कभी कभी उसकी आवाज

शिशुरोगाङ्क

भी भारी हो जाती है। सोते समय बालक खर्राटे लेता (snore) है और शोथात्मक विकार का श्रुति सुरंगा (eustachian tube) की अन्तः श्लैष्मिक कला तक फैल जाना संभव है जिससे श्रुतिसुरंगा का अवरोध या मध्यकर्ण के उपद्रव हो सकते हैं।

प्रैवेयक ग्रन्थियों के विकार द्वितीयक (secondary) होते हैं जिसका कारण उपजिह्विका का इस रोग से पीड़ित होना है। उपजिह्विका के संक्रमण का कारण विकृतदन्त भी हो सकते हैं और शल्यकर्मसे पूर्व यह आवश्यक है कि मुख स्वस्थ-वस्था में हो। तीव्र उपजिह्विका के शोथ के आक्रमण से कम से कम तीन सप्ताह बाद ग्रन्थि को निकालने के लिये शल्यकर्म करना चाहिये।

प्रसनिक्ता ग्रन्थियों और उपजिह्विका को निकालने से पूर्व नासा का भी सावधानीपूर्वक परीक्षण कर लेना चाहिए जिससे यह निश्चय हो जाय कि मुखद्वारा सांस लेने का कारण प्राचीर (septum) के अतिवर्धन (diviation) या कंटक (spur) से उत्पन्न अवरोध नहीं है।

चिकित्सा —

सामान्य रूप से पीड़ित व्यक्तियों में सर्वप्रथम शुद्ध वायु या समुद्र के किनारे की आवहवा की व्यवस्था करनी चाहिये और शारीरिक दौर्बल्य को दूर करने के लिये लौह और मत्स्य तैल (काड्यकृत तैल) का प्रयोग करना चाहिये। इसके साथ साथ उपजिह्विका पर पिचु द्वारा जीवाणुवृद्धिनिरोधक या प्राही (astringent) औषधियों को लगाना चाहिये। ऐसे रोगियों को लिक्विड आर्सेनिकेलिस [संखिया योग] को अल्पमात्रा में देना उपयोगी होता है।

उपजिह्विका और प्रसनिक्ता ग्रन्थियों की जीर्ण वृद्धि में जब विकृति-शारीर-संबन्धी तथा विशिष्ट प्रकार के लक्षण उपस्थित हों तो उन्हें निकाल देना ही उत्तम है। प्राचीनकाल में किया जाने वाला ग्रन्थि का आंशिक छेदन कभी नहीं करना चाहिए।

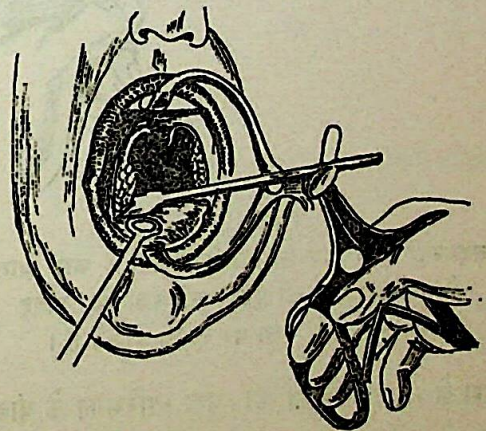
पूर्ण उपजिह्विका-छेदन (Complete tonsillectomy or enucleation) —

यह छेदनकर्म निम्न वर्णित दो विधियों द्वारा किया जा सकता है—

१. गिलोटिन (Gilotine) द्वारा उपजिह्विका छेदन—

रुग्ण बालक को शल्यकर्म से एक दिन पूर्व चिकित्सालय में प्रविष्ट कर लिया जाता है जिससे हृदय, फुफ्फुस और मूत्र की परीक्षा की जा सके। रोगी को पूर्व ही अति मृदुरेचन (aperient) दे देना चाहिए। बालकों में संज्ञाहरण के लिये ईथिल क्लोराइड का प्रयोग करते हैं और शल्यकर्म के लिये रोगी को पीठ के सहारे लिटाते हैं तथा कन्धों के नीचे तकिया रख दिया जाता है। शल्य चिकित्सक रोगी के दाहिनी ओर खड़ा होता है और डायने के मुखविस्फारक [Doyen's Gag] को रोगी के बायें गाल पर से लगाकर मुख खुला रखा जाता है।

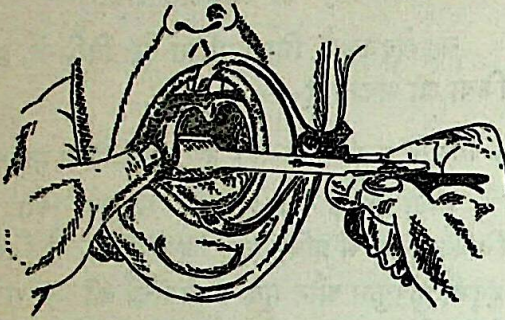
तदनन्तर हीथ के गिलोटिन [Heath's Guillotine] को प्रयोग में लाया जाता है जो कि उत्तम उपकरण है और साथ ही यह पर्याप्त कुण्ठित भी होता है। चिकित्सक इसे दाहिने हाथ में लेकर सर्व



चित्र नं० ६३

सर्व प्रथम गिलोटिन की मुद्रिका को उपजिह्विका के नीचे के सिरे से लगायें।

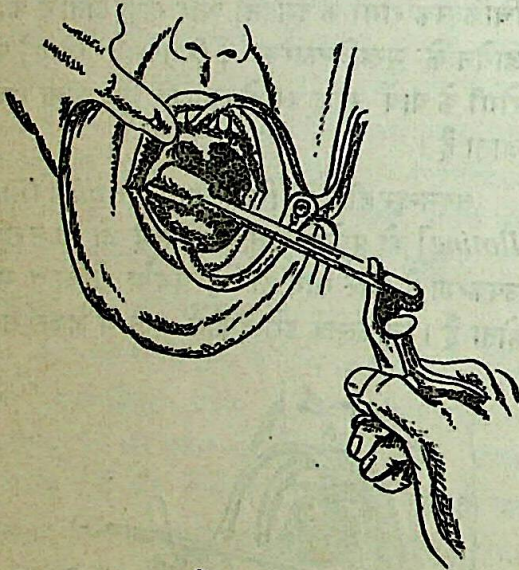
प्रथम इसकी मुद्रिका [Ring] को दक्षिण पार्श्व की उपजिह्विका के चारों ओर लगाता है और ग्रन्थि



चित्र नं० ८४

तत्पश्चात् ग्रन्थि को सामने तथा ऊपर की ओर उठाये।

को उसके स्थान से सामने और ऊपर की ओर को उठाता है। दूसरे हाथ की तर्जनी अंगुली के अग्र-

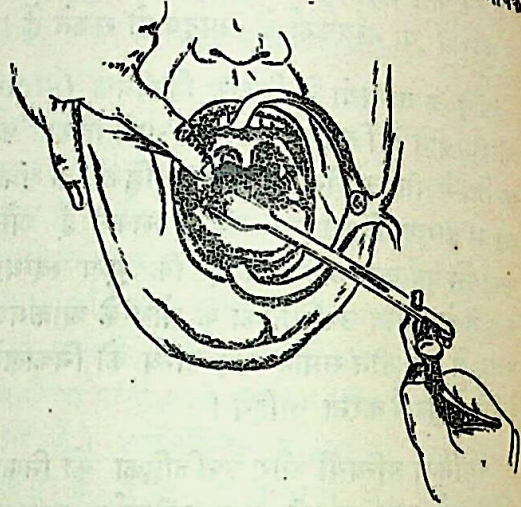


चित्र नं० ८५

तदनन्तर दूसरे हाथ की तर्जनी अंगुली के अग्र भाग से गलतोरणिका की पुरः स्तम्भिका के बाहर की ओर लगे भाग पर दबाव डालते हैं।

भाग से गलतोरणिका की पुरः स्तम्भिका के बाहरी ओर के लगे भाग पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार ग्रन्थि पूर्ण रूप से उपकरण की मुद्रिका में चली जाती है। तत्पश्चात् गिलोटिन के ब्लेड को दाहिने

हाथ के अंगुष्ठ के दबाव से धीरे धीरे नीचे की ओर बन्द कर देते हैं। इस संबन्ध में नितान्त सावधानी बर्तनी चाहिए कि पुरःस्तम्भिका की मुद्रिका में न चली जाय क्योंकि वाम हस्त के अधिक



चित्र नं० ८६

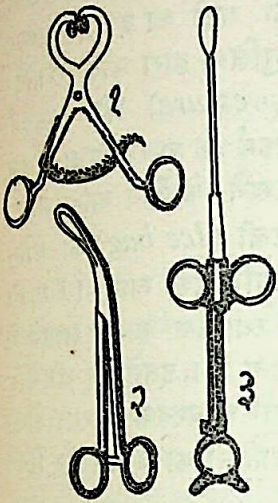
ग्रन्थि को सावधानीपूर्वक अंगुली द्वारा हटाते हैं।

दबाव से ऐसा आसानी से हो जाया करता है। इस प्रकार ग्रन्थि पूर्णतः पृथक् हो जाती है।

यन्त्र का ब्लेड ग्रन्थिकोष और ग्रन्थि के आधार में स्थित सौत्रिकतन्तु स्तर के मध्य भाग से अपना मार्ग बनाता है। आरम्भ में रुधिर साव अधिक होता है किन्तु इसे संदंश से निगृहीत पिचु के दबाव से नियन्त्रित कर लिया जाता है। यदि कोई बड़ी रक्तवाहिनी कट जाय तो उसे उपयुक्त संदंश से पकड़कर बांध देते हैं।

वाम पार्श्व की उपजिह्विका को निकालने के लिये यन्त्र को चिकित्सक बांये हाथ में लेकर ग्रन्थि का निर्हरण करता है। बांये हाथ से काम करने में असुविधा हो तो चिकित्सक को रोगी के सिर की ओर खड़ा होना चाहिए।

ग्रसनिका ग्रन्थियों को भी निकाल कर शल्यकर्म पूरा कर दिया जाता है और तत्पश्चात् शीघ्र ही बालक को अधोमुख मुखा (Prone position)



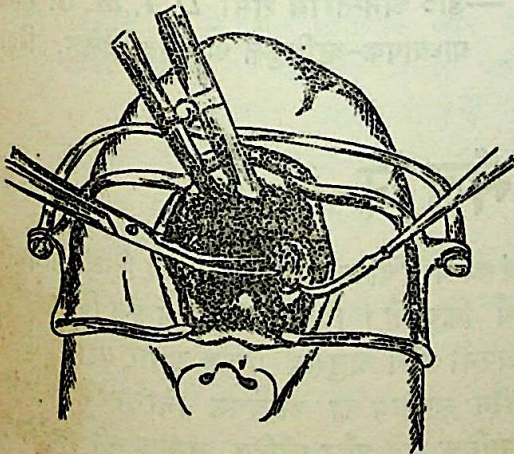
चित्र नं० ८७

- १-हायेन का मुख विस्फारक
२-वुल्सेलम संदंश
३-टान्सिल स्नेञ्चर

में लिटा दें जिससे मुख व नासा में स्थित रुधिर निकल जाय। होश में आने के उपरांत बालक को स्वतः ही मुख साफ कर लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। रोगी को एक या दो दिन शय्या पर विश्राम कराया जाता है। मृदु जीवाणु वृद्धि नाशन घोल से गले को साफ करते रहना चाहिये, तरल आहार भी दिया जाता है।

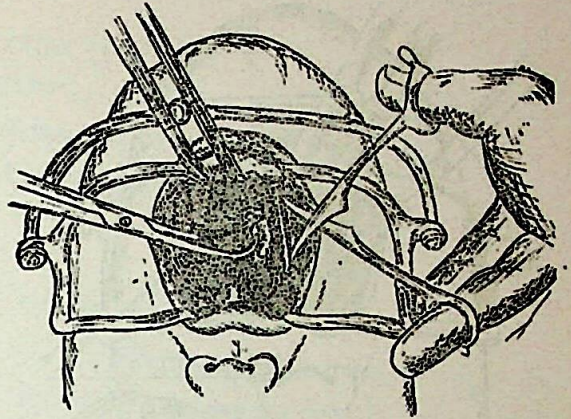
(२) उपजिह्विका का क्रमिकच्छेदन (Enucleation by Dissection)—

जब गिलोटिन को प्रयोग में लाना अनुपयुक्त होता है तो अन्य विधियों द्वारा ग्रन्थि का निर्हरण



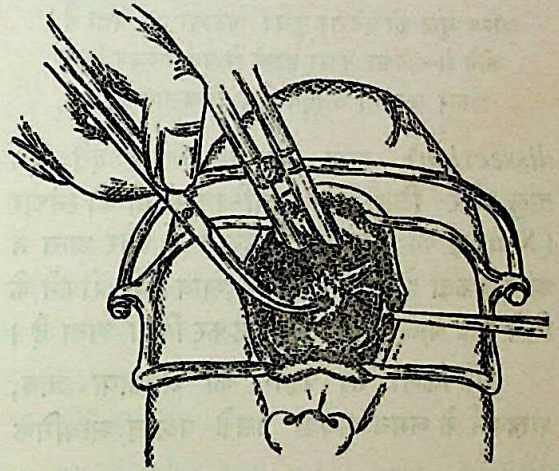
चित्र नं० ८८

पुः स्तम्भिका (Anterior pillar) में चीरा लगाया जा रहा है (वुल्सेलम संदंश से प्रथम ग्रन्थि को खींचते हैं।)



चित्र नं० ८९

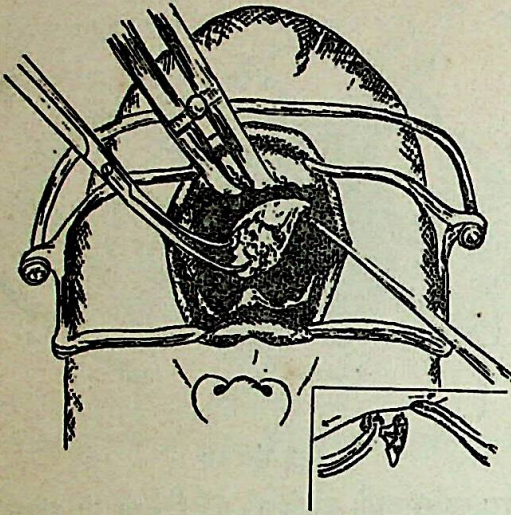
पुरः स्तम्भिका में लगाये गये चीरे में कैची को प्रविष्ट कर चौड़ा देते हैं जिससे चीरा स्वतः बंद जाता है।



चित्र नं० ९०

ग्रन्थि को अपने आधार से प्रथक कर लिया गया है। ग्रन्थि का मूल भाग (pedicle) अभी नीचे के सिरे से लगा हुआ है।

करते हैं। सर्व प्रथम वलसेलम संदंश (*Vulsellum Forceps*) से ग्रन्थि को उसके स्थान में से ऊपर उठाते हैं। तदनन्तर गलतोरणका की सन्मुखीन स्तम्भिका और ग्रन्थि के स्वतन्त्र पृष्ठ के मध्य की श्लैष्मिक कला को विभक्त कर देते तथा कोष को नग्न कर लेते हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थि को आधार (*Bed*) पर से हटाते हैं और कुण्ठितच्छेदन (*Blunt*



चित्र नं० ६१

ग्रन्थि मूल को स्नेहर द्वारा हटाया जा रहा है।
कोने में—स्नेहर द्वारा हटाने से पूर्व बन्धन किस
प्रकार लगाना चाहिये यह दिखलाया है।

dissection) द्वारा उसे पृथक कर देते हैं।
तालु और जिह्वा से संबन्धित भागों को स्नेहर
(*Snare*) की सहायता से हटाते हैं और अन्त में
आवश्यकता होने पर रुधिर स्राव को रोकने के
लिये रक्त बाहिनियों का बन्धन कर दिया जाता है।

चाहे किसी भी पद्धति को अपनाया जाय,
शस्त्रकर्म के समय अथवा उसके पश्चात् अत्यधिक

शोणितस्राव होता ही है। इसको विकेशिका
(*Gauze*) की या रुई की गद्दी का दबाव डालकर
रोका जा सकता है। अंगुलियों द्वारा ग्रीवापर प्रति-
निपीडन (*Counter pressure*) भी एतदर्थ
सहायक होता है। शस्त्रकर्म के उपरांत तथा सीजन
से पूर्व रोगी को शान्त रखने के लिये अहिफेनसल
और ग्रीवा पर हिम पोटली (*Ice bag*) का प्रयोग
किया जा सकता है। उपजिह्विका खात (*Tonsil
fossa*) पर थ्रोम्बिन को स्थानिक रूप से लगाने से
भी रुधिर स्राव रुक जाता है। इतने पर भी यदि
रुधिर स्राव न रुक सके तो आवश्यकतानुसार रोगी
का संज्ञाहरण कर रक्तवाहिनी का बन्धन कर दिया
जाता है।

इन विकारों के अतिरिक्त उपजिह्विका में फिरङ्ग
सम्बन्धी (*Syphilitic*) विकार और साधारण तथा
घातक अबुर्द भी पाये जाते हैं।

चरक ने दोषहर, आलेपन, भेदन (पूय होने
पर) छेदन (समस्तग्रन्थि के निर्हरण के लिये)
चिकित्सा के अतिरिक्त उपजिह्विकाओं की दहन
चिकित्सा भी उल्लिखित की है (आलेपनछेदन
भेद-दाहैः— च. चि. १२)।

—डा० अनन्तगाम शर्मा D. I. M. S. शास्त्री
प्राध्यापक—ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार

पुस्तकों का विशाल भंडार--

हमने अपने यहां आयुर्वेद एवं अन्य चिकित्सा पद्धतियों की हिन्दी में प्रका-
शित पुस्तकों का विशाल संग्रह विक्रियार्थ किया है। विस्तृत सूचीपत्र इस विशेषांक के
अन्त में लगा है। उसे आप देखें और अपनी रुचि अनुरूप पुस्तकें हमारे यहां से मंगा-
कर अध्ययन करें। चिकित्सकों को नवीन साहित्य का अध्ययन निरंतर करते रहना
चाहिये जिससे कि उनका ज्ञान सदैव सामयिक रहे और पीड़ित समाज की सेवा करते
हुए सफलता प्राप्त करें।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय (पुस्तक विभाग)

विजयगढ़ [अलीगढ़]

बच्चों में मोतीभला

श्री चन्द्रकान्त प्रभुशंकर शुक्ल

आप सौराष्ट्र के प्रसिद्ध वैद्य हैं । सफल चिकित्सक हैं । कच्छ वैद्य सभा के अनेक वर्षों तक प्रमुख रहे हैं एवं वर्तमान में गुजरात राज्य की आयुर्वेदिक फैकल्टी के सम्मानित सदस्य हैं तथा अनेक परीक्षा समितियों के परीक्षक हैं ।

—सम्पादक ।

बच्चों की तीन अवस्था मानी गई हैं । क्षीराद, क्षीरान्नाद और अन्नाद । जो केवल स्तन्यपान करते हैं उनको क्षीराद कहा जाता है । सामान्यतया ६ मास तक यह अवस्था मानी जाती है । इसके बाद थोड़ा भोजन करता है और स्तन्यपान भी बन्ना करता है । इसको क्षीरान्नाद कहा जाता है । और बाद में स्तन्य बिलकुल छोड़ करके आहार लेता है इसलिये इस अवस्था को अन्नाद कहा जाता है । १६ वर्ष की आयु तक बाल्यावस्था मानी गई है । मोतीभरा बर्धमान आयु तथा युवावस्था में अधिक होता है । वृद्धावस्था में भी मिलता है । इस प्रकार यह सब अवस्था में मिलता है । यहां तक कि जरायु द्वारा भी इस रोग का संक्रमण होते हुये देखा गया है ।

नामकरण—

आन्त्र की पैयर्स पैचज नामक कला विभाग में विशेष विकृति होने से इसको आन्त्रिक ज्वर या एन्टरिक फीवर कहते हैं । आयुर्वेद में तो सब ज्वरों को आमशय-समुत्थ माना गया है । परन्तु इसमें अन्नवह स्रोतस् में प्रधानतया विकृति होने से आन्त्रिक ज्वर कहा जाता है ।

बोर्ड नामक विकृति विज्ञान के तज्ज्ञ ने इसको रक्तात व्याधि माना है क्योंकि संक्रमण के बाद इस रोग के जीवाणु तथा जीवाणु से उत्पन्न विष रक्त में जाता और सर्व शरीर में संचार करता है ।

टाईफायड यह नाम ग्रीक भाषा से बनाया है जिसका अर्थ है मनोग्लानि की अवस्था । इस रोग में यह लक्षण प्रधान होने से इसको टाईफायड कहते हैं । और इसके जीवाणु टाईफायड बैसी-

लस कहे जाते हैं ।

महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने इस रोग का नाम आन्त्रिक ज्वर दिया है । इसके पूर्व और आजकल भी लोक व्यवहार में इस रोग को 'मोती-भरा' कहा जाता है क्योंकि रोग काल में शरीर पर मोती जैसे विशिष्ट प्रकार के दाने शरीर में विशेषतया पूर्व भाग में उत्पन्न होते हैं ।

रोगाधिष्ठान की दृष्टि से ऊपर जो भेद बताया है वह आयुर्वेद की दृष्टि से संपूर्णतया संगत है । जैसे ज्वर की सामान्य संप्राप्ति में आमशय समुत्थ तथा सन्तत ज्वर की दृष्टि से विशेष संप्राप्ति में 'सन्ततो रसरक्तस्थः' ये दोनों स्वरूप से बताये गये हैं । क्योंकि आमशय के एक देश में विकृति का संबंध है अतः आन्त्रिक ज्वर कहना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

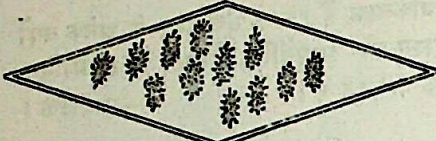
प्रत्यात्म लक्षण —

यह ज्वर तीव्र प्रकार का है, और निश्चित जीवाणु से उत्पन्न होता है । ज्वर की विशेषता यह है कि यह धीरे धीरे बढ़ता है । अहोरात्रि में कभी भी ज्वर रहितावस्था नहीं होती अर्थात् सन्तत ज्वर रहता है । इसके साथ आमबिष के लक्षण तथा शरीर पर गुलाबी वर्ण की पिङ्ककायें उत्पन्न होती हैं । ज्वर के जो प्रत्यात्मलक्षण कहे गये हैं वे भी इसमें निश्चित रहते हैं । ज्वर के प्रत्यात्म लक्षण निम्न हैं—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वांग ग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो न्यपदिश्यते ॥

अर्थात् स्वेद नहीं आना, और सर्वांग का ग्रह

मंथर ज्वर के कृमि
"Bacillus Typhosus"



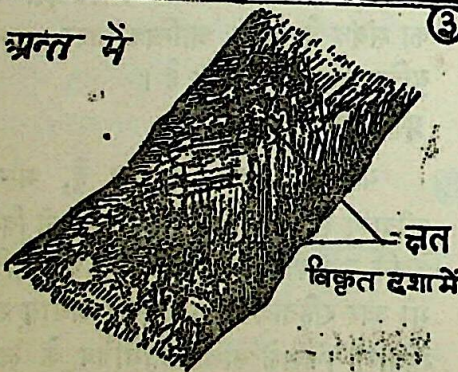
यह जीवाणु आंतों में पहुँचने से शोथ और
क्षत पैदा कर देते हैं ॥

मंथर ज्वर में अंत्र शोथ



चित्र में नं० १, २ बिन्दु वाला स्थान शोथयुक्त है

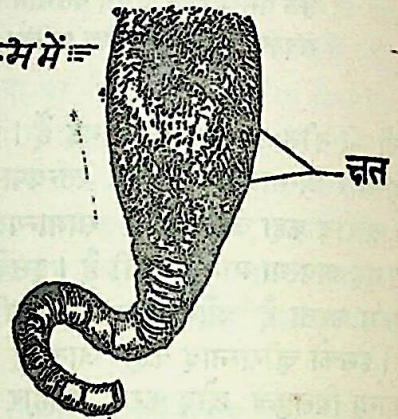
अन्त में



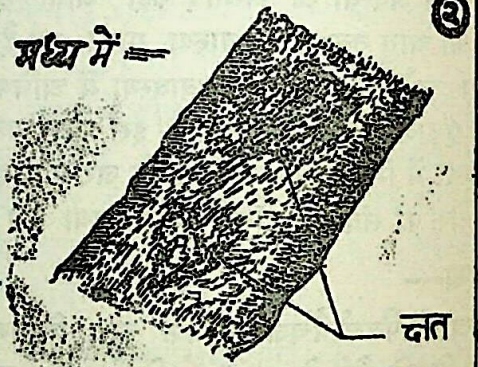
मंथर ज्वर में आंतों के क्षत

चित्र नं० १, २, ३ देखें.

प्रारम्भ में =



मध्य में =



आतें चीर कर देखने पर
चित्र नं० १, २, ३ की
तरह दिखाई देते हैं।

चित्र नं० ६२

ये तीनों लक्षण एक साथ रहते हैं। यहां सन्ताप शब्द का कुछ अधिक विवेचन आवश्यक है। चरक कहता है 'ज्वर प्रत्यात्मिकं लिङ्ग सन्तापो देहमानसः (च. चि. ३) और 'देहेन्द्रियमनस्तापी' अर्थात् देह,

इन्द्रिय और मन इन तीनों का सन्ताप सामान्यतया सब अवस्थाओं में होता ही है और विशेषतया आन्त्रिक ज्वर में। इनसे निम्न लक्षण उपस्थित होते हैं—
देह सन्ताप से शरीर की उष्मा बढ़ना, अरुचि,



शिशिरांग

वृष्णा, अङ्गमर्द और हृदयव्यथा^१। मनस्ताप से वैचल्य, अरति-वैचनी और ग्लानि और इन्द्रिय-सन्ताप से इन्द्रियों की अर्थ ग्रहण शक्ति का नाश या विकृति होती है^२।

स्वेदावरोध अर्थात् पसीना नहीं आना यह लक्षण स्वेदवह स्रोतों के अवरोध से होता है।

लक्षण—

ज्वर ३ या ४ सप्ताह तक रहता है। जीवाणु प्रवेश के बाद इसका संचय काल १० से १४ दिन तक माना गया है। कभी अधिक या कम समय का भी हो सकता है। तीनों दोषों के प्रकोप के लक्षण भी इसमें मिलते हैं इसलिए सन्निपात ज्वर कहा जाता है। सन्तत प्रकार का ज्वर होने से तथा धातु में दुष्टि मिलने से इसको सन्तत ज्वर कहना अधिक उचित है। जब दोष का पाक नहीं होता तब तक ज्वर रहता है। इस ज्वर की निश्चित मर्यादा भी है—

सप्तमी द्विगुणी चैव नवम्येकादशी तथा ।

एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च बधाय च ॥

इस कालमर्यादा के आधार पर कुछ सप्ताह तक सामान्यतया तीन से चार सप्ताह तक यह ज्वर चालू रहता है।

सामान्यतया प्रथम सप्ताह में ज्वर धीरे धीरे बढ़ता है। प्रातःकाल की अपेक्षा सायं ज्वर प्रति-दिन अधिक होता जाता है। और सप्ताह के बाद दूसरे और तीसरे सप्ताह में अहोरात्रि में ज्वर ताप-क्रम में बहुत कम अन्तर रहता है। दोष पक्व होने पर अर्थात् तीसरे या चौथे सप्ताह में ज्वर धीरे धीरे उतरता है। इसको अदारुणमोक्ष कहा जाता है।

^१ सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदिव्यथा ।

—च० चि० ३-२६

^२ वैचल्यमरतिग्लानिमनसस्ताप इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम् ॥

—च० चि० ३-३६

^३ क्षोत्सां सशिरुद्धरवात् स्वेदं नाधिगच्छति ।

—च० चि० ३-१३२

प्रथम सप्ताह में अन्य लक्षण—ज्वर धीरे धीरे बढ़ते जाना, प्रातः ज्वर की अपेक्षा सायं ज्वर अधिक रहना, ज्वरमान के अनुपात से नाड़ी का न बढ़ना अर्थात् सामान्यतया एक डिग्री ताप बढ़ने पर नाड़ी दस प्रति मिनट बढ़ती है परंतु आन्त्रिक ज्वर में यह क्रम निश्चित नहीं रहता। नाड़ी मृदु रहती है। उप-रांत शिरःशूल, अरति, दौर्बल्य, ईषत् कास, निद्रा कम होना और कभी कभी नासागत रक्तस्राव। अरुचि, हृत्तास, उदर में अस्वास्थ्य प्रतीति, आध्मान, दक्षिण प्रदेश में ईषत् शूल और गड़गड़ाहट, आनाह या कभी अतिसारवत् द्रव मल प्रवृत्ति होती है। जिह्वा साम अर्थात् श्वेत वर्ण के शुष्क मल से लिप्त रहती है और इसकी किनारी लाल रहती है। यह निश्चित लक्षण है।

प्रथम सप्ताह में रक्त परीक्षण करने से जीवाणु-मयता अवश्य मिलती है। एक विशिष्टता यह भी है कि श्वेतकण की संख्या कम होती है।

ऊपर जो प्रथम सप्ताह के लक्षण बताये हैं वे प्रायः ज्वर की सामावस्था के ही लक्षण हैं। चरक ने सामावस्था के लक्षण निम्न दिए हैं—

अरुचिरचाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ।

हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्राचालस्यमेव च ॥

ज्वरोऽविसर्गो बलवान् दोषाणाम् प्रवर्तनम् ।

लालापसेको हृत्तासः शुभाशो विरसं मुखम् ॥

स्तब्धसुप्त गुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ।

न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणं ॥

—च. चि. ३-१३३ से ३५

चरकोक्त आम ज्वर के लक्षण अधिक स्पष्ट हो ऐसा प्रतीत होता है। यदि 'ज्वर बलवान्' का अर्थ ज्वर प्रतिदिन बलवान् होता जाता है ऐसा लिया जाय तो अधिक स्पष्ट होता है। 'बहुमूत्रत्वम्' सामान्यतया कम मिलता है। बाकी के सब लक्षण प्रायः मिलते हैं। इस प्रकार प्रथम सप्ताह के लक्षण आमज्वर के लक्षणों में अधिक तुलना रखते हैं।

द्वितीय सप्ताह के लक्षण—इस सप्ताह में रोगी की अवस्था के मुख्य लक्षण निम्न हैं—

ज्वर बेग अधिक होता है। १०३° फा से १०५° फा तक ज्वर रहता है। ज्वरमान में अहो-रात्रि में खास परिवर्तन नहीं होता। नाड़ी ज्वर के अनुपात में नहीं बढ़ती और मण्डूकगति (dicrotic) होती है। रक्तभार कुछ कम रहता है। सात से बारह दिन के अन्दर शरीर पर गुलाबी वर्ण की पिड्डिका उत्पन्न होती हैं। पिड्डिका २-३ दिन में नष्ट हो जाती हैं और प्रतिदिन नयी नयी उठती हैं। वे मृदु और दबाने पर नष्ट होती हैं। सामान्यतया उदर पर होती हैं। शेष मध्य शरीर पर भी होती हैं। मुख तथा शाखा पर तो कदाचित् ही होती हैं। ये इतनी छोटी रहती हैं कि मशक दंश में भी भूल हो सकती है। ये पिड्डिका मोती के दाने जैसी लगाने से इसका मोतीभरा या मोतीज्वर कहते हैं।

प्लीहावृद्धि सामान्यतया मिलती है। परंतु बहुत बड़ी न होने से, मृदु होने से तथा उदर वातपूर्ण होने से स्पर्शोपलब्धि में कठिनाई होती है। बच्चों में आकोटन परीक्षा करने पर मन्द ध्वनि मिलने पर प्लीहावृद्धि का अनुमान कर सकते हैं। दैन्य अधिक होता है। तन्द्रा अधिक होकर मूर्च्छा जैसी अवस्था भी आती है। प्रलाप, आस आदि भी मिलते हैं जिसे अभिन्यासावस्था (typhoid state) कहते हैं।

प्रथम सप्ताह के बाद चणक यूथ जैसी पतली मल प्रवृत्ति होती है। आध्मान और दक्षिण बस्ति प्रदेश में गुडगुडाहट। इनको प्रत्यक्ष करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है अन्यथा स्पर्श परीक्षा में जरा से भी अधिक पीडन से आन्त्र में भेद हो जाता है क्योंकि रोग के परिणाम से आन्त्र की दीवाल पहले से ही पतली हो जाती है। मुख शुष्कता, तृष्णा और जिह्वा पर शुष्क मल जमता है। बाद में जब मल साफ होता है तब जिह्वा चमकीली, लाल एवं श्लक्ष्ण हो जाती है। मूत्र में श्वेति (albumin) भी निकलता है।

इन लक्षणों की तुलना पच्यमान ज्वर के साथ

की जा सकती है। पच्यमान ज्वर के लक्षण निम्न हैं—

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।

मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशो पच्यमानस्य लक्षणम्॥

—च० चि० ३-१३६

कभी कभी उपर्युक्त लक्षण तीसरे सप्ताह में भी चालू रहते हैं। इसके बाद की अवस्था चतुर्थ सप्ताह में शुरू होती है।

चौथे सप्ताह के लक्षण—इस अवस्था में निम्न लक्षण मिलते हैं—

प्रतिदिन ज्वर धीरे धीरे कम होता जाता है। इस प्रकार से ज्वर के उतरने को चरक ने 'अदारुण मोक्ष' कहा है। जिसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

कृत्वा दोषवशाद्देहं क्रमादुपरमन्ति ये।

तेषामदाहस्यो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम्॥

—च० चि० ३-३३५

अर्थात् दोष प्रकोप होने पर ज्वर होता है और बाद में दोषपाक होने पर क्रमपूर्वक ज्वर उतरता है उसको 'अदारुण मोक्ष' कहते हैं। मोतीभरा में इस सप्ताह में ठीक इसी तरह अदारुण मोक्ष होता है इसको 'स्टैप-लेडर फाल' कहते हैं।

शारीरिक और मानसिक सन्ताप की जगह क्रमशः स्वस्थता और रुचि उत्पन्न होती है। वुमुच्छा बढ़ती है और लघुता होती है।

बद्धमल प्रवृत्ति होती है और दोष मूत्र और पुरीष के साथ निकलने लगता है। इस अवस्था में अन्नवह स्रोतस के ब्रण में से दोष निकलने के कारण कभी कभी छिद्रोदर या रक्तस्राव की भी संभावना होती है। ये उपद्रव बहुत गम्भीर हैं इसलिए उपस्थाता को उपचार करने में विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

उपर्युक्त लक्षण ज्वर की निरामावस्था के हैं ऐसा प्रतीत होता है। चरक ने निराम ज्वर के निम्न लक्षण दिये हैं—

क्षुत्क्षामता लघुत्वां च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वर लक्षणम् ॥

—च० चि० ३-१३७

यह “अष्टाहः” शब्द निर्देश मात्र समझना चाहिए परंतु चक्रपाणि ने खरनाद का बचन देकर बताया है कि क्षुत्क्षामता आदि ही निराम ज्वर के लक्षण हैं। देखिये—

न च निःसप्तैगैका निराम ज्वर लक्षणम् ।
चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपात ज्वरे मला ॥
सप्तात्रातिवृत्तिं च क्षामतादि च लक्षणम् ।
तस्मादेतद्वयं दृष्ट्वा निराम ज्वरमादिशेत् ।

—च० चि० ३-१३२

आन्त्रिक ज्वर बच्चों में जवान या वृद्ध जितना दारुण नहीं होता। कभी कभी क्रमशः वृद्धि न होकर सहसा ज्वर १०३-१०४° फा तक हो जाता है और कभी कभी ज्वर शांति द्वितीय सप्ताह के अन्त में भी होती है।

निदान निश्चिति -

विशिष्ट प्रकार का ज्वरताप क्रम, मन्द नाड़ी गति, जिह्वा सामता, अत्यन्त दैन्य और ग्लानि, पिडिकोत्पत्ति और प्लीहावृद्धि इतने लक्षण निदान निश्चिति में महत्व के हैं।

प्रथम सप्ताह में रक्त परीक्षण में जीवाणुमयता मिलती है। श्वेताणु संख्या कम होती है। सामान्यतः संक्रामक ज्वर में श्वेताणु संख्या बढ़ती है। यदि श्वेताणु संख्या कम और ज्वर ताप अधिक हो तो अधिक ज्वर की संभावना रहती है।

१० दिन के बाद रक्त में प्रसमूहि द्रव्य (agglutinins) उत्पन्न होने से विडाल टेस्ट मिलता है। तृतीय सप्ताह के अन्त में मल और मूत्र के द्वारा जीवाणु बाहर निकलते हैं। इसलिये मल परीक्षण में इस रोग के जीवाणु मिलते हैं।

निदान या कारण --

इस रोग का कारण एक विशिष्ट प्रकार के जीवाणु है। इनका नाम ‘टाईफाइड बैसिलस’ है।

मल और मूत्र आदि द्वारा यह फैलता है। जीवाणु द्वारा जल के उपसृष्ट होने पर यह एक जनपदोद्ध्वंस रोग का स्वरूप ले लेता है। आइस्क्रीम तथा दूध के द्वारा भी फैलता है। इस रोग से आक्रान्त रोगी के आमाशय, मूत्राशय, पुरीषाशय, फुफ्फुस, पित्ताशय आदि में जीवाणु की उपस्थिति रहती है। इसलिये उपस्थाता आदि जो रोगी की परिचर्या करते हैं उनके रोगप्रस्त होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिये इनको विशेष सावधान रहना चाहिए। मक्खी जीवाणु की निश्चित वाहक है।

मोतीभरा संवाहक—पित्ताशय (gall bladder) इस रोग के जीवाणु का विशेष आश्रय स्थान है और समय समय पर पित्त के साथ आन्त्र में जीवाणु का त्याग करता है और बाद में ये जीवाणु मल के साथ बाहर आते हैं जिससे रोग फैलता है। ये संवाहक सबसे अधिक भयानक हैं।

बच्चों में उपर्युक्त कारणों के अलावा जीवाणु-युक्त मिट्टी पर खेलने से भी संक्रमण होता है। सद्योजात शिशुओं में जरायु द्वारा भी संक्रमण होता है।

सम्प्राप्ति-

जीवाणु पानी, दूध आदि के द्वारा सर्वप्रथम ऊर्ध्व आमाशय में पहुंचते हैं। सामान्यतः यहाँ स्थित पित्त जो अम्ल स्वाभाव वाला है, इससे जीवाणु का नाश होता है। परंतु जब इनका नाश नहीं होता है और वे पच्यमानाशय में पहुँच जाते हैं, तब इनको अनुकूल वातावरण मिलने से इनकी संख्यावृद्धि होती है। संचयकाल, १० से १४ दिन का है। इसके बाद ये जीवाणु रस के द्वारा सर्व शरीर में घूमते हैं। इस अवस्था को जीवाणुमयता कहा जाता है। बाद में ये आन्त्र की पित्तधरा कला और उण्डुक की पुरीषधरा कला में स्थान संश्रय करते हैं। स्थान संश्रय होने पर वहाँ शोथ उत्पन्न होता है तब तीनों अवस्था अर्थात् आम, पच्यमान एवं निरामावस्था



(पक्वावस्था) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह तीनों ही अवस्था 'व्यक्ति' कहीं जाती हैं। रस के साथ परिभ्रमण करने पर शरीर में किसी भी धातु में ये जीवाणु स्थिति कर सकते हैं परंतु उपर्युक्त कला ही इनका मुख्य स्थान है।

आयुर्वेद की दृष्टि से इस रोग की संप्राप्ति का विचार आवश्यक है। ज्वर के कारणभूत विशिष्ट जीवाणु हैं यह प्रथम बताया गया है। ये जीवाणु जब अग्नि मन्द होती है तब वृद्ध होते हैं। जीवाणु की वृद्धि में अनुकूल वातावरण, जीवाणु का पोषण तथा व्यक्ति की व्याधिचमत्त्व की न्यूनता-ये तीन अत्यन्त आवश्यक होते हैं। जीवाणु का प्रवेश तथा वृद्धि होने पर एक दो या तीनों दोषों का प्रकोप होता है जिनके फलस्वरूप इस रोग में जो लक्षण बताये हैं वे पित्तवृद्धतम, वातवृद्धतर और कफवृद्ध होने पर जो लक्षण होते हैं वे उत्पन्न होते हैं और जठराग्नि मन्द होती है। जिससे आमदोष उत्पन्न होता है। दोष और आम 'आद्य' आहार परिणाम-धातु रस नामानमन्वेत्य' अर्थात् रस धातु में जाकर सर्व शरीर में फैलता है। रसवह और स्वेद-वह स्रोतों का अवरोध उत्पन्न करता है जिससे धातुओं का पोषण नहीं होता और स्वेदावरोध उत्पन्न होता है। बाद में वे आमाशय में स्थानसंश्रय करके शोथ उत्पन्न करते हैं। इस शोथ की आम, पच्यमान और पक्वावस्था होती है और इन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षणों का विवेचन पूर्व में कर दिया गया है। बाद में भेदावस्था में ज्वर के उपद्रव हो सकते हैं। सम्प्राप्ति संक्षेप में क्रमानुसार—

दोषों का आमाशय में प्रवेश—आमाशय में संचय—आमाशय में प्रकोप—रस द्वारा प्रसर—अन्नवह स्रोत में स्थान संश्रय—व्यक्ति-प्रथम सप्ताह आमज्वर—द्वितीय पच्यमानज्वर—तृतीय-निरामज्वर—भेद-उपद्रव या दीर्घकालानुबन्ध या मरण।

दोष-पित्तवृद्धतम, वातवृद्धतर और कफवृद्ध।

दूष्य-रस (मुख्य) और

यथा धातुस्तथामूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे॥

स्रोतस—अन्नवह और रसवह, स्वेदवह
स्रोतोविकृति—सङ्ग—इसके परिणामस्वरूप
आमदोष।

उपद्रव -

५ से १० साल के बच्चों में लाभ होने की सम्भावना अधिक रहती है। ३ साल के नीचे की अवस्था तथा ६० के ऊपर के वृद्धों में अधिक दारुण है। छर्दि, अतिसार, आध्मान, रक्तस्राव आदि उपद्रव होने पर दारुणतम है।

रोग के प्रधान उपद्रव ये हैं—

(१) छिद्रोदर—जब पेयर्स पैचेज में से सड़ा भाग निकलता है तब आन्त्र में एक छिद्र बन जाता है। इस अवस्था में—उदरच्छदा का शोथ, उदर काठिन्य, मूर्छा, तृष्णाधिक्य, ज्वरताप सहसा कम होना, दैन्य, नाडीगति अतिद्रुत और क्षीण, आंत्र की गति का नाश और बाह्य रक्ताभिसरण का नाश—

ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) रक्तस्राव—दूसरा दारुण उपद्रव है। यह उपद्रव भी उपर्युक्त कारण से होता है। उत्पन्न होते ही इसमें हाथ-पैर ठंडा होना, उष्णतामात्र सहसा कम होना, नाडी गति अतिद्रुत और क्षीण होती है। यदि रोगी जीवित रहे तो गुदमार्ग से रक्तस्राव भी होता है। सुश्रुत ने आभ्यन्तरीय रक्तस्राव का बहुत अच्छा वर्णन किया है।

तत्रान्तर्लोहितं पांडुं शीतपादकराननम्।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमाब्धं च निबर्जयेत्॥
—सु० चि० २-५

ये दोनों उपद्रव आयुर्वेदीय दृष्टिबिन्दु से ज्वर सन्ताप के परिणाम से पित्तप्रकोप होने पर उत्पन्न



शिक्षा योजना

होते हैं।

(३) बच्चों में खण्डकीय फफुसपाक (*Broncho-pneumonia*) और बच्चों तथा बड़ों में श्वसनक ज्वर-वे उपद्रव होते हैं।

(४) शरीर के अन्य स्थानों में व्रणशोथ या विद्रधि-जैसे कर्णमूलशोथ, मज्जाविद्रधि, पित्ताशय शोथ, महाशौषिर, सत्रण स्वरभेद आदि। चरक ने कर्णमूलशोथ का वर्णन इस प्रकार दिया है—
सन्निपात ज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥

—च. वि. ३-२८७

(५) ज्वरमुक्त होने के बाद भी ज्वर का पुनरावर्तन हो सकता है। यदि अति आहार, क्रोध और विबंध हो जाय तो पुनरावर्तक ज्वर होता है। ज्वर के बाद आहार, आचार, चेष्टा आदि में असावधानी रखने पर यह होता है। चरक ने पुनरावर्तक ज्वर के कारण इस प्रकार से दिये हैं—

असम्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते।
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः॥
दुहतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः॥

—च. वि. ३-३३३ से ३४

यदि आहार आदि के दोष से ज्वर चिरकालीन हो जाय तो जीर्ण ज्वर विषमज्वर या मरण भी हो जाता है। चरक कहता है—

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनतेजसम्।
अचिरे शैव कालेन स हन्ति पुनरागतः॥
अथवाऽपि परिपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः॥
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाप्यपकुर्वन्ते।

—च० वि० ३-३३५ से ३६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आंत्रिक ज्वर दारुण व्याधि है। चिकित्सा में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। चिकित्सा के सिद्धांत का विचार आयुर्वेदीय दृष्टि से किया जायगा।

चिकित्सा—

आंत्रिक ज्वर की चिकित्सा दो विभाग में

विभाजित है। (१) रुग्णावस्था में (२) स्वस्थ पुरुष में रोगप्रतिबन्धक। सुश्रुत ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन भी बताये हैं—‘इह खलु आयुर्वेद प्रयोजनं स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं व्याधितानां व्याधिपरिमोक्षः।’

पहले व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्व की दृष्टि से विचार करना चाहिए—

सब प्रकार के ज्वर औपसर्गिक बताये हैं। इस लिए उपसर्ग होने के कारण का त्याग करना चाहिये। उपसर्ग के कारण निम्न बताये गये हैं—

प्रसङ्गागात्रसंस्पर्शात् निश्वासात् सहभोजनात्।

पृकशय्यासनाश्चापि वस्त्रमाख्यानुलेपनात्॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिव्यन्द एव च।

औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्तरम्॥

—सु० नि०

इस प्रकार से रोग का संक्रमण होता है। इसलिए बड़ी सावधानी के साथ रोगी को परिचर्या करनी चाहिए। बहुत विस्तार न करके संक्षेप में कहा जाय तो परिचारक को बहुत शुद्धि रखनी चाहिए।

पहले बताया जा चुका है कि इसका उपसर्ग जल या दूध आदि के द्वारा होता है। इसलिए इसको उबाल करके प्रयोग करना चाहिए। शृतशीत जल का उपयोग तो रोगी के लिए भी अति उत्तम है। इससे रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश होता है, वात, मूत्र पुरीष का अनुलोमन होता है, अग्नि प्रदीप्त होता है, स्रोतों की शुद्धि और ज्वर भी कम करता है। इसलिए दूध, पानी आदि पेय पदार्थ तथा आहार भी उष्ण लेना चाहिये।

मक्खी इस रोग की वाहक है इसलिए घर में तथा आसपास स्वच्छता रखना आवश्यक है।

बल बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। ‘बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्’ अर्थात् बल से दोषों का निग्रह होता है। बल तीन प्रकार का है—सहज, युक्तिकृत और कालकृत। युक्तिकृत बल का अर्थ है युक्तिपूर्वक उत्पन्न किया गया बल। यह आहार, आचार, चेष्टा, रसायन के प्रयोग से बढ़ता है। अन्य उपाय भी जिनसे व्याध्युत्पाद प्रतिबन्धकत्व बढ़े, उनका



प्रयोग आवश्यक है। पाश्चात्य विज्ञान में 'टी. ए. बी. वैक्सन' का प्रयोग एक प्रकार का युक्तिकृत बल है। इसी प्रकार से सुपाच्य तथा लघु और पौष्टिक आहार भी युक्तिकृत बल उत्पन्न करता है। चिकित्सा व्यवसाय में यह देखा गया है कि मोती-मूत्रा का उपद्रव शुरू होने पर यदि रोगी के परिचारक या आसपास रहने वालों को चिरायता प्रतिदिन दिया जाय तो इस रोग की उत्पत्ति नहीं होती।

'रोगा सर्वेऽपि मन्देग्नौ' आयुर्वेद का यह सूत्र चिकित्साशास्त्र में महत्वपूर्ण है। इसलिये यदि अग्नि प्रदीप्त रखने के लिये और मलप्रवृत्ति साफ लाने की चेष्टा की जाय तो भी इस रोग के संक्रमण से बच सकते हैं।

खास करके उपस्थाता को विशेष सावधान रहना चाहिए।

व्याधिपरिमोक्ष के लिये चिकित्सा—

ज्वर की सामान्य चिकित्सा आर्ष ग्रन्थों में बताई गई है वह इस रोग में सर्वांश में उपयोगी है। आम, पच्यमान और निरामज्वर का चिकित्सा सूत्र महत्व रखता है। इसलिये—

लंघनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।

पाचनान्यविषक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥

—च. चि. ३-१४३

इस चिकित्सासूत्र के आधार पर चिकित्सा करने से अवश्य लाभ होता है। लंघन में प्रधानतया उपवास (अभोजन) मुख्य है। ज्वर आमोदोष के पाचनार्थ लंघन और पाचन दो मुख्य हैं। चरक में यद्यपि दशविध लंघन बताया है परन्तु मोतीमूत्रा में उपवास ही कराना श्रेष्ठ है। विरेचन आदि संशोधन कभी भी और किसी भी अवस्था में नहीं देना चाहिये। संशोधन देने से छिद्रोदर, अन्तर्लोहित, हृद्रोग, आनाह आदि उत्पन्न होकर के रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। वाग्भट विरेचन आदि संशोधन का प्रसुप्त कृष्णसर्प को

छेड़ने के साथ तुलना करता है।

पाययेदोषहरयां मोहादाम ज्वरे तु यः।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत्॥

—अ. ह. चि. १

लंघन से दोषक्षय होना है, अग्नि प्रदीप्त होती है, ज्वर प्रतिदिन कम होता जाता है और गात्रलाघव होता है। बुभुक्षा भी बढ़ती है।

लंघन कराते समय बल की रक्षा करना आवश्यक है क्योंकि बल टिकाये रखने से दोषों का निग्रह होता है।

लंघन के अयोग से दोष शांति न होकर ज्वर-रहितावस्था नहीं आती और यदि अतियोग होगा तो धातुपाक हो जाता है इसलिये ज्वर उतरने तक लंघन कराना इस रोग में अत्यन्त आवश्यक है।

पीने के लिये शृतशीत जल या षडङ्गपानीय देना चाहिए। आदर्श तो यह है कि स्वतन्त्र भेषज न देकर के षडङ्गपानीय के रूप में औषधि देना चाहिए। 'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।' स्वतन्त्र भेषज देने से ज्वरवृद्धि होती है। और शृतशीत जल या षडङ्गपानीय दीपन, पाचन, ज्वरघ्न, स्रोतःशुद्धिकर, शोधन, बल्य, रुचिप्रद और स्वेदोत्पादक है पिपासा शान्त होती है और दोषों का पाक होकर के ज्वर उतरता भी है।

फलरस—यद्यपि उपवास इस रोग की मुख्य चिकित्सा है परन्तु यदि रोगी न रह सके तो पित्तज फलों का रस मात्रा में देना चाहिए। पित्तघ्न फल निम्न प्रकार के हैं—

द्राक्षादाडिमखजूर प्रियालैः सपरुषकैः।
तर्पणाहंषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम्॥

—च. चि. ३-१५५ पर चक्रपाणि

आन्त्रिक ज्वर पित्तप्रधान होने से द्राक्षा को जल में भिगोकर पानी बनाकर देने से ग्लूकोज से भी अधिक लाभ होता है। द्राक्षा स्वयं ज्वरघ्न और अनुलोमन है। मौसंबी का रस भी दिया जाता है। परन्तु हमारे अनुभव में द्राक्षा अधिक लाभदायी है।

काल—इस रोग में दोषपाक के लिये तथा स्त्रोतः शुद्धि के लिये निश्चित समय माना गया है इसलिए इसको पाचन के अन्तर्गत लिया गया है।

तित्करस—

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ।

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद्विषक् ॥

—च. चि. ३

ज्वरघ्न रसों में सब से उत्तम तित्करस है इस लिए तित्करस प्रधान द्रव्य चिरायता, गुडूची आदि का क्वाथ देना चाहिये । यदि आमदोष का पूर्ण रूप से पाचन न हुआ हो तो पाचन कषाय देना और यदि पाचन हो गया हो तो दोषशमन कषाय देना चाहिए । आंत्रिक ज्वर पित्तप्रधान होने से तित्करस वाले द्रव्य का क्वाथ देना अधिक उचित है । मधुर रस पाचन में गुरु होने से पित्तघ्न होने पर भी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए और कषाय रस दोषों का स्तम्भन करता है और पाचन नहीं होता है, अग्निमन्द भी करता है इसलिए इसका कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए । 'षडहेऽतीते' यहां छः दिन निर्देशमात्र हैं । चक्रपाणि ने इस सूत्र की टीका में अन्य ग्रन्थों का उद्धरण देकर बहुत विवाद किया है । इसका तात्पर्य यह है कि पच्यमान या पक्वावस्था में क्वाथ देना युक्ति युक्त है ।

पथ्यापथ्य—

सबसे महत्वपूर्ण है पथ्य का सेवन और अपथ्य का त्याग । ज्वर में निम्न अपथ्य बताये गए हैं—

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् ।

क्रोधप्रवातव्यायाम कषायांश्च विवर्जयेत् ॥

—च० चि० ३

सुश्रुत ने दूध को भी अपथ्य बताया है । दूध के लिए सुश्रुत कहता है—

तदेव तरुणे पीतं विषवद्वन्ति मानवम् ।

—सु. उ. ३६

व्यायाम—किसी भी प्रकार का परिश्रम नहीं लेना चाहिए ।

मलप्रवृत्ति की ओर ध्यान देना चाहिए । अहो-रात्रि में एक बार मलप्रवृत्ति होनी ही चाहिए । यदि न हो तो ग्लीसरीन सिरिज देकर या वर्ति से मल त्याग करना चाहिए ।

यदि सावधानी से चिकित्सा की जाय तो रोग स्वयमेव ३-४ सप्ताह में शान्त होजाता है । ज्वर उतरने के बाद रोगी को सामान्य आहार पर कैसे लाना है यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसके लिए चरकोक्त सूत्र मार्गदर्शक है—

ज्वरे पेया कषायाश्च क्षीरं सर्पिः विरेचनम् ।

षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य च ॥ —च. चि. ३०

इस सूत्र में 'षडहे षडहे' अर्थात् छः छः दिन का समय महत्वपूर्ण है समझके आहार पर लाना चाहिए । ज्वर उतरने के बाद मण्ड, पेया, यवागू, चावल, शाक, रोटी, क्षीर, घी आदि छः छः दिन के अन्तर से बढ़ाने से कोई विकृति नहीं होती ऐसा दृढ़ विश्वास के साथ कह सकते हैं । अन्यथा पुनरावर्तक ज्वर या अन्य उपद्रव होने की सम्भावना रहती है ।

पाश्चात्य विज्ञान में क्लोरोफ़ॉर्मिकोल या क्लोरो-माइसेटीन नामक औषधि का व्यवहार होता है । ज्वर को शांत करने के लिये यह उत्तम औषधि है परन्तु पुनरावर्तक ज्वर, पांडु तथा अन्य रोग भी इससे उत्पन्न होते हैं । इसलिए इस औषधि का भी सावधानी से व्यवहार करना चाहिए । इस औषधि के सम्बन्ध में बहुत कुछ लाभ अलाभ आदि लिख सकते हैं परन्तु विषयान्तर के भय से नहीं लिखते मेरे मत में आयुर्वेदिक चिकित्सासूत्र के अनुसार चिकित्सा करने से इस रोग में बहुत लाभ होता है । उपद्रव भी नहीं होते और बल भी तुरन्त आ जाता है । अन्त में ज्वर से मुक्त के लक्षण देकर लेख समाप्त करेंगे ।

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम् ।

युक्त प्रकृतिसत्त्वेन विघात पुरुषमज्वरम् ॥ —च. चि. ३

—श्री चन्द्रकांत प्रमुशंकर शुक्ल
प्रोफेसर—काय चिकित्सा

पोष्ट प्रेजुपट सेन्टर इन आयुर्वेद, जामनगर ।

शिशुओं का मोतीभरा या मोतीज्वर

वैद्य श्री शङ्करदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ भिषग्वत्तम्



बालकों में "मोतीभरा" एक भयानक व्याधि है। इसको मंथर ज्वर, मोतीभरा, मियादि बुखार, निकालाभरी आदि नामों से पुकारते हैं। डाक्टर लोग इसको एण्टेरिक फीवर, टाईफायड फीवर इन नामों से स्मरण करते हैं।

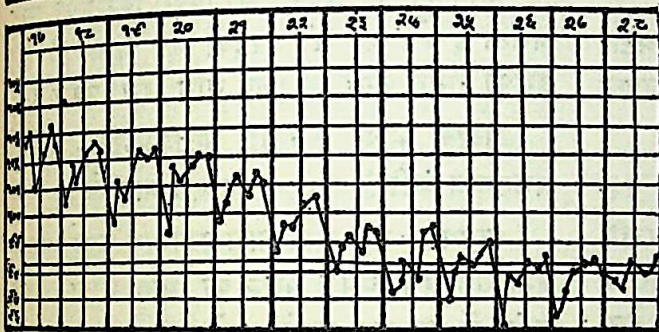
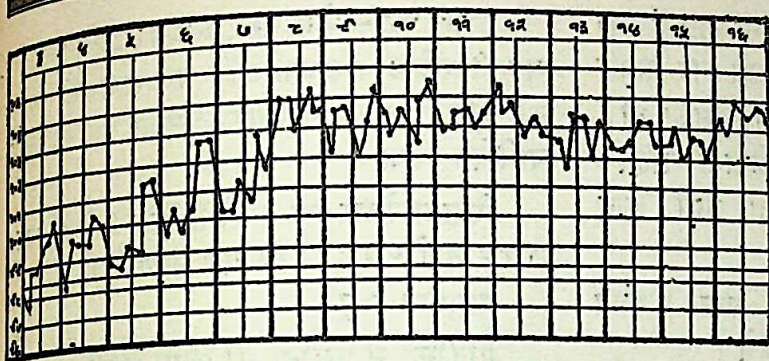
कारण—माता अथवा धात्री या स्वयं को सड़ा-गला भोजन करने से, दुर्गन्धित स्थान में रहने से, वर्षा में भीगने से, जुखाम वगैरह होने से और स्वास्थ्यो-पयोगी उचित खान पान का ध्यान छोड़ कर लापरवाही से जो आगे आवे वही खिला देने या खालेने से वर्षा आतप शीत वातादि में नंगे पैर, नंगे शिर, नंगी देह घूमने फिरने एवं सम्यक् देख भाल न रखने से बात पित्तादिक दोष कुपित होते हैं। और कुपित होकर ज्वर पैदा करते हैं वही ज्वर अविसर्गी होकर मोतीभरे का कारण बनता है।

लक्षण—

यह ज्वर सात दिन चौदह दिन, नौ दिन अठारह दिन, ग्यारह दिन बाईस दिन, दश दिन बीसदिन, बारह दिन चौबीस दिन किसी किसी समय तो यह ज्वर तीन-तीन मास मास तक चलता है। इसमें ग्रीवा पर छोटी छोटी पिडिकायें पोस्त के दाने के आकार की श्वेत वर्ण की दीखने लग जाती हैं। वे धीरे धीरे ग्रीवा से छाती पर, पेट पर, कमर पर और पैरों पर होती हुई ढल जाती हैं और शिशु स्वास्थ्य लाभ करता है। किसी किसी को इसमें प्रलाप, बैचेनी, पतले दस्त, उदराध्मान (अफरा), ज्वर के अकस्मात् उतर जाने से शरीर में शीतलता, नाड़ी लोप आदि होकर शिशु के मारक हो जाते हैं। यह अवस्था बड़ी भयानक होती है। अतः इस अवस्था में वैद्य को धैर्यपूर्वक बड़ी सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर प्रातः काल की अपेक्षा सां को अधिक होता है। बालक अपने शिर को इधर उधर चलाता

चौंक कर उठ बैठता है और संज्ञाहीन होकर अंत संत असंबद्ध बकता है। जिह्वा सफेद मलयुक्त कड़ी खुरदरी कर्करा प्रतीत होती है। नेत्रनिस्तेज तथा अस्वाभाविक रहते हैं।

डाक्टर लोग इसमें एक प्रकार के कीटाणु को कारण मानते हैं। वह बी.टाइफोसस (B. Typhosus) नामक कीटाणु है जो रोगी के मल मूत्र में मिलता है। इसकी अवधि ३ से ६ सप्ताह की होती है। त्वचा पर गुलाबी रंग के छोटे छोटे दाने निकल आते हैं, सीहावृद्धि आंत में ब्रण हो जाते हैं, उदराध्मान, पतले दस्त आदि आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी के मल मूत्र से यह रोग फैलता है अतः मल मूत्र को अच्छी तरह नष्ट कर देना (जमीन के अंदर गाड़ देना) चाहिये। रोगी की सेवा करने वाले का कर्त्तव्य है कि अपने हाथ पैर आदि अंगों की सफाई ठीक ढंग से करते रहें अन्यथा वे भी इस रोग से पीडित हो जावेंगे। रोगी के स्थान वस्त्र आदि को साफ रखना चाहिए। मक्खी वगैरह को रुग्ण स्थानीय वस्तुओं पर न बैठने देना चाहिए। दूषित खाद्य पेय द्वारा यह जीवाणु मुख द्वारा आंतों में चला जाता है वहां रोग पैदा करता है अतः खाद्यपेय पदार्थों की शुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। वैसे तो यह सब समय होता है परन्तु इसका खास प्रकोप काल ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतुओं में है। आंतों में ब्रण होने से आंतें शोथ-युक्त होती हैं और जब मल त्याग के समय रुक्त-स्राव होता है तो इस रोग को असाध्य श्रेणी में प्रविष्ट हुआ समझते हैं। ज्वर सां को १०४, १०५, १०६ डिग्री तक पहुँच जाता है प्रातः १००, १०१, १०२ या ६६ तक भी नीचे उतर जाता है। यह ज्वर स्तनन्धय बालक को बहुत कम होता है। यह कभी कभी वोदरी (खसरा) निकलने के पश्चात् निक-



चित्र नं० ६३
आन्त्रिक ज्वर का चार्ट

लता है या मोतीभरा निकलने के बाद बोदरी (खसरा) निकलती है ऐसा होना भी एक असाध्य लक्षण ही है। चिकित्सक को सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिए।

चिकित्स्य बालक तीन प्रकार के हैं (१) स्तन्य-जीवि (२) स्तन्यान्नजीवी, और (३) अन्नजीवी, इनमें से प्रथम स्तन्यजीवी के लिये उसकी माता या धाय को दवा देवें। हां साधारण घूटी वगैरह बालकोपयोगी औषधि देने में तो कोई आपत्ति न होनी चाहिए। दूसरे दुग्धान्न जीवी के लिए माता एवं शिशु दोनों के लिये दवा का प्रयोग कर सकते हैं। तीसरे अन्नजीवी के लिए औषधि बालक को ही देनी चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि उपवीर्य या अत्युष्ण औषध अत्यावश्यकता के बिना न देनी चाहिये। क्योंकि बालक स्वभावतः कोमल प्रकृति के होते हैं। उनको कई दफे ऐसी दवाओं के प्रयोग से कई उपद्रव खड़े हो जाते हैं जो चिकित्सक

की बुद्धि को भी चकरा देते हैं। यह मुक्त भोगी ही जान सकते हैं अतः शिशुओं की चिकित्सा करते समय उपर्युक्त सभी बातों का और मात्रा, देश, काल, सामाजिक जीवन आदि का भी विशेष रूप से ध्यान रखना जरूरी है। इस रोग में रोगा-

क्रान्त शिशु को अन्य स्वस्थ शिशुओं से पृथक् रखना चाहिए। रुग्ण के खान पान के पात्रों में स्वस्थ बालकों को कदापि खाने पीने न देना चाहिए। प्रथमतः साधारण ज्वर होता है वही आठवें दिन मंथर ज्वर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है और पूर्व कथित अवधि तक बराबर चलता रहता है। स्वल्प लक्षण वालों को शीघ्र आरोग्य हो जाता है पूर्ण लक्षण वाले रुग्णों में से कदाचित ही कोई बच

सकता है। क्योंकि शास्त्र में कहा है—

दोषे विबद्धे नष्टेऽनौ सर्वसंपूर्ण लक्षणः।

सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छसाध्यस्ततोऽन्यथा॥

चिकित्सा—

वैसे तो इस रोग में विशेष दवाइयां देनी ही नहीं चाहिए। चिकित्सक को इस रोग के पीछे पीछे चलना चाहिए। अगर ठीक ढंग से ज्वर बगैरह चलते रहें तो ज्वर को यथासमय स्वयं ही दोष परिपाक काल में उतरने देना चाहिये, बीच में उतारने की चेष्टा करना भयंकर खतरा खरीदना है। कोई उपद्रव अकस्मात् खड़ा न हो जावे इसके लिये प्रथमतः ही सन्नद्ध रहना चाहिए। चिकित्सक की थोड़ी सी लापरवाही से उपद्रवों के उठने में बिलम्ब नहीं होता अतः उपद्रवों की तरफ विशेष लक्ष्य रखना अत्यावश्यक है।

संजीवनी वटी आधी रत्ती, प्रवाल भस्म आधी रत्ती, मुक्तापिष्टि या भस्म १ रत्ती—तीनों को मिला कर एक मात्रा।



बना लेनी चाहिये। इसी प्रकार अन्य मात्रायें भी बना लेनी आवश्यक हैं। दिन में दो बार लवङ्ग जल के साथ यानी एक दो लवंगों को पीसकर थोड़े से पानी में छानकर सूक्ष्म गरम करके लेना चाहिए। उपर्युक्त दवा के मिश्रण को प्रातः सायं लेना चाहिये और दोपहर को रात को—

प्रबाल पिष्टी १ रत्ती, गुडूची सत्व १ रत्ती दोनों को मिलाकर मधु से देना चाहिये।

खांसी की अधिकता में बीच बीच में—अष्टाङ्गालेह ५ रत्ती, शुद्ध टङ्कण २ रत्ती मिलाकर अर्द्रक स्वरस और मधु के साथ दे।

तन्द्रा, प्रलाप, निद्राधिक्य, मत्तता आदि उपद्रव हों तो रोगी को—वृहत् कस्तूरी भैरव १ रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, शुद्ध टङ्कण १ रत्ती। तगरादि काथ के अनुपान से उपर्युक्त औषध मिश्रण देना चाहिए। हिक्का की अधिकता में बालकों को बड़ी वेचैनी होती है और हिक्का एक असाध्य लक्षण भी है। अतः हिक्का शमनार्थ निम्नांकित मिश्रण देना पर्याप्त लाभकारी है। यथा—

मयूरापिच्छ भस्म १ रत्ती, पिप्पल्यादि लोह चौथाई रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती।

यह एक मात्रा है। इसी प्रकार अन्य मात्रायें बना लें। अनुपान मधु है।

इस रोग में पतले दस्त भी एक भयानक उपद्रव है। इसमें भी बच्चे को बड़ी सावधानी से बचाना चाहिये। क्योंकि पतले दस्त होने के कारण शरीर की गर्मी बाहर निकल जाती है तथा उस गर्मी के निकल जाने से मोतीभरे की फुन्सियां नहीं भरने नहीं पाती और शीतलता आ उपस्थित होती है। मोतीभरे में ठण्डापन नितान्त खराब है। इससे बचाने के लिये बालक को निम्नलिखित औषधि देनी चाहिए—

सर्वाङ्ग सुन्दर रस १ रत्ती, कंबू १ रत्ती, अतीस चूर्ण २ रत्ती। यह भी एक मात्रा है।

अनुपान—देलागिरी, जायफल, मीठा अतीस, सुपारी प्रत्येक एक एक आने भर पानी में घिसकर थोड़े पानी में मिलाकर सूक्ष्म गर्मकर देना चाहिये। किंवा—

सिद्ध प्राणेश्वर रस १ रत्ती, कंबू १ रत्ती, अष्टजीरक चूर्ण २ रत्ती। यह एक मात्रा है।

अनुपान—मधु।

मोतीभरे में पसीना भी किसी किसी को आने लगता है सो यह भी उपद्रवों का राजा ही है। इसको शमन करने के लिए योग इस प्रकार है—

प्रबाल भस्म १ रत्ती, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, मकरध्वज वटी १ रत्ती—यह एक मात्रा है।

अनुपान—मधु और बाह्य प्रयोगार्थ कपर्द भस्म लेना चाहिए। कपर्द भस्म को थोड़ा थोड़ा लेकर शरीर में उद्धूलन करके हलके हाथ से मसल देना चाहिये और पिपासा की अधिकता एवं अन्तर्दाह हो तो धनियां २ आने भर को १ तोला पानी में भिगोकर २-३ घंटे रख दें। तदनन्तर हाथ में मसल छानकर थोड़ी देशी चीनी डालकर पीने को देनी चाहिए।

पिपासा की अधिकता में रुग्ण बालक को षडङ्गपानीय ४ आने भर और जल १ सेर दोनों को औटाकर छानकर ठण्डा करके पीने को दें।

पीपल की छाल सूखी १ सेर को अलग किसी बर्तन में जला देना चाहिए। जब कोयले हो जावें तब उन सबको १ सेर पानी में बुझा देना चाहिए। ठंडा होने पर वस्त्र से छानकर पिलाना चाहिये। जी मचलने, उल्टी होने में अथवा हरी पीली उल्टी होने में रुग्ण बालक को निम्नांकित मिश्रण अत्युपयोगी सिद्ध हुआ है—

जहरमोहरा खताई पिष्टी १ रत्ती, प्रबाल पिष्टी १ रत्ती, पिच्छ भस्म १ रत्ती।

अनुपान—लवंग जल मिश्री।

इस रोग में खांसी की अधिकता से एवं वात

पित्त, कफ इन तीनों ही दोषों की उल्लङ्घना से द्वैवयोग से कफ की वृद्धि हो जाने से किसी किसी को श्वास का वेग अधिक हो जाता है और श्वास का वेग होना एक भीषण उपद्रव है। उसकी शांति के लिये निम्न प्रयोग काम में लावें—

विषाण, गोरौचन, मयूरपिच्छ १-१ रत्ती। एक मात्रा है।

अनुपान—बहेड़े की भिंगी और शहद मिलाकर चटाना चाहिए। बीच बीच में 'शृंग्यादि चूर्ण' १ आने भर और शुद्ध टङ्कण २ रत्ती मिलाकर मधु से चटाना चाहिए। किवा—अष्टाङ्गावलेह ५ रत्ती और मधुघण्टी चूर्ण ३ रत्ती मिला शहद में चटायें। उदराध्मान होने पर रुग्ण शिशु को निम्न योग देना हितकारी है। यथा—

चतुर्मुख रस ३ रत्ती, हिंवाष्टक चूर्ण ६ रत्ती यह एक मात्रा है।

मधु से अथवा कबोष्ण जल से देना चाहिये। पेट पर दारुषट्कलेप को खट्टी कांजी, किवा खट्टी ब्राह्म में पीस कर कपड़े पर लगाकर रखना चाहिए। शीतल होने पर पुनः उष्ण करके पेट पर लगायें।

नाड़ी दौर्बल्य किवा नाड़ी लोप प्रतीत होने पर—चन्द्रोदय मकरध्वज ३ रत्ती, मुक्ता पिष्टी ३ रत्ती, कस्तूरी ३ रत्ती, भीमसेनी कपूर १ रत्ती, अम्बर ३ रत्ती। यह भी मात्रा है।

अनुपान—पान के रस और शहद के साथ देना चाहिये। आधाघंटा, १ घंटा बाद पुनरपि ऐसी ही एक मात्रा देनी चाहिये।

संज्ञाहीनता में जब रुग्ण शिशु कपड़ों में ही मल मूत्र त्याग देवे किसी को पहिचाने नहीं तब निम्नांकित योग आशातीत लाभकारी हैं। यथा—ब्राह्मी वटी १ वटी।

अनुपान—ब्राह्मी बूटी, शंखपुष्पी, जटामांसी, सफेद वच और लवङ्ग, दशमूल मिश्रित काथ के साथ देना चाहिये। बुद्धि भ्रम होने पर यही वटी किवा 'संजीवनी वटी' मुक्ता पिष्टी का योग करके जवासा, शतावरी, असगन्ध, ब्राह्मी, बचा के

मिलित काथ के साथ देना चाहिये। परंतु इन सभी योगों में ज्वर का अधिक ख्याल रखना चाहिये। इस रोग में सामान्यतः ज्वर का बना रहना अत्यावश्यक है। तापमान नीचा गिरना एवं तीव्र तापमान होना भी भयंकर दशा है। इन सभी बातों का ख्याल चिकित्सक को अपने मन में रखना चाहिए और सर्वदा सतर्क रहना भी बहुत जरूरी है।

शिरःशूल की अधिकता में—

नारदीय लक्ष्मी विलास रस ३ रत्ती, गोदन्ती भस्म ३ रत्ती। अदरख रस और मधु से दें।

अथवा—

शिरःशूलादि बजरस १ रत्ती, गोदन्ती भस्म ३ रत्ती। पान के रस मधु के साथ दें।

बाह्य प्रलेपार्थ—दूध का मावा आध पाव लेकर उसको हाथ में मसल गांठें साफ कर थोड़ा गर्म करके एरण्ड के पत्रों में बिछाकर माथे पर बांध देना चाहिये। ३-४ घंटे प्रतीक्षा करने के बाद फिर दूसरा मावा (खोवा) बांध देना चाहिये और समस्त शरीर दृढता हो या संपूर्ण शरीर में दर्द हो तो उस समय रुग्ण को रामबाण रस ३ रत्ती अद्रक स्वरस एवं मधु से दें।

प्रायः इस रोग में कर्णमूल में शोथ हो जाता करता है। उसकी शान्ति के लिये जौंक को हल्दी के जल से शुद्ध करके शोथ स्थान पर लगा देना चाहिए। जौंक जब दूषित रक्त खींच लेगी तब स्वतः ही स्थूल होकर गिर जावेगी अतः उसको बीच में खींचकर नहीं उतारना चाहिये। इस रोग में न जाने किस समय कौन उपद्रव उठ खड़ा हो जावे एतदर्थ वैद्य का कर्तव्य है कि बड़ी सावधानी से चिकित्सा करे और घर वालों को भी सान्त्वना देता रहे और स्वयं भी धीर होकर लक्षण चिकित्सा में लापरवाही न करें। औषधि अपने तत्वावधान में ठीक ढङ्ग से दिलावें। ईश्वर कृपा से सफलता अवश्यम्भावी है।

— वैद्य श्री शंकरदत्त शास्त्री कान्यतीर्थ
भिषगरत्नम्, माधोगढ़

मौक्तिक ज्वर की चिकित्सा

श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री

चिकित्सक को उचित है कि चिकित्सा करने से पूर्व इन नियमों का पालन अवश्य करायें—

(१) रोगी को वायुरहित स्वच्छ स्थान में रखना चाहिए। यदि स्थान पक्का हो तो नित्य फिनायल से धोना और यदि कच्चा हो तो नित्य प्रातः लिपवा देना चाहिये।

(२) ओढ़ने बिछाने और पहनने के वस्त्र धुले हुये नित्य बदलवाने चाहिये। रंगीन वस्त्र रोगी को नहीं देने चाहिये।

(३) रोगी के पास गर्भिणी स्त्री और बिल्ली का जाना निषेध है। गर्भिणी स्त्री को भी इससे हानि होना संभव है।

(४) पीने का पानी ग्रीष्म ऋतु में मिट्टी के बर्तन में दो चार बार उबाल कर बख्ख से छान मिट्टी के पात्र में ठंडा किया देना चाहिए। वर्षा और शीत में चांदी या कलई के पात्र में ठण्डा किया हुआ पानी सेर का तीन पाव शेष रहने पर पिलाना चाहिये। और जल में शुद्ध चांदी का टुकड़ा आग में गर्म कर बुझाना भी श्रेष्ठ है। जल के औटाते समय दो लौंग, ६ माशे खूबकला, दो मुनक्का या चार छः तुलसी की पत्ती डाल के औटावें। प्रातःकाल का शाम को और सायंकाल का औटा रात्रि को दें।

(५) रोगी की खाट के निकट गूगल की धूनी दें, या अन्य सुगन्धित औषधियों का हवन करें।

(६) जब तक ज्वर रहे किसी प्रकार का अन्न नहीं चाहिये। ऋतु अनुसार तथा रोगी की दशानुसार मीठे अन्नार का रस तथा मौसमी का रस ठंडा व गर्म करके दें। औटाये जल में मुनक्कों का यूष बना कर दें। बाली वाटर (जौ का पानी) व गौदुग्ध दें। यदि अतिसार साथ में हो और रोगी अधिक निर्बल हो तो दुग्ध फाड़ कर उसका पानी दूध की शक्कर (Sugar of milk) डाल कर देते रहना चाहिए।

औषध चिकित्सा—

यह सन्निपातिक रोग है। अतः चिकित्सा करने के पूर्व चिकित्सक को अवस्थानुसार ऋतु काल बला-बल का पूर्ण विचार कर लेना परम आवश्यक है। गुलाब जल में घुटे मोती, गुलाब जल में घुटी प्रवाल पिष्टी तथा गौदन्ती भस्म तीनों एक एक रत्ती की मात्रा में मिला कर दिन में तीन बार मंथर ज्वर का निश्चय होते ही प्रारंभ से देने पर प्रायः सात्त्व्य रहती है। दोष उग्र हों तो इसी में अभ्रक भस्म भी मिला दें। यदि उदर में पीड़ा आदि प्रतीत हो तो इसी में संजीवनी वटी कज्जली मिश्रित योग वाली भी मिला दें। यदि ज्वर तीव्र हो या रोगी को साथ में प्रलाप भी हो तो ईख का सिरका या अंगूर का सिरका, अर्क गुलाब या अर्क सुदर्शन तथा काहू का तैल या गुलरोगन तीनों कलई के पात्र में रखें और इसमें महीन वस्त्र की पट्टी तर करके रोगी के सर और माथे पर रख कर बार बार डुबो कर बदलते रहना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में बर्फ पर द्रव का पात्र रखलें। यदि ज्वर के साथ अतिसार भी हो तो कपूर रस, कपूर आसव या अहिफेन वाली सैल वटी आदि अन्य औषधियों के साथ आवश्यकतानुसार देते रहना चाहिये। यदि दस्त अधिक हों तो साथ में पानी में अफीम, जायफल पीस नाभि के चारों ओर पेट पर पतला लेप करें। यदि अफरा विशेष हो तो पानी में तारपीन का तैल उबालकर इसमें कपड़ा निचोड़ लें और इससे सेक करें। इसी प्रकार दो तीन तोला दशमूल क्वाथ दो सेर जल में औटा कर आधा शेष रहने पर इसमें महानाभ-यण तैल या तारपीन का तैल डाल कर सिकाई करने पर भी पर्याप्त लाभ होता है। दस्तों के साथ मूत्र भी संख्या में अधिक हो तो १-१ रत्ती की मात्रा रजत भस्म उत्तम बनी हुई मुक्ता, प्रवाल, अभ्रक के साथ मिला कर दें।

यदि आंतों में शोथ के कारण उदर में विशेष पीड़ा हो तो सिद्ध ६ माशे घृत ३ माशे में मिलाकर गर्म कर नाभि को छोड़ पेट पर लेप करायें अथवा केशर उत्तम, लौंग और रुमी मस्तंगी—तीनों तीन तीन माशा बारीक चूर्ण कर चकले पर पानी में पीस आंतों पर लेप कर पतला कपड़ा लगायें। यह कपड़ा प्लास्टर की भांति चिपक जायेगा उसे दूसरे दिन छुटाकर यदि आवश्यक हो तो पुनः इसी प्रकार बनाकर लेप लगावें। आंतों का शोथ अवश्य दूर होगा और पीड़ा शान्त होगी।

यदि हृद् दौर्बल्य, श्वास वेग, नाड़ी क्षोणता आदि हो तो संजीवनी सुरा तथा ब्रांडी और कोरा-मिन की बूंद पीने के पानी में डाल कर दें। अथवा स्वर्ण मकरध्वज मुक्ता या कस्तुरी भैरव रस भी इसमें मिलाकर देते रहना चाहिए।

यदि मूत्रावरोध तो सोरा, नौसादर दोनों को ठंडे पानी में मिलाकर कपड़ा भिगोकर और निचोड़ कर वस्ति स्थान पर रखें पेशाब हो जायगा।

यदि कई दिन तक दस्त न हो और आवश्यक हो तो ग्लेसरीन की बत्ती लगाकर दस्त करा दें अथवा साबुन आदि की बत्ती लगाकर करा दें।

यदि प्यास या उल्टी हो तो नारियल की जटा की भस्म, सोना गेरू, बड़ी इलायची के दाने तीनों मिलाकर तैयार कर लें तथा रोगी को थोड़ी थोड़ी बार बार शहद में चटायें। यदि दाने पूरे न निकलें हों तो विशाखा भस्म, संजीवनी वटी, मुक्ता पिष्टी तीनों का मिश्रण खूबकला ६ माशा मुनक्का दो तुलसी पत्र पांच लौंग तीन इसके काढ़े से प्रातः सायं देने से दाने निकल आयेंगे।

मंथर ज्वर की ठीक ठीक चिकित्सा के अभाव

से तथा अपथ्य आदि के कारण कभी कभी यह क्षय के रूप में भी परिवर्तित हो जाता है। इसी दशा में मंथर ज्वर की चिकित्सा करने पर ही यह क्षय रोग शान्त होता है ऐसे भी उदाहरण मिले हैं। इसके लिए कछुये की खोपड़ी को पीस छान बारीक किया हुआ चूर्ण १ तोला मुनक्का बीज निकले एक तोला इनको बारीख पीस चने के बराबर गोली बनाकर के रखलें और एक गोली प्रातः एक गोली सायं द्राक्षा खूबकला के क्वाथ के साथ दी जाय। साथ ही में मुक्ता पिष्टी, संजीवनी वटी, अम्रक भस्म आदि भी देते रहें। विकृत मंथर ज्वर जन्य जीर्ण ज्वर या क्षय दूर होगा। अन्दर के दाने निकल कर साफ हो जायेंगे। इसी प्रकार मंथर ज्वरजन्य जीर्ण ज्वर या क्षय की दशा में स्वर्ण वसन्त मालती, चतुर्मुख रस, स्वर्ण सिन्दूर, लक्ष्मीनारायण रस, शेखर रस, सितोपलादि चूर्ण, अमृता सत्व, सुदर्शन अर्क आदि शास्त्रीय अनुभूत औषध यथावश्यक व्यवहार करनी चाहिये। यदि रक्तश्राव का उपद्रव हो तो रसतन्त्रसार ग्रन्थ वर्णित नाग शर्करा शुद्धा भस्म का यथोचित सेवन करना चाहिये।

क्लोरोमाइसिटिन (*Chloromycetin*) तथा ओरोमाइसीन दें। इनके सेवन से मंथर ज्वर, उप-मंथर ज्वर आशुकारी फुफ्फुस प्रदाह आदि के लिए महत्वपूर्ण लाभकारी बतलाई गई है।

इन औषधों के सेवन कराने पर रक्तचाप पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि इन दोनों के सेवन करने से रक्तस्राव न्यून हो जाता है। कुछ को रेचन (दस्त) भी आने लगते हैं। रक्तचाप न बढ़े इसके लिए साथ में कस्तूरीभैरव दें।

—श्री शिवकुमार वैद्यशास्त्री,
श्री शिव चिकित्सालय, आगरा।



मोतीभूला के तीन रोगियों की चिकित्सा

श्री हुकमचन्द्र जी प्रेमी

[१]

नाम—गजानन भाऊ, उम्र २ वर्ष, पिता—पटेल घनश्यामदास जी, निवास कोयछारी, जिला भंडारा ।

लक्षण—ज्वर का तापमान 104° था, दाह और मूर्च्छा के साथ साथ पतले दस्त २४ घंटे में करीब २४-३० हुआ करते थे । वमन ने तो रोगी की हालत बहुत ही नाजुक कर दी थी, दवा आदि जो कुछ भी दी जाती वह सब बाहर फेंक देता था । नींद भी नहीं लगती थी । गर्दन इधर उधर हिलाता और कपड़ों को हाथों से अलग करता, रो भी दिया करता था । मुंह रक्तवर्ण था । गर्दन एवं पार्श्व पर सरसों के समान फुन्सियां निकल रही थीं ।

चिकित्सा—सर्व प्रथम वमन को रोकने के लिये और हृदय की सुरक्षा के लिये ब्राह्मी बटी (सु.) $\frac{1}{2}$ रत्ती, प्रबाल पंचामृत १-१ रत्ती, काम दुधा (मौक्तिक) १ रत्ती, स्वर्णसूतशेखर $\frac{1}{2}$ रत्ती, शहद के साथ दिन में ३ बार १-१ घंटे बाद ।

अतिसार रोकने के लिये गंगाधर रस $\frac{1}{2}$ रत्ती दिन में ३ बार की दवा देकर कहा अब किसी की कोई भी दवा नहीं देना ।

दूसरे दिन जब श्री घनश्यामदास जी पोढ़ी आये तो हंसकर कहने लगे कि अब हालत कुछ ठीक है, वमन तो कतई बन्द हो गई किन्तु दस्त ३-४ अभी होते ही हैं । बुखार भी मामूली कम पड़ा है । आप चलकर पुनः देख लें । मैं गया और देखा तो तापमान 103 था । गर्दन और पार्श्व पर पिड्डिकायें पूर्ण रूप से निकल चुकी थीं । अतः मैंने उक्त प्रयोग में सूत शेखर की जगह सुक्तापिष्टी $\frac{1}{2}$ रत्ती प्रति मात्रा मिलाकर ३ पुड्डियां दीं । गंगाधर रस बन्द कर दिया गया । तीसरे दिन देखा तो तापमान 100° पर आ गया था, दस्त भी बन्द हो चुके थे । मैंने ३ दिन की वही दवा और दे दी ।

[२]

रोगी—बच्छला बाई, पिता टीकाराम जी विशेन (केशियर), उम्र २॥ साल, बड़ेगांव (भंडारा)

लक्षण तो पूर्व के समान ही थे किन्तु विशेषता यह थी कि इसको अतिसार के बजाय मलावरोध था, उदर में पीड़ा भी होती थी । पित्त की उष्मा बहुत बढ़ी हुई थी । अतः 'विरेचनं पित्तहराणं श्रेष्ठम्' के अनुसार विरेचन तो नहीं दिया किन्तु ग्लेसरीन बत्ती लगाने से दस्त साफ हो गया और तापमान कम करने के लिये वही पुराना योग दिया गया । रात को करीब २ बजे से रोगी की हालत बिगड़ गई । अतिसार भी १५-२० तक बढ़ गया और पेट भी फूल गया, बजाने से अफरा जैसा करता था । पहले मलावरोध, फिर अतिसार तथा अफरा । अतः अतिसार तथा अफरा को रोकने के लिये गङ्गाधर रस $\frac{1}{2}$ रत्ती एवं जायफल, लवंग, जावित्री का समभाग चूर्ण बनाकर ४ रत्ती तथा १ रत्ती शङ्खभस्म मिलाकर दिन में २-३ बार दिया गया । उड़द की दाल को आटे जैसी पीसकर अजवाइन मिला रोटी बनाई गई तथा उसका सुहाता सुहाता सेंक किया गया । साथ में तापमान कम करने के लिये प्रबाल भस्म २-२ रत्ती, मुक्त पिष्टी $\frac{1}{2}$ रत्ती, संजीवनी १ रत्ती, प्रबाल पंचामृत १ रत्ती उक्त दवा के १ घंटे बाद दिया गया ।

शाम को जब देखने गया तो अतिसार, आध्मान जाता रहा । तापमान भी कम हो गया । तीसरे दिन से केवल प्रबाल वाला योग ५ दिन तक दिया गया । इस प्रकार भयंकर उपद्रवों से युक्त रोगी ७ दिन में खेलने, कूदने लगा ।

[३]

रोगी—गोदन बाई, उम्र ४ वर्ष, पिता—गोपाल भगवत, निवास भजेवार (भंडारा)

इस रोगी को कोई विशेष गड़बड़ी तो नहीं थी किंतु रक्तातिसार हो गया था। दिन में १५-२० दस्त रक्त मिश्रित हुआ करते थे। तापमान १०३° था। अतः तापमान को कम करने के लिये उपरोक्त मुक्तापिष्टी वाला योग दिया गया तथा १ घंटे बाद गंगाधर रस, कैल्शियम लेक्टेट, प्रवाल भस्म चन्द्र पुटी १-१ रत्ती—मिलाकर २४ घंटे में ३ मात्रा दी गई। कैल्शियम लेक्टेट के अभाव में सर्जरस या स्फटिका चूर्ण एवं लाक्षा चूर्ण प्रति मात्रा १ माशे मिला कर लाभ उठाया जा सकता है।

नोट—[१] इस रोग के कई रोगी मुझे ऐसे भी मिले जिनकी उम्र १० वर्ष से ऊपर की थी किंतु प्रलाप करते थे, अतः यदि प्रलाप उग्र तापमान की बजह से है तो बर्फ से ठंडे किये गये जल में कपड़े की पट्टी ४-५ तह की हुई भिगोकर रखने से शान्त हो जाता है तथा यदि वायुजन्य है तो सौभाग्य बटी या हिंसु कर्पूरादि बटी, वृ. कस्तूरी भैरव रस आदि। मात्रा—अवस्थानुसार देने से अनुपान शहद या दाण्णिमावलेह के साथ मुझे शत प्रति शत लाभ मिला है उन प्रयोगों से। आप भी प्रयोग कर देखें।

[२] मैंने अनुभव किया है कि इस रोग का रोगी २॥-३ माह तक कष्ट पाता है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि एक बार निकल कर पुनः २५-३० दिन बाद निकलता है। किसी किसी को ज्वर २-३ दिन तक बना रहता है अन्त में जीर्ण ज्वर में परिणित हो जाता है। इस प्रकार इसकी अन्यान्य अवस्थायें हैं। अतः वैद्य गणों को सोच विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

—श्री डा. आचार्य हुकमचन्द प्रेमी
सरकारी आयु. अस्पताल
बड़ेगांव तिरोड़ा [भंडारा] महाराष्ट्र

मोतीभला पर एक सिद्ध प्रयोग

आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे

मृत्यञ्जयरस १ रत्ती, त्रिभुवन कीर्ति रस ३ रत्ती, गोदन्ती भस्म १ रत्ती, प्रवाल भस्म ३ रत्ती मोती भस्म नं १ ३ रत्ती, सिद्धमकरध्वज ३ रत्ती, नवायस लौह ३ रत्ती। १ पुड़िया।

इसी प्रकार ३ पुड़िया बनाकर दिन में ३ बार मधु के साथ खिलाना चाहिये। यह मात्रा २ वर्ष से ८ वर्ष तक के बच्चों के लिये है। २ साल से कम उम्र वाले बच्चों को इसकी आधी खुराक कर देनी चाहिये। यह मोतीभला का सर्वोत्तम सैकड़ों रोगियों पर परीक्षित योग है। यदि इसको ज्वर के प्रारम्भ होते ही दिया जावे तो रोगी सात दिन के अन्दर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। यदि दूसरे सप्ताह से प्रारम्भ की जावे तो २१ दिन में आन्त्र ज्वर पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है। क्लोरोमाइसिट्रीन कैप्सूल एवं पामी-टेट से तो असफलता मिल सकती है परंतु इस योग के सेवन करने से कोई सन्देह नहीं रहता है। इस योग के २ दिन ही सेवन करने के बाद रोगी को किसी भी कष्ट का अनुभव नहीं होता है वह अपने को पूर्ण स्वस्थ समझता है और दाने स्वतः समानानुसार शान्त हो जाते हैं। इसमें स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। इस योग के सेवन से कोई उपद्रव उत्पन्न नहीं हो पाता है।

—आयुर्वेदाचार्य डा. सत्यनारायण खरे
ए०, एम० बी० एस०
सेवक औषधालय, ककवारा (भांसी)



मसूरिका

श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार

“याः सवगात्रेषु मसूरमात्रा
मसूरिकाः पित्तकफात् प्रदिग्ताः”

मसूरिका नाम से इतना स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध 'मसूर' के साथ कुछ है। अत्रि पुत्र ने मसूरिका का उल्लेख करते हुए पिडिकायों का रङ्ग तान्नवर्ण बताया है। मसूर के समान इनका रंग लाल-भूरा होता है, साथ ही ये पिडिकायें चपटी होती हैं। यह स्थिति सहसा इनमें नहीं आती, यह तो पीछे से आती है, जबकि पिडिकाओं के अन्दर अरा द्रव भाग घट बनकर इसका केन्द्र का उभरा स्थान नीचे बैठ जाता है, तब इनकी यह स्थिति आजाती है। पीछे से इनके ऊपर जो शुष्क खुरगड् बनता है, वह भी लाल रंग का ही होता है। इसे इसी समानता से मसूरिका कहा है।

इसको बंगाला में वसन्त कहते हैं, क्योंकि प्रायः करके यह रोग वसन्त ऋतु में फैलता है। वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है, इसलिए इस ऋतु में प्रायः जो रोग होते हैं, उनका सम्बन्ध कफ से रहता है। कफ का एक रोग उदरद है, जिसमें फुन्सी निकलती हैं। इनको कोठ भी कहते हैं। जिनमें पस या पानी भरता है, उनको पिडिका कहते हैं। वसन्त ऋतु में होने वाले रोगों में कफ की प्रधानता रहती है, पित्त का संयोग रहता है। वायु का प्रकोप प्रायः कम होता है।

मसूरिका में भी यही स्थिति आती है। मसूरिका जिसे सामान्य बोलचाल में छोटी माता या बड़ी माता रूप से पहिचानी जाती है, इसे शीतला भी कहते हैं। यह रोग भारवर्ष में पहिले था, परन्तु इसका वास्तविक प्रसार पुर्तगाल के आगमन से कहा जाता है। शीतला शब्द १४ वीं शदी से पहले के ग्रन्थों में मेरे देखने में नहीं आया। सम्भवतः यह शब्द सबसे प्रथम भावप्रकाश या पुराणों

में मिलता है। पुराणों में शीतला स्रोत एवं टीके का भी उल्लेख आज मिलता है। गाय के स्तनों के साथ इस टीके का सम्बन्ध बताया है।

यह रोग जनपदोर्ध्वंसी है, इस रोग का फैलाव वायु से होता है, वायु से बचना मनुष्य के लिये सरल नहीं, क्योंकि वायु जीवन है, इसलिए मनुष्य भले ही अपनी वैयक्तिक स्वास्थ्य रक्षा करले परन्तु बाहर की वायु से बचना असम्भव रहता है। इसमें काल स्वभाव भी सहायक होता है। ऋतु में होने वाला परिवर्तन इसमें रोगोत्पन्न करता है। हेमन्त में संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की किरण से पिघलकर रोग उत्पन्न करता है।

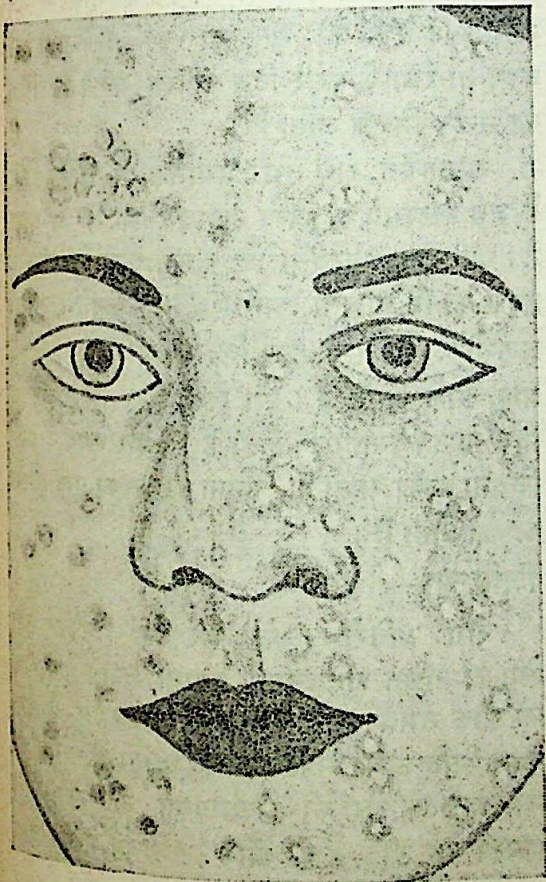
इस रोग में शरीर रोग का क्षेत्र या भूमि है, वसन्त ऋतु में काल स्वभाव से यह क्षेत्र बीज की उत्पत्ति के लिए उचित क्षेत्र-बीज ग्रहण योग्य होता है। बीज वायु मंडल में से रोगी के शरीर में पहुंचता है। यह बीज रोगी के लिए निःस्वास, उसके वस्त्र आदि में आश्रित रहता है, वहां से वायु में संचरित होता है, वायु से उर्वरा बन मनुष्य देह रूपी क्षेत्र में आकर पनपता है और रोग उत्पन्न करता है।

इन अवस्थाओं में आहार का न पचना, शीत लगना, रोगी के सन्निकर्ष में आना आदि बातें बढ़ा देती हैं जिनसे रोग विशेष रूप से उत्पन्न होता है। इस रोग में दूसरे संक्रामक रोगी की भांति विशेषता यह है कि रोग फैलने के समय इस में तीव्रता रहती है, मध्य में कुछ कमी होती है और पीछे साधारण स्थिति आजाती है। इसलिए मृत्यु संख्या रोग के प्रारम्भ में अधिक होती है और अन्त में कम होती है।

रोग का संक्रमण होने पर उत्पन्न होने का समय सामान्यतः १० से १४ दिन है, प्रायः करके बारह

दिन है। इस रोग का विष छालों के द्रव में विशेष रूप से रहता है। इसलिए जब यह द्रव बाहर आता है (रोगी के खुजाने से या रंगड़ से जब छाले फूटते हैं) तब यह रोग विशेष रूप से फैलता है। पहले यह रोग मुख्यतः बच्चों में होता था, परन्तु अब कुमार एवं युवकों को भी होता है।

रोगी के देखने पर—रोगी बच्चा होता है या युवा होता है, वह सहसा रोगी हो जाता है उसे चपकपी या सरदी लगती है, शिर दर्द, कमर में दर्द, चक्कर आना, जी मचलाना, वमन और अति-शय निर्बलता कई बार रहती है।

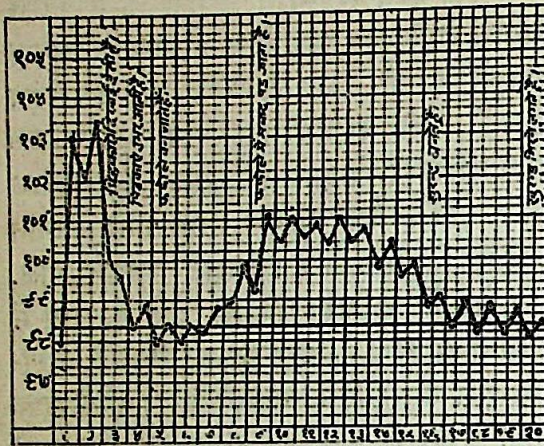


चित्र. नं० ६४—चेचक

चेहरे के दाहिने भाग में चेचक की पिडिकायें निकलने के दूसरे दिन की अवस्था, तथा बायें भाग में छठवें दिन की अवस्था दिखाई गई है।

परीक्षा करने पर—रोग उत्पत्ति के मध्यवर्त्ति समय में रोगी थका हुआ होता है, ताप परिभ्रमण प्रथम दो दिनों में १०२° से १०४° फा. तक पहुँच जाता है। शरीर पर उभरे हुए दाने कोठ भी इस समय दीखते हैं, ये दाने इस समय बहुत बारीक बारीक होते हैं जैसा कई बार शीत पानी से स्नान करने पर निकल आते हैं। ये छोटे चमकने वाले, काले होते हैं। ये कच्चा में भी होते हैं, त्वचा में लालिमा आजाती है, सीहा कुछ बढ़ जाती है, वास्तविक दाने तीसरे दिन निकलते हैं। ये पहिले शुष्क फुंसी के रूप में होते हैं, पाँचवें-छठे दिन पानी आकर छाले का रूप धारण कर लेते हैं। इनमें पूय का रूप नवें दिन आता है, बारहवें दिन पूय के ये छाले फूट जाते, सोलहवें दिन इनमें छिलका पपड़ी बननी प्रारम्भ हो जाती है। दाने सबसे पहले माथे पर दिखाई देते हैं फिर शिर पर, पीठ पर, कलाई में, सारे मुख पर तथा सामने के भाग में हाथ पैर छाती पर दीखते हैं। दाने प्रायः करके बाह्य पृष्ठ भाग पर जो प्रायः नंगा रहता है तथा जहाँ पर दबाव पड़ता है, वहाँ पर निकलते हैं। कच्चा में भी प्रायः फैल जाते, हैं, अधिकतर उदर पर, वक्ष पर, ग्रीवा में, शाखाओं की संधियों में निकलते हैं। हाथों की अपेक्षा टांगों पर कम निकलते हैं। इसमें भी हाथ पैर में ऊपर के भाग में नीचे के भाग की अपेक्षा दाने कम निकलते हैं। दाने हथेली और पैर के तलवे पर भी निकल आते हैं कनीनिका तथा मुख के अन्दर भी निकलते हैं।

दानों का आकार अलग अलग रहता है। यह काले लाल (या: सर्वगात्रे सु मसूरमात्रा) होते हैं जो कि जल्दी ही कठोर गोली के आकार की फुंसी बन जाते हैं। छाले बनने पर इनका आकार मोती के समान हो जाता है। इनका केन्द्र जरा दबा रहता है। पूय पड़ने पर इनका रङ्ग पीला हो जाता है, इससे चारों ओर लाल चक्कर बन जाता है चारों ओर की त्वचा मोटी हो जाती है। छाला फटने के पीछे

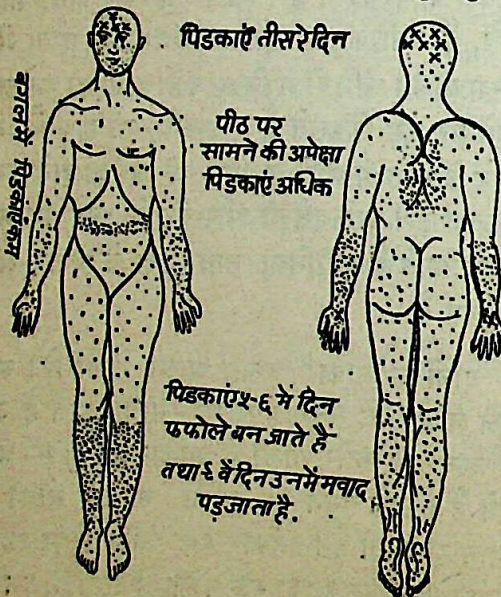


चित्र नं० ६५

चेचक का तापमान-चार्ट

भूरी काली पपड़ी बन जाती है, जोकि सामान्यतः २ से तीन सप्ताह में अलग होती है। इसके पीछे निशान रह जाता है, जो कि प्रायः स्थायी होता है।

छालों की उत्पत्ति के समय बहुत विक्षोभ खुजलाहट होती है, त्वचा कठोर हो जाती है, इसमें दर्द होता है, इस समय रोगी के शरीर से बहुत दुर्गन्ध



चित्र नं० ६६

चेचक की पिठिकाओं तथा स्थलों के निकलने का क्रम, तथा विभिन्न भागों में उनकी स्थिति

आती है। जब वास्तविक दाने निकलते, तब सामान्यतः ताप परिमाण घट कर ६६° या इससे भी कम आजाता है और जब छाले बनने लगते हैं तब पुनः बढ़कर १०१° तक पहुँच जाता है। इसके पीछे तीसरे सप्ताह के बीच में यह धीरे धीरे कम होकर सामान्य अंश पर आजाता है। रोग की तीव्रवस्था में रोगी बहुत निर्बल दीन रहता है, नींद नहीं आती और प्रलाप भी हो सकता है (इस समय कस्तूरी मुखेड़ी को तगरादिक्वाथ या ब्राह्मी रस के साथ देना चाहिए)। मूत्र में थोड़ा सा एल्ब्युमिन आता है।

विद्वानों की मान्यता है कि यदि टीका ठीक प्रकार से किया गया है तो चेचक का होना सम्भव नहीं, यदि टीके की सफलता की परीक्षा करली जाय तो रोग के दूसरे दिन परीक्षा करने से चेचक का सन्देह निकल जाता है।

सामान्यतः रोग तभी भयानक या घातक होता है जब रक्तस्राव या अन्य उपद्रव साथ में हो जाता है। उपद्रवों में स्वरयंत्रशोथ, कास, ब्रोंको-निमोनिया, हृदय की निष्क्रियता, अस्थि शोथ, कनीनिकाग्रण, ब्रणशोथ, कर्णशोथ, कर्ण विद्रधि, अण्डशोथ, शय्या ब्रण, छाले आदि हैं। इस रोग में १२ वें से १४ वां दिन बहुत चिन्तापूर्ण होता है। प्रारम्भिक अवर्ष जितना हल्का रहता है, उतना ही इसका पूर्ण कथन अच्छा होता है।

चिकित्सा—

रोग प्रतिरोध के रूप में टीका इस रोग का उचित प्रतिबन्धक बताया जाता है। टीके का ठीक समय ३ से ६ मास की आयु है, इस समय यदि टीका सफलापूर्वक होजाता है, तो पांच-सात वर्ष तक रोग की सम्भावना नहीं रहती है। दूसरी बार ठीक ७ वें और १४ वें वर्ष में कर देना चाहिए, अथवा रोग जब बहुत व्यापक रूप में फैल रहा हो तब करना चाहिए। रोगी के घर को पूर्णतः पृथक रखना चाहिए। रोग होने पर रोगी को स्वच्छ कराना चाहिये। रोग होने पर रोगी को जाये और ब्रण भर न जाये।

रोग शांति उपाय—रोगी को शांत खुली वायु-युक्त वर में रखना चाहिए, उसके ऊपर सीधी धूप नहीं आने देनी चाहिए। रोग प्रारम्भ होने पर एक लाख इकाई की मात्रा में पैसलीन प्रति चार घंटे के अन्तर से देना चाहिए। ज्वर की अवस्था में दूध देना चाहिए, जब ज्वर उतर जाये तब आहार की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। स्वच्छता—शिर के बालों को कटवा देना चाहिए, दिन में दो बार गरम पानी से त्वचा को साफ करना चाहिए। सबसे प्रथम त्वचा पर पोटैसियम परमैंगनेट के घोल का सान्द्र घोल त्वचा पर लगा देना चाहिए, इसको दूसरे दिन या पीछे से १% घोल से पुनः गीलाकर देना चाहिए। छालों के फूटने के समय पोटैसियम परमैंगनेट का यह रंग बहुत महत्वपूर्ण होता है। विष इस घोल से [१०००० में १ भाग] नष्ट हो जाता है। मुख को बर्फ के शीतल जल में भिगोये पतले वस्त्र से ढाँक कर ऊपर से केले का नरम पत्ता रख देना चाहिए। दुर्गन्ध के लिये पोटैसियम परमैंगनेट के स्थान पर कार्बोलिक एसिड का घोल बरत सकते हैं। आंखों पर वैसलीन लगा देनी चाहिए और दिन में दो बार आंखों को बोरिक लोशन से धो देना चाहिए। यदि आंख में कोई दाना हो जाये तो इसके लिये एक औंस वैसलीन में हाइड्रार्जराई औक्सार्ड-पालेवा ८ ग्रेन और एट्रोपीनसल्फेट १६ ग्रेन मिलाकर बनाई वैसलीन लगानी चाहिए। यदि अब भी सूजन हो तो प्रति चार घण्टे के अन्तर से १% एल्बुसिड बूँद डालनी चाहिए।

कमर या शिर दर्द को कम करने के लिये परसीन १० ग्रेन और फिनास्टीन ७ ग्रेन की पुदिया देनी चाहिये। नींद लाने के लिये पोटैसियम ब्रोमाईड ३० ग्रेन, डौवर्स पाउडर १० ग्रेन देना चाहिए। प्रलाप के लिये हायोसीन हाईड्रो-ब्रोमाईड १.०० ग्रेन का इन्जेक्शन देना चाहिए। गले की सूजन के लिये १ पाइन्ट पानी में टिचर वैजोजन की ६० बूँद डालकर उसका वाष्प लेना चाहिए। प्रत्येक भोजन के पीछे मुख को ग्लैसरीन

थायमोल के फोये से साफ कर देना चाहिए।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

इसमें चिकित्सा विभाग इस प्रकार से किया गया है—पिडिका निकलने में प्रथमावस्था, पूय संचार होने पर द्वितीयावस्था तथा छिलका उतरने में तृतीयावस्था। इसी क्रम से चिकित्सा विधि है।

प्रथमावस्था में—स्वल्प लक्ष्मीविलास या कफ चिन्तामणि देना चाहिए, यदि ज्वर प्रबल हो और रोगी में प्रलाप हो तो कस्तूरीभूषण देना चाहिए। इसके स्थान पर रससिन्दूर या स्वर्णसिन्दूर २ रत्ती मात्रा में दे सकते हैं। सामान्यतः तुलसीपत्र रस या पान का रस देते हैं। कफ की अधिकता होने पर आर्द्रक या विल्वपत्र रस देते हैं। दिन में तीर चार बार देना चाहिए। भोजन में लाजमण्ड, साबुदाना, मूँग का पानी देना चाहिए।

द्वितीयावस्था में—जब दाने निकल आये तब सब औषधि बन्द करके रोगी को वमन या विरेचन देना चाहिये (ज्वर उतरने पर)। इसके लिये नीम की छाल और परबल के पत्तों के काथ में मैन्फल का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये। हिंचा शाक का रज और मधु या करेला का रस और हल्दी का चूर्ण देना चाहिए। हिंचा शाक का रस या करेले के रस की मात्रा ८ तोला तथा मधु २ तोला देना चाहिए। वमन के पीछे लाजमण्ड देना चाहिए। मंड में बेदाना या नारियल का पानी मिलाकर दे सकते हैं। २ तोला किशमिश को आधा सेर दूध में पकाकर इसे लाजमण्ड के साथ मिलाकर दे सकते हैं। पिडिका निकलने पर दूध मिश्रित पथ्य देना उचित है। अवस्था भेद से घी मिश्रित मूँग या चने का यूष तथा एक समय दूध मिश्रित लाजमण्ड या यवमण्ड देना चाहिए। रोगी को अतिशय दाह होता हो तो मूँग और आंवले का यूष बहुत लाभ करता है। एक समय मूँग और आंवले का यूष और एक समय दूध और लाजमण्ड देना चाहिये। औषध में रससिन्दूर या कज्जली को देना चाहिये,



वातिक लक्षणों में दशमूलादि, पैत्तिक लक्षणों में द्राक्षादि और कफ के लक्षणों में किरातादि काथ देना उत्तम है। यदि दोष निर्णय न हो सके तो निम्बादि काथ देना चाहिये। अमृतादि काथ, पटोलादि काथ, खदिराष्टक काथ सब प्रकार की मसूरिका में लाभ-प्रद हैं। विरेचन के लिये त्रिफला काथ तथा निशोथ का चूर्ण उत्तम है।

तृतीय अवस्था—निर्बलता तथा वायु का प्रकोप विशेष होता है, इसके लिये प्रतिदिन गुडूच्यादि काथ देना चाहिये। सोंठ का चूर्ण और गुड साथ में देने से रोग में शांति होती है। ज्वर हो तो इन्दु-कलावटी देनी चाहिए। प्रातःकाल पटोलादि काथ और सायंकाल इन्दुकलावटी दें। पथ्य—अन्नमंड, लाजमण्ड, घी में संस्कृत दूध देना चाहिए।

उपद्रव चिकित्सा—

ज्वर तीव्र होने पर सन्निपात ज्वर या वात-श्लेष्मिक ज्वरों के लक्षणों में कस्तूरी भूषण देना चाहिए। जब तक लक्षण शांत न हों इसको देना चाहिये। कास-श्वास, गले में घर्घराहट होने पर अष्टांगवलेहिका देनी चाहिये। गले में त्रण हों तो जात्यादिकाथ में मधु डालकर गण्डूष करने चाहिए। स्वच्छता के लिये अष्टांगधूप मकान में रोगी के पास जलाना चाहिए। जब छाला फूट जाय तो चादर पर उपले की बारीक राख कपड़छन करलें उस पर रोगी को लिटा देना चाहिये, इसे फिर समय पर बदलते रहना चाहिये।

प्यास अधिक होने पर मुलहठी और सौंफ से सुवासित जल या शृतशीत जल रोगी को देना

चाहिये। अरुचि होने पर आंवले का या ताकिल का रस देना चाहिये। श्लेष्म शुष्क हो तो बासा, मुलहठी, किशमिश, मरिच इनका काथ देना चाहिये। कास अधिक होने पर चन्द्रामृत रस या तालीशादि चूर्ण देना चाहिए। आंख में पिड्डिका हो जाय तो मधुकाथ प्रलेप और आश्च्योतन (हल्दी, लोध, हरड़, कर्पूर का) बरतना चाहिए। मकरध्वज का प्रयोग उपद्रव शान्ति के लिये उत्तम है। अतिसार होने पर मोथे का जल देना चाहिए। गले में त्रण या पीड़ा हो, आवाज न आये तब रात, देवदारु, चन्दन, अगरु, गुग्गुल इनका धूप देना चाहिये। शरीर से क्लेद बाहर आने पर पंचवल्कल चूर्ण [पीपल, गूलर, पिलखन, बट तथा अम्लवेतस या इमली] इनकी छाल का वस्त्र में छना चूर्ण शरीर पर डालना चाहिए।

छिलके उतरने पर कच्ची हल्दी और कोमल नीमपत्र पीसकर इसका उबटन शरीर पर लगाकर स्नान करवाना चाहिये।

पथ्यापथ्य—जब तक पिड्डिकायें बाहर न आयें तब तक नवज्वर की भांति जलसागु, (जल से साधिग साबूदाना) जलवालि, लाजमण्ड, भसूर, मूंग का दूध देना चाहिये। इनमें मिश्री या निम्बू का रस, अनारदाना मिलाकर देना चाहिये। पिड्डिका निकलने पर लाजमंड, यवमंड, उत्तम है। अपथ्य—परिश्रम, थकान, धूप, आलस, मत्स्य, अम्ल, लवण, असमय आहार, अपथ्य हैं।

—श्री अत्रिदेव जी आयुर्वेदालङ्कार
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मसूरिका (शीतला) की चिकित्सा

श्री पं० केशवदेव शर्मा आयुर्वेदाचार्य

आहार विहार परिचर्या तथा उपद्रव के सम्बन्ध में सतर्कता आदि उपायों द्वारा चिकित्सा करें।

रोगी को एक स्वतन्त्र हवादार मकान में रखा जाता है। कुछ विद्वानों की राय है कि लाल रंग की



शिशिरोगाङ्कः

किराणों से पूयभवन कम होकर त्वचा पर दाग भी कम हो जाते हैं इसलिये रोगी के कमरे के दरवाजों पर लिफ्टियों पर लाल रंग के पर्दे टांगे जाते हैं।

आरम्भ में रोगी को विरेचक औषधि देकर शोध शुद्ध किया जाता है। उसके बिस्तरे और ओढ़ने के कपड़े हलके एवं मुलायम होने चाहिये, त्वचा कमरा तथा खाने के पदार्थ शीतल रखने का प्रयत्न करना चाहिये। खुजलाने से त्वचा का दूषित होने का भय रहता है इसलिये त्वचा को खरोचना बर्जित नहीं है, बच्चों को रोकना बहुत कठिन है इसलिये उनके पंजे कपड़े या खाट से बांधकर रखें।

खुरंट उतरने के दिनों में प्रतिदिन कार्बोलिक ओल या जन्तुघ्न तैल लगाकर पश्चात् गर्म पानी से स्नान कराया जाता है। जब तक खुरंट पूर्ण तरह से नहीं उतरते तब तक अन्य लोगों से मिलना जुलना बन्द कराया जाता है तथा उपद्रवों की लाक्षणिक चिकित्सा की जाती है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा -

इस रोग को लोक में प्रायः रोग न मानकर शीतला नामक (सेड़) देवी का प्रकोप मानते हैं और इसकी चिकित्सा नहीं कराते। चिकित्सा कराने पर देवी के कुपित होने का भय उनके हृदय में घुसा रहता है। किन्तु आज का युग ज्ञान का और विज्ञान का युग है। उन सभी को यह समझ लेना चाहिये कि यह रोग प्रकृति देवी के ऊपर है क्योंकि इस रोग के होजाने पर बिना किसी चिकित्सा कराये प्रकृति देवी के नियमानुसार चलने से अर्थात् मिथ्या आहार विहार न करने से स्वतः ठीक हो जाता है।

यदि चिकित्सा की आवश्यकता पड़े तो फिर निम्न चिकित्सा करनी चाहिये—

(१) मसूरिका के आरम्भ में ही हुलहुल के पत्तों के स्वरस में चन्दन के कल्क को डालकर पीना, अथवा केवल हुलहुल के पत्तों का स्वरस पीने से इसका भय नहीं रहता। इसकी मात्रा आवश्यकता-नुसार बच्चों को ३-३ माशे रस दो बार दिन में।

(२) नीम के बीज, बहेड़े के बीज और हल्दी इनको शीतल जल के साथ अच्छी तरह पीसकर पीने से फिर मसूरिका नहीं निकलने पाती।

(३) ज्वर आने पर मसूरिका की शंका होने पर केले के खम्बे का रस, मुलहठी का चूर्ण मिलाकर पीने से शीतला सम्बन्धी विकार नष्ट हो जाते हैं।

(४) मसूरिका के आरम्भ में रोगी के वय और बलानुसार वमन विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करानी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से संचित दोष नष्ट हो जाते हैं और मसूरिका स्वयं ही सूख जाती है। किन्तु पित्तजन्य मसूरिका एवं पित्त प्रकृति वाले कमजोर और डरपोक एवं गर्भिणी को वमन रेचन इस रोग में नहीं करावें।

वमन के लिये—परबल के पत्ते, निम्ब की छाल और बांसा इनको समभाग लेकर काथ बनाकर देने से वमन हो जाती है।

—अथवा ब्राह्मी रस में शहद मिलाकर दोनों की मात्रा १ तोला श्रेयस्कर है।

धूप—बांस की छाल, तुलसी, लाख, बिनौला की मिर्गी, जौ की भुसी और बच, ब्राह्मी—इनकी धूप रोगी के कमरे में देनी चाहिए जिससे रोग का प्रसार कम हो जाता है।

दोषभेदानुसार -

वातमसूरिका में—दशमूल, रारना, आमला, खश, जवासा, गिलोय, धनियाँ, मोथा इन औषधियों का क्वाथ रोज पिलाने से वातज मसूरिका शान्त होती है।

पित्त एवं रक्तज मसूरिका में निम्बादि क्वाथ—नीम की छाल, पित्तपापड़ा, पाठा, परबल के पत्ते, कुटकी, दोनों चन्दन, बासा, आमला, इनके काथ को करके और खूब ठण्डा मिश्री मिलाकर पीने से दोनों तरह की मसूरिका शान्त होती है।

पित्तजन्य मसूरिका में शोधन कभी नहीं करना चाहिए। अर्थात् वमन विरेचन नहीं कराना चाहिए केवल संतपण (खीलों का चूर्ण) मिश्री सहित

निम्बादि क्वाथ के साथ) देना चाहिए।

रक्तज मसूरिका-रक्तमोक्षण कराना उचित है।

कफजन्य मसूरिका-अद्वसा, नागरमोथा, चिरायता, हरड़, आमला, इन्द्रजौ, जवासा, परवल के पत्ते, नीम की छाल इन सब औषधियों का क्वाथ शहद मिलाकर पीने से कफजन्य मसूरिका ठीक होती है।

सिरस और गूलर की छाल, खैर और नीम के पत्ते इनको पीस कर लेप करने से कफजन्य एवं पित्तजन्य मसूरिका ठीक होती है।

सन्निपातजन्य—मसूरिका में उपरोक्त निम्बादि क्वाथ का सेवन श्रेष्ठ है।

यदि निकली हुई मसूरिका पुनः अन्तःप्रविष्ट हो गई हो या अच्छी तरह न निकली हो तो कचनार की छाल के क्वाथ को स्वर्ण माक्षिक का चूर्ण मिलाकर पिलाने से फिर बाहर निकल आती है।

—चिरायता, नीम की छाल, कुटकी, पित्तपापड़ा इनका क्वाथ पीने से कच्ची मसूरिका भर जाती है तथा पकी हुई शीघ्र ठीक हो जाती है। इससे उत्तम इस रोग की ज्वर एवं उपद्रवों को शान्त करने वाली अन्य औषधि नहीं।

मुख एवं गले में यदि व्रण उत्पन्न हो गये हों तो आमले और मुलहठी के क्वाथ में मधु मिला कर कुल्ले करने से ठीक हो जाते हैं।

आंखों में यदि मसूरिका उत्पन्न हो गई हो तो मुलहठी, त्रिफला, मूर्वा, दारुहल्दी की छाल, नीलकमल, खश, लोध्र एवं मजीठ इनको पीस कर लेप करने से अथवा इनके क्वाथ द्वारा आश्च्योतन करने से आंखों में उत्पन्न हुई मसूरिकायें नष्ट होती हैं तथा फिर से उत्पन्न नहीं होती। अथवा—

लिसौड़े की छाल को पीस कर आंखों पर लेप करने से नेत्रगत मसूरिका नष्ट होती है।

किले जीरे के पत्तों के क्वाथ में हल्दी का चूर्ण मिलाकर पीने से रोमान्तिका मसूरिका ज्वर विरूप व्रण नष्ट होते हैं।

१. गांव में या मुहल्ले में मसूरिका (चेचक) फैलने पर ऊंटकटेरा (कटेली का भेद) को उखाड़ कर पर के दरवाजे पर लटका देना चाहिये। और उसी का एक फूल (कोई कोई मूल ग्रहण करते हैं) रोगी के पीने के जल में डाल देना चाहिए। और प्यास लगने पर उक्त जल को छानकर पिलाने से मसूरिका शीघ्र ही निकल आती हैं और उसमें कोई उपद्रव नहीं उठने पाता।

२. बच्चों के मसूरिका (चेचक) निकलने पर रोगी को उत्तम केशर ३ रत्ती से १ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार गंगाजल में मिश्रित कर पिलाना चाहिये जिससे दूषित रक्त शीघ्र ही चेचक के दागों में निकल कर खुरन्ट पड़ जाते हैं।

३. चेचक वाले रोगी के कमरे में चारों ओर लाल रङ्ग का कपड़ा टांग देना चाहिये ऐसा करने से चेचक में पूय (मवाद) पड़ने की शंका नहीं रहती और शीघ्र ही आराम हो जाता है।

४. चेचक रोग में रक्त अपामार्ग (आंगा) की जड़ शुभ दिन में प्रातः लाकर उसे गंगाजल से धोकर साफ किये हुये पत्थर पर चन्दन की तरह घिस कर थोड़ी सी रोगी के मस्तक पर तिलक सदृश लगाना चाहिये एवं शरीर में उसके छीटे देने चाहिये। तथा थोड़ा सा गंगाजल मिलाकर एक छोटी चम्मच रोगी को पिला देनी चाहिए एवं उस जड़ का थोड़ा सा टुकड़ा एक लाल बस्त्र में बांधकर रोगी शय्या (पलङ्ग) से बांध देना चाहिए। ऐसा करने से सोपद्रव चेचक भी शीघ्र ठीक हो जाती है।

५. मसूरिका ठीक होने के पश्चात् भी मसूरिकाजन्य व्रणों में खुजाने से अधिक घाव हो जाते हैं। उनमें रक्त अपामार्ग के पत्तों को गंगाजल से पीस कर लेप करने से घाव शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं और उनमें खुजली भी नहीं चलती।

६. मसूरिका की शंका होने पर रोगी को मुनक्का के ६-१० दाने (बीज) गंगाजल में पीस कर पिलाने से चेचक नहीं निकलने पाती या अन्तः प्रविष्ट हो

तो दूसरे दिन और उसी तरह पिलाने से शीघ्र निकल आती है ।

७. करेले के पत्तों कारस उसके पूर्वरूप में पिलाने से मसूरिका नहीं निकलती ।

८. घर में किसी बच्चे को चेचक निकलने की सम्भावना होने पर या चेचक निकल आने पर निम्न प्रयोग को काम में लेना चाहिये—

किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे नीम के वृक्ष (अर्थात् अपने घर का पेड़ न हो) से एक डाली तुड़वा कर उसमें से प्रत्येक बालक को २½ पत्ती के हिसाब से सद्यःगुरु से रंगे हुए वस्त्र की चीर में बांध कर हरेक वस्त्र के पैर में २½ पत्ती बंधी हुई रक्त चीर बांध देनी चाहिए । ऐसा करने से प्रथम तो चेचक निकलती नहीं । यदि निकलती भी है तो बहुत न्यूनाऽवस्था में, जो कि ज्वराधिबाधा रहित शीघ्र शान्त हो जाती है । तथा—

१—त्रपहोमोपहारेश्च दानस्वस्त्ययनार्चनैः ।

विप्रगोशस्त्रु गौरीणां पूजनैस्ताशमं नयेत् ॥

स्तोत्रं च शीतला देव्या पठेत् शीतलिकान्तिके ।

ब्राह्मणःश्रद्धया युक्तस्तेन शाम्यन्ति शीतला ॥

जब होम बलिदान स्वस्ति वाचन पूजन और विप्र गौ भगवान शंकर गौरी का पूजन करने से शीतला शान्त होती है । शीतला से पीड़ित रोगी के पास किसी ब्राह्मण द्वारा श्रद्धापूर्वक शीतलादेवी के स्तोत्र पाठ कराया जावे तो शीतला देवी शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त होती है । जनहित के लिए स्तोत्र निम्न प्रकार से है—

अथ शीतला स्तोत्रम्

शोभस्व अस्य श्री शीतला स्तोत्र मंत्रस्य महादेव शिपिस्तुष्टुप छन्द श्री शीतला देवता शीतलोपद्रव शान्त्यर्थं जपे विनियोगः ।

स्कन्द उवाच—

भगवन् देवदेवेश ! शीतलायास्तवंशुभम् ।

वक्त्रमहस्यशेषेण विस्फोटक भयापहम् ॥

स्कन्द उवाच—

वन्देहं शीतलां देवीं रासमस्थां दिगम्बराम् ।

यामासाद्य निवर्तेत् विस्फोटक भयं महत् ॥

शीतलेशीतलेवेति यो ब्रूयाद्वाह पीडितः ।

विस्फोटकं भयं घोरं क्षिप्रं तस्यप्रणयति ॥

यस्त्वामुदकमध्येतु ध्यात्वा सम्पूजयेन्नरः ।

विस्फोटकभयं घोरं कुले तस्य न जायते ॥

शीतले ज्वर दग्धस्य पूतिगन्धयुतस्य च ।

प्रनष्टश्चक्षुषः पुंषस्त्वामाहुर्जीवितौषधम् ॥

नमामि शीतलां देवीं रासमस्थां दिगम्बराम् ।

मार्जनीं कलशोपेतां शूर्पालकृता मस्तकाम् ॥

शीतले तनुजान् रोगान्नुष्णां हरसि दुस्तराम् ।

विस्फोटक विदीर्णानां त्वमेकामृतवर्षिणी ॥

गलगण्ड ग्रहारोगा ये चान्ये दारुणान्नुष्णाम् ।

तदनु ध्यान मात्रेण शीतले यान्ति ते चयम् ॥

न मंत्रं नौषधं किञ्चित् पाप रोगस्य विद्यते ।

त्वमेका शीतले धात्री नान्या पर्यामिदेवताम् ॥

मृणाल तन्तु सदृशीं नाभिहन्मध्यसंस्थिताम् ।

यस्त्वं सञ्चिन्तयेद्देवीं ! तस्यमृत्युर्न जायते ॥

अष्टकं शीतला देव्या यः पठेन्मानवः सदा ।

विस्फोटक भयं घोरं कुले तस्य न जायते ॥

श्रोतव्यं पठितव्यं च नरैर्मर्कटि समन्वितैः ।

उपसर्गं विनाशय परं स्वस्वययनं महत् ॥

शीतलाष्टकमेतद्धि न देयं यस्त्यक्तस्यचित् ।

किन्तु तस्मै प्रदातव्यं भक्ति श्रद्धान्वितोहि यैः ॥

इति श्री काशी खण्डे शीतलाष्टक स्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

आठवां और नवां प्रयोग उनके लिए हैं जो कि उक्त रोग में औषधि कराने में भय करते हैं एवं रूढ़िवादी हैं । उनके लिए तथा सबके लिए दोनों प्रयोग बहुत ही लाभदायक हैं ।

१०. मसूरिकाजन्य त्रणों पर जङ्गली (अरण्य) कण्डे की राख भुरकने से वे शीघ्र सूख जाते हैं ।

पथ्यापथ्य

चेचक वाले रोगी के पथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये क्योंकि बिना पथ्य के कोई औषधि लाभ नहीं पहुँचा सकती और रोग वृद्धि को प्राप्त हो जाता है । औषधि अथवा वैद्य को उसकी बदनामी भोगनी पड़ती है । यथा—

सन्तापयन्तिकमपथ्यमुगं न रोगाः ।

अतः सर्व प्रथम रोगी का पथ्य सेवन करना आवश्यकीय है । पीने के लिये रोगी को विपुल जल

देना चाहिये। जौ का यूष, फलों का रस, ग्लूकोज आदि हल्के पदार्थ देने चाहिये, विरेचन से कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिए।

भुने चना, गुड़, मुनक्का आदि हल्के शीघ्र पचने वाले पदार्थ देने चाहिये। दूध नहीं देना चाहिए, इससे पूय पड़ने की शंका रहती है, नमक मिर्च नहीं देना चाहिये इनसे ब्रणों में खुजली बढ़ती है, ब्रणों पर मक्षिकापात नहीं होने देना चाहिये उन्हें नीम की डाली से उड़ाते रहना चाहिये। रोगी को शुद्ध वायु एवं प्रकाश में रहना चाहिये। उसके पास एक पवित्र व्यक्ति रहना चाहिये और अन्य किसी को उसके पास नहीं जाने देना चाहिए। रोज ही धूप

देनी चाहिये।

वेक्सिन (Vaccin)-

चेचक के लिए चेचक के टीके का प्रयोग किया जाता है, इसके बचपन में प्रयोग से बाल्यकाल में तो चेचक नहीं निकलती किन्तु फिर युवावस्था में उसका आक्रमण हो जाता है। वह भी जब हर दूसरे वर्ष २-३ बार टीके का प्रयोग हो जावे तो, किन्तु सम्प्रति जिनके दो तीन बार टीका लगा है उनके भी चेचक निकलती देखी गई है।

—श्री० पं० केशवदेव शर्मा आयुर्वेदाचार्य
कोसी (मथुरा)

लघु मसूरिका-खसरा [Measles]

श्री दाऊदयाल गर्ग A., M. B. S. सह०-सम्पादक "धन्वन्तरि".

कारण —

इसका कारण एक बहुत सूक्ष्म जीवाणु (Virus) होता है। यह जीवाणु रोगी की नासिका से होने वाले स्राव में तथा रक्त में प्राप्त होता है। जिन रोगियों को इस रोग के ग्रसित होने पर मस्तिष्क शोथ (Encephalitis) भी हो गया हो उनके मस्तिष्क में भी यह जीवाणु पाया जाता है। इस जीवाणु का प्रसार रोगी की नासिका से होने वाले स्राव तथा खांसी के पश्चात् आने वाले थूक से होता है। रोगी खसरा के दाने निकलने से एक सप्ताह तक संक्रमणशील रहता है अतः बच्चों को इस बीच रोगी से दूर रखना चाहिये। खसरा के रोगी में प्रायः स्ट्रेप्टोकोकाई तथा न्यूमोकोकाई नामक कीटाणु का संक्रमण हो जाता है जिसके कारण अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं। खसरा के एक बार हो जाने पर रोगी में इसके प्रति जीवन-पर्यन्त रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ३ मास से ५ मास के बच्चे में यह रोग अधिक होता है।

लक्षण —

लघु-मसूरिका का सम्प्राप्तिकाल (Incubation period) ७ से १४ दिन है और प्रायः लक्षण सम्प्राप्तिकाल की समाप्ति पर ही होते हैं। कभी कभी संक्रमण होने के कुछ घण्टे पश्चात् कुछ ठंडी सी लगती है। त्वचा में कुछ शोथ तथा नेत्रों में लाली हो जाती है।^१

पिडिका निकलने से पूर्व के लक्षण—यह लक्षण प्रायः पिडिका निकलने से ४ दिन पूर्व से प्रारम्भ होते हैं। प्रारम्भ में आंख तथा नाक से पानी निकलता है, छींक अधिक आती है, खांसी तथा गले में खरास हो जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं, तापक्रम प्रथम दिन ही १०२ या १०३ डिग्री हो जाता है। टांसिल बढ़ जाते हैं, उनमें दर्द होता है तथा कभी कभी उनसे स्राव भी निकलता है। कभी कभी बच्चे को ज्वर अधिक नहीं होता और उस

^१ तासां पूर्व ज्वरः कण्डूगान्त्रिभञ्जोरतिर्ग्रमः।
त्वचि शोथः सवैद्यैर्यो नेत्र रागश्च जायते॥

शिशुरोगाङ्कः

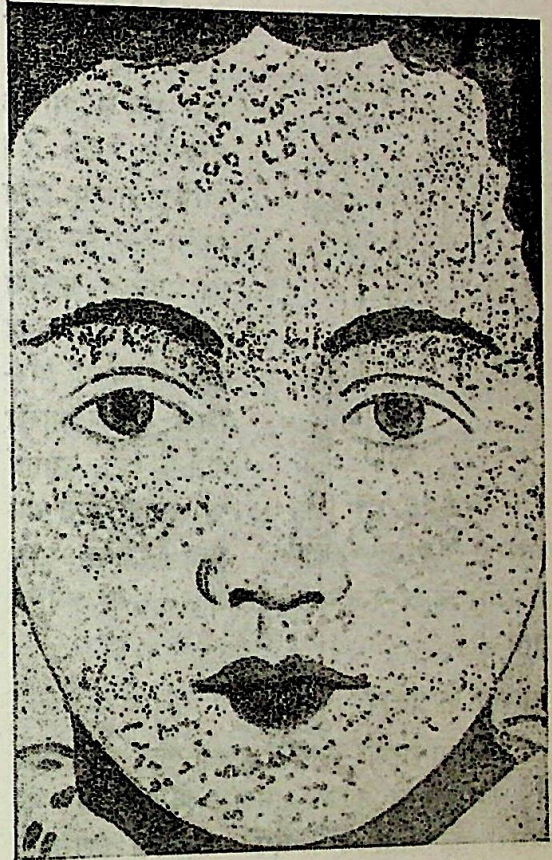
समय लक्षण साधारण प्रतिश्याय जैसे होते हैं।

प्रारम्भिक लक्षणों के तीन दिन पश्चात् मुंह के अन्दर की श्लेष्मिककला पर चर्बणक (Molar) दन्तों के सम्मुख जहां पर कि कर्णमूलिक लाला-ग्रन्थि की नलिका आकर खुलती हैं उसके चारों ओर छोटे छोटे दाने से दिखाई देते हैं जो कि कापिलिक के स्पोट्स (Koplic's spots) के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह कृत्रिम प्रकाश की अपेक्षा दिन के प्रकाश में आसानी से दिखाई देते हैं तथा किसी एक ओर के गाल पर दूसरे की अपेक्षा अधिक होते हैं। यह पिन की नोंक के बराबर होते हैं। तथा प्रत्येक के चारों ओर लालिमा होती है। यह राइने से मिटते नहीं हैं। कापिलिक के स्पोट्स ६० प्रतिशत रोगियों में मिलते हैं अतः मसूरिका (खसरा) का संदेह होने पर यह अवश्य देखे जाने चाहिये।

रोगी की जिह्वा पर मैल जमा होता है। बच्चा देखने पर बहुत दयनीय लगता है। प्रकाश में आंखें कठिनाई से खोल पाता है।

पिडिका निकलने के पश्चात् लक्षण—प्रारम्भिक लक्षण प्रारंभ होने पर प्रायः तीन दिन पश्चात् या कभी कभी ४ दिन पश्चात् पिडिकायें निकलती हैं। प्रारंभ में पिडिकायें कान के पीछे, शङ्ख प्रदेश, गर्दन तथा सामने मस्तिष्क पर बालों के पास निकलती हैं। कुछ घण्टों में पिडिकायें पूरे चेहरे पर निकल आती हैं। (देखें चित्र ६७) तथा २४ घंटे के अन्दर यह पिडिकायें सम्पूर्ण शरीर पर निकल आती हैं। (देखें चित्र नम्बर ६८) सर्वाधिक पिडिकायें बच्चे की छाती पर दिखाई देती हैं। यह पिडिकायें प्रारंभ में एक लाल सा धब्बा जैसा होता है तथा थोड़ी देर में ही यह धब्बे ददोरों का रूप धारण कर लेते हैं। ददोरों वाली त्वचा को यदि चंगली से दबाया जाय तो त्वचा की लालिमा गायब हो जाती है तथा दो ददोरों के बीच सफेदी आ जाती है। लेकिन दबाव हटाने पर फिर पहले जैसा ही रंग आ जाता है। ऊपर हमने जो

कापिलिक के स्पोट्स बताये हैं वह शरीर पर पिडिकाओं की निकासी के साथ साथ समाप्त होजाते हैं।



चित्र नं० ६७—खसरा

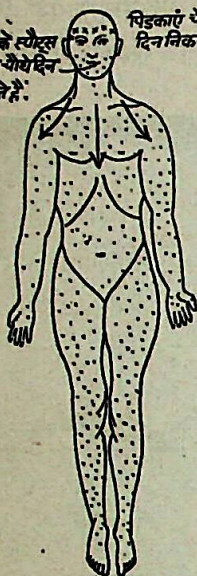
पिडिकाएं निकलने के १८ घंटे पश्चात् का चित्र

पिडिका निकलने के २ से ५ दिन के अन्दर अन्दर पिडिकायें गायब होनी प्रारंभ हो जाती हैं। जिस स्थान पर पिडिका सबसे पहले निकलती हैं उस स्थान की पिडिकायें सबसे पहले गायब होती हैं तथा देर से निकलने वाले स्थान की पिडिकायें बाद में गायब होती हैं। पिडिकायें समाप्त हो चुकने पर भी त्वचा में कुछ लालिमा रह जाती है। जब पिडिकायें गायब होना प्रारंभ होती हैं तो देह से बहुत हल्के हल्के पर्त से झरते हैं।

पिडिकायें निकलने के साथ साथ रोगी के तापक्रम में १ या २ डिग्री की वृद्धि होती है तथा



कण्ठिक के स्पोट्स
इससे ये औषधें
मिलते हैं।



चित्र नं० ६ =

खसरा में पिडिकाओं की स्थिति
ही रोगी के अन्य लक्षण (तकलीफ) भी कम हो
जाते हैं।

खसरा के प्रकार—

(१) साधारण—इसमें लक्षण बहुत अल्प होते हैं। कभी कभी टीका लगवाने के पश्चात् भी खसरा हो जाता है। ऐसी मसूरिका (खसरा) में लक्षण अल्प होते हैं। तीन माह से कम के बच्चों को खसरा नहीं होता है तथा ४ माह से कम के बच्चों को खसरा होने पर उसमें अल्प लक्षण होते हैं। इस साधारण प्रकार में तापक्रम की वृद्धि २४ घंटे से अधिक के लिये नहीं होती है, कण्ठिक के स्पोट्स नहीं मिलते हैं, पिडिकायें थोड़ी दूर दूर तथा कम लालिमायुक्त निकलती हैं। इस प्रकार में उपद्रव भी नहीं होते हैं।

(२) तीव्र प्रकार—सौभाग्यवश यह प्रकार कम ही मिलता है। यह बहुत घातक होता है। प्रत्येक लक्षण इस प्रकार में अपनी तीव्रता में पाया जाता है। पिडिकाओं में रक्तस्राव होजाता है। इस प्रकार की मसूरिका (खसरा) से ग्रसित बच्चों की

यह वृद्धि दो या तीन दिन तक रहती है। रोगी के पिडिका निकलने के बाद २ या ३ दिन सब से अधिक तकलीफ रहती है। पिडिका समाप्त होना प्रारंभ होने पर रोगी का तापक्रम एकदम कम होजाता है। यह तापक्रम प्रायः प्रारंभिक लक्षण प्रारंभ होने के छठे, सातवें या आठवें दिन कम

होता है तथा साथ

प्रायः मृत्यु हो जाती है। पिडिकायें प्रायः कम निकलती हैं लेकिन विषमयता बहुत अधिक होती है।

(३) फुफ्फुसीय प्रकार—प्रथम बच्चे को वात श्लेष्मिक ज्वर (*Pneumonia*) होता है तथा ज्वर के मध्यकाल में इसका भी संक्रमण पहुंच जाने पर बाद में खसरा हो जाता है। खसरा का यह प्रकार प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक, तथा द्वितीय प्रकार की अपेक्षा कम घातक है।

उपद्रव—

(१) खसरा के रोगी को सर्वाधिक होने वाला उपद्रव वात-श्लेष्म ज्वर है। (२) स्वर-यंत्र शोथ, तथा बहुत कम अवस्थाओं में स्वर यंत्र का आक्षेप (*Laryngitis or Laryngismus*) या स्वर यंत्र रोहिणी (*Laryngeal diphtheria*) (३) तीव्र मध्य-कर्ण शोथ (*Acute Otitis Media*) (४) नेत्राभिष्यन्द, कनीनिका पर व्रण या उसमें छिद्र हो जाना (*Corneal ulcer or perforation*) (५) तीव्र आंत्रशोथ (६) मस्तिष्क-शोथ (*Encephalitis*)—यह प्रायः मसूरिका का ज्वर उतर जाने के पश्चात् होता है। बच्चों को यकायक आक्षेप आने लगते हैं।

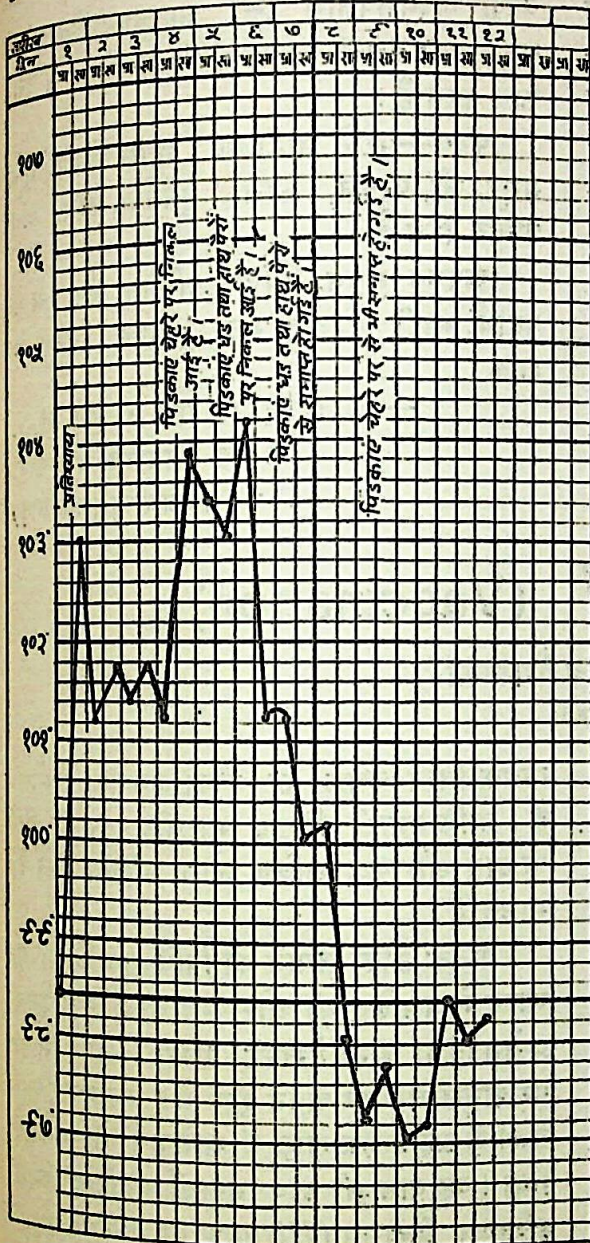
आयुर्वेद में निम्न उपद्रव बताये हैं—

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिवन्धके।
तथाऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः॥

चिकित्सा—

(१) प्रतिषेधात्मक—५ वर्ष से कम उम्र के तथा कमजोर बच्चों में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। रोगी बच्चे को पिडिकायें निकलने के दिन से चौदहवें दिन तक अन्य बच्चों में विशेषतः ५ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में नहीं मिलने देना चाहिए।

कनवेलसैन्ट सीरम (*Convalescent serum*)—यह ५ सी. सी. की मात्रा में ५ वर्ष तक के बच्चे को मांसान्तर्गत (*intramuscular*)



चित्र नं० ६६
खसरा का तापमान चार्ट

लघु मसूरिका के फैलने पर प्रतिरोध के लिये दिया जाता है।

(२) औषधि चिकित्सा—रोगी को चारपाई में आराम करना चाहिए तथा ज्वर उतरने के दो दिन पश्चात् तक उसे चारपाई में ही रहना चाहिए। कमरे

का तापक्रम ६० से ६५ डिग्री रहना चाहिए। रोगी का मुंह उघर की ओर नहीं रखना चाहिए जिधर से प्रकाश आ रहा हो। क्योंकि इससे रोगी को चकाचौंध सा रहता है तथा उसे विशेष परेशानी महसूस होती है। जिस कमरे में रोगी रहे उसमें वायु खूब आनी जानी चाहिये लेकिन रोगी के शरीर पर सीधी वायु न लगे। यदि रोगी को उपद्रवस्वरूप वातश्लेष्म ज्वर हो गया हो तो कमरे के वायु मण्डल में कुछ नमी रहनी चाहिये और इसके लिए अंगीठी पर पानी को उबलता रहने दें। यदि रोगी को ज्वर अधिक हो अथवा उसे बेचैनी अधिक हो तो दिन में एक या दो बार उसका शरीर गीले तौलिये से पोंछवा दें। यदि पिडिकायें ठीक प्रकार से न निकली हों तो रोगी के शरीर पर रबड़ की गरम पानी की थैली में गरम पानी भर कर सेक करना चाहिए। आंखों को बोरिक एसिड के घोल से दिन में ३-४ बार धोकर पलकों में अन्दर बैसलीन लगा देनी चाहिए।

रोगी की अवस्थानुसार सल्फाडाइजीन का प्रयोग करें। प्रोकेन पैन्सलीन का ४ लाख यूनिट का मांसान्तर्गत सूचीवेध प्रतिदिन एक बार तथा यदि आवश्यकता समझें तो दो बार करें। तीव्र मध्य-कर्णशोथ उत्पन्न होने से रोकने के लिये या उत्पन्न होने पर कान में पैन्सलीन घोल (१ सी.सी. में १००० यूनिट) बूंदें प्रति ४ घंटे बाद डालें; यदि तीव्र मस्तिष्क शोथ हो गया हो तो कटि वेधन (Lumber Puncture) करना चाहिए।

रोगी को चाहिए कि वह ऊंचे, प्रशस्त तथा शुष्क गृह में रहे और भारी एवं गरम वस्त्रों को पहिने। शीतल वायु, शीतल जल, आग सेकना, आतप सेवन, मैथुन, दिन में सोना, अधिक चलना फिरना, रात्रि जागरण—इनका त्याग करना चाहिए।



खदिर काष्ठ, त्रिफला, नीम की छाल, पटोल पत्र, गिलोय, अड़साछाल—इनका क्वाथ रोमांटिका, मसूरिका, कुष्ठ, विसर्प तथा कण्डू आदि को नष्ट करता है। इसे “खदिराष्टक” कहते हैं।

ऊषणा चूर्ण (भै. र.) १ माशा की मात्रा में उष्ण जल से प्रातः सायं सेवन करायें। इसके सेवन से विस्फोट, लोहित ज्वर, रोमांटिका, खसरा तथा जीर्णज्वर नष्ट होता है।

सर्वतोभद्र रस, दुर्लभ रस या इन्द्रकला वटिका इनमें से किसी एक को १ रत्ती प्रातःसायं शहद से चटायें। छोटे बच्चे को कम मात्रा दें। संजीवनी

वटी, लक्ष्मीविलास रस, महालक्ष्मीविलास रस लघुमालती बसन्त यह योग भी मसूरिका में उत्तम कार्य करते हैं।

पथ्य—पुराने साठी एवं शालि चावल, मूंग, मसूर, जौ, परवल, करेला, पुनर्नवा, केला, अंगूर अनार पथ्य हैं।

अपथ्य—मैथुन, स्वेदन, परिश्रम, तैल से बने पदार्थ, भारी भोजन, मटर, आलू, नमक, पत्र शाक।

—श्री दाऊदयाल गर्ग A., M. B.S.
सह-सम्पादक धन्वन्तरि,
बिजयगढ़ (अलीगढ़)

टीका लगाना (Vaccination)

श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री

संसार के प्राणी वर्ग में चेचक (*Small pox*) से प्रतिवर्ष असंख्य जीवधारी आक्रान्त होते हैं और ३५ प्रतिशत मृत्यु के मुंह में पड़ जाते हैं। यह रोग बड़े मनुष्यों की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है अतः शिशुरोगांक में इसका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह रोग हमेशा अधिकतर बसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र बैसाख में विशेष फैलता है अतः इसे बसन्त रोग भी कह सकते हैं और प्रति ५ वर्ष में इसका संक्रमण होता है। जब यह रोग फैलता है तब गांव एवं जनपद सभी जगह उग्र रूप धारण करके हाहाकार मचा देता है।

यह एक छूत से फैलने वाला रोग है जो इस रोग से पीड़ित बच्चे के सम्पर्क में आता है उसको यह होकर ही रहता है किन्तु एक बार निकलने पर यह फिर दोबारा कभी भी किसी को नहीं होता है। इस संक्रामक व्याधि से बचने के लिये आयु-वैदीय ग्रंथ सुश्रुत आदि में कई विधियों का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु उन सबसे सुलभ एवं लाभ-

दायक विधि चेचक का टीका लगवाना परमोत्तम है। जोकि हमारी विशुद्ध भारतीय देन है जिसे पाश्चात् और कुछ अविज्ञ लोग पश्चिम की देन मानते हैं।

वस्तुतः टीका लगाने की विधि शताब्दियों पूर्व भारत में प्रचलित थी और भारतीयों द्वारा इसका प्रयोग किया जाना देखकर पश्चिमी लोगों ने इस पर अनुसंधान कर अपने देशों में इसका प्रचार करके तभी से यह प्रत्येक राष्ट्र में अनिवार्य घोषित किया गया। यह बात श्री डा० मुखर्जी की हिस्ट्री आफ इन्डियन मैडीसिन (*History of Indian medicine*) में जनवरी १६०५ के ब्रिटिश मेडिकल जनरल (*British medical Journal*) के उद्धरण से स्पष्ट जानी जा सकती है जिसका विवरण इस प्रकार से है—

श्री जे० जैड हालवेल एफ० आर० सी० एम० जो उस समय ईस्ट इन्डिया के बंगाल में गवर्नर थे ने सन् १७६७ में रायल कालेज आफ फिजिशियन लंदन के सामने भाषण देते हुए कहा था कि भारत में

भारतीय लोग चेचक (Small pox) के आक्रमण से बचने के लिये जिस विधि का उपयोग करते हैं वह इस प्रकार है कि वृन्दावन, काशी, प्रयाग आदि से टीका लगाने ब्राह्मण (वैद्य) लोग भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में जाते हैं जब कि मसूरिका (चेचक) की बीमारी महामारी के रूप में फरवरी मार्च (अर्थात् चैत्र वैशाख दिनों में जो प्रति पांच या सात वर्ष में पुनराक्रमण से फैलकर घर घर में हाहाकार मचा देता है। ये लोग वहां वहां जा-जाकर आक्रमण से पहिले टीका लगवाने के इच्छुक व्यक्तियों को संवत आहार विहार रख कर उनको टीका लगाते हैं। इसके विपरीत जब तक लोग इस प्रकार इनके कथानुसार आचरण यानी आहार विहार नहीं करते थे लोग उनको टीका नहीं लगाते। इस प्रकार यह टीका लगाने वाले घर घर घूम कर पूछते थे कि मसूरिका (चेचक) से बचने का टीका (चीप) लगवाओगे क्या और साथ ही उनका यह भी कहना होता था कि कितने विस्फोट(दाने) निकल-वाना चाहते हो एवं विधि उसी के अनुसार टीका लगाते थे।

ये लोग पुरुषों के कोहनी और पहुंचे के बीच भाग पर तथा स्त्रियों के कंधे और कोहनी के बीच बाहु भाग पर टीका लगाया करते थे। टीका लोहे की लाटी की बनी सूचिकाओं द्वारा १५-१६ छोटी छोटी रेखायें खुरचते थे और उस खुरचे हुए स्थान पर एक वर्ष पहिले के बीच मसूरिका पूय से मिश्रित चिपड़े को लगभग ६ घण्टे तक रख छोड़ते थे और फिर उसे गंगा जल से भिगो दिया करते थे। इसके पूर्व गंगा जल डालने से पहिले व्रण स्थान को मलते थे। इस क्रिया से कुछ कालोपरान्त ज्वर उत्पन्न हो जाता था और फिर विस्फोटक(दाने) निकल आते थे। इन पर से खुरदर उतरते थे तब तक रोगी पर शीतल जल डालते रहते थे। इसके साथ १ मास तक संयत आहार पर रखते थे। विस्फोटकों के शिखर को मुकीले काटे जैसे शस्त्र से खोलते थे। रोगी को कमरे के बाहर सदन में खुली हवा में रखते थे। ज्वर प्रायः

साधारण होता था जिसमें किसी विशेष उपचार की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार ऐसे टीके लगाने से ५० से कम और २०० से अधिक दाने नहीं निकलते थे और यह क्रिया कभी असफल नहीं होती थी।

हालवेल के इस भाषण से स्पष्ट है कि टीके का प्रचलन भारत द्वारा पश्चिमी लोगों ने प्राप्त किया। इसका और भी प्रमाण हमारे प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है जो कि बिलकुल आज के वक्सीनेशन जैसा ही है यथा—

धेनुस्तस्यमसूरीवा नराणां च मसूरिका।

यद्ये खल्लस्य पूयं तत् बाहुभूजे विचारयेत् ॥

तत्पूयं रक्तं मिलितं स्फोटकं ज्वर सम्भवम्।

—धन्वन्तरि शाक्त्यै (शब्दकल्पद्रुम)

अर्थात् गाय की मसूरिका (विस्फोटक) अथवा मनुष्य की मसूरिका से शस्त्र द्वारा पूय लेकर अन्योन्य व्यक्तियों के बाहुभूजे में खुरच पैदा कर रक्त में प्रविष्ट किया जावे जिससे ज्वरपूर्वक विस्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार मसूरिका निकलने का भय नहीं रहता।

टीका के निर्माण की विधि—

गोमसूरिका अर्थात् चेचक का टीका जिसे (Vaccina Cowpox) कहते हैं जो मनुष्य की तरह पशुओं में भी होती है और जिसे गोमसूरिका कहा करते हैं तथा इसका जीवाणु भी मनुष्य मसूरिका की जाति का ही होता है। अथवा किसी किसी के मत से मनुष्य मसूरिका का जीवाणु गौ आदि पशु में जाकर मृदु हो जाता है और गौ मसूरिका उत्पन्न कर देता है। अतः गाय, भैंस तथा गर्दभ आदि पशुओं के नाभि स्थान के पास शस्त्र से खुरच बनाकर तत्स्थान पर निकले हुए रुधिर में मसूरिका तरल का सूचिकाभरण कर दिया जाता है जिससे गौशीतला उत्पन्न होकर उसमें तरलमय पिंडिकायें बन जाती हैं जिनको छीलकर उनसे निकले हुए तरल अर्थात् जीवाणु से भरी हुई लसीका को शुद्ध पात्र में ले लिया जाता



है। फिर उसे प्योत्पादक अन्य कीटाणुओं से बचाकर कार्बोलिक ग्लेसरीन में मिलाकर छोटी छोटी शीशियों में भर कर रख लेते हैं जिसे आधुनिक युग में लिम्फ (Lymph) नाम से पुकारा जाता है। जिसे सुरक्षा के हेतु बर्फ आदि में रखकर उपयोग में लाया जाता है।

टीका लगाने की विधि-

चेचक के संक्रमण से बचने के लिये यथा संभव ३ मास की आयु से १ साल तक के बच्चे को टीका लगवाना विशेष उपयोगी है जिससे मसूरिका का भय नहीं रहता। इसके उपरांत ११ वें तथा १६ वें वर्ष में पुनः दूसरी बार टीका लगवाना नितान्त आवश्यक है।

जिसके टीका लगाना होता है उसके बाहुमूल के स्थान को प्रथम साबुन से धोकर साफ कर लेना चाहिए। पश्चात् स्प्रिट लगाकर कुन्द चाकू अथवा सूचिका पुंज द्वारा २ या ३ जगह पर त्वचा को खुरचकर स्पेचुला से लिम्फ को लगाकर रक्त में मिला दिया जाता है जिससे ५ दिन में उस स्थान पर पिडिकायें निकल आती हैं जोकि मसूरिका की तरह तरलयुक्त विस्फोट बन जाते हैं और १० या १२ दिन में मुरझा कर खुरंट बन जाते हैं। इस अवधि में २-३ दिन के लिये ज्वर भी हो जाया करता है। इसमें विशेष सावधानी इन विस्फोट के तरल पूय की देह में अन्योन्य भाग पर लगने से रखनी चाहिए। कारण कि यह पूय तरल जहां जहां लगेगा वहीं वहीं पर विस्फोट उत्पन्न हो जाया करते हैं। इस अवस्था में इनके ऊपर जस्ते का फूल (Zinc powders) मक्खन में मिलाकर रखने से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

टीका लगाने से लाभ-

मसूरिका और गौ मसूरिका का विष एक है अतः गौमसूरिका को उत्पन्न करके मसूरिका को रोकने के लिये प्रतिविष उत्पन्न कीटाणुओं को सक्षम बनाया जाता है जिससे शीतला निरोधक

शक्ति उत्पन्न होकर चेचक निकलने का भय जाता रहता है।

यदि शीतला का संक्रमण होने के अर्थात् कीटाणुओं के प्रवेश के ४ दिन पीछे तक भी टीका लगा दिया जाय को भी शीतला से रक्षा हो जाती है। क्योंकि इसका परिपाककाल १२ दिन तक होता है अतः ४ दिन के अन्दर अन्दर टीका कर दिये जाने से शीतला निकलने से पूर्व ही उसके विष को उदासीन करने के लिये प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है जिससे विस्फोट (दाने) थोड़े निकलते हैं तथा विशेष कष्ट भी नहीं होने पाता है। अतः टीका लगाना सर्वथा निरापद एवं हानिरहित है। इसके द्वारा कभी भी किसी प्रकार का भय करना नितान्त भूल है। यह विधि विशुद्ध भारतीय और आयुर्वेद सम्मत है। जो लोग इसे पाश्चात् एल्लोपैथिक की देन समझते हैं उनकी यह निरी भूल है।

—श्री खूबचन्द मिश्र वैद्यशास्त्री
भुण्डपुरा (मुरैना) म. प्र.

एक स्वानुभूत प्रयोग

नीम का बान्दा घिस कर देह में लेप करें। कुछ थोड़ा पिला देवें तथा धुवां भी कर देवें। एकदम घबड़ाया हुआ रोगी कुछ घण्टों में ही शांति अनुभव करने लगता है। ग्रामीण गुरुजनों का कथन है कि इसको अग्नि में जलाकर घर के प्रत्येक कमरे के कोने में धुवां देकर बाहर फेंक दें और इसकी छोटी सी लकड़ी घर के मूल दरवाजे में खौंस देवें तो घर में रहा भयंकर जिही भूत भाग जाता है, पुनः मकान में प्रवेश नहीं कर पाता।

माता के समय इसकी लकड़ी चन्दन के समान घिसकर पिलाते रहने से माता की निकासी रुक जाती है।

—श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद
खलारी भीमखोल (रायपुर)

शीतपित्त [Urticaria]

श्री ज्ञानचन्द्र जैन A. M. B. S., H. P. A. (Jam.)



बाल्यावस्था का जीवन उन्मुक्त एवं स्वच्छन्द होने के कारण बालक निश्चित रूप से मनोनुकूल आहार विहारादि करते हुए अपने को आनन्द-मय बनाये रखता है। इस अवस्था में बालक के शरीरांगवयव भी मृदु ही रहते हैं और इसी कारण उस पर जलवायु एवं ऋतु परिवर्तन का प्रभाव भी मनुष्य की अपेक्षा शीघ्र हो जाता है। जीवन के इस शैशव काल में माता पिता का स्नेह भी उसे पूर्णरूपेण प्राप्त होता है। इस कारण बालक के मिथ्याहारविहार करने पर भी स्नेहवशात् उस पर नियन्त्रण नहीं किया जाता है। अतएव बालकों को होने वाली व्याधियों में प्रकृति परिवर्तनजन्य शीत एवं उष्णता से मिश्रित रूप में उत्पन्न होने वाला रोग पित्ती उद्बलना सर्वसाधारण रूप में पाया जाता है। इसकी शास्त्रीय संज्ञा शीतपित्त है। व्याधि के विषय में विचार करते समय व्याधि ज्ञेय किंवा बालक को समझ लेना परमावश्यक है।

शिशु शास्त्र के आचार्य महर्षि जीवक ने अपने तन्त्र 'काश्यपसंहिता' में आयु को यौवन, मध्यम एवं वृद्ध इन तीन अवस्थाओं में विभक्त करते हुये यौवनावस्था को ३४ साल तक सीमित किया है। पुनः यौवनावस्था में भी १६ वर्ष तक की अवस्था को बाल्यावस्था की संज्ञा प्रदान की है। हमारे विचारणीय क्षेत्र बालक की बाल्यावस्था की भी आचार्य जी ने विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है—

बाल्यावस्था को गर्भ, बाल तथा कुमार इन तीन भागों में विभक्त किया गया है^२—

१ वयस्त्रिविधा
वर्षमानैश्चतुस्त्रिंशद्युवा वर्षाण्युदकतः ॥

—का० सं० खिलस्थान अ० ६/७१

२ गर्भबालकुमाराख्यमित्येतद्विविधं वयः।

—का० सं० खिलस्थान अ० ६/७२

गर्भावस्था—इस विषय में स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।

बाल अवस्था—एक वर्ष तक अथवा जब तक शिशु केवल दुग्धाहार पर जीवन यापन करता है उसे क्षीरप अथवा बाल कहते हैं।^१

कुमारावस्था—इसके बाद अन्न सेवन प्रारंभ करने के समय से लेकर १६ साल तक की अवस्था कुमारावस्था कहलाती है।^२

लगभग इसी तरह का विवरण सुश्रुत^३ एवं चरक^४ में भी प्राप्त होता है।

रोग प्राप्ति—

व्याधि की संम्प्राप्ति के विषय में बृहन्नयी (चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट) में विवरण प्राप्त नहीं होता। लघुनयी में दृष्टिपात करने पर भावप्रकाश एवं माधवनिदान में उल्लेख मिलता है। माधवकर जी निम्न विवरण देते हैं—

शीतल वायु के स्पर्श से कफ और वायु प्रकुपित होकर (अपने हेतु से) पित्त के साथ मिलकर त्वचा तथा आंतरिक रक्तादि धातुओं में फैलकर शीतपित्त उत्पन्न करते हैं।^५

उक्त विवरण को सरलता से समझने के लिए

१ वर्षावर क्षीरपः स्यादावत् पित्ति वा पयः।
वयस्तद्बालम् ॥

—का० सं० खिलस्थान अ० ६/७३

२ अस्मान् यवत् षोडशवार्षिकः।
अन्नादः सर्व एव स्यात् कौमारे वयसि स्थितः ॥

—का० सं० खिलस्थान अ० ६/७४

३ वयस्तु त्रिविधं ... परतो अन्नाद इति।

—सुश्रुत सूत्रस्थान अ० ३५

४ चरक संहिता विमान स्थान अ० ८/१२४

५ शीतमारुतसंस्पर्शपिदुष्टौ कफमारुतौ।

पित्तौ सह सम्भूय वहिरन्तर्विसर्पतः ॥

—मा० नि० ५०-१

हम इसे व्याधि उत्पन्न होने के लिये आवश्यक ७ मूल भूत वस्तुओं एवं ६ अवस्थाओं में विभक्त करेंगे—
आवश्यक मूलभूत वस्तुयें

१. उद्भव—नाभि, २. संचार—रसायनी, ३. स्रोत—रक्तवह, ४. अधिष्ठान—त्वक्, ५. दोष—पाचकपित्त, क्लेदक कफ, समानवायु, ६. दूष्य—रस, रक्त, ७. सम्मूर्च्छिता जनित द्रव्य—आम ।

अवस्थायें

१. संचय, २. प्रकोप, ३. प्रसर, ४. स्थान-संश्रय, ५. व्यक्ति और ६. भेद ।

(१) संचय—मिथ्याहार विहार रूप पित्तवर्धक द्रव्यों के सेवन से अग्निमांघ हुआ । अग्निमांघ के कारण आमोत्पत्ति हुई । मिथ्याहार विहार पित्तल होने से पित्त कुपित हुआ और यही पित्त आगन्तुक दोष हुआ । इसके साथ अग्निमांघजनित आम का सम्मिश्रण हो जाने से इसकी संज्ञा साम-दोष हो गई । अग्निमांघ के कारण आमाशय में स्रोतो वैगुण्य हो जाने से आमदोष यहां संचित हो गया । संचय के साथ ही यहीं पर प्रकोपावस्था का भी उद्भव हुआ ।

(२) प्रकोप—पूर्व कथनानुसार इस अवस्था का उद्भव भी आमाशयस्थल है । चूंकि यह नाभि प्रदेश में आने से उद्भवस्थान नाभि माना गया है ।

(३) प्रसर—कुपित हुए सामदोष ने शरीर में रसानियों द्वारा प्रसार करना प्रारंभ किया और प्रसरित होते हुए रक्तवहस्रोतों तक पहुंचे ।

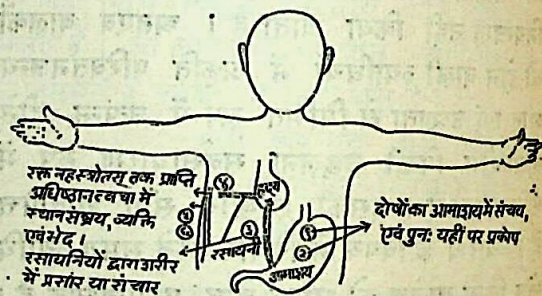
(४) स्थानसंश्रय—प्रसरित होते हुए दोषों ने शरीर में अवयव वैगुण्य के स्थान पर निवास अथवा स्थान संश्रय किया । अवयव वैगुण्य त्वचा में होता है तथा यही रोगाधिष्ठान भी है ।

(५) व्यक्ति—अवयव वैगुण्य (त्वचा) गत स्थान पर आगन्तुक दोष स्थानिक दोष एवं दूष्य से सम्मूर्च्छित होकर व्याधि को व्यक्त करते हैं । प्रथमतः त्वचास्थित स्थानीय सूक्ष्म रक्तशेकाओं

का विस्तार होता है । पुनः नाड़ी प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा त्वचा संबद्ध रक्तवाहिनियों का भी विस्तार होकर उनकी भित्तियों की प्रवेश क्षमता में वृद्धि होकर रक्त रस की वृद्धि द्वारा त्वचा में वरटीदंष्ट (ततैया काटने) सदृश शोथ उत्पन्न हो जाता है ।^१

लक्षण —

व्याधि असहनीय कंड्वयुक्त मंडलों द्वारा पहि-चानी जाती है । इसमें शोथ के साथ खुजली, वमन, ज्वर तथा विदाह के लक्षण परिलक्षित होते हैं ।^२ ये मण्डल गोल अथवा अण्डाकार तथा वायु की अधिकता के कारण शुष्क होते हैं, त्वचा को खरोंचने पर केन्द्र में श्वेत हो जाते हैं तथा कुछ धंटे रहते हैं^३ ।



चित्र नं० १००

शीतपित्त की संप्राप्ति

(६) भेद—स्थानिक दोष की प्रधानतावश उसी

^१ Local and direct dilatation of minute skin vessels; dilatation of the larger vessels by nervous reflex with flushing of the adjacent skin, local increased permeability of the vessel walls, leading to exudation of serum.

—Savil's System of clinical Medicine

^२—वरटीदंष्ट संस्थानः शोथः संजायते वहिः ।

सकंडूतोद बहुलश्चर्दिज्वर विदाहवान् ॥

वाताधिकतमं विधाच्छीतपित्तमिदं भिषक् ॥

भा. प्र. म. खं. चि. दा३४-३

^३ Urticaria is a generalised eruption which consists of firm round or oval, pink

के लक्षण व्याधि में मिलेंगे। चूंकि शीतपित्त में वायु प्रधान होने से इसका शोथ रूक्ष एवं चुभन-युक्त होता है और कफ प्रधान होने से उर्द्व में बुक होता है और कफ प्रधान होने से उर्द्व में बुक होता है और कफ प्रधान होने से उर्द्व में बुक होता है। यही बुजली व वमन के लक्षण प्राप्त होते हैं।^१ यही विशिष्ट संप्राप्ति के द्योतक हैं। इससे पूर्व की अवस्था सामान्य संप्राप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट होती है।

चूंकि शीतपित्त त्रिदोषजन्य होता है अतः इसमें आमशयस्थ उद्भव के कारण पाचकपित्त, स्नेहक कफ, समान वायु ये दोष तथा रस और रक्त ये दो दूष्य कार्य करते हैं। यहीं पर आयुर्वेदिक अंशांश कल्पना का संकेत मिलता है।

प्रकार-

(१) तीव्र—यह कुछ घण्टों अथवा दिवस तक रहता है।

(२) तीव्र—इसका आक्रमण पुनः पुनः होता रहता है।

(३) कोठ एवं उत्कोठ—रक्त वर्ण के कण्डूयुक्त अनेक चकत्ते त्वचा पर पड़ जाते हैं। यह अधस्त्वक् धातु तक विस्तार करते हैं। यदि जिह्वा अथवा सरयंत्र पर उत्पन्न हो जाय तो जीवन अरक्षित हो जाता है। अर्चाचीन भाषा में इसे *Angioneurotic Oedema* या *Giant urticaria* कहते हैं।^२ यही स्थिति बार बार उत्पन्न होती रहे तो

swellings, white in Centre when scratched.

—Savil's System of Clinical Medicine
Page 787 (1952)

१—वाताधिकं शीतपित्तमुर्द्वस्तु कफाधिकः।

—मा० नि० १०४

२ *Angioneurotic oedema* or *Giant urticaria* has very large swellings involving the loose subcutaneous tissue. Each lesion may last a few hours or days. There may be danger to life, especially when the mucous membrane of the tongue or larynx is involved.

—Savil's System of Clinical Medicine
Ed. 1952 (Page 787.)

उत्कोठ संज्ञा में परिवर्तित हो जाता है।^१

(४) शिशुओं को होने वाली स्थिति इस प्रकार है—

Lichen urticatus or *papular urticaria* affects infants and young children. Red transient blotches appear with a central papule, very itchy, which lasts several days. Occasionally it has a vesicle or a bulla on the top (bullous urticaria).

—Savil's System of Clinical Medicine
(P. 737)

चिकित्सा—

संप्राप्ति के वर्णन से ज्ञात होता है कि शीतपित्त में त्रिदोषजन्यत्व रहता है। अतएव कफ पित्त एवं वात तीनों का शमन चिकित्सा का उद्देश्य होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से भावप्रकाशकार श्री भावमिश्र ने चिकित्सा का विधान किया है।^२

पंचकर्म—वमन विरेचन प्रशस्त हैं।

१. वमन-शीतपित्त की शांति के लिये पटोल, अरिष्टक एवं वासा द्वारा वमन कराना चाहिए। मदनफलयोग ३ से आध तोला श्रेष्ठ है।

२. पित्तशमन हेतु स्नेहन व स्वेद—त्रिफला व

१ मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च।

उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥

—मा. नि. १०१६

२. शीतपित्तो तु वमनं पटोलारिष्ट वासकैः।

त्रिफलायुवकृष्णाभिर्विरेकश्च प्रशस्यते ॥

अभ्यंगः कटुतैलेन सेकरचोभ्येन वारिणा।

त्रिफला चोद्वहंयुक्तां खादेश्च नवकार्षिकम् ॥

नवकार्षिको यथा—

त्रिफलायुवकृष्णानां त्रिपञ्चैकांशयोजिता।

गुटिका शीतपित्ताशौ भगन्दरवतांहिता ॥

आद्रकस्य रसः पेयः पुराणगुडसंयुतः।

शीतपित्तापहः श्रेष्ठो बलिमांघविनाशनः ॥

भावप्रकाशमध्यमखण्ड चिकित्सा प्रकरण

शीतपित्तोर्द्वकोठ — ८५४



पिप्पली द्वारा विरेचन प्रशस्त है। विरेचन कषाय उत्तम है।

३. कटु (सर्षप) तेल का अभ्यंग करके उष्ण जल से सेंक करना चाहिए।

४. नवकार्षिक का सेवन त्रिफला एवं मधु के साथ करना चाहिए।

५. आर्द्रक का रस पुराने गुड़ के साथ पीना चाहिये। यह शीतपित्तनाशक श्रेष्ठ योग है।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त शास्त्रीय योगों का निर्देश यह है—

[१] हरिद्राखण्ड-आधा तोला मात्रा, अनुपान उष्ण जल। एक सप्ताह तक प्रातः सायं सेवन करें।

[२] बृहद्धरिद्रा खण्ड-आधा तोला उष्ण जल से।

[३] आर्द्रक खण्ड का सेवन उपयुक्त है।

[४] शीतपित्त भंजन रस—२ रत्ती गुड़ के साथ दें।

इस औषधि के सेवनकाल के समय शीतल जल स्नान, वायु सेवन, जागरण एवं विदाही अन्न का प्रयोग निषिद्ध है।

[५] विश्वेश्वर रस—मात्रा १ माशे मधु से।

[६] श्लेष्मपित्तांतकोरस—मात्रा १ माशे शकर तथा शहद के अनुपान से।

उपर्युक्त योगों का पाठ भैषज्य रत्नावली में उद्देशशीतपित्त कोठ चिकित्सा प्रकरण में है।

अर्वाचीन मतानुयायी शीतपित्त या urticaria में विशेष हेतु अनूर्जता (Allergy) को मानते हैं और उनके विज्ञान के अनुसार अनूर्जताजन्य प्रतिक्रिया से देह हिस्टामिन (Histamine) नामक द्रव्य प्रसरित होकर शीतपित्त उत्पन्न करता है। अतएव अर्वाचीन चिकित्सक प्रायः हिस्टामिन विरोधी औषधियाँ [Antihistaminic drugs] उपयोग में लेते हैं। यथा—^१

^१ Benadryl (50 mg. T. D. S. followed by a course of injections of Lertigon), Antistin, Anthisan and Phenergan. After a time these

(१) Benadryl Capsules 50 mg. दिन में ३ बार। इसके साथ ही Lertigon का सूची-वेध भी देना चाहिए।

(२) Antistin tablets or Injections.

(३) Anthisan.

(४) Phenergan.

परंतु इन औषधियों के सतत प्रयोग करने पर इनका प्रभाव कम हो जाता है और नवीन लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। अतः इनको रोकने के लिये Ephedrine, Caffeine या Benzedrine का प्रयोग करना चाहिये।

प्रयोग—१ औंस जल में ५ से १० बिंदु Adrenaline डालकर वाष्प सेवन से लाभ होता है। अथवा Ephedrine $\frac{1}{2}$ से ३ gr. पेशीगत सूची-वेध भी लाभप्रद सिद्ध होता है।

बाह्य प्रयोग में Soda bi Carb. मलने पर पर्याप्त लाभ होता है।

स्वानुभूत—

प्रबाल पंचामृत, स्वर्णमाक्षिक, लौहभस्म, सूत-शेखर रस का योग वय के अनुसार निर्माण कर दिवस में ३ बार मधु के साथ सेवन करना चाहिए। यद्यपि यह योग शास्त्र में नहीं मिलता, परंतु युक्ति योजना द्वारा व्यवहारिक रूप में शारीरिक बल एवं क्षमता वृद्धि हेतु उत्तम कार्य करता है और लाभदायक प्रतीत हुआ है।

अभ्यङ्ग योग—

कायफल, गेरू, सोंठ, अजवायन, बच, मंथी

drugs becomes less effective. When side reactions follow, give small doses of Ephedrine, Caffeine or Benzedrine. Urticaria can be aborted by 5 to 10 drops of adrenaline in one ounce water, or Ephedrine gr. $\frac{1}{3}$ to $\frac{1}{2}$ twice daily.

—Savil's System of Clinical Medicine
Page 789.

इन द्रव्यों को समान मात्रा लेकर कूट पीसकर चूर्ण बनाकर तिल तैल में पाक करना चाहिए। इससे स्वेदागमन होकर रोगी को तत्काल शान्ति का अनुभव होता है। अभ्यङ्गकाल में वात स्पर्श सर्वदा निषिद्ध है। रोगी को कम्बल से ढककर बन्द कमरे में ही अभ्यङ्ग करना चाहिए। स्वेदागमन होने पर तत्काल तौलिया से पसीना पौछ देना चाहिये। इस प्रकार पसीना आते रहने तक पौछते जाय। जब पसीना आना बन्द हो जाय तब रोगी के कपड़े बदल देना चाहिये। यह अभ्यङ्ग दिवस में दो बार प्रातः एवं सायंकाल करना चाहिए।

यह अभ्यङ्ग छोटी आयु के शिशु को असह्य होगा। अतः उन्हें सर्प तैल में पिपरमेंट डालकर अभ्यङ्ग करने से ही यथोचित लाभ होगा।

उपर्युक्त चिकित्सा के साथ ही यदि अत्यन्त शीघ्र लाभ प्राप्त करने की आकांक्षा हो तो Adre-
no-ephedrine $\frac{1}{2}$ gr. का पेशीगत सूचीवेध देना चाहिए।

—श्री ज्ञानचन्द्र जैन A., M. B. S.
H. P.A. (Jam.), अनुसंधान विभाग
शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय,
ग्वालियर (म० प्र०)

शीतपित्त

कविराज श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री एम. ए. वैद्यवाचस्पति

परिभाषा—

साधारण भाषा में इस रोग को पित्ती उल्ललना कहा जाता है। शास्त्रीय संज्ञा 'शीतपित्त' है। इस रोग में प्रथम तीव्र खाज (कंझू) होती है। वह लाल, या पीत या भूरे (कपिल) वर्ण का गोल या अण्डाकार शोथ उत्पन्न हो जाता है जो दबाने पर कठोर प्रतीत होता है। यह कभी कभी गांठदार भी हो जाता है। कभी कभी शोथ या चकत्ते, पित्ती या गांठों का प्रभाव भी पाया जाता है। किन्तु सुई पिन तिनका या नाखून से खुजलाने पर तुरन्त बह रुसेध उत्पन्न हो जाता है। यह रुसेध (उठाव, शोथ) इस प्रकार का होता है जैसा कि बरं (ततैया) के काटने पर हो जाता है। आचार्यों ने इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

वरटी दंष्ट संकास, शोथः संजायते बहिः।
सकृद्दूरतोद बहुलच्छदि ज्वर विदाहवान्॥
उदरमिति न विधात् शीतपित्तमथापरे।

—माधव

यहां पर उदर तथा शीतपित्त को एक ही रोग

समझ लिया जा सकता है। अतः इस भ्रम के निराकरणार्थ तुरन्त ही आचार्यों ने उनका भेद भी बता दिया है—

वाताधिकं शीतपित्तमुदरंस्तु कफाधिकः॥

अर्थात् शीतपित्त में वात की अधिकता होती है जबकि उदर में कफ की। इसलिये शीतपित्त जिस तीव्र गति से आता है उसी गति से शान्त भी हो जाता है। इसके पुनः पुनः वेग होते रहते हैं। उदर मन्दगति, अधिक शोथ वाला तथा अधिक कठोर होता है। यह प्रायः बचपन में ही प्रारंभ होता है किन्तु कभी कभी युवावस्था में भी होता है।

निदान—

शीतमारुत संस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ।

पित्तेन सह संभूय बहिरन्तः विसर्पतः॥

शीतपित्तं तु कुर्वन्ति कण्डूस्त्वोद वमनात्मकम्॥

वात तथा कफ शीत तथा शीतवायु के स्पर्श से दुष्ट हो जाते हैं और पित्त के साथ मिलकर देह में स्रोतों में भ्रमण करते हुए बाहर (त्वचा में) एवं अन्दर (आन्त्र आमाशयादि की कला में) शीत-



पित्त उत्पन्न कर देते हैं। इसमें कंड़ू, तोड़ (सुई चुभने की सी पीड़ा) तथा कभी कभी वमन हो जाता है।

आयुर्वेद ने सूत्र रूप में उक्त निदान कह दिया है। नव्य विज्ञान उसीका भाष्य कर देता है। सम्यक्तया समझने के लिये यह भाष्य अत्यन्त आवश्यक है। अतः उसे यहां दिया जाता है। सम्प्राप्ति तथा निदान दोनों का ही समावेश इसमें हो जाता है।

जब किसी भी कारणवश (बाह्य या आन्तरिक) त्वचा को क्षोभ [आघात] पहुंचता है तो वात नाडियों तथा रक्त वाहिनियों की प्रतिक्रियास्वरूप शीतपित्त का उत्सेध उत्पन्न हो जाता है।

त्वचा में संक्षोभ उत्पादक कारण बाहर से स्पर्श में तथा अन्दर से भक्षण करने के पश्चात् भी अन्तः विष (Internal toxæmia) के रूप में रोगोत्पादक हेतु बनते हैं। यह कारण रासायनिक पदार्थ उष्णता उत्पादक विद्युत तथा मशीनों के कल पुर्जे, धूल, धूम्र आदि होते हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (Allergy) के रूप में यह कारण त्वचा को प्रभावित कर निम्न प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न करते हैं—

(१) स्थानीय सूक्ष्म रक्त वाहिनियों का विस्तार।

(२) वातनाडियों को प्रभावित कर बड़ी रक्त वाहिनियों को विस्तृत करना तथा आसपास की त्वचा को भी लाल कर देना।

(३) स्थानीय प्रभावित रक्तवाहिनियों की प्रवेश क्षमता को प्रभावित करना जिससे रक्त में से कुछ अंश (सीरम) निकलकर आसपास फैल जाता है। इस प्रकार यह शीतपित्तीय उत्सेध बन जाता है।

बाह्यकारण—

[१] शीतता, उष्णता, स्नान, तीव्र धूप, विद्युत तथा मुष्टि आघात आदि।

[२] कीटदंष्ट्र—खटमल, मच्छर, टीढ़ी आदि के दंष्ट्र।

[३] किन्हीं पुष्प, वृणादि विशेष की गन्धादि।

अन्तःकारण—

[१] मानसिक तथा वातनाडियों को प्रभावित करने वाले भाव, क्रोध, भयादि।

[२] असात्म्यता—व्यक्तियों तथा परिवारों में भी किसी विशेष वस्तु के प्रति असहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। यह जन्मजात होती है। श्वास विचर्चिकादि रोग भी इससे उत्पन्न हो जाते हैं।

अनेक भोज्य पदार्थों से भी यह असात्म्यता उत्पन्न होती देखी गई है।

[३] दुष्ट आहार—यथा सड़े गन्दे मांस, मछलियां, अण्डे, फल, भाजी आदि—इससे अन्न तथा आमाशय में विष उत्पन्न हो जाते हैं। जिनसे क्षुब्ध हो कर शीतपित्त उत्पन्न हो जाता है।

[४] उदर कृमिजन्य—चुरवे, बन्ध तथा स्कीति कृमि भी तथा उनके अण्डे भी यह रोग उत्पन्न करते हैं। इन कृमियों के निकाल देने पर यह रोग चला जाता है।

[५] संक्रामक कीटाणु—पुराना कर्णसाव नासा-साव, तथा दूटे और खार हुये दांत भी शीतपित्त उत्पादक सिद्ध हो चुके हैं इनकी उचित चिकित्सा करने पर यह रोग नष्ट हो जाता है।

[६] किन्हीं औषधियों के दुष्प्रभाव से भी शीतपित्त हो जाता है।

[७] अधिक तम्बाकू खाने या पीने से।

[८] विरल तथा बस्ति (Ememata) देने के पश्चात् 'बस्ति' के द्रव्यों की प्रतिक्रियास्वरूप यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

भेद—

(१) क—तीव्ररूप—यह तीव्र वेग से होता है। तथा कुछ घंटों में या दिनों में ही समाप्त हो जाता बार बार इसके वेग आते हैं।

ख—जीर्ण रूप में यह बारबार आता है तथा अधिक समय तक रहता है।

(२) शिशु शीतपित्त—यह प्रायः बच्चों को तथा कुमारों को होता है। इसमें तीव्र कण्डूयुक्त लाल पित्ती उछल आती है जो प्रायः कई दिनों रहती है।

(३) वातनाडीज संक्षोभज—इसमें उत्सेध या शोथ बहुत बड़ा होता है तथा त्वचा के साथ साथ मांस आदि धातुओं को भी प्रभावित करता है। प्रत्येक उत्सेध कुछ घंटों से कुछ दिनों तक रह सकता है। यदि इस उत्सेध में श्लेष्मिककला भी दूषित हो जाये तो जीवन को भी भय हो जाता है।

(४) सवर्ण शीतपित्त—सूचीवेध द्वारा सीरम देने पर यह प्रकार उत्पन्न होता देखा गया है।

पूर्वरूप—

पिपासाश्चिह्नलास सादांगगौरवम् ।
रक्तलोचनता, तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥

प्यास लगाना, अरुचि, जी मिचलाना, शरीर में मिथिलता, काम करने की अनिच्छा, अंगों में भारीपन, नेत्रों का लाल होना—यह पूर्वरूप हैं।

लक्षण—

लगभग एक वर्ष की अवस्था से ही शीतपित्त बच्चों में प्रारम्भ हो जाता है। यह रोग गुप्तरूप में अथवा सहसा ही उत्पन्न होता देखा गया है। शीतपित्त के उत्सेध से पूर्व लाली आ जाती है। पुनः उत्सेध उत्पन्न हो जाते हैं। ये साधारणतया गांठ के रूप में भी पाये जाते हैं। एक रोगी में उत्सेधों का स्वरूप तथा परिमाण एक जैसा ही होता है। यद्यपि विभिन्न रोगियों में इसका स्वरूप भिन्न भिन्न हो सकता है। सामान्यतः इनका व्यास ४ इंच के लगभग पाया जाता है। विरलतया आधा इंच या पौना इंच भी हो सकता है। स्वरूप में गोल या अण्डाकार अथवा लम्ब के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनकी सीमा सुस्पष्ट होती है। ये गले के चारों ओर या पशुकाओं के ऊपर, वर्ण कपिल या हरिताम, रगड़, गर्मी, ज्वर, भावावेश से इनकी अभिव्यक्ति अच्छी तरह हो जाती है। यदि गुप्त शीतपित्त हो तो भी त्वचा पर रगड़ने से गर्मी, ज्वर, भावावेश से इनकी अभिव्यक्ति अच्छी तरह हो जाती है। यदि गुप्त शीतपित्त हो तो भी त्वचा पर रगड़ने से वह व्यक्त हो जाता है। उत्सेधों के अतिरिक्त सारे शरीर में शोथ भी हो

सकता है। साधारणतः एक बार रोग देखने पर इसे भूला नहीं जा सकता।

साध्यासाध्यता—

यदि शिशु काल में यह रोग हो गया हो तो कुमार अवस्था प्राप्त करते करते प्रायः शान्त हो जाता है। किन्तु कभी कभी ३०-४० वर्ष तक चलता रहता है। आयु बढ़ने के साथ साथ रोग के लक्षण तथा तीव्रता घटती जाती है। प्रौढ़ व्यक्ति को यदि रोग हो जाय तो प्रायः सारी आयु न्यूनाधिक रूप में चलता रहता है। बीच में शान्ति हो जाती है पुनः वेग हो जाते हैं।

चिकित्सा—

निम्न सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) हेतु का परित्याग—यदि कोई पदार्थ बाहर या अन्दर से क्षोभ उत्पन्न कर रहा हो तो इसे सेवन न करना चाहिये। भावावेश, अन्त्रों के विषादि, उदर कृमियों आदि को निकाल देना चाहिये।

(२) शरीर शुद्धि—बमन तथा विरेचन द्वारा १. पटोल पत्र तथा निम्बपत्र और अरिष्टक फल से बमन करानी चाहिये।

२. त्रिफला में पिप्पिली तथा गुग्गुल मिलाकर या त्रिफला काथ में मधु मिलाकर विरेचन करायें।

३. अभ्यंग-अ-कडवा तेल तथा सैन्यव मिलाकर लेप करा दें।

ब-खर्पर विलयन (*Lotio Calamina*) लेप लगाना भी उत्तम है। अथवा कडवे तेल में कर्पूर मिलाकर लेप करें।

सुश्रुतोक्त एलादिगण के चूर्ण से उद्वेष्टन करें।

औषधि चिकित्सा—

उदर कृमियों को निकालने के लिए सिद्धयोग संप्रह का कृमिघ्न चूर्ण प्रयोग में लाना चाहिये।

विडंग, काम्पिल्लक, पलाशबीज और गुड़ मिलाकर ४-४ रत्ती की बटी बना दिन में ४ बार दें।

—शेखर पृष्ठ ३७१ पर।

सहजफिरङ्ग [Congenital Syphilis]

श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी B. A. आयुर्वेदाचार्य A. M. S.

माता या पिता के पापमय घृणित व्यभिचार-परायण जीवन का मूर्तरूप शिशु का सहज फिरङ्ग है। यह आधुनिक सभ्यता का अभिशाप पुरातन काल में नहीं मिलता था। अधिकतर फिरङ्गी बालक अपने गर्भकालीन जीवन में ही फिरङ्ग से पीडित होते हैं तथा बहुत कम ऐसे फिरङ्गी बालकों की संख्या है जो जन्मोत्तर काल में इस रोग से आक्रांत होते हैं। यदि दुग्धप्रदात्री फिरङ्ग पीडिता है तो यह निश्चितरूपेण स्तनपायी शिशु को फिरङ्ग से पीडित कर देती है। इसका उलटा भी देखा जा सकता है। कभी कभी फिरङ्गोपसृष्ट पात्रों या वस्त्रों के सम्पर्क में रहने से भी बालक फिरङ्गपीडित हो सकता है। इन अवस्थाओं में अर्थात् जन्मोत्तर-कालीन उपसर्ग हो जाने पर बड़ों की तरह ही फिरङ्ग की अवस्थायें चलती हैं—१-१॥ मास के पश्चात् प्राथमिक व्रण (Primary sore) उत्पन्न होगा, समीपस्थ लसप्रन्थियां प्रवृद्ध हो जावेंगी। उसके २-३ मास पश्चात् द्वितीयावस्था प्रारम्भ होगी जिसमें त्वक्स्फोट, ग्रणीभवन, मुख और गुद के समीप छत्राकार (Condylomata), गलतोरणिका (Fauces) या स्वरयंत्र का प्रसेक (Catarrh) तथा लसप्रन्थियों में सार्वदैहिक प्रवृद्धि। फिर कुछ वर्ष पश्चात् तृतीयावस्था प्रारम्भ होती है जिसमें अङ्गों का विस्तृत तन्तुर्कर्ष (Diffuse fibrosis of the organs) तथा विषगण्डकों (Gumma) की उत्पत्ति देखी जाती है। आयुर्वेदज्ञों ने—

गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां भ्रुवम् ।

फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरङ्गिण्या प्रसंगतः॥

—भा० प्र०

फिरङ्ग को एक गन्ध रोग माना है तथा फिरङ्गी के अङ्ग संसर्ग-मात्र से ही इस रोग की जो उत्पत्ति बतलाई है वह बालकों पर विशेषतः लागू होती है।

यह तो हुआ बालकों के द्वारा प्राप्त फिरङ्ग (Acquired syphilis) का वर्णन जो प्रायः बहुत कम मिलता है। परन्तु इस प्रकरण में मुख्यतया जिस फिरङ्ग का वर्णन किया जाने वाला है वह है सहज फिरङ्ग, जिसमें जन्म से ही फिरङ्ग का उपसर्ग लेकर माता-पिता के अभिशाप रूप में बालक जन्म लेता है।

गर्भ का उपसर्ग माता वा पिता किसी से भी हो सकता है, परन्तु नियमतः उपसर्ग माता में अपरा में होकर ही होता है—*The foetus may be infected by either parent, but as a rule the infection takes place from the mother via the placenta.* यह भी सम्भव है कि यदि पिता का वीर्य दूषित हुआ तो सीधा पिता के द्वारा भी गर्भ फिरङ्ग से पीडित हो सकता है। किन्तु जब तक शिशु का जन्म होता है तब तक माता भी फिरङ्ग से पीडित हो जाती है और फिरङ्ग निदर्शक 'वासरमेन' परीक्षा माता में भी प्राप्त होने लगती है अतः फिरङ्गी शिशु को जन्म देने वाली माता निश्चितरूपेण फिरङ्ग से पीडित रहती है यह पूर्णतः सत्य है।

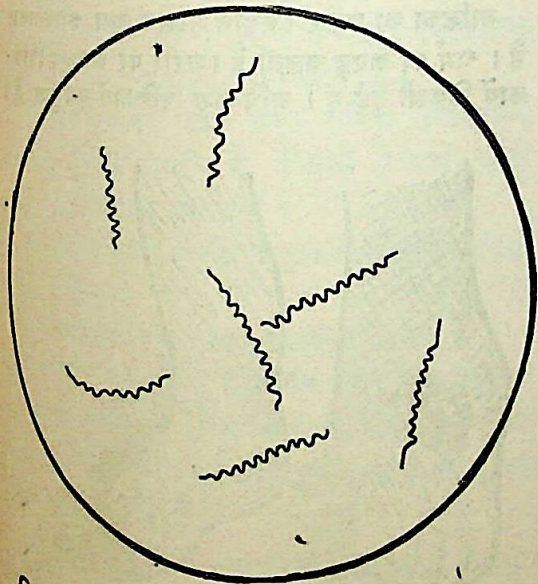
अवस्थाओं पर विचार करने से फिरङ्ग जन्म के पूर्व ही प्रायः शिशुओं में उत्पन्न होने के कारण उसकी प्रथमावस्था (first stage) प्रगट नहीं होती। यदि माता पिता के द्वारा मैथुन क्रिया के सम्पन्न होने के तुरन्त पश्चात् गर्भ को फिरङ्ग का उपसर्ग लग जावे तो निश्चित से वह गर्भाशय में ही (in utero) मर जावेगा तथा तुरन्त गर्भपात (miscarriage) हो जावेगी। उसे मृतगर्भ या मृत-वत्स (still birth) भी कहते हैं। यदि उपसर्ग कुछ देर से हुआ तो शिशु अपूर्णतया (prematurely) जन्म लेगा। इस अवस्था में शिशु के शरीर में फिरङ्ग की द्वितीयावस्था के सब लक्षण मिलेंगे।

शिशु रोगाङ्कः

इस प्रकार के अप्रगल्भ या अपूर्ण शिशु कुछ दिनों या सप्ताहों में मर जाते हैं। पर प्रायः यह बात आमतौर पर मिलती है कि जन्म के समय बालक को कोई भी रोग या शिकायत नहीं होती। पर धीरे-धीरे एक या कई मास पश्चात् फिरङ्ग के अन्य लक्षण प्रगट होते हैं। इन लक्षणों में फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा तृतीयावस्था दोनों के मिश्रण लक्षण देख पड़ते हैं। अर्थात् त्वचा में जहां विस्फोट और गुद में छत्राकार (condylomata) मिलते हैं वहां अस्थिशोथ तथा परिकोषीय यकृद्वाल्चुदर (Pericellular cirrhosis of the liver) भी मिलते हैं। सहज फिरङ्ग में साधारण फिरङ्ग की भाँति द्वितीय एवं तृतीयावस्था को पृथक् पृथक् निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।

हेतुकी—

जैसा कि ऊपर के वर्णन से विदित होगा यह रोग माता-पिता के फिरङ्ग द्वारा उपसृष्ट होने के



चित्र नं० १०१—फिरङ्ग के चक्राणु (T. Pallidum) परिणामस्वरूप ही बालकों में होता है। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि यह रोग फिरङ्ग के चक्राणु (Spirochaeta Pallida) द्वारा होता है,

जिसे फिरङ्ग सुकुन्तलाणु (Treponema Pallidum) भी कहा जाता है।

रोगस्य लक्षणानि—

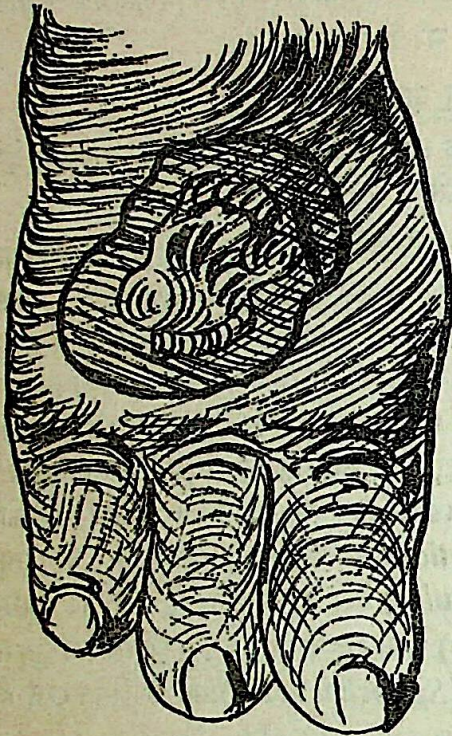
एक सहज फिरङ्गी में अधोलिखित लक्षण देखे जा सकते हैं—

क—सलिङ्गशिशुजन्म—अ—शिशु की लम्बाई स्वाभाविक से कम होती है (undersized)। आ—वह दुर्बल होता है (Puny)। इ—उसकी त्वचा में झुर्रियाँ पड़जाती हैं (Wrinkled skin)। ई—मुख-मण्डल परिशुष्क हो जाता है (Wizened face)। उ—शिशु अति तनु और कृश दिखलाई देता है (thin and wasted)। ऊ—उसके शरीर पर विस्फोट (eruptions or bullae) पूररहित या सपूय (pustules) देखे जा सकते हैं जिनके आधार (base) लाल रङ्ग के होते हैं। उनके स्राव में सुकुन्तलाणु (Spirochaeta Pallida) उपस्थित रहते हैं।

यदि इस समय उचित व्यवस्था की गई तो शिशु के स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार करके विकृत शरीर को प्रकृत बनाया जा सकता है।

ख—जन्मोपरांत लिङ्ग (Symptoms in infancy)—शैशवकाल में फिरङ्ग अनेक प्रकार के लक्षणों को जन्म देती है। उनमें बहुत से जन्म के समय देखे जाते हैं। परन्तु कभी एक ही लक्षण मिलता है। इन लक्षणों को यथाक्रम नीचे दिया जाता है—

१—घ्राणास्राव (Snuffles)—यह एक प्रकार का प्रसेकी स्राव है जो घ्राणकलाशोथ (Rhinitis) के कारण होता है। कभी कभी रक्ताधिक्य (Congestion) तथा अवरोध से नासा इस कदर बन्द हो जाती है कि बालक को श्वास लेना कठिन हो जाता है। यही नहीं बालक को दुग्धपान करने के लिये क्षण भर रुकना पड़ता है, अतः उसके पोषणक-प्राप्ति के कार्य में भी बाधा उत्पन्न होजाती है। घ्राणास्राव जन्म के समय या उसके कुछ सप्ताह पश्चात् प्रगट हो जाता है। उसके साथ साथ



चित्र नं० १०२—फिरङ्ग जनित गलित ब्रण

नासातरुणास्थियों (*Nasal cartilages*) का विनाश (*Necrosis*) भी प्रारम्भ हो जाता है, जिसके कारण नासासेतुनति (*Depressed bridge of the nose*) भी देखी जाती है। यह लक्षण फिरङ्गी बालकों में दूर से ही पहचान लिया जाता है।

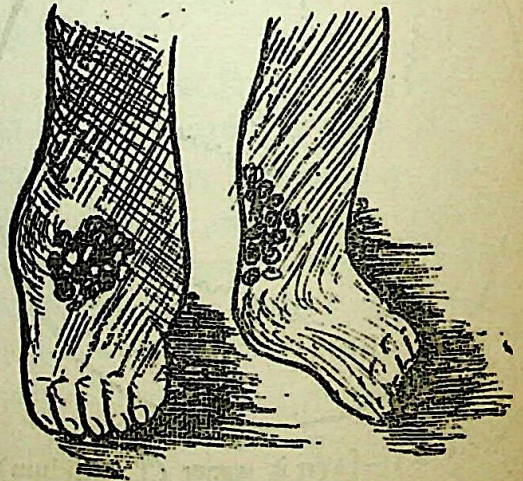
२—स्वरयन्त्र-विद्राधि (*Ulceration of the Larynx*)—प्रायः स्वरयन्त्र भी ब्रणीभूत हो जाता जिसके कारण स्वरकार्कश्य (*Harshness of the voice*) हो जाता है। बालक का गला बैठ जाता है और वह ऊँचे स्वर से रो या चीख नहीं सकता।

३—त्वग्विस्फोट (*skin rashes*) बहुत अधिक देखे जाते हैं। नियमतः इस विस्फोट का आधार एक लाल रंग का विस्फोट (*Blotchy erythema*) है। इसमें त्वचा से छिलके से उतरते हैं। यद्यपि समस्त शरीर की त्वचा का इस परिवर्तन से सम्पर्क रहता है, परन्तु स्फिक्-प्रदेश विशेषतः प्रभावित होता



चित्र नं० १०३—फिरङ्ग जनित त्वक्-विकार

बालिका का शरीर रक्तहीन मलिन तथा शीयतापण है। चर्म पर कण्डू चलती हैं। शरीर पर असंख्य पिडिकायें निकली हुई हैं। अधिकांश पिडिकायें पूंययुक्त हैं।

चित्र नं० १०४—फिरङ्गजन्य श्लीपद
पाद के पृष्ठ प्रदेश, तथा एड़ी के चारों तरफ
श्लीपदाकृति का मांस-पिण्ड हो गया है।

शिरुरोगाङ्कः

दुखा देखा जाता है। पैरों के तलवों तथा हाथों की हथेलियों में भी वे देखे जाते हैं। फिरङ्गजन्य त्वग्वि-
स्फोट और साधारण अहिपूतना (*Napkin rash*)
में अन्तर करना बहुत कठिन बात है। परन्तु अहि-
पूतना का सम्बन्ध उसी भाग से रहता है जहां तक
बालक का गुद वस्त्र (*napkin*) होता है। पर फिरंग-
जन्य त्वग्विकार त्वचागत मोड़ों (*Creases*) से लेकर
गुद पर्यन्त मिलता है। गुद के चारों ओर किनारों
पर विदार बन जाते हैं जो ऐसे लगते हैं मानों किसी
पहिए के आरे (*Spokes of a wheel*) हों। किनारों
के समीप ही अधिच्छद के उन्नत (*Raised*),
धूसर [*Greyish*] भाग या छत्राकार [Condy-
lomata] उत्पन्न हो जाते हैं।

४-ओष्ठ-शोणांक (*Rhagades*)—मुख के
किनारों पर रेखाकार विद्रधियां मुख के कोणों में
उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें आगे ब्रणवस्तु बन
जाती है।

५-कभी कभी शरीर पर बड़े बड़े फफोले पड़
जाते हैं। जिनके अन्दर जल पूर्यय (*Sero-puru-
lent*) द्रव भरा रहता है। इन्हें फिरङ्गी विस्फोटक
(*Syphilitic Pemphigus*) कहते हैं।

६-कभी कभी बड़ी और कठिन पिडिकायें
(*Boils*) निकल आती हैं, जिनमें से कभी कभी
पतला द्रव निकलने लगता है।

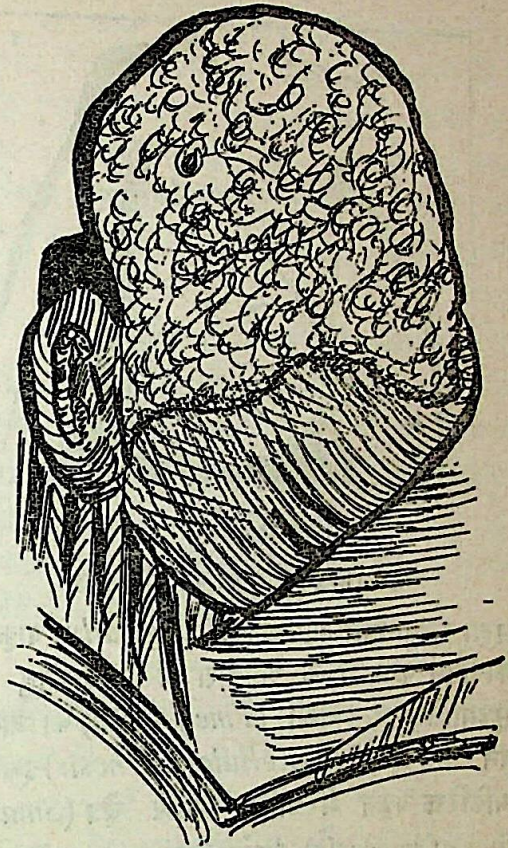
७-कभी कभी चिप्प (*Syphilitic Onychia*)
हो जाता है—

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम् ।

करोति दाहपाकौ च तं व्याधि चिप्पमाक्षिषेत् ॥

इसमें जैसा कि श्लोक से विदित है नख-शय्या
में ब्रणशोथ (*Inflammation*) होता है तथा नख
तक नष्ट हो जाता है।

८-रक्तक्षय (*Anaemia*)—बालक में रक्तक्षय
विशेष मिलता है जो उसके वर्ण को पीला सा कर
देता है। रक्तचित्र देखने से ये द्वितीयक प्रकार का
रक्तक्षय होता है, जिसमें लालकण तथा शोणवर्तुलि
दोनों की संख्या तथा मात्रा प्रायः कम होजाती है।

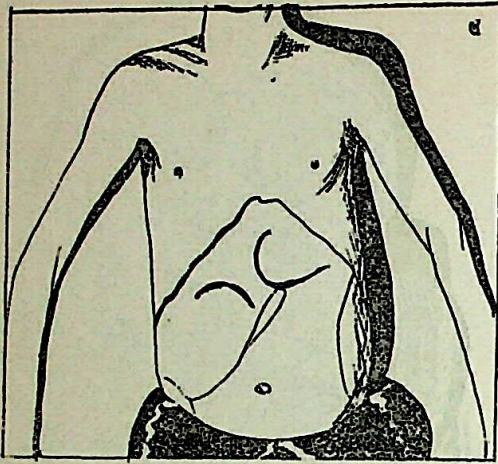


चित्र नं० १०५

फिरङ्गजन्य केशहीनता—रोगीके कपाल और मस्तिष्क पर
असंख्य सर्पपाकार पिडिकायें निकल आई हैं जिनमें
से अधिकांश पूर्ययुक्त हैं। पिडिकाओं के सूखे
हुए स्थान के बाल गिर गये हैं चेहरे
की त्वचा में सलवटे पड़ गई हैं।

९-यकृदभिवृद्धि—यकृत की वृद्धि नाभि
पर्यन्त देखी जाती है। यकृत कठिन, सुचिक्कण
घरातलयुक्त होता है, परन्तु स्पर्शाक्षम नहीं होता।
यद्यपि साधारणतया कामला उत्पन्न नहीं होती,
किन्तु जब यह प्रगट हो जावे तो समझना चाहिए
कि रोग पर्याप्त गम्भीर है। सलिङ्ग उत्पन्न होने
वाले शिशुओं में यह देखा जाता है।

मृत्युत्तर-परीक्षा (*Post-mortem examina-
tion*) करने पर यकृत का वर्ण नीललोहित (*Re-
ddish purple*) या कुछ पांडु दिखलाई देता है।



चित्र नं० १०६

सहज फिरङ्ग में यकृत एवं स्त्रीहा वृद्धि

सूक्ष्म रचना-विज्ञानदृष्ट्या (Histologically) याकृत कोषाओं के बीच के अवकाश में तान्त्वधातु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तुओं (Fine fibrils) का जाल बन जाता है—(Pericellular cirrhosis) इसके अतिरिक्त यकृत में अनेक विनष्ट क्षेत्र (Small foci of necrosis) मिलेंगे जहां लसकायाणुओं (Lymphocytes) का जमघट रहता है। ये असंख्य विषगण्डकों (Miliary gummata) की ओर इङ्गित करते हैं।

१०—स्त्रीहाभिवृद्धि—यह पशुकीय सीमा से २ अंगुल नीचे तक देखी जाती है। यह मसृण (Smooth) होती है, परन्तु पर्याप्त कठिन भी।

११—वृक्क विकार—इस रोग में वृक्कों का भी सहयोग देखा जाता है। जिसका उदाहरण मूत्र में शुक्ति, निर्मोक और रक्त के कणों का पाया जाना है तथा शरीर पर शोथ होना है।

१२—फुफ्फुसोपसर्ग—जिसे श्वेतश्वसनक (Pneumonia alba) कहते हैं—प्रायः बहुत कम देखा जाता है। फुफ्फुस भारी हो जाते हैं, जिसमें स्थान स्थान पर श्वेत घनीभूत क्षेत्र मिलते हैं जो अत्यधिक तन्तुत्वर्क के निदर्शक हैं।

१३—वृषणशोथ (Orchitis)—यह जन्म के कुछ समय पश्चात् मिलता है। इसमें वृषण बढ़ जाते हैं पर उनमें शूल नहीं होता। लक्षण से रोग निदान में बहुत सहायता मिलती है।

१४—तारामण्डलशोथ (Iritis) तथा कर्णुशोथ (Choroiditis) नामक नेत्र रोग देखे जाते हैं।

१५—कभी कभी श्लोषद, तथा कभी कभी केशहीनता पाई जाती है।

१६—वातविकार—इस रोग में अनेक बात विकार भी मिलते हैं जैसे मस्तिष्कच्छदपाक (Meningitis) जिसके कारण कम या अधिक उदकशीर्ष (Hydrocephalus) भी देखा जाता है जिससे सिर का आकार शनैः शनैः बढ़ता चला जाता है। तथा कपाल पर सिरायें फूल जाती हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना जल का पीडन भी बढ़ जाता है। उसमें प्रति घन मि० मी० में सौ के अनुपात से लसकायाणु बढ़ जाते हैं। उसमें वर्तुलि (Globin) बढ़ जाती है तथा वासरमेन की प्रतिक्रिया मिल जाती है। कभी कभी अनुगामी रोगों (Sequelae) के रूप में उद्वेष्टनीय पक्षाघात (Spastic paralysis), धीभ्रम, आवेग तथा पीयूषग्रन्थि का अनियमन विशेष करके मिलता है।

१७—अस्थिविकार—शैशव में लम्बी अस्थियों में फिरङ्ग के कारण अवश्य विकार होते हुये दिखाई देते हैं। ये विकार जन्म के २-३ मास पश्चात् प्रगट होते हैं। विकार लम्बी अस्थियों में विशेष करके देखे जाते हैं। उनमें भी जङ्घास्थि का ऊपरी भाग विशेष प्रभावित होता है। इसमें अत्यधिक शूल उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण पैर उठाना या चलना दुर्लभ हो जाता है। इस कारण इस अवस्था को कूट पक्षाघात (Pseudo-paralysis) नाम भी दिया गया है। परीक्षा करने पर अस्थियों के सिरे अत्यधिक स्पर्शक्षम मिलते हैं तथा उनमें शोथ अत्यल्प होता है। अधिक गम्भीरावस्था में

शिशु रोगाङ्कः

परिवर्तनशील तरुणस्थि (Epiphysis) पूर्णतः पुष्क हो जाती है तथा अस्थिसन्धिरेखा भी विकृत हो जाती है। क्ष-किरणों से एक विशेष प्रकार का चित्र मिलता है। यह चित्र यह भी प्रगट करता है कि जब तक अस्थिविकार के निदान-ज्ञापक लक्षण उत्पन्न होते हैं उससे बहुत पहले अस्थियां विकृत हो जाती हैं। चित्र द्वारा ऐसा प्रगट होता है कि तरुणस्थि की रेखा अनियमित

है वहां से अस्थि में अनेक विरल भाग हुये हैं मानों कि नवनिर्मित अस्थि का कुछ भाग तोड़ कर फेंक दिया हो। अस्थियों में पर्यस्थपाक (periostitis) भी देखा जाता है।

फिरङ्गजन्य प्रवृद्ध-मान अस्थिशिरःपाक (Syphilitic epiphysitis) का निदान क्ष-किरण-चित्र, शूल, गति-हीनता तथा अन्य सहज फिरङ्गी-लक्षणों से ही हो सकता है। परन्तु अस्थिशूल और गति-नाश शैशवीय प्रशीताद (Infantile scurvy) में भी देखा जाता है। दोनों का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है क्योंकि फिरङ्गजन्य लक्षण जीवन के प्रथम छै मासों में मिलते हैं और प्रशीताद बाद के छै महीनों में होती है।

इसी प्रकार शैशवकालीन बहुतीव्र पूर्यीय सन्धि-पाक (Multiple suppurative arthritis) और फिरङ्गजन्य सन्धिपाक में भी पार्थक्य किया जा सकता है क्योंकि पहले में उच्च सन्ताप, तथा गम्भीर अवस्था के साथ सूजन और शूलसन्धियों में होता है जबकि फिरङ्ग का एक भी लक्षण उसमें नहीं मिलता।

अन्य अस्थिगत विकारों में अंगुलिपर्वपाक (Dactylitis) भी प्रायः देखा जाता है। साधारण-तया एक या दो अंगुलियों के ऊपरी पर्वा (Proximal phalanx) पर प्रभाव पड़ता है। जिससे गर्जराकार (fusiform) शोथ उत्पन्न हो जाता है। क्ष-किरण-चित्र से अस्थिपर्यस्थपाक (Osteo-periostitis) की उपस्थिति प्रगट होती है।

फिरंग का प्रभाव करोटि (Skull) की अस्थियों पर भी पड़ता है। कभी अनेक विषगण्डकों के निर्माण से चित्र में कई वैरल्य क्षेत्र (Areas of rarefaction) दिखाई देते हैं, किन्तु अधिकतर स्थानों में अस्थि-स्थौल्य ही बढ़ जाता है।

बाल्यकालीन लक्षण (Symptoms in childhood)

शैशवकालीन लक्षणों के पश्चात् कुछ काल तक फिरंग प्रशान्त हो जाता है। यह शान्ति ६ वर्ष की अवस्था तक चलती रहती है। उसके पश्चात् सहज-फिरंग के शेष लक्षण प्रगट होने लगते हैं। प्रशान्तावस्था में भी शोणमूत्रता (Haematuria), अङ्गुलिपर्वपाक (Dactylitis) तथा आक्षेप (Convulsions) समय समय पर आते रहते हैं। जो यह प्रदर्शित करते हैं कि उपसर्ग-शनैः शनैः प्रवृद्ध हो रहा है।

बाल्यकालीन फिरंग के निम्नाङ्कित लक्षण देखने में आते हैं—

१-अन्तरालीय स्वच्छमण्डलशोथ (Interstitial keratitis)—यह स्वच्छमण्डल (Cornea) के



चित्र नं० १८७

फिरङ्ग जनित पूर्युक्त अस्थि-फिर-शूल अस्थि को विकृत कर उसमें क्षतकर चुके हैं। अस्थि के अन्दर की मज्जा का क्षय हो वह खोखली हो गई है।

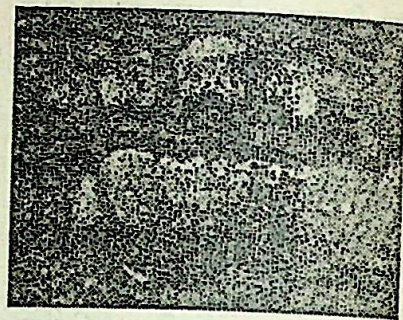


किनारे पर पहले एक गुलाबी धब्बे के रूप में प्रगट होता है। वह धब्बा धीरे धीरे बढ़ता जाता है और थोड़े दिनों में सारे स्वच्छमण्डल को घेर लेता है। इस अवस्था में वह वाष्पीय (Steamy) तथा अपारदर्शक (Opaque) हो जाता है। नेत्रकला (Conjunctiva) में रक्ताधिक्य (Congestion) अधिक मिलता है। यह अवस्था कुछ सप्ताहों तक रहकर फिर स्वच्छमण्डल स्वतः स्वच्छ होने लगता है परन्तु उसका कुछ भाग स्थायीरूप से अपारदर्शक रह जाता है। प्रायः दोनों नेत्रों में यह उपद्रव होता है। पहले एक नेत्र से प्रारम्भ होकर कुछ सप्ताहों में दूसरे में पहुँच जाता है। नेत्रों के पूर्णतया ठीक होने में ३ मास का समय लगता है। इस उपद्रव में सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि वह चिकित्सा निरपेक्ष है। चाहे कितनी ही योग्यतापूर्वक चिकित्सा चल रही हो यह उपद्रव नेत्रों में प्रारम्भ हो जाता है। अधिक गम्भीर रुग्णों में इसके साथ तारामण्डल-पाक (Iritis) भी देखा जाता है। जिसके आगे अभिलागों (Adhesions) के कारण दृष्टिमण्डल (Pupil) विकृत हो जाता है।

जब भी किसी बालक में फिरंग के उत्सर्ग की आशंका हो तो निश्चित रूप से उसके नेत्र की परीक्षा करानी चाहिए और यदि नेत्रदर्शन के कबुर् दृष्टिवितानपाक (Choroido-retinitis) मिले तो निश्चित ही फिरंग रोग है ऐसा मान लेना चाहिए।

(२) दन्तविकृति—फिरंगी बालक के प्रथम दन्तोद्भेद (First dentition) में कोई भी परिवर्तन नहीं मिलता और दांत यथावत् निकलते हैं। द्वितीय दन्तोद्भेद में जब स्थायी दांत उत्पन्न होते हैं तो ऊर्ध्वदन्तु के राजदन्तों (Incisors) में परिवर्तन होता हुआ देखा जाता है जिसके कारण उन्हें हचिन्सनीय दन्त (Hutchinson's teeth) कहते हैं। ये दांत निकलने के स्थान पर पर्याप्त चौड़े (Broader at the base) होते हैं और आगे की नुकीले होते चले जाते हैं और नोंक पर

एक खात (Notch) हो जाता है। यह खातयुक्त दांत सहजफिरंग का प्रमुख चिह्न है परन्तु यह केवल एक चौथाई रेगियों में पाया जाता है। छ. वर्ष की आयु में उत्पन्न चर्बणक दन्त (Molars) भी स्तूपकार (Dome shaped) हो जाते हैं, इन्हें मून के चर्बणक (Moon's molars) कहते हैं।



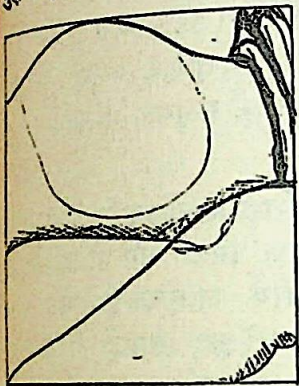
चित्र नं० १०८—हचिन्सनीय दन्त

(३) अस्थिविकृतियाँ—फिरंग की बाल्यकालीन अस्थियों और पर्यस्थियों में शोथ (Ostitis & Periostitis) उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रहती है। यह शोथ काठिन्योत्पादक (Sclerosing) होता है। इस कारण से अस्थियाँ पहले से अधिक भारी हो जाती हैं। ये परिवर्तन कपालास्थियों तथा लम्बी अस्थियों में विशेष देखे जाते हैं। खासकर जङ्घादि (Tibia) पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जङ्घास्थि का मध्य भाग बहुत फूल जाता है और नीचे की ओर वह पतली होती जाती तथा तलवार की सी आकृति उसकी हो जाती है इसीसे उसे खड्गाकृतिका जंघास्थि (Sabre tibia) कहते हैं। रात्रि में सोते समय अस्थियों में अत्यधिक शूल होता है। अचिकित्स्य रुग्णों में विषगण्डकों (Gummate) का निर्माण होने लगता है जो आगे चलकर फूट जाते हैं तथा कालिक आस्रावी नाडीन्रणों (Chronic discharging sinuses) का रूप धारण कर लेते हैं। ठीक ऐसे ही परिवर्तन करोटि (कपाल) की अस्थियों में होते हैं नासास्थियों (Nasal bones) तथा ताल्वस्थियों (Hard palate) का नाश साधारणतया मिलता है जिसके कारण पहले से नासासेतुनति (Depression of

शिशिरोगाङ्कः

the nasal bridge) और दूसरे से तालुका नासा में छिद्रण (Perforation into the nose) होता जाता है साथ ही अत्युग्र गन्धवान् नासास्राव होता जाता है जिसके अन्दर खुरंट भी जम जाते हैं।

(४) सन्धिगत विकृतियाँ-सन्धियों की श्लैष्मिक गुहाओं (Synovial cavities of the joint)



में शूलरहितजल संचय (Painless effusion) पाया जाता है। यह विकृति दोनों जानु-सन्धियों में पायी जाती है इसे क्लटन सन्धियां (Clu-

utton's joints) कहते हैं। चिकित्सा करने से यह उपद्रव दूर हो जाता है। छोटी सन्धियों में आमवाताभ सन्धिशोथ (Rheumatoid arthritis) के सदृश भी शोथ देखा जा सकता है।

(५) आङ्गिक परिवर्तन (Visceral changes)—शनैः शनैः यकृतभिष्टृद्धि होने लगती है जो नाभि पर्यन्त पहुंचती है। यह स्पर्श करने पर छठिन होती है। यकृत के किनारे गोल हो जाते हैं। उसकी सीमा विषगण्डकों तथा अनेक व्रणवस्तुओं के निर्माण से अवखातित (Notched) और विष-यतल हो जाती है, इसमें न तो जलोदर (Ascites) और न पाण्डु (Jaundice) ही देखा जाता है। चिकित्सा करते रहने से यकृत का आकार बृद्ध होने लगता है। आकार केलघु होने का क्या अर्थ है नहीं कहा सकता। इसका अर्थ उसके क्षय होने या तन्तूकर्ष के संकोच दोनों को लिया जा सकता है। यकृत के साथ साथ प्लीहाभिष्टृद्धि भी होने लगती है। यह भी बढ़कर नाभि तक

पहुंचती है। स्पर्श से कठिन परन्तु स्पर्शाक्षम नहीं होती। सीहावृद्धि का कारण विषगण्डकोपत्ति न होकर तन्तूकर्ष समझना चाहिये।

इस रोग का प्रभाव वृक्कों पर भी पड़ता है। तभी तो श्वितिमूत्रता, निर्मोकोपस्थिति (Presence of casts) और कभी कभी शोणमूत्रता भी हो जाती है। शैशव में वृक्कों पर फिरंग के प्रभाव के कारण तीव्र वृक्कपाक (Acute nephritis) होता है पर बाल्यावस्था में जो लक्षण होते हैं वे प्रवृद्ध-वान् वृक्कय तन्तूकर्ष (Progressive renal fibrosis) के कारण होते हैं। थोड़ी थोड़ी देर पश्चात् शोणवर्तुलिमेह (Haemoglobinuria) होता हुआ देखा जाता है। वासरमेन प्रतिक्रिया बाल्यकाल में सदैव मिलती है। मूत्र का वर्ण लाल होता है और रासायनिक परीक्षाओं से उसमें रक्त की उपस्थिति सिद्ध होती है। बालक को अधिक सर्दी लगने से ये विकार उत्पन्न होते हैं और चिकित्सा से दूर हो जाते हैं।

(६) श्रोत्रविकार-बाल्यकाल के उत्तर काल में उत्तरोत्तर बधिरता बढ़ती जाती है। क्योंकि इसमें आठवीं शीर्षण्या नाड़ी में विकृति देखी जाती है। पर यह उपद्रव बहुत कम दिखाई देता है।

(७) वातिक फिरंग (Neuro-syphilis)—बाल्यकालीन सहज फिरंग में कैशोर सर्वाङ्गघात (Juvenile general paralysis) कैशोर पंचकाश्य टेबीज (Juvenile tabes) तथा बहुत ऐसे रक्तविकार-प्रदर्शक लक्षण जो घनास्रोतर्षजन्य (Thrombotic) होते हैं-भी पाये जाते हैं। कभी कभी केवल एक ही शीर्षण्या नाड़ी (Cranial nerve) आघातित होती है और कभी बहुत बड़े पैमाने पर पक्षाघात या आक्षेप के आक्रमण देखे जाते हैं। चिकित्सा करने से प्रायः रक्तविकार शांत हो जाते हैं, पर पूरी तरह न जाकर कुछ अवशिष्ट घात (Residual paralysis) रह जाता है। वातिक लक्षणों का प्रारंभ और अकस्मात् हो जात



है। उससे पहले प्रायः रोगियों में फिरंग के अन्य लक्षण मिलते भी नहीं हैं। शैल्डन ने एक ११ वर्षीया लड़की का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उसे उसके पूर्व फिरङ्ग का एक भी लक्षण नहीं प्रकट हुआ था। एक दिन सिनेमा में उसे चक्कर (Giddiness) आने लगे। एक घंटे पश्चात् वह मूर्च्छित हो गई और ६ घंटे पश्चात् जब वह होश में आई तो उसे पक्षाघात (Hemiplegia) तथा अर्द्धाङ्ग संज्ञानाश (Hemianaesthesia) हो चुका था। परीक्षा करने पर वासरमेन प्रतिक्रिया सबल मिली। आगे चलकर उसके दक्षिण हाथ और पैर में कुछ उद्बेष्टन (Spasticity) शेष रह गया था।

जहां बड़ों में—टेबीज डासेलिस (पश्चकार्श्य) अत्यधिक मिलता है वहां पर सहज फिरंगी बालकों में अङ्गघात (General paralysis) विशेष मिलती है। वास्तविक फिरंग २० वर्ष की आयु के पश्चात् होती है। पर एक रोगी ४ वर्ष की अवस्था में भी इससे पीड़ित देखा जा चुका है।

वातिक फिरंग में नैदानिकीय विशेषतायें तथा म० सु० जल (Cerebrospinal fluid) के परिवर्तन बड़ों की भांति ही देखे जाते हैं।

वातिक फिरंगी बालक का स्वभाव विचित्र हो जाता है। लज्जा (Shyness) उससे दूर हो जाती है, वह चपल, नटखट, गन्दा तथा चारित्रिक दृष्ट्या पतित हो जाता है। इस रोग की प्रवृत्ति शनैः शनैः मारक होती है।

रोग निदानम् (Diagnosis)—

फिरंग का निदान वासरमेन प्रतिक्रिया (Wasserman reaction) से होता है। यद्यपि यह जीवन के प्रथम कुछ सप्ताहों में नहीं मिलती। उस दशा में माता के रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। जिन बालकों में फिरंग के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं उनमें ८० प्रतिशत बालकों तथा जिनमें लक्षण नहीं मिलते उनमें ८८ प्रतिशत बालकों में यह प्रतिक्रिया देखी जाती है। वातिक फिरङ्ग होने

पर इसमें म० सु० जल (मस्तिष्क सुषुम्ना जल) की परीक्षा करनी चाहिये।

फिरंग की दूसरी और अधिक सूक्ष्मवेदी परीक्षा कान की कसौटी (Kahn's test) है। परन्तु यह बहुत से फिरंगी बालकों में न मिलने से वासरमेन प्रयोग अधिक होता है।

फिरंग के निदान में बालक की लम्बी अस्थियों की क्ष-किरण परीक्षा भी बहुत महत्व रखती है।

इनके अतिरिक्त लाक्षणिक परीक्षा के द्वारा फिरंग के पहचानने में सहायता मिलती है।

साध्यासाध्यता—

यदि नवजात शिशु में सक्रिय फिरंग (active syphilis) के लक्षण मिलने लगें तो वह निश्चित रूप से रोग गाम्भीर्य का सूचक है। ऐसे बालक चिकित्सा होने पर भी कुछ सप्ताहों में ही काल-कवलित हो जाते हैं। पर यदि लक्षणों का आरम्भ जन्म के २३ मास पश्चात् हो तो अवश्य ही जीवन रहने की संभावना होती है। कुछ रोगी तो पूर्णतः स्वस्थ हो सकते हैं परन्तु कुछ में फिरङ्ग के कुछ चिह्न आजीवन देखे जाते हैं। इन चिह्नों में नासासेतुनवि, बाधिर्य, नेत्रविकार मुख्य हैं। वातिक फिरंग की चिकित्सा असन्तोषजनक रहती है।

सहज फिरङ्गस्य चिकित्सा—

फिरंग की चिकित्सा में ४ औषधियों का उल्लेख आता है— १. सेन्द्रिय सोमल (Organic arsenic), २. चपल या बिस्मथ (Bismuth), ३. पारद (Mercury) तथा ४. पेनसिलीन (Penicillin)

परन्तु आजकल पेनसिलीन के द्वारा पूर्ण लाभ हो जाने से शेष औषधियों का व्यवहार कम या खतम हो गया है। सहज फिरंगी को जितना शीघ्र पेनसिलीन का उपयोग किया जाता है उतनी ही उसकी जीवन की आशा तथा सर्वाङ्ग सुरक्षा बढ़ती जाती है। पेनसिलीन की टोटल मात्रा सहज फिरंग में इस प्रकार समझें—



शिशुरोगाङ्क

३ मास से नीचे की अवस्था वाला शिशु—
१२ लाख यूनिट

६ मास तक का शिशु—२४ लाख यूनिट

१ साल का शिशु—३० लाख यूनिट

१॥ वर्ष का शिशु—४८ लाख यूनिट

उपयुक्त मात्रा क्रिस्टलीन प्रोकेन पेनसिलीन की रूप में पेशीवेध करके कुल मात्रा ८ दिनों में प्रातः सायं लगाई जा सकती है या पेनसिलीन इन आइल पेशी द्वारा ३-४ सुईयों द्वारा हर तीन या चार दिन बाद दे सकते हैं या अन्य किसी प्रकार की पेनसिलीन का उपयोग किया जा सकता है। यदि पेनसिलीन जी से प्रतिक्रिया की सम्भावना हो तो पेनसिलीन ओ का व्यवहार करें।

२ वर्ष से ऊपर के बालकों में छः लाख यूनिट प्रोकेन पेनसिलीन क्रिस्टलीन जी प्रतिदिन ८ दिन तक देने का विधान है इस प्रकार ४८ लाख यूनिट देना चाहिए। हर माह सहज फिरंगी का परीक्षण और लेबोरेटरीज में जांच करानी चाहिये।

वातिक सहजफिरङ्ग होने पर क्रिस्टलीन पेनसिलीन जी ६ लाख यूनिट १० दिन बराबर दें और हर ३-६-१२-१८ मास पर रक्तपरीक्षण करावें। लच्छ मण्डलपाक रोकने के लिये एट्रोपीन तथा कौर्टीजोन के आईड्राप्स (नेत्रबिन्दु) टपकाने चाहिए या एट्रोपीन और कौर्टीजोन का मलहम लगाना चाहिये। पेनसिलीन से इस रोग में कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता है। नासास्त्राव को रू करने के लिये निम्न तैल दिया जा सकता है—

मैथ्योल ३ रत्ती, यूकेलिप्टस तैल २ बिन्दु, लिक्विड पैराफीन २॥ तोला। इस तैल की २-४ बिन्दु प्रत्येक नासारन्ध्र में डाल सकते हैं।

सहजफिरंग की प्रतिषेधात्मक चिकित्सा भी की जा सकती है। इसके लिये माता को प्रतिदिन ६ लाख प्रोकेन पेनसिलीन की पेशीवेध द्वारा दी गई मात्रा १० दिन तक या प्रोकेन पेनसिलीन इन आइल १२ लाख यूनिट सप्ताह में २ बार ५ सुईयों या वैजाथीन पेनसिलीन जी का २४ लाख यूनिट

की एक सुई दें। यदि गर्भावस्था के प्रारम्भिक काल से ही उपचार किया गया तो फिरंगहीन सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। माता को [बाद की सगर्भावस्थाओं में शिशुओं की फिरङ्ग से रक्षा करने के लिये] प्रतिक्रिया के ऋणात्मक होने पर भी पेनसिलीन का प्रयोग करा सकते हैं। वास्तव में सहज फिरङ्ग की विभीषिका से निवृत्त होने के लिये माता की चिकित्सा करना सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

आयुर्वेदज्ञों ने फिरङ्ग के प्रतीकारार्थ पारद और मल्ल का प्राचीनकाल में पर्याप्त व्यवहार किया था। आधुनिक युग में पेनसिलीन की अमोघता और अल्पदोषोत्पादक शक्ति होने के कारण उनकी उपयोगिता नगण्य हो गई है।

—श्री रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी B.A., A.M.S.
आयुर्वेदाचार्य, जामनगर।

:: पृष्ठ ३६१ का शेषांश ::

कृमि के अतिरिक्त अन्य कारण होने पर निम्न औषधियां उत्तम हैं।

(१) अमृतादि गुग्गुल ४-४ रत्ती की मात्रा में पटोलपत्र काथ से—

(२) महातिक्तकघृत ६ माशा दूध में मिलाकर।

(३) हरिद्राखण्ड ४ माशा प्रवालपिष्टी ४ रत्ती दिन में तीन बार करले के स्वरस से।

(४) कफ प्रधान होने पर अजवायन+गुड़ मिलाकर उष्ण जल से।

तिक्तवटी में रसौत हरिद्रा, गुड़चीसत्व, प्रवाल तथा निम्ब पंचाङ्ग का समान भाग लिया जाता है। यह हमारा अपना योग है।

पथ्यापथ्य —

शुष्क मूल, कुलत्थरस, दोषानुसार शीतल या उष्ण अन्नपान, दूध सर्वोत्तम आहार है। उष्णजल या अत्यन्त शीत जल से स्नान, खुरदरे कपड़े पहनाना छोड़ देना चाहिए।

कविराज श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री M.A.
वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदाचार्य, बम्बई

रात्रि को डरना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल



बालकों का रात्रि में डरना यह विषय मनोवैज्ञानिक है। इस समस्या का हल मनोविज्ञानद्वारा अनेक विद्वानों ने किया है कि बालक रात में सोते समय या अंधेरे में डरकर चीख मार कर रोने लगते हैं। भय की प्रवृत्ति बच्चों में विशेषतः दृष्टिगत होती है। भय विषयक भावनायें जब बच्चों के सुकोमल मस्तिष्क में अपना आश्रय बना लेती हैं तो उन्हें सोते जागते प्रत्येक दशा में भय का ही भूत सवार रहता है।

हमारे प्राचीन महर्षियों ने इस विषय में प्रथम ही पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होंने बाल-रक्षा के लिये जो उपदेश किये हैं वे सर्वथा सत्य एवं श्रेयस्कर हैं। उन्हीं का आश्रय ले बच्चों का स्वास्थ्य समुन्नत बना उन आचार्यों की वैज्ञानिकता की सत्यता एवं श्रेष्ठता अनुभव की जा सकती है। शास्त्रीय उपदेश है कि—“न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात्तस्मिन् रुदत्यमुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षस पिशाच पूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात्।”

इस शास्त्रीय उपदेश के विपरीत यह देखा जाता है कि बच्चों में भय की भावनायें उनके अभिभावकों द्वारा ही भरी जाया करती हैं। जब बालक अधिक रोता, हठ करता या घर के काम काज में रुकावट डालता है तो उनकी मातायें या अन्य जन बालक को भांति भांति के भय दिखाकर उसे शांत करती हैं। इसका प्रभाव उनके चित्त पर बुरा पड़ता है। उन्हें जिन जिन वस्तुओं से डराया जाता है उनकी प्रत्यक्ष मूर्ति उनके पास निरन्तर निवास करने लगती है। बस यही बात उनके मस्तिष्क में भय का बीजारोपण करती है।

यह स्मरणीय है कि एतद्विषय चिकित्सा की

सफलता का श्रेय जितना अथर्व वेद वित ब्राह्मणों को प्राप्त है उतना अन्य चिकित्सा शास्त्रियों को नहीं। चरक के जातिसूत्रीय नामक अष्टम अध्याय में जहां सूतिका के स्वस्थवृत्त का वर्णन है इस प्रकार का कई बार उल्लेख है जिससे अथर्व वेद विद् ब्राह्मणों की कौमारतन्त्र विषयक सर्वोत्कृष्टता, सिद्ध है। वास्तव में यह लोग भूत विद्या ग्रहोपचार संमार्जन (भाड़) प्राण-चिकित्सा (फूंक) आदि कलाओं के पूर्ण मर्मज्ञ होते हैं।

समय के परिवर्तन के साथ बाल रक्षोपयोगी मार्जन और प्राणचिकित्सा आदि क्रियाओं का पाश्चात्य-चिकित्सा प्रेमियों के द्वारा उपहास कर इस विद्या को लुप्त प्राय कर दिया गया किन्तु यह सर्वथा लुप्त न हो यत्र तत्र बच्चों को मृत्यु मुख से निकाल कर अपनी परमोच्चता का पुनीत परिचय प्रदान करती रहती है। अथर्ववेदवित ब्राह्मणों का उक्त बाल रोग में चिकित्सा विषयक यह मत है कि—

१—जो बालक अचानक चीख मार कर रात में या अन्य समय शयनादि काल में रो पड़ता हो उसके लिये यह आवश्यक है कि गौरोचन को ताबीज में भरकर गले में धारण करे तथा केवल रेशमी ही वस्त्र पहिने। इसका रहस्य यह है कि गौरोचन प्रभावतः भयघ्न एवं मंगल्य है। तथा रेशमी वस्त्र बच्चों के बाह्य प्रयुक्त अभिचार पर नियन्त्रण रखता है।

२—गोपुच्छ मार्जन इस दिशा में पर्याप्त प्रयोज्य चिकित्सा है। प्रयोक्ता गायत्री-मन्त्र से बच्चे की पीठ व सिर पर गोपुच्छ फेरें। गोपुच्छ भयोत्पादक परमाणुओं का बिनाश करती है।

—शेषांश पृष्ठ ३७५ पर।

मिट्टी खाना

[इससे उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा]

कविराज श्री अम्बिकादत्त जी० ए० एम० एस०

मुझे अपने चिकित्साकाल में मिट्टी खाने वाले रोगियों की संख्या काफी मिली है—बाल, बृद्ध, युवा और नारी। बहुतों को मिट्टी खाते देखा, कोई-कोई गर्भवती स्त्री तो बड़े चाव से मिट्टी एवं ठीकरो को खाती हैं लेकिन इसका परिणाम अच्छा नहीं।

प्रायः देखा जाता है कि छोटे-छोटे बच्चों को मिट्टी खाने की आदत हो जाती है। प्रारम्भ से माता-पिता अभिभावकों का ध्यान नहीं हुआ तो बच्चे भयंकर पांडु, कृमि आदि रोगों से ग्रसित रहते हैं। क्योंकि खाने से कोई दोष (बात पित्तकफादि) क्षुपित हो जाते हैं। और मिट्टी अपनी रुक्षता के कारण खाये हुए पदार्थों एवं रसादि धातुओं को रुखा बना देती है। मिट्टी तो पचती नहीं है अतः अपक्व ही स्त्रियों को अवरुद्ध कर देती है जिससे इन्द्रियों का बल, तेज, वीर्य, ओज आदि नाश करके बलवर्ण अग्नि का नाश करने वाला निम्न लक्ष्णों से युक्त मृत्तिका भक्षणजन्य पांडु रोग को शीघ्र उत्पन्न कर देता है।

जाता है। पेशाब करने के बाद पेशाब जमीन पर चावल के धोवन के समान उजला जम जाता है। यकृत बढ़ जाने से उदर बाहर की ओर निकल आता है। आंखें मटमैली हो जाती हैं बहुतों को नक्तान्ध [रतौंधी] हो जाती है। आंखें बहुत दिनों तक बन्द करते रहने से मांडा भी हो जाता है। बालक चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है।

चिकित्सा—

चिकित्सा करने के पहले बच्चों को मिट्टी खाने की आदतों से अभिभावकों को सावधान रहना चाहिए। क्योंकि मिट्टी खाने की आदत बिना छुड़ाये चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये मिट्टी खाने की आदत छुड़ाने के लिए यदि महर्षि चरक द्वारा व्यक्त किया हुआ उपचार प्रयोग में लाया जाय तो बच्चे बहुत हद तक मिट्टी खाने की आदत से मुक्ति पा सकते हैं।

मृदुभक्षणादातुरस्य लौल्यादिव निवर्तितः।

द्वेषार्थेभावितां कार्यं दद्यात् तद्दोष नाशनै ॥

विडंगैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया।

वार्ताक्यैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्ख्याऽपिवा ॥

जीभ चट्टन के कारण रोगी मिट्टी खाना न छोड़े तो मिट्टी से द्वेष करने के लिये उस दोष की नाशक औषधि—विडङ्ग, एला, अतीस, नीम्बू के पत्ते, पाठा, बैंगन, कुटकी, इन्द्रजौ और मूर्बा के स्वरस से मिट्टी को भावित करके दें। उपर्युक्त उपचार से मिट्टी खाने की आदत छूटेगी।

सर्व प्रथम चिकित्सा काल में युक्तिपूर्वक बालक के बलाबल को देखकर खाई हुई मिट्टी को तीक्ष्ण शोधनों से शरीर से निकालने का आदेश महर्षि चरक ने दिया है।

मृदुभक्षणाद्भवेत् पाण्डुरस्तन्द्रालस्यनिपीडितः।

सकास श्वास शूलान्तः सदारुचि समन्वितः ॥

शूनाचि कूट गंडभ्रूः शून पान्नामि मेहनः।

कृमिकोष्ठोऽति सार्थे मलं सासृक कफान्वितम् ॥'

अर्थात्—तन्द्रा आलस्य से युक्त कास श्वास उदरशूल से पीडित पांडु रोगी को सदा अरुचि बनी रहती है। इसके गंड प्रदेश, अक्षिकूट, भ्रू प्रदेश, पैर, नाभि लिंग में सूजन हो जाती है तथा-उदराभ्यन्त-रस्थ कृमि हो जाने के कारण बच्चा नमकीन पदार्थ तरकारी भूँजा वगैरह खाने के लिये बराबर लाला-यित रहता है। रक्तसहित कफयुक्त मल, तथा कृमियुक्त मल निःसारित होता रहता है। किसी किसी को अतिसार और किसी को कोष्ठबद्ध हो



निपालयेच्छरीरास्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ।
युक्तिज्ञः शोधनेस्तीक्ष्णै प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ॥

संशोधन कराने के बाद महर्षि चरक ने बलप्रद
सिद्ध घृतों का प्रयोग करने को कहा है—

शुद्धकायस्य सर्पांषि बलाधानानि योजयेत् ।
द्वयोषं विल्व हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ॥
मुरतान्ययोरजः पाठा विबंगं देवदारुच ।
वृश्चिकालीच भार्गीच सचीरैस्तै समै धृतम् ॥
साधयित्वापिबेद्युक्त्या नरोमृद्दोषपोडितः ।
तद्वत्केशरयष्ट्याह्मपिप्पली चार शाद्वलै ॥

इस तरह व्योषादि घृतों का प्रयोग बलकारक
दोषशामक है। किन्तु मिट्टी खाने वाले बच्चे तीक्ष्ण
संशोधन के लायक बहुत मुश्किल से मिलते हैं। वे
इतने बलहीन रहते हैं कि संशोधन क्रिया बर्दास्त
नहीं कर सकते। इसलिये समय समय पर विरेचन
न दे देकर चिकित्सा करते रहना चाहिए। इसके
लिये मृदु विरेचन का प्रयोग अत्युत्तम है।



चित्र नं० ११०—मिट्टी खाता हुआ बालक ।

मृदु विरेचन चूर्ण का निर्माण—

शुद्ध गंधक २ तोला, शुद्ध मुर्दासंग २ तोला,
छोटी इलायची १ तोला, सोंफ ३ तोला—सबको
यथाविधि चूर्ण बनाकर शीशी में रक्खें। मात्रा
१ रत्ती से ४ रत्ती तक गरम दूध के साथ दो तीन
बार देने से पेट साफ हो जाता है। कदाचित

पाखाना न हो तो कुटकी १ छटांक लेकर पानी में
पीसकर कल्क की तरह तैयार करें। बाद में एरंड तैल
डालकर आग पर गरम कर लें। सुखोष्ण लेप पेट
पर दो तीन बार चढ़ाते रहने से आसानी से दस्त
हो जाता है।

रेचन के बाद निम्नलिखित औषधियों का
प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये—

[१] ताप्यादि लौह १ रत्ती से २ रत्ती तक गौ-
मूत्र के साथ अथवा मूली के स्वरस मिश्री के साथ
मिलाकर २-३ बार प्रयोग में लावें। साथ-साथ
लोहासव पुनर्नवासव दोनों बराबर आध औंस
समान जल या पुनर्नवा के पानी के साथ दें।

[२] पुनर्नवा मण्डूर या मण्डूर भस्म २ से ४
रत्ती तक पुनर्नवा के रस मधु के साथ २-३ बार
पर्याय क्रम से लोहासव, कुमार्यासव और पुनर्नवा
तीनों सम्मिलित आधा औंस समान पानी देकर
देने से बहुत लाभ होता है।

[३] बलक्षीण, कास, ज्वरादि उपद्रव बढ़ने पर
मधुमालती बसन्त १ रत्ती, मण्डूर भस्म २ रत्ती,
प्रवाल भस्म १ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती—इनकी
आठ मात्रा बनाकर सायं प्रातः मधु के साथ अथवा
पान के रस, पुनर्नवा के रस या गुडूची के रस मधु
से प्रयोग में लाने से आशातीत लाभ होता है। दो
बार—द्राक्षासव १ औंस लौहासव १ औंस दोनों को
एकत्र करके पानी के साथ दें।

यह द्राक्षोमाल्ट “धन्वन्तरि” के अप्रैल १६५६
वें अंक में भी उद्धृत है। बलकारक औषधि है।

[४] यकृत दोष हो जाने पर—नवायसलौह
२ रत्ती से ४ रत्ती तक सहजन के छाल के रस मधु-
के साथ दें और दो बार लौहासव रोहितकारिष्ठ
सम्मिलित समान जल के साथ देते रहने से यकृत
दोष में बहुत लाभ पहुंचता है।

दो बार यकृत का स्वेद गोमूत्र से अवश्य करें।



श्री यशवंतराव

[५] उदरस्थ कृमियों के आक्रमण से अतिसार प्रवाहिका, शोथ आदि उपद्रव बढ़ने लगते हैं, इसके लिये कृमिमुद्गर रस या कृमिकुठार रस अथवा पुनर्नवा मण्डूर मधु के साथ खिलाकर ऊपर से अजवाइन के पयुषित [बासी] पानी दो चार चम्मच से पीने को दें। अथवा फरहद के पत्र स्वरस मधु से प्रयोग में लावें। अजवाइन के काथ में सोडाबाईकार्ब ४ रत्ती की मात्रा देते रहने से पेट का वायु विकार शमन रहता है। शंखवटी गरम जल से देना भी लाभदायक होता है।

[६] रक्त एवं कफ मिश्रित मल निकलते रहने पर-शुंठी ४ रत्ती, सौंफ की भुसी ४ रत्ती, लोष ४ रत्ती, मिश्री १२ रत्ती—सबों को एक साथ कूट चूर्ण कर शीशी में रखें। इसकी ८ मात्रा बना कर बकरी के दूध के साथ, आंवले की पत्ती के रस मिश्री के साथ, या तन्दुलोदक के साथ प्रयोग में लावें। अनियमित मल निकलते रहने पर यह प्रयोग बहुत उपकारी है।

[७] सर्वाङ्गशोथ होने पर पुनर्नवा मंडूर और लौहमस उत्तम १-१ रत्ती की मात्रा के साथ खाकर ऊपर से पुनर्नवाष्टक क्वाथ पीते रहने से सर्वाङ्ग-शोथ में आशातीत लाभ पहुंचता है।

अजवाइन अमरलता गोमूत्र में डालकर औटावें। वाष्प उठने पर निर्वात स्थान में बैठकर वाष्प सेवन करें, इससे पसीना चलेगा लेकिन यह क्रिया एक सप्ताह करते रहने से चाहे जिस अङ्ग में शोथ हो तत्काल दूर होगा।

नेत्र विकार हो जाने पर चन्द्रोदय वर्ती या निर्मली बकरी के दूध से घिसकर अंजन की तरह आंखों में लगाते रहने से नेत्र विकार में लाभ पहुंचता है, रतौंधी में भी अच्छा लाभ करता है।

उपयुक्त चिकित्सा के अतिरिक्त बीच बीच में विरेचन के लिये पंचानन वटी, प्राणबल्लभ रस का

प्रयोग चलाया जा सकता है। तारा मण्डूर आदि अनुपान भेद से औषधियों का उपयोग करना चाहिए।

पाश्चात्य चिकित्सा के अनुसार लिवरएक्स-ट्रेक्ट का इन्जेक्शन, विटामिन बी. कम्पलेक्स बगैरह दिया जाता है।

पथ्य-लवणरहित भोजन, बाली, दूध, शोथ रहने पर मूंग की दाल की खीचड़ी, टमाटर कौरों की चटनी, पुनर्नवा, द्रोणपुष्पी (गुग्गु) बगैरह लाभप्रद हैं। सेव विदाना, मौसम्मी केला नीबू दिया जा सकता है।

—श्री अम्बिकादत्त मिश्र जी. ए. एम. एस.

राष्ट्रीय आयुर्वेद कार्यालय
आबगीला, (पुनपुन) पटना (बिहार)

:: पृष्ठ ३७२ का शेषांश ::

३—देवदारु, हल्दी, बच, खस तथा केतकी पुष्प—इनसे युक्त जल में स्नान, रात्रि में डरना, नुरे स्वप्न देखना ग्रह दोष आदि बाधाओं से मुक्त करता है।

बच्चों को सुन्दर सुखद मनोरम एवं रुचिप्रद वातावरण में रखें। उन्हें भयङ्कर खिलौने न दें। उन्हें लेकर कूप शून्यगृह, जैन मन्दिर देवालय, चतुष्पथ अथवा जलाशय नदी आदि के समीप न जाये। किसी भी प्रकार से उनको न डरवाना ही इस रोग की सर्वोत्तम चिकित्सा है। किसी प्रकार प्राण-शक्ति युक्त प्रभावशाली पुरुष की सद्योफलदायिनी प्राण चिकित्सा (फूंक) इस स्थिति में पर्याप्त प्रशंसनीय है।

—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल आयुर्वेदाचार्य
मन्थना (कानपुर)

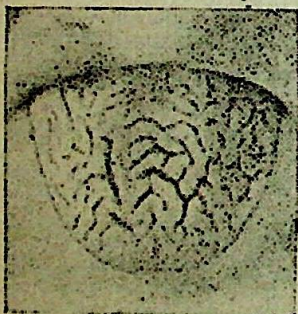
मुख पाक

श्री शिवकुमार व्यास आयुर्वेदाचार्य



लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्याधयः ।
पीतमुद्गरिति चीरं नाशास्वासी मुखामये ॥

उपर्युक्त शब्द उस 'मूक-अवोध-प्रकृति' के पावन स्वरूप शिशु की मर्मवेधी वेदना को व्यक्त कर रहे हैं जो मुख वेदना से सतत है। वास्तव में ही मुखपाक होने पर वह बालक अत्यधिक वेदना को सहन करता है, जिसको सहन करने में वह समर्थ भी नहीं होता। लाला के अत्यधिक स्राव से हर समय गल-पट गीला, व्यथा के भय से झुधित होकर भी स्तन से द्वेष, दुग्धपान कर उससे उत्पन्न शूल को न सहन कर दुग्धवमन तथा मुख को वस्तु स्पर्श से बचाते हुये व्यथा को न बढ़ने देते हुये नासिका से ही श्वास लेता हुआ बालक मुखपाक से व्यथित होता है।



चित्र नं० १११

जीभ में दरारें पड़ गई हैं

१. प्रसेकी मुखपाक (Catarrhal stomatitis)

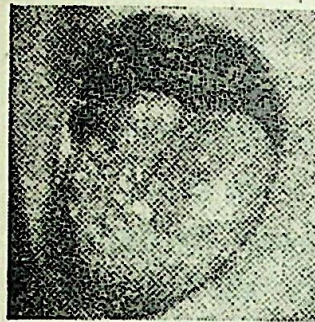
२. जुद्र स्फोटी मुखपाक (Herpetic stomatitis)

३. सन्नण मुखपाक (Ulcerative stomatitis)

४. सकोथ मुखपाक (Gangrenous stomatitis)

आज बालकों को यह रोग अधिक पाया जाता है। यहां राजधानी (दिल्ली) के शिशुओं को होने वाले रोगों में मुखपाक अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है। मुखपाक को शास्त्र की दृष्टि से निम्न भेदों में बांट सकते हैं—

५. श्वेत मुखपाक (Thrush)



चित्र नं० ११२

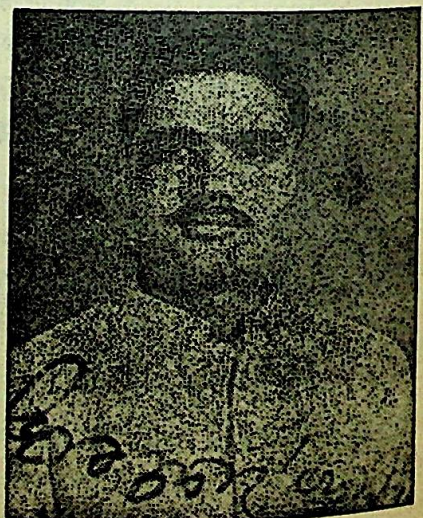
मुखपाक

१. जुद्र स्फोटी मुखपाकी, तथा

२. श्वेत मुखपाकी ।

इनके पश्चात् कुछ कम रोगी प्रसेकी मुखपाक से पीड़ित मिलते हैं तथा त्रण एवं कोथयुक्त मुखपाकी अल्पसंख्यक होते हैं। वास्तव में सन्नण मुखपाक एवं सकोथ मुखपाक एक साधारण रोग को परिलक्षित न करते हुये एक भयानक विभी-

यों तो प्रत्येक प्रकार के मुख पाक के रोगी मिल जाते हैं, तो भी चिकित्सा के लिए आने वाले रोगियों में मुख्यतः दो प्रकार के मुखपाकी शिशुओं की संख्या सर्वाधिक होती है और वह हैं—





विका के परिचायक हैं जो प्रायः उपद्रवावस्था सम-
झनी चाहिये। अतः हम शेष तीन प्रकार के मुख-
पाक का विस्तार से वर्णन करते हैं।

बुद्रस्फोट मुख पाक (Herpetic Stomatitis)

मुखपाक के इस प्रकार को साधारण भाषा में 'लाल मुँह आना' कहा जाता है। जब रोगी बालक के अभिभावक चिकित्सक के पास जाते हैं तो मुख्य तथ्या यही कहते हैं कि बच्चों का मुँह लाल लाल छोटे छोटे दानों से भरा पड़ा है, जो जीभ पर हैं। इससे पानी गिरता है, बच्चा स्तन नहीं पीता और रोता है। आम जनता की धारणा है कि यह पेट की गर्मी है और उसके कारण यह मुखपाक हुआ है।

इस प्रकार के लक्षणों (Symptoms) को जान कर जब चिकित्सक शिशु की परीक्षा करता है तो वह पाता है कि लाल वर्ण के बुद्र कठोर स्फोट हैं जो जिह्वा पर, ओष्ठों पर एवं तालु में तथा कपोल के आन्तरिक (मुख वाले) भाग में हैं। इनमें आधार (Base) पर रक्तिमा है तथा गोल किनारे के हैं। उस बालक का मुख लाला से परिपूरित है अतः हम इन्हें कि बुद्रस्फोटी मुखपाक में निम्न लक्षण एवं चिन्ह होंगे।

लक्षण (Symptoms)—

१. लाल स्राव होना, २. स्तन त्याग, ३. अरति युक्त, ४. पका मुख एवं, ५. कोष्ठवद्धता से पीड़ित किसी बालक में ऐसा भी देखने में आता है कि आमातिसार से पीड़ित होते हैं और उसको यह मुखपाक हुआ होता है।

चिन्ह (Signs)—

१. लालास्राव पूरित मुख २. बुद्र कठोर स्फोट (Small and tender vesicles) ३. गोल किनारे एवं लाल वर्ण के आधार के स्फोट।

इन लक्षणों एवं चिन्हों के द्वारा इसको पहचानने में कोई असुविधा नहीं होती। देखा गया है कि इस प्रकार के मुखपाक में पुनरावृत्ति पाई जाती है। अभी कुछ समय पूर्व मुखपाक हुआ—चिकित्सा

की और कुछ समय पश्चात् मिट गया तथा पुनः उसी प्रकार से रोग का आवर्तन हो गया। शास्त्र की दृष्टि से ऐसा माना जाता है कि यह रोग विषाणु (Virus) जन्य है। कुछ भी हो इतना मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त लक्षण एवं चिन्हों को पाते हुए उसे स्फोटी मुखपाक या लाल मुखपाक कहने में कोई शंका नहीं रह जाती।

श्वेत मुखपाक (Thrush)—

यह श्वेतवर्ण का मुखपाक लोक की दृष्टि में स्फोटी मुखपाक की अपेक्षा अधिक भयानक माना जाता है। ऐसी धारणा है कि इस प्रकार के मुखपाक होने से बच्चे के जीवन को भय हो जाता है। यदि आयुर्वेदीय दृष्टि से (Medically) देखा जाय तो यह रोग एक उपसर्ग से उत्पन्न होता है और इसका साक्षात् जनक इरिडियन ऐल्बीकेस है। यह उपसर्ग प्रायः उन बच्चों को होता है जो शीशी से दूध पीने वाले हों। भलीभांति स्वच्छता का ध्यान न रहने से बालक को यह उपसर्गज रोग हो जाता है जिसका प्रभाव पाचक तन्त्र पर पड़ता है और पाचक प्रणाली के उपसर्ग को व्यक्त करता हुआ यह मुखपाक होता है।

इसकी सम्प्राप्ति की ओर यदि ध्यान करें तो पावेंगे कि रोगी बालक के मुख की श्लेष्मिक कला, जिह्वा तथा आन्त्रनलिका एक प्रकार के दधिवत् द्रव्य से आच्छादित हुई है, जिसमें बारीक बारीक स्फोट से भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह अवस्था अन्त्रनलिका के आमाशयिक भाग तक होती है और इसके कारण पाचक स्राव भी स्वस्थ-वत् स्रवित नहीं होते।

श्वेत मुखपाकी के चिन्ह एवं लक्षण हम बुद्रस्फोटी की अपेक्षा अलग पाते हैं। जब रोगी के अभिभावक आते हैं तो उनका कहना होता है कि बालक को मुखपाक हुआ है। यह हर समय रोता रहता है। दुग्धपान करने में असमर्थ है। यदि दूध पी भी लेता है तो उसे पचा नहीं सकता, प्रायः



बमन कर देता है। इसको मल भी अपचन का आता है।

इन सभी लक्षणों को सुनकर जब परीक्षा की जाती है तो पाते हैं कि बालक के मुख की श्लेष्मिक कला एवं जिह्वा ऐसी श्वेत पड़ी है जैसे दही जमा हुआ हो। उसके बीच बीच में कुछ छोटे छोटे दाने हैं। लालास्राव इतना अधिक नहीं जितना कि लुद्र-स्फोटी में होता है। बच्चा मुख खोलते ही रोता है।

इन सभी लक्षणों एवं चिन्हों के साथ एक विशेष बात जो दृष्टिगोचर होती है वह यह कि प्रायः मन्द मन्द ज्वर रहता है। उसका शरीर कम-जोर हो जाता है। बालक का स्वभाव भी चिड़-चिड़ा हो जाता है।

प्रसेकी मुखपाक (Catarrhal stomatitis)—

जैसा कि इसके नाम से ही पता चल जाता है, यह रोग प्रसेकाधिक्य द्वारा लक्षित होता है। अत्यधिक लालास्राव, नासिका द्वारा स्राव इसमें होता है। बालक के मुख की श्लेष्मिक कला एवं जिह्वा उपाडयुक्त रक्त वर्ण की होती है। किसी प्रकार के स्फोट आदि प्रायः नहीं दिखाई देते। रोगी बालक को स्राव बहुत पीड़ित करता है। प्रत्येक समय मुख से, नासिका से बहता हुआ स्राव शिशु की सौख्यता को नष्ट कर देता है।

निदान सम्बन्धी इतना वर्णन करने के बाद उचित समझता हूँ कि माधव के बचन इस प्रसङ्ग में और उद्धृत करूँ कारण कि निदान सम्बन्धी बातों में उसका अपना स्थान है। माधव निदान में आया है—

स्फोटैः सतोदैर्गदनं समन्ताद्य-

स्याचितं सर्गसरः स वातात् ।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-

र्यस्याचितं चापि सपित्तकोपात् ॥

अवेदनैः कन्द्युतैः सवर्णै-

यस्याचितं चापि स नै कफेन् ॥

अर्थात् जिसमें तोदयुक्त स्फोटों से सारा मुख

व्याप्त हो, वह वातज सर्वसर है। जो लाल, दाहयुक्त, पतले और पीले स्फोटों से व्याप्त हो वह पित्तज सर्वसर है और जिसमें वेदनारहित खुज-लाहटयुक्त सवर्ण स्फोट हो वह कफज है।

चिकित्सा (Treatment)—

मुखपाक का उपचार करते समय हमें दो सिद्धान्तों पर चलना होगा—

[१] स्थानीय (Local application)

[२] पचन तन्त्रीय उपचार (Treatment of the digestive tract)

स्थानीय उपचार करते समय हमारे सम्मुख दो ध्येय रहते हैं—प्रथम स्वच्छता (antiseptis) और द्वितीय रोपण (healing)।

मुख को स्वच्छ रखने के लिये प्रायः दो विलयों का प्रयोग करते हैं—

[१] पोटेशियम क्लोरेट का घोल।

[२] बोरेक्स का घोल।

इन घोलों से मुख को धोया जाता है। ध्यान रहे कि मुखपाक में शूल तो पहले से ही होता है अतः विलयन का स्पर्श होने से ही अधिक दर्द होने लगता है। बहुत ही कोमलता के साथ रुई के द्वारा घोल का प्रयोग करना चाहिये। घोल में भिगोया हुआ रुई का टुकड़ा मुख भाग पर लगाकर उस भाग को पौछ लेना चाहिये।

लगाने के लिये बोरो ग्लिसरीन का प्रयोग किया जाता है। बोरो ग्लिसरीन बनाने के लिये एक भाग बोरेक्स [सुहागा] लीजिये और उसे बारीक पीसकर छः भाग ग्लिसरीन को जरा सी गर्म खरल में डालकर मिला लीजिये। यह बारो ग्लिसरीन दिन में तीन या चार बार मुखपाक में एवं लुद्र स्फोटी मुखपाक में अच्छा लाभ करती है। इसी प्रकार शुद्ध टंकण को [भुने सुहागे] को मधु में मिलाकर लेप करने से भी लाभ होता है।

मैंने अपने चिकित्सालय में मैन्डाल्स पेन्ट का प्रयोग करके देखा है। श्वेतमुखपाक एवं छुद्र स्फोटी मुखपाक में यह लाभ करता है। इसमें एक कठिनाई है कि यह अन्य लेपों की अपेक्षा अधिक क्षोभक (Irritant) है। साधारण जनता में एक और औषधि प्रयोग करने का रिवाज है और वह है नीली दवा। यह दवा जैसन वायलेट का विल-वन है। इसको मुख में लगाने से बालक को कुछ ठंडक पड़ जाती है और साथ ही साथ कुछ रोपण भी करता है।

इन पेन्ट्स के अतिरिक्त जो स्थानिक उपचार किया जाता है उनमें प्रथम स्थान आता है चूर्णन का। मुखपाकी को पेनसिलीन लॉजिन्जेज के चूर्ण का चूर्णन (dusting) कराया जाता है। मैंने देखा है कि पैट करने के बाद यह चूर्ण लगाया जाय तो मुखपाक शीघ्र ठीक होने लगता है। यदि दाढ़ि बटी को बारीक पीसकर उसका चूर्ण भी प्रयोग करता हूँ और बच्चे को अच्छा लाभ होता है। अन्त में कास्टिक टच भी किया जाता है।

मुखपाकी को इन सबके अतिरिक्त सल्फा औषधियाँ दी जाती हैं। पेनसिलीन का मुखद्वारा अथवा इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है। इनके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कितना लाभ करती है तो भी इतना अवश्य है कि इनके प्रयोग से भी कुछ मुखपाकी ठीक होते हैं।

इन सभी उपचारों के साथ साथ पाचन तंत्रीय उपचार भी आवश्यक है। सर्व प्रथम देखना चाहिए कि मलबद्धता तो नहीं है। मलबद्धता हो तो मृदु-रेचक देने चाहिए एतद् कैलोमल, रेवन्द चीनी और सोडाबाई कार्ब यथावश्यक दिया जाता है। एरण्ड तैल या लिक्विड पैराफीन भी लाभ करता है।

यदि अजीर्ण के कारण अतिसार हो तो पाचक औषधि दीजिए। बालक को ग्राइप मिक्चर देने से पाचन में अच्छा सुधार हो जाता है।

मुखपाक में खाद्योज (vitamin) बी एवं सी का प्रयोग बहुत लाभ करता है। बालक को खाद्योज बी कम्प्लेक्स का सीरप नियमित रूप से एक-एक चम्मच दिन में चार बार पिलाइये। यह बहुत अच्छा लाभ करता है। गोली के रूप में अथवा सूचीवेध द्वारा भी प्रयोग करा सकते हैं। इन खाद्योजों के उपयोग से पाचन भी ठीक होता है साथ ही साथ मुखपाक में भी लाभ करते हैं। इनके अतिरिक्त पुष्टिकारक खाद्योज भी दिये जा सकते हैं।

आयुर्वेदीय योगों में मैंने परीक्षा की है कि निम्न योग की दिन में तीन मात्रायें दी जायं तो अच्छा लाभ होता है—

पुनर्नवा मण्डूर या. नवायस लोह, वंशलोचन १-१ रत्ती, शंखभस्म १ रत्ती। मधु से तीन मात्रायें इस योग के साथ साथ स्वर्णमाक्षिक भस्म एवं मुक्तापिष्टी आदि का प्रयोग भी लाभ करता है।

औषधि चिकित्सा के साथ आहार का भी विचार रखना आवश्यक है। यदि शिशु माता के ही दुग्ध पर रहता हो तो माँ को चाहिये कि लघु आहार करे। सुपाच्य भोजन ही उसके लिये आवश्यक है। यदि माँ को अजीर्ण आदि हो तो उसका उपचार करना भी आवश्यक है। यदि शिशु को ऊपर का दूध मिलता हो तो गाय का दूध हलका करके पिलाना चाहिये। मीठा अनार, मौसमी का रस अवस्थानुसार देना चाहिये।

—कवि० श्री पं. शिवकुमार व्यास आयु०, मिषगाचार्य
५, देवनगर, करौलबाग,
नई दिल्ली



बाल मुखपाक [Stomatitis]

श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत साहित्यायुर्वेदाचार्य एम. ए., ए. एम. एस., डी. एस. सी. (ए)



बालकों को यह मुख पाक [मुख के छाले] रोग बहुत अधिकता से होता है। इस रोग में ओष्ठ, दन्त-मूल, दांत, जीभ, तालु गला और गले का प्रारम्भिक भाग यह मुख के सात 'अङ्ग' रोग की अवस्थानुसार थोड़े थोड़े अथवा बहुत आक्रांत हो जाते हैं, इसलिये सम्पूर्ण मुख में फैलने के कारण ही यह मुखपाक रोग 'सर्वसर' नाम से भी प्रख्यात रहा है। इस रोग के भेदों के विषय में प्राचीन आचार्यों के कई मत हैं। यथा

[१] आचार्य विदेह—यह केवल एक रक्तज मुख पाक मानते हैं।

[२] सुश्रुत मुनि—यह १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज के भेद से चार प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

सर्वसरास्तु वातःपित्तकफ शोणित निमित्ताः।

—सुश्रुत निदान अ० १६

[३] आचार्य वाग्भट और शाङ्गधर—यह दोनों आचार्य १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज, ४-रक्तज, ५-सन्निपातज पांच प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

[४] आचार्य माधव आदि १-वातज, २-पित्तज, ३-कफज भेद से तीन प्रकार का मुखपाक मानते हैं।

१—[अ] मुखगलौष्ठादि ससंस्थान व्यापकतया सर्वसरत्वं ज्ञेयम्

—माधवनिदान मधुकोश व्याख्या

[आ] सर्वसर इति ओष्ठगलतालवादि सर्वस्थान व्यापकः।

—अष्टांग हृदय, उत्तर अ. २१ शिवदासकृत व्याख्या

२—[क] सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते।

—माधवनिदान-मधुकोश व्याख्या

[ख] सर्वस्मिन् मुखे ये भवन्ति ते सर्वसरा।

—सुश्रुत संहिता निदान उल्हासकृत व्याख्या

[ग] सर्वमुखेषु सरतीति सर्वसरः।

—शाङ्गधर संहिता-आदिमल्ल व्याख्या

वास्तव में यह उक्त तीन भेद सुश्रुत मुनि के मत के आधार पर किये गये हैं, क्योंकि सुश्रुत मुनि ने पहले चार भेद लिखकर आगे स्पष्ट रूप से निर्देश कर दिया है कि 'रक्तज' भेद स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पित्तज भेद के अन्तर्गत है जैसे—

रक्तेन पित्तोदित एक एवकैश्चित्प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः।
—सुश्रुत निदान अ० १६

लक्षण

वातज मुखपाक—वायु के प्रकोप से होने वाले इस वातज मुखपाक के छालों में सुई चुभने के समान पीड़ा हुआ करती है।

पित्तज मुखपाक—पित्त के छाले लाल रङ्ग के होते हैं इनमें दाह हुआ करती है। यह लाल मुखपाक (लाल छाले) के नाम से प्रसिद्ध है।

कफज मुखपाक—कफ के छालों में पीड़ा नहीं होती है परन्तु खुजली रहती है और इनका रंग जीभ आदि की श्लैष्मिक कला के रङ्ग के समान होता है जो प्रायः सफेद होता है। यह श्वेत मुखपाक या 'सफेद छालों' के नाम से प्रसिद्ध है।

एलोपैथिक मत

पाश्चात्य चिकित्सक तीन प्रकार का मुखपाक मानते हैं। यथा—

१. साधारण मुखपाक (Simple stomatitis)

२. श्वेत मुखपाक (Thrush or parasitic stomatitis)

३. भीषण मुखपाक (Cancrumoris or gangrene stomatitis)

नोट—इन तीनों भेदों के अतिरिक्त पारद जनित मुखपाक (mercurial Stomatitis) एक भेद और माना जाता है परन्तु वह अधिकतर फिरगोपदंश के रोगियों को होता है। केवल बच्चों को नहीं होता है इसलिये यहां उसका वर्णन हमने नहीं किया है।

जुलनात्मक विवेचन—प्राच्य तथा पाश्चात्य चिकित्सकों के लक्षणों पर विचार करके तुलना करने से निम्नलिखित समानता प्रतीत होती है—

१. साधारणमुखपाक (*Simple stomatitis*)
२. श्वेतमुखपाक (*Thrush*)
३. भीषण मुखपाक (*Cancrumoris or Gangrene stomatitis*)

१. पित्तज तथा रक्तज मुखपाक (लाल छाले)
२. कफज मुखपाक (सफेद छाले)
३. सन्निपातज, मुखपाक, वातज मुखपाक भी इसके अन्तर्गत हैं।

विशद विवेचन—

१-पित्तज या रक्तज मुखपाक (साधारण मुखपाक *simple stomatitis*)

(अ) दांत निकलने से पहले होने वाला मुखपाक जिन बालकों का पालन पोषण ठीक न होने के कारण कोष्ठबद्धता आदि अन्य उदर विकार होते रहते हैं, उनके दांत निकलने के समय मुखपाक हो जाता है। ऐसे बालक कृश और कमजोर होते हैं।

(आ) दांत निकलने के पश्चात् होने वाला मुखपाक—दांतों की खचछता न रहने के कारण जिन बच्चों के दांतों में कृमि पड़ जाते हैं तब उन कृमियों से भी मुखपाक हो जाता है।

लक्षण—मुखपाक में मुख की भीतरी झिल्ली और मसूढ़ों में शोथ हो जाता है, पीड़ा रहती है और मोटे ब्रण हो जाते हैं। तीव्र मुखपाक की दशा में कपोल तल, जिह्वा, तालु आदि सब स्थानों पर शोथ, छाले और ब्रण हो जाते हैं, मुख से लाला आत होता रहता है, थूक बहुत आता और कभी भी खर भी हो जाता है।

चिकित्सा—

[१] यदि रोग का कारण कोष्ठबद्धता हो तो उसको चिकित्सा के प्रारम्भ में और फिर आगे भी आवश्यकता पड़ने पर परण्ड तेल (*Caster oil*) या किसी दूसरे विरेचन से पेट साफ करके अग्नि-भार रस या अष्टांग लवण का व्यवहार कोष्ठ-बद्धता (कब्ज) नष्ट करने के लिये प्रतिदिन करना

चाहिये तथा मुख में खदिरादि बटी रखें। भोजन लघु सुपाच्य देना चाहिये। छाले शांत होने पर भी जठराग्नि दीपन चिकित्सा करते रहना चाहिए जिससे कोष्ठबद्धता न होने पावे।

[२] यदि दांतों में मैल जमने से कृमि पड़ने के कारण मुखपाक रोग हुआ हो तो दांतों और मुख को साफ करें तथा भोजन में सावधानी रखें और तरल पदार्थ खावें। भोजन करने के पश्चात्—

(अ) पञ्चवल्कल अथवा त्रिफला के क्वाथ में शीतल होने पर शहद मिला कुल्ला कर मुख को साफ करें।

(आ) टंकणचार को शहद में मिलाकर छालों पर लगावें अथवा बोरोग्लिसरीन (*Boroglycerine*) दिन में तीन बार लगावें।

[३] यदि ब्रण हो गये हों तो—

(क) चमेली के पत्ते, गिलोय के पत्ते, मुनक्का जवासा, दारुदल्दी, हरड़, बहेड़ा, आमला इन सब को कूट कर क्वाथ करें और शीतल होने पर शहद मिलाकर गण्डूष धारण धारण करें।

[ख] इरिमेदादि तेल के कुल्ला करें और उसको छालों पर भी लगावें।

[ग] फिटकरी, खैर और बबूल [कीकर] की छाल के क्वाथ का गण्डूष धारण करें।

औषधि के क्वाथ आदि तरल पदार्थों को मुख में डगना भरकर धारण करें कि वह मख में घूम सके। यह गण्डूष कहलाता है।



[घ] ८० ग्रैन पोटासियम क्लोरास को एक पाव पानी में डालकर कुल्ले करावें तथा १० ग्रैन की मात्रा में दिन में ३ या ४ बार खिलावें।

[ङ] ब्रणों पर ४% या ६% कास्टिक लगायें।

[च] क्रोमिक एसिड (Cromic Acid) का ५% लोशन भी लगाया जाता है।

२-कफज या श्वेत मुखपाक (Thrush or Parasitic stomatitis) लक्षण -

यह रोग सदैव बोटलों के द्वारा दूध पीने वाले बच्चों को विशेषतया हुआ करता है। दूध पीने के पश्चात् बोटल को साफ न करने से उसमें विशेष के कीटाणु प्रविष्ट हो जाते हैं, जो बढ़कर मुखपाक रोग को उत्पन्न करते हैं। मुख में सर्व प्रथम जीभ पर फिर कपोलों के अन्दर तालु और कण्ठ में भी श्वेत वर्ण के छोटे छोटे छाले पड़ते हैं जो धीरे धीरे बढ़कर मिल जाते हैं जिनसे सम्पूर्ण मुख शोथग्रस्त ज्ञात होता है, परन्तु इसमें साधारण मुख पाक की भांति लालसाव नहीं होता है।

चिकित्सा-

दूध पिलाने वाली बोटल को सदैव स्वच्छ रखना चाहिये। मुखपाक रोग होजाने पर सोडियम सल्फाइड सोल्यूशन (Sodium sulphite solution) १ ड्राम लेकर १ औंस जल में घोलकर उससे मुख को स्वच्छ करें तथा बालक के साधारण स्वास्थ्य का ध्यान रखें।

१. कोष्ठबद्धता होने पर प्रारम्भ में तथा बाद में भी आवश्यकता पड़ने पर परण्ड तेल देकर रचन कराना चाहिये।

२. यदि अतिसार हो तो शृंग्यादि चूर्ण देना चाहिये। तथा भोजन करने के बाद लवणभास्कर चूर्ण देना चाहिये।

३. शरीर दुर्बल होने पर मण्डूर बटक दें।

४. २॥ तोला शहद में १० से २० रत्ती तक टंकणचार मिला छालों पर लगावें।

सूचना-यदि बच्चा गाय, बकरी आदि का दूध पीता हो तो उस दूध में चूना का पानी (लाइम वाटर Lime water) थोड़ा सा मिला कर देना चाहिये। यदि बच्चा केवल माता का दूध पीता हो तो पीने से पहिले और पीछे माता के स्तनों को भलीभांति धोना चाहिए।

३-सन्निपातज अथवा भीषण मुखपाक- (Gangrenous Stomatitis)

कारण-

इस रोग का यथार्थ कारण अभी तक भली भांति ज्ञात नहीं हुआ है। जिन बच्चों का पालन पोषण ठीक नहीं होता तथा स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों पर ध्यान नहीं दिया जाता उन बच्चों को दो से पांच वर्ष तक की अवस्था में यह रोग अधिक हुआ करता है। रोमान्तिका (Measles-खसरा) तथा आन्त्रिक ज्वर आदि बालकपन के छूतदार रोगों के कुफलस्वरूप में यह रोग उत्पन्न होता है।

लक्षण-

यह रोग प्रायः ३ से ६ वर्ष तक के बालकों में होता है। इस रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे होता है। मसूरिका, लाल ज्वर (scarlaet fever) तथा कुकुरखांसी (हूपिंगकफ Whooping cough) आदि रोगों के पश्चात् मुख में कपोलों के भीतरी पृष्ठ पर डिफ्थीरिया रोग की भांति एक छोटा सा ब्रण बन जाता है जिसके बीच में मृततन्तु होते हैं और उसके चारों ओर साधारण प्रदाह होता है तथा उसमें से सड़ा हुआ भाग पृथक् होता जाता है। यह ब्रण शीघ्रता से आगे, पीछे तथा अन्दर से बाहर की ओर बढ़ने लगता है यहां तक कि ७ से १० दिन में कपोल के आरपार हो जाता है और कभी कभी सड़ायद बढ़कर बाहर नेत्रों तक और मुख के अन्दर जीभ, दांत, जबड़ा, कपोल की हड्डी तक पहुंच कर फैल जाती है। जब कपोल के भीतर एक बड़ा ब्रण दृष्टिगोचर होता है तब उसकी चिकित्सा की चिन्ता होती है। कपोल अधिक कठोर होता है तथा अन्य शारीरिक लक्षण भी प्रकट

हो जाते हैं। यद्यपि ज्वर साधारण होता है परन्तु वह सांघातिक रूप धारण कर लेता है। ज्वर दुर्बलता आदि लक्षण बहुत तीव्र हो जाते हैं, नाड़ी तीव्र चलती है। कभी कभी अतिसार तथा फुफ्फुस प्रदाह भी हो जाता है और रोगी ६ से १० दिन में मर जाता है। साध्यावस्था में ब्रण २ या ४ दिन में स्वयं भरने लगता है तथा ज्वर आदि शारीरिक लक्षण कम होने लगते हैं और रोगी १० या १२ दिन में अच्छा हो जाता है।

चिकित्सा—

सड़ायद (सड़ने की क्रिया) रोकने के लिये पोटासियम परमैंगनेट से मुख के ब्रण युक्त भाग को शुद्ध करें और गर्मसेक तथा पुलिटस के प्रयोग से सड़ भाग निकाल दें। रोग होते ही उस स्थान पर कार्बोलिक एसिड (Carbolic Acid) २% या स्ट्रॉंग नाइट्रिक एसिड (Strong Nitric Acid) अथवा स्ट्रॉंगसिल्वर सोल्यूशन (Strong silver Solution) लगावें। कार्बोलिक एसिड का प्रयोग अधिक

उपयुक्त औषधियां लगाते समय सावधानी रखें कि कहीं रुग्ण स्थान की जगह स्वस्थ श्लैष्मिक कला न जल जाय। इसके लिये तैल लगावें और पोटासियम कार्बोनेट का गाढ़ा सोल्यूशन लगावें। इससे विकृति दूर हो जायगी। मुख को शुद्ध करने के लिये फार्मामिण्ट की टिकियां ४-४ घण्टे बाद व्यवहार में लावें।

उत्तम माना जाता है। नाइट्रिक एसिड लगाने के कुछ मिनट बाद स्ट्रॉंग सोल्यूशन आफ कार्बोनेट आफ सोडा से वह स्थान धो देना चाहिये। सड़ा भाग निकल जाने पर टिंचर फैरी पर क्लोराइड लगावें।

रोगी पूर्ण विश्राम करे तथा खाने के लिये दूध तथा अन्य पोषक तरल पदार्थ लें और बल बढ़ाने के लिये औषधि के रूप में टिंचर फैरी परक्लोराइड अथवा किसी आयुर्वेदिक लोह घटित प्रयोग का सेवन करें तो शीघ्र लाभ होता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

१. त्रिफला, पाठा, मुनक्का और चमेली के पत्तों का क्वाथ करें तथा शहद मिलाकर मुख धोने के लिये प्रयोग करें।

२. भोजनोपरांत कुठेरादि गण का प्रयोग करें।
३. वातज मुखपाक में छोटी पीपल, सेंधा नमक तथा इलायची के चूर्ण से प्रतिसारण (घर्षण) करें अथवा वायु नाशक पदार्थों से सिद्ध तेल का कवल धारण करें और नस्य लें।

४. पित्तज, रक्तज और कफज तथा सन्निपातज मुखपाक में इन दोषों के नाशक द्रव्य प्रयोग करें।

—श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत, साहित्यायुर्वेदाचार्य
एम० ए०, ए० एम० एस०, डी० एस सी० ए०
प्रिन्सीपल-गवर्नमेंट आयुर्वेदिक कालेज,
रायपुर (म० प्र०)

मुखपाक नाशक सफल प्रयोग

[१]

इसमें त्रिफला के काथ से अथवा पान, द्राक्षा, चमेली के पत्तों के काथ से कुल्ले करें। कुठेरादि गण की औषधियां चबाकर थूकें। मुखपाक में खदिरादि से साधित इरिमेदादि तैल से कवल तथा नस्य लें। अनार के फूल, छोटी इलायची, कपर्द

भस्म, लोध्र, तवाशीर, कत्था का धूड़ा लगावें। खदिरादि बटी चूसें। कालक चूर्ण अथवा पीतक चूर्ण को मधु के साथ मुख में धारण करें। गेरु को मधु से मिलाकर चटावें। रसौत लगावें। पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण मधु में मिलाकर लेप करें। सुदागे की भस्म मधु में चटावें। लक्ष्मीविलास रस



दें। कब्ज न रहने दें। गर्म गर्म चीजें न खिलावें।

—श्रीमती यशोदादेवी वैद्याचार्या

बाड़ा हिन्दूराव, देहली-६

[२]

अतिसारयुक्त मुखपाक में—

थालाजौल टिकिया १, ऐन्टीरोवायोफार्म १ टिकिया, सल्फागुआनिडीन २ टिकिया, विटामिन सी १ टिकिया, पेलोनीन २ टिकिया, ईस्ट १ टिकिया, सोडाबाई कार्ब २० ग्रेन, ग्लूकोज २० ग्रेन।

विधि—इन सबको पीसकर एक वर्ष के बालक को ८ पुडियां बनावें और २-२ घंटे के अन्तर से ताजे जल में घोल कर बालक को देते रहें और मुख के भीतर लगाने के लिये १ तोला ग्लेसरीन में १ माशा सुहागे का फूला मिलाकर रखें और फुरैरी से अनेक बार लगावें। यह प्रयोग बिगड़े से बिगड़े मुखपाक में एवं दस्त पेचिश में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

—श्री डा० बुद्धिप्रकाश आर्य वैद्य विशारद
देशी हितकारक फार्मसी,
सरायतरीन [सुरादाबाद]

[३]

टंकण [सुहागा] का चूर्ण बना मधु में मिलाकर चटावें या बोरिक ग्लेसरीन बनाकर चटावें। मधु में अरारोट मिलाकर चटावें। या छोटी इलायची १ माशा, बड़ी इलायची १ माशा, गिलोय सत्व ३ माशा, तवाशीर ३ माशा, मिश्री २ तोला सभी का वस्त्रपूत चूर्ण कर मुख के छालों पर बुरकते रहें या मधु मिलाकर चटावें।

तीव्र मुखपाक पर—सिलवर नाईट्रेट दो प्रतिशत का घोल लगावें। बोरिक ग्लेसरीन चार बार लगावें। या तुल्य छालों पर लगाकर ऊपर बोरिक ग्लेसरीन लगावें। पोटांश क्लोराइड के द्वारा गरारे करावें। बाकी वैद्य या चिकित्सक अवस्थानुसार उपचार करें।

नमक के गरारे भी लाभदायक हैं। तुलसी के गरारे भी लाभदायक हैं।

—कवि० श्री जगदीशचन्द्र भारद्वाज B. A. M. S.
राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय,
जोधका [हिसार]

[४]

गोंद ढाक [पलास] और संग सफेद [संगज-राहत] दोनों ही बराबर बारीक पीस कपड़नकर लें और दिन में २-४ बार बच्चे के मुंह में चुटकी द्वारा डालें। अथवा—

गोंद ढाक का लोशन बना फुरैरी द्वारा मुंह में लगायें।

लोशन बनाना—

गोंद २ तोला, पानी २ तोला उबाल छानकर रख लें। यही लोशन है।

—श्री डा० रामप्रसाद वैद्य विशारद
ढोढर [रतलाम] म० प्र०

[५]

बच्चों को यह रोग अक्सर होता है। यह रोग गर्मी से उत्पन्न होता है। इस रोग में नीचे लिखा नुस्खा बहुत ही फायदा करता है—

ग्लेसरीन ४ तोले, टेनिक एसिड १ तोला।

निर्माण विधि—दोनों को खरल में खूब घोटकर एक रस करके शीशी में भरलें।

लगाने की विधि—रूई के फाहे से बालक के मुंह में लगाकर उसे गोद में उलटा सुला लें। इससे बच्चे के मुंह के अन्दर की लार बाहर निकल जायगी।

दवा लगाने का समय—सुबह, दोपहर और शाम को दवा लगानी चाहिये। दवा में पेट चली जाने पर भी कोई नुकसान नहीं देती। इस दवा को २-३ दिन लगाने से बच्चे का रोग जड़ से नष्ट हो जायगा। दवा परीक्षित है। इस दवा से बच्चे के मुंह के अन्दर के पड़े हुए छाले बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं।

—श्री सीताराम शिल्पकार
दथोह [भिड]

सर्दी और उसकी चिकित्सा

श्री डा० कुलरञ्जन मुखर्जी

नाक और मुंह के रास्ते से श्लेष्मा के बहिर्ग-
गत का साधारण नाम है सर्दी, जुकाम या नाक
बन्दना। संस्कृत भाषा में इसे प्रतिश्याय कहा जाता है।

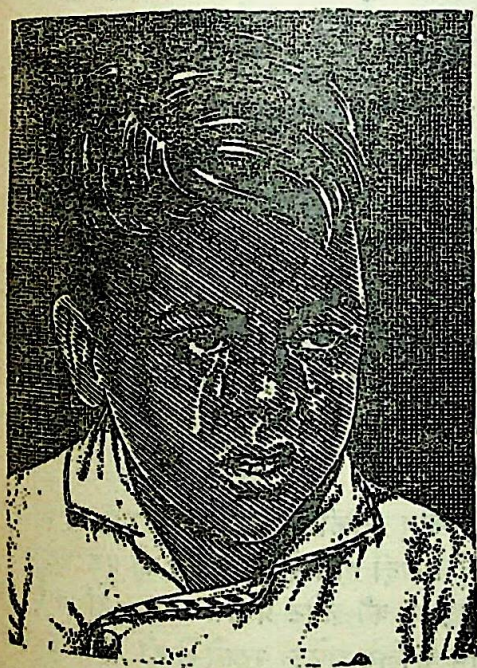
बार बार छींकना, नाक में रक्ताधिक्य, नाक से
पानी के समान बलगम निकलना, नाक का रास्ता
बन्द हो जाना, नाक की घ्राणशक्ति विलोप, स्वर-
भंग और सर्व अङ्गों में दर्द तथा कंपकंपी आदि
सर्दी के साधारण लक्षण हैं। कभी कभी इसके

भीतर विभिन्न कीड़े पाये जाते हैं। किंतु आश्चर्य की
बात यह है कि वे सब जीवाणु हमेशा स्वस्थ नाक
के भीतर भी दिखाई पड़ते हैं। हम लोग सांस के
साथ हमेशा सर्दी के कीड़ों को शरीर के भीतर
लेते हैं। परन्तु इससे हम लोग सर्दी से आक्रांत
नहीं होते।

साधारणतया ठंड लगकर ही सर्दी होती है।
ठंड लगने के कारण देह के रोमकूप बन्द हो जाते
हैं। तब रोमकूप के मार्गों से शरीर के विष जो
बाहर होते हैं वे बाहर नहीं हो सकते। तब प्रकृति
श्वास नली या नासिका की श्लेष्मिक झिल्ली में
रक्ताधिक्य तथा स्फीति उत्पन्न करती है तथा उससे
श्लेष्मा के रूप में वे विष रक्त के पानीला अंश
के साथ बाहर हो जाते हैं। इसका प्रचलित नाम
नाम ही सर्दी है।

किंतु थोड़ी सी ठंड लगने पर ही सर्दी हो
जाती है ऐसी कोई बात नहीं। अगर देह लघु,
आंत साफ और मूत्रस्रोत स्वाभाविक हों एवं उसके
फलस्वरूप शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता सबल रहे
तब साधारणतया ठंड लगने पर भी कुछ भी नहीं
होता। शरीर सहज में ही अपने को आप ठीक कर
लेता है।

जब देह विभिन्न दूषित, विषैले तथा परित्यक्त
पदार्थों से भारी हो जाय और देह के अपनयनमूलक
यन्त्र देह को साफ रखने में अक्षम हो जाते हैं
तभी केवल सर्दी लग जाती है। बहुत छोटे बच्चों के
रोग प्रतिरोध क्षमता कम रहती है जिससे कि मामूली
कोष्ठबद्धता आदि सामान्य कारणों से ही सर्दी
से वे आक्रांत हो सकते हैं। इसलिये सिर्फ ठंड
लगने से ही सर्दी होती है ऐसी बात नहीं, भीगे
घर में रहना, सांस के साथ धूल, धूआं और बदबू-
दार गैस का ग्रहण करना और जनतापूर्ण स्थान में
रहना आदि कारणों से सर्दी हो जाती है।



चित्र नं० ११३—सर्दी ग्रस्त बालक

साथ थोड़ा सा ज्वर भी वर्तमान रहता है। साधा-
रणतया दूसरे या तीसरे दिन से बलगम गाढ़ा होने
लगता है और यदि कोई इलाज नहीं किया जाय
तो ४-७ दिनों तक नाक से बलगम बराबर निकलता
रहता है।

यह अनुमान किया जाता है कि हरेक जीवाणु
से सर्दी उत्पन्न होती है। वास्तव में बलगम के

वास्तव में अन्यान्य बहुत रोगों के समान देह को दोषमुक्त करना ही सर्दी प्रकृति का एक कौशल है। जब शरीर हरेक दूषित पदार्थों से भारी हो जाता है तब प्रकृति हरेक तरीके से देह को दोषमुक्त करने की चेष्टा करती है। जब बलगम के आकार में प्रकृति उसे बाहर करने की कोशिश करती है तभी उसे सर्दी कही जाती है। सर्दी के समय जो छींक आती है और बलगम निकलता है उससे यही प्रमाणित होता है कि प्रकृति घर साफ कर रही है।

इसलिये जबरदस्ती करके सर्दी को रोकना बहुत भ्रम है। बल्कि जिन कारणों से सर्दी हुई है उनको हटाकर सर्दी को मिटाना चाहिए। घर में मैल जमा हो जाने पर घर की मोरी को बन्द कर देना जैसा खराब है, सर्दी लगने पर बलगम का बाहर आना बन्द कर देना भी वैसा ही हानिकारक है। बच्चों के कोमल शरीर में विष डालकर शायद जादू की तरह ही सर्दी बन्द की जा सकती है। किंतु उससे रोग का मूल कारण नष्ट नहीं होता। उसके फलस्वरूप वह कुछ दिन दबा रहता है। उसके बाद जो आसान था वही सौ गुना भयंकर होकर किसी मुश्किल रोग के रूप में फिर दिखाई देता है।

इसलिये किसी भी कारण से सर्दी क्यों न हो पहले ही शरीर के विभिन्न रास्तों से देह को भारमुक्त करना कर्त्तव्य है। हमारे शरीर में हमेशा ही हरेक विष उत्पन्न होते हैं। प्रकृति उसे शरीर के विभिन्न रास्तों से बाहर निकालकर हम लोगों को हमेशा स्वस्थ रखती है। रोग होने पर भी प्रकृति के उन सब रास्तों से देह के मैल बाहर निकालकर हम लोग पुनः रोगमुक्त हो सकते हैं। आयुर्वेद के पंच कर्म के भीतर इसका अचूक निर्देश रहा है।

सर्दी होने पर पहले ही अविलम्ब बच्चों के कोष्ठ साफकर लेना जरूरी है। बच्चा बहुत छोटा होने पर उसके मलद्वार के भीतर पान का डंठल प्रविष्ट करा देने से अपने आप ही मल बाहर निकल जाता है। डण्डल के सिरे पर पहले थोड़ा सा नारियल का

तैल लगा लेना चाहिये। किंतु बच्चा यदि कुछ बड़ा हो तो आवश्यकता होने पर मध्यम आकार के चम्मच से १ चम्मच शहद सम मात्रा में गरम पानी में मिलाकर कांच की पिचकारी से उसके मलद्वार में प्रविष्ट करा देना चाहिए। शहद भीतर चले जाने के बाद मलद्वार को एक आध मिनट के लिये दबा रखना चाहिये। इसके बाद छोड़ देने से ही काफी मल बाहर आता है या पानी में शहद या नीबू का रस मिलाकर बच्चे को दूध दिया जा सकता है। इससे कुछ भी हानि नहीं होती और पेट में जिसकी आवश्यकता नहीं होती केवल उसे ही साथ लेकर दूध का पानी बाहर निकल आता है। जुलाब देने की अपेक्षा इस दूध को देना बहुत अच्छा है।

बच्चे का पेशाब जिससे सरल रहे उस पर भी ध्यान देना बहुत जरूरी है। नीबू के रस के साथ पानी पिलाने से पेशाब सरल हो जाता है। तरुण सर्दी में हर घंटा बाद बच्चों की उम्र के अनुसार २ से ६ औंस तक पानी पिलाना उचित है। जाड़ा और कंपकंपी रहे तो हमेशा गरम पानी पिलाना चाहिये और उसके बाद गुनगुना पानी पिलाना कर्त्तव्य है। किंतु अगर बच्चा नीबू का पानी पीना स्वीकार न करे तो बदले में उसे मधु का पानी दिया जा सकता है।

किंतु इसकी प्रधान चिकित्सा ही है छाती की लपेट। सर्दी होने से ही बच्चे को एक घंटे के लिये एक छाती की लपेट प्रयोग करना उचित है। कुछ समय के लिये लपेट रखने से ही लपेट के भीतर थोड़ा सा ताप का संचार होता है। इसके फलस्वरूप रोमकूप खुल जाते हैं और शरीर में जमा हुये विष रोमकूप के रास्तों से बाहर हो जाते हैं। अतः प्रकृति को उलटे रास्ते से शरीर के विष बाहर करने की आवश्यकता नहीं होती एवं सर्दी की स्वाभाविक मौत होती है। एक छोटा पतला कपड़े का टुकड़ा गरम पानी में डुबोकर और अच्छी तरह निचोड़कर उससे नाभी से गला तक सभी



शिशुरोगाङ्क

स्थान छाती तथा पीठ ढक कर आवृत कर देना चाहिए और उसके बाद ही एक ऊनी कपड़े से उसे इस तरह आवृत करना चाहिये जिससे लपेट के भीतर गर्मी पैदा हो जाय। इस लपेट को सिर्फ १ घंटा रखने से ही सर्दी के समूचे रोग लक्षण दूर हो जाते हैं। एवं ज्वर रहने पर भी ज्वर चला जाता है।

बच्चों का सिर दिन में तीन बार धुला देने के बाद सारा शरीर ठंडा या गुनगुना पानी में डुबा हुआ तथा निचोड़े हुए गमछे से पौछ देना जरूरी है। सुबह, दोपहर और रात में ऐसा कराना चाहिये, किन्तु रोगी के शरीर में जाड़ा या कंपकंपी रहे तो कभी ऐसा नहीं करना चाहिये। शरीर पौछने से पहले तो चमड़ा थोड़े समय के लिये सिकुड़ जाता है। इसके बाद जब प्रतिक्रिया आ जाय तब सारे शरीर में खून को दौड़ा बढ़ जाता है। इस प्रतिक्रिया को लाने के लिये शरीर पौछने के बाद ही बच्चों के तमाम शरीर को रगड़कर शरीर को पुनः गरम कर लेना चाहिए।

सर्दी लग जाने पर पहले से ही बच्चों को बिछौने में रखकर पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है। सर्दी के साथ ज्वर रहे तो ऐसा करना जरूरी कर्त्तव्य है। इससे सर्दी के फलस्वरूप कोई उपसर्ग आ नहीं सकता और रोग का भोग काल कम होता है।

सर्दी के समय बच्चों को घर के भीतर ऐसे स्थान में रखना चाहिये जिससे उनके शरीर में हवा के झोके न लगें। किन्तु घर के भीतर जिससे हवा का आवागमन हो, इसकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। रोग मिटने के बाद बच्चों को खुली हवा में खेलने के लिये उत्साह देना चाहिये और रात में घर को तमाम खिड़कियां खुली रखें।

कोई कोई आदमी ऐसे हैं जो ठंड लगने के डर से अपने बच्चों को हमेशा ऊनी कपड़ों से ढक कर रखते हैं। बहुत आदमी ऐसे हैं जो सर्दी के डर से बच्चों को हमेशा गरम पानी पिलाते हैं और गरम पानी

में नहलाते हैं। इन बच्चों की सर्दी कभी नहीं छूटती। सर्दी से छुटकारा मिलने का उपाय ठंडे से परहेज रखना नहीं, बल्कि आहिस्ते आहिस्ते शरीर को ठंडे में अभ्यस्त कर लेना है। मछुआं तथा नाविकों के समान बच्चों के शरीर को भी ऐसा कर लेना चाहिये जिससे ठंड लगने पर भी ठंड न लग जाय।

कोई कोई बच्चे वर्ष भर पुरानी सर्दी से कष्ट भोगते रहते हैं। किसी किसी बच्चे को तो वर्ष भर नाक से बलगम निकलते रहते हैं। बच्चों के माता पिता इसकी परवाह ही नहीं करते। लेकिन फौरन सर्दी का इलाज न किया जाय तो श्वास नली आदि यन्त्र इससे खराब हो जाते हैं और बहुत अवस्थाओं में सर्दी पुराने रोग के आकार में बदल जाती है। साधारणतया सर्दी को सामान्य रोग जैसा गिना जाता है। किन्तु सर्दी को जितना सामान्य रोग समझा जाता है। वह इतना सामान्य रोग नहीं है। सर्दी तो आती है बहुत जल्दी किन्तु बहुत जल्दी नहीं चली जाती। सर्दी होने के बाद अगर जल्दी कोई व्यवस्था नहीं की जाय तो पुनः सर्दी का आक्रमण होने की संभावना पैदा होती है।

इसलिये पुरानी सर्दी में कोष्ठ आदि साफ रखकर बार बार छाती की लपेट प्रयोग करनी चाहिए। इससे बच्चे बहुत जल्दी अच्छे हो जाते हैं।

जिन सब बच्चों के सामान्य कारणों से ही नाक बहना शुरू हो जाता है, कुछ दिन तक उनके नाक के ऊपर गरम ठंडा प्रयोग करना चाहिये। आधा मिनट गरम सेंक के बाद आधा मिनट काल नाक ठंडे पानी से भीगे गमछे से पौछ देना चाहिए और एक ही समय में ऐसा तीन बार और दिन में एक बार करना उचित है।

बच्चों के पथ्य के ऊपर भी ध्यान देना बहुत आवश्यक है। तरुण रोग के समय बच्चों को सिर्फ साथ रीकेट रोग का भी होना बुरा लक्षण है। शारीरिक रोग निवारक शक्ति क्षीण करके स्कर्वी

—शेषांश पृष्ठ ३६२ पर

स्कर्वी या प्रशीताद (Scurvy)

श्री पद्मदेव नारायण सिंह एम. बी., बी. एस.

परिभाषा—

स्कर्वी एक हीनता या न्यूनताजनित (*Deficiency disease*) है जो आहार में विटामिन-‘सी’ या स्कॉर्विक एसिड की कमी के कारण और केशिकाओं की भृंगुरता में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है, जिसके विशिष्ट लक्षण हैं—शरीर के विभिन्न अङ्गों और अवयवों में रक्तस्राव, मसूढ़ों से खून निकलना, दांतों का हिलना, शरीर में खून की कमी और क्लान्ति तथा अत्यधिक दुर्बलता आदि।

हेतु विज्ञान—

इस रोग में केशिकाओं की दिवालें कमजोर और भृंगुर हो जाती हैं जिससे चमड़ी के नीचे, पर्यास्थि और अस्थियों के बीच, श्लैष्मिककलाओं के नीचे, हृदयावरक या फुफ्फुसावरक गुहा में, सन्धियों में, तथा अन्य स्थानों में रक्तस्राव होता है। रक्तोत्सर्ग तथा अस्थियों की वृद्धि और विकाश भी अवरुद्ध हो जाते हैं।

आहार—आहार में किसी विशेष तत्व की कमी के कारण स्कर्वी रोग की उत्पत्ति और ताजे फलों या सन्तरा, नारङ्गी का रस पीने से उसके अन्ध्रा हो जाने के बारे में बहुत पहले समय से लोगों को मालूम था। पुराने जमाने में नाविकों में यह रोग बहुत अधिक पाया जाता था क्योंकि बहुत अधिक समय तक उन्हें हरा या ताजा फलमूल सागसब्जी आदि खाने को नहीं मिल पाती थी और उन्हें केवल डिब्बे में बन्द तथा सुखाई हुई सागसब्जियों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। बाद में पता चला कि यह आवश्यक स्कर्वी रोधक या निवारक तत्व विटामिन ‘सी’ है जो ताजे फलों और सन्तरा नारङ्गी, आमला, टोमैटो तथा अंगूर जैसे फलों में सविशेष परिमाण में पाया जाता है। इसलिये इस रोग से रक्षा

के लिये आजकल शिशुओं, बच्चों और वयस्कों को इन फलों का रस दिया जाता है। माता के दूध में शिशु के लिये पर्याप्त विटामिन सी रहता है इसलिए स्तनपायी शिशुओं में यह रोग प्रायः नहीं पाया जाता है। बकरी, गाय और भैंस के ताजे दूध में भी यह विटामिन पर्याप्त मात्रा में रहता है किन्तु उबालने और पास्चुरीकरण क्रिया द्वारा इसका अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। इसलिये पाचकर दूध, संघनित दूध या डिब्बे में बन्द दूध और उबलते हुए या अन्य प्रकार के दूध पर पलने वाले शिशुओं को विटामिन ‘सी’ की कमी पूरा करने के लिए उनके साथ साथ फलों या टोमैटो का रस भी जरूर देना चाहिए।

विटामिन ‘सी’ आंवला, टोमैटो, हरीमिर्च, आलू, नारङ्गी, सन्तरा, निम्बु, अंकुरित अनाज, हरे साग सब्जियों में अधिक पाया जाता है। कृत्रिम रूप से भी इसका संश्लेषण किया जाता है। शरीर के अन्दर कुछ अवयव भी इस विटामिन का निर्माण करते हैं जिससे शरीर की इस विटामिन की आवश्यकता की आंशिक पूर्ति भी होती है।

स्कर्वी रोग के दो प्रकार हैं—(१) बालस्कर्वी (*Infantile scurvy*) और (२) वयस्क स्कर्वी (*Adult scurvy*)।

आयु और लिङ्ग—बाल स्कर्वी साधारणतः ६ महीने के आयु में प्रारम्भ होता है यद्यपि ६-१८ महीनों के बीच यह कभी भी पाया जा सकता है। ६ महीनों के पहले बिरले ही यह रोग कभी देखा जाता है। बालक बालिकाओं में समान रूप से पाया जाता है। वयस्कों में बहुत अधिक समय तक विटामिन सी की कमी होने पर यह किसी भी आयु में पाया जा सकता है।

लक्षण और चिन्ह -

[क] बाल स्कन्धी—

यह रोग साधारणतः धीरे धीरे प्रारम्भ होता है और शुरु में बच्चों में परिक्लान्ति, विवर्णता या विरक्तता, चिड़चिड़ापन या खिन्नता देखी जाती है वही तो साधारणतौर पर वह बाहर से स्वस्थ ही हो दिखाई पड़ता है। इसके बाद उसके पैरों में पीड़ा और स्पर्शकतरता पायी जाती है जिसके कारण वह उस अङ्ग को व्यवहार नहीं करता और उसे स्थिर या निश्चल रखता है और किसी तरह जरा भी अङ्ग में छू जाने या गोद में उठाने पर जोर से चील उठता है। नहलाने के बाद तौलिया से अङ्ग पोंछते समय या और कभी बच्चे को उठाते समय पोंछित अङ्ग दब जाये तो उसके कराह उठने पर लोगों का ध्यान इस अवस्था की ओर आकर्षित होता है।

इस रोग के लक्षण मुख्यतः लम्बी हड्डियों के पर्यास्थि के नीचे, मसूढ़ों में, सन्धियों में और अन्तराङ्गों में रक्तस्राव के कारण उत्पन्न होते हैं। पीड़ा के कारण शिशु बिस्तरे पर मेढ़क की स्थिति में शानि जंघों और घुटनों को मोड़ कर पैर को पेट में सटाये हुये पड़ा रहता है। अचल होने के कारण मात्स्य पड़ता है कि उस अङ्ग पर लकवा का असर हो गया हो किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

इस रोग का अस्थि संस्थान पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जंघास्थि और प्रजंघिक (*Femur and Tibia*) और उनके पर्यास्थियों के बीच अधिक रक्तस्राव होने से पर्यास्थि उठ कर विलग हो जाता है, जानुसन्धि [*knee*] में बहुविस्तृत सूजन हो जाती है जिससे वह तर्कुआकार (*Drum shaped or spindle shaped*) या ढोल के समान दिखाता है। पेशियों के अन्दर भी रक्तस्राव हो सकता है और बहिरागत चरितरक्त भी उनमें प्रवेश कर सकता है। ऐसी हालत में वह अङ्ग सूज जाता है और कभी कभी शोथ भी पाया जाता है। स्पर्श द्वारा परीक्षा करने पर पर्यास्थि-रक्तस्राव (*subpe-*

riosteal haemorrhage) का पता चलता है। निम्नाङ्गों में जंघास्थि तथा प्रजंघिका के नीचले भागों में तथा ऊर्ध्वांगों में बहिष्प्रकोष्ठिका (*Radius*) के दूरस्थ भाग की ओर रक्तस्राव अधिकतर पाया जाता है। कभी कभी अस्थिशिर या प्रान्तास्थि और अस्थिगात्र (*Epiphysis and diaphysis*) के बीच भी रक्तस्राव पाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अस्थिशिर अस्थिगात्र से विलग हो जा सकता है। इस सूजन के ऊपर की चमड़ी तनी हुई और चमकदार दिखलाई देती है। मसूढ़ों से रक्तस्राव एक साधारण लक्षण है किन्तु यह केवल दांत निकलने के बाद ही देखा जा सकता है। गम्भीर अवस्था में मसूढ़ा बहुत सूज जाता है और दांत शिथिल होकर गिर सकते हैं। नेत्रकोटर में रक्तस्राव और रक्तसंचय होने के कारण नेत्र गोलक प्रलम्बित (*Proptosis*) हो जाता है और पलकों में भी खून जमा हो जा सकता है। छाती की परीक्षा करने पर पशुकाओं में अस्थिकौटिल्य पर्वमाला (*Scorbutic beading*) देखा जाता है जो कि उरःफलक और उपपशुकाओं के पीछे या अन्दर की ओर दब जाने के कारण बन जाता है। स्कर्वीजनित अस्थिकौटिल्य और रीकेट रोग (*Ricket*) जनित अस्थिकौटिल्य, जिसके विशिष्ट गुण निम्नलिखित हैं, विभेद करना आवश्यक है। रीकेट में पर्वमालागठन तर्कुआकार और पशुकाओं के अन्त में होता है और उपपशुकाओं तथा उरःफलक अन्दर की ओर दबा हुआ नहीं होकर बाहर की ओर निकला हुआ होता है। मूत्र संस्थान में रक्तस्राव होने पर रक्तमेह (*Haematuria*) पाया जाता है जो अतिसूक्ष्म या प्रत्यक्ष हो सकता है।

मल के साथ रक्तस्राव, श्लैष्मिक कला या त्वचा वा अन्तराङ्गों में रक्तस्राव जो वयस्कों में साधारणतः पाया जाता है, शिशुओं में बहुत बिरले ही कभी देखा जाता है।

रक्ताल्पता यद्यपि रक्तस्राव के कारण भी



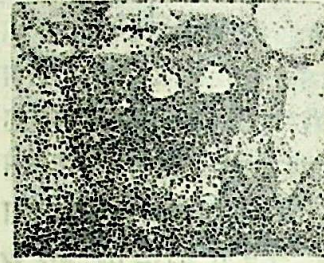
हो सकती है। फिर भी इसका मुख्य कारण विटामिन—'सी' की कमी है जिसके कारण रक्ताणु-गठन क्रिया ठीक ठीक नहीं हो पाती। विटामिन 'सी' देने पर आशातीत लाभ होता है। इस रोग के कारण शिशु का शारीरिक विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। लम्बी हड्डियों के छोर पर अधिक खटिकरण या कैल्शियम जमा होने के कारण एकसरे परीक्षा करने पर "श्वेत रेखा" (*White line of scurvy*) दिखायी देती है। इस अवस्था को रीकेट रोग के एकसरे चित्रण से विभेद करना चाहिए जिसमें अस्थि का अन्त भाग विस्तारित चीपिट या गहरा और विषम बढ़ जाता है जबकि स्कर्वी में अस्थि सम और सीधी बनी रहती है। अस्थि और पर्यास्थि के बीच में रक्तस्राव होने के कारण पर्यास्थि अस्थि से विलग होजाता है जो एकसरे में दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त अगर रक्त-क्षरण २-३ सप्ताह हो चुका हो तो उसमें अस्थियन या अस्थिगठन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिससे पर्यास्थि उस एकत्रित रक्त के ऊपर एक पतली रेखा के रूप में दिखाई देता है। निरुपद्रविक स्कर्वी में साधारणतः ज्वर नहीं पाया जाता किन्तु अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कभी कभी १०२° फा तक ज्वर पाया जाता है।

[ख] वयस्क या युवाकालीन स्कर्वी (Adult scurvy)—

विटामिन 'सी' की कमी होने पर वयस्कों में स्कर्वी रोग के लक्षण प्रगट होने में ४-८ महीनों या इससे अधिक समय लगता है।

इसके अतिरिक्त अधिकतर इस विटामिन की कमी एकाएक न होकर धीरे धीरे होती है जिससे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जिसे हम उप-स्कर्वी (*Subscurvy*) कह सकते हैं। ऐसी हालत में चोट लगकर, जल कर, या आपरेशन द्वारा कटने या घाव होने पर उसके भरने में बहुत अधिक समय लगता है और उसमें रक्तस्राव भी हो सकता है। मसूढ़ों से भी खून आता रहता है। स्कर्वीरोग का

प्रारम्भ बहुत धीरे धीरे होता है और शुरु में रोगी को सुस्ती, थकावट और कमजोरी महसूस होती है। शिर में चक्कर और कभी कभी मसूढ़ों से खून आता है। बाद में मांसपेशियों और पैर की पिंड-



चित्र नं० ११४

स्कर्वी में मसूढ़ों की दशा

लियों में आक्षेप या ऐंठन और पीड़ा मालूम पड़ती है, चेहरा चिक्का या कांति-हीन होजाता है और आंखों के चारों ओर एक काला धरा बन जाता है। कुछ समय के बाद मसूढ़े फूल जाते हैं, उन पर घाव बन जाते हैं, और उनमें से एक दुर्गन्धपूर्ण स्राव या रस निकलने लगता है। दांत हिलने लगते हैं और कभी कभी गिर भी जाते हैं।

त्वचा में और त्वचा के नीचे भी सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रक्तस्राव होता है। पहले बालों की जड़ों के पास अरुणाभ छोटे छोटे दाने निकल आते हैं जो बाद में नीले और हरे हो जाते, अन्त में विलुप्त हो जाते और वहां पर चमड़ी का उपरी स्तर गिर जाता है। ये दाने पैरों, हाथों और बखों के साथ संघर्ष होने वाले अन्य स्थानों पर अधिक देखे जाते हैं। बहुत से दानों के मिलने से चक्का जैसा ही बन जाता है। चमड़ी के नीचे अधोल-गीय सौत्रिक तन्तुओं या मांसपेशियों के अन्दर रक्तस्राव स्वतः या मामूली चोट लगने पर भी होता है। सबसे अधिक रक्तस्राव पैरों में, घुटनों के पीछे या कोहनियों के सामने तथा टखनों के पास में होता है। उस स्थान पर शोथ उत्पन्न होता है। स्थानिक त्वचा तप्त और अरुणाभ हो जाती है। दाबने पर पीड़ा होती है और वहां पर गढ़ा बन जाता है। सूजन के कारण सन्धियों के आसपास के स्वाभाविक गढ़े भर जाते हैं और सन्धि के कार्य में बाधा पहुंचती है। श्लेष्मिक



कलाओं के नीचे भी रक्तस्राव हो सकता है जैसे नाक से खून निकलना या विनाय फूटना, मुंह से खून आना, आंखों में खून आना आदि। कभी कभी मूत्र, थूक या मल के साथ भी इसी कारण रक्त आ सकता है। रोग बढ़ने के साथ-साथ रक्तस्रावता भी गम्भीर होती जाती और रक्ताणुओं की संख्या तथा हिमोग्लोबिन के प्रतिशत मान में बहुत अधिक कमी हो जानी है। बहुत से रोगियों में पचन पाचन के विकार भी देखे जाते हैं। शारीरिक रोग निवारक शक्ति में कमी हो जाने के कारण रोगी को अन्य रोग भी आसानी से धर दबाते हैं जिससे उसका प्राणान्त हो जा सकता है।

निदान और विभेदात्मक निदान -

उपरोक्त सभी प्रारूपिक लक्षणों की उपस्थिति में निदान में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। खासकर शिशुओं में जबकि उनके जीवन के पहले वर्ष के उत्तरार्ध अङ्गों या निम्नाङ्गों में स्पर्श कातरता विद्यमान हो। इस दशा में बच्चों में अस्थिकौटिल्यज पर्वमाला और रक्तमेह की विद्यमानता तथा दन्तोद्गमन के बाद मसूढ़ों से रक्त आना आदि लक्षणों से काफी सहायता मिलती है।

इस रोग के विभेदात्मक निदान में—

- [१] उग्र आमवात (Acute rheumatism)
- [२] उग्र अस्थिप्रदाह (Osteomyelitis)
- [३] सार्कोमा नामक अर्बुद (Sarcoma)
- [४] उपदंशज अस्थिशिर, प्रान्तास्थि प्रदाह (Syphilitic epiphysitis)
- [५] उग्र सुषुम्ना प्रदाह या बाल पक्षाघात (Acute anterior poliomyelitis or infantile paralysis)
- [६] दन्तोद्गम (teething) आदि को ध्यान में रखना चाहिये।

उग्र आमवात—साधारणतः ३ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों में नहीं पाया जाता। उग्र अस्थिप्रदाह की अवस्था में बच्चा बहुत गम्भीर रूप में

बीमार होता है, ज्वर अधिक रहता है, केवल एक हड्डी या अङ्ग प्रभावित होता है और स्क्र्वी रोग के अन्य लक्षण नहीं पाये जाते। इसी तरह सारकोमा नामक अर्बुद एक ही अङ्ग में पाया जाता है और स्क्र्वी के कोई लक्षण नहीं देखे जाते। उपदंशज प्रान्तास्थि प्रदाह (epiphysites) ६ माह से कम आयु वाले बच्चों में पाया जाता है और इसके साथ-साथ वंशगत उपदंश के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं। बाल पक्षाघात में रुग्ण अङ्ग में सूजन नहीं होती और पक्षाघात के कारण कंडरा प्रतिक्षेप [tendon reflexes] लुप्त हो जाते हैं जबकि स्क्र्वी में ये प्रतिक्षेप यथावत् बने रहते हैं और उस अङ्ग में पक्षाघात के कोई चिन्ह नहीं पाये जाते। दन्तोद्गम के समय मसूढ़ों से खून नहीं निकलता।

निम्नलिखित दो तथ्य भी स्क्र्वी के निदान में बहुत सहायक होते हैं—

[१] रोगी के आहार के बारे में सावधानीपूर्वक जिज्ञासा करने से पता चल जाता है कि उसमें विटामिन सी की कमी है।

[२] यथोचित मात्रा में विटामिन सी देने पर १-२ दिन के अन्दर ही रोग और रोगी के लक्षणों में आशातीत लाभ दिखाई पड़ता है।

भावीफल और साध्यासाध्यता—

स्क्र्वी रोग सुसाध्य होता है और विटामिन सी का इस रोग पर चमत्कारी प्रभाव होता है। इन्जेक्शन द्वारा देने पर १ दिन और मौखिकमार्ग से देने पर २-३ रोज के अन्दर ही विटामिन सी के लाभदायी गुण प्रभाव दिखाई पड़ते हैं २-३ दिन के अन्दर स्थानीय पीड़ा और स्पर्शकातरता तथा १ सप्ताह के अन्दर मसूढ़ों से खून आना या मूत्र में खून आना बन्द हो जाता है। इसके कारण उत्पन्न थोड़ा क्षरित रस तो प्रायः १ सप्ताह में अवशोषित हो जाता है। किन्तु अधिक रहने पर २-३ महीने का समय लग सकता है। स्क्र्वी के साथ



रोगी को अन्य आनुसंगिक संक्रमणों और रोगों के प्रति रोगागम्य बना देता है, वह आसानी से उनका शिकार हो जाता है जैसे वृक्कप्रदाह, अतिसार, न्यूमोनियां आदि। क्षीण और दुर्बल शिशुओं में ऐसा अधिक होता है।

चिकित्सा —

बच्चे को पीड़ित अङ्ग के हिलने डुलने, छुप जाने या दब जाने के कारण बहुत कष्ट होता है। इसलिये उसे मुलायम गद्देदार शय्या पर सुलाना चाहिये और उस अङ्ग को रूई में लपेट कर किसी चीज के सहारे स्थिर रखना और बच्चे को प्यार करने या अन्य किसी अनावश्यक कारणवश हिलाना डुलाना नहीं चाहिये। यदि ढीला ढाला वस्त्र पहनाया जा सके तो अच्छा ही है नहीं तो बच्चे को पलना में सुलाकर पलने ही को वस्त्र से इस प्रकार से ढका जा सकता है कि वस्त्र का भार उसी पर पड़े, बच्चे के पीड़ित अङ्ग पर नहीं।

स्क्वी चिकित्सा का आधार मूल सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में विटामिन सी देना है। प्रारम्भ में ५० मिलीग्राम विटामिन सी का इन्जेक्शन नस में या मांसपेशियों में देना चाहिये। बाद में मौखिक मार्ग से ५०-१०० मिलीग्राम विटामिन सी प्रतिदिन देना चाहिए। चिकित्सारम्भ के १-२ दिनों के अन्दर ही पर्याप्त लाभ दिखाई देता है। इसके साथ साथ शिशु के दैनिक आहार में भी अपेक्षित सुधार करना चाहिये और उसे एक नारंगी या टोमैटो का रस या १ छटांक अंगूर का रस या इतना ही या इससे अधिक मात्रा में अन्य फलों का रस देना चाहिये। यदि बच्चा पाउडर दूध या उबाले हुये दूध पर पल रहा हो तो यथासम्भव माता या धात्री का दूध या गाय का या बकरी का ताजा दूध पिलाना चाहिये। कुछ अधिक आयु वाले बच्चों को दूध उबाला हुआ आलू मसल कर लेई के समान बनाकर भी दिया जा सकता है।

बाल स्क्वी से प्रतिरक्षा—

माता का दूध पीने वाले बच्चों में स्क्वी रोग

बहुत बिरले ही पाया जाता है। गाय, भैंस का दूध उबालने पर उसका विटामिन सी नष्ट हो जाता है। इसलिये इन पर पलने वाले बच्चों को विटामिन सी देने के लिये फलों का रस, सन्तरा या अंगूर का रस या सस्ता और सर्वसुलभ टोमैटो का रस आवश्यकतानुसार थोड़ी चीनी मिलाकर या यूँही अवश्य देना चाहिये। दो महीने की आयु के बाद ही उन्हें देना आरंभ कर देना चाहिए। शुरू में १ चाय चम्मच भर नारंगी के रस से आरम्भ कर ६ महीने की आयु तक एक पूरी नारंगी या सन्तरा का रस देना चाहिये। इससे किसी किसी बच्चे को कुछ पतला दस्त आता है किन्तु इससे घबराने की कोई बात नहीं। जो बच्चे नारंगी या सन्तरे का रस नहीं लें उन्हें अंगूर या टोमैटो का रस देना चाहिये। चूँकि सुखाये हुये फलों और साग सब्जियों में विटामिन सी का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है इसलिये ताजे फलों और सब्जियों का ही व्यवहार करना चाहिये।

—श्री डा० पद्मदेव नारायणसिंह एम. बी., बी. एस.
सिन्दरी (धनबाद) बिहार

:: पृष्ठ ३८७ का शेषांश ::

फल, फलों का रस, मधु पानी, तरकारी की सूप तथा मां का दूध पिलाकर रखना चाहिये। मधु सर्दी में बहुत लाभदायक है। पानी के साथ मधु पीने से किसी भी दवा से जल्दी ऊर्ध्व श्वासनली से बलगम निकल आते हैं। सर्दी मिटने के बाद उनको चोकर समेत कोमल रोटी, ढेकी से कुड़ा हुआ चावल का भात, उबाला हुआ साग और गाय का दूध आदि सहजसे पचने वाली चीजें देनी चाहिए। कुछ दिन तक रोगी को बर्फ, आईसक्रीम पुराना दही तथा डाभ के पानी से परहेज रखना बहुत आवश्यक है।

—श्री डा० कुलरंजन मुखर्जी
प्राकृतिक चिकित्सालय,

११४/२ बी, हाजरारोड, कलकत्ता—२६

बाल स्कर्वी [Infantile Scurvy]

श्री पं० रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य

—४२३—

आजकल नवीन सभ्यता में पले पाश्चात्य विद्या से शिक्षित और दीक्षित वर्ग की ऐसी धारणा है कि आयुर्वेद में बहुत थोड़े से रोगों के विषय में ही विवेचन किया गया है यथा जीव-तित्ति (Vitamin) की न्यूनता से होने वाले रोगों का वर्णन तो आयुर्वेद में हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्राचीन काल में भारतवासियों को जीवतित्ति सम्बन्धी ज्ञान बिलकुल नहीं था। क्योंकि इसकी खोज का समय सन् १९१२ ई० से प्रारम्भ होता है। इस विषय पर Hopking Osborn और Mendal ने अपनी शोधें प्रकाशित की थीं। सन् १९१३ में Funk नामक वैज्ञानिक ने इन पदार्थों का नामकरण किया तथा उसका नाम जीवन के लिये आवश्यक होने से जीवतित्ति (Vitamin) रख दिया गया। प्रिय पाठकगण यह बात नहीं है, क्योंकि हमारे आचार्यगण पूर्वकाल से ही इस तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे और इसी जीवन शक्ति को वह प्राणतत्व नाम से भी कहा करते थे। उन्होंने इस तत्व का प्रत्येक पदार्थ में उसकी न्यूनता और बाहुल्यता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आयुर्वेद के प्रत्येक आचार्य ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी तत्व से सन्मुख रखकर किया है, यथा चरके—

अथातो दीर्घं जीवनीयमध्यायां व्याख्यास्यामः।

दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्॥

आदि सभी ग्रन्थों में दीर्घ जीवन प्राप्त करने के उपायों का ही निर्देश किया है। जिन औषधियों में वह जीवतित्ति सम्पूर्ण प्रकार की विशेष मात्रा में होती है उन्हीं में से कुछ औषधियों को लेकर उनका नाम “जीवनीयगण” रखा है और आयुर्वेद की सम्पूर्ण रसायन औषधियां इन्हीं जीवतित्तियों का संग्रह है। यद्यपि पाश्चात्य वैज्ञानिक अभी ए, बी, सी, डी, ई, इन पांच ही जीव तित्तियों का पता लगा सके हैं किन्तु केवल चरक संहिता में ही सूत्र

स्थान के चौथे अध्याय में जीवनीय, वृंहणीय आदि पंचासत जीवतित्तियों का वर्णन संक्षेप से किया है। जीवनशक्ति संसार के प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है। भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने स्वयं श्रीमद् भगवत गीता में इस जीवन शक्ति को पराप्रकृति के नाम से कहकर उसका निर्देश किया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः ख मनोबुद्धिरेव च।

अहंकार इत्तीयं मे भिन्ना प्रकृतिरिष्टधा॥

अपरेयमित्तिस्त्वन्या प्रकृति विद्धि मे पराम्।

जीव भूनां महा बाहो यदेदं धार्यते जगत्॥

इन श्लोकों के अन्तिम पाद में ‘जीव भूतां महा-बाधे पवेद धार्यते जगत्’ यह अर्द्ध श्लोक स्पष्ट बता रहा है कि संसार के प्रत्येक प्राणी और संसार की स्थिति इसी तत्व पर निर्भर है। आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने इस गुत्थी को द्रव्यों के गुण, रस, वीर्य, विपाक, शक्ति और वातादि दोषघ्न औषधियों का विवेचन करके सुलभता दिया है किन्तु आज के वैद्य वर्ग इन महर्षियों की सूत्रात्मक भाषा का तत्व न समझकर समझ लेते हैं कि आयुर्वेद में बहुत सा विषय नहीं था जिसको आधुनिक पाश्चात् वैज्ञानिकों ने ही सुलभता दिया है किन्तु आयुर्वेद में सूत्रात्मक भाषा में सर्व विषय आयुर्वेद सम्बन्धी उपस्थित हैं जिसको अब भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों को उससे बहुत कुछ सीखना है। आयुर्वेद की उक्ति “यदि हास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्तिन तत्क्वचित्” अक्षरशः सत्य है।

इस रोग को आजकल के विद्वान् “प्रशीताद” नाम से कहते हैं। क्योंकि शीतादि रोग जो सुश्रुत ने मुख रोगान्तर्गत कहा है, उसके लक्षण होकर भी कुछ विशेष लक्षण इस रोग में होते हैं। यह असात्म्योद्भव रक्त रोगों के अन्तर्भूत है। इस बात को आजकल के वैज्ञानिक चिकित्सक भी मानते हैं और आयुर्वेद में यह रोग “रक्तपित्त” मात्र का



प्रारंभिक भेद मात्र ही है जिसकी गणना चरकाचार्य ने रक्तगत रोगों में की है। रक्तस्राव कराने वाले जितने भी रोग हैं उनकी चिकित्सा रक्तपित्तानुसार ही हो सकती है तथा वह रोग रक्तपित्त के अन्तर्गत ही हैं, भेद केवल इतना ही है कि कुछ रोग स्थानिक रक्तस्राव कराते हैं और उनके उस स्थान विशेष के रक्तस्राव कराने पर उस स्थान की रोग गणना में कर उनका विशेष नाम रख दिया है। उन्हीं रोगों में शीतादि रोग हैं जिसका स्थान मुख है। अतः सुश्रुताचार्य ने अपनी संहिता में इस रोग को मुख रोगान्तर्गत रोगों में कहा है यथा—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्य यस्यात्कस्मात् प्रवर्तते ।
दुर्गन्धिनि सकृष्णानि प्रक्लेदीन मृद्नि च ॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफ शोणित संभवः ॥

अर्थात् मसूढ़ों से अकारण ही रक्तस्राव होता है, दुर्गन्धित काले क्लेदयुक्त और मृदु होकर मसूढ़े गल गलकर गिरने लगते हैं तथा एक दूसरे को पकाते हैं। इस कफ रक्तज व्याधि का नाम शीताद है। कुछ आचार्यों ने शीताद को ही स्कर्वी नाम दिया है। स्कर्वी रक्तपित्त का ही रूप है। उसमें कफ का दोष होने पर मनुष्यों के मसूढ़ों में शीताद होने की संभावना रहती है जबकि उस रोगी को दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris) हो चुका हो क्योंकि यह रोग भी “दुष्टशोणित संभवः” रोग है। अर्थात् दुष्टशोणित संभवः रोग सभी के लक्षण इस स्कर्वी (शीताद) रोग में हो सकते हैं।

आजकल की वैज्ञानिक चिकित्सानुसार यह रोग जीवितिकी की न्यूनता के कारण होता है। जीवितिकी (Vitamin) की न्यूनता अथवा अभाव के कारण दन्त सम्बन्धी सर्वरोग जैसे दांतों का हिलना, मसूढ़ों का फूल जाना, दांतों से रक्त गिरना, पायरिया (दन्तवेष्ट), आमाशय रोग, अतिसार, वातरक्त (गाउट), मुख तथा नाक से रक्त गिरना (ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त), शरीर का भार कम होते जाना, बेचैनी, अस्थिदौर्बल्य (रिकेट्स), घावों का शीघ्र

भरना, मन्थर ज्वर, आंत्र ज्वर आदि रोगों का प्रादुर्भाव होता है। जीवितिकी सी का नाम भी आधुनिक विद्वान “प्रशीताद प्रतिरोधक” (Scurvy Preventing factor) कहते हैं। यह रोग असाध्य भोजन के कारण धीरे धीरे शरीर में अपना प्रभाव जमाता जाता है और धीरे धीरे रोगी के बल का ह्रास होता जाता है। मुख की कांति निस्तेज कृष्णाभ, पीतवर्ण अथवा हरितवर्ण की हो जाती है। रोगी को थोड़े परिश्रम से श्वास फूल जाती है। दन्तवेष्ट में शोथ होकर उन्हें थोड़ा भी दबाने या न दबाने पर भी रक्तस्राव होने लगता है तथा धीरे धीरे दांत गलने लगते हैं और रोगी की श्वास में दुर्गन्ध आने लगती है। किसी किसी रोगी के मस्तिष्क में उष्णता की अधिकता होने पर राज्यन्धता का रोग भी हो जाता है। कभी कभी रोगी के पैर, गुल्फ और सन्धियों पर शोथ हो जाता है। किसी किसी को उदरशूल कोष्ठबद्धता भी कष्ट देते रहते हैं, मूत्र निग्रह की शान्ति बिलकुल क्षीण हो जाती है जिससे रोगी को मूत्र करने के पश्चात् भी मूत्र की बूंदें निकल जाती हैं, किसी रोगी को आसोच्छ्वास में कष्ट भी होता है किन्तु फुफ्फुसों की परीक्षा करने पर फुफ्फुस पूर्ण स्वस्थ पाये जाते हैं जोकि वास्तव में श्वासरोगी नहीं होता किन्तु इसी रोग के कारण होता है। हृदय में ध्वनिबाहक (स्टेथिस्कोप) द्वारा परीक्षा की जाय तब शरीर में रक्त न्यूनता के समान ध्वनि आती है।

अतिशय बलक्षय, दन्तवेष्ट विकृति, स्थान स्थान पर रक्तस्राव और शोथ से ही इस रोग का पूर्ण निश्चय हो जाता है। इस रोग की बढ़ी हुई दशा में शरीर से रक्तस्राव विशेष होने लगता है इसी कारण से व्रण होने पर उससे रक्तस्राव विशेष होता है और वह क्षत बड़ी देर में भरता है। शरीर की अस्थियों के जोड़ खुल जाते हैं, रोगी विशेष दुर्बल हो जाता है। यदि इस रोग में त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura) हो जावे तब रोग असाध्य ही हो जाता है। यह रोग बड़े मनुष्यों की अपेक्षा बच्चों



शिशुरोगाङ्क

३६५

विशेष रूप में पाया जाता है। इसका नाम बाल स्कर्वी (Infantile scurvy) है। आजकल की मातायें पाश्चात्य सभ्यता के कारण अपने बच्चों को अपना दूध न पिलाकर केवल गाय, भैंस का उबाला दूध अथवा डिब्बा का बना हुआ दूध पिलाया जाती हैं या निशास्तादार शकर वाले भोजन देती हैं जिनमें जीवितिकि सी का पूर्ण अभाव होता है। अपना दूध पिलाने वाली मातायें जो शारीरिक श्रम नहीं करती और गीले, गन्दे मकानों की खुद हवा में रहती अथवा जो मातायें फल और सब्जियों का केवल दाल रोटी और मांस का भोजन करती हों उनके बच्चों को भी यह रोग हो जाता है। अथवा अधिक अवस्था बढ़ जाती है तब तक माता का दूध पीते रहने या माता का दूध पीते रहने पर भी बच्चों को यह रोग हो जाता है। जिन गर्भिणी माताओं की गर्भावस्था के भोजन में उन फलों और शाकों का अभाव होता है तथा जीवितिकि सी का अभाव होता है, उनके दूध में भी इसका अभाव रहने से उनका दूध पीते रहने पर भी उनके बच्चों को यह रोग हो जाता है। सारांश यह है कि बच्चों के भोजन में जीवितिकि सी और कैल्शियम (Calcium) के अभाव से स्कर्वी (प्रशीताद) बालरोग (रिकेटस) आदि रोग हो जाते हैं। बाल-स्कर्वी बच्चों को छः महीने की अवस्था से एक वर्ष की अवस्था और कभी कभी १॥ वर्ष की अवस्था तक भी होते देखा गया है।

लक्षण —

बड़े मनुष्यों के लक्षणों के तुल्य जिनको हम पूर्व में लिख चुके हैं शिशुओं में भी लगभग समान होते हैं। कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार भी होते हैं— शरीर का रंग पीला पड़कर बच्चों को सूखा (बाल-रोग) हो जाता है। उसको थोड़ा भी छूने पर उसके शरीर में दर्द होने से रोता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, अपने हाथ पैर अच्छी तरह नहीं हिला सकता। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं

बच्चे को पच्चाघात तो नहीं हो गया किंतु ऐसा नहीं होता। ध्यानपूर्वक देखने से बच्चे के एक या दोनों पैरों पर शोथ प्रतीत होता है, त्वचा में चमक सी प्रतीत होती है, कभी कभी हाथों में भी ऐसी ही दशा होती है, कभी कभी मस्तिष्क पर भी शोथ मालूम होता है। संधियों पर इस शोथ का कोई प्रभाव नहीं होता, धीरे धीरे पांडुता और निर्बलता बढ़ती जाती है। कभी कभी नाक, मुँह, आमाशय तथा आंतों से रक्तस्राव होने लगता है, उसी समय पर रोकथाम न की जावे तो बालक प्रतिदिन निर्बल होता जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

रोग परिणाम—यदि ठीक प्रकार समय पर चिकित्सा की जावे तब बच्चा स्वस्थ हो जाता है नहीं तो परिणाम बुरा ही होता है।

चिकित्सा—

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि यह रोग जीवितिकि सी के अभाव से होता है। इस जीवितिकि सी की हीनता प्रायः बच्चों में पाई जाती है। शीघ्र उत्सृष्ट हो जाने के कारण बच्चों को इसके प्रयोग करने की प्रतिदिन आवश्यकता रहती है। उसके अभाव में बच्चों को स्कर्वी रोग हो जाता है जिसके नष्ट होने पर उसका प्रभाव जीवनपर्यन्त बना रहता है जो रक्तस्राव की असाधारण प्रवृत्ति (haemophilia) रोग में परिवर्तित हो जाती है उसी को आयुर्वेद में रक्तपित्त कहते हैं।

बच्चों को मातायें अपना ही दूध पिलावें और शारीरिक थोड़ा बहुत परिश्रम अवश्य करें और शुद्ध वायु में रहें क्योंकि माताओं के दूध में ही जीवितिकि सी विशेष होती है, केवल गाय ही के दूध १॥ प्रतिशत होती है। वह भी दूध गर्म करने से नष्ट होजाता है, अतः बच्चों का ठीक प्रकार से पोषण माता के प्रेममय दूध से ही ठीक हो सकता है। यदि यह संभव न हो सके तब घाय का दूध जो स्वस्थ हो उसका बच्चा भी बच्चे की ही अवस्था का हो तो पिलाना चाहिए। घाय के लक्षण भावमिश्र



ने इस प्रकार कहे हैं—

पीताय यदि बालस्य विद्ध्यादुपमांतरम् ।
सुविचार्य गुणान्दोषान्कुर्याद्वात्री तदैदृशीम् ॥
सर्वणं मध्यवयसां सच्छीलामुदिताम् सदा ।
शुद्ध दुग्धां बहुक्षीराम् सवत्सामतिवत्सलाम् ॥
स्वाधीनामरूप सन्तुष्यन् कुलीनां सज्जनात्मजम् ।
कैतवेन परित्यक्तां निज पुत्रदशं शिशौ ॥

अर्थात् जो बच्चों को दूध पिलाने के लिये धाय रखी जावे तब गुण और अवगुणों को सोच समझ करके इस तरह रखे कि अपने वर्ण की, तरुणावस्था वाली, सर्वकाल में आनन्दित रहने वाली, शुद्ध तथा अधिक दूध वाली जीवित सन्तान-युक्त, अधिक प्रीति करने वाली, कुलीन सज्जन पुरुष की कन्या, छल कपट से रहित और अन्य बालक को अपना पुत्र समझने वाली हो, ऐसी ही स्त्री को धाय के लिये रखना योग्य है।

यदि किसी कारणवश दूध वैद्य को धाय की परीक्षा करने पर दूषित प्रतीत हो तब उसको पथ्यपूर्वक रखकर यह काथ पिलावे और जब तक परीक्षा करने पर दूध शुद्ध न हो जावे, यह काथ ही पिलाते रहें। भावप्रकाश—

पटोल निम्बासन दारुपाठा,
मूर्वा गुडूची कटुरोहिणी च ।
स नागरं च कथितं च तोये,
धात्री पिवेत्स्तन्य विशुद्धं हेतो ॥

पटोल पत्र, नीम की छाल, पीतशाल, देवदारु, पाठा, मूर्वा, गिलोय, कुटकी और सौंठ—यह काथ धाय दुग्ध शुद्ध करने के लिये पीवे।

जब बच्चों को इस रोग का प्रारम्भ मालूम पड़े तभी से बच्चे को भोजन औषधि आदि में वही द्रव्य प्रयोग कराने चाहिये जिनमें जीवितिकि सी की बाहुल्यता हो। भोजन पदार्थों में आंवला, नीबू, नारंगी, संतरा, अंगूर, प्याज, मिठा, मौसमी, माल्टा आदि के ताजे रसों को अधिक प्रयोग बच्चे की अवस्थानुसार करना चाहिये। आलू को उबाल कर गाय के दूध में फेंटकर चम्मच से बार बार देने से इस रोग में लाभ होता देखा गया है। किंतु

आलू कुछ दुष्पाच्य होने से बच्चे की अग्नि का ध्यान करके देना चाहिये। आंवले में जीवितिकि सी सबसे अधिक मात्रा में अर्थात् ६ सौ इन्टर नेशनल यूनिट की मात्रा में होती है। “कुनूर” की अनुसंधानशाला में परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि ताजे आंवलों के फलों में इतनी जीवितिकि सी को प्राप्त करने के आज तक के सब ही साधनों से २० गुना अधिक जीवितिकि सी होती है। आंवले में यह भी विशेषता पाई गई है कि कितना ही गर्म किया जाय इसको प्रभावशाली जीवितिकि नष्ट नहीं होती। सन् १९४० में जिला हिसार (पंजाब) में जब दुर्भिक्ष पड़ा था तब वहां स्कर्वी रोग (प्रशी-ताद) अधिक फैला था। तब आंवले के ताजे फल प्रयोग में लाने से इस रोग पर सफलता से चिकित्सकों ने विजय प्राप्त की थी। आंवले से न्यून जीवितिकि सी नीबू और संतरा में होती है। लिंड (Lind) नामक विद्वान ने स्कर्वी रोग पर एक पुस्तक लिखी थी जो सन् १९५६ में छपी थी। उसने नीबू के रस को स्कर्वी प्रतिरोधक बताया है। जीवितिकि सी का नाम भी इस रोग का प्रशामक होने के कारण Scurvy preventive factor है। प्याज में स्कर्वीनाशक गुण होता है। सर्जन “कैमोरोन” ने स्कर्वी से बचने के लिये प्याज को बहुत लाभदायक बतलाया है। किन्तु यह गुण कच्चे प्याज में ही होता है। अतः प्याज का रस भी बच्चे को दिन में १-२ बार निरन्तर देना बहुत लाभप्रद है। प्याज में लौह तत्व रहने से वह बच्चे की निर्बलता और शरीर की पीतवर्णता को भी दूर करता है और पौष्टिक भी है। लहसुन में भी जीवितिकि सी विशेषरूप से पाई जाती है किन्तु वह वातशामक उष्ण होता है जिस समय स्कर्वी रोग के कारण बच्चा अपने हाथ पैरों को न हिला सकता हो, जिसका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं, उस समय बच्चे को लहसुन का रस मधु मिलाकर या लहसुन आसव १०-१२ बूंदें अवस्थानुसार थोड़ा जल मिलाकर दें तथा उसको दूध पिलाने वाली धाय को



स्तेनपाक ६-६ माशे से १ तोला तक गाय के दूध से दे। बच्चे के शरीर से महानारायण तैल का रदन करावें।

इन कन्द और फलों के सिवाय हरे पत्र वाले शाकों और तरकारियों में भी यह जीवितिकि विशेष पाया जाता है। अतः बच्चे की माता को हरे पत्र वाले हरे शाक और हरी तरकारियां विशेष खानी चाहिये और बच्चों को भी उसके रस निकालकर उचित मात्रा में देना चाहिये।

जीवितिकि सी पानी में घुल जाती है। चार, लवण और गर्मी इसको नष्ट कर देती है। अतः इसकी प्राप्ति के लिये शाक वगैरह में हमें खनिज लवण और चार नहीं मिलाने चाहिये और न उनको आंच पर विशेष गर्म करके छाँकना भूनना चाहिये।

हरे फल और शाकों के अतिरिक्त त्रिफला, गोमूत्र, पाठा, दशमूल, दारुहल्दी, कुटकी, खैर-सार, वांसा, गोखरु, मोचरस, बट, त्रायमाशा, पलाश, गूलर, मूवा आदि में भी जीवितिकि सी पाया जाता है। अतः इन औषधियों के बने प्रयोग भी इस रोग में अवस्थानुसार लाभप्रद हैं।

आयुर्वेदाचार्यों ने इसी कारण प्रसूता स्त्रियों के लिये दशमूल काथ, दशमूलारिष्ट आदि औषधियों का विधान किया है जिससे उनके शरीर में यह तत्व बढ़कर दूध के द्वारा उनके बच्चे को प्राप्त होकर इस रोग से बचा रहे। रोग की विशेष उपद्रवों की अवस्था में चिकित्सक शास्त्र निर्णीत तत्वों के आधार बच्चों की चिकित्सा करें। इस रोग में धातु भस्मों में लौह, स्वर्ण, स्वर्ण माक्षिक, रससिंदूर प्रयोग अवस्थानुसार मात्रा में दें।

भकरध्वज, अभ्र, मांडूर भस्म, मुक्तादि ऐसी औषधियां हैं जिनमें सब प्रकार की जीवितिकियां हैं, लौह, मांडूर, माक्षिक में जीवितिकि सी विशेष है। अभ्र, भकरध्वज, रससिंदूर में सब प्रकार की जीवितिकियां हैं। प्रबाल, मुक्ता, शंखादि, खटिक वर्ग में जीवितिकि डी विशेष मात्रा में होती है।

बच्चों के दांत निकलते समय भी बच्चों में जीवितिकि सी और डी की विशेष न्यूनता होने से भी बच्चों को यह रोग और बालशोष (रिकेटस) होने की विशेष संभावना रहती है। अतः ऐसी अवस्था में “दन्तोद्भेद गदान्तक” देने की व्यवस्था आयुर्वेदाचार्यों ने की है। बच्चों के सब प्रकार के रोगों और इस रोग में “कुमारकल्याण रस” बहुत ही उत्तम है। इसमें आज तक की ज्ञात सब ही जीवितिकियों की न्यूनता को दूर करने की शक्ति है।

इस रोग में बच्चे की माता और बच्चे की उचित मात्रा में ‘च्यवनप्राश्यावलेह’ में मांडूर या लौह भस्म बढ़िया बनी हुई उचित मात्रा में दूध के साथ दें। अथवा यूनानी प्रयोग ‘न्योशदारु’ दें तब विशेष लाभ होगा। शरीर में पीलापन विशेष होने पर आमलक्यादि लौह या आमलक्याद्यवलेह का प्रयोग करावें। यदि बच्चे के शरीर पर शोथ प्रतीत होने लगे तब “पुनर्नवादि मांडूर” का प्रयोग विशेष उपकारी होगा। सिद्धांत यह है कि बच्चे और बच्चे की माता को रक्तपित्तशामक आदि प्रयोग अथवा अन्य उपद्रव होने पर हमारे पूर्व में बताये हुए प्रयोगों द्वारा जिनमें जीवितिकि सी विशेष है, देना चाहिये। अब आपके समक्ष एक प्रयोग लिखता हूँ—

ताजे आमले छाया में सुखाये हुये उनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर उसमें ताजे आंवलों के रस ही की अधिक से अधिक भावना देने से उसका शक्तिवर्द्धन होता है किन्तु २१ भावना से कम न दें। यह आंवला का चूर्ण ३० भाग, कांतलौह भस्म ३ भाग, मांडूर का चूर्ण ३० भाग, स्वर्ण माक्षिक भस्म, अभ्रभस्म, प्रबाल भस्म, प्रत्येक ३-३ भाग इन सबको खूब घोटकर रखलें।

मात्रा—बड़े आदमी को १ से १॥ माशे तथा बच्चे को १ से २ रत्ती मधु से देकर दूध पिलावें।

—श्री पं. रामस्वरूप वैद्य आयुर्वेदाचार्य
अध्यक्ष—गोपाल आयुर्वेद भवन
उखलाना [अलीगढ़]

हकलाना या तुतलाना

श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य



बालक के मन में जो भाव सदा उठते हैं उनका प्राकट्य उसकी चेष्टाओं ही हुआ करता है। भोजन शयनादि आवश्यक कार्यों की इच्छायें बालक की चेष्टा देखकर तुरन्त ही जानी जा सकती हैं। किन्तु ज्यों ज्यों उसका शारीरिक व बौद्धिक विकास होता है त्यों त्यों उसमें वाणी के द्वारा अपने भाव प्रकट करने की क्षमता आती जाती है। बोलने में कुछ विशेष त्रुटियाँ होना वाणी की विकृति हैं। हकलाना या तुतलाना इसी वाणी के विकृत स्वरूप हैं।

हकलाना अर्थात् रुक रुक कर या अस्पष्ट शब्दोच्चारण वायु प्रधान दोष से तथा तुतलाना अर्थात् शब्दों का विकृत उच्चारण श्लेष्म प्रधान दोष से हुआ करता है। किन्तु जब शब्दोत्पादक जिह्वा, तालु कण्ठमूर्धादि अङ्गों में कोई विशेष विकृति स्वभावतः होती है अथवा यह सब अङ्ग विकसित अवस्था में रह जाते हैं तो वह बालक अपने सभी भाव चेष्टाओं से ही व्यक्त कर सकता है। बोलने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती यह अवस्था तो मूकता या गूंगापन है।

बच्चों के अस्पष्ट एवं विकृत शब्दोच्चारण में कारण प्रथम तो अधिकांश उनके मातापिता आदि ही हैं जो अधिक लाड़ प्यार के कारण बच्चों को तुतला कर बोलना सिखा देते हैं। जिससे वे उन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। दूसरे सङ्गति के प्रभाव से भी बच्चों में हकला या तुतला कर बोलने की आदत पड़ जाती है। अतएव बालकों को इन दोषों से बचाने के लिये इन बातों से उन्हें दूर रखना चाहिये।

अनुभव से यह भी देखने में आया है कि जिन बालकों के माता पिता कफ प्रधान मुख रोगों से पीड़ित हैं उनकी संतानें भी मुख के आभ्यन्तरिक अवयवों में कफ अधिक होने के कारण तुतलाकर

बोलने वाली उत्पन्न हुई हैं। महर्षि सुश्रुत ने हकला कर अर्थात् रुक रुक कर अत्यक्त शब्द उच्चारण करने में वायु के प्रकोप को ही कारण बताया है जैसा कि उस श्लोक से स्पष्ट है—

गर्भो वात प्रकोपेण दौहदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जःकुणिः पंगु मूको मिन्मिन एव च ॥

सामान्यतः तुतले बालक कण्ठ स्थानीय क वर्ण को मूर्धा स्थानीय ट वर्ण में, तथा दन्तस्थानीय त वर्ण को ट वर्ण में ही बदल देते हैं। किन्तु कुछ ट वर्ण को त वर्ण में बोलते हैं। कोई कोई र को ल और श स को छ उच्चारण करते हैं। चिकित्सा की दृष्टि से तो इसमें कोई भेद नहीं किन्तु निदान की दृष्टि से तत्तत्स्थानीय विकृति ही समझनी चाहिए जिससे कि विवश हो बालक स्वस्थानीय वर्णों को अन्य स्थानीय वर्णों में बदल कर बोलता है।

जिन बालकों में यह दोष देखे जाय और वह सुधार की स्थिति में न पहुँचे तो अवश्य ही चिकित्सा के योग्य हैं। निम्न योग इस दोष की निवृत्ति के लिये पूर्ण लाभदायक सिद्ध हुए हैं—

१—कल्याणक चूर्ण—हल्दी, बाल बच, छोटी पीपल, सोंठ, सफेद जीरा, अजमोद, मुलेठी, मीठा कूठ बारीक पीसकर घी व शहद के साथ प्रातः और सायं ६ रत्ती से लेकर १ माशे तक अवस्था के अनुसार सेवन करें।

२—सुवर्ण भस्म १ भाग, प्रबाल भस्म २ भाग बंगला पान के स्वरस में शहद के साथ खिलावें। सुवर्ण भस्म के स्थान पर सुवर्ण वज्र भी अच्छा लाभ दिखाती है।

३—कुलंजन (पान की जड़) का वस्त्रपूत चूर्ण ३ रत्ती पुराने गुड़ में मिलाकर कुछ दिन लगातार सेवन करायें।

शारीर-चित्रावली

शुद्ध-बहुरंगी

बहुत प्रयत्न से इसका परिमित प्राप्त करके नको खंड से मंगवाया है।

यह अभी हम थोड़ी तादाद में ही प्राप्त कर के हैं। इसकी मांग सदैव से बनी रही है। हमारा विश्वास है कि जो भी इसे देखेगा वह मुग्ध हो जायगा। इसका विस्तृत निम्न प्रकार से है—

इसमें प्रथम एक सुन्दरी स्त्री का २० इंच लम्बा चित्र है। इसका ग्रीवा से कटि तक का भाग ऐसा कटा है कि ऊपर को पलट जाता है और छाती तथा पेट के अंग अङ्ग दीखते हैं तथा उनके ऊपर की मांस-ग दीखती हैं।

यह चित्र बाईं ओर को पलट जाता है और पृष्ठी से चोटी तक की समस्त रक्त वाहनियां प्रकट होती हैं और केशिका जाल तथा हृदय और गुर्दे ही नहीं प्रकट होते ही समस्त में आ जाता है कि रक्त कैसे अपने मनोमानी से प्रसरता है।

इसके उत्सुक या जो चित्र निकला वह समस्त शरीर की है जिहा के मुख और कण्ठराशियों दिखाता है, मानों शरीर संसार उत्तार दी गई हो। इसका ग्रीवा से कमर तक का भाग तो पलट कर अंदर पेट की मांस-जिहवा के बीच की सब पेशियां दिखाता है।

यह चित्र नीचे का भाग तो अत्यन्त अद्भुत है। इसमें पर गुं गांठे ठीक स्थान पर ठीक ठीक ही आकार प्रकार में रंग से सजा हुआ फुफुस, आमाशय, यकृत, छोटी आंत, मूत्राशयों को गर्भाशय, गुर्दे, प्लीहा, पित्ताशय, अग्न्याशय, आदि अंगों के उसी रंग के चित्र लगाये हुये हैं, और वे इस प्रकार कि हर एक अपने अपने स्थान पर ठीक ठीक उलट-पलट जाता है, और हर एक चित्र बीच में से दो पत्तों होकर अंग के अन्दर की दशा भी दिख जाता है। अर्थात् २४ शव चीरने फाड़ने पर अंगों की जो दशा विरहित होती है, वही इस चित्र जाल के भली भांति उलट-पलट कर देखने से प्रत्यक्ष की भांति समस्त में आ जाती है। हर एक आंतरिक अवयव का चित्र उसी रंग का उसी रूप और आकृति का छाप कर उसी स्थान पर लगाया गया है जहां जैसे वह शरीर के अन्दर का भाग है। इन अंगों के साथ में अन्नवाही नली और रक्तवाहिनी प्रणालियां भी यथास्थान चित्रित हैं।

यह सब चित्र जाल फिर बाईं ओर पलट जाता है और इसकी पीठ पर शरीर की समस्त मांस-पेशियों का भी का त्यों चित्र अङ्कित है। नीचे जो चित्र निकला उस

पर सम्मुख की ओर से दिखाई देने वाला अस्थिकज्वाल (Skeleton) देखिये और उसी की पीठ पर पीठ की ओर से देखने वाली (अर्थात् पीछे की) हड्डियों का सम्पूर्ण ढांचा यथा स्थान और उसी रूप रंग में चित्रित है।

अब यह चित्र भी दाहिनी ओर पलट जाता है और नीचे जो निकला है वह है समस्त शरीर का नाड़ी-जाल हमारे शरीर की ज्ञानेन्द्रियों से सस्तिष्क को ज्ञान पहुंचाने वाली, वहां से कर्मेन्द्रियों को आज्ञा देने वाली, शरीर के आंतरिक अंगों के समस्त कार्य कराने वाली नाड़ियों का भारी जाल, सुषुम्ना, इडा और पिंगला नाड़ियां तथा उनके क्षेत्र और केन्द्र ये सब अपने-अपने असली रूप में नेत्रों के सम्मुख आजाते हैं। इस प्रकार मानव शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्यङ्ग का अन्दर-बाहर का दृश्य दिखाने वाले ये प्रत्यक्ष चित्र फिर एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार तह हो जाते हैं कि सब मिलकर एक ही मोटा चित्र बन जाता है।

इन सबके अतिरिक्त एक छोटा चित्र बाईं ओर और लगाया गया है जिसमें अगल बगल की ओर से देखने वाली पेशियों और अस्थियों का चित्र है। और उसके भी पलटने पर नीचे शव को बीचों बीच से दो खंड चीरने पर जो दृश्य दीखता है वही चित्रित है। गर्भाशय में पड़ा बच्चा किस प्रकार रहता है और गर्भ-प्रसव कैसे होता है यह भी इसमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

इस शारीरिक ज्ञान के लिये कई वैद्यजन स्वयं शवच्छेदन न करते थे और अनेकों इससे ग्लानि करते हुये इस अति आवश्यक ज्ञान से वञ्चित ही रहते थे। चिकित्सा के लिये शरीर की पूरी रचना जानना कितना आवश्यक और लाभदायक है यह आप जानते ही हैं। परन्तु उसका कोई सुगम उपाय न था और जैसा यह चित्र बना है। यह काम कोई आसान न था। हमने भी वर्षों इसका प्रयत्न किया था भारत के कई बड़े बड़े चिकित्सकों, प्रकाशकों और प्रेसों से से इसे तैयार कराने की चेष्टा की परन्तु जब असफल रहे विवश होकर और खास प्रबंध करके इङ्ग्लैंड के मैसर्स ज्योर्ज फिलिप एंड संस नामक फर्म से प्रचुर धन व्यय करके ये चित्र तैयार कराये गये। जिनमें उपर्युक्त बड़े बड़े २० इंच लम्बे अनेकों पूर्ण रङ्गीन आदर्श चित्रों के साथ ही हिन्दी भाषा में प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का परिचय और वर्णन भी है जिससे आप स्वयं ही शारीरिक शास्त्र का ज्ञान भी भली भांति प्राप्त कर लेंगे। २० इंच लम्बा साइज सचित्र सुन्दर सजिल्द।

मूल्य—पन्द्रह रुपया मात्र पोस्ट व्यय १.२० प्रत्यक्।

मंगाने का पता - दाऊ मौडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)



सिरका दर्द

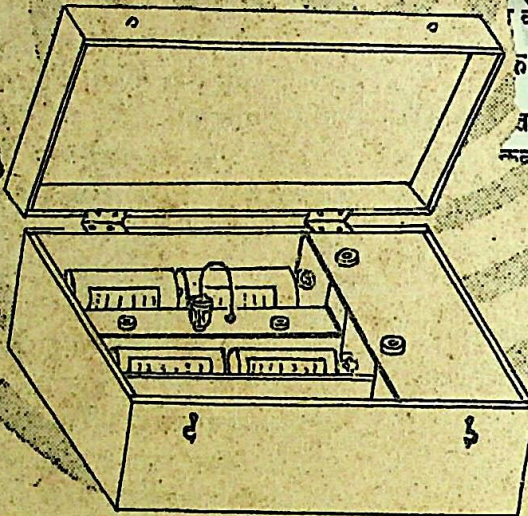


दंतका दर्द



वात शूल

अनेक रोगों में विजली की मशीन



जतनेन्द्रिय की निर्वलता



सन्ध्या विनोदी



आँखों की चक्रीयता

दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़

इस मशीन की विशेषतायें

- मशीन के व्यवहार में किसी प्रकार की परेशानी नहीं, हर कोई बड़ी सरलता से व्यवहार कर सकता है।
- इसमें खर्चा नहीं के बराबर होता है, लाभ बहुत अर्थात् "कम खर्च वाला मशीन"
- अनेक रोगों में चमत्कारिक लाभ होने के कारण—
- रोगियों को आकर्षित करने का उत्तम साधन है।
- मशीन टिकाऊ है, सुन्दर है, प्रभावशाली है, बहुत दिनों तक निर्बाध काम देने वाली है।
- टार्च में पड़ने वाली गोल सैल इसमें पड़ती हैं जो सर्वत्र मिल जाती हैं।
- गांव—शहर हर स्थान पर इससे काम लिया जा सकता है।
- मूल्य—२५.०० मात्र। पैकिंग-पोस्ट व्यय ४.०० पृथक्। मशीन के साथ व्यवहार विधि पुस्तक मुफ्त भेजी जाती है। आर्डर के साथ ५ रु० एडवांस अवश्य भेजें।
- नोट—डाइलुमा द्वारा चलने वाली—इसमें किसी प्रकार की बिजली अथवा बैटरी खर्च नहीं होती। बिना किसी प्रकार के अतिरिक्त खर्च के यह जन्म भर काम देती रहती है मूल्य केवल ५०.०० पोस्ट एवं पैकिंग व्यय ५.५० रु० प्रथक्। रेल से मंगाने में खर्चा कम होगा इसलिए रेलवे स्टेशन पत्र में स्पष्ट लिखें। आर्डर के साथ १०.०० रु० एडवांस अवश्य भेजें।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

४—केवल चूने व कथे से लगा हुआ पान पत्तर पर महीन पीस कर घूंटी के रूप में देने से भी बच्चों का हकला और तुतलाकर बोलना ठीक होता हुआ देखा गया है ।

५—श्यामा तुलसी का पत्र स्वरस ३ माशे शहद

से चाटकर ऊपर से कदुष्ण काली बकरी का दूध पीने से शब्दोत्पादक अङ्गों में सुधार हो स्वर की सुन्दरता बढ़ जाती है ।

—श्री लक्ष्मीस्वरूप शुक्ल शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
मन्धना (कानपुर)

तुतलाना या हकलाना

श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य

प्राणोमात्र जन्मतः अभिव्यक्ति होता है । मानव ही नहीं प्रत्युत पशु-पक्षी भी अपनी अपनी भाषा में अपने मनोभावों को दूसरों पर अभिव्यक्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं । अभिव्यक्ति का यह कार्य होता है जिह्वा के द्वारा । यदि जिह्वा न होती तो न जाने संसार किस अवस्था में होता ।

जिह्वाहीन व्यक्ति, जिसकी जिह्वा कट गई हो या रोग विशेष के कारण या जन्मतः विकृति होने पर गूंगा या मूक कहलाता है । यद्यपि बुद्धिशील होने से मूक व्यक्ति भी संकेतों से या लिखकर अपने भावों को दूसरों पर प्रगट करता है तो भी इससे कदा तथा श्रोता दोनों को सन्तोष नहीं होता । अतः श्लेष्मक व्यक्ति आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है जिसके लिये जिह्वा का स्वस्थ होना आवश्यक है । स्वस्थ रखने के अनेक नियम हैं जिनको पूर्ण करने लिये इसके शारीर ज्ञान का होना आवश्यक है ।

जिह्वा की रचना में कई तत्व भाग लेते हैं जिनमें मांससूत्रों का मुख्य स्थान है । ये मांससूत्र श्लेष्मिक-रक्त के द्वारा आच्छादित रहते हैं । मांससूत्रों के अतिरिक्त इसकी रचना में नाड़ी सूत्र, सौत्रिक तन्तु तथा रक्तकेशिकायें भी भाग लेती हैं । जिह्वा के तीन महत्वपूर्ण कार्य हैं—

१. अन्न चूर्ण में सहायता २. रसग्रहण ३. बोलना । किन्तु हमारा विषय केवल बोलने से ही सम्बन्धित है अतः वर्णन भी उसी का अभीष्ट है ।

शब्दोत्पत्ति स्वासपथ (*Trachea*) के ऊर्ध्व भाग से होती है । इस भाग को स्वरयन्त्र (*Larynx*) कहा जाता है । स्वरयन्त्र की रचना तरुणास्थियों से होती है । इन तरुणास्थियों के संयोग से निर्मित गुहा में स्थितिस्थापक तन्तुओं से निर्मित दो पक्षियां होती हैं जिन्हें स्वरतंत्री (*Vocal cords*) कहते हैं । साधारणावस्था में ये तंत्रियां कण्ठ से चिपटी रहती हैं किन्तु बोलने की इच्छा होने पर इनमें तनाव आ जाता है । तनाव आने पर निर्वाध चलने वाले वायु में बाधा आने से वह इन तंत्रियों से टकराता है । इसी टकराव से उत्पन्न कम्पन के द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है । पुनः जिह्वा की विविध चेष्टाओं से वर्णोच्चारण होता है ।

जिह्वा के इस कार्य में दो शीर्षण्य नाड़ियां भाग लेती हैं । (१) कंठरासनी नाड़ी (*Glossopharyngeal Nerves*) (२) जिह्वामूलिनी नाड़ी (*Hypoglossal Nerves*) इनमें भी प्रथम का विशेष महत्व है ।

कोई भी कारण हो हकलाने में सभी का प्रभाव एक ही होता है । वह है उक्त नाड़ियों की स्तब्धता या अकर्मण्यता । होता यह है कि विशेष परिस्थितियों में जिह्वा तालु के साथ चिपक जाती है जिससे शब्द का उच्चारण बिल्कुल ही नहीं या अस्पष्ट होता है । परिस्थितिबश उक्त नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है फलतः जिह्वा उनके निय-



न्रण में नहीं रहती। जिह्वा की इस परिस्थिति अर्थात् हकलाहट के अनेक कारण हैं जैसे—

१. बोलने की कला मानव को प्रकृति की प्रेरणा से प्राप्त हुई है। आदि मानव बादलों की गर्जना, पवन की सांयसांय तथा समुद्र की गर्जना, नदियों की कलकलाहट से पहले तो भयभीत हुआ किन्तु प्रति दिन के अभ्यास से वह प्रकृति के इन शब्दों से प्रेरित हो इनकी प्रतिध्वनि करने लगा। प्रकृति की प्रेरणा से सर्वप्रथम उसने आ आ ऊं ऊं आदि करना सीखा। इसी प्रकार का निरन्तर अभ्यास करने से उसे स्पष्ट वाणी का उच्चारण करना आया। फलतः संगीत आदि की उत्पत्ति हुई। आदि मानव का यही रूप जन्मतः मानव में पाया जाता है। पहले पहल बालक ऊंचे शब्दों से धमाकों से भयभीत होता है किन्तु धीरे धीरे उनका अभ्यास होने से वह स्वयं भी वैसी ही ध्वनि निकालने का प्रयत्न करता है। मा-मा-मा आ-आ-आ उसके सर्वप्रथम प्रयत्न होते हैं। बालक की इस प्रकार की क्रियाओं से यदि माता-पिता प्रसन्न हों तो उसका उत्साह बढ़ता है। वह और भी सफलापूर्वक ऐसा ही करता है और भविष्य में स्पष्ट होलता है।

इसके विपरीत यदि माता-पिता या अन्य सभी व्यक्ति उसकी इस प्रवृत्ति का विरोध करें तो भयभीत होकर वह शब्दोच्चारण या तो करता ही नहीं, और याद करता है तो रुक रुक कर। इसी से भविष्य में तुतलाहट उत्पन्न होती है।

२. बालक के साथ कठोरता से बात करना, उसके प्रत्येक कार्य में टोकना तथा उसे ताड़ना तुतलाहट को उत्पन्न करता है।

३. परिवार के बालकों के साथ भेदपूर्ण व्यवहार करना भी तुतलाहट का कारण होता है। जब एक बालक देखता है कि उसके अभिभावक उसकी अपेक्षा दूसरे से अधिक प्रेम करते हैं तथा उसके साथ कठोरता का व्यवहार करते हैं तो वह प्रेम से वंचित होने के भय से विक्षिप्त सा होकर बोलने लगता है। प्रायः देखा जाता है कि माता पिता बड़े की अपेक्षा

छोटे से अथवा छोटे की अपेक्षा बड़े से अधिक प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते हैं। यही भेदभाव की रीति उपेक्षित में तुतलाहट उत्पन्न करती है।

४. आरम्भ में जब बालक बोलना आरम्भ करता है तो प्रायः अशुद्ध एवं तुतलाकर बोलता है। यदि अभिभावक शीघ्र शुद्ध एवं स्पष्ट बोलने के प्रयत्न में कठोरता बरते तो यह आदत और भी बढ़ती है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिये।

५. परिस्थिति विशेष में भला चङ्गा व्यक्ति भी तुतलाने लगता है। जैसे अपने से बड़े व्यक्ति के सामने, भयदायक परिस्थिति में, अत्यन्त प्रसन्नता में आदि आदि।

६. अति चिन्ता में, अपराध करते समय या अपराध करने पर।

१. घरेलू परिस्थितियां जैसे पति के साथ सुखी न होना आदि। यहां विषय बालकों का है अतः इस ओर अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं।

८. कुछ कुछ तुतलाने का कारण स्वभाविक विकृति भी होती है किन्तु नहीं के समान।

चिकित्सा—

संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्।

इस चिकित्सा सूत्र के अनुसार तुतलाहट के कारण का पहले निवारण करना चाहिए—

(१) आरम्भ में बालक की प्रत्येक क्रिया की प्रशंसा करनी चाहिए। जब बालक अज्ञात शब्द निकाले तभी उसी तरह माता को भी करना चाहिए जिससे बालक उत्साहित होकर अधिक स्पष्ट बोलने का प्रयत्न करें।

(२) बालक को अपने कार्य में मगन रहने देना चाहिए, निर्वाध होकर कार्य करना उसके मानसिक तथा बौद्धिक विकास में अत्यन्त सहायक होगा। वह स्पष्ट बोलेंगा।

(३) परिवार में सभी बालकों के साथ समान —शेषांश पृष्ठ ४०८ पर।

बाल-यकृत वृद्धि

कविराज श्री एस. एन. बोस



आयुर्वेद शास्त्र में “बाल यकृत वृद्धि” का विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। “यकृद्दाल्युदर” में जो वर्णन मिलता है उससे बालकों में यकृतवृद्धि की सूचना विशेष रूप से ज्ञात नहीं होती तथापि यह रोग आज के युग में एक विशेष महत्व का हो गया है। सैकड़ों बालक प्रतिवर्ष इस रोग से ग्रसित होकर मृत्यु कवलित होते हैं और यह एक खेद का विषय है। साधारणतौर पर यह कहा जा सकता है कि शिशुओं के खाद्य पदार्थों तथा तत्सम्बन्धी नियमों की अवहेलना इसका प्रधान कारण है—अतः अनायास यह आशा की जा सकती है कि प्रारम्भ से ही इन बातों पर ध्यान रखने से इस भयंकर रोग से बालकों को बचाया जा सकता है। अतः बालयकृत वृद्धि के निदान तथा प्रतिरोधात्मक चिकित्सा श्रानतः माताओं के ध्यान योग्य है और अवशिष्ट चिकित्सकों के लिये विशेष रूप से संग्रहीत है।

बालकों में यकृतवृद्धि विभिन्न कारणों से विभिन्न रूप लेकर उत्पन्न हो सकती है—जिसका ज्ञान हमें पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के वर्णन से प्राप्त हो सकता है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में भी बालयकृत वृद्धि (Infantile cirrhosis of liver) के नाम से किसी रोग विशेष का वर्णन मिलता है, परन्तु यकृत पाली विवृद्ध अथवा प्रवृद्ध (Hypertrophic or Atrophic cirrhosis of liver) उभय क्षेत्र के वर्णन प्रसंग में बालकों में इस रोग की उत्पत्ति का ज्ञान अवश्य ही मिलता है। जिन क्षेत्रों में बालकों में यकृत वृद्धि का वर्णन अधिकतर रूप में मिलता है—

1. Portal or multilobular Cirrhosis of liver. 2. Primary hypertrophic biliary Cirrhosis .3. Congenital Syphilis

of the liver.

संक्षेपतः इनका वर्णन निम्न प्रकार है—

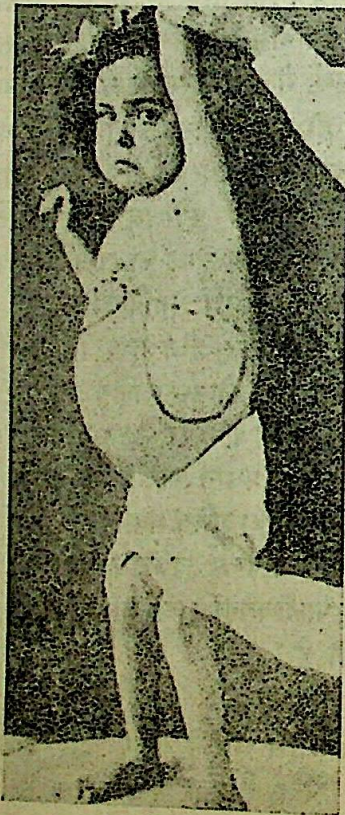
[1] Portal or Multi-lobular cirrhosis of liver.

साधारणतः Cirrhosis of liver कहने से इस रोग की ही प्रतीति होती है। यद्यपि यह रोग अधिकांश क्षेत्र में बयस्कों में ही दिखाई पड़ता है। परन्तु बालकों में भी इसका विशेष आक्रमण सचराचर दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि बयस्कों में इस रोग का कारण साधारणतः अत्यधिक मात्रा में मद्य सेवन के साथ पर्याप्त मात्रा में आमिष जातीय पदार्थों के भोजन का अभाव बताया गया है। तथापि यह रोग बालकों में साधारणतः संतुलित भोजन के अभाव में ही उत्पन्न होता है। शिशुओं को अधिक मात्रा में बाजार से प्राप्त महिषी दुग्ध जोकि अधिकतर चर्बी जातीय पदार्थयुक्त होता है उसका सेवन कराना, कृत्रिम दुग्ध का उपयोग कराना जो कि साधारणतः किसी न किसी प्रकार से आदर्श दुग्ध रूपी भोजन से हीन गुण विशिष्ट होता ही है अथवा शिशुओं को उसके लिये अनुपयुक्त भोजन देना जिससे यकृत के ऊपर सहनातीत दबाव पड़ता है—ये तीनों ही प्रधान कारण हैं। इनके अतिरिक्त मलेरिया, अमीबाजनित प्रवाहिका आदि रोगों के संक्रमण के फलस्वरूप यकृत विवृद्धि की परिणित भी यकृत पाली विवृद्धि अथवा संकोच के रूप में हो सकती है।

लक्षण—

प्रथमतः इस क्षेत्र में यकृत चर्बी जातीय पदार्थ का संग्रह होता है और बाद में यकृत में कोषा-गुओं का क्षय और सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissue) की वृद्धि होती है जिससे यकृत एक ठोस तथा कठिन पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। इस

रोग के लक्षण प्रारम्भ से बालकों में जुघामांघ्र, कभी कभी पित्त मिश्रित श्लेष्मिक जातीय पदार्थ का वमन, आध्मान, कभी कोष्ठवद्धता, कभी अतिसार, गात्रचर्म रूक्ष तथा शुष्क, कभी कभी नेत्रपटल मामूली हरितपीताभ और जिह्वा मलिन श्वेताभा-युक्त के रूप में दिखाई पड़ता है। क्रमशः यकृत की विवृद्धि दृष्टिगोचर होती और उदर के आकार में भी वृद्धि होती है। अधिकांश क्षेत्र में कामला रोग का मामूली आक्रमण दिखाई पड़ता है और स्नीहा में भी वृद्धि होती है। इसके बाद उदरगुहा में स्रावसंचय होकर जलोदर होता है और बल-मांस क्षय के साथ उदराकार में वृद्धि बालयकृत वृद्धि की विशिष्ट आकृति का द्योतक बन जाता है। कभी कभी पैरों में शोथ भी दिखाई पड़ता है। मूत्र का परिमाण कम हो जाता है और अधिकांश क्षेत्र



चित्र नं० ११५—यकृत वृद्धि

में मामूली ज्वरताप वृद्धि भी परिलक्षित हो सकती है विशेषतः द्रुत रोग प्रगति में यह लक्षण विशेष रूप से प्रकट होता है। रोगी क्रमशः दुर्बल तथा शक्ति व उत्साहविहीन होता जाता है। अन्त में देह में विप-क्रिया के प्रभाव से अस्थिरता, चिड़चिड़ापन, प्रलाप तथा संज्ञाहीनता आदि लक्षणों की उत्पत्ति से मृत्यु हो जाती है। यकृत विवृद्धि की अवस्था में विभिन्न रोग जीवाणुओं से अनुसंक्रमण हो मृत्यु हो सकती है।

[2] Primary hypertrophic biliary Cirrhosis.

यह यकृत की एक प्रकार की जीर्ण विवृद्धि है जो कि बच्चों तथा तरुणों में सचराचर दिखाई पड़ती है। इस व्याधि के प्रारम्भ में जुघाकार पित्तनलिकाओं में चारों ओर सौत्रिक तन्तुओं का उल्लस होता है जिसके कारण इसका उक्त नामकरण किया गया है। परन्तु अन्त में यकृत कोषों में भी आक्रमण होता ही है और यकृत का वैकृतिक परिवर्तन प्रायशः Portal Cirrhosis के समान ही दिखाई पड़ता है। यकृत अत्यधिक विवृद्ध, श्लेष्म (मसृण) तथा हरितवर्ण का हो जाता है साथ ही साथ स्नीहा की भी वृद्धि होती है। इस रोग का निदान अभी तक निश्चित नहीं है परन्तु पित्तनलिकाओं के प्रदाह के रूप में एक विशिष्ट परिवर्तन सभी क्षेत्र में मिलता है जो कि पित्त संचय के कारण ही होता है।

लक्षण—

रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे ही होता है और इस रोग में कामला एक विशिष्ट लक्षण है। सर्वाङ्ग पीताभ हो जाता है और अन्तिम समय तक यह लक्षण प्रकट रहता है। अवश्य कभी कभी और कभी ज्यादा भी हो सकता है परन्तु बिलकुल सित जाना दिखाई नहीं पड़ता है। मूत्र का वर्ण भी गहरा पीत होता है क्योंकि मूत्र के साथ काफी मात्रा में पौष्टिक लवणांश का क्षरण होता है। कभी कभी ज्वर अथवा रोग वृद्धि के कारण शारीरिक



शिशुरोगाङ्क

४०३

स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है तथापि साधारणतः स्वास्थ्य ठीक ही रहता है। उदरशूल में बढ़ी हो सकती है। उदर का आकार यकृत व सीहा के विवृद्धि के कारण काफी बढ़ जाता है और अग्रभाग सदा ही बना रहता है। दीर्घ दिन तक रोगभोग के पश्चात् रोगी जीर्ण, क्षीण हो जाता है और रक्तस्राव रूपी उपसर्ग से स्वास्थ्य के ऊपर विशेष असर पड़ता है। यह रोगी साधारणतः ५ वर्ष के भीतर ही मृत्यु का शिकार बन जाता है, औपसर्गिक व्याधि के आक्रमण के कारण शीघ्र ही मृत्यु हो सकती है।

[3] Congenital syphilis of the liver.

सहज (जन्मजात) फिरंग रोगाक्रांत शिशुओं में से १० प्रतिशत क्षेत्र में यकृत फिरंगरोग जीवाणुओं से आक्रान्त होता है। माता के रक्त के द्वारा रोग जीवाणु अपरा व नाभिनाल के मार्ग से प्रण के यकृत में सबसे पहिले पहुंचते हैं और यहाँ ही इनको स्थान संश्रय का प्रथम अवसर मिल जाता है, इसलिये ही अधिकांश क्षेत्र में यकृत ही आक्रान्त होता है। यकृत में सार्वजनिक विवृद्धि, लक्षणता, काठिन्य तथा अस्वाभाविक पाण्डुता आदि परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। इस रोग में यकृत में वृद्धि व काठिन्य, तथा वृक्क, अग्न्याशय, शूणप्रन्थि, फुफ्फुस तथा अधिवृक्कप्रन्थियों में सौत्रिक परिवर्तन अथवा मामूली विवृद्धि दिखाई पड़ती है।

नमः—

इस व्याधि में प्राथमिक यकृत रोग का संदेह नहीं होता है बल्कि शिशु की अन्य रोग परीक्षा के अवसर पर साधारण कठिन व विकृत यकृत चिकित्सक का ध्यान आकृष्ट करता है। शिशुओं में यकृत का अकार साधारणतः ही कुछ विवृद्ध रहता है परन्तु यकृत कोमल होता है। यकृत के आकार में वृद्धि के लक्षण असाधारण काठिन्य रोग का सन्देह उत्पन्न होता है। ऐसे क्षेत्रों में वृद्धि के साथ सहजफिरङ्ग

रोग के अन्य लक्षण भी मिलते हैं। इस व्याधि में कामला प्रायशः दिखाई नहीं पड़ता है। परन्तु जहाँ सहज फिरङ्ग के अन्य लक्षण दिखाई नहीं पड़ते हैं वहाँ रक्त परीक्षा के द्वारा रोग निर्णय सरल बन जाता है।

यद्यपि ये तीनों प्रकार की यकृत विवृद्धि बालकों में मिल सकती है तो भी प्रथमोक्त दो प्रकार की बाल यकृत विवृद्धि विशेष रूप से हमारा विचारणीय विषय है। सहज फिरङ्गज यकृत विवृद्धि में सहज रोग की चिकित्सा ही विशेष रूप से लाभदायक होती है। परन्तु यकृत कोषों का सौत्रिक परिवर्तन अथवा पित्तवाहिनी नलिकाओं के आसपास का सौत्रिक परिवर्तन—इन दोनों क्षेत्र में आयुर्वेदीय चिकित्सा विशेष लाभदायक हो सकती है।

चिकित्सा—

बालयकृत विवृद्धि की चिकित्सा का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम रोग प्रतिषेधिका चिकित्सा के ऊपर ही अधिकतर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। यकृत वृद्धि में एक बार सौत्रिक परिवर्तन होने के बाद उन यकृतकोषों को पुनः स्वस्थवस्था में लाना असम्भव सा हो जाता है और चिकित्सा में सफलता मिलना मुश्किल सा हो जाता है—एतदर्थ जिससे बालकों में यकृत विवृद्धि न होने पावे—इस ओर ध्यान रखना ही अत्युत्तम चिकित्सा है। यह कार्य कोई विशेष कष्ट साध्य भी नहीं है और शिशुओं के भोजन के ऊपर ध्यान रखने से ही उन्हें इस भयानक व्याधि से बचाया जा सकता है।

शिशुओं के भोजन के लिये मातृदुग्ध के समान कोई पथ्य नहीं है। अवश्य माता स्वास्थ्यवती होनी चाहिए—अन्यथा मातृदुग्ध से भी शिशु रोगग्रस्त हो सकता है। माता के स्वास्थ्य के ऊपर ध्यान देना अथवा स्तन्यदुष्टि की चिकित्सा करना सर्व प्रथम कर्तव्य होता है। कुछ माताओं में स्तन्य का अभाव भी दिखाई पड़ता है—परन्तु स्तन्यवर्द्धक आहार व औषध से इस अभाव का निराकरण हो सकता



है। कुछ आधुनिक शिक्षिता माताएँ शिशु को स्तन्यपान कराना कई कारणों से नहीं चाहती हैं और तदनुसार प्रारम्भ से ही स्तन्य निवृत्ति के लिए व्यवस्था करते हैं तथा बच्चों को बोतल से गौ अथवा माहिषी दुग्ध अथवा कृत्रिम दुग्ध पिलाने की आदत डाल देते हैं। इन सब अस्वाभाविक अवस्थाओं से ही अनेक शिशु बाल यकृतवृद्धि का शिकार बन जाते हैं। शिशुओं को स्तन्यपान कराना माता का धर्म व कर्तव्य है—भारतीय संस्कृति यही शिक्षा हमें देती है, इस शिक्षा की अवहेलना से ही हमें दुःख भोगना पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में भी मातृस्तन्य पान की विविध उपकारिता—माता एवं शिशु दोनों के लिये विस्तृत रूप से वर्णित है। एक स्वस्थ माता अपने शिशु को न्यूनाधिक ६-७ मास केवल अपने स्तन्य से पालन कर सकती है, बाहरी दूध देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। परन्तु अगर इतना न भी हुआ तो ४ मास आयु तक शिशु को मातृस्तन्य के ऊपर अनायास रखा जा सकता है और ऐसा शिशु काफी दृष्ट, पुष्ट हो सकता है। इस समय शिशु के लिये जो ऊपरी दूध की व्यवस्था करनी पड़ती है वह दूध अगर माता को दिया जाय तो मां के स्तन से उससे भी अधिक मात्रा में दूध मिल सकता है और ऊपरी दूध से जो हानि की संभावना रहती है वह माता के दूध से दूर हो जाती है। अतः प्रत्येक माता को यह चेष्टा करनी चाहिये कि वे अपने स्तन्य से ही ६ माह नहीं तो कम से कम ४ माह तक शिशु का पोषण पूर्णतया कर सकें और इसमें सफलता प्रत्येक माता के लिये मिलना असंभव नहीं है। स्वस्थ मातृस्तन्य शिशु के लिये परम सात्म्य, सुपाच्य तथा पूर्ण भोजन है जिससे शिशु के भविष्य जीवन के स्वास्थ्य की भित्ति मजबूत हो जाती है। गर्भावस्था से ही इस ओर ध्यान देना आवश्यक है नहीं तो प्रसवान्त प्रचेष्टा सभी क्षेत्र में सफल नहीं भी हो सकती है। विशेष रूप से माता के स्वास्थ्य के ऊपर ही उनके स्तन्य का परिमाण व गुणदोष

निर्भर है। अतः शिशु के स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिये प्रथमतः माता के स्वास्थ्य के ऊपर ही ध्यान देना आवश्यक है।

माता के स्वास्थ्य ठीक न रहने से अथवा मातृ दुग्ध से शिशु का प्रयोजन पूर्ण न होने के क्षेत्र में आयुर्वेद शास्त्र में धात्री दुग्ध की व्यवस्था के लिये उपदेश दिया गया है। धात्री के निर्णय के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद शास्त्र में विस्तृत उपदेश मिलता है। परन्तु आजकल न तो इसके रीति रिवाज हैं और न ऐसी धात्री ही अनायास मिल जाती है। अधिकांश माता ही अपने बच्चे का प्रयोजन पूरा नहीं कर पाती हैं, उनके पास दूसरे के बच्चे के लिये स्तन्य ही कहां रह जाता है? इसलिये आजकल सहज लभ्य गाय अथवा माहिषी के दूध अथवा कृत्रिम दुग्ध की व्यवस्था ही की जाती है। मातृस्तन्य के अभाव में गोदुग्ध काफी हद तक काम दे सकता है, परन्तु उसके लिये घर में गाय का पालन करना आवश्यक है। पालतू गाय को उपयुक्त भोजन देकर ही उससे आवश्यक स्वास्थ्योपयोगी दूध निकाल लिया जा सकता है। बाजारू गाय के दूध के ऊपर भरोसा करना मुश्किल है, सामने दुहाकर लेने के बावजूद गाय के भोजन के सम्बन्ध में ज्ञान न रहने से उस दूध के ऊपर पूर्णतया भरोसा नहीं किया जा सकता है। परन्तु अभाव में सभी सहन करने पड़ते हैं। दूध में पानी मिलाने के अलावा माहिषी के दूध में काफी पानी मिलाकर गाय का दूध बताना अथवा मक्खन निकालकर गाय का दूध कहकर बेचना आजकल अक्सर दिखाई देता है। शिशु के स्वास्थ्य के लिए ये सब ही हानिकर हैं। अगर घर में गाय को पालना संभव नहीं हो तो कम से कम अपने सामने कम उम्र के बड़े वाली एक ही गाय के दूध दुहाकर लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह से सुबह शाम दोनों समय दूध का संग्रह करना चाहिये। सुबह का दूध रात तक शिशु को पिलाना उचित नहीं है। दूध कभी भी शिशु को खालिश देना नहीं चाहिये। कई



मातायें ऐसी हैं जो सोचती हैं कि जब वे काफी मात्रा में दूध शिशु के लिये खरीद सकती हैं तो बच्चों को क्यों पानी मिलाकर पिलावें। यह धारणा बिलकुल गलत है। दूध उबालते समय उसमें कुछ न कुछ जल अवश्य ही डालना चाहिए। जो जल दूध उबालते समय वाष्प होकर उड़ जाता है। अगर पानी न डाला जाय तो दूध से पानी का हिस्सा उड़ जाने के कारण दूध कुछ गाढ़ा हो जाता है जो कि शिशु के लिये गुरु पाक बन जाता है। इसके अलावा ऐसा पानी डालकर उबाला हुआ दूध भी अकेला नहीं देना चाहिए। दूध का एक प्राकृतिक गुण है कि उससे पेट में गैस उत्पन्न होती है। दूध की मात्रा मामूली भी ज्यादा होने के कारण शिशुओं में अतिसार, उदराध्मान आदि हो सकता है। विशेषतः शिशुओं की वृद्धि के लिये कुछ शर्करा जातीय श्वेतसार (Carbohydrate) पदार्थों की भी आवश्यकता रहती है। एतदर्थ शिशु के दूध में अल्पाधिक मात्रा में बाली का पानी अथवा साबूदाने का पानी और मामूली शर्करा डालकर देना ही आवश्यक तथा उचित है। बाली का पानी मल को थोड़ा सा बांधता है और साबूदाने का पानी मल को थोड़ा सा नरम कर देता है। किसी किसी शिशु में इसका विपरीत दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में मातायें अति अल्पकाल में ही अभिज्ञता अर्जन कर सकती हैं। शिशुओं के भोजन में आवश्यकतानुसार ६, १ अथवा ३ भाग बाली अथवा साबूदाने का पानी व थोड़ा सी शर्करा मिलाकर नियमित समय पर दूध देना चाहिये। बोतल में दूध पिलाना सरल है परन्तु बोतल व Nipple ठीक तरह से साफ न करने के कारण शिशु अक्सर बीमार हो जाता है। प्राचीनकाल में चम्मच से दूध पिलाने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इसका भी दोष है। मातायें चम्मच से शिशुओं को जबर-दस्ती आवश्यकता से अधिक दूध पिला देती हैं जो कि बच्चे के लिये बाद में दुखदाई हो जाता है। कटोरी व चम्मच साफ करना अति सरल है

परन्तु अगर मातायें बच्चों की आवश्यकता के ऊपर ध्यान देकर उसकी इच्छानुसार दुग्ध पिलाकर चूम कर सकती हैं तो यह तरीका सबसे उत्तम है। कोई भी बुद्धिमती माता इस कार्य को अनायास भलीभांति निभा सकती है। अगर बोतल की ही व्यवस्था करनी है तो उसकी सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना परमावश्यक है। याद रखना चाहिये कि बार बार अतिसार होना अथवा कोष्ठ-बद्धता होना, बालयकृत विवृद्धि का पूर्व लक्षण है और शिशु की यकृतविवृद्धि से बचने के लिये इस चेतावनी के ऊपर ध्यान देना ही चाहिये। प्रत्येक शिशु में भोजन की मात्रा विभिन्न है परन्तु निर्धारित समय पर भोजन कराना माता का परम कर्तव्य हो जाता है। अनेक शिशु मातृ स्तन्य के साथ ही साथ ऊपर का दुग्ध पीते हैं ऐसे क्षेत्र में ऊपर के दुग्ध का मात्रानिरूपण माता की बुद्धि पर ही निर्भर है। परन्तु जो माता शिशु के रोदन पर ही उसे दुग्ध पिलाने बैठ जाती हैं चाहे वह स्तन्य हो या ऊपर का दुग्ध, वे शिशु को हानि ही पहुंचा रही हैं इसमें संदेह नहीं है। शिशु विभिन्न कारणों से रोदन करता है परन्तु उनमें से केवल सच्ची भूख के कारण ही जब रोता है तब ही उसे भोजन देना चाहिये अन्य समय नहीं।

शिशु के दांत निकलने के बाद उसे थोड़ी सी अधिक मात्रा में श्वेतसार जातीय भोजन (Carbohydrate food) देना प्रारम्भ करना चाहिये। ४-६ दांत निकल जाने के बाद उसे कुछ मामूली चबाने के योग्य भोजन देना चाहिये जिससे उसके मसूढ़े कुछ मजबूत होने लगें। दांत निकलते समय अक्सर शिशुओं में ज्वर, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं। साधारणतः इस समय के इन रोगों को दांत निकलने के कारण बताया जाता है। शास्त्र में भी इसका वर्णन है। अपनी अभिज्ञता से मैं यह कहना चाहता हूँ कि स्वस्थ बच्चों में दांत निकलते समय कोई भी व्याधि नहीं होनी चाहिये। हो सकता है कि उस समय कुछ रोग प्रवणता हो।



परन्तु शिशुओं के आहार विहार के ऊपर पर्याप्त ध्यान रखने से इस बिपत्ति से अनायास बचा जा सकता है। उस समय के आहार में मामूली गड़-बड़ी के कारण ज्वर या अतिसार हो जाता है और उसकी उपेक्षा से वह भयानक रूप धारण कर सकता है, परन्तु यह बात भी सत्य है कि मामूली सावधानी से इन रोगों को दूर रखा जा सकता है। दांत निकलते समय शिशुओं में जो अक्सर तकलीफ दिखाई देती है, उनमें से अधिकांश आहार विहार के नियमों की अवहेलना के कारण ही उत्पन्न होती हैं और इस ओर मैं माताओं का ध्यान अधिक आकृष्ट करना चाहता हूँ। क्योंकि अधिकांश क्षेत्र में इन रोगों की परिणित में ही यकृत विवृद्धि होती जाती है।

शिशु जिस समय से अन्न का ग्रहण प्रारम्भ करता है, उस समय हमारे घरों में उसे बार बार परिवार के सब ही लोगों के साथ कुछ न कुछ खिलाया जाता है। लोग प्यार से यह कार्य करते हैं और उसका फलभोग शिशु को करना पड़ता है। बार बार भोजन कराना अथवा बयस्क व्यक्तियों के लिये जो भोजन उपयुक्त है उसका कुछ अंश शिशुओं को देना—यह दोनों ही कार्य निन्दनीय हैं। स्मरण रहे कि शिशुओं में पाचन शक्ति उम्र के अनुसार ही होती है और पाचन शक्ति के ऊपर दबाव डालने का ही मतलब है यकृत के ऊपर दबाव डालना, जिसके फलस्वरूप यकृत में विकृति अनायास ही आ जाती है। अतः शिशुओं पर प्यार करने का यह हानिकारक उपाय सर्वथा वर्जनीय है। अन्न के प्रारम्भकाल में बच्चों को दूध के साथ ही रोटी की पापड़ी, गला हुआ या नरम चावल अथवा पतली खिचड़ी (मिर्च मसाला वर्जित) मूंग या मसूर की दाल का पानी या पतली दाल देनी चाहिये। इस समय बालक नमकीन पदार्थ अधिक पसंद करता है परन्तु अधिक नमकीन या मिर्च मसालायुक्त अथवा तली हुई चीजें उसके स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं। तैल या घी युक्त

पदार्थों का अधिक उपयोग भी उसके लिये चूँकि कर है। धीरे धीरे अन्न की मात्रा बढ़ानी चाहिए, परन्तु दुग्ध बिलकुल बन्द करना कदापि उचित नहीं है।

कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि माता के दूसरे गर्भ धारण के बाद भी बालक का स्तनपान चालू रहता है। इससे माता के स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है, परन्तु बालकों में अजीर्ण आदि उपद्रव आ जाता है। कभी कभी माता दूसरे गर्भ धारण के कारण बालकों को स्तनपान से विरत करने के लिये शीघ्रातिशीघ्र अन्न ग्रहण के लिये बाध्य करती है और शिशुओं के उपयुक्त भोजन सम्बन्धी ज्ञानाभाव के कारण अथवा आर्थिक कठिनाइयों के कारण बच्चे के लिये विशेष भोजन व्यवस्था नहीं कर पाती है। यह स्थिति भी खतरनाक है और इस प्रकार से पालित बालक अधिकांश क्षेत्र में सूखारोग अथवा बालयकृतवृद्धि के शिकार बन जाते हैं। अतः बाल यकृत विवृद्धि की प्रतिषेधात्मक चिकित्सा के लिये हमें प्रथमतः ध्यान शिशुओं के भोजन पर ही देना परमावश्यक है जिससे हम कम से कम ८० प्रतिशत रोगाक्रमण से मुक्ति दिला सकते हैं।

औषधि चिकित्सा

बच्चे के अजीर्ण, अग्निमांद्य के ऊपर शुरू से ही ध्यान देना आवश्यक है। बारबार अतिसार अथवा दीर्घकाल से कोष्ठबद्धता बाल यकृत विवृद्धि का पूर्वरूप है। अतः ऐसे क्षेत्र में लगातार चिकित्सा आवश्यक है। रोगी की पाचन शक्ति के ऊपर ध्यान देकर पथ्य निर्देश करना चाहिए और साथ ही साथ पाचक औषधियों का उपयोग करना चाहिए। बालकों के लिये प्रारम्भ में तीक्ष्ण वीर्य औषधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती है, लवण भास्कर, शुभ्र पर्पटी या बज्रचार युक्त लवण भास्कर, भुवनेश्वर रस, स्वल्पगङ्गाधर चूर्ण, दाडिमाष्टक चूर्ण आदि हितकर हैं। परन्तु बार बार अतिसार का आक्रमण होते रहने से श्रीरामबाण रस $\frac{1}{2}$ रत्ती से $\frac{1}{4}$ रत्ती, महा-

तन्मय १ से २ रत्ती के साथ मिलाकर नागरमोथा चबल का पानी व शहद के अनुपान से दिन में २-३ बार देने से लाभ होता है। मल में दुर्गन्ध रहने से प्रसारणी की हरी पत्ती का स्वरस उसमें मिला देने से दुर्गन्ध नष्ट होती है। भैषज्य रत्नावली में अनिमान्याधिकारोक्त लबंगादि वटी १ रत्ती, शुभ्र-पर्पटी ३ से १ रत्ती मिलाकर अनेजीरे को पानी के साथ देने से साध्मान अतिसार में पर्याप्त लाभ होता है। दुग्ध बन्द करके उसके स्थान पर बाली का पानी अथवा फटा हुआ दुग्ध का पानी पथ्य के रूप में देना चाहिये। कोष्ठबद्धता रहने से बालक को बार बार जुलाव नहीं देना चाहिए। दूध में अंजीर, तथा गुलेठी अथवा मुनक्का या किसमिस उबालकर पिलाने से कोष्ठबद्धता नहीं हो पाती है। साबूदाना उबालकर दूध में मिलाकर पिलाने से भी कोष्ठ-बद्धता नहीं हो पाती है। आवश्यकता पड़ने पर सप्ताह में १ बार १ या २ चम्मच विशुद्ध एरण्ड तैल दूध या गर्म पानी के साथ देना पर्याप्त होता है। उसके बाद से उपयुक्त साधित दूध देते रहने से कोष्ठबद्धता नहीं होगी। यकृत विवृद्धि को देखते ही रोगी को मक्खन निकाला हुआ दूध देने की व्यवस्था करनी चाहिए। यकृत की वृद्धि में चर्बी जातीय भोजन सबसे अधिक हानिकर है। रोगी को लोकनाथ रस (ताम्र घटित) ३ रत्ती से १२ रत्ती तक, कर्पद भस्म १ से २ रत्ती तक दिन भर में २ बार मधु के साथ अथवा दारुहरिद्रा (पानी में पीसकर) और शहद के साथ देना चाहिये। लोकनाथरस का प्रयोग खाली पेट नहीं करें इससे जी मिचलाना, वमन आदि उपसर्ग हो सकते हैं। अजीर्ण अधिकारोक्त-‘क्रव्यादरस’ बालयकृत वृद्धि में एक विशेष उपयोगी औषधि मानी जाती है। यह भी ताम्रघटित औषधि है अतः इसके प्रयोग के समय भी उपरोक्त बात ध्यान में रखनी चाहिए। कुमारी आसव बालयकृत विवृद्धि की एक विशिष्ट औषधि है। कुमारी आसव १ से २ चम्मच की मात्रा में रोगी को दिन में २ बार देने से काफी लाभ होता है।

सीहा की विवृद्धि रहने से रोहितकारिष्ठ मिला कर अथवा पाण्डुता के क्षेत्र में लोहासव मिलाकर भी दिया जाता है। कामला के लक्षण उपस्थित रहने से लोकनाथ रस, क्रव्यादरस व कुमारी आसव के समवेत प्रयोग से विशेष लाभ होता है। वृ. लोक-नाथ रस और भी उपयोगी औषध है। इनके अलावा चित्रकादिलौह, पांडुपञ्चानन रस, यकृदरि लोह शोथ की उपस्थिति में लौहभस्म पुनर्नवा मण्डूर, शोथारि मण्डूर आदि के प्रयोग से लाभ होता है। मात्रा के ऊपर विशेष ध्यान रखें।

बालयकृत विवृद्धि में गोमूत्र का प्रयोग बड़ा ही लाभदायक होता है। प्रतिदिन प्रातः काल ताजा गो-मूत्र ५ से १५ बूंद तक पानी अथवा दूध के साथ शिशु को पिलाने से आश्चर्यजनक फल मिलता है। इसके अलावा गोमूत्र से यकृत प्रदेश में स्वेदन भी विशेष लाभदायक होता है। स्वेदन खाली पेट में ही करना चाहिए। ताजा गोमय का प्रलेप भी हितकर है। गोमय अथवा गोमूत्र के अभाव में सरसों की खल्ली का पोटलीबद्ध सेक अल्पकाल के लिये किया जा सकता है। सरसों की खल्ली तीक्ष्ण गुण विशिष्ट होने के कारण शिशु के शरीर में प्रत्यक्ष संसर्ग में नहीं लानी चाहिये। इनके अथवा *Anti-phlogistine* के नियमित प्रलेप से भी लाभ हो सकता है।

पाश्चात्य मतानुसार बालयकृत विवृद्धि में चर्बी जातीय पदार्थों का त्याग और आमिष जातीय पदार्थ का अधिकतर उपयोग इस व्याधि के लिये हितकर है। एतदर्थ यकृत, अस्थिमज्जा, सीहा आदि को काफी देर तक उबालकर उसके सोरवा का अल्पाधिक प्रयोग करना हितकर है। नमक व हल्दी डालकर २ घण्टा उबाल के बाद मामूली घी का छौंक देकर छानकर रोगी को दिया जाता है। याद रहे कि इसके प्रयोग के कम से कम २ घण्टे आगे पीछे दुग्ध का प्रयोग न किया जाय। रोगी के बलाधान व क्षय पूरक दृष्टि से *Liver Extract* का प्रयोग चाहें वह मुखमार्ग से हो अथवा सूचीवेध के द्वारा

हो विशेष लाभदायक होता है। विटामिनों का प्रयोग भी लाभदायक है।

शोथ अथवा जलोदर की उपस्थिति में तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी को नमक बन्द करके दुग्धान्न पर रखना ही युक्ति युक्त है। विरेचन के लिये बालकों में इच्छामेदी आदि जयपाल घटित तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग करना उचित नहीं है। ऐसे क्षेत्रों में पुनर्नवाष्टक क्वाथ से ही लाभ मिल सकता है। आवश्यकता के अनुसार उसमें कुटकी, हरीतकी की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है अथवा अमलतास के गूदे को मिलाया जा सकता है। इससे ही पर्याप्त विरेचन हो जाता है। बालकों के शोथ अथवा जलोदर के क्षेत्र में मूत्रल औषधियों का अधिक उपयोग लाभदायक है।

बाल यकृत विवृद्धि में हिमालय ड्रग कम्पनी द्वारा निर्मित Liv-52 की गोलियां भी काफी लाभदायक सिद्ध हुई हैं। यह पूर्णरूपेण आयुर्वेदीय औषध है। इसके प्रयोग से यकृत विवृद्धि, यकृत की क्रिया शैथिल्य तथा यकृत विकारजन्य शोथ या उदर रोगों में विशेष लाभ होता है ऐसा देखा गया है।

—कविराज श्री एस. एन. बोस.
प्रिन्सिपल-दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज,
जालन्धर

:: पृष्ठ ४०० का शेषांश ::

व्यवहार करें। सबकी बातों को समान रूप से सुनें तथा यथासम्भव उत्तर देने का प्रयत्न करें।

(४) शीघ्र स्पष्ट एवं शुद्ध बोलने के लिये कठोरता के स्थान में नम्र होकर स्पष्ट बोलना सिखायें।

(५) प्रयत्न करना चाहिए कि बालक कभी भी भयभीत न हो। सदा ही ऐसी परिस्थितियों में बचाव का प्रयत्न होना चाहिये।

यदि तुतलाहटपन आ ही जाये तो—

१-उग्रगन्धा २-४ रत्ती मधु में मिलाकर उसकी जिह्वा पर मल दें।

२ स्मृतिसागर रस २ रत्ती, मुक्ता भस्म २ रत्ती दो मात्रा मधु के साथ।

३-सर्पगन्धा १ रत्ती, एकांगवीर रस १ रत्ती, अभ्रक भस्म १ रत्ती या २ रत्ती मधु के साथ।

इसमें से प्रथम दो स्वानुभूत हैं। इन्हीं के समान अन्य वातनाशक एवं बलकारक योगों का सेवन, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि का स्वरस, बादाम का अवलेह सेवन अत्यन्त हितकर है। अश्वगंधारिष्ट तथा अरिविन्दासव भी लाभदायक हैं।

इनके अतिरिक्त जिह्वा की स्वच्छता दातुन आदि से अवश्य करनी चाहिए। बालकों को सदा निर्भय एवं आत्मविश्वासी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

—श्री नन्दलाल शर्मा वैद्य
अध्यक्ष-राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय
कोडवा खुर्द (अम्बाला)

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ की निर्मित

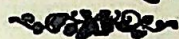
स्वाज्ञ रिप्ट

स्वाज्ञ रिप्ट को लगाते लगाते ठीक कर देता है ::

आपके यहां के दूकानदारों के यहां मिल जायगा

बालयकृत रोग चिकित्सा

श्री विद्याभूषण वैद्य आयुर्वेदाचार्य B.A.



परिभाषा —

यकृतोऽवस्थितिरनिशं दक्षिणतः स्यादधो हृदयात् ।
ततः तु विविधा रोगाजायेरन् भुरिदुःखदा नियतम् ॥
—माधव परिशिष्ट

अर्थात्—हृदय के नीचे दक्षिण भाग में यकृत (Liver) की अवस्थिति है जिसमें अनेक प्रकार के अत्यन्त दुःख देने वाले रोग उत्पन्न होते हैं ।

बाल यकृत (Infantile cirrhosis of Liver) एक ऐसा रोग है जो ६ माह से ५ वर्ष के बीच की अवस्था के ही बालकों को होता है ।

बालक जब माता के उदर से बाहर आता है तो उसका पेट बड़ा होता है और यकृत भी बड़ा हुआ होता है अर्थात् यह कुल शरीर का अठारहवां

($\frac{1}{8}$) भाग होता है जबकि प्रौढ़ (Adult) मनुष्य का यकृत कुल शरीर का चालीसवां भाग होता है किंतु धीरे धीरे बालक का यकृत जन्म के पश्चात् घटता जाता है और उचित आकार में आजाता है ।

निदान—

बाल यकृत (Infantile Liver) का निदान समझने के लिए हमको गर्भस्थ शिशु (भ्रूण) का रक्त परिभ्रमण जानना आवश्यक है । इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ ४० पर देखें ।

गर्भस्थ शिशु के रक्तभ्रमण के उस विवरण पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे आपके तो हृदय और फुफ्फुस अधिक कार्य करते हैं । अर्थात् फुफ्फुस शरीर के प्रयोग में आने के कारण अशुद्ध हुये रक्त को शुद्ध करके हृदय में भेज देता है और हृदय उसको सारे शरीर में आवश्यकतानुसार बांट देता है, किन्तु गर्भावस्था में फुफ्फुस तो बिलकुल ही कार्य नहीं करते उनका सारा काम कमल (Placenta) करता है और हृदय का बहुत सारा कार्य यकृत करता है । यकृत को कमल से नाभि सिरा द्वारा रक्त ग्रहण करके याकृत सिरा द्वारा उदगामी महासिरा (Ascending vena cava) में भेजना पड़ता है । बच्चे के उत्पन्न होते तथा उसके श्वास लेते ही नाभिनाल का रक्त प्रवाह स्थगित हो जाता है तथा नाभि सिरा क्रियाहीन हो जाती है । इस परिवर्तन का प्रभाव हृदय के आकार तथा परिमाण पर पड़ता है और हृदय पूर्व से बढ़ने लगता है और जो यकृत अब तक स्वाभाविक आकार से बड़ा हुआ था अब काम हो जाने के कारण घटने लगता है । तथाच—

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्गाः पृथग्विधाः ।
मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥



चित्र नं० ११६



मन्दैऽनौ मलिनैऽमुक्तैरपाकादोष संचयः ।
प्राणान्गन्यपानान्संदूष्य मार्गान्वद्धोत्तरोत्तरान् ॥
त्वहं मांसान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन्मृशम् ।
जनयेत्युदरं तस्यहेतुं शृणु सलक्षणम् ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् गर्भावस्था में स्वभाव से बढ़े हुये यकृत वाले बालक को मातायें अज्ञान के कारण अधिक दूध पिलाकर अथवा विकृत दूध पिलाकर उसको जठराग्नि दूषित कर देती हैं। उस जठराग्नि के दोष से बालकों के शरीर में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और विशेष कर अग्नि के विकार से मल की वृद्धि होकर उदर रोग उत्पन्न होते हैं। मन्दाग्नि में दूध पीने से उस दूध का पाचन नहीं होता उससे दोषों का संचय होता है। इस प्रकार संचित हुये दोष प्राणवायु जठराग्नि और अपान वायु को दूषित कर ऊपर नीचे के मार्गों को रोक देते हैं और त्वचा तथा मांस के मध्य में प्राप्त होकर दोनों कुक्षियों में अफरा करते हुए यकृत वृद्धि (*Infantile cirrhosis of liver*) उत्पन्न कर देते हैं।

बालकों की अग्नि स्वभाव से ही स्वल्प होती है इसीलिये उनका भोजन दूध मात्र कहा गया है जबतक दो वर्ष तक दांत पूर्ण रूप से न निकल आवें तब तक बालक को यत्नपूर्वक दुग्धपायी ही रखना चाहिए। यद्यपि दूध लघु भोजन होता है किन्तु मात्रा गुरु तो यह भी हो सकता है अर्थात् बालक को अधिक मात्रा में या बारबार पिलाने से हानि-कर होता है।

प्रायः देखा गया है कि मातायें बच्चे के तनिक रोने पर दूध पिला देती हैं यह हानिकारक है। (*Homeopathic family practice*) होमियो-पैथिक फैमिली प्रैक्टिस में लिखा है कि—*It is the height of unwisdom to interpret each cry as due hunger, very often the reverse is the course.* अर्थात् यह तो मूर्खता की चरम सीमा है कि बच्चे के हर रोने को भूख के कारण रोना समझा जावे, अधिकतर तो कोई

दूसरा ही कारण होता है। यदि बच्चे को स्वस्थ रखना है तो इस बात को खूब ध्यानपूर्वक याद रखना चाहिये कि चार घंटे से पूर्व बच्चे को कदापि दूध न पिलाया जावे।

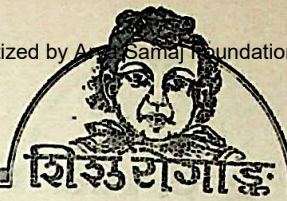
दूसरी बात बच्चे को बलात् (जबर्दस्ती) कभी दूध नहीं पिलाना चाहिये। बच्चा दूध नहीं पीता और मातायें टागों में दबाकर चम्मच से बलात् दूध उसके मुंह में उडेले जाती हैं। वह रोता है, कभी कभी ठसका तक लग जाता है तो भी वह अपना अभियान जारी रखती हैं यह भी हानिकर है। भूख लगेगी तो कब तक बालक दूध नहीं पीवेगा।

पूर्वरूप—

क्षुब्धाशः स्यादतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात् ।
मुक्तं विदाह्यते सर्वं जीर्णजीर्णं न वेत्ति च ॥
सहते नाति सौहित्यमीषच्छोषश्चपादयोः ।
शश्वद्वलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वाससृच्छति ॥
पुरीषनिचयोवृद्धि उदावर्त कृता च रुक् ।
वस्ति सन्धौरुगाध्मानं वर्द्धते पाटयतेऽपि च ॥
आतन्यते च जठरमपिलध्वल्प भोजनात् ।
राजीजन्मबलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥

—चरक चि० अ० १३

बालक जब जन्म लेता है तो यकृत बड़ा हुआ तो अवश्य होता है किन्तु वह कोमल होता है और कोई विकृति का चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। जब शिशु यकृत होने को होता है तो यकृत तथा उदर स्पर्श में कठोर हो जाता है। बालक को भूख नहीं लगती इसलिये वह समय पर और अपनी इच्छा से दूध नहीं पीता, चिकने और भारी दूध (यदि भैंस का हो अथवा अन्य प्रकार से दूषित हो तो) का परिपाक बहुत बिलम्ब से होता है और वह दूध विदग्ध होकर जलन डालता है अतः बालक बेचैन रहता है। और ठण्डे स्थान पर लेटना पसन्द करता है। जहां उसको ठण्डा स्थान लगा चट सर मुकाकर लेट जाता है। दूध पच गया या नहीं ऐसा बालक को कभी नहीं मालूम होता अर्थात् स्वेच्छा



लेखिपूर्वक दूध कभी नहीं पीता, पेट भर कर दूध
भी नहीं पीता थोड़ा सा पीकर छोड़ देता है, दोनों
शरीर थोड़ा सा शोथ प्रगट होता है। बल का शीघ्र
हो जाता है थोड़ी सी भी क्रिया करने पर
जल्दी जल्दी श्वास आने लगता है। पेट में मल
संचय हो जाता है अतः पीड़ा के कारण बालक
पेट में घुटने देकर हर समय रोता है किसी भी
प्रकार चुप नहीं होता। मूत्राशय (Bladder)
जोड़ों में पीड़ा होने लगती है। अतः बालक
नृत्य करते समय अधिक रोता है और उसका
शरीर कोई छू दे तो भी अधिक रोता है जैसे तो
हर समय ही रोता रहता है। पेट में अफरा बढ़ता
जाता है थोड़ा सा दूध पीने पर पेट तन जाता है
और ऐसा मालूम होता है मानों फट जावेगा अतः
बालक सहलाने तथा सेक से शान्ति अनुभव करता
है। पेट में रेखा (राजी सी) उत्पन्न हो जाती है
(हृदय की होती है) और मुलायमी और सल-
सल होकर कपाल की तरह तन जाता है। यह
सब लक्षण तब होते हैं जब बालयकृत (Infanti-
le cirrhosis of liver) होने को होता है।

प्रस्थाप्ति—

स्वेदास्वेदाग्निदोषाः स्रोतांसिसन्निचिताः ।

आपापानानि संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥

—चरक ॥

अर्थात् संचित हुये दोष स्वेदवाही तथा जल-
वाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके तथा प्राणवायु
और जठराग्नि को विकृत करके उदर रोग अथवा
जठरवृद्धि उत्पन्न करते हैं। (बालयकृत त्रिदोषज
रोग है।)

स्वेदवाह स्रोतों का मूल मेद, रोमकूप
तथा स्वेद ग्रंथियां हैं “स्वेदवाहानां स्रोतसां मेदो
मूलं रोमकूपाश्च” —चरक विमान अ० ५। स्वेद
ग्रंथियों के द्वारा स्वेद की उत्पत्ति होती है उनमें
जठराग्नि के कारण रुकावट हो जाती है। और
जठराग्नि रूप से स्वेद बाहर नहीं निकलता। इसी
कारण जलवाही स्रोतों का मूल तालु तथा क्लोम हैं

“उदकवाहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च” तालु
(तालुस्थित वातनाडियां) तथा क्लोम में
विकार होने से शरीर का नियन्त्रण अनियमित हो
जाता है। इस प्रकार स्वेद और जल दोनों ही
शरीर के अन्दर बढ़ जाते हैं। यह दोनों ही जलीय
द्रव्य हैं इसलिए शैत्यगुण से समानधर्मी वायु
अर्थात् प्राण और अपान को दूषित कर देते हैं।
और विपरीत गुणवाली पाचकाग्नि (Hydroch-
loric acid and other gastric secretions)
को नाश कर देते हैं। इन सब कारणां से शिशु
यकृत तथा अन्य उदर रोग उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—

आध्मानं गमनेऽशक्तिं दौर्बल्यं दुबलाग्निता ।

शोथः सदनंमङ्गानां सङ्कोचातपुरीषयोः ॥

दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥

—सुश्रुत निदान अ० ७

अर्थात्—बालयकृत में बालक का पेट फूला
हुआ, चलने फिरने में असमर्थ (चलने की इच्छा
होने पर बालक रोने लगता है।), दुर्बलता (चिड़-
चिड़ा हो जाता है), अग्नि की मन्दता (दूध नहीं
पीता), शरीर में शोथ, अंगों में शिथिलता (बालक
हिलना डुलना भी नहीं चाहता), वायु तथा मल का
अवरोध, दाह (शरीर में दाह होने के कारण बालक
हर समय शीतल स्थान पर लेटना चाहता है और
शीतल स्थान मिलते ही आराम से सर झुका कर
चट लेट जाता है। यदि आप एक स्थान से उठालें
तो अवसर पाते ही दूसरे स्थान को हाथ से टटोल
कर फिर लेट जाता है यह क्रिया देख कर हंसी
आती है।) तथा तन्द्रा यह सामान्य लक्षण बाल-
यकृत में पाये जाते हैं।

तथा च—दौर्बल्यारोचकविपाकवर्चोमूत्रग्रहणमपिपासा-
ङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासमृदुज्वराणाग्निनाशकार्यं—
स्यैवैरुपवर्धयेदकाष्ठवातशूलान्यपिचोदरमरुणवर्णं विषयं
वा नील हरितं हारिद्रं राजिमङ्गवति एवमेवयकृदपि दाह्यं
पार्श्वस्थं कुर्यात्तुल्यं हेतुलिङ्गौषधिसत्वात्तस्य ग्रीहजठर एवा-
वरोध इत्येतद्यकृतग्रीहोदरं विधात् । —चरक चि० अ० १३
अर्थात्—दुर्बलता, अरुचि, दूध ठीक से न



पचना अथवा भोजन का ठीक परिपाक न होना, मल मूत्र रुकना, नेत्रों के आगे अन्धकार प्रतीत होना, प्यास अधिक लगना, अंगड़ाई, वमन, मूर्च्छा शरीर में भारीपन, खांसी, श्वास, मन्द ज्वर, अफरा, अग्नि का नाश, कृशता, मुख का विरस होना, गांठों में दर्द होना, उदर में वायु के कारण पीड़ा, और पेट का लाल अथवा देह के समान वर्ण होना और नीले, हरे वा हल्दी के रंग की रेखा और नसों के जल से पेट का घिरना यह स्तीहा वृद्धि के सामान्य लक्षण होते हैं। इसी प्रकार दाहिनी बगल में यकृत भी स्तीहा के समान बढ़कर उदर रोग को प्रगट करता है परन्तु स्तीहा और यकृत के हेतु, लक्षण और औषध में तुल्यता होने से दोनों के यही लक्षण समझना चाहिये।

विशेष लक्षण—

यकृतक्रिया मान्द्य के लक्षण—

जब बालक के यकृत की क्रिया में न्यूनता हो जाती है अथवा पित्त कम बनता है तो मल की प्रवृत्ति न होना, पित्त की कमी, अत्यन्त तृषा, मूत्र का गंदला होना, शरीर का वर्ण कीचड़ की तरह हो जाना, पाण्डुता (Bloodlessness), आध्मान, अवसाद (बालक का निश्चेष्ट पड़ा रहना), वमन, अग्नि की मन्दता, प्रातः काल मुख का कड़ुआ रहना, जिह्वा का अधिक मलयुक्त रहना, अत्यन्त उद्गार, नाड़ी की गति कठिन होना, खींचने की सी पीड़ा होना, वमन करने की इच्छा होना आदि लक्षण होते हैं।

यकृत वृद्धि के लक्षण—

जब बालक का यकृत बढ़ जाता है तो छाती की अस्थि, दक्षिण स्कन्ध, और दक्षिण पैर में अधिक पीड़ा होती है जिससे बालक हर समय रोता रहता है और छाती या कन्धा अथवा दाया पैर छूने नहीं देता दाहिना हाथ बेकार सा हो जाता है, मल बढ़ता [थोड़ी सी] आंखों में पीलापन, बायें करवट लेटने से चैन मिलना,

निद्रा, नाश, कामला, (तोदभेद, दाह, शोथ और वृष्णा आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—

(1) *An increased amount of antidiuretic substance is found in the urine of patients suffering from cirrhosis of liver. (The Indian Journal of medical sciences Bombay, Feb. 1961)*

अर्थात् यकृतवृद्धि के रोगी के मूत्र में अस्वाभाविक पदार्थ पाये जाते हैं। अतः मूत्र गंदला हो जाता है।

(2) *In the 6 cases of infantile cirrhosis of liver investigated in present series a reduction of blood and plasma volume was observed, the diminution being 11.7% in the plasma & 24.4% in the blood volume when compared with the control table 4. In one case in whom clinical oedema had increased at the time of second estimation both blood & plasma volumes showed further diminution. (The Indian journal of medical sciences Bombay, Feb. 1961)*

अर्थात् छः शिशु यकृत के रोगियों की परीक्षा की गई तो उनके रक्त के आयतन [आकार] तथा रक्त के द्रवांश में अत्यधिक कमी हो गई। रक्त द्रव में ११.७ प्रतिशत तथा रक्त के आयतन में २४.४ प्रतिशत कमी हो गई। एक रोगी की पुनः रक्त परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि थोड़ा सा शोथ हो जाने के कारण उसके रक्त में और अधिक कमी हो गई। अतः शिशु यकृत में पाण्डुता होती है।

(3) *Several studies of the infantile cirrhosis of liver have revealed a hypo-albuminemia with a normo or hyper-*

proteinema. (Indian journal of medical sciences Feb. 1961)

अर्थात् अनेक शिशु यकृत के रोगियों की परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि उनके शरीर में एल्ब्यूमिन नामक शर्करा की कमी हो गई है और प्रोटीन की मात्रा ठीक है अथवा बढ़ गई है [इसके कारण शरीर में अत्यधिक दुर्बलता हो जाती है।]

(4) All the cases of cirrhosis of liver had jaundice clinically. (The Indian journal of med. scien. Feb. 1961)

अर्थात् शिशु यकृत के सभी रोगियों में जामला विद्यमान था।

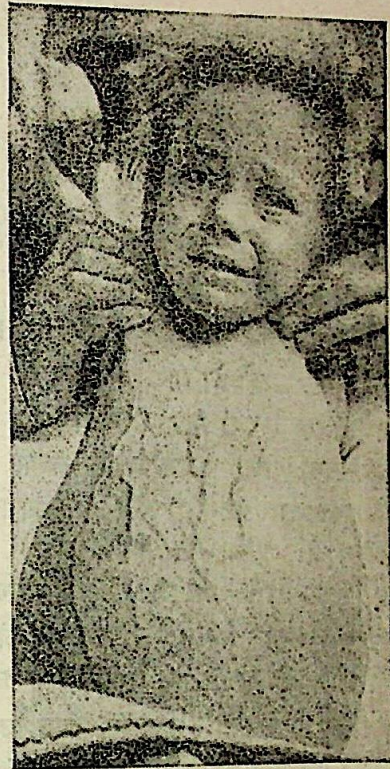
एल्लोपैथिक के अनुसार बालयकृत (Infantile liver)

परिभाषा तथा परिचय—

बाल रोगों की चिकित्सा औषध विज्ञान की संभवतः सबसे कठिन समस्या है। क्योंकि सारी ही बातें रोगी की ठीक ठीक पहचान के विरोध में होती हैं। प्रायः माता पिता ऐसे इतिहास के सम्बन्ध में मौन रहते हैं जिसका रोग से कोई सम्बन्ध हो सकता है। बच्चा अपनी बीमारी के लक्षण अभी भी बतला नहीं सकता और डाक्टरों लक्षण मिलने कठिन होते हैं क्योंकि बच्चा किसी अनजान के द्वारा छेड़ा जाना पसन्द नहीं करता। केवल बच्चों में ही पाया जाने वाला और बालमृत्यु के लिये काफी उत्तरदायी बालयकृत [Infantile cirrhosis of liver] है जिसकी परिभाषा निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

Infantile cirrhosis of liver—[बालयकृत रोग] एक ऐसा रोग है जो केवल ६ माह और २ वर्ष की आयु के ही बच्चों को होता है।

लक्षण—इसमें निम्न लक्षण होते हैं—
मैद व आंतों के रोग [जैसे कब्ज अथवा दस्त, अथवा उलटियां होना] ज्वर, यकृत का बढ़ जाना,



चित्र नं० ११७

यकृत वृद्धि के कारण जलोदर—उदर एवं वक्ष पर त्वचा में नसें उभर आई हैं।

और कभी कभी सीहा [तिल्ली] का भी बढ़ जाना, पीलिया, जलोदर और सूजन [जैसे पैरों, हाथों इत्यादि की सूजन] और यदि ठीक से उपचार न किया जाये तो परिणाम घातक हो सकता है।

रोग का इतिहास—

आयुर्वेद औषध प्रणाली ने इसे एक प्रथक रोग माना है परन्तु इसके उपचार के विषय में विवरण बहुत ही कम दिया है। हां एल्लोपैथिक प्रणाली ने पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ भाग में इसे एक प्रथक रोग माना और तभी से इसका ठीक ठीक निदान करने और इसका सफलतापूर्वक उपचार करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं परन्तु अभी तक कोई सफल उपचार ज्ञात नहीं हुआ।



इस रोग में विशेष कर प्रथम अवस्था में मलेरिया के कारण जिगर का बढ़ना, कालाजार (*kala azar*), हड्डी का सूखा रोग (*Rickets*) जन्म-जात उपदंश और पीलिया (*Acholuric Jaundice*) का भ्रम हो सकता है। इसके इस शीघ्रतापूर्ण और छलपूर्ण प्रारम्भ से ही मलेरिया से इसकी भिन्नता ज्ञात हो जानी चाहिए जिसमें कि ज्वर आकस्मिक होता है और कुनैन उसे दूर करने में असमर्थ। कालाजार के विषय में तो विशेष रूप से २४ घंटों में दो दो बार तापक्रम का बढ़ना इतना स्पष्ट होता है कि पहचानने में त्रुटि नहीं हो सकती। वर्षों तक चलने वाला लम्बा रोग, हड्डियों के मुलायम पड़ने और परिणामस्वरूप मुड़ने तुड़ने से अस्थिच्छय (*Rickets*) और बालयकृत (*Infantile cirrhosis*) में भेद हो जाना चाहिये जिसको यकृत (*Liver*) को यदि अपने ढंग से चलने दिया जाय तो ५ या ६ माह में घातक सिद्ध हो सकता है। जन्म जात उपदंश से बढ़ा यकृत शरीर के अन्य भागों में उपदंश के प्रभाव और वासरमैन प्रक्रिया के द्वारा पहचाना जा सकता है। मूत्र में पित्त की अनुपस्थिति पीलिया (*Acholuric gaundice*) को बालयकृत (*Infantile cirrihosis*) से प्रथक् कर देती है।

भारत में विस्तार के स्थान —

यह रोग किसी एक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है अपितु सारे भारत में व्याप्त है तथापि दक्षिण भारत, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बम्बई में इसकी प्रधानता देखी गई है।

एक विचार ऐसा भी प्रचलित प्रतीत होता है कि अधिक ऊंचाई और सम जलवायु विरोधक का कार्य करती है। हमारा निजी अनुभव इसे निश्चित रूप से निमूल सिद्ध करता है।

जाति और रोग —

अन्य जातियों तथा धर्मों की अपेक्षा हिन्दू

शाकाहारी बच्चे इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं। मातायें प्रायः स्वास्थ्य के आधारभूत नियमों से अनभिज्ञ होती हैं और उनकी उपेक्षा करती हैं। वात्सल्य में वह अपने बच्चों को अनियमित अन्तर से प्रत्येक संभव समय पर भूख से अधिक खिलाती हैं। यह वात्सल्य प्रायः प्रथम सन्तान या प्रथम लड़के पर प्रदर्शित किया जाता है। परिवार के अन्य बच्चों को छोड़कर इन ही में अधिक मात्रा में फैले इस यकृत रोग से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि अनियमित और भूख से अधिक भोजन से यकृत असामान्य रूप से क्रियाशील होता और बढ़ जाता है। अनुपात में मांसाहारियों में यह रोग कम होता है।

एक अशक्त मां के बालक इस रोग से क्रमानुसार ग्रसित होते देखे गये हैं कारण यह कि बच्चे का जीवन प्रथम दश महीनों में जटिल रूप में अपनी माता से जुड़ा रहता है और क्योंकि ठीक यही आयु रोग से ग्रसित होने की है इसी से माता की अस्वस्थता और अपूर्ण आहार से समय रहते सचेत होना आवश्यक है।

स्वस्थ मां के दूध पर पले हुए अथवा जिनकी पालन पोषण व्यवस्था ठीक रहे, ऐसे बच्चे इस बुरे रोग से कम ग्रसित होते हैं और इस रोग से पीड़ित लगभग सभी बच्चों का इतिहास कृत्रिम दूध और कुपाच्य ठोस भोजन का उपयोग सिद्ध करता है। ऐसे माता पिता जो अपने बच्चे को वही सब खिलाते हैं जो वह स्वयं खाते पीते हैं यह रोग का एक दूसरा कारण है।

कारण—

इस प्रकार इस रोग के मुख्य कारण संभवतः यह हैं—

(१) गर्भावस्था, तथा बच्चों को दूध पिलाने में माता की अस्वस्थता या ठीक भोजन न मिलना।

(२) अधिक मात्रा में निशास्ता (*Starch*) या शाकादि हरा भोजन (*Carbohydrates*)



शिशुरोगाङ्कः

४१५

बहना ।

(३) कम मात्रा में अथवा अस्वस्थ माता का दूध जिसके कारण कृत्रिम दूध और भोजन की आवश्यकता पड़ती है ।

(४) माता पिता द्वारा बच्चों को अनियमित और भूख से अधिक भोजन दिया जाना ।

(५) बच्चों के अयोग्य भोजन ।

रोग की प्रगति सूचक अवस्थायें (Stages)

प्रमुख बाह्य लक्षणों के अनुसार इस रोग की प्रगति को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—

(१) बच्चा साधारण से भी अधिक स्वस्थ (अत्यधिक मोटा) प्रतीत होता है वह अधिकाधिक मात्रा में भोजन करता है, उछलता कूदता है और प्रसन्न प्रतीत होता है परन्तु उसके शरीर के वापक्रम में कभी कभी वृद्धि हो सकती है जिसको माता पिता कठिनता से ही अनुभव कर सकते हैं । फिर बच्चा कभी कभी कब्ज से पीड़ित होना प्रारम्भ होता है और कुछ कम प्रसन्न रहता है यह अवस्था अनजाने ही निकल जाती है ।

(२) दूसरी अवस्था प्रारम्भ होते ही बच्चे के वापक्रम में काफी वृद्धि हो जाती है । यकृत और पेट बढ़ने लगते हैं । बच्चा अधिकतर मुँह बल के ठण्डे दूध से पेट चिपकाये पड़े रहना पसन्द करता है । बच्चे को या तो काफी कब्ज रहता है या फिर पित्त में काफी दस्त आते हैं । कभी कभी उलटी (रगन) हो सकती है । उसकी भूख और चपलता बढ़ हो जाती है बच्चा चिड़चिड़े स्वभाव का और दुर्बल हो जाता है । उसका रंग मलिन और पीला बना मूत्र भी रंगदार हो जाता है । जैसे जैसे रोग की यह अवस्था बढ़ती है आंतां में कब्ज बढ़ा जाता है । दस्त अधिक मात्रा में और मट-मट से होते हैं हरे रंग के भी हो सकते हैं । अन्त में यह सफेद रंग के और बदबूदार हो जाते हैं । मूत्र सूखने पर थोड़ी देर पश्चात् सफेद रंग का

धब्बा पड़ जाता है ।

(३) यकृत का स्थान बड़ा दर्द करने लगता है, ज्वर उतार चढ़ाव के साथ तेज रहता है । ज्वर अविराम भी रह सकता है । हल्का हल्का पीलिया प्रमथ बार भासित होता और बाद में अधिक हो जाता है त्वचा, नेत्र व मूत्र गहरे पीले रंग के हो जाते हैं । हाथ पैर और कभी कभी मुख पर सूजन आ जाती है और जलोदर रोग भी हो जाता है । इस अवस्था में रोग बढ़ने पर पेट पर मोटी नीली नसें उभर आना साधारण बात है । इस अन्तिम अवस्था में प्रायः स्तीहा भी बढ़ जाती है अब जब अधिक बढ़ जाती है तो आमाशय के ऊपरी प्रदेश में (Epigastric region) कोई कठोर सी वस्तु प्रतीत होती है । रोगी चिड़चिड़ा और नींद में भरा रहता है और अचेतनावस्था में ही उसकी मृत्यु तक हो सकती है । मृत्यु के कुछ पूर्व ऐंठन भी प्रारम्भ हो सकती है । (बाल-यकृत रोग और उसकी चिकित्सा श्री जम्भीवेङ्कटरमणय्याकृत) ।

हौम्योपैथिक के अनुसार शिशुयकृत रोग—

साधारणतः प्रसूता के दूध में दोष रहने के कारण अथवा प्रसूता को अम्लापित्त (Hyperacidity) की बीमारी हो जाने पर उसका दूध पीने पर बच्चे को शिशुयकृत हो जाता है । बच्चे को मलेरिया हो जाने पर भी हो जाता है ।

लक्षण—

(पूर्वलक्षण) प्रथम अवस्था में बच्चे को नित्य रात में ज्वर हो जाता है । ज्वर मध्य रात्रि के समय आता है और प्रातः काल छूट जाता है । संरक्षकों को भी ठीक पता नहीं लगता । कुछ दिन बाद ज्वर प्रातः काल भी नहीं छूटता । अब बच्चे का शरीर गरम देखकर मालूम पड़ता है कि बच्चे को ज्वर आया है । अब क्रमशः जितने भी दिन बीतते जाते हैं ज्वर बढ़ता जाता है और किसी भी समय नहीं छूटता दिन रात बना रहता है । अब चिकित्सक की



आवश्यकता पड़ती है। अब चिकित्सक का क्या कर्तव्य है ? चिकित्सक को चाहिये कि सबसे पहले बच्चे का इस प्रकार का ज्वर देख कर यकृत पर दृष्टि डाले। यदि यह देखने में आवे कि यकृत वाली जगह दबाने से बच्चा रोता है, उसे दर्द मालूम होता है, दिन रात ज्वर बना रहता है, ज्वर बिलकुल नहीं घटता, कब्जियत बनी रहती है या बकरी की मोंगनी की तरह कड़ा या राख अथवा मिट्टी के रंग का दाना-दाना जैसी टट्टी होती है यकृत का आयतन (विस्तार या Volume) बढ़ता जाता है घीरे घीरे मूत्र तथा आखों का सफेद अंश पीला होता जाता है यदि ऐसा दिखाई तो समझ लेना चाहिये कि शिशुयकृत (Infantile liver) है। यह बच्चों की सांघातिक बीमारी है।

द्वितीय अवस्था में आंख, मुख, समूचा शरीर, मूत्र, पसीना प्रभृति पीले रहते हैं। इसके साथ ही यदि शोथ हो जावे अर्थात् हाथ पैर फूल जावें तो समझ लें कि जीवन की आशा बहुत कम है। परन्तु शोथ या कामला के पहले यदि ठीक से चिकित्सा की जाय तो जीवन की आशा की जा सकती है ऊपर जो यकृत शोथ (Cirrhosis of liver) के विषय में कहा गया है उसमें भी अन्तिम अवस्था में हाथ पैर सूज जाते हैं, यकृत छोटा हो जाता है पेट में पानी इकट्ठा हो जाता है। इन्हीं लक्षणों में मृत्यु भी हो जाती है।

यह रोग तीन वर्ष तक के बालक को होता है। प्रारम्भ में यकृत बढ़ जाता है। पश्चात् यदि बालक ठीक नहीं होता है तो यकृत कठोर हो जाता है और सिकुड़ कर छोटा हो जाता है तथा बच्चों में रक्ताल्पता, शोथ और कामला हो जाता है। कभी कभी यकृत से आमाशय तथा आन्त्र द्वारा रक्तागम होता है। जब रक्त बार बार आता है तो बच्चे की मृत्यु हो जाती है। इस रोग के प्रारम्भ में त्वचा रूखी रूखी हो जाती है, ज्वर निरन्तर बना रहता है, भूख बिलकुल नहीं रहती, शरीर का मांस सूख जाता है, रक्ताल्पता हो जाती है और

हर समय अजीर्ण बना रहता है। टट्टी का रंग मिट्टी जैसा अथवा सफेद होता है। (होमियो-पैथिक प्रक्टिस)

चिकित्सा--

कुछ चिकित्सकों की यह धारणा है कि यह रोग प्रारम्भिक अवस्था के अतिरिक्त किसी भी ज्ञात उपचार अथवा चिकित्सा प्रणाली से ठीक नहीं होता किन्तु हमारा चिकित्सा क्षेत्र में २२ वर्ष का व्यवहारिक अनुभव इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करता है। इस रोग की अवधि एक वर्ष तक की हो सकती है और किसी भी समय घातक परिणाम वाली गम्भीर जटिलतायें प्रारम्भ हो सकती हैं। इस विषय में निम्नांकित आयुर्वेदिक चिकित्सा की सफलता असंदिग्ध है। यह अनुभूत चिकित्सा है और ऐसी सभी अवस्थाओं में कि जहां गम्भीर जटिलतायें प्रारम्भ नहीं हुई हैं निश्चित रूप से पूर्ण उपचार है।

एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि जिन स्त्रियों के पहले बच्चे यकृत रोग से पीड़ित रहे हों उन्हें गर्भावस्था में ही यकृत रोग नाशक तथा यकृत वृद्धि प्रकृति विघातक [for eliminating the tendency of infantile cirrhosis of liver] औषध निरोधक तथा शक्ति वृद्धक के रूप में सेवन करानी चाहिए। यह सुभाव आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार इस तथ्य पर दिया गया है कि चरक गर्भस्थित शिशु की अंग रचना में यकृत तथा स्तीहा की रचना माता ही करती है, ऐसा मानते हैं—“यकृच्च स्तीहा च वृक्कौ च मातृतः संभवन्ति” चरक शारीर अध्याय ३ ॥

चिकित्सा सूत्र—यकृत वृद्धि अथवा शिशुयकृत की चिकित्सा के विषय में महर्षि चरक ने लिखा है कि “दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतसाः सन्निरोचनात् सम्भवन्त्युदराग्रेयमतो नित्यं विशोधयेत्” अथवा “विरचेयेत् इति पाठान्तरम्” अर्थात् दोषों के अत्यन्त इकट्ठा हो जाने से और स्रोतों के रुक

से ही उदर रोग अथवा बालयकृत उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस प्रकार के रोगी को नित्य विरेचन करावें किन्तु—अविरेच्यन्तुयं विद्यात् दुर्बलं विरेच्य शिशुम्। (चरक चिकित्सा अ० १३) अर्थात् बालक को विरेचन नहीं करावें। पीपल तथा बालक को विरेचन नहीं करावें। औषध शमनैः सपिण्डमांसरसौदनैः बस्त्यभ्यङ्गा-न्तैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः॥ चरक चि० अ० १४॥ अर्थात् इस प्रकार के रोगियों को जिन्हें विरेचन नहीं दिया जा सकता उन्हें औषधियों से सिद्ध किये घृत, यूष तथा मांस रस, संशमन मूत्र, वस्ति, अभ्यङ्ग, अनुवासन और औषध दूध देने चाहिए।

लोग नं० १—

बालक को ऐसी औषध देनी चाहिए जो विरेचक तो न हो किन्तु टट्टी खुलकर आती रहे। इसके लिए पिप्पली चूर्ण तथा सर्वाङ्ग सुन्दर रस मिला कर बड़ा सुन्दर काम करता है। इससे शौच शुद्ध होता है साथ ही यकृत रोग भी ठीक हो जाता है। पीपल का चूर्ण शहद के साथ मिलाकर देने से खांसी, श्वास तथा ज्वर को शांत करता है, सीहा रुद्ध तथा हिक्का रोग में अत्यन्त लाभकारी है। विशेषतः बालकों के लिए प्रशस्त है। शास्त्रीय विधान के अनुसार पीपल दो वर्ष पुरानी लेनी चाहिए। यद्यपि 'सीहा हन्ति' पाठ है किन्तु चरक के अनुसार सीहा और यकृत की एक ही चिकित्सा है अतः पीपल बालयकृत में भी लाभ करती है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध भी है।

सर्वाङ्ग सुन्दर रस [रसेन्द्रसार संग्रह]—

शुद्ध पारद २½ तोला, शुद्ध गंधक २½ तोला दोनों की कज्जली करके मृदु पाक से परपटी बनावें। पुनः बनाई गई कज्जली की परपटी बढ़िया होती है २-३ दिन रखी हुई कज्जली की भी बनाई जा सकती है इसके पश्चात् परपटी बनाना ठीक नहीं। इस प्रकार परपटी बना कर फिर उसको बारीख पीस लें। पश्चात् उसमें जायफल दक्खिनी, जावित्री, अजोय, नीम के पत्ते, सम्भालु के (निगुण्डी) और

छोटी इलायची के बीज इनमें से प्रत्येक का चूर्ण २½ तोला इन सबको (परपटी चूर्ण तथा जायफल आदि का चूर्ण) इकट्ठा मिला कर पीसें। फिर जल से अच्छी प्रकार गूथ कर दो सीपों में पुटपाक की भांति बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखालें। पश्चात् इसको १५, २० जंगली उपलों का पुट दें। जब गन्धक की गन्ध निकलने लगे तभी निकाल कर शीतल होने पर पीस कर शीशी में रखलें। इसका नाम महागन्धक है। यदि इसको पुट न दिया जाये तो सर्वाङ्ग सुन्दर कहाता है। मैं प्रायः सर्वाङ्ग सुन्दर ही प्रयोग करता हूँ।

गुण—यह औषधि ५ वर्ष तक के बालक के लिए अमृत तुल्य है। इससे बच्चों का ज्वर दूर होता और अग्नि दीप्त होती है बल बढ़ाती है। बच्चों के किसी भी उदररोग में विशेषतः यकृत वृद्धि में अद्भुत कार्य करती है।

मात्रा तथा सेवन विधि—पिप्पली चूर्ण की पूर्ण मात्रा १ से ३ माशा तक है और सर्वाङ्ग-सुन्दर रस की पूर्ण मात्रा ६ रत्ती है। १ से ४ वर्ष के बच्चों को २-३-४ रत्ती तक पिप्पली चूर्ण तथा १ रत्ती सर्वाङ्ग सुन्दर यह एक मात्रा है। इस प्रकार की ३ अथवा ४ मात्रायें दिन भर में चौगुने दूध में घोल कर देनी चाहिए।

यह औषध बालयकृत रोग की प्रथमावस्था में सफलतापूर्वक प्रयोग की जा सकती है और परिणाम भी सन्तोषजनक होगा।

प्रयोग नं० २—

शोथ भस्म लौह + ताप्यादि लौह (भैष० २०)

शोथ भस्म लौह—

सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आमला, द्राक्षा (मुनक्का), पौंकर मूल, सुगन्धबाला, कचूर, लौह भस्म, घुड़बच, लौंग, काकडासिगी, दालचीनी, सौंफ, बहेड़ा, बायविडंग, धाय के फूल—प्रत्येक २ तोला लेकर कपड़छन चूर्ण करके फिर इस चूर्ण में मण्डूर भस्म ३८ तोला मिला कर कम से कम ३ घंटे घिसें। फिर कुटज (कुड़े) की छाल के स्वरस



अथवा काथ में घोट कर गोला बनावें । इस गोले के चारों ओर जामुन के कोमल पत्ते लपेटें । अब इस पर मिट्टी का एक अंगुल मोटा लेप करें और सूखने पर लघु पुट में पकावें । शीतल होने पर औषध निकाल कर पीस कर शीशी में रखें । पूर्ण मात्रा २ रत्ती ।

लाभ—सारे शरीर के शोथ को विशेषतः शोथ-युक्त ग्रहणी रोग को नाश करती है, आठों उदर रोगों विशेष रूप से बाल यकृत में चमत्कारी है । साधारणतः अंत्रशोथ, यकृतशोथ, सीहा शोथ, गर्भाशय शोथ इन सब में लाभकारी है । बालयकृत में एक सप्ताह में ही लाभ दिखाती है ।

ताप्यादि लौह—

हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मिर्च, पीपल, चित्रकमूल, बायविडंग प्रत्येक २½ तोला, नागरमोथा १½ तोला, पीपलमूल, देवदारु, दारुहल्दी, दालचीनी और चव्य १-१ तोला, शुद्ध शिलाजीत, सुवर्ण-माक्षिक भस्म, रौप्य भस्म तथा लौह भस्म प्रत्येक १० तोला, मण्डूर भस्म २० तोला और मिश्री ३२ तोला—इन सबको मिला कर घिसें, अर्थात् प्रथम हरड़ से लेकर चव्य तक द्रव्यों का चूर्ण कर फिर उसमें अन्य द्रव्य मिलाकर घिसें ।

लाभ—पाण्डु, कामला, यकृत, बालयकृत आदि में परम लाभकारी है ।

प्रयोग—शोथ भस्म लौह तथा ताप्यादि लौह २-२ रत्ती मिला कर एक पूर्ण मात्रा बनती है । एक वर्ष के बालक को एक पूर्ण मात्रा की ८ मात्रा, २ वर्ष के को ६ मात्रा और ४ वर्ष के को चार मात्रा करके दिन में तीन या चार बार आवश्यकतानुसार दूध के अनुपान से देना चाहिए ।

प्रशंसा—बालयकृत की द्वितीय अवस्था में अत्यन्त उपादेय है—यह परीक्षित है ।

प्रयोग नं० ३

(शोथ भस्म लौह + वृ० लोकनाथरस)
(१) वृ० लोकनाथरस (भैष्यरत्नावली)

शुद्ध पारद १ तोला और शुद्ध गंधक २ तोला

लेकर खरल में कम से कम ३ घंटा घोटें (मर्दन गुण वर्धनाय, अधिकनैव दोषाय—अर्थात् मर्दन करने से औषध के गुणों में वृद्धि होती है अधिक घोटने से कोई दोष नहीं) फिर अभ्रक भस्म १ तोला मिलाकर कुमारीस्वरस में ३ घंटे घोटें । फिर ताम्र भस्म २ तोला और लौह भस्म २ तोला मिला कर मकोय के स्वरस से ३ घंटे घोटें । फिर इन सबका एक गोला बना लें, अब कौड़ी भस्म को ६ तोला लेकर उसे नीबू के स्वरस में ३ घंटा घोटें । फिर इस प्रकार घिसी हुई कौड़ी भस्म को उस गोले के चारों ओर इस तरह लगावें मानों कौड़ी भस्म की मूषाओं में उपरोक्त गोला बन्द कर दिया गया है । फिर इसे सुखा कर एक मिट्टी की हांडी में बन्द करके गजपुट में रखकर फूंक दें । शीतल होने पर निकाल कर पीस कर शीशी में रखें ।

मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक ।

लाभ—सीहावृद्धि तथा सीहा शोथ, यकृतवृद्धि तथा यकृत शोथ, सीहा अथवा यकृत का अप्रमांस और किसी भी प्रकार की यकृत विकृति, जीर्ण ज्वर, गुल्म तथा दारुण कामला रोग इस औषध से शान्त होते हैं ।

प्रयोग विधि—शोथ भस्म लौह २ रत्ती + वृ० लोकनाथ रस १ रत्ती यह एक पूर्ण मात्रा है । बालक को अवस्थानुसार प्रयोग नं० २ लिखे अनुसार देनी चाहिए । अनुपान—दूध

अपने २२ वर्ष के चिकित्साकाल के व्यवहारिक अनुभव के आधार पर मैं यह बात निश्चित रूप से कहता हूँ कि शिशुयकृत अथवा प्रौढ़ यकृत के लिये विश्व की सारी औषधें मिलकर भी इस एक प्रयोग से हलकी रहेंगी ।

साध्यासाध्यता—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।

बलिनस्तदजातास्तु यत्न साध्यं नवोत्थितम् ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्रायः सब प्रकार के उदररोग (विशेषतः

उत्पन्न होते ही अत्यन्त कष्टसाध्य होते हैं परन्तु यदि शरीर में शक्ति हो और उदर प्रकट न हुआ हो तो वह प्रारम्भ से ही विधि-चिकित्सा करने से साध्य हो सकता है।

स्वयम्भुः सर्वं ममोत्थः श्वासोहिक्कारुचिः सतृट् ।
सर्वा कृत्तिसारश्च निहन्त्युदरिणं नरम् ॥ चरक ॥
अर्थात् जिस यकृत रोगी शिशु के मर्मस्थानों में शोथ हो जाय, आस, हिचकी, अरुचि, प्यास, उर्चा, वमन और अतिसार यह उपद्रव हों उसका निक होना असम्भव है।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमपक्विलन्नतनुत्वचम् ।
बलशोषितमांसानि परिक्षीणञ्च संत्यजेत् ॥

—चरक

अर्थात् जिस यकृत रोगी बच्चे की आंखों पर पूजन आजाय, मूत्रेन्द्रिय टेढ़ी होजावे, त्वचा क्लेद-जुग और पतली पड़ जाय, बल, रक्त, मांस और अग्नि क्षीण होजाय ऐसे बालक की चिकित्सा भी करनी चाहिये।

पथ (भोजन) —

शिशु यकृत के रोगी बालक को केवल दूध और यदि सम्भव हो तो केवल बकरी का दूध श्रेष्ठतम भोजन है क्योंकि 'बात पित्तहरंगव्यं, विशेषजमजा पयः' अर्थात् गाय का दूध वातपित्त-र है जबकि बकरी का दूध तीनों दोषों को शांत करता है। दूध की उदर के समस्त रोगों में प्रशंसा करते हुये भगवान् चरक कहते हैं—

प्रयोगाणाञ्च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत् ।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च ॥
प्रयोगापचित्ताङ्गानां हितह्युदरिणां पयः ।
सर्वधातुचयातीनां देवाममृतं यथा ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् उदर रोग के रोगी को सब औषधों के अनुपान स्वरूप दूध का ही प्रयोग करना चाहिए। दूध के सेवन से दोषों का अनुबन्ध नहीं होता और शरीर के बल तथा स्थिरता की रक्षा होती है।

औषधि प्रयोग से कृश हुये उदर रोगियों के लिये दूध इस प्रकार हितकारी है जैसे सारी धातुओं के क्षय होजाने से दुःखी हुए देवताओं के लिये अमृत हितकारी होता है।

प्रयोग—

शिशु को दूध कैसा देना चाहिए इस पर विचार करते हुए एक प्रसिद्ध डाक्टर लिखते हैं—

Fresh milk if utilized for infant feeding will require adequate dilution till baby is old enough to digest whole milk. Half strength milk i. e. equal parts of milk and water before three months, three fourth strength i. e. three parts of milk to one part of water after five months. Add a tea-spoonful sugar to every four ounce mixture. Full strength milk should be given after five months.

(The Bombay Hospital Journal, Jan. 1961)

अर्थात् यदि शिशु को ताजा दूध दिया जाय तो उसमें पर्याप्त जल मिलाना चाहिए। जब तक बालक इतना बयस्क न हो जावे कि वह विशुद्ध दूध को पचा सके। तीन माह से पूर्व आधा दूध और आधा जल औटाकर देना चाहिये। पांच माह के बाद तीन भाग दूध एक भाग जल मिलाकर देना चाहिए। इस प्रकार दूध तथा जल के आधा पाव घोल में ४ से ६ माशा तक बूरा या चीनी डालनी चाहिए। विशुद्ध दूध (Mndistilled) पांच माह के बाद देना चाहिए।

आजकल शिक्तित समुदाय प्रायः दूध में ग्लूकोज (Glucose) मिला कर प्रयोग करता है। यह प्रयोग मेरी समझ में गुणागुण विवेचन के बिना देखा देखी हो रहा है। सुना तो यहां तक गया है कि कुछ वैद्य बन्धु सितोपलादि में सिता के स्थान पर ग्लूकोज (Glucose) डालते हैं। यह



अत्यन्त आपत्तिजनक है। ग्लूकोज का इस प्रकार प्रयोग ठीक नहीं इस विषय में मैं एक उद्धरण देना आवश्यक समझता हूँ—

Glucose produces gas and colic and occasionally causes diarrhoea if given in excess, hence it should be avoided. (Dr. Udanni. The Bombay Hospital Journal, Jan. 1961)

अर्थात् ग्लूकोज उदरशूल तथा पेट में वायु पैदा करता है, कभी २ अतिसार भी हो जाता है यदि इसको अधिक परिमाण में ले लिया जावे। अतः इसे प्रयोग नहीं करना चाहिये।

इसके स्थान पर मधु दूध में डालकर देना हितकारी है। एक विद्वान डाक्टर का कथन है कि हजारों ग्लूकोज एक शहद पर न्यौछावर हैं। देखिये एक एलोपैथिक समाचार पत्र की सम्मति है—

Among the sugars the most convenient and cheap is cane sugar. Honey could be used to sweeten water which could be given to babies in between feeds. It is a laxative and hence should be avoided in children with diarrhoeal tendency. (The Bombay Hospital Journal, Jan. 1961)

अर्थात् शर्कराओं में सबसे अधिक सुविधाजनक तथा सस्ती गन्ने से बनी शक्कर है। बच्चे को दूध के बीच बीच में यदि मीठा देना हो तो मधु जल में मिलाकर दिया जा सकता है। मधु मृदु विरेचक होता है अतः ऐसे बालकों को नहीं देना चाहिए जिन्हें बहुधा दस्त होजाते हों।

उन बच्चों के विषय में जो अवस्था में बहुत ही छोटे हैं अथवा जिन्होंने अभी रोटी खाना सीखा ही नहीं है उपरोक्त व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु कुछ बच्चे जो रोटी खाने लगे हैं किसी भी प्रकार नहीं मानते अतः उनके लिये निम्न प्रकार की

भोजन व्यवस्था करनी चाहिये—

सर्वमेवोदरं प्रायोदोषसंघातजं मतम् ।
तस्मान्निदोषशमनीं क्रियां सर्वेषुकारयेत् ॥
दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णं वह्निर्मन्दस्वसृच्छति ।
तस्मान्नोज्यानि योज्यानि दीपनानि लघूनि च ॥
पथ्य—

रक्तशालीन्यवान्मुद्गाज्जाङ्गलांश्चमृगद्विजात् ।
पथोमूत्रासवारिष्टान्मधु शीघ्रस्तथासुराम् ॥
यवागूसोदनंवापि धूपैरद्याद्रसैरपि ।
मन्दाम्लस्नेहकटुभिर्यच्च मूलोपसाधितैः ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्रायः सम्पूर्ण उदररोग तीनों दोषों के संघात से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये इनमें त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। दोषों के कोप से कुक्षि परिपूर्ण होकर अग्नि मन्द हो जाती है इसलिये सब उदर रोगों में हलका और दीपन भोजन कराना चाहिए तथा लाल साठी के चावल, जौ, मूंग, हरिण का मांस रस, गाय का दूध, बकरी का दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, शहद, गन्ने का सिरका (छिरका) और सुरा का सेवन करावें और चरपरे (सोंठ, मिर्च, पीपल, चव्य तथा चीते की छाल) द्रव्य डालकर पतली लप्सी, भात अथवा परवल, करेला और पुनर्नवा का शाकरस अथवा बकरे या हरिणी का मांस रस, किंचित खट्टे पदार्थ, नीचू आदि तथा घृत डालकर अग्निबल विचार कर सेवन करावें।

अपथ्य—

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ।
न्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानञ्चवर्जयेत् ॥
तथोष्ण लवणाम्लानि विदाहीनिगुरुणि च ।
माद्यादन्मानिजठरी तोयपानञ्च वर्जयेत् ॥

—चरक चि० अ० १३

अर्थात् जल में रहने वाले जीवों (हंस, बगुला, जल मुर्गावी, सारसादि) का मांस, अनूपसंचारी जीवों (हाथी, गौ, भैंस, सूअर, चकवा, चकई, घोंघा, केंकड़ा, कछुआ, मछली आदि) का मांस, शाक (पत्ती वाले शाक यथा पालक, मेंथी, नारी

आदि) पिट्टी के बने द्रव्य (बड़े, मिगौड़ी, घेवर आदि) तिल, व्यायाम, भ्रमण, दिन में सोना, घोड़ा आदि सवारी पर चढ़ना (आदि शब्द से साईकिल पर भी बच्चे को नित्य बैठाना न चाहिये) इन सबको त्याग देना चाहिये तथा अधिक गर्म (यथा दही, वैजी-देबल-बनस्पति घी, मूंगफली आदि), नमकीन, खट्टे, जलन डालने वाले, भारी पदार्थ और अधिक पानी का पीना इन सबको भी प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये ।

शिशु यकृत रोग में तक्र का प्रयोग—

मधुतैल बचाशुण्ठी शताह्वा कुण्ठसैन्धवैः ।

युक्तं प्लीहोदरी जातं ॥ —चरक चि० अ० १३

अर्थात् प्लीहा वृद्धि या यकृत वृद्धि में मधु (शहद), तिल का तैल, घुड़बच, सौंठ, सोंफ, कूट और सैधानमक मिलाकर तक्र पिलावे ।

गौरवारोचकार्तानां समदान्यति सारिणाम् ।
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ॥

—चरक ।

अर्थात् जो रोगी गुरुता, अरुचि, मन्दाग्नि, अतिसार और वात कफ के रोगों से पीड़ित हों उनको तक्र अमृत के समान गुणकारी है ।

—श्री विद्याभूषण वैद्य B. A. आयुर्वेदाचार्य
घंटाघर मार्ग, पटा (यू. पी.)



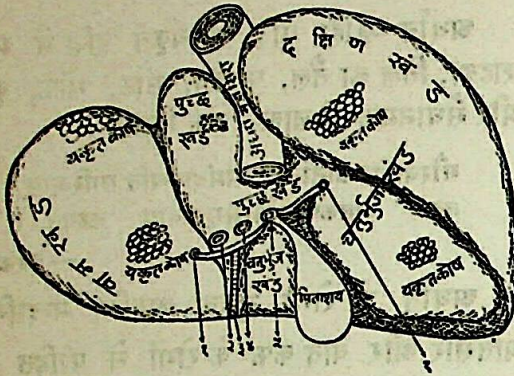
बाल यकृत रोग

कविराज श्री लाला बदरीनारायण सेन जी. ए. एम. एस.

जैसा कि नाम से ही ईङ्गित होता है—यह रोग २-६ वर्ष तक की आयु वाले बच्चों में ही होने वाला रोग है और केवल बालकों में होने वाला है बालिकायों में यह नहीं के बराबर होता है । यह रोग अपने जिद्दी किस्म के यकृत स्नीहा अभिवृद्धि के कारण इस नाम विशेष से मशहूर है । इसमें जिद्दी किस्म के यकृतस्नीहा अभिवृद्धि के साथ अन्य अनेक बीर्य रोगों के लक्षण भी वर्तमान रहते हैं । इसमें यकृतस्नीहा अभिवृद्धि के अतिरिक्त जीर्ण प्रवाहिका या अतिसार मांस क्षय विशेष कर हाथ पैर नितम्ब एवं गर्दन के मन्द विषम ज्वर, कास, जलोदर आदि लक्षण रहते हैं जिनका बिशद वर्णन आगे होगा । कि यह रोग यकृत सम्बन्धित रोग है अतः यकृत सम्पूर्ण रूपेण परिचित रहना, इसे पहचानने एवं उसकी चिकित्सा की कल्पना के लिये अत्यन्त आवश्यक विषय है ।

यकृत (चित्र संख्या ११८) —

यह शरीर का सबसे बड़ा ग्रन्थि अवयव है जो उदर प्रदेश के सबसे दाहिनी ओर अवस्थित है । यह दक्षिण की ओर दाहिने पार्श्व से लेकर उरःफलक के सामने तक आमाशय ग्रीवा को स्पर्श करता हुआ, का स्थान घेरे है । ऊपर यह दक्षिण फुफ्फुस के अधो भाग से लेकर नीचे ग्रहणी शरीर तक स्थान घेरे हैं । बयस्कों में यह उरःपंजर के अन्तिम ३-४ दक्षिण उपपशुकायों के नीचे रहता है । उपपशुका से आगे यह विकृत अवस्था में ही आता है मगर बच्चों में यह स्वभाविक रूप से १ इंच से १ इंच तक उपपशुका के आगे तक रहा करता है । बच्चों में यह प्रायः ६ इंच लम्बा एवं ४ इंच चौड़ा हुआ करता है । बयस्कों में यह समूचे बदन के कुल वजन का ३/४ वां भाग होता है मगर बच्चों में यह इस अनुपात से कुछ अधिक अनुपात में बजनी होता है ।



चित्र नं० ११८

- १- पित्तस्रोत २- याकृतीधमनी
३- नाभी नाल खात । ४- प्रतिहारिणी सिरा
५- पित्तनलिका

यह त्रिकोणाकार गोल आकार का है जिसका चौड़ा भाग दक्षिण पार्श्व की ओर एवं लम्बा तथा पतला भाग आमाशय की ओर हुआ करता है। यह दो खण्डों में विभक्त है—एक दक्षिण खण्ड (Right lobe) जो सबसे अधिक बड़ा चौड़ा एवं दक्षिण ओर को है और दूसरा वाम खंड (Left lobe) जो दक्षिण खंड से सटा उससे बांये आमाशय की ओर है। दक्षिण खंड पुनः दो उपखंडों में विभक्त है—एक चतुर्भुज खंड (Quadrilateral lobe) जो प्रायः चतुर्भुजाकार है और इस का दक्षिणतम खंड है। दूसरा योजनिका या पुच्छ खंड (Caudate lobe) जो चतुर्भुज खंड एवं वाम खंड के बीच इन दोनों को जोड़ने का काम करता है, यह आकार में गोदुमाकार सा है इसीलिये इसे पुच्छ खंड भी कहते हैं। यह बीच से किंचित नतोदर सा ही एक खात का निर्माण करता है जिससे सटती हुई अधरा महासिरा (Superior Vena Cava) गुजरती है। इसे महासिरा खात कहते हैं। इस खात के नीचे के भाग से याकृती धमनी (Hepatic Artery) एवं प्रतिहारिणी सिरा (Portal vein) यकृत में भीतर प्रविष्ट हुई हैं और इसी के बगल से पित्त नलिका (Bile duct) यकृत से बाहर निकलती है

खात के मध्य से याकृतीसिरा (Hepatic vein): यकृत से बाहर निकल उससे सटकर ऊपर की ओर जाती हुई अधरा महासिरा से आ जुटी है।

यकृत के भीतर अनेक कोष भरे पड़े हैं बल्कि यों कहें कि यह कोषों का संघात है। इन कोषों को याकृतीकोष (Lobules) कहते हैं। ये कोष गोल मण्डलाकार होते हैं जिनका व्यास प्रायः १. इंच होता है। ये कोष यकृत में इस प्रकार पंक्तियों में तमाम सजे पड़े हैं कि प्रत्येक कोष के चारों ओर स्रोत हैं (चित्र ११६) ये स्रोत याकृती-धमनी प्रतिहारिणी सिरा पित्तनलिका एवं याकृती सिरा की शाखा प्रशाखा हैं। बल्कि यों कह सकते हैं कि प्रत्येक कोष स्रोतों के आक्रोश में रहा करता है। इन कोषों में सहस्रों की संख्या में एक विशिष्ट प्रकार के परमाणु भरे रहते हैं जिन्हें याकृती परमाणु (Liver cells) कहते हैं। यकृत की सारी क्रिया इन्हीं परमाणुओं की क्रिया पर निर्भर करती है बल्कि यों कहें कि यकृत की सारी क्रियाओं का वास्तविक कर्त्ता यही है।

याकृती धमनी एवं प्रतिहारिणी सिरा यकृत में प्रविष्ट हो सहस्रों शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो समूचे यकृत में फैल गयी है। मगर जिधर भी इसके स्रोत गये हैं दोनों ही स्रोत याने याकृती धमनी एवं प्रतिहारिणी सिरा के शाखा प्रशाखा एक साथ गये हैं। ये यकृत कोषक की पक्तियों के बीच बीच से होते हुए गये हैं। इनके इस तरह एक साथ साथ चलने से यकृत के भीतर कोषपक्तियों के बीच से एक मार्ग का निर्माण हो जाता है जिसे कोषमार्ग या स्रोत मार्ग (Portal cannal) कहते हैं। इन स्रोतों से उपशाखायें निकल कर कोषों में प्रविष्ट होती हैं और कोषों में जाकर ये केशिकाओं के रूप में आ सारे कोष में फैल जाती है और अपने अपने रक्त से इसे आस्रावित करती हैं। याकृती धमनी एवं प्रतिहारिणी सिरा के इन उपशाखाओं की केशिकाओं को जिसके रूप में ये कोषों में आते हैं उसे कोषकेशिका (Sinoids) कहते हैं। कोष के चारों

कोर से आकर कोष केशिकायें एक स्थान पर आकर मिल जाती हैं जो प्रायः कोष के केन्द्र में होता है। इस स्थान को कोष केन्द्र (Lobular centre) कहते हैं इस स्थान से ये एक होकर एक सिरा के रूप में जिसे कोषसिरा (Lobular vein) कहते हैं कोष से बाहर निकलते हैं। अन्य कोषों से निकली कोष-सिरा एक दूसरे से मिलती हुई एक सिरा का रूप लेती हैं जिसे कोषान्तरसिरा (Intra-lobular vein) कहते हैं। ये कोषान्तर सिरा पुनः परस्पर मिलती हुई याकृती सिरा (Hepatic vein) के रूप में आती है और यकृत से बाहर निकल अधरा महासिरा से आ मिलती है।

याकृत घमनी का रक्त तो शुद्ध रक्त रहता है। इसकी उपशाखायें कोषों में कोष केशिकाओं के रूप में अपने रक्त से कोष एवं कोषस्थ परमाणुओं (Liver cells) को सींच उनको पोषण प्रदान करती हैं एवं उनके दोषों को ग्रहण कर संवाहित कर कोषों से बाहर ले आती हैं। मगर प्रतिहारणी शिरा का रक्त शुद्ध रक्त नहीं होता। यह आंत्रों के रसांकुरों (Villies) द्वारा शोषित आहार रस एवं आंत्रों को पोषण प्रदान करने के बाद वापिस लौटने वाला अशुद्ध रक्त दोनों का मिश्रण होता है चूंकि दोनों ही एक ही सिरा स्रोत से आंत्रों से बाहर निकलते हैं। एक तो इस वापस लौटने वाले रक्त में कुछ अशुद्धियां रहती हैं कुछ कमी भी रहती है चूंकि आन्त्र तन्तु इसमें से बहुत कुछ स्वपोषणार्थ ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे आहार रस भी एक नियमित रस नहीं होता—आहार द्रव्य एवं उनकी मात्रानुसार इसमें बहुत कुछ रहते भी हैं कुछ नहीं भी रहते, कुछ मात्राधिक्य रहते तो कुछ न्यून, कुछ उपयोगी तो कुछ अनुपयोगी, कुछ प्राज्ञ तो कुछ अप्राज्ञ एवं हानिकर। अतः इसे नियमित होना पड़ता है—उसे अनुकूल होना पड़ता है जिसके अनुसार शरीर के लिये आवश्यक है। यह मिश्रित रक्त जब प्रतिहारणी शिरा की शाखा प्रशाखाओं के उप-शाखाओं द्वारा कोष में आता है और केशिकायों

द्वारा सारे कोष में छाता है तब कोष के यकृत परमाणु इस कार्य को सम्पादित करते हैं। यकृत परमाणु रस मिश्रित रक्त में से—

(क) हानिकर वस्तुओं को नष्ट कर या उन्हें उसमें से छानकर पृथक कर

(ख) उपयोगी वस्तुओं में से जो मात्राधिक्य है उन्हें काट छांट कर मात्रा में लाकर तथा अवशेष में से कुछ को अपने पास रख, शेष को पृथक कर—

(ग) जो उसमें कमी है उसे अपने पास से मिलाकर—

इसे नियमित कर इस रूप में ले आते हैं जिस रूप में इसे शरीर के लिये रहना चाहिये। इस प्रकार प्रतिहारणी सिरा का रक्त जब कि कोष केशिकाओं में संवाहित होता रहता है—यकृत परमाणुओं द्वारा परिवर्तन पाता हुआ आवश्यक रूप में आता है और कोष केन्द्र में आकर याकृती घमनी की केशिकाओं से आ मिलता है और तब दोनों का रक्त मिलकर कोषसिरा से संवाहित होता हुआ बाहर निकलता है। अतः यकृत परमाणु निम्न-लिखित कार्यों को करते हैं—

(१) आहार रस द्वारा आये विषों एवं हानिकर कीटाणुओं को नष्ट करना।

(२) आहार रस द्वारा आये मात्राधिक्य चार, अम्ल, लवण आदि को छांट कर अलग करना।

(३) आहार रस द्वारा आये मात्राधिक्य शर्करा को छांट कर अपने पास रखना तथा उसे तोड़कर शरीरोपयोगी बनाना।

(४) आहार रस द्वारा आये बसा एवं प्रोटीन को तोड़कर शरीरोपयोगी बनाना।

(५) रक्त (प्रतिहारणी सिरा के) द्वारा आये अमाम्ल (Sarcocollactic acid) तथा अन्य त्याज्य वस्तुओं को जैसे रंजक पदार्थ (Bile Pigments) आदि को छान कर अलग करना।

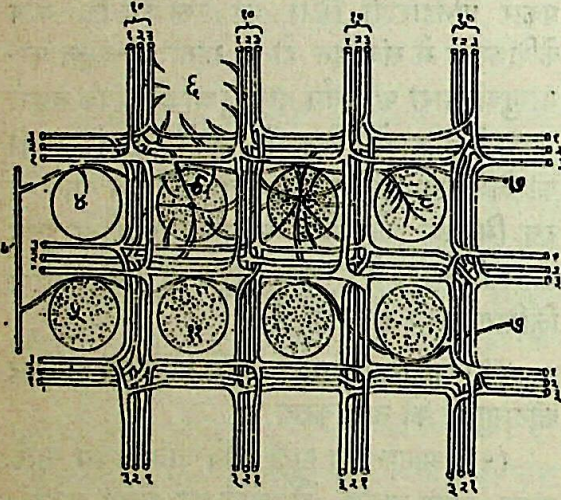
(६) रक्तकणों का निर्माण करना तथा उन्हें रंजक पदार्थ जैसे लौह ताम्र आदि देना।

(७) रक्त में रक्त को जमाने वाले पदार्थ जैसे फ्राइब्रिन आदि को मिलाना।

(८) रंजक पदार्थों जैसे हीमोग्लोबिन आदि का तथा यूरिक ऐसिड का निर्माण करना।

इस प्रकार यह यकृत विविध प्रकार के कार्यों को कर प्रतिहारणी सिरा द्वारा आये रक्त को शरीरोपयोगी बनाने का कार्य करता है।

पित्त का निर्माण—यकृत परमाणु इस प्रकार प्रतिहारणी सिरा द्वारा आये मिश्रित रक्त में से जो कुछ भी काट छांट कर अलग कर देते हैं याने जिसे न तो यह अपने पास रखना है और न उसे रक्त में ही रहने देना चाहता है उन्हे वह एक दम पृथक



चित्र नं० ११६

- १-प्रतिहारणी सिरा (Portal vein)
- २- पित्त नालिका (Bile duct)
- ३- याकृति धमनी (Hepatic artery)
- ४- याकृति कोष (Lobules)
- ५- यकृत परमाणु (Liver cells)
- ६- कोष केशिकायें (Sinusoids)
- ७- याकृती सिरा (Hepatic vein)
- ८- कोष जालक (Lobular veins)
- ९- पित्तस्रोत (Bile canaliculi, bile capillaries)
- १०- कोषपथ (Hepatic canal)
- ११- कोष केन्द्र (Lobular centre)

कर देता है। ये वस्तु एक अन्य सूक्ष्म स्रोतों से बाहर निकल जाती है। इन स्रोतों को पित्त स्रोत कहते हैं। ये पित्त स्रोत उन्हीं मार्गों का अनुसरण करते हैं जिस मार्ग से प्रतिहारणी सिरा एवं यकृत धमनी शाखा की प्रशाखा यकृत में चली हैं। कोषों से बाहर निकल परस्पर संयुक्त होती हुई यह उत्तरोत्तर मोटी होती जाती हैं और याकृति धमनी एवं प्रतिहारणी सिरा की शाखाओं के आने वाले मार्ग का अनुकरण करती हुई ठीक उसी स्थान के पार्श्व में निकल आती हैं जहां पर से वे दोनों यकृत के भीतर प्रविष्ट हुई हैं। इस प्रकार यकृत में तीन स्रोत-याकृतिक धमनी, प्रतिहारणी सिरा एवं पित्त स्रोत जहां कहीं भी हैं एक साथ हैं। इन तीनों स्रोतों के एक साथ चलने से यकृत के भीतर एक मार्ग का निर्माण हो जाता है जिसे यकृत पथ (Portal canal) कहते हैं। इस पथ के ऊपर नीचे अगल-बगल यकृत कोष रहते हैं। (चित्र ११६)

यकृत परमाणुओं की एक विशेषता यह है कि प्रतिकूल वस्तुओं का संयोग पाये या तो उसका ही विनाश कर देते हैं या स्वयं ही विनष्ट हो जाते हैं। ये शोथ युक्त (Hypertrophied) नहीं होते हैं। अतः यकृत की आकार वृद्धि कभी भी इसके परमाणुओं के शोथ के कारण नहीं होती। यह तभी होती है जब या तो इसमें किसी भी विजातीय वस्तु का संचय हो या इसमें अग्रमांश (Castr) आदि का निर्माण हो। इसके परमाणुओं की यह विशेषता है कि एक के नष्ट होते फौरन ही दूसरा नवीन परमाणु तैयार हो जाता है अतः यहां शोथ की संभावना नहीं है।

उपरोक्त वर्णन से यह व्यक्त होगा कि यकृत की जो कुछ भी क्रिया है उसे हम चार वर्गों में रख सकते हैं—

[१] आहार रस को इस योग्य बनाना कि शारीरिक तन्तु उसका शोषण कर सकें और यह उन्हें कोई क्षति नहीं पहुंचा सके। (Metabolism)

[२] कुछ ऐसी विशेष वस्तुओं का निर्माण जिसकी आवश्यकता है जैसे फाइब्रीनोजिन (Fibrinogen)

[३] हानिकर वस्तुओं का विनाश (Detoxication) एवं उदाशीकरण ।

[४] पित्त का निर्माण एवं निष्काषण ।

विकृति -

बालयकृत रोग की मुख्य विकृति है इसके भीतर विजातीय द्रव्यों का एकत्रित होना । यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें आने वाली यह विकृति किन कारण विशेषों से आती है और कैसे कैसे आती है मगर इतना अवश्य निश्चित है कि इसमें ऐसे विजातीय द्रव्य संचित होते हैं जो शीघ्र ही विलीन नहीं हो पाते और क्रम क्रम से उनका संचय जारी रहता है । यकृत कोषों में विजातीय द्रव्यों का संचय अधिकतर निम्नलिखित कारणों से हुआ करता है -

१. उपदंशज विष, २. राजयक्ष्मा, ३. आहार विष, ४. कृमि, ५. जीर्ण प्रवाहिका, ६. जीर्ण उदर्या-कलाप्रदाह ।

उपदंशजविष से यदि यकृतस्थ रक्तस्रोत जालक क्षत अवस्था में आ जाये तब वहां पर रस रक्त का संचय होने लगता है और वहां पर एक प्रकार के विष का निर्माण होता है जिससे यकृत एवं प्लीहा के तन्तु दोनों ही आक्रान्त होते हैं । बहुधा उपदंशज विष के कारण यकृत एवं प्लीहा दोनों ही के कोष (Capsules or lobules) तरुणास्थिवत् कड़े होने लगते हैं जिसे कोषकाठिन्य (Polyserositis) कहते हैं । इस कोषकाठिन्य से यकृत के संवहन कार्य में (Circulation) बाधा पहुँचती है और यकृत में संवाहित होने वाला तरल पदार्थ इस बाधा के कारण अपने अपने स्रोतों में मात्रा से अधिक मात्रा में हो जाता है जिससे वे विस्फारित हो जाते हैं, फूल जाते हैं । इससे यकृत का आकार बड़ा हो जाता है । बहुधा इससे यानी

अधिक दबाव के कारण कोई कोई सूक्ष्म स्रोत फट भी जाते हैं जिससे वहां पर रस रक्त चूकर यकृत कोषों को नष्ट भी कर देते हैं ।

राजयक्ष्मा जनित प्रभाव यदि यकृत के कोषों पर हुए तो स्वभाविक रूप से आक्रान्त स्थलों पर खटिक जमाव (Calcification) होने लगता है और कोषकाठिन्य होने लगता है जिससे पूर्वोक्त विकार होने लगते हैं ।

आहार दोष में यह होता है कि जब आहार में अत्यधिक प्रदाहक वस्तु या किसी किस्म की विषज वस्तु की उपस्थिति अधिक मात्रा में रही तो यकृत परमाणु इसे छान फँकने में स्वयं भी नष्ट होने लगते हैं और इनका विनाश इनके नव निर्माण की अपेक्षा अधिक बलवान होता है । इसका परिणाम यह होता है कि प्रतिहारिणी सिरा द्वारा आये रस रक्त का शोधन एवं परिवर्तन सम्यक् रूप से नहीं हो पाता है और कोषों में सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissues) का संचय होने लगता है । इससे यकृत का आकार बड़ा होने लगता है ।

हेपाटिकाइस्टोमा नामक एक विशिष्ट प्रकार का कृमि होता है जिसका मुख्य स्थान पकाशय एवं पुरीषाशय के रक्तवह सिरा होते हैं । यदि यह कृमि प्रतिहारिणी सिरा में प्रवेश पा गया तो उससे यह यकृत में भी प्रवेश पा जाया करता है । यह अत्यन्त सूक्ष्म पतले तागे जैसा और लगभग आध इञ्च लम्बा होता है । इसकी विशेषता यह है कि यह उदर की सिराओं में रहता है और इसकी मादा जब गर्भवती होती है तब यह शिरा केशिकाओं की ओर बढ़ जाती है और वहां अण्डे देती है । प्रतिहारिणी सिरा में आने के बाद इसके लिये अनुकूल स्थान यकृत ही मिलता है जहां आकर वह आसानी से अण्डे देती है । इन अण्डों से प्रतिहारिणी सिरा के कोषस्थ जालक भर उठते हैं और इनका संवहन कार्य बाधित होने लगता है । जिसका परिणाम यह होता है कि केशिकाओं की जिस किसी शाखा

में यह एकत्रित होता है वह शाखा अवरोध के कारण तथा ऊपर से संवहन के दबाव के कारण बहुधा फट जाया करती है या स्रोत कोई दूसरा मार्ग पकड़ लेता है और वह अंश जिसमें अण्डे अटके हैं वे सड़ने (Necrosis) लगते हैं और यकृत कोषों के अन्दर विजातीय द्रव्य का संचय होने लगता है। जो अण्डे स्रोतों के फूट जाने से बाहर निकल आये, वे तो पित्त स्रोतों द्वारा बाहर निकल आते हैं। इनके अण्डे २६ से ३० म्यू (अल्फा) लम्बे एवं १५ से १७ म्यू (अल्फा) चौड़े गोल अंडाकार और गहरे बादामी (Dark brown) रंग के होते हैं और इस रोगी के मल में पाये जाते हैं। विजातीय द्रव्यों के संचय से यकृत का आकार बढ़ने लगता है। इस संचित विजातीय द्रव्य के विषज प्रभाव से प्लीहा भी आक्रान्त होती है और उसमें भी इस प्रकार का विकार हो सकता है। उसके आकार की वृद्धि होने लगती है।

प्रवाहिका से (Amoebiasis) से बहुधा यकृत ब्रण (Liver abscess) हुआ करता है। मगर बहुधा ऐसा भी होता है कि उससे ऐसा ब्रण नहीं भी होता है जिसमें पूर्य आ जावे। साधारण सा ब्रण होता है और स्वभावतः उसका रोपण भी हो जाता है। यदि इसका क्षेत्र बड़ा हुआ तो ब्रण स्थानों पर सौत्रिक तन्तुओं के होने से एक बड़ा सा क्षेत्र निष्क्रिय जैसा हो जाता है और वहां विजातीय द्रव्य एकत्रित होने लगते हैं। चूंकि ब्रण के कारण स्थानीय यकृत परमाणुओं का विनाश हो गया रहता है और रस रक्त का शोधन एक बड़े क्षेत्र में नहीं पाता हो है।

जीर्ण उदर्याकला प्रदाह (Chronic peritonitis) में भी यकृत संवहन बाधित होता है। याकृति धमनी विशेष रूप से इससे आक्रान्त होती है और यकृत को पोषणार्थ शुद्ध रक्त की कमी होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि पोषणभाव के कारण यकृत परमाणु निर्बल पड़ने लगते हैं और उनकी क्रिया बाधित होने लगती है।

उनका नव निर्माण तथा शक्ति क्षीण होने लगती है और धीरे धीरे यकृत कोषों में यकृत परमाणुओं की निर्बलता के कारण विजातीय द्रव्यों का संचय होने लगता है।

इस प्रकार यकृत में विभिन्न कारणों से विजातीय द्रव्यों का संचय होता है। इन सब कारणों में से किस कारण विशेष से या इसके अतिरिक्त किसी अन्य कारण विशेष से बालयकृत नामक रोग में यकृत के भीतर विजातीय द्रव्य का संचय होता है निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हां इतना निश्चित रूप से अवश्य कहा जा सकता है कि इस रोग में यकृत के भीतर ऐसे किसी विजातीय द्रव्य का संचय होता है जो घुलनशील नहीं होता है। इसमें सौत्रिक तन्तुओं का, जो एक विशिष्ट जाति के होते हैं (Fibrous tissues of special quality) जमाव क्रम क्रम से होने लगता है। साधारणतया यह संचय बहुत धीरे धीरे होता है और प्रायः २-३ वर्षों में यह समूचे यकृत को भर देता है जिससे यकृत का अपना स्वभाविक काम एकदम बन्द हो जाता है। इन विजातीय द्रव्यों का जमाव या वृद्धि रोगी की शक्ति एवं रोग के ऊपर निर्भर करता है जिसमें रोग बलवान है और रोगी की शक्ति क्षीण होती है उसमें यह रोग अल्पकाल में भी संघातक अवस्था में आ जाता है।

लक्षण —

यकृत एवं प्लीहा की वृद्धि, कभी ज्वर का होना कभी नहीं होना, कभी मन्द ज्वर, कभी तीव्र ज्वर, कभी २-३ हफ्ता तक लगातार तीव्र ज्वर, कास, दैन्य आकृति, कभी कामला, कभी प्रवाहिका, कभी अतिसार, किसी किसी को कोष्ठबद्धता, सूखा काले रंग का और बदबूदार मल, रक्ताल्पता या साधारण सा कामला, (किसी किसी को इतना साधारण किस्म का कामला रहता है कि आंख साधारण पीताभ रहती हैं, कभी कभी इसमें तीव्र ज्वर के साथ प्रलापादि भी होता है जो बहुधा

हफ्ता तक रह कर दूर हो जाता है। इसका कुछ अधिक पीला होता है, मूत्र में पित्त (Mile) रहता है। यकृत क्षेत्र में मन्द मन्द पीड़ा (Mile) रहती है कभी नहीं होती है, कभी यह पीड़ा तीव्र होती है और उसके साथ कभी कभी उत्क्लेश या वमन भी होता है। रोग के बाद कामला लक्षण में अभिवृद्धि, यकृत क्षेत्र की कड़ाह का बढ़कर नाभि स्थान तक चला आना और इनका पर्याप्त रूप से कड़ा होना, पेट का बहुत बड़ा होना, उस पर हरी नीली सिराओं का उभार लट्ठ रूप से होना, मांसपेशियों का विशेष कर शिराओं का सूखना, किसी किसी में मुँह का गुदा मार्ग से रक्त का निकलना, बदन में बुखी या यत्र-तत्र छोटे छोटे ब्रण का निकलना, किसी किसी में गुदपाक या गुदव्रण का होना, नोचनी, चमड़े पर नोचनीयुक्त चकत्ते का होना (Xanthoma), नोचनीयुक्त दानों का निकलना (Lichen), त्वचा की रक्त केशिकाओं (Capillaries) का बिस्फारित होना (Telangiectasis) आदि होता है। त्वचा वर्ण का गहरा पड़ना। किसी किसी में दाहिना कंधा कुछ घंसा सा दिखाई देता है।

इसमें बहुधा रोगी की मृत्यु हलीमक या तीव्र क्षमला के आक्रमण के साथ प्रलापादि के होने से होती है या अत्यधिक रक्तस्राव (Haemorrhage) से होती है या विषज प्रभाव से (Profound cachexia) या विषज प्रभाव से किसी भी अवयव के आक्रांत होने से होती है।

इसमें बहुधा कृमि के लक्षण भी उपस्थित होते हैं। कभी रक्तातिसार के लक्षण प्रगट होते हैं। रोगी दुर्बल एवं क्षीणकाय होता जाता है। जलोदर, हाथ पैर आदि का शोथ भी होता है। इसमें रोगी बहुत हल्ला गुल्ला मचाने लगता है। या बजह खूब रोने चिल्लाने, जिद्द करने लगता है। चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। जुधानाश होता है, अरुचि होती है।

चिकित्सा—

इसकी कोई निश्चित औषधि नहीं है। लक्षणानुसार इसमें निम्नलिखित औषधियों का व्यवहार करना चाहिये—

वृ० लोकनाथ रस (भैषज्य रत्नावली)—

यह यकृत परमाणुओं को सबल बनाता है और यकृत में जमने वाले विजातीय द्रव्यों को बिलीन करता है, उनका शोषण करने में सहायक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह यकृत प्रदाह को दूर करता है, स्वस्थ रक्तकणों के निर्माण में सहायक होता है।

प्लीहाणव रस (भै० र०)—

वृहत् लोकनाथवत् ही इसका प्रभाव विशिष्ट रस से प्लीहा पर होता है साथ ही साथ यह यकृत पर भी अपना प्रभाव डालता है।

महामृत्युञ्जय लौह (भै० र०)—

यह यकृत में जमने वाले विजातीय द्रव्यों को बिलीन कर उनका शोषण करता है, यकृत तन्तुओं (Tissues) को सबल बनाता है उन्हें नवजीवन प्रदान कर उन्हें संकुचित होने से बचाता है तथा विजातीय द्रव्यों को जमा होने से रोकता है। यक्ष्मा-जनित विषज प्रभाव को जो यकृत पर विशिष्ट रूप से पड़ते हैं उनका उदासीकरण करता है।

त्रिनेत्राख्य रस (भै० र० शोथे)—

इसमें आने वाले जलोदर के लिये तथा हाथ पैर की सूजन को दूर करता है। इसे गदपुर्ना (पुनर्नवा) के स्वरस एवं मधु से चटाकर ऊपर से गोखरू फला पानी पिलाना चाहिये।

इस रोग में आये शोथ के लिये मूत्र रेचक औषधि एवं आप्य शोषक औषधियों का ही व्यवहार करना उचित है। त्रिनेत्राख्य रस के अतिरिक्त हार करना उचित है। त्रिनेत्राख्य रस (भै० र०) मूत्र कृच्छ्रांतक रस एवं वारिशोषण रस (भै० र०) का प्रयोग करना चाहिये। इन तीनों में मूत्र कृच्छ्रांतक रस वृक्क उत्तेजक है और रक्त से जलीयांश को



छानकर बाहर करता है। वारिशोषण रस जलीयांश का शोषण करता है। त्रिनेत्राख्य रस रक्त जालकों (cappillaries) के अवरोध को दूर कर रक्त संवहन व्यवस्था को सम्यक् रूप से चालू रखता है।

मैंने अब तक सात रोगियों पर उपरोक्त औषधियों का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया है और उसके साथ साथ निम्नलिखित दो कल्पित योगों का व्यवहार किया है और ७ केशों में से ४ केशों में पूर्णतया सफल रहा हूँ। इनमें से मैंने नियमित रूप से जिन औषधियों का जैसा व्यवहार किया है उसे नीचे दे रहा हूँ। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार उपद्रव शमनार्थ अन्य औषधियों का भी व्यवहार हुआ है मगर मूल रूप से निम्नलिखित औषधि ही बराबर चलते रहे हैं—

प्रातःसायं—स्वर्ण भल्लातक रस १ गोली मधु से दोपहर रात—महामृत्युञ्जय लौह १ गोली, चित्रकमूल चूर्ण ३ ग्रैन, गुलदाऊदी मूल चूर्ण ३ ग्रैन मिलाकर एक मात्रा मधु से।

६ बजे दिन ३ बजे दिन—वृ० लोकनाथ रस ३ ग्रैन, पीपर चूर्ण २ ग्रैन, रोहितक चूर्ण ४ ग्रैन मिलाकर एक मात्रा मधु से।

नोट—काकमाची (मकोय) मिल सके तब इन तीनों औषधियों को काकमाची के स्वरस एवं मधु के साथ (अनुपान में) दें अन्यथा केवल मधु से दें।

इसमें स्वर्ण भल्लातक एक कल्पित योग है जिसका नुस्खा नीचे दिया गया है।

स्वर्ण भल्लातक रसायन—

स्वर्ण भस्म ३ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म, रौप्यमाक्षिक भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म प्रत्येक १-१ तोला, बंगभस्म ३ तोला, अर्कमूल चूर्ण १ तोला, चित्रकमूल चूर्ण १ तोला, गुलदाऊदी मूल चूर्ण १ तोला, शुद्ध भिलावे की मींग २ तोला।

निर्माण—पहले भिलावे की मींग को खूब खरल करें, बाद में उसमें स्वर्ण भस्म मिलाकर खरल करें। इसके बाद इसमें शेष सभी औषधियों को

मिला पानी से खरल कर १०० गोलियां बनावें।

उपयोग—मात्रा—१ गोली से १ गोली तक एक बार में २४ घण्टे में दो बार। अनुपान—मधु।

बालयकृत, जीर्ण प्रवाहिका, रक्ताल्पता, जीर्ण प्रहणी, कृमि (विशेषकर हेपाटिक डिस्टोमा जो यकृत में होता है) यकृत विद्रधि (Cancer) एवं अर्श तथा पाण्डु रोग में लेखक इस योग का व्यवहार कर रहा है।

नोट—जिसे वृक्क प्रदाह का लक्षण हो या जिसमें Albumin मूत्र से आता है उसमें सम्वहल कर प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से यदि मूत्र गहरे रङ्ग का (Deep coloured) हो जाये तब इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये। ऐसे को यह औषधि अनुकूल नहीं पड़ती है।

चित्रक लौह—

चित्रक मूल १ तोला, रोहितक मूल १ तोला, अर्कमूल, बिडङ्ग, लौह भस्म ३-३ तोला, ताम्र भस्म ३ तोला।

निर्माण—घृत कुमारी के रस में १५ दिन तक खरल करें यानी १५ भावना देकर इसमें १०० गोलियां बनावें।

उपयोग—मात्रा—१-२ गोली २४ घंटे में दो बार, गन्धाविरोजा के सूखे सत्व ५ से ८ ग्रैन के साथ मिलाकर पानी से खायें।

यह यकृत में आये हर अवरोध को दूर करता है यानी मुद्दे को बिखेरता है विशेषकर पित्तस्रोतों का। लेखक इसका व्यवहार यकृत वृद्धि के साथ होने वाले कामला, कुम्भकामला, हलीमक में करता है। यकृत पर शीत (Chill) लगने से या अन्य कारणों से उत्पन्न बालयकृत, यकृतव्रण (Liver abscess) या यकृत पर चोट लगने से जो यकृत वृद्धि या यकृत शूल होता है एवं उपद्रवस्वरूप इसमें जो कामला होता है उसमें इसका प्रयोग होता है।

इन सबों के अलावा अन्य औषधियों का प्रयोग आये उपद्रवानुसार भी किया गया है। पथ्य में

केवल दुग्धाहार रखा जाये तो सर्वोत्तम अन्यथा पी, मिरच एवं खट्टा छोड़कर सब आहार खा जा सकता है।

इसमें उपद्रवस्वरूप आये रक्ताल्पता में 'शिला-ज्वादि लौह' (भै. र. यक्ष्मे) ताप्यादिलौह (सिद्धि-योग संग्रह) एवं कुमार्यासव तथा पुनर्नवासव को साथ मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

इसमें उपद्रव स्वरूप यदि ज्वर के साथ अति-ज्वर या प्रवाहिका हो तो 'पुटपक्व विषम ज्वरान्तक ज्वर' (भै. र. ज्वरे) व्यवहार करें। यदि केवल ज्वर अपराह के बाद हो तो 'वृ० सर्व ज्वरहर ज्वर' या 'चन्दनादि लौह' (भै. र. ज्वरे) का व्यवहार करना चाहिये।

यदि इसमें गुदमार्ग से या मुंह नाक से रक्त-स्राव हो तो निम्नलिखित योग का व्यवहार करना चाहिये। यह एक संघातिक उपद्रव है अतः इसका चिचित सन्देह होते ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये। इसकी अवहेलना कभी भी न करें।

गोलिगर्लः—

कदरुवा शमई (वृणकांत) पिष्टी १ तोला,

स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध काला डेला सुरमा (अंजन), लाक्षा चूर्ण, खूनखराबा चूर्ण, अनार कली का चूर्ण, पोश्तदाने के कोष का चूर्ण—प्रत्येक आधा-आधा तोला।

निर्माण—

वाकस, गूलर और विशल्यकर्णी के पत्तों के रस की ६-६ भावना देकर इसमें १०० गोलियां बनावें।

काले सुरमे के डेले को लेकर भृङ्गराज के रस में खूब खरल करें, इतना खरल करें कि उसमें जरा भी चमक नहीं रहे और सुखालें। भृङ्गराज रस से इसे सात बार खूब खरल कर सुखालें। यही शुद्ध काला डेला सुरमा है।

उपयोग—

मात्रा—१ से २ गोली एक बार में हर ४-४ घण्टे पर। अनुपान—मधु।

इसका व्यवहार रक्तयुक्त अतिसार या प्रवाहिका में या मुंह नाक से रक्त स्राव होने में करें।

—कवि. श्री लाला बदरीनारायण सैन G. A. M.S.
मोतीभील, मुजफ्फरपुर

पाण्डु

श्री दुर्गविजयसिंह D.I.M.S.

परिभाषा—

बालकों में अम्ल, लवण, तीक्ष्ण पदार्थ के सेवन या सुदृढ भक्षण करने से यकृद् रोग के पश्चात्, कृष्ण विषमयता, प्रहणी के पश्चात्, हृद् रोग में, वृक्क रोग में बहुधा यह देखा जाता है। आयुर्वेद मत से कहा गया है कि पित्त दुष्ट होकर रक्तगत हो जाता है अतः रक्त की लालिमा का लोप हो जाता है और शरीर पीताम्ब शोथयुक्त दीखने लगता है। अतः रक्त रंजक पित्त की हीनता होती है और वह

रक्त को रंगने का कार्य बंद प्रायः कर देता है। नव्य मतानुसार इस रूप का नाम रक्तगत ब्लॉरि-युविन की अधिकता है। प्रायः यह स्वस्थ अवस्था में शरीर में अहानिकर मात्रा ०.२ और ०.८ मि. ग्राम प्रतिशत सी.सी. में रहती है और विकृति होने पर ३० मिलीग्राम प्रतिशत सी. सी. तक बढ़ जाती है

पर्याय—

कामला, पांडु, कुम्भाह्वय, लाघरक, अलसक

पूर्वरूप-

त्वक् स्फोटन, छीवन, गात्रसाद, मृदु भक्षण करना, अक्षिकूट शोथ, मलमूत्र का पोलापन, अविपाक (सु. उ. ४४-५) हृदस्पंदन, रौक्ष्य, स्वेदाऽभाव, श्रम (च० चि० अ० १) आदिलक्षण पूर्वरूप में प्रकट होते हैं।

रूप-

प्रायः पाण्डु के नाम से ही माना जाता है कि अमुक पाण्डु रोगी के नख, नेत्र, त्वचा, मल, मूत्र तथा स्वेद, आंसू और थूक भी पीताभ हैं। प्रारम्भ में हलका शोथ बाद में बढ़कर अधिक शोथ हो सकता है। हलका ज्वर, त्वचा में कंठू तथा रुक्षता, स्फोटन होता है। शारीरिक बल को हानि। मल-सारण तथा उससे उत्पन्न विष के लक्षणों युक्त होता है।

बालकों में आमाशय स्थान पर पीड़ा जो दबाने से प्रतीत होती है, शिरः शूल, अनिच्छा, हृज्जास, वमन, कभी विवन्ध तथा कभी अतिसार होता है।

यकृत बढ़ा हुआ प्रतीत होता है कभी कभी स्त्रीहा भी बढ़ी तथा स्पर्शाऽसह्यता युक्त होती है।

जिह्वा पोत फूली हुई मोटी होती है। नेत्र पीताभ चमकीले तथा भ्र उभरे हुये शोथयुक्त प्रतीत होते हैं। मूत्र यदि कपड़े में लग जाय तो पीले रंग का गहरा दाग लग जाता है जो धोने से भी नहीं छूटता है। नक्तान्ध भी उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी रुग्ण बताता है कि हमको पीला ही दिखाई देता है। नाड़ी पूर्व में धीमी तथा बाद में साधारण हो जाती है। यह संक्रमण से भी होता है यथा—फिरङ्ग से, विषम ज्वर से, यकृत के रोग से, इन्फ्लू-एन्जा से, न्यूमोनियासे, मंथर ज्वर इत्यादि संक्रमण में भी देखा जाता है। यह औषधियों के प्रभाव से भी होता है यथा—*N. A. B. (M.B.) Sulpha-rsenol* सुर्मा के योगों के प्रयोग के बाद, सेंटो-नीन, फिलिक्समास, सुरा के अत्यधिक पान करने से, क्लोरोफार्म, कार्बनटेट्रा क्लोराइड, फासफोरस,

ऐटोफारम जैसी कोलतार से निकली औषधियों के प्रयोग से आजकल यह रोग होता देखा जाता है। वैद्य को इन बातों का ज्ञान होना चाहिये कि रोगी को चिकित्सा उपयुक्त औषधियों के द्वारा हुई है या नहीं।

निदान—

(१) लक्षणों के द्वारा, (२) मूत्रपरीक्षा के द्वारा (३) रक्त परीक्षा के द्वारा, (४) रोगों की आपस में तुलना करके, (५) यकृत की परीक्षा करके, मल-परीक्षा करके उसमें रंग तथा विश्लेषण के द्वारा (६) रोगी के इतिहास से तुलना करके (७) आयु की समानता करके क्योंकि वृद्धावस्था में यह एक स्वभाविक अवस्था में होती है। (८) दोषों के सहज निदान के लिये, पाण्डु के रूप में दोषों में रंग की प्रधानता की परीक्षा करके यथा वात के कृष्णवर्ण की, पित्त में पीताभ से और कफ की शुक्लता की प्रधानता से ज्ञान करना चाहिये।

उपद्रव-

अरुचि, पिपासा, वमन, ज्वर, शिरःशूल, अग्निसाद, शोथ, कंठक्षीणता, मूच्छा, क्लम, हृदय-पीडा, उपद्रवों की तीव्रता के द्वारा साध्य, असाध्य कष्टसाध्य का ज्ञान भी कर लेना चाहिये।

—सु० उ० ४४।१३

असाध्यता—

रोगी के हाथ पैर सूजे हों परन्तु शरीर कृश हो या इसके विपरीत हो गुद, वृषण, लिंग में शोथ हो, मूच्छा, विसंज्ञा, अतिसार, ज्वर से आक्रांत पाण्डु रोगी को त्याग देना चाहिए ऐसी शास्त्र सम्मति है—(सु० उ० ४४।३६, ४०)

चिकित्सा—

शास्त्र ने मुख्य रूप से स्नेह में साधित औषधियों के द्वारा वमन, विरेचन बताया है। इसके लिये हल्दी, त्रिवृत, त्रिफला आदि से साधित घृतों का वर्णन तथा उसका विधान शास्त्रों में है। साथ

साथ औषधियों के रूप में मंझूर, लौह, गौमूत्र का वर्णन भी मिलता है। अनेक परीक्षित प्रयोगों का वर्णन भी है। यथा—नवायस लौह (चूर्ण), पुनर्नवा मंझूर, धात्री लौह, निशा लौह, ताप्यादि लौह, मृदुरेचन रस (२० च०), पाण्डु पंचानन इत्यादि।

(१) पाण्डु रोगी का जब यकृत बढ़ा हो, ज्वर हो, मेद हो तो नवायस लौह का उपयोग गुडुच, कुटकी इत्यादि के अनुपान से देना चाहिए।

(२) शोथ में पुनर्नवा मंझूर, पुनर्नवाष्टक काथ के साथ देना।

(३) ज्वर हो तो स्वर्ण बसन्त मालती का अन्य पाण्डुहर योगों के साथ प्रयोग कराना।

(४) रक्ताल्पता एवं रक्तहीनता और अतिसार में लौहों का अन्य स्तम्भक औषधि के साथ सेवन।

(५) कास इत्यादि उपद्रवों की चिकित्सा साथ साथ यथा दोषानुसार करनी चाहिये तथा इनका इन कास अधिकार में वर्णित ढङ्ग से प्रयोग करना चाहिए।

नव्य मतानुसार यकृत के कार्य तथा रंजक पित्त को उत्तेजित करने के लिये हेक्जालीन, लिबर एक्स-ट्रेक्ट, लौह, कुपीलु का मुख तथा सूचीवेध के

द्वारा प्रयोग किया जाता है। अवस्था, ऋतु, रोगी की स्थिति, शक्ति इत्यादि को देखकर औषधियों का मात्रा में सेवन कराना चाहिये। पाण्डु में नस्य के लिये बन्ध्या कर्कोटक मूल तथा घोषालता के फल का नस्य देने से पीला पानी निकलकर रोग शान्त हो जाता है। त्वचा के स्नेहन के लिये तैल मालिश करनी चाहिये। यथा—वृ० मूलकाच तैल, शुष्क मूलकाच तैल, पुनर्नवा तैल से लाभ होता है तथा ज्वर कास शोथ के उपद्रव भी शांत होते हैं। आसवों में लौहासव, पुनर्नवासव, धात्र्यारिष्ट इत्यादि का पान करना चाहिये। इससे अग्नि प्रवृद्ध होती है। पित्त का शमन होता है और रोग शांत हो जाता है।

पथ्य—पुराने चावल, गेहूँ, मूँग, अरहर, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस, परवल, कच्चा केला, पेठा, पुनर्नवा शाक, पका मीठा आम, गोमूत्र, घी, तक्र, तैल, मक्खन, चन्दन, हल्दी, यवचार, लौह भस्म इत्यादि पथ्य हैं।

—श्री दुर्गाविजयसिंह D. I. M. S.
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयु. चिकित्सालय,
हरदोई गूजर [जालौन]

बच्चों का घातक रोग वृक्क शोथ

वैद्य श्री अम्बालाल जोशी साहित्यरत्न

क्या कभी आपने सोचा है कि आपके हंसते खेलते फूल के सदृश कोमल बालक कभी कभी पीत वर्ण के बन कर शोथयुक्त हो जाते हैं। और इस प्रकार वे एक लम्बी बीमारी से आक्रान्त हो कर डाक्टरों द्वारा असाध्य करार कर दिये जाते हैं। यह सब क्यों होता है। यह एक सहज रोग है जो बालकों को छुप कर आक्रान्त कर लेता है और बहुत अर्से तक अज्ञात रूप में आपका बालक इस

पाजी रोग से ग्रसित हो गया है। यह तब पता चलता है जब यह रोग अपनी उग्र अवस्था को ग्रहण कर लेता है—यह रोग है वृक्क शोथ।

१ आधुनिक मतानुसार सर्व प्रथम इस रोग की पहचान डाक्टर ब्राइट ने की। इसलिए इस रोग का नामकरण डाक्टर ब्राइट के नाम पर ब्राइट डिजीज (Bright's disease) किया गया। मूत्र में अलब्यूमिन का जाना तथा जलोदर का संबंध वृक्कशोथ के साथ है। ऐसा सर्वप्रथम डाक्टर ब्राइट ने बताया।



बालक स्वयं कफ प्रकृति होते हैं।^१ अतः थोड़े थोड़े ऋतु परिवर्तन जो कफ को विकृत करते हैं बालकों में शीघ्र ही कफज रोग उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार बालकों में कफज रोग कृच्छ्र साध्य होते हैं।^२ ये पैदा होकर अपनी स्थिरता प्राप्त कर लेते और इसीलिये उचित चिकित्सा करते हुए भी देर से ठीक होते हैं। प्रथम तो बालकों में जब यह रोग पैदा होता है तब अभिभावकों या चिकित्सकों को सहज में यह पता भी नहीं चलता कि उसे यह रोग हो गया है। परन्तु कालान्तर में जब यह ज्ञात होता है तब तक यह अपना स्थायित्व प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि यह रोग प्रौढ़ों को भी होता है परन्तु बहुत कम। बालकों को समप्रकृति होने के कारण यह अधिक दबा लेता है। देखा गया है कि यह रोग ३ से १० वर्ष के बालकों को अधिक होता है। बालक क्योंकि अपनी पीड़ा की व्याख्या नहीं कर सकता अतः उसकी रोग परीक्षा में अनुमान^३ का स्थान प्रधान रहता है। ये लक्षण हम आगे बतलावेंगे।

आयुर्वेदीय मतानुसार वृक्क शोथ एक कफज रोग (शोथ) है। क्योंकि वृक्क मेद तथा रक्त के सार से उत्पन्न माना गया है।^४ और इसका कार्य जठरस्थ मेद की पुष्टि करना है। चरक के मतानुसार

^१ वयोदंतमस्य प्रथमे वात पित्त कफ.मयोः।

—च० चि० ३०।३११

^२ बालकानाम वचसां विविधा देह वेदनाः।

प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयात्लक्षणयुतः॥

—काश्यप संहिता

अर्थात् बालकों की वाणी के विकास के अभाव के कारण वे अपनी विविध वेदना को प्रगट नहीं कर सकते अतः उनकी विविध चेष्टाओं तथा लक्षणों को देख कर ही वेदना का पता लगाना चाहिए।

^३ मेदो शोथित जौसाराद वृक्कायोर्युगलं भवेत्।

—भावप्रकाश

भी “मेदो वहनां श्रोतसामवृक्को मूलम” समर्थित होता है। इस प्रकार यदि हम उपरोक्त मत से अपनी सहमति निश्चित कर लें तो वृक्क शोथ एक कफज व्याधि ही मानी जाती है। क्योंकि मेद तथा कफ का समान गुण धर्म है।

इस प्रकार इस वृक्क शोथ का प्रभाव दो धातुओं पर पड़ता है (अ) मेद तथा (ब) मूत्र। वृक्क शोथ के कारण मेद तथा मूत्र दोनों ही क्षय को प्राप्त होते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए आयुर्वेद शास्त्रों ने मेद क्षय के लक्षणों में कटिस्वाप, सीहा वृद्धि, कृशांगता आदि माने हैं।^४ तथा मूत्राशय के लक्षणों में मूत्राल्पता, मूत्र-कृच्छ्र, मूत्र वैवर्ण्य, मूत्र-रक्त आदि^५ को स्वीकार किया है।

इस संपूर्ण विकृति के गर्भ में कफ दुष्टी ही प्रधान मानी गई है। मूत्र के साथ अलव्यूमिन निक्षेप का आना स्थानीय कफ का व्यय होना है। इस प्रकार धीरे धीरे कफ का भी क्षय होना स्वाभाविक ही है। अतः श्लेष्माक्षय के लक्षण श्लेष्माशयों में शून्यता (विशेष तौर से वृक्क में शून्यता) व संधि शैथिल्य होकर हृद्रव हो जाता है।^६

वृक्क शोथ के आयुर्वेदीय लक्षण संपूर्ण रूप से उपरोक्त तीनों दृष्टि लक्षणों पर आधारित हैं। इसीलिए तो वृद्धि शोथ में कटिस्वाप, सीहायकृद् वृद्धि, कृशांगता, मूत्राल्पता, मूत्र वैवर्ण्य, मूत्रकृच्छ्र, मूत्ररक्तता, हृदय, संधि शैथिल्य, शून्यता, पाण्डुता, अरुचि, प्रसेक, अग्निमाद्य, श्लेष्मज शोथ (शीत समय में, दबाने पर खड्डा न भरने वाला) आदि लक्षण स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।

वृक्क रचना—

इस रोग को समझने के पूर्व यह आवश्यक

^४ मेदस्य स्वपनम् कटचा प्लीहो वृद्धिः कृशाङ्गता।

—अष्टाङ्गहृदयम्

^५ मूत्रल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद् विचर्णम् साश्रमवेवा।

—अ० ह०

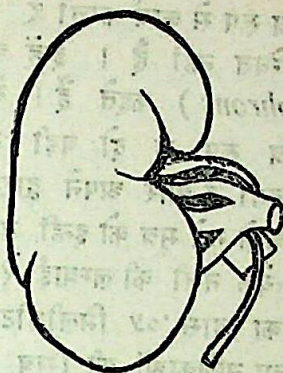
^६ श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्रवश्च संधिता।

—अ० ह०

शिशिराङ्ग

है कि हम वृक्षों की तत्सम्बन्धी रचना तथा विकृति सम्यक् प्रकार से अध्ययन कर लें। वृक्ष हमारे शरीर की मूत्र निर्माता उभय ग्रन्थियां हैं। महा-महोपाध्याय डाक्टर गणनाथसेन सरस्वती ने आयुर्वेदीय मत से यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन आयुर्वेदीय तत्सम्बन्धी अवतरणों में लिपीकारों की असावधानी के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया है। उनके अनुसार “सूक्ष्म त्वान्नापकभ्यन्ते मुखान्नास सहश्रसः” द्वारा मूत्र निर्मात्री सूक्ष्म ग्रन्थियों का ही उल्लेख सिद्ध होता है। इसी प्रकार ‘तर्पयन्ति सदावृक्षौ’ के स्थान पर ‘तर्पयन्ति सदा-मूत्र’ होना चाहिए। पुनश्च “घटी यथा तथा विद्धि वस्ति मूत्रेण पूर्यते” के स्थान पर “घटौ यथा तथा वृक्षौ ततो वस्तिश्च पूर्यते” पाठ होना चाहिए था।

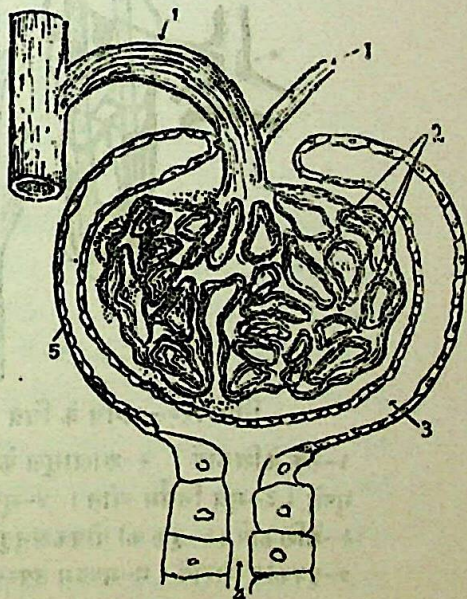
यदि उपरोक्त तर्कों को प्रमाणित स्वीकार कर लें जैसा कि है भी तो आयुर्वेद शास्त्रियों को मूत्रोत्पत्ति तथा वृक्षद्वय सम्बन्धी आयुर्वेदीय ज्ञान के प्रति न्यूनता के आरोपों का स्वतः ही खण्डन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि शास्त्रों में उक्त विषय सम्बन्धी ज्ञान उपलब्ध है। वृक्ष की दोनों ग्रन्थियां हमारे पृष्ठ भाग में बायें तथा दाहिने रहती हैं। प्रत्येक वृक्ष के पृष्ठ भाग में १२ वीं पसली रहती है। वृक्ष के दो पृष्ठ होते हैं। एक सामने तथा दूसरा पीछे का, दो किनारे होते हैं एक रीढ़ के पास रहता है तथा दूसरा उससे परे। दो सिरे होते हैं, दोनों ही पुष्ट रहते हैं। इसका आकार नीचे से छोटा तथा ऊपर से बड़ा होता है। तथा एक वृक्ष कुछ ऊपर की ओर रहता है। वृक्ष के ऊपर एक सौत्रिक तन्तु से निमित्त एक झिल्ली रहती है। उसे वृक्ष कोष कहते हैं। वृक्ष बसा से सुरक्षित रहता है। यदि हम वृक्ष के दो खड़े भाग करें तो कटा हुआ आधा भाग सब जगह एकसा दिखाई न देगा। उनका पृष्ठों



चित्र नं० १२०—वृक्ष

की ओर। इन मीनारों की शिखरों में अनेक छोटे छोटे छिद्र होते हैं। जो वृक्ष की बड़ी बड़ी नालियों के मुख हैं। ये रक्त में मूत्र को मनुष्य के सोते जागते सभी अवस्थाओं में छानता रहता है।

हमारे रोग संप्राप्ति का स्थल यही है। सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र से ज्ञात हुआ है कि उभय वृक्षों में अनुमानतः २० लाख शिखराकार आंत्र नालियां



चित्र १२१—वृक्षों में स्थित आंत्रकोष का चित्र

- १—धमनी तथा शिरा। २—रक्त केशिकायें
३—आंत्रकोषों की गहराई। ४—मूत्रोत्त और
५—आंत्र कोष

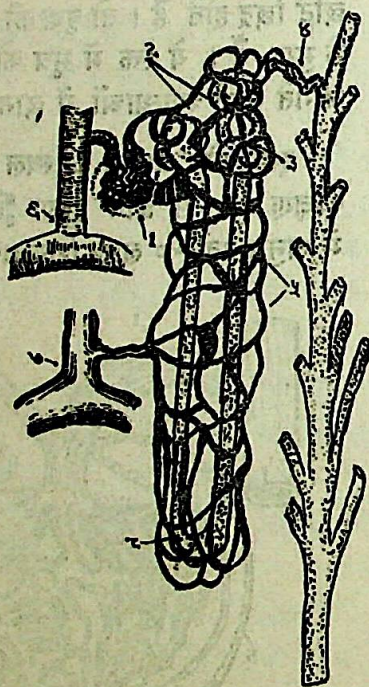
१ वृक्षौ मांस पिण्डद्वयं। एको वाम पार्श्वस्थितः
द्वितीयो दक्षिण पार्श्वस्थितः ॥ —सुश्रुत निदान



धन्वन्तरि

हैं^१ जो स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं है। इन्हें अंग्रेजी में नेफ्रान्स (Nephrons) कहते हैं। ये सभी नलियां स्वतन्त्र रूप से दो बड़ी नलिकाओं से सम्बन्धित रहती हैं और अपने द्वारा रक्त में से छान कर निकाले गये मूत्र को इन्हीं नलियों में छोड़ती हैं। प्रत्येक नली की लम्बाई १५ मिलीमीटर तथा इसका व्यास ०.५ मिलीमीटर है। इस प्रकार सभी सूक्ष्म नलिकाओं की (सब मिलाकर) लम्बाई ७० से १०० किलोमीटर तक रहती है।

श्रुति अंत्र (नेफरोन) की लम्बाई अनुमानतः



चित्र १२२—अंत्र के चित्र

- १-रक्त केशिकायें। २-शाखामूल केशिकाओं के गुच्छे। ३-मूत्र निर्गम स्रोत। ४-मूत्र वह स्रोत। ५-केशिकायें। ६-वृक्क की पोषकश्रुतिवृक्क धमनियां। ७-वृक्कीय शिरायें। ८-मध्यम उपस्थम्भित भाग।

^१ वृक्क में स्थित मूत्र निर्मात्री प्रणालियां प्रत्येक प्रारम्भ में छद्म आंत्रों के कुण्डलितकृति तथा पश्चात् स्थूल आंत्रों के सदृश सरल होती हैं। आंत्रों के सदृश होने के कारण इन्हें 'श्रुतिआंत्र' कहा है।

३५ से ५० मिलीमीटर तक रहती है। ये सभी नेफरोन (Nephrons) मूत्रनलिका तक सम्मिलित हो जाती हैं। नेफरोन्स सैलों से युक्त होते हैं जिनसे रक्त में से मूत्र छान कर मूत्र प्रणाली पहुंच जाता है। यह रक्त वृक्क में धमनी शिराओं से आता जाता रहता है। वृक्क शोथ वृक्क का बाह्य भाग ही प्रभावित होता है तथा की श्रुति अंत्र (नेफरोन्स) सम्पूर्ण या अंशतः शोथयुक्त हो जाती है। इस प्रकार वृक्क का भाग तो शैल से प्रभावित होता ही है साथ ही कभी कभी दूसरा भाग भी प्रभावित हो जाता है।

वृक्क शोथ—

वृक्क शोथ दो प्रकार के होते हैं—(१) वृक्क शोथ तथा (२) जीर्ण वृक्क शोथ। जीर्ण शोथ पुनः दो प्रकार का होता है (१) जीर्ण नाडी शोथ तथा (२) जीर्ण औपस्तम्भिक शोथ।

तीव्र वृक्क शोथ—

वृक्कों की सूक्ष्म प्रणालियों एवं उनके स्मिक भाग और अपस्तम्भिक भाग में शोथ तीव्र वृक्क शोथ है।

अभी तक यह पता नहीं चल पाया है कि शोथ का विशेष कारण क्या है परन्तु सामान्य कारणों से ऐसा अनुमान किया जाता है कि रोग वृक्क स्थान पर सर्दी बैठ जाने से या घात का वृक्कों पर प्रभाव हो जाने से होता है। अभी अनुमान किया जाता है कि क्योंकि कभी यह रोग गलप्रस्थी के बाद उत्पन्न होता है इस गल रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणु (स्ट्रेप्टोकोकस) (Streptococcus) ही वहां से वृक्कों तक इनको रोगाक्रान्त कर शैल उत्पन्न कर देता तीव्र संक्रामक रोगों जैसे मसूरिका रोमान्ति कुक्कुर कास, उपदंश, विषमज्वर, पीत ज्वर के बाद भी यह रोग देखा गया है। संभव है कि

२ मूत्रवहद्वे

पार्श्व द्व्यस्थे नाड्यौ गवीन्यौ-सायण।

—सुश्रुत शरीर ६। १२



सम्बन्ध हो। तारपीन, अशुद्ध
तथा फास्फोरस, बैरोजा आदि
से सूक्ष्म नलिकाओं में शैल
से प्रभाव हो यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

नली में स्थित शैलों या औपस्त-
भिक भाग में होता है। परन्तु एक भाग
दूसरे भाग पर भी अपना
प्रभाव डालता ही है। चाहे
उसके कारण उसकी अपेक्षा ही क्यों न की
जाय के कारण नलीस्थ शैल रक्त को छानते
हैं। कुछ अंश मूत्र के साथ आने देती
हैं। एलब्यूमिन भी रक्तयुक्त मूत्र के साथ
आता है।

नली के बाह्य भाग शोथ युक्त होने के कारण
है। इससे रक्त बाहिनियों का समूह
अभिन्न भाग के साथ शोथयुक्त हो जाता
है। थोड़ा थोड़ा रक्त मूत्र के साथ बाहर
आता है। कभी कभी यही रक्त नलियों के
द्वारा बह जाता है। कुछ नालीस्थ शैल
उत्पन्न कर नली के अन्दर आगिरती
होता है कि यही शैले (Cast)
के रूप में मार्ग द्वारा बाहिर
आती हैं। Cast और एलब्यूमिन वृक्क शोथ
के लक्षण हैं। कभी कभी नालीस्थ शैलों की
उपस्थिति के कारण जब मूत्र मार्ग से ये अवयव
निकलते तब यूरिमीया मूत्र की मात्रा
और तरल जमा होने के कारण शरीर
भरने लगता है। यही कफज शोथ का

प्रथम कटि प्रदेश में पीड़ा
उपरी भाग में शोथ हो जाता
पर भी आर्द्र शोथ होता है और
यह शोथ हाथ, पैर, अण्ड-
शरीर में फैल जाता है। कभी

कभी यह रोग गुप्त रूप में भी प्रारम्भ हो जाता है
और वमन, उत्क्लेद, शिरःशूल, अतिसार, उदरशूल
आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं परन्तु बाद में जब
मूत्र मार्ग से रक्तश्राव प्रारंभ होता है तब यह
चिकित्सकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता
है। कुछ श्वास का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है
परन्तु शीघ्र ही यह लक्षण दूर हो जाता है प्रारम्भ
में कुछ दिन ज्वर भी रहता है। रक्त वेग तथा
रक्त भार अधिक होता है। मूत्र की मात्रा अपेक्षा-
कृत कम होती जाती है तथा मूत्र गाढ़ा पड़ता
जाता है। मूत्र परीक्षा में रक्त अलब्यूमिन, प्रक्षिप्त
पदार्थ तथा हरितनेत्र जनीय पदार्थ न्यून होते
जाते हैं। कालान्तर में वृक्क संन्यास के लक्षण
उपस्थित होकर उचित चिकित्सा के अभाव में रोगी
की मृत्यु तक हो जाती है। अधिकतर तीव्र वृक्क
शोथ से जीर्ण वृक्क शोथ हो जाता है।

जीर्ण वृक्क शोथ दो प्रकार का होता है—

- (१) जीर्ण नालीस्थ वृक्क शोथ तथा
- (२) औपस्तम्भिक वृक्क शोथ।

जीर्ण नालीस्थ वृक्क शोथ—

प्रथम श्रेणी के वृक्क शोथ में सूक्ष्म नालियां
सूज कर विकृत हो जाती हैं। जो कालान्तर में
वृक्कों को भी प्रभावित करती हैं। वृक्क शोथयुक्त
होने से स्थूल प्रतीत होने लगते हैं। नालियों की
शैल भी शोथ युक्त तथा पीली हो जाती हैं। परन्तु
इन सब लक्षणों के होने के पूर्व तीव्र वृक्क शोथ के
लक्षण दब जाते हैं तथा रोगी अपने
आपको रोगमुक्त समझने लगता है, परन्तु रोग
गुप्त रूप से कायम रहता है। कभी कभी पूर्व
स्पष्ट हुए बिना भी जीर्ण वृक्कशोथ हो जाता है।
मूत्र परीक्षा में वे ही एलब्यूमिन रक्त तथा Cast
रहते हैं। तथा अन्य सभी लक्षण पूर्वोक्त ही होते हैं।
वृक्क का वर्ण ज्वेत हो जाता है परन्तु कालान्तर में
स्थूल श्वेत वृक्क शोषित होकर संकुचित हो जाता
है। इस अवस्था में जीर्ण वृक्क शोथ का परिणाम



सदा ही बुरा होता है। अधिक से अधिक दो साल तक यह अवस्था कायम रह सकती है।

जीर्ण औपस्तम्भिक वृक्क शोथ—

दूसरा प्रकार है जीर्ण औपस्तम्भिक वृक्क शोथ। इसमें वृक्क की मूत्र प्रणालियां और उनके प्रारम्भिक भाग क्षीण हो जाते हैं। इसमें रक्त वेग बढ़ने के कारण धमनियां कठोर हो जाती हैं। मूत्र का घनत्व (आपेक्षित) कम हो जाता है और एल-व्यूमिन अल्प मात्रा में आती है। वात रक्त, मद्यपान, उपदंश से पीड़ित रोगी तथा छापाखाने में कार्य करने वाले या सिक्के के कारखानों में काम करने वाले लोगों को यह रोग होता है। आंतों में प्रोटीन जमा होकर सड़ने लगती लगती है इससे विष उत्पन्न होकर रक्त में लीन हो जाता है। इस अवस्था में धमनी काठिन्य तथा वृक्क शोथ दोनों का परस्पर कारणत्व सम्बन्ध रहता है। परन्तु यह रोग बालकों में नहीं होता। अतः इसका अधिक विवेचन यहां नहीं कर रहे हैं।

चिकित्सा—

यह रोग एक घातक रोग है जिसकी चिकित्सा एलोपैथी में नहीं है। आयुर्वेदीय चिकित्सा से यह रोग कृच्छ्रसाध्य है। चिकित्सा की न्यूनतम अवधि ६ मास या इससे अधिक है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान इसमें पारुद तथा भस्मों का प्रयोग एकदम निषिद्ध मानते हैं परन्तु आयुर्वेद की रस चिकित्सा लाभप्रद सिद्ध हुई है।

इसकी चिकित्सा को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

- [अ] औषधि सेवन चिकित्सा, [ब] प्रसेक तथा अभ्यङ्ग चिकित्सा, [स] रक्तमोक्षण चिकित्सा, [द] आहार विहार चिकित्सा।

(अ) औषधि सेवन चिकित्सा—

आरोग्यवर्धनी वटी, पुनर्नवाचार, गोक्षुर चार (आसव), पुनर्नवा चार या आसव, गोक्षुरादिगुग्गुल पंचवृण मूल कषाय, शिलाजतु, पुनर्नवादि मंझूर,

पुनर्नवादि गृगल, शोथादि लोह, पुनर्नवाष्टक क्वाथ, पथ्यादि क्वाथ, त्रिफला काथ।

इनमें से किसी का प्रयोग करें।

हमने इस रोग में आरोग्यवर्धनी, पुनर्नवादि योग, शिलाजतु का विशेष प्रयोग किया है।

(ब) प्रसेक तथा अभ्यङ्ग चिकित्सा—

इस रोग में कफ नाशक द्रव्यों का स्वेदन करें।

[१] गोमूत्र स्वेदन, [२] तारपीन, का तैल तथा गर्म जल का स्वेदन। पुट स्वेद भी वृक्कशोथ में लाभप्रद पाया गया है—

१—पुनर्नवादि पुट स्वेद—पुनर्नवा, नीम के पत्ते, निष्पव, परिभद्रत्वक को संयुक्त रूप से दर दराकर पोटली में बांधकर पुटपक करें तथा वृक्कों को स्वेदित करें।

२—अपामार्गादि पुट स्वेद—अपामार्ग, ताल-मखाना, संभालू का पत्र, भांग—इन्हें पोटली में बांधकर उपरोक्त विधि से स्वेदन करें।

३—मिट्टी सूखी को गरम कर सेक करें।

४—कुलथी तथा शुण्ठी द्वारा सिद्ध गोमूत्र का परिशेष करें। उपरोक्त स्वेदन करने के बाद वृक्कों को साफ पौछ कर ऊपर फलालेन या गर्म बख बांध दें जिससे ठंडी हवा का आघात न पहुंचे।

(स) रक्त मोक्षण चिकित्सा—

इस रोग में रक्तमोक्षण चिकित्सा भी लाभप्रद सिद्ध हुई है। जलौका या शृङ्गी चिकित्सा करनी उपयुक्त है। वृक्क स्थान या उसके ठीक आसपास ही इसका प्रयोग किया जाना उचित है। तदनन्तर वृक्कों पर तैल लगवाना आवश्यक है। यों भी वृक्कों पर तैल लगाना लाभदायक है।

आवश्यकता पड़ने पर कफहर प्रलेप तथा पुल्टिस भी इस पर बांधी जा सकती है। जिनमें हजरत बेर तथा अंडे की सफेदी प्रमुख है। प्रलेपों में दशांग प्रलेप, पुनर्नवादि लेप (पुनर्नवा, देवदारु, सौंठ, सहजना की छाल, श्वेत सरसों को कांजी में पीस कर लेप करें) कृष्णादि प्रलेप (पिप्पली, बालू, पुराने तिल की खली, सहजना की छाल, अलसी को



शिरुरोगाङ्कः

४१७

गो मूत्र में पीसकर लेप करें) तथा चौरपुष्पी और अगर का लेप करें। लाभप्रद हैं।

ग्राह्य विहार चिकित्सा—

रोगी को नत्र जातीय भोजन नहीं देना चाहिए। प्रोटीन यद्यपि जीवन के लिये प्रमुख है फिर भी अधिक मात्रा में इसका देना भी हानिकारक है। इसलिये केवल दुग्ध का ही सेवन इस रोग में अधिक लाभ नहीं दे सकता। वसा का सेवन भी इस रोग में नहीं करना चाहिये। पथ्य में रुक्ष पथ्य को प्रधानता देनी चाहिये। दशमूल द्वारा सिद्ध दुग्ध आदि भोजन तथा अल्प मात्रा में सरसों का तैल हितकारी है।

फलों में अखरोट, अंजीर, मुनक्का, साबूदाना, मक्खन, टोस्ट, शर्बत, यव आदि इस रोग में पथ्य हैं। इस रोग में नमक का प्रयोग अल्प मात्रा में करना चाहिये। अधिक मूत्रल पदार्थों का सेवन भी निषिद्ध है। पिट्ठी तथा मैदा के भोज्य पदार्थ, उष्ण भोजन, शराब, मांस सेवन आदि पूर्णतया त्यज्य हैं। अति मात्रा में जल, गुड़, तैल तथा गुरु पदार्थ भी नहीं लेने चाहिये।

रोगी को पूर्णतः आराम करना चाहिए। तीव्र वृक्क रोग में विस्तर से भी उठना नहीं चाहिये। परन्तु रोगी एक करवट भी नहीं लेटा रहे। उसे करवट बदलते रहना चाहिये। कभी दांये, कभी बांये, कभी सीधे तथा कभी पेट के बल सोना उचित है जिससे वृक्क पर दबाव न पड़े।

रोगी की सर्वप्रथम चिकित्सा है 'निदानम् परि-वर्जयेत्' अर्थात् जिस कारण से रोग उत्पन्न हुआ उसका परिवर्जन करना अर्थात् कारण का नाश करना। इस रोग की चिकित्सा जितनी शीघ्रता से की जाय उतना ही अच्छा है। अधिक वृक्क शोथ में अनेक बार वृक्कों में यह शक्ति नहीं रहती कि वे मूत्र को बाहिर फेंक सकें। ऐसी परिस्थिति में मूत्र का तरल भाग अन्दर ही रह जाता है। यह आर्द्रता तथा मूत्र लवण अन्दर ही अन्दर रहकर वृक्क संन्यास रोग पैदा कर देते हैं। परन्तु जब

यह शोथ कम होने लगता है (अर्थात् वृक्क जब कुछ काम करने लगता है) तब मूत्र अधिक बनना प्रारम्भ हो जाता है, ऐसी स्थिति में मूत्रल द्रव्यों का देना उचित है।

जीर्ण वृक्क शोथ का उपचार अन्य प्रकार से किया जाता है। उसमें वृक्कों को धीरे धीरे ताकत देनी पड़ती है। एक काथ इसमें अधिक लाभप्रद पाया गया है जिसे यहां उल्लिखित किया जा रहा है। यह योग वंश परम्परागत तथा गुप्त है फिर भी पाठकों के लाभार्थ यहां उद्धरित किया है।

मयूरशिखा, मक्की की मूछें, खरबूजे के झिलके, गोक्षर, पंचमूल, पुनर्नवा तथा कुटकी सम-भाग लेकर जबकुट करें। मात्रा १ तोला से २ तोला तक।

उपरोक्त द्रव्यों का उचित मात्रा में बलाबल देखकर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर ४ रत्ती शिलाजीत का प्रक्षेप देकर पान करता रहे तो धीरे धीरे परन्तु स्थायी लाभ होता रहता है। आवश्यकता होने पर इसमें गौमूत्र का प्रक्षेप भी डाला जा सकता है।

इस रोग में दोष की प्रबलता तथा रोगी की अवस्था के अनुसार लंघन, पाचन, शिरोविरेचन, विरेचन, वमन आदि कराने चाहिये। आम दोषों में लंघन तथा पाचन क्रिया करानी उपयुक्त है। अति प्रवृद्ध दोष में वमन तथा विरेचन कराकर शोधन क्रिया करनी चाहिये। साधारणतया इस रोग में मल तथा मूत्र का शोधन भी आवश्यक है।

अन्त में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि यह एक रोग है जिसमें एलोपैथी चिकित्सा पूर्णतया असफल रहती रही है परन्तु आयुर्वेद को इस पर विजय प्राप्त करने का श्रेय प्राप्त है। यह गर्व की बात है। आशा है वैद्य समय का लाभ उठाकर इस रोग की चिकित्सा करने में सफल होंगे।

—श्री अम्बालाल जोशी साहित्यरत्न आयुर्वेदरत्न सम्पादक—आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका मकराना मोहल्ला, जोधपुर

बाल पक्षाघात (पोलियो)

श्री के.पी. वर्धन

पक्षाघात, पक्षाघात का आक्रमण बालक और प्रौढ़ दोनों में होता है। बच्चों के 'बाल पक्षाघात' (Infantile paralysis) को पोलियो के नाम से पुकारते हैं। आजकल यह संक्रामक व्याधि रूप भयङ्कर रूप धारण करके लाखों शिशुओं को प्रसित कर रहा है। पब्लिक और सरकार दोनों की ओर से वैद्य गण इस मारक व्याधि की रोक थाम के लिये प्रयत्नशील हैं। देश, काल, जल, वायु दूषित होने के कारण उत्पन्न होने वाली संक्रामक (जनपदोर्ध्वसक) व्याधियों के अंतर्गत यह एक बात व्याधि है। इस विकट व्याधि के प्रधान लक्षण निम्न प्रकार हैं। पहले ज्वर होता है बाद में वमन, संकट, शीत, शिरोभार, अंगमर्दन इत्यादि। पश्चात पैर हाथ क्रियाहीन हो जाते हैं। आधुनिक वैद्य मतानुसार इस व्याधि में एक सूक्ष्मक्रिमी सुषुम्नाकांड के अंतर्गत नाड़ी कण उत्तर शृङ्ग में प्रवेश पाकर उनको खाजाते हैं। उससे सूक्ष्म नाड़ियां और मांसपेशियां व्याघात पाते हैं। इसके परिणाम में उसके आधीन शाखा क्रियाहीन हो जाती है। यह क्रिमी मस्तिष्क के भागों में प्रवेश पाने पर उस यन्त्र के अन्तर्गत अवयवों को दूषित करने से इन्द्रियनाश और उनके संबंधित नाड़ियों में विकृति संभव होती है। यही भयङ्कर रूप धारण करके प्राणघातक बन जाता है।

आयुर्वेद ग्रन्थों में ज्वर पूर्वरूप होने वाले पक्षाघात का वर्णन नहीं पाया जाता परन्तु आयुर्वेदज्ञों को व्याधि के नाम की आवश्यकता नहीं परन्तु लक्षणों से निमित्त है। त्रिधातुज्ञान की सहायता से समस्त व्याधियों की चिकित्सा करने में समर्थ होता है ऐसा आप्तवाक्य है—

विकार नामाकुशलो न जिह्मियात कदाचना ।
नहीं सर्व विकारणां नामतोस्त ध्रुवास्थितोः ॥

आजकल प्रचुरता पाई हुई यह पोलियो एक नवीन व्याधि कहीं आसमान से टूट पड़ी है ऐसा समझना

गलत है। 'बाल रोग' अध्यायों में पक्षाघात के नाम से हमको नहीं मिलता, कारण यह है कि शैशवास्था में श्लेष्म ही प्रधान दोष होता है और यह बालकों में बिरले ही होता है। इसीलिये पक्षाघात बयो पुरुष अधेड उम्र वालों को अक्सर हुआ करता है।

इस व्याधि का बालकों को ही विशेषतः १ से ४ वर्ष के अन्तर्गत शिशुओं को ही संक्रमण हुआ करता है इसका कारण क्या है? विचार करने पर हमको बालाक तीन प्रकार के मिलते हैं।

१—क्षीरादा, २—क्षीरान्नदा, ३—अन्नदा।

पहले क्षीरादा—यह माता का स्तन्य अथवा अन्य दूध पीने वाले, दूसरे दूध के साथ अन्न खाने वाले, तीसरे केवल अन्न खाने वाले। इनमें से दूध और अन्न खाने वालों में ही व्याधिग्रस्त की संख्या विशेष है। केवल स्तन्यपान करने वाले शिशुओं का धातु सत्व प्रधान होता है। अन्न खाने वालों में अम्ल लवण कटु आदि के मिश्रण से रजो गुण प्रादुर्भाव होता है। यही कारण है कि १ और ५ वर्ष के मध्यम बालकों में ही यह संक्रमित होता है। केवल बयो अवस्था ही नहीं किंतु ऋतु काल का भी प्रभाव पड़ता है। यह व्याधि श्लेष्म चयावस्था जो हेमन्त और शिशिर ऋतु है इनमें नहीं पायी जाती। अथवा श्लेष्म चय को विलयन करने वाले अहिताहार विहार का सेवन, सूर्य की तीक्ष्ण ताप के सेवन से व्याधि प्राप्त हो सकती है। श्लेष्म विलयन पाकर स्रोत और नाड़ियों को अवरुद्ध करते हैं इससे बात के प्रसारण में बाधा पड़ती है। इसके परिणाम में वह शाखा क्रियाहीन हो जाती है अथवा क्रमशः क्रिया लुप्त होती जाती है—इसी का नाम है पक्षाघात।

आहारश्च विहारश्च यस्याहोष गुणैस्सम ।
धातुभिर्विगुणो यश्चस्रोतसां संप्रदूषकः ॥

यदि केवल क्षीरादा को संक्रमण हो तो माता अथवा धात्री के स्तन्य का दोष होना निश्चित है।



शिशुरोगाङ्कः

माता के दुग्ध में आम दोष न पाया जाये और शिशु को ज्वर हो तो उसे आगन्तुक स्कन्दादि ग्रहावेश जानें ।

रोग द्विविध है—१. निज और २. आगन्तुक। 'द्वयो-स्तुखलु आगन्तुक निजयोः' । आगन्तुक रोग में पहले उसके सम्बन्धित बाधा होकर उससे वातपित्त श्लेष्म में वैषम्यता होजाने से विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं । निज व्याधि में पहले ही वात पित्तादि दोष विकृत होकर धीरे धीरे बाधा उत्पन्न करते हैं ।

बालकों का शरीर और मनो तत्त्व अति कोमल और दुर्बल होने के कारण ग्रहादि का आवेश हो जाता है । अब हम बालकों का ग्रह विचार करेंगे ।

बाल व्याधियों पर श्रेष्ठ और प्रमाणिक ग्रन्थ कश्यप संहिता है । उसमें बालग्रहों के स्वरूप, उनकी चिकित्सा, उनकी उत्पत्ति और कारण विवरणात्मक रूप से पाये जाते हैं ।

स्कन्द, शकुनी, रेवती, पूतना, अंध पूतना, शीत-पूतना, मुख मंडिका, नैगमेघ (पितृग्रह) ऐसे ६ ग्रह हैं । सबमें स्कन्दग्रह बड़ा क्रूर और प्रधान है ।

बाल ग्रह अदृष्ट होने के कारण—

बालग्रह मणिमादि अष्ट सिद्धि पाने के कारण, काम रूपी होने के कारण बालकों में प्रवेश करते दिखाई नहीं पड़ते । फिर भी आप्तवाक्य रूप शब्द प्रमाण के आधार पर बालकों के शरीर में प्रवेश पाने पर जो लक्षण दिखाई देते हैं वर्णन करता हूँ—

ग्रह बालकों में क्यों प्रवेश होते हैं—

धारी मात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छै च,
अष्टानमंगलाचार ही वान ।

ग्रस्तान हृष्टाम स्तर्जितान ताडितान वा पूजा

हेतोर्हिस्त्यु रेतुकुमारम् ।

स्तन्यपान कराने वाली दाई, स्वयं जननी गर्भिणी नियमों को भङ्ग करने के अपचार से शुचित्वहीन, विधि विधान से षष्टि देवी पूजादि रूपक मंगलाचरण न किया हो, अत्यन्त मुदित हो, दूसरों से भय पाई हो, अधिक रोदन करने वाली हो ऐसे

शिशुओं में पूजार्ह बन कर बाल ग्रह आवेश पाकर पीड़ा देते हैं ।

शास्त्रों में इन ग्रहों के आकार, उत्पत्ति का वर्णन बड़े विस्तारपूर्वक है किन्तु स्थानाभाव के वश प्रकृत पोलियो बाल पक्षाघात से सम्बन्धित स्कन्दग्रह का ही संग्रह में वर्णन करता हूँ ।

स्कन्दादि बालग्रह दिव्य शरीर धारण करके स्त्री पुरुष रूप में रहते हैं । यह कृत्तिका, पार्वती, अग्नि-देव, शिवजी इनसे शरदर्थ बन में कुमारा स्वामी के रक्षणार्थ सृजन किये गये हैं । स्कन्द ग्रह को भगवान् शिवजी ने सृजन किया, इसी को कुमारा ग्रह भी कहते हैं । स्कन्द ग्रह लाल पुष्प, लाल वस्त्र, लाल चंदन इनसे विभूषित दिव्य रक्त वर्ण काय वाला सब ग्रहों में अत्यन्त उग्र है । यह आवेश पाने से बालकों को अङ्ग वैकल्य अथवा मरण अनिवार्य है ।

वैकल्यं मरणं चापि स्कन्दग्रहे मतम् ॥

साधारण बालग्रह ग्रसित लक्षण—

बाल ग्रहाविष्ट बालक लक्षणों में शिशु क्षण में चौंक पड़ता है, क्षण में डरता है, बार बार रोदन करता रहता है नाखून से अपने आपको अथवा माता को खुरचता है, दांत काटता है, कीलताजंभाई लेता है, होट काटता है और भौं चढ़ाता है, कफ निकलता है कृशित होकर रातों में जागता रहता है । शरीर में शोथ रहता है । मछली रक्त जैसी गन्ध आती है । पहले के जैसा दूध नहीं पीता और खाता नहीं । दुर्बल आहार मलिन शरीर वाला होकर स्थायी रूप पड़ा रहता है ।

स्कन्द ग्रह ग्रहीत लक्षण—

स्कन्द ग्रह आविष्ट होने पर (एक नयन स्यावी) एक आंख में पानी भरना (शिरो विक्षिपते मुहुः) बार बार शिरोताडन करना (हतैक पक्षः) एक पार्श्व में शक्ति लुप्त होना (स्तब्धांग) अवयव स्तब्ध हो जाना, (सस्वेदो) स्वेद निकलना, (नत कदरः) गर्दन झुक जाना, (दंत खादी) दांत काटना, (स्तन्य



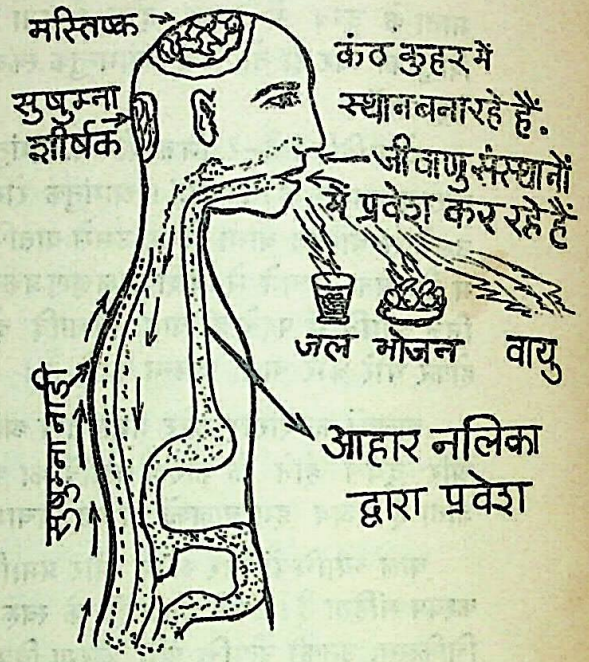
द्वेषी) स्तन्यपान करने में द्वेष (त्रस्यन) अकारण चमक पड़ना (रोदती विस्वरः) विकार स्वर में रोदन करना (वक्रवक्त्रो) मुह टेढ़ा हो जाना (वमेलालाम्) मुह से लार निकलना, (भृश मूर्ध्नि निरीक्षते) अत्यंत ऊर्ध्वदृष्टि रखना, (वसागंधि) चरबी रक्त समान गंध रहता, (अद्विप्रो) कांपना, (बद्धमुष्टि) हथेली बांधना (शकृच्छिशु) मलबन्ध होना (चालितैकाक्षि गंड भ्रू) एक पार्श्व में आंख कनपटी भौं का कंपन होना (संरक्तो भय लोचनः) आंख लाल पड़ना-यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसे शिशु को अङ्ग वैकल्प अथवा मरण प्राप्त होना अनिवार्य है।

अब हम आधुनिक मत से इस पोलियो व्याधि की संप्राप्ति पूर्वरूप रूप भेद का विचार करके आयु-वैदोक्त लक्षण कहां तक मेल बैठते हैं प्रयत्न करेंगे।

यह रोग सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत जीव कण में [पुर शृङ्गों में] संपन्न होने वाले ब्रणघात [Signus] मुख्यकारण मानते हैं। शिराओं के द्वारा व्याप्त होनेवाला अति सूक्ष्म कृमि पदार्थ मुख्य कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं। यह नासिका का मल, दूध, पानी, आहार, मक्खियों के द्वारा व्याप्त होता है। यह कहीं कहीं अलग अलग अथवा सांक्रामिक रूप [जनपदोद्ध्वंसक रूप] से भी हो सकता है। अधिकतर २-५ वर्ष के मध्यम बच्चों को होता है। युवक और मध्य बयस्कों को भी हो सकता है और विशेषतः बालकों में शरद्, ग्रीष्म ऋतु में इसका प्राबल्य होता है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया देशों में यह रोग अधिक प्रचार में है।

सम्प्राप्ति—

यह सूक्ष्म कृमि नासिका अथवा मुख द्वारा शरीर में प्रवेश होकर कंठ कुहर अथवा जुदांत्र में ठहर कर वृद्धि होकर उसकी दीवारों के पर्दों में स्थान बनाकर स्वतन्त्र श्लेष्मा नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क में पहुंचते हैं। यह सुषुम्ना कांड की ओर जाने वाली नाड़ियों द्वारा व्याप्त होकर पृष्ठवंश के मूल से सुषुम्ना कांड में प्रवेश होते हैं। यह कृमि सुषुम्ना



चित्र नं० १२३—सम्प्राप्ति

द्रव में दिखाई नहीं देते परन्तु मल में पाये जाते हैं। मूत्र यकृत प्लीहा में गोचर नहीं होते। मस्तिष्क सुषुम्ना के नाड़ी कण गर्दन की शिराओं में, कटि के नाड़ी कण पुरशृङ्ग में पाये जाते हैं। सुषुम्ना नाड़ी में श्वेत कण एक जगह जमकर सूजन पैदा करते हैं।

लक्षण, पूर्वरूप—

पक्षाघात की पूर्वावस्था कह सकते हैं। शिरःशूल, अङ्गमर्दन, गर्दन तोड़, पृष्ठ भाग, पैर हाथ में बाधा, उदर में शूल, चक्कर, वमन, एक-दो बार बालात्क्षेप की तरह मूच्छा होती है। ज्वर १०३ F तक रहता है। कुछ कुछ एक वस्तु दो दिखाई पड़ना [द्वि दृष्टि], तीव्र शिरोबाधा हो जाती है। गर्दन जकड़ जाती है। दृष्टि का विभ्रम होना, उंगलियां कांपना, सुषुम्ना निर्मल रहते दबाव (Pressure) अधिक होता है। श्वेत कण बढ़ जाते हैं। रक्त में श्वेत कण अत्यधिक बढ़ जाते हैं, रोग कृमि दिखाई नहीं पड़ते।

ज्वर होने के २ अथवा ३ दिन के पश्चात् पक्ष-
गत के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अक्सर पक्षवध
एकदम प्रकट होते हैं। इनमें हाथों से पैरों में
लक्षण अधिकतर प्रकट होते हैं। मांस पेशियों
में शूल रहता है। कुछ पेशियां ढीली पड़ जाती हैं,
कुछ में हाथ में दबाने पर दर्द होता है। इस
व्याधि से एक हाथ अथवा एक पांव (पक्षवध), एक
पैर अथवा हाथ (एकाङ्ग वात), दोनों पांव (पंगुवात),
दो हाथ दो पैर (सर्वाङ्ग वात) अथवा एक पार्श्व का
एक और पैर अथवा एक भाग का हाथ दूसरे भाग
का पैर हो गिर जाना संभव है। जिस शाखा में
बध हुआ, उसके चर्म पर पतले फफोले अथवा
बुद्बुद निकलते हैं। ढीली पड़ी पेशियां आहिस्ता
आहिस्ता हड़ होकर जकड़ जाती हैं।

पद-

१. सुपुम्नज, २. तात्कालिक, ३. नाड़ी पाकरूप,
४. व्यापक, ५. मस्तिष्कज, ६. पश्चात् मस्तिष्कज,
७. पुरो मस्तिष्कज, ८. अधो मस्तिष्कज, ९. मिश्रण
रूप।

(१) सुपुम्नज—यह अक्सर दिखाई देता है।
इसमें उपरोक्त सब लक्षण पाये जाते हैं। इस व्याधि
में संबन्धित कृमि सुपुम्ना नाड़ी में जहां जहां पहुंचते
हैं वहां वहां पर शिराओं से पोषित मांसपेशियां क्षत
हो जाती हैं। पृष्ठ वंश मध्य भाग प्रान्त में सुपुम्ना
नाड़ी में यह कृमि प्रवेश पाने से मांसपेशियों के
क्षत के साथ गुदावली का भी क्षत हो जाता है।

(२) तात्कालिक—इसमें व्याधि की सम्प्राप्ति
सुपुम्ना के ऊपर के पदों से आगे नहीं बढ़ती। अल्प
मस्तिष्क लक्षणों से २, ३ दिन ज्वर आकर शमन
होता है।

(३) नाड़ी पाक रूप—इसमें क्षत के लक्षण
भी पाये जाते। हाथ पैरों में बाधा अधिक होती है।

(४) व्यापक—इसमें क्षत का लक्षण एक
भाग में प्रकट हो कर आरोग्य अथवा अवरोहण

मार्ग में सारे शरीर पर सत्वर व्याप्त हो जाता है।
प्रधानतः फेफड़े ग्रस्त होने पर मरण निश्चित है।

(५) मस्तिष्कज—यह मुख्यतः तात्कालिक भेद
लक्षण सहित होता है। किन्तु यही लक्षण तीव्र
रूप होते हैं। रोग अधिक दिन तक रहता है। बध
का लक्षण नहीं रहता।

(६) पश्चात् मस्तिष्कज—इसमें तीव्र शिरो-
वेदना, भ्रम, बमन, अस्पष्ट वाक्, आंख की पुत-
लियां अति चंचल होना यह लक्षण ही दिखाई
देते हैं।

(७) पुरो मस्तिष्कज—तीव्र मूर्च्छा, पक्षाघात,
अथवा पंगुवात, कंपन, मनो वैकल्य उपस्थित होना
इसके लक्षण हैं।

(८) अधो मस्तिष्कज—इसमें उपरोक्त लक्षणों
के साथ अर्दितवात, आहार निगलने में असमर्थता,
अस्पष्ट वाक्, स्वरहानि, श्वास वैकल्य, हृदय स्पंदन
में विकृति प्राप्त होती है।

(९) मिश्रण रूप—इसमें मस्तिष्कज लक्षण
सुपुम्नज लक्षण मिश्रित रहते हैं। इस व्याधि में
क्षत शाखाओं में एक शाखा कठिन दूसरी ढीली
हो सकती है।

यह रोग होने के कुछ काल में बध हुए भाग
फिर से स्वस्थ हो सकते हैं। कुछ तो हमेशा के लिए
क्षत होकर रह जाते हैं। कटि पेशियों के पास
टेढ़ापन आने के कारण बनते हैं। क्षत हुई शाखाओं
में हड्डियां बढ़ती नहीं, इसी कारण वह छोटी
दिखाई देती हैं। क्रमशः मांसपेशियां क्षीण हो
जाती हैं। यह व्याधि पूर्णरूप से स्वस्थ होकर पूर्व
स्थिति प्राप्ति होती है कहना कठिन है परन्तु एक
वर्ष के काल में जितनी स्वस्थता प्राप्त हो गयी हो
उसीको परमावधि समझ सकते हैं।

साध्यासाध्य—यह व्याधि एकदम बहुत संख्या
में जनपदोर्ध्वसक रूप धारण करके आने पर सौ
में १० से २० तक मरण प्राप्त करते हैं। सर्वाङ्गवात
के रोगी भी स्वस्थ होते देखे जाते हैं। अधो मस्तिष्क

(मेडुला) में व्याधि व्याप्त होने पर मरण निश्चित है। अब हम आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार तुलनात्मक विचार करेंगे।

रोग सम्प्राप्ति—

यह छः अवस्थाओं में विभाजित है। इनको क्रियाकाल कहते हैं—

१. प्रथम क्रियाकाल—संचय, २. द्वितीय क्रियाकाल—प्रकोप, ३. तृतीय क्रियाकाल—प्रसार, ४. चतुर्थ क्रियाकाल—स्थान संश्रय, ५. पंचम क्रियाकाल—व्यक्तिभाव, ६. षष्ठम क्रियाकाल—भेद।

यह दोष संचय में प्रारम्भ करके रोग प्राप्ति होकर निवृत्ति होने तक शरीर में होने वाले रोग क्रिया कलाप को व्यक्त करता है।

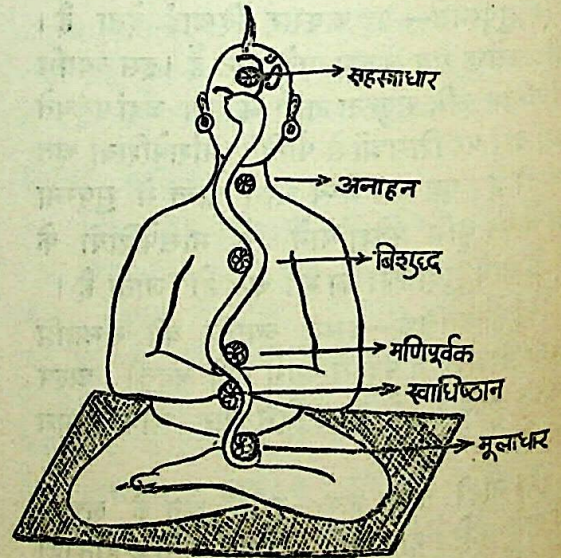
[१] संचय—दोष दुष्ट होने के कारणभूत मिथ्याहार विहार का सेवन अथवा काल वैपरीत्य अथवा बाह्य कारण कृमि विषादि सम्बन्ध से हो दोष स्वस्थान में वृद्धि पाते हैं। इस व्याधि में आहार विहार में इसके काल में अथवा वात वृद्धि कर रुक्ष, लघ्वादि गुणों से ऊष्ण का संयोग होने से वात का संचय होता है। इसी कारण यह व्याधि शरद्, ग्रीष्मकाल में अधिक व्याप्त होती है और वात का स्थान पक्काशय, कटि, ऊर्ध्व (जांघ) आदि वात स्थान ही दोष संचय को स्थान देते हैं। इसी तरह प्राणवात और उदान वात के मार्ग नासा द्वार, कण्ठ द्वार भी दोष संचय के आधारभूत होते हैं।

[२] प्रकोप—अपने अपने वात स्थान में अथवा उनके मार्ग में संचय हुआ वात, तत् स्वभाव रुक्ष, लघ्वादि गुणों के साथ शीतल गुण समावेश होने पर अर्थात् अपने पूरे गुण वृद्ध होने पर वात का प्रकोप होता है। कोई दोष यथावस्था में ही मालूम करके तत्तद् दोष शामक रस गुणादि द्रव्य का सेवन करने पर वह दोष प्रकोप न होकर शमन हो जाता है। उसके विरुद्ध होने पर दोष प्रकट होना स्वभाव सिद्ध है। इसी अवस्था में संभव होने वाले रोग के पूर्वरूप चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण इस

व्याधि के पूर्वरूप में वात प्रधान लक्षण अंग मर्दन (गर्दन तोड़ने के जैसा दर्द) मांसपेशियों में बाधाये प्रकट होती हैं।

[३] प्रसार—प्रकुपित दोष स्वस्थान छोड़कर अन्य स्थान में प्रवेश पाना। वात प्रधान इस व्याधि में प्रकुपित वातदोष वातबद्ध नाड़ियों के मार्ग द्वारा व्याप्त होकर इन्द्रिय स्थान को प्राप्त करते हैं। इन्द्रिय दो प्रकार की हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। शिर ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है। सुषुम्ना नाड़ी कर्मेन्द्रियों का स्थान है। हृदय और मन व्यान वात का स्थान है। इस व्याधि में प्रधानतः व्यान और अपान वात दुष्ट होते हैं। इसी कारण कई रोगियों के पैर और कुछ के हाथ चूत होते हैं। इसी कारण प्रधानतः इसको सुषुम्ना व्याधि मानते हैं। यह दोष प्रसार शिर के इन्द्रिय स्थान और नाड़ी मूलों में प्रवेश करने पर ज्ञानेन्द्रियों का बध हो जाता है। यह सामान्यतः कुछ ही रोगियों में हो पाता है। ऐसा होना असाध्य लक्षण है।

[४] स्थान संश्रय—नाड़ियों द्वारा व्याप्त वात दोष नाड़ी मार्गों द्वारा मुख्यतः सुषुम्ना कांड में



चित्र नं० १२४—षडचक्र



क जाता है। यहां मूलांशों को दूषित करके उस स्थान के मूलांशों को शुष्क कर देते हैं। यह व्याधि नाड़ी मण्डलाश्रित होने के कारण षडचक्रों का पूर्ण ज्ञान के बिना पूर्णरूप से अवगाहन नहीं हो पाता। योग ज्ञान से षडचक्र का ज्ञान होता है। योग ज्ञान षडचक्रदर्शन के बिना नाड़ी मण्डल व्याधियों का मूल पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं कर सकते। इसी कारण योगदर्शन सूक्ष्मेन्द्रिय ज्ञान आयुर्वेद को पूर्ण रूप से समझने के लिये नितांत आवश्यक है। ऐसा ऋषियों का मत है—

मातुरस्य अन्तरात्मानं यो नाविशाती योगवित्।
ज्ञान बुद्धि प्रदीपेना न स रोगान् चिकित्सति॥

—चरक

यह मुख्यतः मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्रों का आश्रय लेकर पैदा होता है रूढ़ना चाहिए। कभी कभी विशुद्ध आज्ञाचक्र, इनके अन्तर्गत नाड़ीसूत्र दूषित होकर शुष्क हो जाने पर उनके अधीन नाड़ियां उनकी सहायता से काम करने वाली पेशियां बलहीन होकर पक्षाघात को मार्ग निकालते हैं। कभी कभी विशुद्ध और आज्ञा चक्र भागों को बिगाड़ देना भी संभव है। तब वह ज्ञानेन्द्रियों का बध करके असाध्य परिणत हो जाता है।

[५] व्यक्ति भाव—इस अवस्था में व्याधि संपूर्ण स्वरूप में प्रकट होती है। पूर्वरूप में उत्तर भाग भी व्याधि चिन्ह व्यक्त करता है। इस व्याधि के पूर्वरूप में ज्वर आना मुख्य लक्षण बतलाया गया है। ज्वर आने का कारण पित्त प्रकोप होना है। 'ऊष्मा पित्ताहते नास्ति ज्वरोनास्ति ऊष्माविना'। वात लक्षियों और सुषुम्ना में व्याप्त होने पर दुष्ट वायु घे और शरीर के घात अंशों को घर्षण करता है। यह घर्षण (Friction) पक्व करने का ख्याल रखता है। अतः पित्त प्रकोप होकर ज्वर लक्षण पैदा करता है।

“एको दोषः प्रकुपितः अन्यान दोषान् प्रकोपयेत्”

इस न्याय के अनुसार प्रकुपित वायु घर्षणादि क्रिया विशेष से पित्त प्रकोप को और उसके द्वारा ज्वर को उत्पन्न करता है। पाक शमन होने पर ज्वर कम होजाता है। किन्तु पाक प्राप्त हुये भाग अल्प हेतुक होने पर शोथ निर्वापण होकर स्वास्थ्य प्राप्त करता है अथवा धातुनाश अर्थात् वहां के नाड़ी सूत्र नाश हो जाते हैं। इसके कारण कर्मेन्द्रियों का बध और उसमें प्रधानतः करचरणाङ्ग का बध हो जाता है। इसमें ज्वर विशिष्ट पूर्वरूप अथवा व्याधि लक्षण मानें तो पक्षबध को उपद्रव रूप से ले सकते हैं। ‘कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रसाम्यति’ इसको उपद्रव रूप से ग्रहण करना समंजस दीख पड़ता है क्योंकि इस रोग में ज्वरावस्था में की जाने वाली चिकित्सा और पक्षबध होने के पश्चात् किये जाने वाली चिकित्सा में कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(६) भेद—यह व्याधि स्वल्पहेतु जन्य होकर ज्वर से ही शमन हो जाने वाली हो तो वह साध्य व्याधि होकर किसी प्रकार के उपद्रव न होकर सुलभ से शमन हो जाता है।

यह छः प्रकार के क्रियाकाल आयुर्वेद त्रिदोष सिद्धांत के सम्बन्ध में विवरण किया गया। इन त्रिदोष के प्रकोप का कारण अहिताहार विहार अथवा काल आगंतुक कृमि विषादि से सम्बन्धित हो सकते हैं। आधुनिक मतानुसार वैरस (Virus) नाम का ‘सूक्ष्म कृमि पदार्थ’ कारण भूत समझा जाता है। यह कोई सूक्ष्म दर्शन [Microscope] यन्त्र की सहायता से दिखाई देने वाला नहीं है किन्तु रोगियों के कफ, मल, नाड़ीगत द्रव इनका संसर्ग व्याधि संक्रमण का कारण होता है ऐसा विदित हुआ है। ऐसा कृमि का कारण वह बतलाते हैं। दोष ही कारण भूत प्रधान अंग है यह निरूपण करना आयुर्वेदज्ञों का कर्तव्य है। कृमि दोष के कारण होते हैं ऐसा आयुर्वेद मानता है परन्तु पक्षबध रोग कृमि के कारण उत्पन्न होता है ऐसा कहीं विवरण नहीं है और



न अब हम सिद्धांतीकरण कर सकते हैं। इस व्याधि के कारण भूत 'वैरस' जितना अदृश्य पदार्थ लक्ष्णैक वैद्य होता है उसी प्रकार दोष भी गुण कृत्य विकारों से ग्राह्य होते हैं।

रोग क्रियाकाल के सदृश्य रोग निवृत्ति में कृमि भी अवस्थांतर पाते हैं। उनको निम्न प्रकार संकेत कर सकते हैं—

१—कृमि-शरीर 'वैरस' शरीर में प्रवेश होना।

२—वह शरीर में वृद्धि पाना। यह दोनों दोष संचय प्रकोप के तुल्य हैं।

३—बढ़े हुए कृमि रक्त मार्ग अथवा नाड़ी मार्ग अथवा अन्य मार्ग द्वारा व्याप्त होकर शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में प्रवेश करना—यह प्रसर रूप है।

४—प्रवेश पाये अङ्ग प्रत्यङ्गों में कृमि अपने अनुकूल स्थान में स्थिर होना। यह स्थान संश्रय है।

५—वे स्थिर हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग अथवा आशय अथवा धातु, मल इनको विकृत करके उनमें संबन्धित रोग लक्षण प्रकट करना यह व्यक्ति भाव रूप है।

६—उनके संबन्धित कृमि हर चिकित्सा से अथवा कृमि बल के ह्रास होने पर रोग का बल कम होकर रोग शमन होना। रोग शमन होने के बाद कुछ काल तक संबंधित कृमि मल द्वारा बाहर निकलते रहते हैं। कृमि बल अधिक रहकर रोग प्रबल हो जाये तो उपद्रवारिष्ट लक्षण उत्पन्न होकर अङ्ग वैकल्य संप्राप्त करके दीर्घ काल में शमन होता है अथवा रोग असाध्य बनकर रोगी यमसदन को प्रयाण करता है। यह भेद रूप है।

इससे पहले कृमिसंसर्ग एक कारण बतलाया गया है। हो सकता है किन्तु आयुर्वेद मतानुसार उसको उपादान कारण ही ग्रहण करके दोषों को प्राधान्यता देनी होगी।

दोषेभ्य एवाति दुष्टेभ्योन्योन्य मूर्ध्नात् कोद्रवेभ्यो विषत्येव पदमस्तामस्य संभवम्।

अर्थात् दोषों के परस्पर सम्मूर्धन से उत्पन्न

आम विष ही इस रोग को उत्पन्न करने में समर्थ है। आहार की दुष्टि कृमि संसर्ग से हो अथवा आम विष से हो संप्राप्त व्यान वात दुष्टि, उससे घटित कर्मेन्द्रियादि का बध, इन्द्रियाश्रित होने से पूर्व विवरण किये अनुसार बालग्रह दोष इनमें पाया जाता है। परन्तु "ग्रहावेश, भूतावेश ऐसे शब्द अवैज्ञानिक हैं, मूढ़गणों का असंबद्ध प्रलाप है। और वास्तवमें न भूत है न प्रेत उनका अस्तित्व अंध विश्वास भ्रम मूल जन्य है" ऐसा तिरस्कार करने वाले आधुनिक वैद्य कई हैं। यह प्रत्यक्षवादी सज्जन जीव, आत्मा, परमात्मा के अस्तित्व को निस्संकोच मानते हैं तो इन अशरीरियों (Spirits) के अस्तित्व को मानना चाहिये। इस भौतिक शरीर के पतन से ही हमारा अस्तित्व नहीं मिटता। आत्मा अजर, अमर है। इस शरीर पतन के पश्चात् भोग कर्म वासनाओं को साथ लेकर जीव संचार करता है और अपने कर्मानुसार योग्य शरीर लेकर जन्म लेता है। कोई कोई कुछ समय तक ग्रह भूत इत्यादि अशरीरि स्थिति में रहकर अपने रज और तामसिक स्वभाव के अनुसार इह लोक से सम्बन्ध रखकर प्रवृत्त होते हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति जिनका मनोबल (will power) दृढ़ न हो उनको अपने बस में लाकर उनके द्वारा अपनी कामवासना की तृप्ति पाते हैं। आयुर्वेद के अष्टांगों में 'ग्रह चिकित्सा' भी एक अङ्ग है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय दर्शी ऋषिगण ने इनके बारे में पर्याप्त रिसर्च (परिशोधन) करके उनकी उत्पत्ति, रूप, गुण, भेद संख्या, आविष्ट होने के कारण, उनको पहचानने के उपाय, निरोध और निवारण के मार्ग विस्तारपूर्वक अपने अपने (कश्यप, सुश्रुत, वाग्भट आदि) तंत्रों में विवरण किए हैं।

सुश्रुत उत्तर तंत्र ६० वें अध्याय में अमानुषोपसर्ग प्रतिषेधाध्याय में 'क्षतातुर नित्य निशाचरों से संरक्षित होना चाहिये' कहकर पूर्वोक्त वाक्य का विवरण करते हैं। पहले अमानुषग्रह क्या हैं इसका वर्णन प्रारम्भ करके आगे आने वाला जो गुह्य ज्ञान है उसको बतलाते हैं। अनवस्थित्व अर्थात् एक

स्थल में न रहना, असह्यनशील चेष्टायें जिस पुरुष में पाई जाती हैं उसको ग्रहावेसित समझना चाहिये। ऐसी सूचना देते हैं। बधगात्र अथवा बधरहित अशुच, अयोग्य मर्यादा युक्त पुरुष (अभुज्य पदार्थ का भोजन, अभोग्य का सेवन इत्यादि) को सताने अथवा क्रीड़ा, बिनोदार्थ अथवा सत्कार (भोज, पूजा, आराधन) पाने के उद्देश्य से हिंसा देते रहते हैं।

इन ग्रहों के परिचारकों की संख्या सहस्र कोटी, उसके दसगुना, और उसके दसगुना ऐसा असंख्य होकर रक्त, वसा, मांस को भोजन करते हुये रात्रिकाल में घूमने वाले मानवों को आवेश करते हैं—

तेषाम् ग्रहाणां परिचाकाये कोटिः सहस्रायुत पद्म संख्याः। असृग् वसा मांस भुजः सुभोमा निशा विहाराश्च-
तमा विशन्ति ॥ —सु. उ. ६०-२२

इससे अनुमान होता है कि हमारे लोग सूक्ष्म दर्शनी (Microscope), दूरदर्शनी (Telescope) इत्यादि की सहायता से दूर स्थित जिन सूक्ष्म कृमि पदार्थों को देख रहे हैं वे सब सहस्रायुत पद्म कोटि संख्या में उपस्थित ग्रहाधिपतियों के अनुचर भृत्य-दास-सेवक उपसेवक रूप में रहने वालों में असंख्यक गणना में रहने वाले यह कृमि ही हैं और यह साधारण दृष्टि (with naked eye) को गोचर न होके बाधा देते हैं। यह आगं-तुकरूप में वायु, जल, आहार पदार्थों द्वारा शरीर में प्रवेश पाकर प्राणि कोटि को व्याधि रूप में हिंसा देते हैं।

इसी कारण पोलियों रोग को उत्पन्न करने वाले जो सूक्ष्म क्रिमि (virus) हैं वे स्कन्द ग्रह के गणाधिपतियों के अनुचर, सहचर, सेवक, उपसेवक रूप में रहने वाले कोटि सहस्रायुत पद्म संख्या में रहने वाले यह सूक्ष्म प्राणी ही हैं और यही भूत विद्या में ग्रह, निशाचर, राक्षस, भूत आदि हैं।

भूत विद्या (Spirituality) के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में अधिक अभिरुचि उत्पन्न हुई

है। परिशोधन कार्य भी जोरों से चल रहा है। मरे हुए प्रेतों को मीडिया (Media) अथवा प्लॉक्लेट (planchet) पर बुलाकर वार्तालाप करते हैं। हमारे पूर्वज इस विद्या में ऊहातीत प्रगति कर चुके थे। शास्त्र बहुत कुछ लुप्त हो गया है और जो कुछ अविशिष्ट है अभ्यासी न होने के कारण मंत्र आदि प्रक्रियाओं का मर्म दुर्भेद्य हो गया है। आशा है भविष्य में इसकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खोज करके अमूल्य सत्य रत्नों को शास्त्र गर्भ से उत्पादन करेंगे।

चिकित्सा विधान—

इस रोग को समग्र रूप से चिकित्सा प्रदान करना है। अतः प्रणाली को पांच भागों में विभाजित करते हैं (१) कृमि हर (२) ज्वर हर (३) बात हर, बल्य (४) मूर्च्छाहर, स्मृति कर (५) ग्रह हर।

(१) क्रिमि हर—व्याधि संक्रमण होने का संदेह होने के तुरन्त बाद कंठ कुहर में स्थित होने के समय में क्रिमी हर क्वाथ द्रव्यों से गंडूष करायें। इसके लिए त्रिफला, हल्दी, निम्ब पुष्प, चिरायता इनका क्वाथ बाह्य और आभ्यंतर प्रयोग के लिए हितकर है। क्रिमिहर गुण वाले रसायन तौर से काम करने वाले पारद के प्रयोग श्रेष्ठ हैं। रसकपूर, मकरध्वज, पूर्णचन्द्रोदय, श्वेतसिंदूर उपयोग कर सकते हैं। संक्रामक रोगों (Epidemics, contagious diseases) में छूत से बचने के लिए जिन नियमों का पालन करना है अवलम्ब करें। रोगी को एकान्त स्थल (isolated place) में रखना, मल मूत्र की स्वच्छता, कपड़ों की परिशुभ्रता इत्यादि। सुषुम्नाद्रव में अधिक दबाव (pressure) होता है उसको घटाने के लिये आयुर्वेदोक्त तिक्त (Bitters) पित्त (Bile juice), गोरोचन, सूचिकाभरण आदि का प्रयोग करें।

(२) ज्वर हर—ज्वर हर द्रव्यों में शुद्ध बत्सनाभ, टंकण, तालक, मणिशिल इनको मुस्ता, पर्यटक, चिरायता आदि द्रव्यों के क्वाथ अनुपान में



रखकर सेवन कराना हितकर है ।

(३) वातहर, बल्य—वातहर द्रव्यों में स्नायु शिरायों को बल प्रदान करके वात को हरने वाले द्रव्यों में कुचला श्रेष्ठ है । रसकपूर, पाषाण आदि का भी युक्ति और कुशलता से प्रयोग करके विजय पाते हैं । दशमूल, अश्वगंध आदि के अरिष्ट, रास्नादि, देवदारुवादि काथ, शतावरी, क्षीर बला इत्यादि घृत का सेवन, नारायण, माष, विषगर्भ आदि तैलों का बाह्य प्रयोग कराना श्रेष्ठ है । वात में बस्ति का प्रयोग प्रधान है । साबुन, ग्लिसरिन, एरंड तैल, मधु तैल की बस्ति देना हितकर है ।

(४) मूर्छाहर, स्मृतिकर—भैरवी, शीतांशु, लवंग आदि को पानी में घिस कर आंखों में लगाना, शिरीष के बीज, त्रिकटु, नकल्लिकनी, कड़वी तुंबी का रस, परमैंगनेट आदि का नस्य कराने से मूर्छा दूर होती है । धतूरे के बीज, स्वर्ण भस्म, अंबर, कस्तूरी, शुद्ध मल्ल आदि को रोगी को होश में लाने के लिए युक्ति से प्रयोग में लायें ।

(५) ग्रह हर—इससे पहले ही कहा गया है कि यह पोलियो व्याधि स्कन्द (कुमार) ग्रहजुष्ट आमय है । इस आंगतुल्य रोग परिहरणार्थ धूप देना, घृताभ्यंग कराना, मंत्रोच्चारण कराना, जप हवन आदि कराना, बलि देना, रक्षा (तावीज) बांधना, घृतपान कराना हितकर हैं ।

१. गोशृंगादि धूप—गाय का सींग, बाल, पुच्छ सांप की खाल, बिल्ली की विष्टा, नीम का पत्ता, नीम का तैल, कुटकी, मदनफल, कटेली छोटी, बड़ा बिनौला, यव, मेंढी के बाल, देवदारु, रायें, मोर का पंख, श्रीवेष्ट, मनुष्य के सिर के बाल, हींग—इन तमाम द्रव्यों को मिट्टी के पात्र में डाल कर उसमें मेंढी का मूत्र डाल कर सुखालें । पश्चात् कूटकर चूर्ण बनालें यह सब प्रकार की ग्रह बाधाओं में धूप देने के लिए प्रयोग करें ।

२. फल घृत, सारिवादिघृत, रास्नादिघृत का उपयोग हितकर है ।

३. लाल फूल, लाल भंडे, लाल गंध, अनेक प्रकार के मद्य, घंटी, लाल मुर्गे इनको कुमारस्वामी (सुब्रह्मण्य स्वामी) के मंदिर के पास लेजा कर निम्नोक्त मंत्र पठन करके बलि दें—

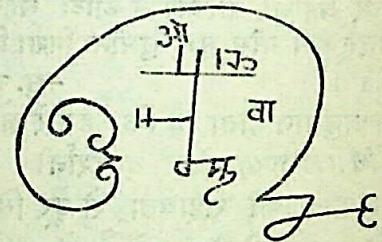
नमः स्कंदाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः ।

शिरसात्वाभि संदेरहं प्रतिग्रह्णीष्व मे बलिम् ॥

नोऽजो निर्विकारश्च शिशुर्मे जायताम् हतम् ॥

मंत्रार्थ—ग्रहाधिपति स्कंद देव को नमस्कार करते हैं । हे स्कंद देव तुमको शिर से बन्दन कर रहा हूँ । मेरे दिये बलि को ग्रहण करो । मेरे शिशु का रोग दूर कर निर्विकार रहने का अनुग्रह कीजिये ।

४. रक्षा—निम्न यन्त्र को ताम्र पत्र पर लिख



चित्र नं० १२५—यन्त्र

कर लाल फूल, कुंकुम, अक्षत, गन्ध, ताम्बूल, दक्षिणा से पूजा करके नारेल अण्डे की बलि समर्पण कर रविवार अथवा गुरुवार के दिन लाल धागे से कपड़े [रेशमी] की थैली में सींकर बच्चे के गले में डालें ।

(५) बिल्व, शमी, कवित, क्षीर वृक्षों के पट और पत्ते पानी में डालकर खूब उबालें । कवोष्ण रहते रात में ग्रहाविष्ट शिशुओं को स्नान करावें ।

(६) सात कुओं के पानी से स्नान करावें ।

अनुभूत चिकित्सा प्रयोग सारणी—

वात को अनुलोमन बनाने के लिये दशमूल काथ, एरंड तैल मिश्रित की वस्ति बहुत उपयोगी है । धन्वन्तरि तैल, अर्क क्षीर तैल, कुचले का तैल इनमें से किसी एक से बंध

भागों को अच्छी तरह विधि विधानपूर्वक
मालिश करके निर्गुण्डी के पत्तों से, आक पत्रों
से चपनाह दें। नमक, मैगसल्फ को तबे पर भून
के सेकें। वात गजांकुश, महावातविध्वंसक रस,
कनक सुन्दर रस, वातराक्षस, सूतिका भरण रस
समभाग लेकर मकरध्वज, स्वर्णभस्म, कस्तूरी,
अम्बर, पावजर, जाफ्रान, भीमसेनी कपूर १७ अंश
में प्रत्येक मिलाकर निर्गुण्डी के रस में मर्दन करके
चने की दाल प्रमाण में मात्रा बनाकर अदरक के
रस अथवा पान के रस में मधु मिलाकर प्रयोग
करें। ज्वर को कम करके बध के आक्रमण से
रोकता है। पक्षाघात होने पर ऊपर की औषधि के
साथ लोह सब्बीर अथवा शंख, गोरी, सब्बीर का
मांस युक्ति से मिश्रण करके प्रयोग करने से आशा-
जनक लाभ होता है। मलबन्ध रहने पर आरग्व-
षादि काथ सेवन करावें। मांसक्षय होकर अङ्ग सूख
जाने पर निम्न तैलों का प्रयोग अत्यन्त लाभदा-
यक सिद्ध हुआ है—

[१] कुचले का तैल—५ सेर कुचले के बीज,
११ सेर इमली के पेड़ का त्वक् (छिलका), १ सेर
वच, १ सेर रास्ना—पाताल यन्त्र विधि से तैल
निकाल कर प्रयोग में लावें।

[२] मांस मिश्रित अर्क क्षीर तैल—अर्क मूल
अ रस, निर्गुण्डी रस, इमली पत्तों का रस, सरसों

का (कटु) तैल, बकरी का दूध ग्रहण करें। कबूतर
(जंगली हो तो श्रेष्ठ) का मांस :पावः सेर, एक सेर
पानी में खूब औटा के पृष्ठ भाग को निकालकर
इसमें ऊपर कहे गये रसों को तैल संयुक्तकर इसमें
मिलाकर पकावें। पश्चात् क्षीर मिलाकर तैल पक्क
विधि से पकालें। कपोत के स्थान में सफेद जंगली
कोआ भी काम में आता है। आवश्यकतानुसार
दशमूल, कस्तूरी, लशुन, निर्गुण्डी, मकरध्वज,
सर्पगन्धा, अर्जुन, खुरासानी अजवायन आदि
के सूचीवेध (Injections) भी सफलता से प्रयोग
कर सकते हैं। काडलिवर आयल, मधु, गोघृत,
बादाम तैल को मर्दन के कार्य में प्रयोग करें।

व्यास-संग्रह

पोलियो वात प्रधान व्याधि है। सूक्ष्म कृमि
अप्रधान निमित्त हैं। आयुर्वेदोक्त भूत [ग्रह]
शाखांतर्गत वर्णित कुमार ग्रहाधिपति का परिवार
ही यह अदृष्ट कृमि कोटी है। वे अशुच, अमङ्गल,
भ्रष्टाचार, पुरुषों पर आक्रमण करके सताते हैं।
इस व्याधि की चिकित्सा में दोषशमनार्थ वस्ति,
स्नेह स्वेदन, वात विध्वंशी, वात राक्षस, वातगजां-
कुश आदि का प्रयोग, ग्रहादि प्रकोप के दमनार्थ
मन्त्रोच्छ्रटन, जप, होम, रक्षा बन्धन, मङ्गल, पूजा,
बली आदि कर्माचरण प्रधान हैं।

—श्री के० पी० वर्धन

श्रीरामकृष्ण आयुर्वेदाश्रम, गदवाल (आन्ध्र प्रदेश)

शिशु पक्षाघात और उसका प्रतिकार

आचार्य डा० श्री श्यामदास 'पीयूषपाणि'



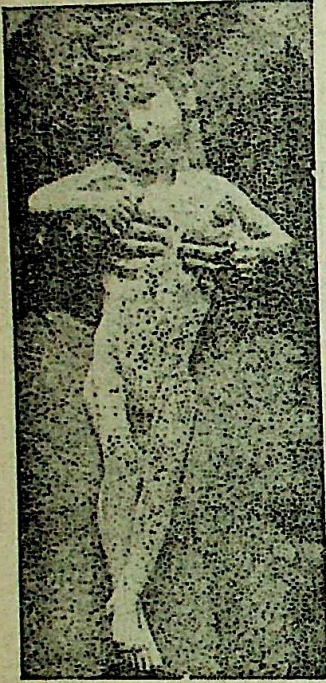
यह खास करके शिशुओं की मेरुमज्जा का
विकार है। ६-७ माह की आयु से लेकर २-३ वर्ष
वाले बच्चे ही इस रोग का शिकार हुआ करते हैं।
सबसे मेरु मज्जा की सामने वाली शृङ्ग यानी
'प्युटीरियर कारनुआ' ही विशेष रूप से आक्रान्त
हो जाती है।

सम्प्राप्ति—

इसकी उत्पत्ति का वास्तविक कारण आजतक
अज्ञात सा ही है। ठण्ड लगाना, सील व सर्दी वाले
स्थान पर रहन सहन, मेरुदंड पर आघात लगाना,
दन्तोद्गमन काल में विशेष विकार आदि कारण



जन्य, अथवा किसी आक्षेपोत्पादक उपसर्ग के कारण जन्य, आकस्मिक रूप से इतना कि चौबीस घंटों में शिशु पक्षाघात से ग्रसित हो सकता है। रोग के



चित्र नं० १२६

बालक के दोनों पैर मारे गये हैं

आक्रांत अङ्गपर कुछ न कुछ परिवर्तन दिखाई देता है परन्तु इस परिवर्तन के साथ ही साथ आक्रांत स्थान की मांस-पेशियां और तन्तु विधानों का अपचय घटने लगता है यानी यह कहिये सूख-सूख कर लकड़ी सी बन जाती है। इस दशा में उस स्थान पर सूई या कांटा आदि से चुभाने पर भी रोगी को कोई पीड़ा नहीं होती है।

आगे चलकर उस आक्रान्त स्थान की शीर्णाता के कारण उसके आसपास के अवयवों पर भी बुरा प्रभाव पड़ने लगता है। आक्रान्त स्थान अगर खास करके हाथ पैर आदि हों तो वह आकार में बक्रता व लुद्धता को प्राप्त होगा ही। इतना होने पर भी एक बात में हमें भरोसा नजर आता है कि यह

जीवन घातक नहीं, जो दीर्घकाल पर्यन्त शिशु को विकलांग अवस्था में रहने के लिये मजबूर कर देता है।

पाश्चात्य विवेचन—अमेरिकी चिकित्सा-शास्त्री वर्ग के अथक चिन्तन व अनुसंधान के परिणामसे अब यह आशा बंधती सी नजर आ रही है कि शिशु पक्षाघात और उससे होने वाले विकृतांग जैसी विषम विभीषिका को उसकी रोग प्रतिरोधक क्षमता अर्थात् 'इम्यूनिटी' बढ़ाकर रोका जा सकता है। इस आशय की आधारभूत यह खोज है जिससे पता चल गया कि शिशु पक्षाघात की आक्रमण स्थिति दो प्रकार की है। पहली स्थिति वह है जिसमें रोग का दूषित तत्व रक्तप्रवाह में वर्तमान रहता हुआ भी विशेष हानिकारक नहीं होता। परन्तु दूसरी स्थिति में वह ज्ञान तन्तुओं में सर्वत्र फैलकर भयानक रूप दे सकता है।

शिशु पक्षाघात की इन द्विविध स्थितियों के पता लगाने वाले जो दो व्यक्तियों को इसका श्रेय मिला है, उनमें से पहले व्यक्ति का नाम है डा० डोरोथी एम, होस्टमैन जो न्यूहेवट (कनेटिक) के. येल. मेडीकल कालिज के रोग निवारण विज्ञान के सहायक अध्यापक हैं। दूसरे डा० डेविड बोडिन हैं जो मेरीलैंड प्रान्त के बाल्टिमोर शहर में जौन्स होफकिन्स विश्वविद्यालय के संक्रामक रोग विज्ञान के प्राध्यापक हैं।

इस रोग का संक्रमण खास करके नासामार्ग और मुखमार्ग द्वारा मानव व मानवोत्तर जीवधारियों में हुआ करता है। यह एक प्रकार का अणु विष है। प्रारम्भिक परीक्षण के सिलसिले में उक्त अन्वेषकों ने चिम्पैंजी तथा अन्य समजातीय बन्दरों पर प्रयोग करके आखिर उसका परिणाम निर्णय किया। बन्दरों के भोजन पदार्थ में पूर्वोक्त "अणु-विष" मिलाकर उसकी प्रतिक्रिया आदि पर विशेष गवेषणा करके उन्होंने यह बताया कि रोग लक्षण या कोई भी विकृति तब तक दिखाई



शिशुरोगाङ्कः

ही देती है जब तक कि रक्तप्रवाह में “दूषिततत्व” न रहता हो। परीक्षण प्रमाण से उन्होंने यह देह करके दिखाया कि रक्तप्रवाह में ‘अणुविष’ रहते हुए भी रोग लक्षण सामान्यतया प्रकट नहीं हुये और अगर हुए भी तो बहुत ही कम परिमाण में प्रतीत हुए। यह रोग की पहली प्रतीति थी। तीन से सात दिन तक रक्तप्रवाह में प्रसिद्ध करने के पश्चात् ये सैलानी कुदरतजादी ‘अणुविष’ अपने मन माफिक मेरुदण्ड यानी पीठ के पास नामक स्थान तथा चैतन्य विधायिनी स्नायु तथा तन्तु जालों में प्रविष्ट हो, न जाने कैसे और क्या गुल खिलाती हैं जिसके परिणाम में पक्षाघात की पर्दा और ओढ़नी ओढ़कर बेचारे बच्चों को अपनी अंधेरी गोद में समेट लेती है। यह है दूसरी स्थिति।

परीक्षण के सिलसिले में एक उल्लेखनीय खोज यह हुई कि रोग की पहिली स्थिति में जबकि अणु-विष रक्तप्रवाह में मौजूद रहते हुए जब उन पर खूब पाने के लिये रोग प्रतिरोधक जीवाणुओं (प्रतिकार्यों) को जमाने की ताकत रक्त में मौजूद हो तो रोगाणु चेतन तन्तु समूह में प्रविष्ट नहीं हुए और किसी प्रकार की विकृति या अङ्ग-भङ्ग [विकलाङ्गता] नहीं आई।

चूंकि शिशु पक्षाघात की पहिली स्थिति में मामूली से मामूली अथवा विशेष कोई भी लक्षण नहीं कहने में आया है। इसलिये इससे पहले यह नहीं मालूम था कि ये अणु विष रक्तप्रवाह में भी प्रविष्ट हो सकते हैं। इस पर दोनों अन्वेषकों ने यह प्रमाणित किया कि प्रारंभिक दशा में ये अणुविष रक्त के अन्दर बहुतायत से रहते हैं और रक्त में उन रोगाणुओं को निष्क्रिय करने के लिये अपेक्षित प्रतिकार्योत्पादक प्रतिक्रिया नहीं आ जाती है तो जानवरों में वैक्सिन (Vaccine) प्रविष्ट कराकर उन अणुविषों को ज्ञान तन्तु के अन्दर पहुंचने व रक्त से रोका जा सकता है। तथा कथित वैक्सिन बनाने के लिए कुछ अंश में उस रोगमुक्त शिशु के

शोणित का होना अत्यावश्यक है, जो हाल ही में शिशु-पक्षाघात से आरोग्य प्राप्त कर चुका हो। फिर यह भी भलीभांति जांच कर लेना चाहिए कि उस रक्त के अन्दर प्रतिरोधक शक्ति पूर्णतया मौजूद है।

शिशु पक्षाघात और उसके परिणाम—

विकृताङ्ग का प्रतिकार—

पूर्वोक्त प्रयोग-परीक्षणों के आधार पर वैज्ञानिकों में यह विश्वास होने लगा है कि मानव-रक्त से बनाई गई यह वैक्सिन यदि सामान्य मान दंड में सहन-शक्ति के अनुकूल प्रतिक्रिया से सम्पूर्ण स्वतन्त्र तरीके से बन सके तो आज के युग में ‘पोलिओ’ से ग्रसित शिशुओं को जीवन दान देना आसान हो जायगा।

उन दोनों अन्वेषकों की रिपोर्ट में कहा गया है, कि पक्षाघात के प्रारम्भ में होनेवाला मेरु-मज्जा का प्रदाह यानी “पोलिओ न्यूराइटिस” को उस रोग-प्रतिरोधक प्रयोग द्वारा रोका जा सकता है।

अमेरिका में एक निष्काम सेवा के आधार पर बनी हुई राष्ट्रीय अनुसंधान संस्था है जिसका ध्येय केवल चिकित्सा सम्बन्धी शोध संस्कार पर सेवा करना है। यह संस्था दीर्घ समय से मानव रक्त में उपलब्ध “गामा ग्लोब्यूलिन (Gama globulin)” तत्व के बड़े पैमाने पर प्रयोग परीक्षण कार्य में संलग्न है। एक से छः वर्ष के बच्चों पर इसका सबसे पहला परीक्षण टेक्सास प्रान्त स्थित हौस्टन नगर में जून सन् १९५२ ई० को किया गया था। ७५००० शिशुओं में से ३७५०० को “गामाग्लोब्यूलिन के टीके लगाये गये और शेष शिशुओं को गामा-ग्लोब्यूलिन से मिलती जुलती जिलेटिन से बने हुए इन्जेक्शन दिये गये थे।

छः माह के बाद जांच पड़ताल से पता लगाया गया कि गामाग्लोब्यूलिन से बने टीके के लगाने से पोलिओ जनित उपसर्ग खास करके विकलाङ्गता के नामोनिशान मिटाने में कोई कमी तो नहीं रही। एक से छः वर्ष की आयु वाले बच्चों को इसीलिए चुना



गया था क्योंकि पोलियों के ५० प्रतिशत रोगी इसी आयु के होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि पोलियो के वाहन व विस्तारक इन अणु विषों के प्रभाव से उत्पन्न उपसर्ग जो ज्ञान तन्तु का अपचय कहलाता है का कोई महत्वपूर्ण खास प्रतिकार नहीं है।

इसलिए विषाणुओं को मेरुदण्ड व मस्तिष्क ज्ञान तन्तुओं तक पहुंचाने से पहले ही रोक-थाम की जरूरत होती है। उन दोनों अन्वेषकों का कथन है कि ऐसे भयानक परिणाम के उत्पन्न करने वाले रोग के शिकार: खास करके छोटे छोटे बाल गोपालों को उसके काले करतूतों से स्वतन्त्र रखने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। क्योंकि बहुत से व्यक्ति उस समय जबकि यह बीमारी निरापद स्थिति में रहती है प्रतिक्रिया शक्तियों के भंडार बन जाते हैं।

डाक्टर वोडियन की कुछ वर्ष से पहले यह भविष्यवाणी थी कि जहां तक सम्भव हो सकेगा एक ऐसे रोग प्रतिरोधक व आरोग्यदायक टीके का निर्माण किया जायगा जो किसी भी व्यक्ति के रक्त में प्रविष्ट होकर रोग प्रतिकारात्मक शक्ति के उत्पन्न करते हुए पोलियो और उससे होने वाले उपसर्गों का प्रतिकार सम्भव बना देगा।

पहले ही बताया गया है कि इस रोग का प्रमुख कारण अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुविष है जो नासा मार्ग और मुख-मार्ग द्वारा शरीर के बाहर प्रसारित होता है।

मक्खियों द्वारा भी यह रोग तेज रफ्तार से फैल जाता है

लक्षण -

प्रारम्भिक स्थिति में ज्वर के साथ सिर: पीड़ा, नाक का बहना तथा कभी कभी नाक में से खून आना और गर्दन में पीड़ा यन्त्रणा होना देखने में आया है।

रोग का असर अच्छी तरह से हो जाने के बाद ये लक्षण दिखाई देते हैं। शरीर के किसी भी अवयव में खास करके टांगों में पक्षाघात हो जाना अवश्य-म्भावी है। ऐसी हालत में बच्चे बहुत वैचेन रहते हैं। नींद कतई न आवे। इसी हालत में अधिक समय व्यतीत होने पर बच्चे का जीवन खतरे में पड़ जाता है, अचानक मृत्यु भी हो सकती है।

प्रतिषेधक उपाय—

(१) बच्चों में इस रोग का होना समझ में आते ही इसकी सूचना सबसे समीप वाले राजकीय चिकित्सालय को भेजना अथवा निकटस्थ नगर-पालिका के अधिकारी को किम्बा जन स्वास्थ्य विभाग से सीधा सम्पर्क करने की भरकस कोशिश करनी चाहिए।

(२) यदि रोगी को घर पर ही रखना अभि-प्रेत हो तो उसे तीन सप्ताह पर्यन्त स्वच्छ हवादार कमरे में रखना जरूरी है। ऐसे रोग ग्रस्त बच्चे के सम्पर्क में कोई भी बच्चा आ न सके इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बयस्क व्यक्तियों को भी जहां तक हो सके उस रोगी के सम्पर्क से दूर रहना चाहिये।

(३) यदि सम्भव हो तो रोग का पता लगते ही फौरन ही किसी विद्वान चिकित्सक के आदेशानुसार चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था करना अत्यावश्यक है।

(४) रोगी के मल-मूत्र, कफादि तथा जूठे बर्तनों और व्यवहृत वस्त्रादि पर फिनाईल, डी. डी. टी. अथवा ऐसी ही जीवाणुनाशक औषधि का घोल छिड़क देना जरूरी है ताकि मक्खियों और जन्तुओं द्वारा इसका पुनः संक्रमण न हो जावे। पर्याप्त परिमाण में इन औषधियों के घोल व बुर्की का प्रयोग रोगी के इर्द-गिर्द करना चाहिए।

(५) रोगी के काम में आने वाली सारी वस्तुओं जैसे वर्तन, चम्मच, थाली, तश्तरी, लोटा आदि अच्छी तरह से साफ करके धो लेने के बाद १५-२०



शिशु रोगाङ्कः

थोड़ा लौलते पानी में डूबो कर रखें ।

(६) रोगी की सुश्रुषा करने वाले तथा उसके बालों को इस रोग के संक्रमण से बचाव का उपाय तरीका यह है कि पोट्टाशियम परमैंगेनेट के दाने या नमक पानी में डालकर उस पानी से दिन-रात में कई बार कुल्ली करें । या "पेट्रोल" अथवा "इलेक्ट्रोलाइटीक क्लोरीन" किम्बा भी औषधियों के घोल से कुल्ली करनी चाहिए ।

(७) रसोई घर वा भंडार की सारी चीजों को बर्तनों से अच्छूते बचाकर रखने की कोशिश करनी चाहिए । मिठाई आदि बाजारू चीजों को इस्तेमाल करना ऐसी हालत में मानो मौत को खत देना है । क्योंकि बाजारू चीजों पर बर्तनों का छत्ता सा बन जाता है । और उसके ऊपर धूल-मिट्टी और गर्द भी इकट्ठी होती हैं ।

(८) दुर्भाग्यवश किसी के घर पर इस रोग का प्रकोप हुआ हो, तो समस्त परिवार को ही थोड़ा थोड़ा पानी पीना लाजमी है ।

(९) बच्चों को नदी, तालाब, पोखर, झील और जहाँ भी जलाशय में नहाने के लिए मना ही कर दिया चाहिये ।

(१०) ज्यादा भीड़-भाड़ व जमघट होने वाली जगह जैसे सिनेमा, क्लब, घुड़दौड़, तथा स्वांग-आशा आदि देखने से बच्चों को नियन्त्रण में रखा जाय ।

(११) जहाँ तक सम्भव हो, अधिक से अधिक समय पर्यन्त प्रकाश व वायु युक्त स्थान ही बच्चों के लिए चुनना चाहिये ।

(१२) ऐसा कोई भी कार्य क्यों न हो जिससे थकवट मालूम दे, करना छोड़ दीजिए ।

(१३) ज्यादा गर्मी से आकर तत्काल ही

ठण्डा पानी पीना और नहाना ये दोनों ही गलत तरीके हैं ।

शिशु पक्षाघात के प्रतिकारेच्छु प्रत्येक व्यक्ति को उपरोक्त बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए ।

—आचार्य डा० श्री श्यामदास पीयूषपणि
सर्वोदय सेवाश्रम औषधालय,
दौगवां (बुलन्दशहर)

शिशु पक्षाघात पर सफल प्रयोग

१-काथ-सोंठ १ तोला, सम्भालू के पत्र १ तो० करंज की छाल १ तोला ।

इन तीनों को मिलाकर जौकुट कर ४८ तोले जल में काथ कर जल ६ तोला शेष रहने पर निथार कर शीशी में भरलें ।

मात्रा—३ मासे से १ तोला तक अवस्थानुसार उपयोग—प्रतिदिन २-३ बार आवश्यकतानुसार सेवन कराने से बालकों को होने वाले आक्षेपक वात में बहुत लाभ करता है ।

२-रसौषधि—वात गजांकुश रस २ भाग, शीतांशु रस २ भाग, ताम्र भस्म १ भाग ।

इन तीनों को एकत्र पीस कर शीशी में रखलें ।

मात्रा—आधी रत्ती से १ रत्ती अवस्थानुसार शहद के साथ ।

सेवन विधि—आवश्यकतानुसार दिन में २-३ बार । उपरोक्त काथ के अनुपान से देने से शीघ्र और आशातीत लाभ होता है ।

—श्री टी. लक्ष्मय्या, श्री वैक्टेश्वर आयुर्वेद
डिस्पेंसरी, ईस्माइलखां पेट
(मेडक) आंध्र



बालकों की यूका और लिच्चा

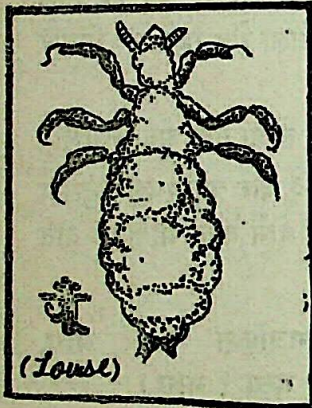
श्रीमती सावित्री देवी रावत शास्त्री आयुर्वेद रत्न



यूका व लिच्चा (जू) व लीख से शायद ही कोई व्यक्ति अपरिचित हो, ये अत्यन्त क्षोभकारक, कष्टदायक एवं रोगोत्पादक सूक्ष्म जीव हैं। इनकी उत्पत्ति, प्रसार, जीवन चक्र, रोगोत्पादकत्व और चिकित्सा जिस प्रकार बयस्क व्यक्तियों में होती है उसी प्रकार शिशुओं में भी जू व लीख की उत्पत्ति आदि होती है।

यूका व लिच्चा के लक्षण--

यूका (जू) एक प्राणि शरीर जीवि सूक्ष्म कृमि है और लिच्चा (लीख) जू के अण्डे होते हैं। इसकी ६ टांगें, और रो-दार दो स्पर्शिकायें आगे होती हैं जू के पैरों के अन्तिम भाग पर पञ्जे व नाखून होते हैं जिनके सहारे यह बालों को अच्छी तरह पकड़ लेती हैं। इसके मुख में रक्त चूषण नलिका होती है जिससे सूक्ष्म छिद्र



चित्र नं० १२७]

बनाकर शरीर से रक्त चूस लेती है।

लिच्चा (जू अण्डे)--

स्त्री यूका प्रतिदिन १०-१२ अण्डे देती है। इस प्रकार जू अपने ६ सप्ताह के जीवन काल में लगभग ३०० अण्डे देती हैं। ये अण्डे बालों में चिपके रहते हैं। ये ही अण्डे (लीखें) ८-१० दिन में बच्चे बन जाते हैं। और अपनी प्रकृति प्रदत्त रक्त चूषण क्रिया को सरलता से प्रारम्भ कर देते हैं। यही जू और लीख का जीवन चक्र है। इसका सूक्ष्म एवं तात्विक अध्ययन प्राणिशास्त्रज्ञों के लिये अधिक उपयोगी है। पाठकों के लिये संक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त है।

यूका के साधारण भेद--

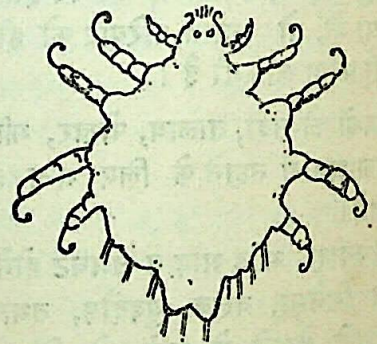
१—शिर की या केशों की जूएं।

२—शरीर की जूएं।

३—कपड़े की जूएं।

शिर की जूएं तथा अन्य जूएं--

इनकी उत्पत्ति का प्रमुख कारण शारीरिक मलों की अभिवृद्धि है। स्वच्छता का अभाव, तथा किसी दूसरे के वस्त्र व शरीर के संसर्ग से भी यूकायें चढ़ जाती हैं और अपनी सन्तति को बढ़ा देती हैं। इसके रंग भेद व आकृति भेद भी विभिन्न देशों व प्रांतों में मिलते हैं। आदमी के रंग व अधिष्ठान भेद से भी जू का रङ्ग बदल जाता है। अफ्रीका में काली



चित्र नं० १२८--लिच्चा (लीख)

और चाइनीज में 'पीली जू' प्राप्त होती हैं, भारत में काली भूरी व सफेद सभी प्रकार जू पायी जाती हैं। काले बालों में काली तथा सफेद बालों में सफेद या भूरी जू मिलती हैं। एक ही वस्त्र के निरन्तर पहनने, स्नान न करने, पसीना विशेष आने से और यूका युक्त दूसरे के पकड़े पहनने से एवं बाह्य मल की प्रधानता से यूकाओं की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि होती है। आयुर्वेद शास्त्र माधवनिदान तथा योग-रत्नाकर में भी निम्न प्रकार से कृमियों का वर्णन मिलता है—



कृमयस्तु द्विधाः प्रोक्ताः बाह्याभ्यन्तर भेदतः ।
बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः तिल प्रमाण संस्थान वर्णाः
केशाभ्रराश्रयाः बहु पादाश्च सूचमाश्च यकाः लिच्छाश्च
नामतः ।

कृमियों के विषय में चरक संहिता के विमान
स्थान में विशद वर्णन मिलता है—

तत्र बाह्ये मले जातान् मलजान् संचक्ष्महे, तेषां समु-
त्थानं मृजावर्जनम् स्थानं केश श्मश्रुलोम पक्ष्म वासांसि,
संस्थानम्—अणवस्तिलाकृतयो बहुपादाः वर्णाः कृष्णः
शुक्लश्च नामानि यूकाः पिपीलिकाश्च प्रभावः कण्डूजननं
कोष्ठ पिडकामिनिवर्तनं च, चिकित्सितं त्वेषां अपकर्षणं
पलोपधातो मलकराणाञ्च भावानामनुपसेवनम्, इति

—चरक विमान ७-१०

विंशतिः क्रिमिजातयः यूकाः पिपीलिकाश्च ।

—चरकसंहिता सूत्र ११-१४

महर्षि ने कितने सुन्दर शब्दों में बाह्य कृमियों
का वर्णन किया है और उनकी उत्पत्ति का प्रमुख
कारण मलिनता (गन्दगी) को बताया है। इनका
निवास स्थान केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम, पलक और
कपड़े बताये हैं। आकृति-तिल के बराबर, सूक्ष्म,
बहुत पैर वाले काले व सफेद रंग के कृमि जूँ (यूका)
और पिपीलिका होते हैं। इनके काटने का प्रभाव
खुजली, चकत्ते, फुंसी आदि की उत्पत्ति है और
इनकी चिकित्सा बारीक कंधी आदि से निकालना
या औषधि प्रयोग से निस्सारण, मलों का नाश
और मल के उत्पादक तत्वों का परिवर्जन है। यही
चिकित्सा आचार्य ने संचेप से प्रतिपादित की है।
पिपीलिका शब्द पर पुनः प्रकाश डाला जायगा ।
आचार्यों व ऋषियों का उक्त वर्णन सामान्यतया
सबके लिये है अतएव दाढ़ी मूँछ का भी उल्लेख
है शिशुओं के ये नहीं होतीं। यहां शिशुओं के बाह्य
कृमियों का ही ग्रहण करना चाहिये ।

यूका व लिच्छाओं से रोग—

यह तो पहिले ही बताया जा चुका है कि लिच्छा
(लीख) जूँ के अण्डे हैं और उन्हीं से जूँ की
उत्पत्ति होती है, अतएव इसका पृथक् वर्णन न

करके केवल जानकारी के लिये नामनिर्देश कर दिया
है। सभी आचार्यवयों ने भी यूका का ही विस्तृत
वर्णन किया है। इसी के वर्णन व चिकित्सा में लिच्छा
का भी अन्तर्भाव हो जाता है अतः निदान आदि
का पृथक् वर्णन नहीं किया जायगा ।

योग रत्नाकर में लिखा है—

द्विधा ते कोष्ठ पिटिका कण्डू गण्डान् प्रकुर्वते ।

अर्थात् ये दोनों प्रकार के कृमि ददोरे, फुंसी
खुजली और गलगाण्ड आदि रोगों को उत्पन्न
करते हैं ।

इनके अतिरिक्त दाद, छाजन, मोतीभरा, ज्वर,
रक्त विकार आदि रोगों को जूँ उत्पन्न कर देती
हैं तथा इन रोगों के प्रसार में सहायक भी होती हैं ।

कपड़ों की व शरीर की जूँ शिर की जूँओं
की अपेक्षा बड़ी व तेज भागने वाली होती हैं।
इनका निवास कपड़ों की सिलाई व जोड़ों पर होता
है। वहीं से उतर कर ये बालकों का रक्त चूस लेती
हैं और पुनः उन्हीं स्थानों पर छिप जाती हैं। इनका
आकार प्रकार व वर्ण मनुष्य के रंग रूप व वस्त्रों के
अनुरूप होता है। इनसे भी रक्त रोग उत्पन्न हो
जाते हैं ।

जूँओं का रोगोत्पादन क्रम—

जूँ जब काटती है तो रक्त चूसने के साथ
साथ रोगी के दोष भी जूँ के पेट में चले जाते हैं।
जब वह दूसरे व्यक्ति को काटती है तो उसके पैर
और पेट में चिपके कीटाणु या दोष काटने के
स्थान पर लग जाते हैं और अपना प्रभाव करते हैं।

कभी कभी कटि स्थान को खुजलाने से जूँ
मर जाती है और उसके पेट में विद्यमान रोग के
दोष दंश स्थान एवं घृष्ट स्थान पर प्रभावित हो
जाते हैं या शरीर के भिन्न भागों में आक्रिय
कीटाणु रोगोत्पादन में समर्थ हो जाते हैं। इसी
प्रकार जूँ नाना प्रकार के रोगों को फैलाती हैं।

जूँओं और लीखों की चिकित्सा—

शिर की जूँ और लीखों के लिए—



[१] रीठा के छिलकों को पानी में भिगो और उस पानी या भाग से शिर को धोयें। यह पानी आंखों में नहीं जाना चाहिये।

[२] शिकाकाई की पत्तियां, नीम की पत्तियां, इन्द्रायण के फल का गूदा, बन्दाल फल, त्रिफला, अंकोल की छाल, आड़ू की पत्तियां और अप-संतीन इनमें से किसी एक को लेकर पानी में भिगो दें। १०-१२ घण्टे पानी में भीगने पर मसल कर छान लें। इस पानी से बालों को रगड़कर धोने से जूँ और लीख समाप्त हो जाती हैं। सर्दी के दिनों में पानी गरम कर लेना चाहिये। आंखों और मुँह में पानी न जाय नहीं तो हानि हो सकती है।

[३] कच्चा पारा (अशुद्ध) १ तोला, सुहागा ६ मांशे इनको सरसों के तैल, बैसलीन या घृत में मिलाकर बालों में मर्दन करें और ऊपर से कपड़ा बांधें। इससे सभी बाह्य कृमि मर जाते हैं या बेहोश हो जाते हैं।

[४] लिक्विड पैराफीन का प्रयोग (लगाने के लिये) उत्तम है। तरे का तथा राई का तैल भी अन्य तैलों में मिलाकर सावधानी से प्रयोग किया जा संकता है।

[५] छोटे बालकों के लिये सौम्य औषधियों का प्रयोग हितावह है। तीक्ष्ण दवाइयां शिशुओं को सहन नहीं हो सकतीं। नीबू व संतरे के छिलकों का तैल भी अन्य तैलों में मिलाकर लगायें।

[६] पारद गन्धक की कज्जली घृत में मिलाकर लगाने से भी जूँ मर जाती हैं।

[७] शुद्ध जल से स्नान—कार्बोलिक साबुन का प्रयोग, तैल कपूर मर्दन, शुद्ध वस्त्रों का परिधान आदि पुनः जूँ को नहीं होने देते।

[८] शरीरज कृमियों पर भी उक्त दवाइयों का मर्दन करना चाहिये। इससे चर्न जूँ, भैंसा जूँ, किल्लियां आदि नष्ट हो जाती हैं।

[९] बालकों में उत्पन्न जूँ और लीखों के लिये नीम, चूना, सोडा, कार्बोलिक एसिड, फिनेल, ब्लीचिंग पाउडर, डी. डी. टी. पाउडर, पोदेश-

यम परमेंगेट आदि दवाइयां उचित मात्रा में पानी में उबालकर कपड़े भिगो दें। इनका प्रयोग किसी जानकार मनुष्य की सम्मति से करना चाहिये। कभी कभी उक्त चीजें घातक सिद्ध हुई हैं।

[१०] यूका नाशक शास्त्रीय प्रयोग—
पेषयेदारनालेन नाली चस्थेन फलानि च।
यूकालिच्चा प्रशान्त्यर्थं दद्यात्स्लेपन्तु मस्तके ॥१॥
रसेन्द्रेण समायुक्तो रसोधुस्तूर पत्रजः।
ताम्बूलपत्रजोवापि, लेपाद् यूका बिनाशनः ॥२॥
स बिडङ्ग गन्धक शिलासिद्ध

सुरभी जलेन कटु तैलम्।

आजन्म नयति नाशं

लिच्चासहिता यूकाश्च ॥३॥

धुस्तूर पत्र कल्केन तद्रसेन च साधिरं तैलम्।

अभ्यङ्गमात्रेण यूकां नाशयति ध्रुवम् ॥४॥

कूठ, कलिहारी, बिडङ्ग, खस, राल, बिरोजा, अर्जुन इनका चूर्ण बनाकर धूप देने से यूका लिच्चा आदि नष्ट होते हैं।

पारे को धतूरे के पत्तों के रस में घोटकर कपड़ा तर कर बांधने से जूँ और लीख नष्ट होते हैं।

चित्रकमूल, दन्तीमूल, कडुई तोरई और कडुई तुम्बी को कडुए तैल में पकाकर तैल को जूँओं पर पर लगाने से जूँ नष्ट हो जाते हैं।

कण्डे की राख मलने से तथा हवन (यज्ञ) की राख मलने से भी जूँ और लीखें मर जाती हैं।

—श्रीमती सावित्री देवी रावत वैद्या
साहित्य शास्त्री, आयुर्वेदरत्न, विद्यावाचस्पति
इन्द्र औषधालय, नाई की मण्डी, आगरा।

शिर के जूँ में सफल प्रयोग

बीज सीताफल १ तोला, कालीमिर्च ६ मांशे, धतूरे के पत्तों का रस १ छटांक।

विधि—इन सबको कूट धतूरे के पत्तों के रस में मिलाकर लेप करने से जूँ, लीख मर जाते हैं।

—श्रीमती शारदा देवी सलेथू
रायबरेली

न्यूमोनिया [Pneumonia]

श्री राजपाल सिंह M. I. M. S.

फेफड़े की शोथ को न्यूमोनिया (Pneumonia) कहते हैं। इसके कारण कई प्रकार के कृमि (जीवाणु) हो सकते हैं—

[१] न्यूमोकोकस (Pneumococcus)

[२] स्ट्रैप्टोकोकस बैसीलस

[३] बैसीलस पेस्टिस

[४] टाइफाइड बैसीलस

न्यूमोकोकल न्यूमोनिया -

न्यूमोकोकस—यह कोकस श्रेणी का कृमि है। यह ग्राम पोजीटिव है और मुख तथा गले में निवास करता है तथा श्वास प्रणाली के ऊपर के भाग में रहता है। ये निर्बल शरीर को रोग का शिकार बनाते हैं। ये कृमि खांसने, थूकने व बोलने पर स्राव के साथ बाहर निकलते हैं और ज्यादा देर तक जिन्दा नहीं रहते। यह कृमि बोलने और खांसने पर शीघ्र ही दूसरे व्यक्ति में निम्न प्रकार से प्रसार करता है—

[१] बलगम की प्खार द्वारा

[२] मक्खियों द्वारा

[३] कपड़ों के छूने से एक रोगी से अन्य में प्रसार होता है।

सम्प्राप्ति—

ये कृमि फुफ्फुस में पहुंचकर दोनों की शोथ या एक ही वायु प्रणाली (Bronchial) अथवा वायुकोष (Vesicle) में शोथ पैदा करते हैं।

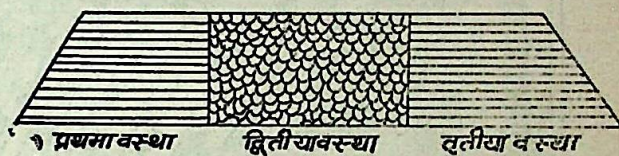
[१] वायुकोष की शोथ को लोबर न्यूमोनिया (Lobar pneumonia) कहते हैं।

[२] वायु प्रणाली शोथ को ब्रांको न्यूमोनिया (Broncho-pneumonia) कहते हैं।

लोबर न्यूमोनिया

इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—

[१] प्रथमावस्था—इसमें शोथ पतला [अल्प] होता है इसे शोथावस्था कहते हैं। [Exudation or congestive stage]



चित्र नं० १२६

[२] द्वितीयावस्था—जब शोथ जम जाये इसे घनीभूत अवस्था [Stage of consolidation] कहते हैं।

[३] तृतीयावस्था—जब फिर पतला हो जाये तो इसे उपशमन द्वावावस्था [Stage of resolution] कहते हैं।

इस प्रकार सारे रोग की अवधि ८ या ९ दिन की है। प्रथमावस्था की अवधि १ से १॥ दिन, द्वितीयावस्था की अवधि ७ से ८ दिन, तृतीयावस्था की अवधि १ से १॥ दिन।

यह शोथ फुफ्फुसावरण [Pleura] में फैलकर शोथ [Pleurisy] पैदा कर देता है जिससे पार्श्व-शूल पैदा हो जाता है।

कभी कभी यह पूय के पड़ने से भयानक हो जाता है।

उपद्रव -

(१) द्वितीयावस्था में कभी कभी ठोस ही रह जाता है।

[२] तृतीयावस्था में—जब शोथ स्राव बिलीन न हो तो उस अवस्था को चिरकालिक उपशमनावस्था [Delayed resolution] कहते हैं।

[३] कभी कभी फेफड़े के तन्तु नष्ट हो जायें तो इस अवस्था को फुफ्फुसीय कोथ [Pulmonary gangreen] कहते हैं।

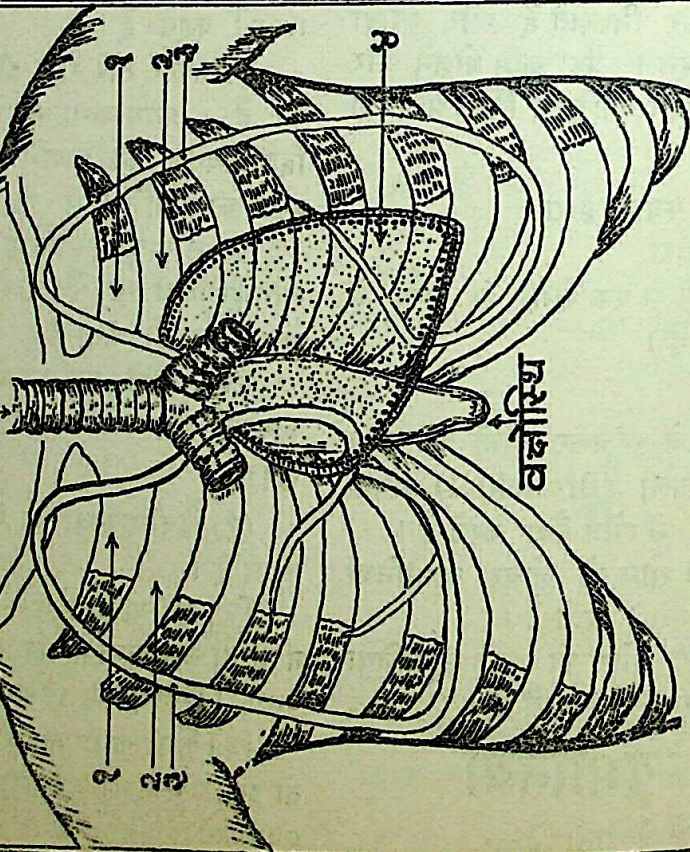
धन्वन्तरि—

(शिशु-रोगाह)

न्यूमेनियामें परीक्षार्थ अंगों का स्थान

अगला भाग

श्वास नलिका



वक्षोस्थि

हृदय की सीमा



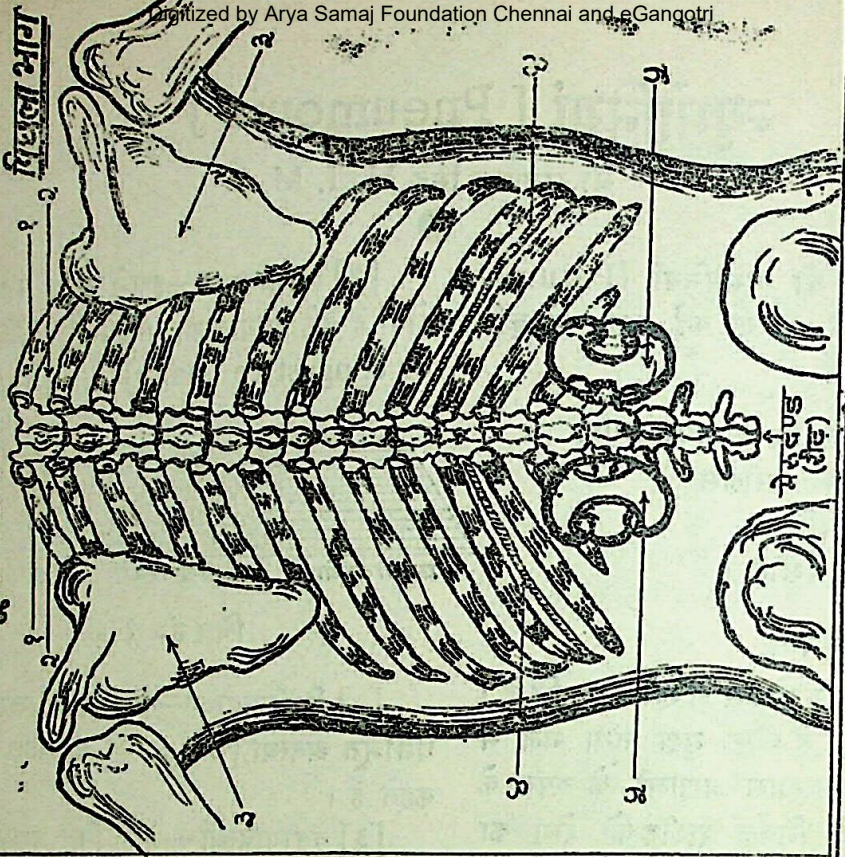
फुफुस की सीमा

चित्र नं. १३०

१-पहली पसली । २-खाली मांस (दो पसलियों के बीच का स्थान) । ३-फुफुस की सीमा । ४-हृदय की सीमा

न्यूमेनियामें परीक्षार्थ अंगों का स्थान

पिछला भाग



मेरुदण्ड (शरीर)

चित्र नं. १३१

१-पहली पसली । २-खाली मांस (दो पसलियों के बीच का स्थान) । ३-फुफुस की सीमा । ४-हृदय की सीमा



शिशिरोगाङ्कः

[४] कभी कभी छाव में पूयोत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था को फुफ्फुसीय विद्रधि [Pulmonary abscess] कहते हैं।

[५] न्यूमोकोकस विष पैदा करते हैं। इसका विष इन्डोटोक्सीन [Endotoxin] है। इससे विषसंचार [विषमयता] की अवस्था [Toxaemia] पैदा हो जाती है। यह विष मस्तिष्क तथा हृदय पर ज्यादा प्रभाव डालता है। अतः उन्माद अथवा हृदयावरोध [Dilirium or heart failure] की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

[६] रक्त में कृमि चले जायें तो जीवाणु विषता [Septicaemia] की अवस्था पैदा हो जाती है।

आक्रमण —

बसन्त व शिशिर ऋतु में अधिक तथा बच्चों पर ज्यादातर होता है।

काल [Incubation period]—७ से १० दिन का प्रायः रहता है।

सहायक कारण—

(१) जहां घनी आबादी होती है।

(२) सहसा ऋतु परिवर्तन, खुली वायु, सर्दी आदि।

(३) पहले किसी रोग के कारण दुर्बल हुआ शरीर।

लक्षण —

[१] रोग का आरंभ शीघ्रता से होता है। कुछ ही घंटों में न्यूमोनियां पूरा होजाता है। कभी कभी शुरू में कम्पन होता है।

[२] वक्ष में तीव्र वेदना—इसका कारण pleurisy होता है। शुष्क खांसी या पतला कफ खांसी के साथ आता है। रोगी निर्बल हो जाता है।

[३] पहले शोथ [Congestion] होने की वजह से खांसी शुष्क आती है।

[४] बाद में तुरन्त या देर से छाव [Exuda-

tion] होने से खांसी में कफ आने लगता है।

[५] ज्वर तथा इसके साथ साथ अन्य लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं यथा भूख मर जाना, निद्रा न आना, मूत्र गाढ़ा, राशि कम और त्वचा गर्म हो जाती है।

१—दर्शन परीक्षा—

शय्या पर रोगी निढाल पड़ा रहता है। चेहरे का रंग फीका, गालों पर कृत्रिम लालिमा अक्सर उसी ओर जिस ओर का फेफड़ा [affected] संक्रमित होता है। विशेषतया बच्चों में इस तरह के लक्षण मिलते हैं। नाक का सिरा नीला सा हो जाता, श्वास काठिन्य व नथुने हिलते हैं। पसली चलती हैं।

वक्षगति—श्वासगति तेज किन्तु उथली [Superficial and rapid], रोग ग्रस्त भाग की ओर शरीर अधिक झुका हुआ।

२—स्पर्शन परीक्षा—

१. श्वास उथला

२. वक्ष को दबाने पर कठोरता

३. वाचिक लहरियां [Vocal fermitus] अधिक [बोलने पर वक्ष की कम्पन को हाथ द्वारा मालूम करना]।

४. अगर फुफ्फुसावरण शोथ भी साथ हो तो Pleurisy प्लूरा का friction भी अनुभव होगा।

३—ठेपन (Percussion) परीक्षा—

प्रथम मन्द [Dull], यदि सघनत (Consolidation) है तो सम्पूर्ण बन्द (Featy dull) होगा। यदि तृतीयावस्था में भी मन्दता (Dull) हो तो न्यूमोनियां प्रायः नीचे के भाग (Lobe) में होता है। अतः इसका नाम Lobar pneumonia है। इसमें “डलनेस” निरन्तर रहती है।

ब्रांकोन्यूमोनियां (Broncho pneumonia) में विभाजित मन्दता (Patchy dullnes) होती है, निरन्तर नहीं होती, क्योंकि यह वायु प्रणाली के निचले सिरों पर होती है।



४-श्रवण परीक्षा (Auscultation)—

श्वसनीय [Bronchial] शब्द सुनाई देगा, सबसे अधिक दूसरी अवस्था में। यदि dullness बहुत ज्यादा हो तो शब्द बिलकुल सुनाई नहीं देगा।

अवास्तविक शब्द पैदा हो जाते हैं

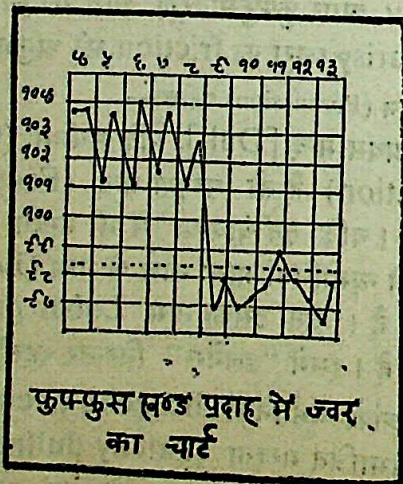
साव भरा रहने पर आवाज से द्रव में बुलबुले पैदा हो जाते हैं जिन्हें स्निग्धध्वनि [Creptations] कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—फाइन और कोर्स। न्यूमोनिया में सूक्ष्मआर्द्र करकराहट [Fine criptation] होगी। जिसमें कोटर [Cavity] होती है वहां तीव्र करकराहट [criptation] होती है।

कर्कराहट प्रथम तथा तृतीयावस्था में सुनाई देती है। द्वितीयावस्था में नहीं, क्योंकि इसमें शोथ साव जम जाता है।

अगर रक्त परीक्षा करें तो श्वेताणु बढ़े हुये मिलेंगे।

रोगी की बलगत प्रथम तथा तृतीयावस्था में पतली एवं द्वितीयावस्था में इतनी गाढ़ी हो जाती है कि थूक नहीं सकता। कभी रक्तयुक्तघीवन भी होता है।

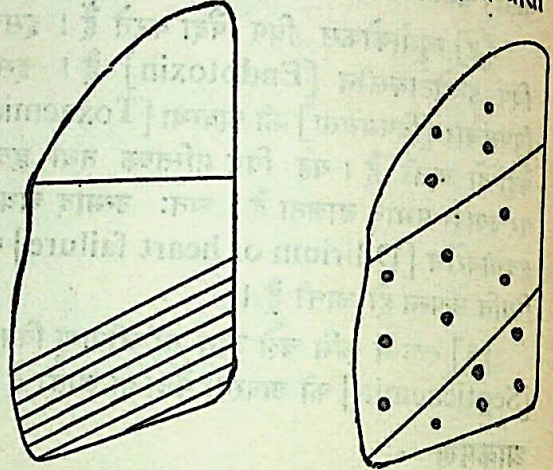
रोगी को ज्वर रहता है।



चित्र नं० १३२

अन्य लक्षण—

ज्वर सात दिन तक लगातार रहता है फिर आठवें रोज सहसा निम्न तथा निम्नतर होता जाता



चित्र नं० १३३

लोवर न्यूमोनियां
रेखादार भाग में संघनन
होगया है।

ब्रांको निमोनियां
(बिन्दुदार भाग)
संघनन रहित

है। कभी सात दिन के बीच सहसा उच्च हो जाता है। इसे तीव्र ज्वर (*Hyper pyrexia*) कहते हैं।

कभी कभी सात दिन के बीच में गिर जाता है इसे शीताङ्गता (*Collaps*) कहते हैं।

कभी आठवें दिन सहसा ज्वर गिरने के बजाय धीरे धीरे कम तापक्रम पर आता है।

कभी कभी मस्तिष्क तथा हृदय सम्बन्धी लक्षण पैदा हो जाते हैं। रोगी ज्ञानरहित, मूर्च्छित तथा शिरः शूल युक्त हो जाता है। यह हृदय गति तीव्र, निर्वलता, नाड़ी काठिन्य कम, गति तीव्र तथा तापमान सहसा गिर जाता है। रोगी की मृत्यु प्रायः विषाक्तता (*Toxaemia*) से होती है।

ब्रांको न्यूमोनियां

कारण—

जो लोवर न्यूमोनियां के हैं। विशेषता यह है कि इसमें मिश्रित संक्रमण होता है। इसमें न्यूमो-

शिशुरोगाङ्कः

कोकस के अलावा स्ट्रेप्टोकोकस तथा स्टेफिडोकोकस भी होते हैं। लोबर न्यूमोनिया प्राथमिक व्याधि है। ब्राङ्को न्यूमोनिया अनुगामी (Secondary Disease) है।

१—लोबर न्यूमोनिया में पास के वायु कोष सब संक्रमित होते हैं अतः पूरा भाग (Lobe) आक्रमित रहता है।

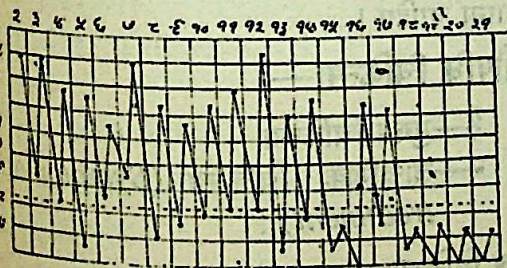
२—ब्राङ्को न्यूमोनिया में वायु प्रणालियां पृथक् २ आक्रांत होती हैं अतः शोथ अलग अलग होती है। बीच बीच में स्वस्थ स्थान होते हैं। बीच बीच में होने के कारण इसे खण्डीय (Patchy) न्यूमोनिया कहते हैं।

३—लोबर न्यूमोनिया में शोथ स्राव-जम जाता है। किन्तु ब्राङ्को न्यूमोनिया में द्रव ही रहता है। क्योंकि शोथस्राव नहीं जमता। और खाली स्थान में थोड़ा शोथ रहता है।

लोबर न्यूमोनिया तीव्र है किन्तु उतना घातक नहीं जितना ब्राङ्को न्यूमोनिया, क्योंकि ब्राङ्को न्यूमोनिया में पूरा फेफड़ा आक्रांत रहता है।

लक्षण—

ब्राङ्को न्यूमोनिया के लक्षण लोबरन्यूमोनिया से मिलते जुलते हैं परन्तु भेद निम्नलिखित हैं—



फुफुस नलिका प्रदाह में ज्वर का चार्ट

चित्र नं० १३४

लोबर में श्वास के अन्तःगमन बहिर्गमन दोनों में आर्द्र कर्कराहट बराबर होती है। ब्राङ्को न्यूमोनिया में शब्द वायु कोषजन्य (Vesicular) होता है। तर्गमार्ग में शोथ स्राव के कारण वायु गुजरती है तो शब्द होता है इसे ख (Ronchi) कहते हैं। यह वायु के आने जाने पर होता है। कर्कराहट की संख्या थोड़ी होती है।

ब्राङ्को न्यूमोनिया में कर्कराहट (Craulations) कभी भी लुप्त नहीं होती क्योंकि इसमें स्राव नहीं जमता। लोबर न्यूमोनिया की द्वितीयावस्था में आर्द्र कर्कराहट लुप्त हो जाती है।

ब्राङ्को न्यूमोनिया में वाचिक लहरियां और वाचक प्रति स्वनन ज्यादा नहीं होती।

ठेपन करने से ब्राङ्को न्यूमोनिया में थोड़े थोड़े स्थान पर मन्दता (Dullness) प्रतीत होती है।

ब्राङ्को न्यूमोनिया में श्वास सम्बन्धी कठिनाई ज्यादा होती है लोबर में नहीं होती।

ब्राङ्को में तापमान धीरे धीरे गिरता है।

लोबर में ज्वर निरन्तर रहने के बाद सहसा गिर जाता है।

लोबर तीव्र ज्यादा होता है किन्तु घातक नहीं होता। ब्राङ्को तीव्र नहीं किन्तु घातक होता है।

लोबर सहसा और कम्प (Rigor) युक्त होता है। ब्राङ्को धीरे धीरे और खांसी से प्रारम्भ होता है।

आयुर्वेद में न्यूमोनिया को कर्कटक सन्निपात के समान माना गया है जिसके लक्षण भावप्रकाश में निम्नलिखित हैं—

मध्यहीन प्रवृद्धैस्तु वातपित्तं कफश्च यः।

तेनरोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः॥

अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं सशक्यते।

रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम्॥

पित्तेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते।

इष्टुषोवाहतं पार्श्वतुष्यते खन्यते हृदि॥

प्रमीलक श्वास हिक्का वर्द्धन्ते तु दिने दिने।

जिह्वा दग्धाखरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः॥

विसर्गं नाभिजानाति कूजेष्वापि कपोतवत्।

अतीवश्लेष्मापूर्णाः शुष्कवक्त्रौष्ठ तालुकः ॥
तन्द्रा निद्राऽतियोगात्तो हतवाहनिदृत्युति।
न रति लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति ॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः।
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपात सुदारुणः ॥

अर्थात्—मध्यवात, हीन पित्त और प्रवृद्ध कफ इसके द्वारा जो सन्निपात होता है, उसमें दोषवला-नुसार लक्षण तो प्रकट होते ही हैं साथ ही विशेष रूप से अर्न्तदाह होता है, बोलने में असमर्थता होती है, अलक्तक की भांति मुख रक्तवर्ण (Flushed face) हो जाता है। श्लेष्मा आसानी से नहीं निकलता, पसलियों में बाण के चुभने की भांति पीड़ा होती है। प्रलाप (Delirium) श्वास कष्ट, हिक्का बढ़ती जाती है। जिह्वा जली हुई के समान तथा स्पर्श में खुरदरी हो जाती है। गले में कांटे पड़जाते हैं। मल मूत्रादि के निकलने का ज्ञान नहीं रहता, कबूतर के समान अस्फुट शब्द गले से निकलने लगता है। कण्ठ कफ से भरा रहता है तथा मुख ओष्ठ तालु सूखने लगते हैं। तन्द्रा निद्रा के अति आने से दुखी रहता है, वाक्शक्ति और कांति नष्ट हो जाती है। किसी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती, विपरीत चेष्टायें करता है, बार बार हाथ पैर को फैलाता है, थूक के साथ किञ्चिद् रक्तष्ठीवन होने लगता है। इन सब लक्षणों से युक्त इस भयंकर सन्निपात को कर्कटक कहते हैं। यह लक्षण रोग की तीव्रता की अवस्था के हैं।

चिकित्सा—

लोबर व त्रांको की शरीर रचना दृष्टि से विभि-न्नता है। चिकित्सा की दृष्टि से दोनों समान हैं। अतः विभिन्नता का विशेष महत्व नहीं है।

रोगी को पूर्ण विश्राम दें। बच्चे को आराम से लिटा दें। भोजन का विशेष प्रबन्ध रखें। द्रव भोजन दें। हृदय को शांति देने के लिए द्राक्षा शर्करा दें। इसमें साथ ही बड़े बच्चों को थोड़ा नमक भी दें। जल पर्याप्त दें। पीने के लिये निम्न प्रयोग

काम में लाया जाता है—

ग्लूकोज ४ ड्राम, सोडियमक्लोराइड ३० ग्रेन, उबाला हुआ जल २० औंस—इसे बोतल में भरकर रखलें तथा चम्मच से मुंह में डालते रहें। छोटे बच्चों को जिन्हें न्यूमोनिया के साथ अतिसार भी हो जाता है, अथवा उदर तनुत्व या अपचन हो तो १२ से २४ घण्टे तक बिना दुग्ध दिये उपरोक्त द्राक्षा लवण जल पर रक्खा जाये तो शीघ्र लाभ होता है।

विशेष चिकित्सा—

बच्चे को गर्म रखें जिससे शोथ न बढ़े और जमा शोथ साव पतला पड़ जाये। इसके लिये कैव-लीन पुल्टिस लगायें जो बाजार में भिन्न नामों से मिलती है यथा—एन्टी कन्जेस्टीन, एन्टीफ्लाजेस्टिन, एन्टीफ्लेविन आदि। छोटे बच्चों को सारी वच्चे पर एक ही कपड़ा न लगायें। प्लास्टर की तह बड़े बच्चों में मोटी और छोटे बच्चों में पतली तह लगावें। कपड़ा-लिट, आयलकाथ, आयल सिल्क अथवा खदर का कपड़ा प्रयुक्त किया जा सकता है। यह प्रथम द्वितीय अवस्था में लाभदायक है। एक बार लगाया हुआ १२ घण्टे तक लाभ देता है। तृतीय अवस्था में तारपीन का तैल अच्छा है। यह उड़ जाता है अतः लिनिमेंट टेरबिन्थ लगायें। इसे २-३ बार लगायें। इसके ऊपर सेक कर सकते हैं। यह छाले नहीं डालता। राई का प्लास्टर बच्चों में नहीं लगाना चाहिए।

औषधि चिकित्सा—

१—मुख्य चिकित्सा

२—लाक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic treatment)।

मुख्य चिकित्सा—

[१] पेनिसिलीन—सोडियम और प्रोकेन पेनी-सिलीन के रूप में प्राप्य है।

५ वर्ष की अवस्था के बच्चे में २ लाख यूनिट प्रोकेन पेनिसिलीन अथवा स्ट्रोप्टो पेनिसिलीन इन्जे-



शिशुरोगाङ्कः

अवस्था और भार के अनुसार प्रयोग किया जा सकता है। पेनसिलीन के द्वारा सहिष्णु रोगियों को कोमाईसीन द्वारा लाभ पहुंचता है।

[२] सल्फा ट्रीटमेंट-पेनिसिलीन के साथ साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से रोग की तीव्रता को देखते हुए इस ग्रुप की औषधियों का प्रयोग रोग में कार्यकारी होता है। सल्फापाईराईडीन १ से २ गोली + सोडा-बाई कार्ब के साथ मिलाकर ५ वर्ष की अवस्था वाले शिशु को ६४ घण्टे के अन्दर देना चाहिए। इसके अलावा सल्फाथायोजोल, सल्फा पाईराडीन, सल्फा-मेराजीन, थाईजामाईड इत्यादि में से कोई १ ग्राम की पूर्ण दिन मात्रा (*Initial dose*) के अनुसार ५ वर्ष के शिशुओं में प्रयोग किया जा सकता है।

पेनसिलीन और सल्फाग्रुप से फायदा न होने वाले जीवाणुसह्य (*resist*) रोग में जादुई जीवाणु नाशक (*Broad spectrum Antibiotics*) का प्रयोग किया जाता है। इन्हें तभी तक ही प्रयोग करें जब तक उबर रहता है और श्वेताणु की गिनती सामान्य नहीं हो जाती। ४८ से ७२ घण्टे के अन्दर ही ऐसी अवस्था आ जाती है। प्रमुख निम्न हैं—

(१) क्लोरटेट्रासाइक्लीन हाईड्रोक्लोराईड-आरियोमाइसीन (*Aureomycin*) के नाम से प्राप्त की जाती है।

(२) ओक्सिटेट्रासाइक्लीन हाईड्रोक्लोराईड-टेरामाईसीन (*Terramycin*) के नाम से प्राप्त की जाती है।

(३) टेट्रासाइक्लीन (*Tetracycline*)

(४) क्लोरामफेनीकोल (*Chloram-phenicol*) क्लोरोमाइसेटीन।

(५) इरिथ्रोमाइसीन (इरिथ्रोसीन)

इन औषधियों को गोलियां कैप्सूल पाउडर तथा सीरप बने हुए आते हैं। ६-६ घण्टे उपरान्त अवस्था के अनुसार इनका प्रयोग विटामिन सी तथा ग्लूकोज के साथ किया जाता है। रोग की

तीव्रता में ही इन औषधियों का प्रयोग करें।

युवक की मात्रा ०.२५ ग्राम प्रति ६ घंटे की साधारणतया होती है। बच्चों में अवस्था के अनुसार विभाजित कर सावधानीपूर्वक प्रयोग करनी चाहिए।

इन औषधियों को सल्फाडायजीन तथा सल्फा-ट्राईड के साथ मिक्चर बनाकर भी प्रयोग किया जा सकता है।

निद्रानाश और हृदय दुर्बलता में निम्न प्रयोग करें—

(१) पोटैश ब्रोमाईड १५ ग्रेन (युवा व्यक्ति के लिए), वाइनम इपीकाक १० बूंद, सोडा सेलिसिलास १० ग्रेन, स्प्रिट एमोनिया एरोमेट २० बूंद, सीरप टोलू १ ड्राम, ब्रांडी १ ड्राम, लाईकर स्ट्रीक्नीन डाईहाईड्रोक्लोरो ३ बूंद, जल १ औंस-इन्हें एकत्रित कर मिलाकर रखें। ५ वर्ष के बच्चे को इसमें से १ ड्राम मात्रा प्रतिघण्टा घंटे उपरांत दें। साथ ही—

(२) सल्फाट्राईड १ गोली, विटामिन सी १ गोली, सोडाबाईकार्ब १० ग्रेन-इन्हें पाउडर कर ४ मात्राओं में विभक्त कर ४-४ घंटे उपरांत दें।

(३) डाईक्रिस्टीसिन इन्जेक्शन-अवस्थानुसार दें। इसके अतिरिक्त परमोट्रोन (सिपला), कोरो-सोल कीनाईन और कोरामीन के इन्जेक्शन व्याधि को देखते हुए प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

मुख्य लक्षणों की चिकित्सा—

हृदय दुर्बलता—कोरामीन सर्वोत्तम है। ३ से १ C. C. इन्जेक्शन मांसान्तर्गत २ या ३ बार दें। या लिक्विड कोरामीन ४ बूंद जल में घोलकर ३-३ घंटे पीछे देते रहें। यदि सम्भव हो सके तो बड़े बच्चों में ग्लूकोज अथवा ग्लूसीविन [Glucose + Vita. C + Vita. B] का सिरागत इन्जेक्शन लगा देना चाहिये। इसके साथ कोरामीन मिलाकर भी दे सकते हैं। हृदय बहुत निर्बल और शीताङ्ग की सम्भावना हो तो डिजीटेलिस स्ट्रीक्नीन, कैम्फोर इन आयल, कैम्फोर इन ईथर, कैम्फोर इन मुश्क

के इन्जेक्शन दें। जब तक कोई विकट अवस्था न आ जाये, किसी भी इन्जेक्शन को ८ घंटे से पूर्व दोबारा न दें।

विषमयता [Toxaemia] की अवस्था में आक्सीजन सुंघाने [Oxygen inhalation] की क्रिया कराई जाती है। शरीर से अच्छी तरह विष निकल जाये, इसके लिये बड़े बच्चों में लवण द्रव शिरागत प्रयोग किया जाता है।

प्रलापावस्था—ज्वर की तीव्रता के साथ प्रलाप है तो बर्फ की थैली [Ice cap] सिर पर रखें।

पेरल्डीहाईड इन्जेक्शन १ c. c. की मात्रा में मांसान्तर्गत दें। यदि लाभ न हो तो फिर दुबारा दें। अथवा—

बारबिट्यूरेट्स में फेनाबारबीटोन और सोडियम फेनाबारबीटोन $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रोन तक प्रयुक्त करें। लारजेक्टिल का इन्जेक्शन अथवा गोली अवस्थानुसार उपयोग में लाये जा सकते हैं।

पार्श्वशूल [Pleuritic pain]—तीव्र बच्च शूल में इथाईल क्लोराइड का छिड़काव १ से १० घण्टे तक वेदना से मुक्त रखता है।

अत्यन्त तीव्र शूल में मारफीया एट्रोपीन अथवा पेथेडीन हाइड्रोक्लोराइड का इन्जेक्शन अवस्थानुसार और देखरेख में प्रयुक्त करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य वेदनाशामक औषधियों का प्रयोग अवस्थानुसार किया जा सकता है।

उच्चज्वर [Hyperpyrexia]—डायोफरेटिक मिक्चर के साथ हल्का सा विरेचन कैलोमल द्वारा दें। निम्नलिखित प्रायः प्रयोग किया जाता है—

पोटाश साइट्रास १५ ग्रोन, स्प्रिट ईथर लाई-ट्रास १५ बूंद, लाईकर अमोनिया एसिट्रास १ ड्राम, वाईनम एपिकाक १० बूंद, टिंचर सिल्ला १० बूंद, टिंचर डिजिटेलिस ५ बूंद, टिंचर नक्सवामिका ५ बूंद, जल १ औंस बनाकर रखें। युवक मात्रा।

इसे मधुर बनाने के लिये सौरप आरेक्ज

अथवा सौरप टोलू १ ड्राम की मात्रा में मिला देना चाहिये।

मात्रा—५ वर्ष की अवस्था वाले को १ ड्राम चम्मच से ३-३ घण्टे बाद दिन में ३ या ४ बार दें। तृतीयावस्था में बलगम को पतला करने के लिये पोटाश आयाडाईड मिला दें। ब्रान्डी भी मिला सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य उपद्रव होने पर तदनुसार औषध देकर व्याधि शमन करना चाहिये।

रोगमुक्त हो जाने पर स्वास्थ्यवर्धक औषध दें। इस्टन सीरफ, मल्टी विटामिन ड्राप्स, काडलिवर आयल के योग तथा अन्य टॉनिक प्रयुक्त करने चाहिये। दुग्धपान करने वाले बच्चों की माताओं को स्निग्ध उष्ण खानपान करना चाहिये। स्वयं सर्दी से बचाव रखना चाहिये।

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

बच्चों को इन्जेक्शन तथा शक्तिशाली औषधियां देने के बजाय देशी चिकित्सा का प्रयोग श्रेष्ठतर होता है। इसमें बच्चा बार बार रोग की पुनरावृत्ति से छुटकारा पा जाता है। तथा दूषी बिष (Allergy) से भी मुक्त रहता है। रोगी की गम्भीर अवस्था में रोगी के प्राण बचाने के लिए तो संसार की किसी भी चिकित्सा पद्धति की समय पर प्राप्त औषध प्रयोग करने में बिलम्ब नहीं करना चाहिये।

(१) वक्त्र पर पंचगुण तेल अथवा कटुतेल का अभ्यङ्ग करके हल्की सिकाई करनी चाहिये।

(२) तारपीन तैल + सरसों का तैल १-२ के अनुपात में मिलाकर भी वक्त्र पर लगा सकते हैं।

(३) पार्श्व पीड़ा में निम्न प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है—

मोम का तेल—स्प्रिट १ तोला, रोगनगुल १ तोला, मोम सफेद १ तोला, कपूर ६ माशा, अफीम ४ रत्ती—पहले मन्दी आंच पर मोम पिघला कर स्प्रिट और रोगनगुल को मिला दें। फिर



शिशु रोगाङ्कः

जरा गर्म करके कपूर और अफीम मिला दें। यह जम जाता है। जरा गरम करके छाती पर मलें तथा ऊपर से सेक कर दें।

(४) त्रिभुवन कीर्तिरस ३ रत्ती-मधु आर्द्रक के साथ दिन में चार बार दें।

(५) शृङ्ग भस्म १ रत्ती, अभ्रक ३ रत्ती, प्रबाल भस्म ३ रत्ती—४ बार पान के अर्क और मधु से दें।

(६) शृङ्गाराभ्रक ३ रत्ती मधु से चार बार दें।

(७) शृङ्गादि चूर्ण १ रत्ती, बांसाक्षार ३ रत्ती, टर्कण ३ रत्ती—४ मात्रा मधु से दें।

तथा—द्राक्षासव १० बूंद, पिप्पल्यासव १० बूंद, जल १ ड्राम-मिलाकर ३ बार पिलावें। इससे कास की तीव्रता शान्त हो जाती है।

(८) हृदय दुर्बलता में—कस्तूरी भैरव ३ से ३ रत्ती तक तथा चन्द्रोदय व हेमगर्भपोटली का प्रयोग इन्जेक्शन से कहीं अधिक कार्यकारी सिद्ध होता है।

(९) प्रलाप की अवस्था में—हिगुंकपूरादि बटी ३ गोली, जटामांसी काथ से देना चाहिए। अथवा आर्द्रक स्वरस और मधु से दें।

गोघृत तथा सेंधानमक का वत्त पर मर्दन करना शूलनाशक तथा कफ निस्सारक है।

(१०) शुद्ध हिङ्गुल, शुद्ध टङ्कण, जायफल, पीपल, शुद्ध मीठाविष, जावित्री, मरिच, कस्तूरी—प्रत्येक १-१ माशा सबको जल के साथ खरल कर १ रत्ती प्रमाण की गोलियां बनालें। मात्रा—३ रत्ती से ३ रत्ती तक। आर्द्रक स्वरस व मधु से।

(११) लक्ष्मीबिलास ३ रत्ती, रस सिन्दूर ३ रत्ती, बिषाण १ रत्ती—दिन में ३ बार मधु से दें।

(१२) ज्वर की अधिकता में गोदन्ती, मृत्युञ्जय व सजीवनी का बालार्करस के साथ प्रयोग करें।

चिकित्सा सूत्र—

न्यूमोनियां त्रिदोषज (सन्निपात) ज्वर है, जिसका चिकित्सासूत्र निम्न है।

लघनं बालुका स्वेद नस्यं ष्ठीवनं तथा ।
अबलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥

—भावप्रकाश ज्वराधिकार

यह चिकित्सा बात कफ दोनों का शमन करती है।

(१) लघन—“यावदारोग्य दर्शनात्” जब तक आरोग्य दर्शक तापक्रम निम्न न हो लघन कराना चाहिए। इस अवस्था में यदि आवश्यक हो तो चाय या अदरक मिश्रित दुग्ध दें, मौसम्बी का स्वरस भी प्रयोज्य है। क्षीराद बच्चों के लिए माता को भी हल्का विरेचन दे दें। न्यूमोनियां में यथा सम्भव दूध न दिया जाये तो अच्छा रहता है।

(२) बालुकास्वेद-कफ निस्सारण के लिए रुक्त स्वेद दें यह ब्रांङ्को न्यूमोनियां में उत्तम है। नागर-पान को दिये पर गरम करके वत्त पर स्वेद करना चाहिये। इसके लिए अन्य कई विधियां कफ की अवस्था देखकर प्रयोग की जाती हैं।

(३) नस्य—इस रोग में मोह-तन्द्रा की अवस्था प्रायः पायी जाती है, इसीलिए इसके निवारण के लिए नस्य का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक एमार्शल नाइट्रास तथा अमोनियां फोर्ट का नस्य इसी के अन्तर्गत आता है।

(४) ष्ठीवन—कफ निस्सारण के लिए जो भी औषध दी जाती है वह ष्ठीवन का कार्य करती है, जो कफनिस्सारक (Expectorant) कहाती है। इसके लिए—“आर्द्रक स्वरसोपेतं सैन्धवं कटुकस्त्यम्” देना चाहिये। त्रिभुवनकीर्तिरस+आर्द्रक स्वरस के साथ दें। यह उत्तम कार्य करता है।

(५) अबलेह—श्वास, कास का नाश करता है, सितोपलादि चटनी, लहकसपिस्तां, बांसाबलेह, अथवा अन्यलेह न्यूमोनियां तथा तदुपरान्त चलने वाली कास के लिये प्रयोज्य है ही।

(६) अञ्जन—“अञ्जनं स्याद् प्रबोधनम्” यह चेतना प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्राचीन काल में इसके अनेक प्रयोग प्रचलित थे। आजकल इसका प्रचार बहुत कम है।



उपद्रव —

न्यूमोनियां अथवा न्यूमोनियां के उपरान्त बहुत से बड़े बच्चों में फुफ्फुसावरण शोथ (pleurisy) शेष रह जाता है और समय पाने पर उत्कृष्ट हो जाता है। इसके लिए कच्चे शृङ्ग और शुंठी का वत्त पर लेप करना चाहिये।

सितोपलादि, भागोत्तर रस, स्वर्णवसन्त-मालती, माणिक्य रस-इनको अवस्थानुसार यथायोग्य मात्रा में देना चाहिये। युवकों के अन्दर इन्जेक्शन चिकित्सा से ठीक न होने वाले रोगी इससे लाभ उठा चुके हैं। यदि द्रव (fluid) का शक हो तो इसके साथ दशमूल और पुनर्नवाष्टक काथ का प्रयोग करना चाहिये।

बच्चों और युवकों की चिकित्सा प्रायः एक सी होती है। परन्तु निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) मात्रा-अवस्था और भार के अनुसार समझ कर देनी चाहिए।

(२) बच्चों की औषधियां तीक्ष्ण कटु और विष-प्रधान न हों। शिशु ग्राह्य बनाने के लिये मधु शर्बत तथा दुग्ध का प्रयोग अथवा दुग्ध शर्बत द्राक्षाशर्करा का औषध में मिलान कर लेना चाहिए।

(३) छोटे बच्चे कफुष्ठीवन नहीं कर पाते हैं—इसके लिए कभी कभी वमन कराना आवश्यक होता है जिसमें बलगम निकल जाता है। जो बच्चे थूक को निगल जाते हैं उन्हें मृदु विरंचन दिया जा सकता है। मुंह में आये थूक को अंगुलि से निकाल देना चाहिये।

श्री राजपाल सिंह बी. आई. एम. एस.,
पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिङ्ग सेन्टर,
जामनगर।

उत्फुल्लिका (डब्बा रोग)

वैद्यभूषण श्री नटवरलाल माणिकराम जी शास्त्री

नाम —

उत्फुल्लिका (सं.) वराध (यु.) सरुणी, शिशु-रोग, वरचें, उडतें, (मराठी) डब्बा, पसली उछलना, बदली (अन्यान्य प्रान्तिक)।

रोग कारण—

दुष्टस्तन्य, प्रायः कफदुष्ट दुग्ध, इसी प्रकार का स्तन्य, माता का कफकारक आहार-विहार, गाय और भैंस के दूध की चिकनाई और उसका न पचना, मलबद्धता, अजीर्ण, मंदाग्नि, ऋतुविपर्यास, वसंतऋतु, प्रायः उसका पूर्वार्ध, अतिवर्षा, अति उष्णऋतुमान, अति ठंडा ऋतुमान या और तौर पर ठंडक पहुंचना, ठंडा और गरम ऋतु का संधिकाल।

सम्प्राप्ति—

उपरोक्त कारणों में से किसी एक अथवा संयुक्त कारणों से वृद्धिगत कफदोष यकृत और आमाशय में स्थान संश्रय करता है। यह संचित कफ विशेष वृद्धिगत और घनीभूत हो कर समान और अपान वायु के गति-कार्य में अवरोध निर्माण करता है। अवस्था विशेष में श्वास मार्ग में भी अवरोध निर्माण करता है। परिणामतः उत्फुल्लिका (डब्बा, पसली) रोग होता है।

लक्षण—

दीर्घश्वासोच्छ्वास का अभाव, अवस्था विशेष में श्वासावरोध, जलद श्वासोच्छ्वास, बालक का कन्हा-रना, बेचैनी, मल का रुक जाना अथवा अपक्वमल

अल्प प्रमाण में आना अथवा उसका बारबार आना, अरुचि, कास, विशिष्ट अवस्था में प्रतिश्याय, ज्वर, ग्लानि, मूर्च्छा, मूत्राल्पता और विशिष्ट अवस्था में उसका अवरोध ।

विशेष विवरण—

श्वासोच्छ्वास की जलदगति यह एक प्रधान और विशिष्ट लक्षण इस व्याधि की पहचान एवं प्रथम दृष्टि में प्रतीत होने योग्य लक्षण होता है । परन्तु वह ज्वरादिक में भी प्रतीत होता है तो उस द्वय का नहीं होता । प्रत्येक श्वास और उच्छ्वास के संधिकाल में दोनों तरफ की बखों में अर्थात् अखीरी पसलियों में और उदर प्रदेश जिस जगह से आरंभ होता है (कहना चाहिये) उन संधिस्थलों में लम्बाकृति गढ़ा (दोनों ओर) पड़ता है और तत्काल अदृश्य भी होजाता है—अदृश्य होता रहता है । यह इस रोग का स्वतंत्र एवं प्रधान लक्षण है, और प्रायः श्वास की यह सूरत प्रारंभ से ही इस व्याधि में निर्माण होती है और यदि लक्षण न पाया जाय तो अथवा जब तक न पाया जाय तब तक इस व्याधि का निश्चय न करना चाहिये । किंबहुना अन्यान्य व्याधि की कल्पना की जानी चाहिये । इसके अतिरिक्त और भी एक लक्षण इस व्याधि की निश्चित करने में सहायता रूप हो सकता है और वह यह कि नासिका प्रदेश के दोनों द्वार अप्रभाग कुछ फूला-फूला सा अर्थात् तना हुआ और गोलाकृति धारण किया हुआ दृष्टिगोचर होता है । तथापि यह लक्षण पूर्णतया पहिचान में न भी आ सका तो बाधा की बात नहीं मालूम होती । मात्र ऊपर निर्दिष्ट श्वासोच्छ्वास की विशिष्ट स्वतंत्र परिस्थिति का पूर्णतया एवं निश्चयपूर्वक लक्ष में लाना आवश्यक एवं विश्वासार्ह समझा गया है । यद्यपि प्रत्येक रोगी में प्रारंभ से तो उपरोक्त अन्यान्य लक्षण समूह रूपमें प्रायः दिखाई नहीं देते । उपरोक्त श्वासेतर अन्यान्य लक्षणों में से कुछ आरंभ में और कुछ मध्य में एवं कुछ बाद में दिखाई दिया

करते हैं । और प्रारंभ से ही चिकित्सा गुणवह हो जाय तो (श्वासेतर) अन्यान्य लक्षणों में से कितने ही लक्षण प्रकट भी नहीं हो सकते । कुछ लक्षण ऋतुमान पर भी आधारित होते हैं यथा ज्वर का कम अधिक होना, प्रतिश्याय, अतिसार इत्यादि ।

भोग्य काल—प्रायः तीन दिनों का अनुभव में आया है । यदि तीन दिन व्यतीत होने के साथ निर्मित लक्षण-लक्षणों का स्वरूप भी मन्द होना पाया जाय तो इस व्याधि का रोगी सहसा मर नहीं सकता । इसके सिवाय ऐसा भी अनुभव में आया है कि शिशु बालक में प्रतिकार शक्ति अच्छी हो तो संबंधित रोग के उपलक्षणों पर भी योग्य चिकित्सा द्वारा विजय प्राप्त होती है और ऐसा रोगी अच्छा हो जाता है । किंबहुना ऐसा रोगी, इस रोग में जब जब महामारी का रूप निर्माण होता है उस संकट काल का भी मुकाबला करके अच्छा होकर वैद्य को यश दिलाता है ।

साध्यासाध्य विचार—

(१) शिशु बालक सशक्त हो, सर्वदा किसी न किसी व्याधि से पीड़ित न रहता हो प्रारंभ से ही योग्य चिकित्सा हो, रोग लक्षण समूह रूप में उपरोक्त में से अनेक निर्माण होते हुये भी उनमें विशेष तीव्रता प्रतीत न होती हो, तो रोग प्रायः साध्य होता है अर्थात् पचानवे प्रतिशत रोगी अच्छे हो सकते हैं—रोगमुक्त होते हैं ।

(२) ऋतुमान यदि साधारण विपरीत हो और उस हालत में दोष ऊर्ध्वगामी भी हुये हों अर्थात् आक्षेपक अथवा मूर्च्छा हो, दोष का फुफ्फुसों में स्थान संश्रय होकर तज्जन्य लक्षण प्रगट हुये हों, अथवा उसी प्रकार दोष अधोगामी होकर मूत्रावरोध अथवा अतिसार हो जाय, आध्मान बार बार होता रहे अथवा वह तीव्र रूप धारण करे, रोगी दुर्बल हुआ हो तो कष्टसाध्य समझना चाहिए ।

(३) इस प्रान्त में ऐसा अनुभव हुआ कि पांच या सात वर्षों में किसी वर्ष वर्षाऋतु में वर्षा कम होने के साथ ऋतुमान में उष्मा बढ़ जाय अर्थात् इस प्रकार के ऋतु विपर्यास में यह व्याधि महा-मारी का रूप धारण कर सकती है। ऐसे वातावरण में यदि दोष का बार बार फुफ्फुसों की ओर अथवा श्वासनलिका की ओर प्रसार होता रहे तथा परिणामतः उनमें किसी जगह स्थान संश्रय करले, हृदय क्षीण होना प्रतीत होता हो। ऐसे लक्षण समूह में घिरा हुआ रोगी असाध्य होता है।

गत प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब कफ बात ज्वर (फ्ल्यु) विश्वव्यापी हुआ था उन छह सप्ताहों में उत्फुल्लिका के रोगी प्रतिशत बीस मुश्किल से बच सके। उन दिनों देखते देखते सीधा साधा दोष ऊर्ध्व अथवा अधोगामी होकर असाध्यावस्था में पहुँच जाता था।

इस रोगमें रोग निदान और साध्यासाध्य विचार निश्चित हो जाने से चिकित्सा का मार्ग विशेष स्पष्ट प्रकाशयुक्त हो जाता है। पर्यायतः यह भी निश्चित हो जाता है कि यह रोग शीघ्रगामी और घातक होने के कारण इसकी चिकित्सा भी प्रभावी, आशु-गुणावह ऐसे परिणामकारक द्रव्यों और प्रसङ्गो-पान्त तदनुसङ्गी क्रियाओं द्वारा करने में चिकित्सा को हिचकिचाना नहीं चाहिये। प्रसङ्गोपरान्त कटु, तिक्त, कषायादि रसप्रधान एवं वामक और रेचक औषधियों को अवस्था और दोषानुसारेण प्रयुक्त करने में संकोच नहीं होना चाहिये ताकि योग्य क्रियाकाल व्यतीत न होने पाये जैसा कि सुश्रुताचार्य ने उपदेश किया है। यथा—

शीते शीतप्रतीकारं उष्णे चोष्ण निवारणम् ।

कृत्वा कुर्यात् क्रिया प्राप्तां क्रियाकालं न ह्यपयेत् ॥

चिकित्सा—

इस व्याधि में निम्नांकित चिकित्साक्रम और औषधि प्रयोग हमारे अनुभवों लाभदायक एवं बहुत कम निष्फल सिद्ध हुए हैं जिसका प्रथमतः

सारांश यह है—

[१] आरम्भ से लेकर व्याधि में उपशय निर्माण होने तक जब जब भी आवश्यकता प्रतीत होती रहे, वमन प्रयोग, वांति कराना (औषध द्रव्य द्वारा) अत्यन्त हितावह सिद्ध हुआ है। इस अनुभव के आधार पर मैं इस प्रयोग को इस व्याधि की चिकित्सा का प्रधान अङ्ग मानता हूँ। शास्त्राभिप्राय भी है कि 'वमनं कफ नाशाय' जब कि यह व्याधि प्रत्यक्ष कफरोग है।

[२] इसके अनन्तर दोष की गति लक्ष में लेकर चलना चाहिये कि इस पर भी यदि दोष बलवान अथवा प्रसर होता हुआ अथवा ऊर्ध्वगामी होकर विशिष्ट प्रदेश में यथा श्वसन यन्त्र, श्वास नलिका, फुफ्फुस, कण्ठ, फुफ्फुसावरण, शिरो-भाग, हृदय इनमें सेक हीं स्थान संश्रय करने की शंका निर्माण होती हो तो शीघ्र ही अवस्थानुसारेण विरेचन प्रयोग प्रयुक्त करने चाहिये और यदि मल ग्रह हो अथवा कुछ कुछ बल निःसरण होते हुए भी उदर में भारीपन, मल का संप्रहीत होना प्रतीत होता हो तो अवश्य और शीघ्रकार्यकारिणी विरेचन और मल भेदन द्रव्य प्रयुक्त करना चाहिये और पेट साफ होने तक देना चाहिये और व्याधि में उपशय निर्माण होने तक यह प्रयोग भी करते रहना चाहिए ताकि दोष संचित न होने पायें और साथ ही साथ रोगहारक और दोष निवारणकारक औषधि प्रयोगों को समय पर (बारंबार यथादोष और अवस्था) योग्य प्रमाण में देते रहना चाहिये तथा साथ ही उपद्रव एवं दोष का स्थान संश्रय अन्य प्रदेश में होता हो या हो जाय तो उसकी चिकित्सा की जाय।

उत्फुल्लिका रोग निवारणार्थ उपरोक्त दोनों परिच्छेदों (अङ्क १-२) में किया हुआ निर्देश चिकित्साक्रम की सारांशमात्र रूपरेखा है। अब (निम्न में) उसी को विस्तारपूर्वक निवेदन किया जायगा जिसके पूर्व यहां पर उसके सम्बन्ध में एक फलितार्थ का निर्देश कर दिया जाना विशेष उप-



शिशुरोगाङ्कः

४६७

योगी होगा कि इस प्रकारेण चिकित्सक ने जाग-
रूकतापूर्वक इस रोग की चिकित्सा की जाने का
पहिला परिणाम लाभ यह होगा कि प्रभु कृपा से
तेगी (बालक) को शीघ्र आरोग्य प्राप्त होगा और
दूसरा लाभ यह भी हो सकेगा कि यदि रोगी के
परिवार ने बालक को प्राप्त हुए आरोग्य पर केवल
अपनी दृष्टि से समाधान न मानते हुए वैद्य की
तांत्रिक दृष्टि से शेष दोषों का शोधन और परि-
मार्जन होने तक और भी कुछ दिनों तक चिकित्सा
क्रम चालू रखा तो विपरीत दशा में प्रायः संभ-
वनीय यकृदुदर, यकृदाल्युदर (लिह्वर डिजीज)
अथवा तत्सम व्याधि निर्माण की आशंका न रहेगी।

चिकित्सा क्रम—

१. वमन प्रयोग की दृष्टि से इस प्रांत के शरीरों
व प्रकृति धर्मानुकूल जो द्रव्य अनुकूल पड़ना अनु-
भव में आया है उनमें मदनफल मञ्जा, करेले का
अथवा करेले के पत्ते का रस पिलाना पर्याप्त होता
है। परन्तु दोष में तीव्रता अर्थात् अधिकता हो
तब जल्दी वांति न होगी ऐसी अवस्था में एक घंटे
तक की प्रतीक्षा के बाद पुनः उसी रस में (मात्रा
१० बूंद से ४० तक) फुलाया हुआ तेलिया सुहागा
अथवा फुलाया हुआ सोनारी सुहागा ३ गुंजा से
२ गुंजा तक एकत्र करके पिलाना चाहिये। इस
पर भी यदि वांति न हो तो घबराना नहीं चाहिये,
कुछ अन्तर से इसी योग से पचपचा कर दस्त होने
की उम्मीद रखना अयोग्य न होगा और कफ दोष
तल से निकलेगा, छटेगा और यदि वामक, वमन-
कारक प्रयोग पचन होकर दस्त होगा तो दोष गुदा
द्वारा निकलने की अन्तस्थ प्रेरणा होने की बावत
रखना करना और कफ विरेचन द्रव्यों द्वारा रोग
परिहार में अर्थात् रोगोक्त औषधि प्रयोगों के साथ
साथ आवश्यकतानुसारेण मदद लेते देते रहना
अनुचित न होगा।

२. विरेचन—इस व्याधि में “अश्वकंचुकी रस”
बड़ा काम देता है। कफ दोष को गुदद्वार द्वारा

शरीर के बाहर निकालता है। यदि इस प्रयोग में
भी अर्थात् विरेचन द्रव्य या औषधि प्रयोग से
दस्त योग्य कालावधि में न हो तो योग्य मार्ग
प्रतीक्षा के अनन्तर अर्थात् ४-६ घंटे बाद पुनः
रेचक द्रव दिया जा सकता है। अवस्था और दोष
तारतम्य के अनुसार, परन्तु इस प्रयोग में भी
बिलोमगति मालूम हो तो अर्थात् रेच दस्त होने
के बजाय वांति हो तो दोष शोधन निःसरण के
लिये अन्तस्थ प्रेरणा ऊर्ध्वमार्ग की होने के विषय में
कल्पना करते हुए दोष को शरीर से बाहर निकालने
के लिये वांतिकारक औषधि देते रहना उचित ही
होगा।

(अ) वांतिकारक औषधि से रेच हों तो भी
दूसरे दिन वांतिकारक औषधि देकर देखना चाहिये
ताकि लोम-बिलोम गति क्रिया से दोष के निःसरण
के मार्ग निश्चित करने में सुविधा रहे।

(ब) यही पद्धति विरेचन औषधि के बारे में
भी समझनी चाहिये।

(स) इन दोनों प्रयोगों को यथावश्यक प्रयुक्त
करने के पूर्व हर समय इसकी जांच करते रहना
चाहिये कि पूर्व प्रयुक्त प्रयोग के परिणाम में योग्य
परिणाम किस हद तक हुआ है अर्थात् रोग स्थान
यकृत, आमाशय कुछ हलके से यानी नरमी लिये
हुए हैं और उदर का उभार कम है या नहीं।
उसके बाद इनमें से जिस प्रयोग की आवश्यकता
प्रतीत हो वह प्रयोग किया जाय अर्थात् रोग स्थान
हलका पड़ रहा है ऐसा मालूम हो रहा हो तो
अथवा अपक्वमल गुदाद्वार से निकल रहा है ऐसा
दृष्टिगोचर हो, तो उन अवस्थाओं में इन प्रयोगों को
बारह निदान ६ घंटा पूर्व न दिया जाय ताकि शिशु
(बालक) की शक्ति का ह्रास न होने पाये। शक्ति
को (रोगी की) यथा शक्य न दूटने देना और
इसकी देखभाल करते रहना भी आवश्यक है और
६ से १२ घंटे का अन्तर देने से मल को पक्क होने



का अवसर भी मिल जाता है ।

(द) वामक, वांतिकारक और रेचक औषधि के उपयोग पर ही केवल आधार नहीं रखना चाहिये किंतु अवस्थाभेदानुसारेण और रोग की उग्र और मध्यम या मन्दगति की दृष्टि से योग्य मात्रा में २ से ६ बार बीच बीच में व्याधियुक्त औषधि प्रयोग भी देते रहना चाहिये एवं बाह्योपचार की दृष्टि से लेपन, स्नेहन, स्वेदन प्रयोगों में से जिसकी या जिनकी आवश्यकता प्रतीत होती रहे उन प्रयोगों को भी करते रहना चाहिये ।

(यह सब प्रयोग आगे लिखे जाते हैं)

(इ) व्याधियुक्त को औषधि खिलाने पिलाने के एवं बाह्योपचार के प्रयोग चालू रहते हुए उसी में वांति या रेच भी हों या वह ज्यादा प्रमाण में न होते हुए भी यदि रोग कम हो रहा हो और साथ ही रोग का मूल स्थान उदर प्रदेश हलका और नरम मालूम होने लगे और अनुषांगिक चिह्न-रोग के साथ वाले चिह्न भी मन्द पड़ रहे हों या कम हो रहे हों उस अवस्था में स्वतन्त्र वांतिकारक एवं रेचक औषधियों को न भी दिया जाय तो बाधा, चिंता की बात नहीं । तथापि बीच बीच के रूपान्तर इस तरह के भी अनुभव में आते हैं कि रोग कम हो रहा है तथापि अवष्टम्भ मालूम होता है अथवा कफ का थोड़ा बहुत संचय प्रतीत होता है । अतः उन अवस्थाओं में वांतिकारक अथवा रेचक, इनमें से जिस प्रयोग की आवश्यकता मालूम हो अवश्य देना या दे रहना चाहिये

[३] रोगहारक (व्याध्युक्त) प्रयोग- -

शुद्ध हींग-असली हींग को किंचित घृत लगाकर (यदि गौघृत हो तो विशेष उत्तम होगा) धीमी आग पर कुछ फूलने तक भून ली जाय—६ माशे कृष्ण लवण, बिडङ्ग, बाल हरीतकी १२-१२ माशे, शुण्ठी ६ माशे, अजवायन, यवक्षार १२ माशे इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रख लिया जाय (१) यह चूर्ण $\frac{1}{2}$ से २ गुंजा, (२) मृगशृङ्ग (बारहसिंगे का)

भस्म $\frac{1}{2}$ से १ गुंजा, (३) श्वास कुठार रस $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{2}$ गुंजा तक ।

हर वक्त उपरोक्त प्रमाण में तीनों औषधियां मिलाकर स्तन्य (मां के दूध) में अथवा गाय, बकरी या भैंस की छोटी चम्मच भर दूध में मिलाकर दिन के १२ घंटों में २ से ६ बार (व्याधि की उग्रता या मन्दता देखते हुए मात्रा निश्चित की जाय) देना चाहिये । यह प्रयोग स्वाद में कटु (तीखा) है और कफ दोषों में रसना कुछ बधिर हो जाती है तथापि बूंद बूंद करके धीरे धीरे शिशु, बालकों को औषधि पिलाना विशेष सुरक्षित मार्ग समझा जाता है ।

(अ) इस प्रयोग से कफ का लेखन कार्य होते हुए भी वह प्रसर होने से अर्थात् स्थानान्तर करने से रोका जाता है और उसकी गति अधोमार्ग की ओर रहती है जिसके कारण मलमार्ग से दोष बाहर निकल जाता है ।

(ब) इसी प्रयोग में दस्त भी आसकता है और यथा समय अर्थात् कुछ कम ज्यादा अंतर से वांति भी सकली है । यदि इन दोनों में से कोई मार्ग भी न खुला हो सका—चालू हो सका (किसी किसी रोगी में ऐसी परिस्थिति अनुभव में आती रहती है) तथापि रोगपरिहरण कार्य इस प्रयोग से १ से ७ दिन में अवश्य होता है । २-३ दिनों में ही रोग के चिह्न कम पड़ जाते हैं । रोग के चिह्न जैसे जैसे कम पड़ते जाय औषधि का मात्रा भी घटाते रहना चाहिये ।

(क) इस या इस प्रकार के व्याधिकारक प्रयोग से यदि मल शुद्धि-दस्त अथवा वांति न हो तो अवस्था दोष की स्थिति के अनुसार दोनों या कोई रेचक या वांति कारक का प्रयोग व्याधि का परिहार तक करते रहना आवश्यक होता है—अर्थात् व्याधि-हारक प्रयोग भी चालू रहे और वांतिकारक या रेचक औषधियां भी दी जाय ।

श्वास कुठार रस के कई एक पाक और प्रक्रिया पायी जाती हैं परंतु “एकैकं मरिचंदत्वा सूक्ष्मं चूर्णं

उत्कारयेत्" इस प्रक्रिया से बना हुआ श्वास-कुठार रस इस प्रयोग में और व्याधि में विशेष लाभप्रद होगा ऐसा अनुभव में आया है।

[४] करेले का या उसके पत्ते का रस ५ से १० बूंद तक, सदाफ (सर्पाची) का रस ५ से ५० बूंद तक, मधु ३ से ७ बूंद तक, गोरोचन १ से १ गुंजा तक, शुद्ध सुहागा १ से २ गुंजा तक।

इन पांचों को एकत्र करके प्रतिदिन दो से चार बार धीरे धीरे पिलायें ताकि तुरंत वमन न होजाय।

विशेष सूचना—इस प्रयोग के चालू रहते हुए यथावश्यक, उपरोक्त नं. ३ पर निर्दिष्ट प्रयोगांत परिच्छेद अ-ब-स- अनुसार वमन विरेचनादिक प्रयोगों की मदद ली जा सकती है।

[५] एलुआ, अरबी, सुहागा की खील, कंकुष्ठ (उसार-ए-रेवन्द) समभाग का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर शहद (मधु) में घोटकर मूंग प्रमाण गोली बनायें।

मात्रा—आधी गोली से दो गोली हर वक्त में दी जाय। गुनगुना पानी अथवा दूध के साथ दिन में २ या ३ बार यह गोली मध्यम या मंद आक्रमण वाली इस व्याधि में अच्छा काम देती हैं।

[६] काडी थूहर (स्तुही) का दूध ३ बूंद से २ बूंद तक गौदुग्ध में या किसी दुग्ध में मिलाकर दिया जाय। प्रयोग तीव्र है। इससे किसी रोगी को राति और दस्त बहुत हो जाते हैं अतः रोगी की शक्ति का अनुमान करके देना चाहिए। आवश्यकता-नुसारेण प्रतिदिन १ से ३ बार तक यह प्रयोग दिया जा सकता है। इस व्याधि में लाभदायक अवश्य है परंतु तीव्र प्रक्रियाकारक होने के कारण हम छः मास से कम अवस्था वाले रोगी को नहीं देते।

विशेष सूचना—स्तुहीदुग्ध के अर्ध बिंदु का प्रमाण हस्तगत करने की रीति यह है कि उसके एक बिंदु को एक चम्मच भर गाय के दूध में घोलकर आधा भाग पिलाया जाय।

उपद्रव—

[१] इस व्याधि में सम्भवनीय उपद्रवों में से

यदि रोगी में वायु का मूल कफ दोष के साथ अनु-बंध प्रतीत हो तो अथवा प्रत्यक्ष आध्मान, उदर पीड़ा, अथवा दोष ऊर्ध्वगामी होने से आक्षेपक हो उस अवस्था में व्याधियुक्त (अर्थात् उनको ऐसे प्रसङ्ग में स्वतंत्र व्याधि कहना अनुचित न होगा) चिकित्सा की जानी चाहिए।

आध्मान, उदर पीड़ा में अनुक्रमांक प्राथमिक १. में निर्दिष्ट चूर्ण स्वतंत्र रीति से उस व्याधि की उप्रता कम होने तक औषधि का अवस्थानुसार कुछ प्रमाण बढ़ाकर भी देना उचित ही होगा अथवा शंखवटी (निघण्टु रत्नाकर द्वितीय भागोक्त पाठानु-सारेण बनाई हुई विशेष गुणावह होती है) योग्य मात्रा में दी जानी चाहिए। बाह्योपचार की दृष्टि से पेट पर सेक करना, नारायण तेल लगाने से उसी प्रकार नाग वेल के पानों पर एरण्ड तैल में काला नमक खूब बारीक पिसा हुआ मिलाकर चुपड़ कर उनको जरा गरम करके उलटाकर पेट पर बांधने से बड़ा लाभ होता है। आवश्यकतानुसार योग्य प्रमाण में एरण्ड तैल किंचित उष्ण करके पिलाना अथवा उसमें योग्य प्रमाण में कोई वात कफ हारक चूर्ण मिलाकर देना भी परमोपकारक सिद्ध होता है। अथवा एरण्डतैल में योगराज गुग्गुल (लघु) योग्य मात्रा में देना विशेष तीव्रतापूर्वक अर्थात् त्वरित कार्य करता है और यही प्रयोग आक्षेपक की अवस्था में युक्तिपूर्वक देनेसे (अर्थात् रोगी उस दशा में विशेष पराधीन रहता है अतः धीरे धीरे चटाने से उगल नहीं देता) आक्षेपक वेग जल्दी कम होता है तथैव वेग उतर जाने पर देने से उसकी पुनरावृत्ति को भी रोकता है।

[२] आक्षेपक में उपरोक्त योगराज, एरण्ड तैल जैसे दोनों अवस्थाओं में कार्यकारी सिद्ध होता है वैसे ही लक्ष्मीनारायण रस भी। परन्तु यह पुनरावृत्ति को विशेषतया रोकता है। अनुपान—एक या तीन बिन्दु तक (शिशु की सहनशीलता के मान से) आर्द्रक रस में ४-१० घिसारे घिसकर तीखापन



कम होने हेतु उसी में १०-१५ बूंद दूध के मिलाकर एवं मधु के ३-४ बूंद मिलाकर देना बहुत ही गुणा-वह होता है।

(अ) आक्षेपक के वेग को शांत करने के लिये प्याज (पलाण्डु) फोड़कर दो तीन क्षणमात्र तक थोड़ा थोड़ा ५-१० क्षण अंतर देकर सुंघाना लाभ-कारक होता है। इसी युक्ति से महीन पिसा हुआ काय-फल अथवा बच (बचा) सुंघाना या नासिकाग्र भाग में थोड़ा सा लगा देना बहुत लाभ करता है। किंबहुना इस प्रयोग से गला-छाती स्थानों पर जमा हुआ कफ धका भी खाता है और भी अपने अनुभव के आधार पर व्याधि युक्त प्रयोग करना उचित ही होगा।

[३] श्वास नलिका दाह, फुफ्फुस दाह, शोफ, फुफ्फुसावरण दाह शोथ इत्यादि उपद्रवों की इस रोग (उत्फुल्लिका) में दोष ऊर्ध्वगामी होने पर अथवा अन्य प्रकारेण निमित्त कारण मिलने से भी ज्यादा संभावना होती है। अतः इन अवस्थाओं में प्रायः औषधि प्रयोग मिलते जुलते ही होते हैं। किसी किसी विशिष्ट परिस्थिति में स्वतंत्र अथवा विभिन्न प्रयोग या क्रियायों रूप अपवाद छोड़ कर मिलेजुले प्रयोगों में मृगशृङ्ग भस्म, श्वासकुठार रस, कफ कुठार आदि यथोचित मात्रा में स्वतंत्र एक, अथवा मिलाकर भी दिये जा सकते हैं। कफकुठार रस, यवक्षार (बाजारू नहीं), अपामार्गक्षार, बज्रक्षार इत्यादि भी अवस्था भेद में अच्छा काम देते हैं।

इन उपद्रवों—रोग वालों की और उत्फुल्लिका रोगी की भी शक्ति सम्हालने के लिये अवस्थाभेदानुसार शुद्ध विषमुष्टी, शौक्तिक भस्म, मृगशृङ्ग भस्म उचित मात्रा में, रोगोक्त औषधियों में मिश्र करके अथवा भिन्न समय में स्वतंत्र देते रहने से मुख्य रोग के परिहार तक चिकित्सा करते रहने में बड़ी हद तक निश्चिन्तता रहती और बड़ी मदद मिलती है। उसी प्रकार मामूली कम मात्रा में रस सिन्दूर देते रहने से भी इन रोगों और अधिक

पुराने प्रायः सब प्रकार के ज्वरों में वही हेतु पूर्ण होता है। रोगी की शक्ति बड़ी हद तक टूटने नहीं पाती। मात्र इस (रस सिन्दूर के) प्रयोग में इतना दोष अवश्य पाया गया कि इससे लघवी का प्रभाव किसी किसी रोग में घट जाता है। यह सूरत कफ प्रधान किसी व्याधी में प्रसन्नताकारक नहीं समझी जाती। जबकि वह दोष मल, मूत्र, स्वेद, वांति द्वारा ही शरीर से बाहर निकलते रहते हैं, अतः ऐसी परिस्थिति प्रतीत होने से उसके साथ यवक्षार अथवा शौक्तिक संयोग किया जाना उचित पाया गया।

इस पर भी यदि अपेक्षित प्रमाण में मूत्र न बढ़ सका तो रोगी के वस्ति भाग पर और नाभि के चारों ओर चूहे (मूषक) की लेंडियां और कृष्ण लवण का लेपन करने से मूत्र का प्रमाण बढ़ता है अथवा मूत्रोत्सर्ग क्रिया की संख्या बढ़ जाती है अथवा कभी कमर पर सेकने से भी (इन व्याधियों में) मूत्र का प्रमाण बढ़ सकता है।

[४] मूच्छा—आक्षेपक में सुंघाई जाने वाली औषधियों के उपयोग से लाभ होता है। स्मृतिसागर रस, कस्तूरी भैरव इत्यादि अथवा तत्सम औषधियों के सेवन कराने से लाभ होता है।

[५] नाड़ी क्षीणता व्याधि का परिहार होने तक रोगी की नाड़ी की देखभाल नित्यशः होती रहनी चाहिए। नाड़ी की क्षीणावस्था में हृदय को सम्हालने के प्रयोग काम में लिए जाय सुतरां आवश्यक होता है। अतः दोष और अवस्थाभेदानुसारेण अपने अपने अनुभूत प्रयोग प्रयुक्त करना और बीच में भी देते रहना चाहिए। इस हेतु हमारे अनुभव में लक्ष्मीविलास गुटी, लक्ष्मीविलासरस, महालक्ष्मी-विलासरस यह औषधियां प्रयुक्त करना अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

—श्री नटवरलाल माणिकराम शास्त्री वैद्यभूषण,
औरंगाबाद।

बाल ज्वर

श्री गोखुलानन्द सिंह वैद्यशास्त्री आयुर्वेदाचार्य



बच्चों को ज्वर का होना कोई असली कारण नहीं है। क्योंकि माता के कुपथ्य से अथवा माता के ज्वर हो जाने से भी केवल स्तन-दुग्ध पान करने वाले बच्चे को भी ज्वर हो सकता है। फिर भी अधिक ठंड लगाने से, अजीर्ण से या ठंडी तासीर के फलादिकों के अत्यधिक सेवन से, कृमि दोष से प्रायः ज्वर आ जाता है। अतएव ज्वर आने के कारण पर थोड़ा बिचार कर बाद में औषधि का प्रयोग करना चाहिये। दूध पीने वाले बालक के हित के लिये उसकी माता को लंघन और पथ्य अपालन कराना चाहिए, क्योंकि बच्चे को लंघन (उपवास) कराना मना है।

चिकित्सा —

बालक को ज्वर होने पर निर्वात स्थान में रखें। दूध पीने वाले बच्चे को मां का दूध किसी भी हालत में मना नहीं है, जो बालक पानी पीता हो उसे चतुर्थांश शेष जल पिलाना चाहिये। यदि माता रोगिणी हो तो बकरी अथवा गाय का दूध अभाव में दें और अन्न खाने वाले बालक को बाली, साबूदाना, अथवा मूंग की दाल और पुराने चावल की पतली खिचड़ी का पथ्य देना चाहिये। क्योंकि कहा है—'ये गुणा लंघने प्रोक्तास्ते गुणा लघु भोजने' अर्थात् जो गुण उपवास में हैं वे ही गुण लघु भोजन में हैं।

ज्वरनाशक साधारण प्रयोग

१. चिरायता पानी में पीसकर और हल्दी मिलाकर उसमें कपड़े रंगकर बालक को पहना दें।

२. मूर्वा, हल्दी, सरसों, चिरायता, हरड़, मंजीठ और कलौंजी इन सबको बकरी के दूध में पीसकर देह में मालिश करें तो बालक का ज्वर रुक देवे अथवा कुटकी को ही जल में पीसकर बालक के शरीर पर लेप करें तो शीघ्र ही ज्वर रुक देवे।

३. गुगल, नीम के पत्ते, बच, कूठ, हरड़, यव, सरसों इन सबको समभाग लेकर गौघृत में मिलाकर धूपन करने से बालकों का ज्वर नष्ट हो।

४. अतीस का चूर्ण १ से ४ रत्ती मां के दूध या शहद में चटावें तो बालक के ज्वर, पतले दस्त और वमन दूर होती हैं।

५. कुटकी का चूर्ण १ से ४ रत्ती मां के दूध या शहद में चटावें तो बालक का ज्वर, मलबद्धता दूर होती है।

६. जंगी हरड़ को लेकर बारीक चूर्ण बनालें। इसकी मात्रा १ से ३ रत्ती तक चढ़े हुए ज्वर में ३-३ घण्टे के बाद दें शीघ्र उत्तर जाता है।

७. छोटी-बड़ी कटेरी के फल और पंचकोल (पिप्पली, पिप्पली मूल, चब्य, चित्रक और सोंठ) इनका चूर्ण शहद के साथ लेपन करने से बालकों के वातज्वर एक दिन में, पित्तज्वर दो दिन में और कफज्वर तीन दिन में नष्ट होते हैं।

८. नागरमोथा, हरड़, नीम की छाल, पटोल-पत्र और मुलैठी इन्हें एकत्र यवकुट कर ६ माशे लेकर १६ गुने जल में औटावें। जब चतुर्थांश शेष रहे तो इस काथ को मन्दोष्ण ही पिलाने से सर्व प्रकार का ज्वर नष्ट हो जाता है।

९. चौहद्दी या चतुर्भद्रकादि चूर्ण (अतीस, नागरमोथा, पीपल और काकड़ासिगी समभाग लेकर चूर्ण बनालें) मात्रा—नवजात शिशु को १ रत्ती से ४ रत्ती तक मां के दूध या शहद में दें तो यह चूर्ण बालकों के ज्वर, दस्त, कफ, खांसी, वमन आदि दूर करता है।

१०. बालज्वरघ्नी वटी—अतीस, मरिच और तुलसी के पत्र समभाग लेकर जल के संयोग से मूंग के बराबर बटी बनालें। मात्रा—१-१ वटी मां के दूध या शहद में दें तो बालकों के समस्त ज्वर



खांसी, सर्दी (पीनस) आदि दूर होते हैं।

११. बालज्वरांतक वटी—तुलसी बीज, छोटी इलायची के दाने, सत्व गिलोय तीनों समभाग पीस कर जल के संयोग से मूंग बराबर वटी बनालें। मात्रा—प्रातः सायं १-१ वटी मां के दूध में देवें तो बालक के ज्वर नष्ट होते हैं।

१२. बाल लाक्षादि तैल—तिल तैल तथा लाक्षा का स्वरस या काथ १-१ सेर, दही का पानी ४ सेर, कल्कार्थ रास्ता, लाल चन्दन, कूठ, नागर-मोथा, असगन्ध, हरिद्रा, दारुहल्दी, सौंफ, देवदारु, मुलैठी, मूर्वा, कुटकी, रेणुका के कल्क से यथा-विधि सिद्धकर अभ्यङ्ग करने से बालकों के समस्त ज्वरादि दूर होकर शरीर के बलवर्ण की वृद्धि होती है।

१३. काल मेघासव—यवतित्ता (कल्पनाथ, काल मेघ) पंचाङ्ग को सुखाकर कूट लें, उसमें से १० तोला चूर्ण लेकर २ सेर जल में सायंकाल के समय कढ़ाई में भिगो देवें। प्रातःकाल उसे मन्दाग्नि से पकावें, जब १ पाव जल शेष रहे तब अग्नि से उतार कर ठंडा कर लें और साफ वस्त्र से छानकर चिकनी मटकी में भर उसमें कुछ शहद ३० तोला मिलाकर १५ दिन तक संधान कर रखें फिर छान कर बोतल में भर लेवें। मात्रा—५ से १५ बूंद तक जल में मिलाकर प्रातःसायं सेवन करावें। यह बालकों के जीर्ण ज्वर तथा विषमज्वर, कालाज्वरादि को शीघ्र नष्ट करता है। यकृत, स्निग्हाविकार भी दूर होकर जठराग्नि दीप्त हो जाती है।

१४. रसपीपरी (आ. प्र.)—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक की कज्जली कर फिर सौंठ, मिर्च, पीपल, अतीस, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, मोच-रस, जायफल, जावित्री, सुहागा फूला हुआ और छोटी पीपल ये ११ दवाइयां पारे के समान भाग लेकर महीन चूर्ण करके मिला दें। पारे से चतुर्थांश कस्तूरी मिलाकर जल के संयोग से मूंग बराबर गोलियां बनालें या यों ही खरल में अच्छी तरह घोटकर रखलें। उचित अनुपान के साथ

सेवन करने से बालकों का ज्वर, सर्दी, जुकाम, पतले दस्त, कफ, खांसी, वमन, कमजोरी आदि समस्त रोग होते हैं।

१५. बालरोगान्तक रस (भै. र.)—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक १-१ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म और काली मिर्च आध आध भाग—प्रथम पारा और गन्धक की कज्जली बनावें। फिर उसमें माक्षिक भस्म मिलाकर मर्दन करें। इसके बाद केशराज रस, सन्हालू का रस, मकोय का रस, ग्रीष्म सुन्दर (हरमल) का रस, हुलहुल का रस, शालिञ्चणक का रस, मण्डूकपर्णी का रस, श्वेत अपराजिता का रस भी क्रमशः पृथक् पृथक् भावना देकर कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर अच्छी तरह से मर्दन करके सरसों के दाने बराबर गोलियां बनाकर धूप में सुखाकर शीशी में रख लें। मात्रा—१ से २ गोली प्रातः सायं मां के दूध में या मधु में मिलाकर सेवन करें तो यह बालकों के त्रिदोष तथा आमदोषजन्य ज्वर और पंचविधि कास तथा सर्व रोग को दूर करता है।

१६. कुमारकल्यास रस (भै. र.)—रससिंदूर, मुक्ता भस्म, अभ्रक भस्म, लौहभस्म, स्वर्ण-भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म—प्रत्येक १-१ भाग लेकर घृतकुमारी के स्वरस में अच्छी तरह खरल करके मूंग के बराबर वटिकायें बनालें। मात्रा—अनुपान—बच्चे के लिये आधी वटी मां के दूध अथवा बच तथा शहद के साथ दें। पूरी उम्र वालों के लिये १ वटी खांड मिले हुए दूध के साथ सेवन करानी चाहिये। इसके सेवन से बालकों के ज्वर, कराही, आस, वमन, पारिगर्भिक रोग, सर्वप्रह दोष, दूध का न पीना, कामला, अतिसार, दौर्बल्य, और जठराग्नि के बिकार आदि रोग निःसन्देह दूर होते हैं।

बाल निमोनियां (पसली या डब्बा रोग) पर रवानुभव—

बंगला पान का रस निचोड़ कर गरम करके रस में चावल बराबर कस्तूरी घोल कर पिलावें। इसी



शिशिरोगाङ्कः

प्रकार दिन रात में ४ बार पिलाने से पसली रोग शान्त होता है। इस रोग की चिकित्सा स्वेद, लेप, और खिलाने की दवा से करनी चाहिये। देरी से इलाज करने पर बच्चे कण्ठ में पड़ जाते हैं और बराम होना कठिन हो जाता है।

२. अनुभूत प्रयोग—रससिंदूर १ रत्ती, शृङ्ग भस्म २ रत्ती दोनों को खरल कर रखलें और आठ पुड़िया बनालें। मां के दूध में या मधु में दिन रात में ४ बार दें। फिर भी दूसरे दिन इसी प्रकार दें और निम्नलिखित लेप और स्वेद करें तो बीमारी शीघ्र दबकर बच्चे आरोग्य हो जाते हैं।

लेप—गेरू सरसों के तैल में पीसकर गरम करके दोनों पार्श्व (पसली चलने के स्थान) पर लेप कर दें और बैंगन (भटा) के पत्ते आग पर सेक कर उस पर रख कपड़े से बांध दें। इस प्रकार दिन रात में कई बार लेप करें और उपरोक्त दवा खिलावें तो बीमारी दूसरे ही दिन दब जाती है। यह दवा और लेप बीमारी के प्रबल रहने पर ही करना चाहिये। बाद में अगर कुछ कुछ खांसी दे तो शृङ्गादि चूर्ण (काकड़ासिंगी, पीपल, अतीस, नागरमोथा) मधु में मिलाकर सुबह शाम सेवन करावें और पुराने गाय के घी में सेंधानमक मिलाकर गरम करके सिर्फ छाती पर मलें अथवा पान के पत्ते पर गाय का घी लगाकर आग पर सेक कर, छाती पर रखें तो कफ पिघलकर शुष्क खांसी आदि दूर होती है।

३. बंगलापान पक्का ३ माशा, पीपल २ माशे एक घूंट पानी में पीसकर गरम करके बालक को पिलावें तो पसली ज्वर आदि दूर हो जाते हैं। लेप—धतूर के पत्तों के रस, सोंठ का चूर्ण, अफीम एक में मिलाकर के गरम कर पसली चलने की जगह लेप करें और बालू की पोटली से सेकें तो शीघ्र लाभ होगा।

—श्री ठा० गोखुलानन्दसिंह वैद्यशास्त्री आयुर्वेदाचार्य,
माधोपुर सिंगाही, मुजफ्फरपुर (बिहार)

डब्वानाशिनी बटी अनेकों बार की परीक्षित—

स्वर्णक्षीरी के बीज और सत रेबन्द चीनी दोनों समान भाग घोट पौस रख लेवें। (स्वर्णक्षीरी, सत्यानाशी, भरभण्ड, करुवा पर्यायवाची शब्द हैं)। इसी के रस में दवा घोटनी चाहिए। मात्रा—१-२ रत्ती माता के दूध या जल से देवें। इससे १-२ दस्त तथा उल्टी होकर संचित कफ निकल कर १ घंटे में ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। आवश्यकता हो तो २ घंटा बाद पुनः एक मात्रा दे देवें।

यह योग रसतन्त्रसार भाग एक का है। मैंने अनेकों बार काम में लिया है।

—श्री रामफल मिश्र आयुर्वेद विशारद
जनपद आयुर्वेदिक औषधालय
खलारी-भीमखोज (रायपुर) म० प्र०

न्यूमोनियां नाशक सफल प्रयोग

नीला थोथा ३ माशे, शुद्ध जैवाल के बीज १२ माशे, जवाखार १८ माशे, शुण्ठी ३६ माशे—इन ४ औषधियों को बारीक पीस कपड़न चूर्ण बनाके तुलसी के स्वरस में १ घंटा पर्यन्त मर्दन करके १ रत्ती की गुटिका बनाकर शीशी में सुरक्षित रखें। शीशी की एक गोली माता के दूध और मधु के साथ देने से १ घंटा पश्चात् बालक को उल्टी या दस्त होगा। उसके साथ ही बहुत सा कफ निकल जायगा। अगर एक दफा देने से उल्टी दस्त न हो तो १ गोली और भी दे सकते हैं। १ या २ गोली से अधिक नहीं देनी चाहिए। उल्टी और दस्त होने के बाद नम्बर दो की निम्न पुड़िया बनाकर दें—

गौदन्ती भस्म, श्वास कुठार रस, माणिक रस, (जो हड़ताल और अभ्रक के संयोग से बना हो), शंख भस्म सब १-१ रत्ती मिलाने पर १ मात्रा बनती है। ऐसी २-३ मात्रा तुलसी के रस के साथ देवें और हर १ मात्रा के बाद शीत मिश्री रस ३ रत्ती नागरबेल के पान के रस के साथ दें।

—श्री महन्त भगवानदास वैद्य
बहारपुरा दोहद (पंचमहाल) गुजरात

बालकों के नेत्र रोग

कविराज श्री विष्णुदत्त पुरोहित आयुर्वेदाचार्य



मानव शरीर का जिस तरह प्रत्येक अङ्ग व उसका अवयव उपयोगी है ठीक वैसे ही मानव शरीर की आंखें अपना एक विशेष महत्व रखती हैं। बाल्यावस्था मानव शरीर की पहली स्थूलभूमि है एवं गर्भगत बालक की स्थिति सूक्ष्म भूमि। आयुर्वेदीय चिकित्साविज्ञान ने गर्भावस्था से ही बालक के प्रत्येक अङ्ग व उसके अवयवों की रक्षा सम्बन्धी एक ठोस योजना अपने शास्त्रों में वर्णित की है। यो आयुर्वेद ने साधारण रीत्या यह उद्घोषित किया है कि “यदि हम प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करें तो शरीर को किसी भी प्रकार के रोग का सामना नहीं करना पड़े।” किन्तु दुर्भाग्य से आज हमारे इस मौलिक महत्वपूर्ण नियम को पालन के स्थान पर प्रतिस्पर्धा से उल्लंघन ही किया जा रहा है। और आये दिन बीमारियों की वृद्धि का भी चरमोत्कर्ष हमें भुगतना पड़ रहा है। जिससे सभी वैज्ञानिक एवं मानव मात्र भयंकर रूप से उत्पीड़ित हैं। उनकी उत्पीड़ितावस्था में हर एक वैद्य सोचता है—यदि आज भी सादा व पौष्टिक आहार का सेवन और खुलीहवा में रहना, हम अपना नियम बना लें और पथ्यशील व्यक्ति दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का भलीभांति पालन करते रहें तो अपने शरीर को बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक निरोग रखने में हम समर्थ हो सकते हैं एवं देश की अतुल संपत्ति को विदेशों में जाने से रोक सकते हैं। साथ साथ सुखी व समृद्ध रहते हुए विश्व के के सम्मुख एक अतुलनीय उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं।

सामान्यः नेत्रों की रचना अति सूक्ष्म है। वह छोटे नींबू सा एक गोल अवयव है। यह वास्तव में प्रकृति की एक अद्भुत रचना है जो कि अपने आप में सर्वथा परिपूर्ण है, उसकी इस पूर्णता को स्थायित्व देने के लिये भी प्रकृति ने पूर्ण चेष्टा की है।

बाल्यावस्था अथवा गर्भावस्था से ही इसकी युक्त परिचर्या की जाय तो वृद्धावस्था तक इसे हम निरोग रख सकते हैं और किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। कारण प्रकृति ने स्वयं इसकी सुरक्षा में अत्यन्त ही सहयोग दिया है।

नेत्र मानव शरीर का ही एक अङ्ग होने के कारण जो नियम समस्त शरीर या उसके किसी अवयव के लिये लागू किये गये हैं वे ही आंख के लिये भी लागू होते हैं। यदि हम आंखों का दुरुपयोग न करें, उनकी शक्ति से अधिक काम न लें और उन्हें भलीभांति स्वस्थ रखें तो पूर्णायु पर्यन्त वे हमारा साथ निभा सकती हैं। उन्हें न सुरमे की आवश्यकता है न काजल की और न त्रिफला जल के छींटों की, प्रत्युत उन्हें तो युक्ताहार व स्वच्छता की ही जरूरत है। कारण प्रकृति ने इसकी रचना ही ऐसे ढङ्ग से की है कि बाह्यदोषों से इनका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं, हां आन्तरिक दोषों से इनमें सहज ही विकार पैदा होता रहता है, अतः प्राकृतिक नियमानुसार हिताहार विहार एवं स्वच्छता ही इनका स्थायित्व है। यहां थोड़ा इनकी रचना के बारे में लिखना अप्रासंगिक न होगा।

नेत्र के अङ्ग—१. नेत्र गोलक, २. नेत्र की धमनियां, शिरार्यें, रसवाहिनियां तथा वात नाडियां, ३. नेत्र गोलक को गति की शक्ति देने वाली मांसपेशियां एवं ४. नेत्र श्लेष्मावरण या नेत्र वर्म।

नेत्र के उपाङ्ग—१. पल नेत्रच्छद, २. भ्रू, ३. अश्रु जनक पिण्ड-अश्रु ग्रंथियां [अश्रुवाहक प्रणालिका] अश्रुद्वार, अश्रुवाहक नलिका, अश्रुप्रपिका अश्राशय, अश्रुकुम्भिका, [अश्रुवाहक नल-नासा सुरङ्गगत अश्रुवाहिका सह] ४. नेत्र गृह-नेत्रगृह।

नेत्र गोलक के भाग—१. शुक्लमंडल, २. नेत्र बाह्य पटल ३. तारामण्डल, ४. तन्तु समूह, ५. नेत्र मध्य पटल, ६. नेत्रदर्पण, ७. जलमय रस का पूर्व

५. जलमय रस का पश्चिम खण्ड, ६. दृष्टि-विषकांच, १०. दृष्टिमणि आवरण, ११. कांच रस, १२. दर्शन नाडी एवं १३. दर्शन नाडी सिरा, बिम्बांकुरिका ।

नवजात शिशु का नेत्र गोलक बिल्कुल गोलाकार होता है, किन्तु जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है वैसे वैसे कुछ लम्बा गोलाकर बनता जाता है। नेत्रगृह में नेत्र एक मांसपेशियों और श्लेष्मावरण जैसे आच्छादित से बंधा हुआ रहता है। इस आच्छादन को आच्छादन नेत्रधर कला कोष कहते हैं। नेत्र गोलक अनुलम्ब (पूर्वपश्चिम) व्यास बाह्य भाग में १४.१५ मिलीमीटर (१.०२३ इंच) और भीतर के भाग में २२-१२ मि. मी. है। नेत्र के दोनों कोनों के बीच अनुप्रस्थ (वाम दक्षिण) २४-१३ मि. मी. और उत्तान (खड़ा) व्यास २३.४८ मि. मी. सामान्यतः स्थूल रूप में नेत्र गोलक का व्यास लगभग १ इंच है। सामान्यतः जन्म के समय सबल शिशु के नेत्र का अनुलम्ब व्यास लगभग १७.५ मि. मी. और युवावस्था में प्रवेश होने पर २०-२१ मि. मी. होता है। पुरुषों के तीनों व्यास स्थितियों की अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं।

नेत्र गोलक का वजन औसत १०५ ग्रैन अर्थात् ३.५ माशे होता है। दोनों नेत्रों के अक्ष समानान्तर हैं किन्तु दोनों नेत्रों के नेत्रगृहों के अक्ष समानान्तर नहीं होते। दर्शनतन्तु के अक्ष नेत्रगृह के अक्षों से मिलते जुलते होते हैं।

नेत्रगोलक के दो भाग हुए हों ऐसी अधिक सम्भावना है। आगे के हिस्से में १/६ भाग जो बाह्य के कांच के समान दीखता है उसे शुक्ल मण्डल कहते हैं जो कि पारदर्शक है। पश्चात् भाग ५/६ जो भाग है उसे अपारदर्शक कहते हैं उसे मण्डल भी कहते हैं। शुक्ल मण्डल और नेत्र मण्डल जिस स्थान पर मिलते हैं, वहीं सहज दबा गोलाकार भाग बनता है उस भाग को स्वच्छ-तन्तु संधि की संज्ञा दी है। शुक्ल मंडल का मध्य

बिन्दु और नेत्र बाह्य आच्छादन का पिछला मध्य बिन्दु, इन दोनों बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखा को 'नेत्राक्षरेखा' करते हैं। जो रेखा नेत्रदर्पण के मध्य में पीत बिन्दु से शुक्ल मण्डल के मध्य भाग की अपेक्षा कुछ भीतर के भाग में होकर जाती है उसे 'दृश्याक्ष रेखा' कहते हैं। यह रेखा विशेष महत्व की है। ह्रस्व दृष्टि अथवा दीर्घ दृष्टि जैसी विकृति में जहां नेत्र गोलक लम्बा या छोटा हो जाता है, वहां इस अक्ष रेखा में भी अन्तर होता है।

नेत्रगोलक नेत्रगृह के भीतर आगे के हिस्से में अवस्थित है। वह नेत्र गृह के ऊपर की ओर, बाहर की दीवार से कुछ अधिक समीप रहता है। किसी भी स्थान में नेत्र गृह के किसी भी भाग के साथ नेत्र गोलक सीधा नहीं चिपका है। किन्तु नेत्रगृह की अस्थि और नेत्रगृह गोलक के बीच में कुछ चर्बी का हिस्सा आया है। नेत्रगृह की बाहर की दीवार वहां तक पिछली ओर देखने में आती है कि उस स्थल में नेत्र गोलक का कुछ भाग खुला हो जाता है, ऐसा भास होता है। विशेषतः शुक्ल मण्डल का मध्यभाग इस तरह अवस्थित है कि नेत्रगृह के ऊपर और नीचे के भाग में लगी हुई एक पट्टी रखी जाय तो वह शुक्ल मण्डल के मध्यभाग को कुछ स्पर्श करती है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति में इस तरह नहीं होता। कुछ मनुष्यों में नेत्रगोलक किंचित आगे बढ़े हुए दीखते हैं और गहरे उतरे हुए दीखते हैं। दोनों पुतलियों (तारों) के मध्य भाग का अन्तर बहुधा ६० मि. मी अर्थात् लगभग २ ३/४ इंच होता है।

नेत्रगोलक मुख्यतः तीन पटलों से बना है [१] बाह्यपटल और शुक्ल मण्डल, [२] नेत्र धमनीमय मध्यपटल और [३] नेत्रान्तर पटल [नेत्रदर्पण]। नेत्रबाह्यपटल और शुक्ल मण्डल इन दो अवयवों से चक्षु का आवरण बना है। उसमें शुक्ल मण्डल १/३ भाग में और बाह्यपटल २/३ जितने हिस्से में अवस्थित है।



उपरोक्त रीत्या नेत्रगोलक का परिचय सूक्ष्मतः दे देने के बाद अब बालकों के नेत्रों को प्रकृति माता किस तरह सतत सहायता करती है उसका निरूपण कर नेत्र रोगों के निदान व चिकित्सा पर प्रकाश डाला जायगा।

प्राकृतिक साहाय्य—

निसर्ग ने आंखों की रक्षा के लिये दो पलक बनाये हैं मानोंस्वयं खुलने तथा बन्द होने वाले दरवाजे हैं। आंख को किसी प्रकार की हानि पहुंचने की सम्भावना होते ही वे तुरन्त बन्द हो जाते हैं। पलकों के किनारे पर बालों की एक पंक्ति रहती है मानों वे द्वारपाल हैं जो आंख के भीतर जन्तु, धूलिकण आदि के प्रवेश को रोकते हैं। रात्रि के समय जब हम सो जाते हैं पलक बन्द रहता है जिससे बाहर की हवा पुतली को नहीं लग सकती। केवल यही नहीं बल्कि पलक के बालों के नीचे एक प्रकार का गाढ़ा प्रवाही पदार्थ उत्पन्न करने वाली कुछ नलियां भी रहती हैं जिनमें से निकल कर यह प्रवाही पदार्थ दोनों पुतलियों के ऊपर आजाता है जिससे पुतलियां इस तरह ढक जाती हैं कि आंख के अन्दर की वाष्प बाहर नहीं निकल सकती और न बाहर की हवा भीतर जा सकती है अतएव पुतली सर्वथा शुष्क नहीं हो सकती। यदि वह बिल्कुल सूख जाय तो अत्यन्त अनिष्टकारक परिणाम उत्पन्न हो सकता है। इस अनिष्ट का प्रमाण हमको उस समय भलीभांति मिल सकता है कि जब कोई रोगी ज्वर अथवा किसी व्याधि के कारण कई दिन तक मौन पड़ा रहे। और उसकी आंखें अर्ध निमीलिता-वस्था में ही रहें। यह दशा उपस्थित होने पर हम बहुत शीघ्र देखेंगे कि आंखें खुली रहने के कारण पुतली का जो भाग खुला रहता है वह सूख गया है और उसमें घाव होगया है।

आंख में थोड़ा बहुत मैल चला भी जाता है तो उसे धोकर साफ करने के लिये आंसू तैयार रहते हैं। जब आंख में मैल नहीं रहता तो केवल उतने

ही आंसू उत्पन्न होते हैं कि जिनसे केवल पुतली भीगी रहे, परन्तु जब मैल को धोकर बाहर निकालने की आवश्यकता होती है अथवा आंख को हानि पहुंचाने वाले धूल इत्यादि के प्रभाव को कम करना आवश्यक होता है तो आंसू पर्याप्त प्रमाण में उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने आंसुओं के एक गुण का भी पता लगाया है। वह यह है कि हवा अथवा धूल इत्यादि के द्वारा आंख में जो जीवाणु पहुँच जाते हैं आंसू उन्हें विनष्ट कर देते हैं और उनसे आंखों को स्वच्छ रखने के लिये पलक के बाल भी कड़ा काम करते हैं। यह बाल एक मिनिट में लगभग २० बार पुतली को साफ कर देते हैं। यह सब व्यवस्था केवल पुतली को स्वच्छ रखने के ही लिये है।

आंख के भीतर रहने वाले नेत्रदर्पण जैसे कोमल पदों को अधिक प्रकाश से बचाने लिये अक्षिगोलक के बीच में काला रङ्ग लगाया है। जिससे केवल कनीनिका के द्वारा ही प्रकाश आंखों में जा सकता है और उसमें भी अत्यन्त सूक्ष्म और यथोचित व्यवस्था की गई है। जब प्रकाश थोड़ा हो तो वह बड़ी हो जाती है जिससे आंख में अधिक प्रकाश जा सकता है। अधिक प्रकाश में वह संकुचित हो जाती है जिससे आंख में बहुत थोड़ा प्रकाश प्रवेश कर सकता है।

इस विवेचन से हम भलीभांति जान सकते हैं कि आंख को स्वस्थ रखने के लिये प्रकृति ने स्वयं समस्त व्यवस्था कर रखी है और हमारे लिये केवल यही काम शेष रह जाता है कि उसके निर्धारित नियमों का यथोचित पालन करते रहें। अवस्था भेद से आंखों की संभाल करने के लिये निम्नलिखित विभाग किये गए हैं—

१. गर्भावस्था, २. जन्मकाल, ३. बाल्यावस्था,
४. युवावस्था और ५. वृद्धावस्था।

गर्भावस्था में सावधानी—कुछ एक नेत्र रोग जैसे कि शुक्ल मण्डल का गर्भप्रदाह, उपदंश पीडित



शिशुरोगाङ्कः

माता पिता की संतति को ही होता है। उसे रोकने के लिये सगर्भावस्था में ही माता पिता की योग्य चिकित्सा कर उपदंश के विष को रक्त में से नष्ट कर देना चाहिए। जन्म के पहले बच्चों को कितने ही नेत्र रोगों की सम्प्राप्ति के कारणों में से एक कारण यह है कि माता को योग्य पोषक तत्वयुक्त आहार न मिलना। अतः सगर्भा को भावी सन्तान के संरक्षणार्थ हितकर पौष्टिक पथ्य व आहार दें।

जन्मकाल में सावधानी—हम ऊपर बतला चुके हैं कि जन्म देने वाली माता को सुजाक के कीटाणुओं से उत्पन्न प्रदर हो तो प्रसवकाल में शिशु के नेत्रों के कीटाणुओं का संसर्ग हो जाता है। फिर उसी हेतु से नेत्र श्लेष्मावरण का भयंकर प्रदाह हो जाता है। अतः इस रोग से बचने के लिये तत्काल योग्य परिचर्या न की जाय तो उस रोग से हजारों बल्कि लाखों बालकों की आंखें चली जाती हैं। फिर मृत्युपर्यन्त कष्ट सहन करना पड़ता है।

जन्म के पश्चात् बालक को तुरन्त स्नान कराया जाता है और साथ ही उसकी आंखें भी धोई जाती हैं। इसके पश्चात् भारत के अनेक प्रांतों में काजल लगाने की प्रथा है। परंतु यह प्रथा यूरोपिन देशों में नहीं है। यदि हम दोनों देशों के बालकों की आंखों का मुकाबिला करें तो मालूम होगा कि यूरोपिन बालकों की आंखों में रोहे बहुत कम पाये जाते हैं। रोहे छूत का रोग है और वह इस काजल द्वारा अज्ञानी माता या धाय द्वारा अनेक निरपराधी बच्चों को प्राप्त हो जाता है।

बालकों की आंखें धोने के बाद एक साफ तौलिया या रुमाल से पोंछ देना चाहिये। यह रुमाल या तौलिया हरेक बालक के लिये जुदा जुदा होना चाहिये। किसी आंख दुखने वाले का जिसे कि रोहे का छूत का रोग हो तौलिया या रुमाल काम में नहीं लिया जाना चाहिये। रोहों का रोग कच्छ, काठियावाड़, गुजरात, राजस्थान और

पंजाब में अधिक पाया जाता है। यह रोग अत्यन्त कष्टसाध्य है। इससे आंख के भीतर कितने ही रोग पैदा हो जाया करते हैं। कितने ही बार इससे आंखें चली जाती हैं या नजर को नुकसान पहुंचता है।

वर्तमान समय के आधुनिक नेत्र चिकित्सकों ने अपने सूक्ष्मावलोकन एवं असंख्य प्रयोगों द्वारा निश्चय किया है कि रोहों का कारण 'रोहों का चेप' ही होता है। अगर रोहों वाले आंखों का लगाया हुआ हाथ, कपड़ा या रुमाल अथवा धोती का छोर तन्दुरुस्त आंख को लगता है तो उसमें भी रोहे होने की संभावना रहती है। नेत्र वैद्यों को भी इस चेप से सावधान रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस किसी स्थान में कभी हवा या रोशनी नहीं पहुंचती उनमें रोहों वाले बालक रोगी के साथ तन्दुरुस्त आंखों वाले स्त्री, पुरुष या बालक सोयें तो उन्हें भी इस रोग के होने की अधिकांश में सम्भावना रहती है। अतः ऐसे स्थान पर तन्दुरुस्तों को नहीं सोना चाहिये। अगर कभी ऐसे रोगी की आंखों में हाथ लगाना पड़े तो पहले हाथों को साबुन से धोकर फिर रस कपूर के पानी या कोलन वाटर से धो लेना चाहिये।

बाल्यावस्था में सावधानी—बाल्यावस्था में यदि स्वास्थ्य नियमों का पालन किया जाय तो फिर युवावस्था व वृद्धावस्था में अधिक आपत्ति नहीं आती। कारण बाल्यावस्था में नेत्र के अङ्ग कोमल होते हैं, इस अवस्था में शारीरिक विकास के साथ साथ नेत्र के अङ्गों का भी विकास होता रहता है। ऐसी अवस्था में यदि आवश्यक पोषण में न्यूनता रही तो नेत्र के अङ्गों का यथोचित विकास नहीं हो सकता। नियम भंग से रोगोत्पत्ति होती ही है एवं पोषण में भी बाधा पहुंचती है तथा इसमें भी हानि संभव है। अतः युवावस्था तथा वृद्धावस्था की अपेक्षा नेत्रों की रक्षा के लिये बाल्यावस्था में निम्नलिखित नियमों का पालन अत्यावश्यक है—



(१) बालक की आंख पर सीधा प्रकाश नहीं पड़ना चाहिये। लैम्प अथवा दीपक भी ऐसे स्थान पर रखना चाहिये कि उसका सीधा प्रकाश बालक पर न पड़े। बालक सुलाना भी ऐसे स्थान पर चाहिये कि सूर्य रश्मियां सीधी उसकी आंख पर न पड़ें। बिजली के लैम्प पर पर्दा लगा दें।

(२) बालक को संक्रामक रोगों से बचायें।

(३) बालक के खेलने के लिये छोटे खिलौने नहीं देने चाहिये। क्योंकि छोटे खिलौने भली-भांति देखने के लिये बालक उन्हें अति निकट लेजा कर देखता है। इससे सभी वस्तुओं को निकट से देखने की आदत पड़ जाती है। परिणामतः बालक जब अध्ययन प्राप्त करता है तब पुस्तक भी आंख के नजदीक रखता है। यह आदत ह्रस्व दृष्टि की आधार शिला है।

बालक पांच वर्ष का हो जाय और पाठशाला पढ़ने जाने लगे तब उसकी आंखों की रत्नार्थ निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये—

उसके पढ़ने लिखने का कमरा ऐसा होना चाहिये जिसमें प्रकाश भलीभांति आता हो। यदि संभव हो तो उसके बैठने का आसन व कुर्सी उत्तर दिशा की खिड़की की ओर रखनी चाहिये जिससे उसे प्रकाश समान रूप से मिलता रहे। यदि कुर्सी मेज दी जाय तो मेज इतनी नीची न होनी चाहिये कि बालक को अपना सिर पुस्तक पर झुकाने की आवश्यकता पड़े। क्योंकि ऐसा करने पर आंख नीची रहती हैं और गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार उनमें अधिक रक्त भर जाता है जिससे नेत्र गोलक लम्बे होकर बालक की दृष्टि दूर देखने में असमर्थ हो जाती है जिसे ह्रस्व दृष्टि कहते हैं। इस कार्य के लिये ऊंची टेबिल अथवा ढालू डेस्क अधिक उपयुक्त रहता है। बालक पुस्तक को आंख के पास रखकर न पढ़े। क्योंकि ऐसा करने से स्वस्थ आंख में भी ह्रस्व दृष्टि उत्पन्न होने लगती है और ह्रस्व दृष्टि एक ऐसा रोग है कि एक बार शुरू हो जाता है तो फिर उसे रोकना

बड़ा ही कठिन हो जाता है।

नेत्र रोगों की चिकित्सा—

मैं अपने चिकित्सालय में नेत्र रोगों की चिकित्सा बड़े ही मनोयोग से किया करता हूँ। बालकों की आंखों के रोगों में तो मैं माता के स्तन्य ही का प्रयोग करवाया करता हूँ। इससे नव-जात का नेत्राभिध्यन्द आदि रोग बहुत आसानी से नष्ट हो जाते हैं। साथ साथ ३ माह से ऊपर वाले बालकों को 'सप्तामृत लौह' का भी घी व मधु के साथ सेवन करवाता हूँ। त्रिफला काथ से आंखों की शुद्धि व स्वेदन भी करवाया करता हूँ। आंखों में फूले आदि के लिये हमारे शहर के पास ही एक पचपदा नामक गांव है उसमें एक प्रकार का नमक कांच के सदृश आकाशी आभा लिये निकलता है वह जल में घिसकर लगवाया करता हूँ। शोथ में दाणा मेंथी उबाल कर बंधवाता हूँ। चोट आदि लगने पर विशुद्ध मधु वा पुराना घी डाला करता हूँ और भी बालकों के नेत्र रोग में त्रिफला के विविध प्रयोगों को काम में लाया करता हूँ। मैं मानता हूँ कि नेत्र रोग पेट की खराबी के बिना नहीं होते अतः पेट को साफ रखाने में ज्यादा श्रम किया करता हूँ। चन्द्रोदयावर्ती का भी प्रयोग करता हूँ। त्रिफला घृत का मुझे बहुत ही विश्वास है। इससे बड़े बड़े आंख के रोग मैंने स्वस्थ किए हैं, बतलाये भी हैं और किसी से भी उपालम्भ नहीं मिला है। मैं आंखों की प्राकृतिक संज्ञता का पक्षपाती हूँ। उसीका मैंने वर्णन किया है। चूने के पानी का भी मैंने इसमें आश्चर्यजनक लाभ पाया है। इससे बालकों के सारे रोग (आंख रोग भी) मिटाये हैं। घी, खांड, त्रिफला रात में भिगो (कांसे के बर्तन में) पानी पर तैरायें तब प्रातः चटवाने से भी अच्छा लाभ होता देखा गया है।

—कविराज श्री विष्णुदत्त पुरोहित
आयुर्वेदाचार्य, जोधपुर।

नेत्र रोगों की सामान्य चिकित्सा

आयुर्वेदाचार्य डा० सत्यनारायण खरे ए., एम. बी. एस.



नेत्र शरीर का एक प्रधान अङ्ग है। इसकी रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। नेत्रहीन प्राणी संसार में अपनी उन्नति करने में असमर्थ है। संसार की सभी वस्तुयें, सभी मनोरंजन, सभी विषयों के जानवर एवं सभी दैनिक कार्यों को नेत्रहीन व्यक्ति न देख सकता है और न सुचारु रूप से कार्य कर भी सकता है। वह अपने जीवन को पृथ्वी पर भारस्वरूप व बेकार समझता है। कुछ प्राणी जन्म से ही अन्धे होते हैं उनके लिये तो कोई चिकित्सा नहीं होती है परन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने बच्चों के नेत्र रोगों पर ध्यान नहीं देते, बाद में वह नादान बच्चे नेत्रहीन हो जाते हैं। बच्चों के जीवन को उन्नतमय बनाने के लिए उनके संरक्षकों का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों के नेत्रों की रक्षा करें। उनके नेत्रों की रक्षा उष्णता, शीतलता, अभिघात, धूल, यांत्रिक अभिघात, रसायनिक तेजाब इत्यादि का अभिघात, कीटाणुजन्य अभिघात, आकस्मिक अभिघात एवं धूल इत्यादि से करें। इन्हीं कारणों से नेत्ररोग होते हैं। इनसे नेत्रों को बचाना ही नेत्रों की सामान्य चिकित्सा है। आहार एवं विटामिन की कमी से भी नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते हैं जैसे रतौंधी (Xerophthalmia) विटामिन ए की कमी से होती है।

शिशु के दा होते ही उसकी आंखों की रक्षा करनी चाहिये तभी भविष्य में उसकी आंखें स्वस्थ रहेंगी। पैदा होने के पश्चात् शिशु को स्नान कराया जाता है। उसी समय शुद्ध टंकण (बोरिक एसिड) को गर्म पानी में डालकर किंचित उष्णजल से आंखों को साफ करना चाहिए। क्योंकि गर्भाशय के विकृत रक्त में अनेक प्रकार के कीटाणु होते हैं। इन्हीं के उपसर्ग द्वारा नवजात शिशु को नेत्राभिव्यन्द रोग हो जाता है। इसी समय यदि ध्यान न

दिया गया तो फूली एवं जाला पड़ने का डर रहता है। आंखों को बोरिक एसिड के उष्ण जल से धोने के बाद आंखों का पीला लोशन (एक्रीफिले-विन ड्राप्स) डाल देना चाहिये। इससे कीटाणुओं के संक्रमण का कोई भय नहीं रहता है।

शिशु पूय मेह (Ophthalmia neonatorum)—इसके होने पर शिशु रोता रहता है, कानों को खींचता है। बालक के नेत्र जन्म से दूसरे-तीसरे दिन सूज जाते हैं। आंखों से पूय का स्राव होने लगता है। शिशु नेत्र नहीं खोल पाता है। शिशु को बुखार रहता है कान के नीचे की ग्रन्थियां सूज जाती हैं। आंखों को छूने पर भी शिशु रोता है। यदि यह सूजन एक सप्ताह के अन्दर ठीक नहीं हुई तो कृष्णमण्डल पक जाता है। इस प्रकार पूरा नेत्र गोलक सड़कर निकल जाता है। आंख में गड्ढा हो जाता है और बालक अन्धा हो जाता है। इसलिये ऐसी अवस्था में नेत्र की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। इसकी चिकित्सा निम्न है—

(१) आंख को बोरिक एसिड के उष्ण जल से साफ करते रहना चाहिये जिससे कि आंख के अंदर पूय एकत्र न हो सके। आंख साफ करने के बाद लोक्युला ड्राप, पेन्सिलीन ड्राप तथा पेन्सिलीन नेत्र मलहम का प्रयोग भी किया जा सकता है।

(२) यदि आंख की सूजन और लालिमा ठीक न हो तो दूध (Milk protien) का सूचीवेध मांसान्तर्गत नितम्ब भाग में १ से १॥ C. C. तक देना चाहिये। यह इंजेक्शन २ दिन के अन्तर से लगाना चाहिये। इस इंजेक्शन को सावधानी से लगायें क्योंकि फोड़ा बनने का डर रहता है। इसलिये इसे मांस में गहराई से लगाना चाहिये।

आंखों में बार बार अभिव्यन्द होने से जीर्ण नेत्राभिव्यन्द हो जाता है। आंख के पलकों के

श्लेष्मावरण में हमेशा लालिमा बनी रहती है और छोटी छोटी फुन्सियां पैदा हो जाती हैं। इनको रोहे (Trachoma) कहते हैं। यह कभी कभी फूल जाते हैं तो आंख के पलक सूजकर बन्द हो जाते हैं। इसका आक्रमण बच्चों को अधिकतर होता है। इस रोग से बच्चों की आंखों की रक्षा निम्न प्रकार से करनी चाहिये—

(१) यह संसर्ग वाला रोग है इस कारण पीड़ित व्यक्ति की आंख का स्राव स्वस्थ व्यक्ति की आंखों के संपर्क में आकर रोग का उत्पादन करता है। इसलिये रोगी के हाथ, रुमाल या कपड़ों से स्वस्थ व्यक्ति को दूर रहना चाहिए क्योंकि रोगग्रस्त आंखों को इनसे पोंछने के बाद स्वस्थ आंख में लगाने से रोहे हो जाते हैं। अनेक मूर्ख मातायें अपनी साड़ी से अपनी आंखों को पोंछ देती हैं इससे भी रोहे हो जाते हैं।

(२) एक परिवार में काजल की डिब्बी एक ही होती है। इसी डिब्बी से परिवार के सभी बच्चों को काजल लगाया जाता है। इसलिये रोगग्रस्त आंखों का स्राव अंगुली द्वारा उस डिब्बी से पहुंच जाता है फिर उस डिब्बी से काजल लगाते समय दूसरे बच्चे के स्वस्थ नेत्र पोथकी से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये काजल की डिब्बी प्रत्येक व्यक्ति की अलग अलग होनी चाहिये जिससे संक्रमण एक आंख से दूसरी आंख में न जावे।

(३) तेज वायु, धूप, धूल और धूम्रयुक्त वातावरण में काम करने वाले व्यक्तियों और बच्चों को यह रोग हो जाता है। इन कारणों से नेत्ररोग बार बार हो जाते हैं। इसलिये इन कारणों से बचना चाहिये। पोथकी के लक्षण तथा चिन्ह निम्न है—

१. स्राविन्य—आंखों से जल स्राव हमेशा होता रहता है जो विशेषतः धूप, धूम और वायु के कारण आंख पर जोर पड़ने से होता है।

२. प्रकाशासह्यता—रोगी प्रकाश की ओर देख नहीं सकता है। कई दिनों तक अंधेरे कमरे

में शिर को नीचा किए पथी रहता है।

३. वेदना—आंख में पीड़ा हमेशा रहती है। आंख में किरकिरी पड़ी रहने के समान त्रास होता है।

४. आंख खोलने में अक्षमता—आंख में लाली आकर अश्रुस्राव होने लगता है। प्रातःकाल में अभिव्यन्द के समान कीचड़ आकर आंख चिपक जाती हैं। रोगी की आंखें पूर्णतया नहीं खुलती।

५. आंखों के पलकों में अधिक सूजन पैदा हो जाती हैं।

यदि इस रोग की उपयुक्त चिकित्सा नहीं की गई तो अनेक आंखों में उपद्रव पैदा हो जाते हैं। यहां तक कि शिशु नेत्रहीन भी हो सकता है।

पोथकी की अनुभूत चिकित्सा—

(१) बोरिक एसिड पाउडर के उष्ण जल से आंखें प्रक्षालन एवं सेक करें, बाद में सिलवर आयोडाइड की २-२ बूंद आंखों में डालें।

(२) प्रत्येक रोग में बोरिक एसिड पाउडर के जल से नेत्र प्रक्षालन करना लाभप्रद होता है। इसके बाद निम्न नेत्रबिन्दु एवं नेत्र मलहम लगाना चाहिये—

(अ) लोकुला ड्राप—इसकी २-२ बूंद दिन में चार बार आंखों में डालनी चाहिये जब तक कि आंखें पूर्णरूपेण स्वस्थ न हो जावें।

(आ) सल्फासिटामाइड ड्राप एवं मलहम—इसकी १०, २० प्रतिशत एवं ३० प्रतिशत की शक्ति के नेत्रबिन्दु आते हैं। इसकी १० प्रतिशत की शक्ति की मलहम भी आती है। यह नेत्र रोग में अत्यन्त लाभदायक है।

(इ) पेनसिलीन नेत्र मलहम—इसकी २५००० यूनिट के शक्ति की नेत्र मलहम आती है और यह नेत्र रोगों में अत्यन्त लाभदायक होती है। ग्रामीणों में यह मलहम ५००० यूनिट की शक्ति की मिलती है। इसको प्रयोग में न लाना चाहिये क्योंकि यह कम लाभदायक है।

(ई) कोई कोई चिकित्सक पेनसिलीन के इन्जेक्शन का पाउडर परिष्कृत जल में घोलकर उसका बोल आंखों में डालते हैं। यह भी लाभप्रद है।

(उ) एक्नीफिलेविन को परिष्कृत जल या गुलाब जल में घोलकर नेत्रबिन्दु बनाये जाते हैं। यह बिन्दु अधिक लाभदायक होते हैं। अधिकतर औषधियों में पीले लोशन के नाम से यह मिलता है।

(ऊ) एक्नीफिलेविन की मलहम भी आती है जिसे बर्नाल कहते हैं। नेत्र रोग में लाभदायक है।

(३) शिशुओं की आंखों पर माता के दुग्ध में हई भिगोकर बांधनी चाहिये।

(४) माता का दूध न मिले तो बकरी का दूध इस जगह प्रयोग में लावें। बकरी के दूध के फाहे प्रत्येक नेत्र रोग के लिए लाभदायक होते हैं।

(५) त्रिफला के चूर्ण को रात्रि में १ पाव पानी में भिगो देना चाहिये। प्रातः पानी को छानकर उससे आंखों को धोना चाहिये। जो व्यक्ति प्रतिदिन इस विधि को प्रयोग में लावेगा उसके नेत्र कभी रोगग्रस्त नहीं होते हैं। आंखों की ज्योति बढ़ती है और प्रत्येक रोग नष्ट हो जाते हैं।

(६) अनार के पत्ते, अमरुद के पत्ते, गेंदा के पत्तों को पीसकर लुग्धी बनाकर आंख पर बांधें।

(७) शहद एवं चूने को मिलाकर आंख की बगल में कनपुटी पर लगाने से नेत्र की लालिमा नष्ट हो जाती है।

(८) फिटकरी को गर्म करके उसके फूल को शुद्ध जल में घोलकर आंख में डालें।

(९) हरड़, आम्र हरिद्रा एवं अफीम को साथ पीसकर जल में मिलाकर गर्म करके किंचित घण्टा नेत्र के पलकों पर लगाने से आंखों की पीड़ा एवं लालामी नष्ट हो जाती है।

(१०) आंख की सूजन एवं लालामी के लिये आंख के ऊपर काली या पीली मिट्टी की लुगदी बनाकर बांधनी चाहिये इससे शीघ्र लाभ मिलता है।

(११) अभ्रक भस्म विशेषकर मधु और त्रिफला चूर्ण के साथ अन्तः प्रयोग करें।

(१२) त्रिफला घृत का सेवन, नस्य तथा अंजनादि में प्रयोग करने से विभिन्न दारुण नेत्र रोग अच्छे हो जाते हैं।

(१३) विटामिन ए के योग नेत्र के लिए लाभदायक होते हैं। इनसे रतौंधी नष्ट हो जाती है।

—श्री डा० सत्यनारायण खरे ए., एम. बी. एस.
सेवक औषधालय, ककवारा (भांसी) यू. पी.

बालकों को कुकूणक रोग —

त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आमला), पठानी लोध्र, सांठी (पुनर्नवा की जड़), अदरक, बेंगन की जड़ और जीवन्ती की जड़ इन सब औषधियों को [सम-भाग लेके बारीक पीस के एक गोला सा पिंड बनाकर तैयार रखें। जब उपरोक्त रोग वाला बालक आये तब थोड़े से पानी में गोला घिसें और गुन-गुना गरम करके बालक के कपाल पर लेप लगाने से कुकूणक रोगी बालक का रोग एक ही हफ्ता में आराम हो जाता है।

—श्री महन्त भगवानदास वैद्य
बहारपुरा, दोहद (पंचमहाल) गुजरात

शिशु नेत्र काजल —

नैनी घी १०१ बार धुला हुआ ५ तोला, नीम के तैल से पारी हुई रयाही ६ माशा, एसिड बोरिक ६ माशा, जिंक आक्साइड ६ माशा।

बनाने की विधि और उपयोग—फूल की थाली में नैनी घी डालकर उपरोक्त शेष तीनों वस्तुओं को मिलाकर फूल की कटोरी से ४८ घंटे घिसना चाहिये। प्रतिदिन जितने घंटे काजल घिसा जाय लिखते रहें और रात्रि को थाली में अर्क गुलाब जल डाल दिया करें। सुबह को अर्क गुलाब फेंककर फिर घिसना शुरू कर दें। तैयार होने पर किसी डिब्बिया में रख लीजिये। प्रातः सायं आंखों में लगाने से शिशु को कोई भी नेत्र रोग नहीं होता है।

—श्रीमती सुनीति देवी आर्या, आर्य विद्यालय,
सरायतरीन (मुरादाबाद)

कुक्कूणक (Ophthalmia Neonatorum)

श्री डा० इन्द्रपाल सिंह ए०, एम० बी० एस०

सुश्रुत ने ७६ प्रकार के नेत्र रोगों के नाम गिनाते समय इस नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उत्तर तंत्र के २६ वें अध्याय में, जो कि सुश्रुत के नेत्र रोग प्रकरण का अन्तिम अध्याय है, इस रोग का वर्णन किया है। इसका स्पष्टीकरण करते समय यह कहा गया है कि क्योंकि ७६ प्रकार के नेत्र रोग युवक एवं बालक किसी में भी मिल सकते हैं लेकिन यह कुक्कूणक नामक रोग केवल बालकों में ही मिलता है अतः इसी विशेषता के कारण इसका पृथक् उल्लेख किया गया है।

आचार्य वाग्भट ने इस रोग का वर्णन उत्तर तंत्र के ६ वें अध्याय में किया है और इसे दन्तोत्पत्ति के समय होने वाला बाल रोग बतलाया है। यथा—

कुक्कूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः। -अ. ह. उ. ६

आधुनिक दृष्टिकोण से—आचार्य वाग्भट ने इस रोग का वर्णन वर्त्म रोगों के प्रकरण में किया है। वर्त्ममण्डल से *Eyelids* का और वर्त्मगत पटल से *Conjunctiva* का सहज ही बोध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य वाग्भट के वर्णन के प्रकरण को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि यह कोई *Conjunctival* रोग है। *Conjunctiva* के उन रोगों में, जिनका सम्बन्ध बालकों से है, प्रमुख रोग *Ophthalmia neonatorum* है। यदि हम इस रोग के लक्षणों से मिलान करें तो यह बात और भी निखर आती है कि आधुनिक *Ophthalmia neonatorum* ही अर्वाचीन कुक्कूणक है।

कारण—

आचार्य सुश्रुत ने इसका कारण दुग्धदोष माना है और इसके बात आदि दोषों के आधार पर चार भेद भी किये हैं। यथा—वातिक कुक्कूणक,

पैत्तिक कुक्कूणक, श्लैष्मिक कुक्कूणक, एवं रक्तज कुक्कूणक। आचार्य वाग्भट ने इसे दन्तोत्पत्तिकाल में होने वाला रोग माना है। और आचार्य कश्यप ने भी इसका कारण दुष्टस्तन्यपान ही माना है। ऐसा ही वर्णन माधव निदान में भी मिलता है यथा—

कुक्कूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि।

लक्षण—

आचार्य सुश्रुत ने कुक्कूणक के लक्षणों का बहुत ही सुन्दर एवं महत्वपूर्ण वर्णन किया है। उनके मत के आधार पर हम कुक्कूणक के लक्षणों की निम्न तालिका बना रहे हैं—

१. रोगी बालक नेत्र या नेत्रों को बार बार मलता है।

२. रोगी बालक को नेत्र में अत्यधिक खुजली की अनुभूति होती है।

३. नासिका, ललाट आदि अन्य नेत्र के समीप के उपाङ्गों को बालक बार बार मलता रहता है।

४. रोगी बालक प्रकाश की तरफ नहीं देख पाता है। इसी कारण रुग्ण शिशु को जब चिकित्सक के पास लाया जाता है तब प्रायः यह देखने में मिलता है कि बालक अपने अभिभावक के बखों में अपना मुख छिपाये रखता है।

५. पीडित नेत्र से निरन्तर स्राव होता रहता है।

सृद्नाति	नेत्रमति	कण्डूमथाचिक्कटं,
नासाललाटमपि	तेन	शिशुः स नित्यम्।
सूर्यप्रभां न सहते	खवति	प्रवृद्ध ॥

—सुश्रुत उत्तर तंत्र अ० १६

साध्यासाध्यता—

यह एक साध्य रोग है परन्तु इसका कारण दुष्टस्तन्य होता है, इसलिए जब तक माता या धात्री के स्तन्य दुष्ट की तरफ भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जायगा इस रोग से मुक्ति पाना कठिन है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में माता या धात्री के स्तन्य दुष्टि के प्रतिकार का और द्वितीय भाग में रोगग्रस्त शिशु की चिकित्सा का वर्णन अपेक्षित है।

(क) माता या धात्री के स्तन्य दुष्टि को दूर करने के लिए—

१. वमन एवं विरेचन द्वारा शुद्धि।

२. स्तन्य शुद्धि, ३. स्तन शुद्धि,

१. वमनार्थ योग—पिप्पली चूर्ण, मधुयष्टि चूर्ण, सरसों फल चूर्ण, सेंधव लवण का काथ बनाकर वमन कराने के लिए देना चाहिये।

विरेचनार्थ योग—हरीतकी फल चूर्ण, पिप्पली फल चूर्ण, द्राक्षा फल का काथ बनाकर विरेचन करने के लिए देना चाहिये।

२. स्तन्य शुद्धि—पटोल पत्र, त्रिफला चूर्ण, मुलक, मृद्वीका, गुडूचि का काथ बनाकर स्तन्य शुद्धि के लिये देना चाहिये।

३. स्तन शुद्धि के लिये—हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मुलक, पिप्पली का कल्क बना कर उसका स्थानीय प्रयोग लगाना चाहिये।

(ख) रोगग्रस्त शिशु की चिकित्सा—

१. वमन द्वारा शारीरिक शुद्धि

२. परिषेक द्वारा स्थानीय शुद्धि

३. मुख्य औषधि द्वारा रोग निवारण

१. वमन द्वारा शारीरिक शुद्धि—वचा चूर्ण के साथ सम्मिश्रण करके देना चाहिये।

२. परिषेक द्वारा स्थानीय शुद्धि—आमलकी एवं मुलक के फलचूर्ण का कषाय बनाकर उसके द्वारा नेत्र धोना चाहिए। इसके अतिरिक्त *Hydrargri per* *more lotion 1 in 10000* या *Acid boric* *lotion 8%* का भी प्रयोग कर सकते हैं।

३. मुख्य औषधि द्वारा रोग निवारण—आयु-

र्वेदिक आचार्यों ने इसकी चिकित्सा के लिये कई वर्तियों एवं अंजनों का वर्णन किया है। मैं उनमें से एक वर्ति एवं एक अंजन का वर्णन करता हूँ जो सद्यःलाभप्रद है।

वर्ति—लौहभस्म को शुद्ध मधु तथा गोघृत एवं गौ दुग्ध में मिलाकर वर्ति बना लेनी चाहिए और इस वर्ति का दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिये।

अंजन—ताम्रभस्म, दारुहरिद्रा, मधुयष्टि चूर्ण, तथा लोघ को समान मात्रा में लेकर मधु की सहायता से गुटिकांजन बना लेना चाहिये और इस अंजन का प्रयोग करना चाहिये।

आधुनिक चिकित्सा विधि के अनुसार *Penicilline drop* या *Penicilline ophthalmic ointment* का प्रयोग करना चाहिये। *Locula* या *Sanicula* या *Albucid Eye drops* का भी प्रयोग कर सकते हैं। ये तीनों दवायें *Sulphacetamide powder* की *Aqua* में बनी निर्मितियां हैं। इनका प्रयोग २० या ३०% की शक्ति में रोगानुसार करना चाहिये।

—श्री इन्द्रपाल सिंह A., M. B. S.
मरदह (गाजीपुर)



बाल-चातुर्भद्रिका

श्री पं० कृष्णप्रसाद त्रिवेदी

घन कृष्णारुणाशुद्धी चूर्णं सौद्रेण संयुतम् ।

शिशोर्ज्वरातिसारधनं श्वास कास वमीहरम् ॥

—भै. र. बालरोगाकारक श्लोक १४

अर्थात्—मोथा, पिप्पली, अतीस, और काकड़ा-सिङ्गी इनके समभाग चूर्ण को एकत्र खरल कर शहद के साथ (मात्रा ५ से ८ रत्ती तक) सेवन करने से शिशु का ज्वरातिसार, श्वास, कास और वमन दूर हो जाती हैं ।

यह आयुर्वेद का प्राचीन प्रसिद्ध प्रयोगरत्न, आधुनिक काल की औषधियों के चाकचिक्य या तड़क-भड़क में वैद्यों के लिये धूमिल सा हो गया है । प्राचीन वैद्य इसका जितना सफल प्रयोग करते थे, उतना आजकल नहीं होता । वस्तुतः वैद्यों के लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक गृहस्थ के लिये यह एक रामबाण प्रयोग है जिसके द्वारा वह अपने घर के बाल बच्चों को अनायास ही रोग मुक्त कर व्यर्थ के अनाप-शनाप खर्च एवं औषधियों के लिये इतस्ततः दौड़ धूर से अपने को बचा सकता है ।

धन्यवाद है, इस विशेषांक के कुशल सम्पादक को, जिन्होंने मुझे इस प्रयोग रत्न के विषय पर लिखने के लिये प्रेरित किया । मैं बनौषधि-विषयक संकलन में संलग्न था । मेरी चित्त-वृत्ति (मूड) ऐसी नहीं थी कि मैं उसे छोड़ कर और कुछ लिखूं । किंतु इसमें भी बनौषधियों का ही विशेष सम्बन्ध होने से लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा । अस्तु ।

प्रस्तुत योग के चारों द्रव्य बालकों के लिए अत्यन्त लाभ एवं कल्याणदायक होने से ही इसे 'बाल चातुर्भद्रिका' यह सार्थक नाम दिया गया है । अब प्रथम इसके प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र गुणधर्म का एवं तद्विषयक अन्य विचारों का संक्षिप्त विवरण देकर तत्पश्चात् उनके समुदायक गुणों का तथा कुछ अनुभवात्मक विचारों का उल्लेख आवश्यक है ।

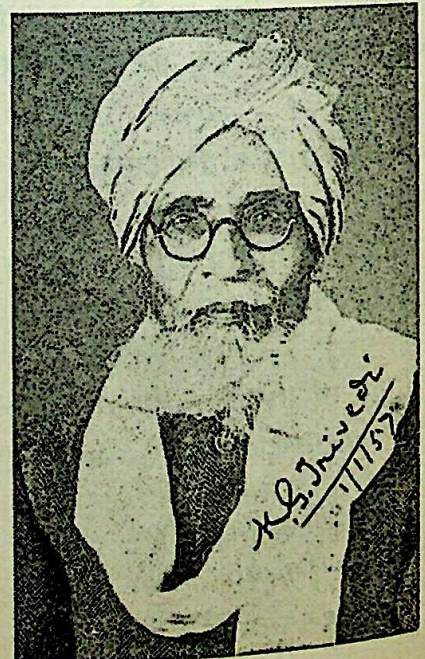
अतीस

१—योग के चारों द्रव्य में वस्तुतः अतीस की गुणधर्म दृष्टि से विशेष प्रधानता है ? यह अपने कटु रस के प्रभाव से आमाशयस्थ विकृत क्लेदक कफ का निर्हरण एवं पाचक पित्त का उदीरण करती है । फलतः छोटे बच्चों के कफजन्य विकारों पर यह अत्यन्त ही उपयुक्त है । तथा इसीलिये इसे 'शिशु भेषज्य' यह एक सार्थक नाम दिया गया है । केवल इसके ही चूर्ण को शहद के साथ चटाते रहने से बच्चा के कास, ज्वर एवं वमन की शांति होती है, ऐसा हमारा अनुभव है तथा वाग्भट उत्तरस्थान अ० २ में इसका प्रमाण है तथा इसके साथ काकड़ासिङ्गी और पीपल चूर्ण मिला दिया जाय तो भी वही लाभ होता है । कहा है—

मधुनाऽतिविषाशृंगी पिप्पलीर्लेहयेच्छिशुम् ।

गुक्कावाऽतिविषां कास ज्वरच्छदिरुपद्रुतम् ॥

—वाग्भट उ. अ. २ श्लोक ५०





शिशुरोगाङ्कः

अर्थात्—ज्वर, कास, वमनादि रोग समुदाय के नाशार्थ काकड़ासिङ्गी व पिप्पली सहित अतीस, यथा केवल एक मात्र अतीस ही पूर्ण समर्थ है।

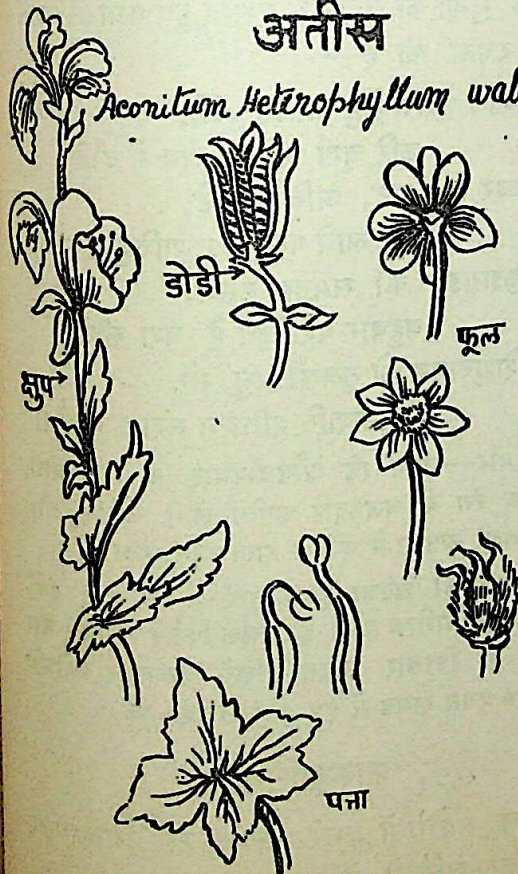
ध्यान रहे ज्वर, कास, वमनादि विकार शिशु को आमाशय की दोषदुष्टि के कारण ही होते हैं। आमाशय स्थित क्लेदक-कफ (भोज्य पदार्थों का लेहन या क्लेदन करने वाला कफ) की वृद्धि से अग्निमांघ तथा अग्निमांघ से पुनः क्लेदककफोत्पत्ति वह दुष्चक्र प्रारम्भ हो जाता है। शिशु या बालक को श्वेतवर्ण की या नीलाभ मलमिश्रित पानी जैसी पतली मल प्रवृत्ति; दूध के पीते ही वमन होना या दुग्धपान की इच्छा न करना, ज्वरांश प्रातः काल में कुछ अधिक होना, निस्तेज होना, मूत्र प्रवृत्ति बार बार होना आदि लक्षण होने लगते हैं।

कारण—

कफ दूषित माता का स्तन पान, भैंस का दूध

अतीस

Aconitum Heterophyllum wall.



चित्र नं. १३५

या आधुनिक विदेशी दूध चूर्ण (पाउडर) का पान, कौतुकवश बालक को चाय या काफी बार बार पिलाना, अत्यधिक मीठा मिलाकर दूध पिलाना, बालक शीघ्र ही दृष्ट पुष्ट होजाने की दृष्टि से उसे आधुनिक कई प्रकार के व्हिटामिन युक्त टॉनिकों का सेवन कराना आदि आदि कारणों से उक्त क्लेदक कफजन्य दुष्चक्र शुरू होता है। फिर दंतोद्गम के समय उसकी जाठराग्नि को दीपन कराने का कुछ भी उपाय न करने से उक्त लक्षण चिरकारी होकर नित्य ही सूक्ष्म ज्वर स्थायी रूप से बना रहता है। वह कृश होने लग जाता है, एकदम निस्तेज एवं उरसाहहीन होकर चिड़चिड़ा हो जाता है।

कुछ बालकों में उक्त कारणों से कफ की अत्यधिक वृद्धि या प्रकोप होकर श्वास, कास का आक्रमण बार बार होने लगता है, उत्फुल्लिका (डन्वा, पसली चलाना, *Bronchopneumonia infantile*) हो जाती है, या चीकट आमयुक्त मल प्रवृत्ति होती है।

किसी किसी को उक्त क्लेदक कफजन्य विकारों की अवस्था में मसूरिका माता आदि विस्फोटक उपद्रव होने पर तथा किसी प्रकार उसके उपशय हो जाने पर भी ज्वरांश तथा अग्निमांघ की शिकायत सदैव बनी रहती है।

बालकों की ऐसी अवस्था में बाल चातुर्भद्रिका उत्तम कार्य करती है। इसे बालभद्र भी कहते हैं। अतीस, काकड़ासिङ्गी और पीपल इस बाल त्रिभद्र के साथ नागरमोथा मिलाकर देने से ही इस प्रयोग को बाल चतुर्थी य चातुर्भद्रिकार कहा जाता है। हम ऊपर कह आये हैं कि इस योग में अतीस विशेष कार्यकारी द्रव्य है यह विष (दूषित विष) को अतिक्रम करती है, उसके असर को दूर करती है, अतः अतिविष, अतिविषा; शीघ्र घुन जाती है (असली अतीस दो मांस में ही घुन जाती है) अतः घुणप्रिया घुन जाने पर इसका असर उपविष (गर) जैसा होता है अतः उपविषा कहाती है।



असली अतीस छोटी, लम्बगोल, निम्नभाग का सिरा नुकीला तथा ऊपर की ओर पान की कलिका सी होती है जो सरलता से टूट जाती है, तथा तोड़ने पर भीतर से श्वेत तथा बीच में इधर-उधर ४ काले बिन्दु होते हैं। इसे घुन से रक्षा करने के लिये बालुका (रेत) के भीतर दबा कर रखें।

नकली अतीस शीघ्र नहीं बिगड़ती, मूल्य में भी सस्ती मिलती है किंतु यह औषधि के लिये बेकार है। एक दूसरी जाति की भी अतीस बाजार में मिलती है, जो कड़वी नहीं होती। इसे मीठी अतीस कहते हैं। इसमें भी ज्वर निवारक और बल्य गुण है। किंतु कटुरस युक्त असली अतीस के सर्वगुण किंचित उष्णवीर्य, दोषशामक, दीपन, आमदोष आमातिसार जीर्ण ज्वर, कास, वमन, यकृतविकार, कृमिरोग आदि नाशक गुण इसमें नहीं हैं। यह अपने प्रभाव से कफज्वर और पित्त-ज्वर के कारणीभूत कफ एवं पित्त दोषों को शमन कर देती है। इसका स्वभाव कुछ प्राही (मलावरोध) होने से इसके साथ स्रंसन द्रव्यों की योजना करनी पड़ती है। छोटे बच्चों के विषम ज्वर पर इसके साथ नागरमोथा और भूरछरीला (पत्थर फूल) अथवा पीपल की योजना करने से ज्वर, अतिसार तथा अजीर्ण के विकारों का नाश होता है।

यह अपने प्रभाव से यकृत को बल पहुंचाती है, पित्तस्राव ठीक होने लगता है, आहार का उत्तम पाचन होकर आमाजीर्ण एवं तज्जन्य अतिसार भी ठीक हो जाता है। इस प्रकार इसके प्रभाव से क्लेदक कफ, पाचक पित्त और कोष्ठस्थ समान वायु की विषमता दूर होकर नाना प्रकार की व्याधि दूर होती हैं।

बड़ों की अपेक्षा बालकों के रोगों में इसका उपयोग अधिक होता है। अग्निमांश की दशा में जब शिशु दूध कम पीता है या नहीं पीता, पतला दुर्गन्धयुक्त सफेद दस्त होता है, उदर में पीड़ा बनी रहती है, शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती तब इसका

या इसके योग से बनी हुई बालचतुर्थी चूर्ण अथवा अतिविषादि वटो का सेवन कराना परम लाभदायक होता है। अतिविषादि वटी में बालचतुर्थी (चातुर्भद्रिका) के द्रव्यों (अतीस, मोथा, काकड़ासिंगी) के पिप्पली के स्थान में कटकरंज के मुने बीज समभाग लेकर चूर्ण बना कुड़ा छाल के काथ में खरल कर आध आध रत्ती की गोलियां बना ली जाती हैं। मात्रा—दिन में दो बार १ से २ गोलों दी जाती हैं।

अतीस में रुक्षता उत्पन्न करने का जो एक दोष है, वह नागरमोथा के योग से दूर हो जाता है। अथवा इसे गोबर को निचोड़ कर निकाले गये पानी में अथवा गौमूत्र में पका लेने से उसका दोष दूर हो जाता है। वह शुद्ध हो जाती है।

आयुर्वेदाचार्य पं० गिरिजादत्त जी पाठक ने इसके गुणों को संक्षेप में दर्शाते हुए क्या ही उत्तम पद्य रचना की है—

अति उत्तम लेहु अतीस उसे,
करि चूर्ण अनेकन रोग में दीजै।
ज्वर ताप घटे, अतिसार हटे,
अरु लावे पसीना न शक्तिहु छीजै ॥
कुइनाइन की समता इसमें,
बहुबार परीक्षित है यश लीजै।
शिशुरोगन को तुलसी मधु सों,
यह नाशति शीघ्र न संशय कीजै ॥

नोट—ध्यान रहे औषधोपचार के लिये मोटी, राख के रंग की बजनदार अतीस लेनी चाहिए। छोटी तथा पतली अतीस में औषध सत्व न्यून रहता है।

काथ की अपेक्षा इसके चूर्ण में ज्वर आदि रोग-नाशक शक्ति अधिक होती है। इसके विशेष गुणधर्म और प्रयोगों को विस्तार सहित देखिये धन्वन्तरि वनौषधि विशेषांक प्रथम खण्ड में पृष्ठ १२३ से १३० तक।

काकड़ासिंगी

उक्त प्रयोग में दूसरे नम्बर का प्रभावशाली द्रव्य काकड़ासिंगी है।

शिरुरोगाङ्कः

काकड़ा नाम के वृक्ष होते हैं जिनके पत्र, पत्र-
डंठल तथा टहनियों पर विशेष प्रकार के कृमियों के
बनाए हुए लम्बे, आड़े टेढ़े सींग जैसे शृङ्गाकार
कोष (Galls) पाये जाते हैं। ये एक प्रकार के कृमियों
(Aphis) के घर हैं। इन्हीं कृमिग्रह या कोषों को
काकड़ासींगी कहते हैं। ये विभिन्न शृङ्गाकार ३ से
६ इन्च लम्बे, १ इन्च चौड़े एवं पोले होते हैं।
इसका पृष्ठ भाग बादामी, धूसर रंग का पतला,
झलारदार दिखाई देता है। भीतरी भाग लाल वर्ण
का एवं सूक्ष्मरजः कणों से आच्छादित या श्वेत
जाले के समान होता है। इसका चूर्ण स्वाद में कुछ
कड़वा, अधिक कसैला तथा तारपीन जैसा गन्ध-
वाला होता है।

उक्त काकड़ नामक वृक्ष २५ से ४० फीट या
इससे अधिक ऊँचे हिमालय के निम्न तटवर्ती

काकड़ासींगी नं. १

Pistacia integerrima Stewart.

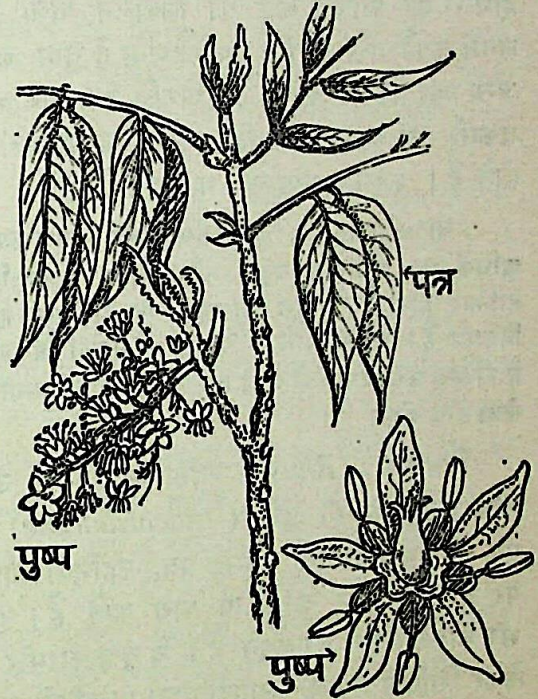


चित्र नं. १३६

उत्तर पश्चिम की पहाड़ियों पर तथा पंजाब, सीमा-
प्रान्त, कुमायूँ, नैपाल, आसाम और बंगाल में भी
पाये जाते हैं।

काकड़ासींगी नं. २

Rhus succedanea Linn.



चित्र नं. १३७

इसका गुणधर्म-लघु, रूक्ष, कषाय, तिक्त,
विपाक में कटु और उष्णवीर्य है। यह कफ वात-
शामक, कटु पौष्टिक, ग्राही, कफघ्न, कफनिःसा-
रक, हिक्का निवारक, वातानुलोमन, दीपन, रक्त
शोधक, ऊर्ध्ववात, तृष्णा, अरुचि, वमननाशक है।

इसमें जो एक प्रकार का उड़नशील तैल होता
है, उसके प्रभाव से यह तमक आस, कास, आस,
नलिका शोथ एवं राजयक्ष्मा पर भी उत्तम कार्य
करता है। तथा इसमें कषायाम्ल (टेनिन) की अधि-
कता (६० प्रतिशत) होने से यह आमाशय प्रकोप
जन्य वमन, हिक्का, आमातिसार, जीर्णातिसार एवं
उपजिह्विका वृद्धि से उत्पन्न कास आदि विकारों में

उत्तम लाभदायक है। यह श्वासनलिका की नवीन या पुरानी सूजन को एवं तज्जन्य खांसी को भी दूर करती हैं? इन सब अवस्थाओं में इसे तदनु-रूप औषधियों के साथ दिया जाता है। बालकों के दन्तोद्भवजन्य उपद्रवों पर अत्यन्त हितकारी है।

उक्त प्रयोग (बालचातुर्भद्रिका) में इसका योग होने से वह संचित कफ को निकालने वाला एवं नूतन कफोत्पत्ति का निवारक हो गया है तथा क्षय-जन्य ज्वर को दूर करता है। अरुचि तथा बार बार डकारों का आना इत्यादि ज्वर के लक्षण भी दूर होते हैं। श्लेष्मलकला को बल प्राप्त होता है।

नोट—ध्यान रहे, काकड़ासिंगी का स्वतंत्र रूप से अधिक मात्रा में प्रयोग यकृत और आमाशय के लिये हानिप्रद होता है। अतीश या बवूल का गोंद इसके हानि निवारक हैं। काकड़ासिंगी के अभाव में मुलेठी ली जाती है। किन्तु उक्त प्रयोग में जहां तक हो सके काकड़ासिंगी ही लेना ठीक होता है।

तित्तिदीक (*Rhus*) जाति का, किन्तु उक्त काकड़ा वृक्ष के ही कुल (*Anacardiaceae*) का एक और वृक्ष होता है। इसके पत्र, टहनियों आदि पर भी शृङ्ग जैसे कृमिकोष पाये जाते हैं। इन्हें भी काकड़ासिंगी ही कहते हैं। ये वृक्ष काश्मीर से लेकर सिक्किम तक के समशीतोष्ण प्रान्तों में, तथा भूटान और खासिया के पहाड़ों पर विशेष पाये जाते हैं। इस काकड़ासिङ्गी के गुणधर्म भी उक्त काकड़ासिङ्गी जैसे ही हैं। इसमें संकोचक धर्म की विशेषता है। बाजार में ये दोनों प्रकार की काकड़ा-सिङ्गी मिश्रित रूप में पायी जाती है।

पिप्पली

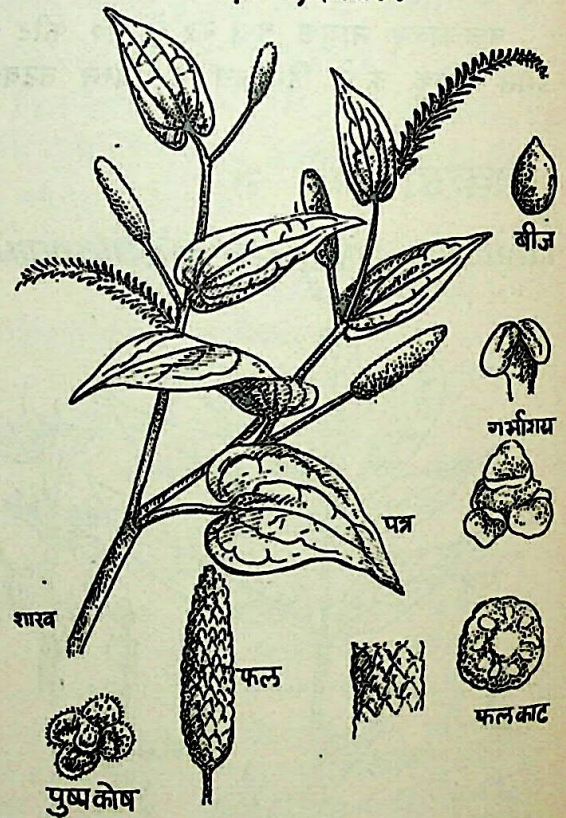
गुणधर्म एवं प्रभाव की दृष्टि से उक्त प्रयोग में तीसरा नम्बर पिप्पली [छोटी पीपल] का है। चरक और सुश्रुत के कासहर, हिक्का निग्रहण, शिरोविरे-चन, वमन, दीपनीय, शूलप्रशमन, ऊर्ध्वभाग दोष हर, एवं पिप्पल्यादि गणों में इसकी गणना है। यह स्वकुल-*Piperaceae* का एक प्रधान द्रव्य है।

इसकी लता गुल्म रूप में भूमि पर फैली हुई

या अन्य वृक्षों के सहारे ऊपर को उठी हुई होती है। अन्य लताओं की भांति इसका अधिक विस्तार नहीं होता। इसकी मूल मीठी और खड़ी सी होती है। उसीसे शाखायें निकल कर भूमि पर फैलती हैं। पत्र २-३ इंच के घेरे में ताम्बूल पत्र जैसे, किन्तु छोटे बहुत कोमल और चिकने होते हैं। पुष्प दण्ड १-३ इंच लम्बे जिसमें पुष्प एक लिङ्गी लगते हैं। फल-लम्बे, शुण्डाकार, पकने पर लाल तथा सूखने पर कृष्णाभ धूसर वर्ण के हो जाते हैं। इन्हें ही पिप्पली कहते हैं।

पीपर (पीपरामूल)

PIPER LONGUM, LINN.



चित्र नं. १३८

इसकी लतायें भारत के गरम प्रान्तों में, तथा मगध, बंगाल, सीलोन, सिंगापुर आदि प्रदेशों में विशेष पायी जाती हैं।

एक बन पिप्पली और होती है, जो बंगाल की



शिशिरगोपिका

और अधिक पायी जाती है। यह छोटी, पतली एवं कम तीक्ष्ण होती है। बाजार में बड़ी और छोटी भेद से दो प्रकार की पीपल मिलती है। सैहली पिप्पली यह शास्त्रोक्त नाम शायद बड़ी पीपल को ही दिया गया है। इसे ही जहाजी पीपल भी कहते हैं। यह सिंहल देश, लंका, सिंगापुर तथा जंजिबार द्वीपों से यहां आती है। गज पीपल इससे भिन्न है, इसके विषय में अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है।

छोटी पीपल यह एक प्रकार की बन पिप्पली ही है तथा पिप्पली नाम से इसका ही ग्रहण किया जाता है। यह भारत के कई उष्ण प्रांतों में तथा पूर्वी बंगाल एवं दक्षिण विहार (मगध देश) में अधिकांश से पाई जाती है। यह कुछ हरित वर्ण की अति तीक्ष्ण होती है। यह अधिक गुणकारी होने से औषधि कार्य में इसे ही लेना उचित है।

गुणधर्म—यह लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, कटु, विपाक में मधुर तथा अनुष्णशीत वीर्य होती है। कच्ची दशा में इसके आर्द्रफल गुरु, मधुर एवं शीत वीर्य होने से वातकफवर्धक और पित्तशामक होते हैं। किन्तु परिपक्वावस्था में शुष्क होने पर ये कटुरस युक्त एवं तीक्ष्ण होने से कफ और वातशामक होते हैं। तथा दीपन, वातानुलोमन, शूल शमन, मधुरेचन, यकृतोत्तेजक, प्लीहवृद्धिहर, कृमिघ्न, रक्तवर्धक, रक्तशोधक, कास श्वासहर, मूत्रल, ज्वरघ्न, तथा विपाक में मधुर होने से रसायन और बल्य है। मात्रा—चूर्ण ५ से १० रत्ती तक। कास, श्वास और हिक्का में यह अत्यन्त उपयुक्त है। इससे कफ खरलता से निकल जाता है एवं उसकी उत्पत्ति कम हो जाती है। ज्वर, विशेषतः जीर्ण ज्वर और विषम ज्वर में यह प्रयुक्त होती है। जीर्णज्वर में इसके चूर्ण को गुड़ के साथ देते हैं। मधु के साथ इसका चूर्ण नये या पुराने कास, स्वरभंग और हिक्का में उपयोगी है। इसके चूर्ण को चौसठ प्रहर तक खरल कर उपयोग करने से जीर्ण ज्वर में विशेष लाभ होता है। रसायन कर्म के लिये वर्धमान पिप्पली

का प्रयोग अधिक हितकारी है। गुड़ पिप्पली, पिप्पली खंड, पिप्पल्यासव आदि इसके विशिष्ट प्रसिद्ध प्रयोग हैं।

नोट—ध्यान रहे अतिमात्रा में, स्वतन्त्र रूप से, अतिकाल तक इसके सेवन से यह अपने स्निग्ध गुण से कफ का, तथा उष्ण गुण से पित्त का प्रकोप कर देती है। अतः इसका प्रयोग योगवाही रूप से अन्य उचित द्रव्यों के साथ ही जैसे कि बाल चातुर्भद्रिका में किया गया है, करना प्रशस्त होता है। अथवा रसायन रूप से इसकी शक्ति को बढ़ाकर इसका प्रयोग वर्धमान पिप्पली, चौसठ प्रहरों आदि की तरह करना महान गुणकारी होता है।

पीपल का विशेष प्रयोग कफ वात प्रधान विकारों पर होता है। पित्त प्रधान व्याधियों में इसका व्यवहार उचित नहीं होता। मुंह में कड़वापन, नेत्र में लाली, पतले गरम दस्त आते हों, तृष्णाधिक्य, दाह, निद्रानाश, मुखपाक आदि लक्षण हों तो इसका उपयोग स्वतन्त्र रूप से कदापि नहीं करना चाहिए। अन्यथा पित्त का विशेष प्रकोप या रक्तप्रकोप होकर वमन, मुख पाक, रक्तचाप की वृद्धि, नासिका से रक्त-स्राव, शुष्क कास आदि उपद्रव होने लगते हैं। ऐसी अवस्था में प्रवाल, मुक्ता, आंवले, भांगरा, त्रिफला, शंख पुष्पी, अनार, सितोपलादि चूर्ण, गिलोय सत्व आदि का सेवन कराना हितकर है।

नागरमोथा

उक्त प्रयोग में चौथे नम्बर का यह प्रभावशाली द्रव्य है। चरक और सुश्रुत के तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण, लेखनीय, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधक, मुस्तादि तथा बचादि गणों में इसका उल्लेख है। यह स्वकुल तथा बचादि गणों में इसका उल्लेख है। यह स्वकुल मुस्तक कुल (Cyperaceae) का मुख्य द्रव्य है।

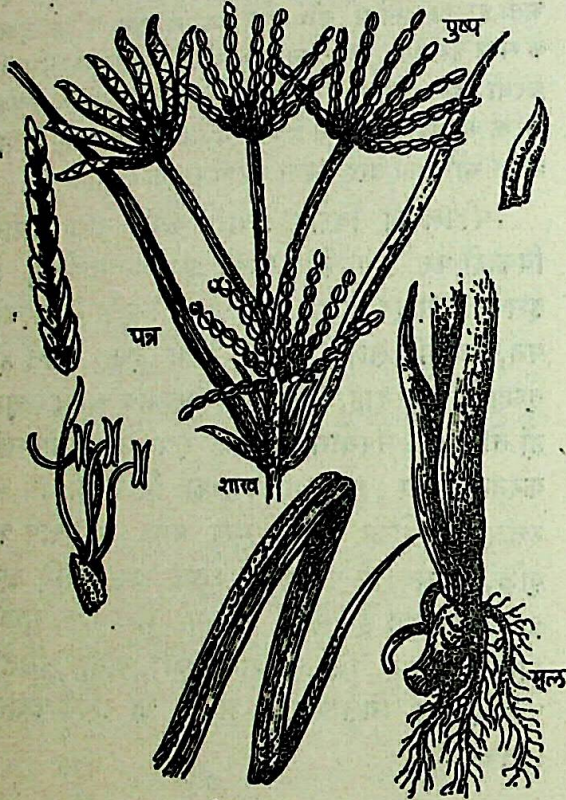
इसके तृणजातीय लुप प्रायः सर्वत्र बारहों मास आर्द्र या जलाशय समीपस्थ भूमि में १ से ३ फुट तक ऊंचे होते हैं। पत्ते—घास जैसे लम्बे तथा लुप के बीच से तिकोना पुष्पदण्ड २ से ४ फुट का ऊंचा निकलता है, जिस पर हरितवर्ण के छोटे छोटे पुष्प आते हैं। लुप की जड़ में कसेरु जैसा

काले रंग कन्द $\frac{1}{2}$ से १ इंच मोटा, एवं सुगंधित होता है। इसी कन्द भाग को नागरमोथा या मोथा कहते हैं।

इसकी तीन जातियां हैं—

नागरमोथा

CYPERUS SCARIOSUS R. BR.



चित्र नं० १३६

[१] नागरमोथा (*Cyperus Scariosus*) है। जिसका संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया है। इसके कन्द कुछ लम्बे और टेढ़े से तथा १ इंच तक मोटे होते हैं।

[२] भद्रमोथा (*C. Rotundus*) इसका कन्द कुछ गोलाकार होता है। तथा—

[३] केवटी मोथा (कैवर्त्त मुस्तक *C. Lenuiflorus*) है। इसका कन्द बहुत छोटा ग्रन्थि सदृश होता है। यह प्रायः जल ही में पैदा होता है। इनके अतिरिक्त एक साधारण मोथा भी होता है।

सर्व प्रकार के मोथे के गुणधर्म प्रायः समान ही

हैं। तथापि उक्त प्रथम जाति का नागरमोथा ही सर्वोत्तम माना जाता है। औषधि कार्य में इसे ही—किन्तु ताजा और सुगन्धित लेना ठीक है।

गुणधर्म—यह लघु, रुक्ष, कटु, तिक्त, कषाय, विपाक में कटु एवं शीतवीर्य होता है। यह कफ पित्त का शामक, पाचन, प्राही, तृष्णा निवारक, कृमिघ्न, रक्त प्रसादन, स्तन्यजनन, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक, स्वेदजनक, त्वग्दोषहर, ज्वरघ्न और बल्य है।

अरुचि, वमन, अग्निमांघ, अजीर्ण, संग्रहणी, तृष्णा, कृमिरोग (कृमि में इसकी बड़ी मात्रा देनी पड़ती है), रक्तविकार, कास, श्वास, मूत्रकृच्छ्र, मस्तिष्क दौर्बल्य, अपस्मार, रजोरोध, सूतिकारोग स्तन्य विकार, कण्डू, पामा आदि चर्मरोग तथा ज्वर आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

इसके क्वाथ में शहद मिलाकर सेवन करने से बढ़ा हुआ अतिसार भी दूर होता है। अपस्मार या मृगी रोग में इसे जटामांसी के साथ देने से लाभ होता है। विसूचिका तथा मदातय में तृषा शांति के लिये इसके शीतल काथ को पिलाते हैं। इसके चूर्ण की मात्रा १ से ३ माशे तथा क्वाथ की मात्रा ५-१० तोले हैं। मुस्तकादि काथ, मुस्तकारिष्ट, मुस्तादि लेह, षडंगपानीय आदि इसके शास्त्रीय विशिष्ट योग वैद्यों में प्रचलित हैं।

बालचतुर्थी [चारों द्रव्य मिश्रित] के गुण—

ये चारों द्रव्य प्रधान रूप से कफघ्न एवं पित्तघ्न हैं। तथा इनका कार्य क्षेत्र विशेषतः मुख से लेकर आमाशय तक है। इनमें से अतीस काकड़ासिगी और नागरमोथा अपने सम्मिलित तिक्त और कषाय रस तथा रुक्ष गुण के प्रभाव से क्लेदक कफ एवं पाचक पित्तान्तर्गत परिवृद्ध दूषित द्रवांश का शोषण करते हैं तथा अपने सम्मिलित उष्ण वीर्य से दीपन पाचन कार्य का सम्पादन कर वमन, अतिसार एवं ज्वरांश का नाश करते हैं।

उक्त प्राही कार्य के सम्पन्न होते ही कफ संश्रय



शिशुरोगाङ्क

नान्तर्गत दूषित कफ की न्यूनता हो जाने से श्वासा में लाभ होता है। यदि कास शुष्क हो जम गया हो, सरलता से नहीं निकलता हो तो ती दशा में अनुलोमन कार्यार्थ पिप्पली का योग देना दिया गया है। इसके योग से ही अतीस और काकड़ासिंगी का विशेषतः 'कफ वात क्षय हन्ति' का कार्य सम्पन्न होता है अर्थात् कफ वात शमन के साथ ही साथ राजयक्ष्मा का रोग और ज्वर भी शांत होता है तो फिर साधारण ज्वर तो ठिक ही नहीं सकता।

नागरमोथा के योग से यह प्रयोग कफज वमन का निवारक हो गया है। साथ ही साथ पिप्पली के योग से यह दन्तोद्भव के समय होने वाले ज्वर, अतिसार, कास एवं पाचन सम्बन्धी विकारों को दूर ही में दूर कर देता है। ऐसी अवस्था में यह प्रयोग की मात्रा २ से ४ रत्ती तक शहद के साथ ३-३ घण्टे से चटाते रहने से विशेष लाभ होता है। इस प्रयोग में नागरमोथा न मिलाते हुए शेष बालों का ही चूर्ण उक्त प्रकार से सेवन करने से भी बालकों के ज्वर, कास और वमन में यथेष्ट लाभ होता है। यह बाल त्रिभद्रिका है। इसे बालभद्र भी कहते हैं।

बाल चतुर्भद्रिका का सफल प्रयोग बालकों का बार बार मुख से लालास्राव होना, मुखपाक, शय्या-

मूत्रत्व, रक्तक्षीणता या कफज पांडुता, दांतों का शीघ्र ही उद्गम न होना, यकृतोदर, लीहोदर आदि विकारों पर किया जाता है।

यदि कास अति कष्टदायक एवं शुष्क हो तो इसके साथ सुहागा की खील या मुलैठी या केवल बंशलोचन मिलाकर देना चाहिये। यदि अतिसार की विशेषता हो तो इसके साथ शंखभस्म की योजना एवं वमन की अधिकता हो तो शौक्तिक भस्म की योजना करने से यथेष्ट लाभ होता है।

यदि इस प्रयोग में अर्धभाग सितोपलादि चूर्ण मिला, मात्रा ६ रत्ती तक प्रातः सायं शहद या दूध के साथ शिशु को चटाया जाय तो शीघ्र ही दौपन कार्य होकर यह प्रयोग उसके लिये रोग प्रतिबन्धक होता है। दन्तोद्भव के समय कोई विकार नहीं होने पाते तथा वह सुदृढ़ एवं हृष्ट पुष्ट होता है। यह एक प्रकार का बालामृत हो जाता है।

यदि इसके साथ समभाग चूर्ण तथा चतुर्थ भाग शृङ्गभस्म (शृङ्गभस्म अर्धभाग तक मिलाया जा सकता है) मिला, प्रायः सायं ६-६ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ दिया जाय तो अस्थि-क्षीणता एवं अस्थि वैषम्य में उत्तम लाभ होता है।

—श्री कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेद-सूरी
धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)



‘धन्वन्तरि’ काससारि

खंसी की
उत्तम दवा

.. Sweet Remedy
for Painful Cough, Bronchitis etc.

निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध है

शिशु रोगों पर अनुभूत चिकित्सा

वैद्य श्री अम्बिकादत्त मिश्र जी. ए. एम. एस., एच. पी. ए.



१. आक्षेपक—

मुझे चिकित्सा क्षेत्र में एक मास का एक बालक देखने को मिला, जिसका अधोलिखित लक्षणों के आधार पर मैंने आक्षेपक (स्कन्दग्रह) निदान कर निम्न औषधियों को प्रारम्भ किया—
लक्षण—

सर्व शरीर कम्प, मुष्टिबद्धता, आनन रक्तवर्ण, आखें उपर की ओर (उर्ध्वदृष्टि), दांतों को कट कटाना, ये लक्षण आवेग काल में प्रायः १०-१५ मिनट चलते थे और प्रति १५-२० मिनट के बाद आते थे। तदनन्तर रोगी की दशा हताश और भयभीत पूर्ण हो जाती थी।

निदान का आधार—

यदातु घमनी सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाऽऽक्षिपत्याशुमुहमुहुर्वहं मुहुश्चरः ॥
मुहुमुहुश्चाक्षेपणादाक्षेप इति स्मृतः ।
एक नेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दन कम्पनम् ॥
उर्ध्वदृष्ट्या निरीचेत् वक्रास्थो रक्त गन्धिकः ।
दन्तान् खादति विव्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दनम् ॥

—माधव

चिकित्सा—

१—सिद्ध मकरध्वज १ रत्ती, मुक्ता पिष्टी १ रत्ती, मधु से देकर उपर से जटामांसी क्वाथ ३ तोला ३-३ घन्टे पर देना प्रारम्भ किया।

२. हिंगु कपूरादि बटी १ रत्ती, मधु से ३ बार देना प्रारम्भ किया। रोगी को विबन्ध भी था अतः बातानुलोमन एवं संचित-पुरीष को निकालने की दृष्टि ही से—

३. सेवती पाक ४ रत्ती मां के दुग्ध में घोल कर केवल २ मात्रा प्रथम दिन दिया गया।

सिद्ध मकरध्वज और हिंगु कपूरादि बटी की ३-३ मात्रा देने के पश्चात् आक्षेप वेग १-२ घन्टे पर आने लगे। सेवतीपाक से पुरीष प्रवृत्ति कृष्ण-

वर्ण भृश दुर्गन्धि दो बार के प्रयोग से २ बार हुई। लगातार ३ दिनों तक चिकित्सा करने पर रोग से बालक निर्मुक्त हो गया।

औषध चुनाव का आधार—

१. सिद्ध मकरध्वज—रसायन मेध्य, हृद्य, स्मृतिप्रद तथा बातशामक विशेष अनुपान भेद से सर्व रोगहारक।

२. हिंगु—नाड़ी व्यूहों के लिए जोरदार उत्तेजक, संकोच विकास प्रतिबन्धक, संज्ञा स्थापन, बातशामक तथा उष्ण वीर्य।

३. कपूर—नाड्युत्तेजक, संकोच विकास प्रतिबन्धक, हृद्य, मेध्य तथा वातहर।

४. कस्तूरी—हृदय, ज्ञानेन्द्रिय तथा मस्तिष्क को बल प्रदान करने वाली। आक्षेपहर वात (चल-गुण) को शमन करने वाली, उष्ण वीर्य।

५. जटामांसी—संज्ञास्थापन, त्रिदोषहर, मेध्य, संकोच विकास प्रतिबन्धक, हृद्य-बल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, वेदना स्थापन।

६. मुक्ता—हृद्य विशेषकर है।

२. फक रोग—

अशोक कुमार वय १½ वर्ष, पिता का नाम यमुनासिंह, डुमरी, छपरा, बिहार का रहने वाला था। डुमरी गांव में मुझे देखने को सर्व प्रथम यह रोगी मिला। मेरे औषधालय से वह ग्राम ३ मील पर पड़ता था। रोगी के पिता द्वारा यह ज्ञात हुआ कि यह बालक ७-८ मास की वय से ही सूखना प्रारम्भ हुआ। इसके १-२ मास पश्चात् ही से चिकित्सा चल रही है परन्तु किसी प्रकार का लाभ नहीं हो रहा है। डाक्टरों के कथनानुसार व्यवस्था में मैंने किसी प्रकार की कमी आज तक नहीं की। बालक को देखने पर निम्न लक्षण प्राप्त हुये और उन्हीं के आधार पर मैंने फक रोग

निदान कर चिकित्सा प्रारम्भ की। एक बात अवश्य कह दूँ जिस वक्त उस बालक को मेरे सामने लाया गया उस वक्त मेरी हिम्मत उसकी चिकित्सा करने से हट गयी। मैं तर्क वितर्क करने लगा कि चिकित्सा काल में ही मर गया तो मुझे पुनः इस ग्राम में देखने को दूसरा रोगी नहीं मिलेगा। नाम-जूर भी नहीं कर सकता था कारण सर्व प्रथम यह रोगी ही मेरी चिकित्सा में उस ग्राम का आया था और लाखों पति थे आप उस ग्राम के। वर्तमान समय की आमदनी और उनके चलते फिरते उस ग्राम से काफ़ी रुपये कमाने की लालच ने मुझे हिम्मत प्रदान की और चिकित्सा प्रारम्भ की गयी। लक्षण इस प्रकार थे शरीर अस्थि पंजर मात्रावशेष, बाहु नितम्ब तथा उस पर मुरियाँ पड़ी हुई यहाँ तक कि त्वक् को उठाने से १ इंच तक आगे की ओर आ जाता था। उदर निकला हुआ, आँखें धसी हुई, सिर बड़ा सा दिखायी पड़ता था, हस्त तथा सक्थि और जानु अस्थियाँ मृदु हो गयी थीं। सम्भवतः बारबार चिकित्सा चलते रहने के परिणामस्वरूप ही अस्थियाँ बक्र नहीं हुई थीं। कभी हरित और पीत पुरीष दिवस में ३-४ बार भृशगन्धि रहती थी। पुरीष का वर्ण प्रत्येक बार, मैं कुछ न कुछ अवश्य परिवर्तन हुआ करता था। बालक चिड़चिड़े स्वभाव का अल्पहारी हो गया था। २६ वर्ष का बालक एक पग भी नहीं चल पाता था।

बालः संवत्सारा (पन्नः) पादाभ्यां यो न गच्छति ।

स फक्कः इति विज्ञेयः.....॥

.....क्षीण मांस बल ध्रुति ।

संशुष्क स्निग्ध बाहुच महोदर शिरोमुख ॥

.....दृश्यमानास्थिपिञ्जरः ।

.....नित्य मूत्र पुरीषता ॥

निश्चेष्टाघर कायोवा पाणिजानुगमोऽपि वा ।

दौर्बल्यान्मन्द चेष्टश्च..... ॥

दुर्गन्धि मलिनः क्रोधी फक्कः ॥

—कश्यप संहिता

चिकित्सा—

इस रोगी की चिकित्सा में मैंने केवल आयु-

र्वेद की ही शरण नहीं ली। क्योंकि इस रोगी को ठीक कर उस ग्राम से अर्थ उपार्जन करना था। यह तो सर्व विदित है कि सभी रोग मिथ्याहार विहार से ही होते हैं और इनके द्वारा ही दोषों का प्रकोप होकर रोगोत्पत्ति होती है। इसके द्वारा सर्व अग्नि पर ही प्रभाव होता है अतः “रोगासर्वेऽपि-मन्देऽग्नौ” कहा गया है। आधुनिक दृष्टि से इस रोग को जीवितिकि ङी और चूने की कमी के कारण से माना गया है।

१—अश्वगन्ध चूर्ण ४ रत्ती, ३ बार दुग्ध से वृंहणार्थ दिया गया।

२—अल्बोसाङ्ग (जी. एन्ड जी. डिसेन) ४ रत्ती ३ बार दुग्ध से—यह योग वृंहणार्थ देकर बहुत से बालकों में लाभ उठाया है अतः दिया है।

३—काड लीवर आयल १० बूँद ३ बार, एक हफ्ते बाद १५ बूँद ३ बार, तथा १५ दिन बाद २० बूँद ३ बार कर दिया। काड लीवर आयल में जीवितिकि ‘डी’ प्रचुर प्रमाण में पाया जाता है। इससे रहे यकृत और स्निग्हा सम्बन्धी दोष भी नष्ट हो जाते हैं। वृंहण भी है, अग्नि दीपन भी।

४—पुरीष संग्रहण और चूने की कमी को दूर करने के लिये चूर्णोदक ६० बूँद ३ बार प्रारम्भ किया।

५—एडेक्सोलीन (विटा. ए और डी का योग) प्रथम सप्ताह ३ बूँद ३ बार दुग्ध से, द्वितीय सप्ताह ५ बूँद ३ बार दुग्ध से। तृतीय सप्ताह १० बूँद ३ बार दुग्ध से।

६—चित्रक चूर्ण २ रत्ती ३ बार मधु से।

पथ्य—मैं अग्नि को प्रधान रूप में ध्यान रखते हुये पिप्पली साधित दुग्ध, बाली, पिप्पली चूर्ण १ रत्ती मिला कर चावल, रोटी, अण्डे का पीला भाग दुग्ध में मिला कर बराबर ३ माह तक चलने के पश्चात् रोगी बल वर्ण से युक्त तथा व्याधि से रहित हो गया।

कालमेघ—

विषम ज्वर—शिशुओं के विषम ज्वर में काल-



मेघपञ्चाङ्ग का क्वाथ २० बूंद, मरिच चूर्ण ३ रत्ती मिलाकर दुग्ध या मधु से ३ बार देने से रोग मुक्ति मिल जाती है।

तीन वर्ष के बाद बालकों में १ तोला ३ बार मधु मिलाकर देने से अनेक बालकों को उस रोग से मुक्ति मिल गयी है।

जीर्ण ज्वर—जिस बालक को ज्वर के साथ ही साथ यकृत या स्नीहा या दोनों की वृद्धि हो गयी हो वैसी अवस्था में कालमेघ क्वाथ ३ तोला से १ तोले की मात्रा में नृसार चूर्ण १ रत्ती प्रक्षेप देकर ३ बार देने से रोग का शमन हो जाता है। मुख स्वाद मधुर बनाने के लिये ऊपर से मिश्री या या मधु देना चाहिये। काथ अतिरिक्त होने के कारण बहुत से बालक लेना पसन्द नहीं करते अतः काथ की १ रसक्रिया जिसमें ६ भाग मरीच मिलाकर १ रत्ती की बटी निर्माण कर तीन चार बार सेवन कराने से रोगोपशमन हो जाता है।

कालमेघ परिचय—इसका क्षुप ३ फुट तक ऊंचा हरे रंग का पत्र आमने सामने। पुष्प मच्छरा-कृति दूर से देखने पर। कली यवाकर तिक्त होने से यवतिक्ता भी कहा जाता है। यह सारक, दीपन, आम पाचन, ज्वर, यकृतस्नीहा विबन्धनाशक।

मसूरिका, रोमान्तिका—

रोमान्तिका लक्षण—

सारे शरीर में छोटी-छोटी पिङ्कायें रक्ताभ, ज्वर (१०२-१०४ फा० तक), सर्वाङ्गदाह, पिपासा, सर्वाङ्ग कण्डू, अरुचि, प्रसेक आदि होते हैं। यह पित्त और कफ से उत्पन्न होती है।

मसूरिका लक्षण—

मसूर दल के समान सारे शरीर में होने वाली पिङ्कायें को मसूरिका कहते हैं। रोमान्तिका के समान ही इसके सारे लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—

(१) दाने अल्प निकले हों और ज्वरादि अन्य लक्षण उपस्थित हों तो करेला पत्र स्वरस १ तोला,

हरिद्रा चूर्ण १ रत्ती मिलाकर ३ बार देना चाहिये। इससे दाने निकल आते हैं तथा ज्वरादि का शमन हो जाता है।

(२) स्वर्णमाक्षिक भस्म ३ रत्ती मधु से ३ बार देने से दाने शीघ्र निकलते हैं और दोषों का पाक होकर रोगशमन हो जाता है।

(३) बासी जल में मधु मिलाकर पीने से दाह, ज्वर तथा पिङ्कायों का शमन हो जाता है।

(४) दानों पर तण्डुलोदक से दिन में ३ बार सेचन करने से दाह का शमन हो जाता है।

(५) कण्ठादि में पिङ्कायें होने पर चमेली, मंजिष्ठा, दारुहरिद्रा, सुपारी (क्रमुक), आमलकी, मुलहठी के काथ में मधु मिलाकर दिवस में ३ बार गण्डूषार्थ दें।

(६) यदि ब्रण में पूय तथा गठे पड़ गये हों तो निम्ब काथ में रुई भिगोकर ब्रण को साफ कर लें तदनन्तर गोमय चूर्ण या पीपलत्वक् महीन पीसकर अवक्षेप करना चाहिये। ब्रण रोपन करने के लिये आधुनिक औषधियां यथा बाह्य प्रयोग के लिये पेनसिलीन आयन्टमैन्ट और आभ्यन्तर प्रयोग के लिये अवस्थानुसार सल्फामिड की औषधियां सिबाजोल आदि का प्रयोग लाभदायक होता है।

(७) यह रोग संक्रामक होता है यह सर्वविदित है। अतः अनागत मसूरिका से बचने के लिये निम्ब बीज, बहेड़ा (विभीतक) बीज या रुद्राक्ष, हल्दी को समभाग लें, चूर्ण बनाकर २-४ रत्ती की मात्रा में २-३ बार देने से मसूरिका या रोमान्तिका रोग की उत्पत्ति नहीं होती।

विशेष दृष्टव्य—शरीरोष्मा की अधिक वृद्धि होने पर (ज्वर तथा सारे लक्षण मसूरिका या रोमान्तिका के विद्यमान होने पर), हस्त पादाक्षेपण, प्रलापादि लक्षण भी रोगी में हो जाते हैं। वैसी परिस्थिति में शीत क्रिया द्वारा (शिर पर बर्फरहित) ही ज्वर की ऊष्मा को कम कर देने मात्र से ही लाभ हो जाता है।



शिशुरोगाङ्कः

पथ्य—दाख, मौसम्बी स्वरस, दाडिम स्वरस, गुदगयूष-ज्वरावस्था में। अन्यावस्था में आवस्थिकी चिकित्सा करनी चाहिये।

सूत्र कृमि (Thread worms)—

प्रायः यह देखा जाता है कि सूत्र कृमि १॥ वर्ष से ६ वर्ष तक के बालकों में विशेषतः अपना निवास स्थान बना लेते हैं। प्रारम्भावस्था में ही इसकी चिकित्सा नहीं करने से ५-६ वर्षों तक चलता रहता है। इसका कारण यह होता है कि स्थूलान्त्र के अधः भाग में इसकी विकृति होने पर कृमि का उपसर्ग हो जाता है और चिकित्सा न करने पर अन्डे वा उपसर्ग बराबर चलता रहता है जिससे बालकों को छुटकारा इससे शीघ्र नहीं मिलता।

लक्षण—उदर रुक्, पुरीष भेद, गुदकण्डू, रात्रि में दांतों को कटकटाना, मूत्र से शुक्ति का आना तथा गुदामार्ग से कृमियों का निकलना। कभीकभी वमन भी हो जाता है।

चिकित्सा—सूत्र कृमियों की चिकित्सा में मैंने अपने चिकित्सा क्षेत्र में एक गुरुपरम्परागत पार-कृत वैद्य से यह योग लिखा था और वास्तव में काफी लाभ उठाया है। सेन्टोनीन या अन्य योगों से सूत्र कृमियों में कितना लाभ होता है। यह तो सर्व वैद्यों को विदित ही है।

दाडिम अन्तस्त्वक २ तोले लेकर १६ गुने जल में काय बनाकर चतुर्थांशवशेष रखकर (४ तोले) किचिदुष्ण धीरे धीरे फनैल के द्वारा नितम्ब को कुछ ऊंचा उठाकर प्रति रात्रि को सात दिन तक देने से सूत्र कृमियों का नाश हो जाने पर बालक अगर अधिक कृश हो तो बुंहणार्थ अन्य औषधियों का प्रयोग बांछनीय है।

कुकुर खांसी (Whooping cough)—

यह तो सर्व विदित है कि बालकों में विशेषतः

बालिकाओं में यह रोग होता है। इसके मुहुर्मुहु आवेग द्वारा तथा खांसते खांसते वमन होना एवं मुख मंडल आरक्त होना मुख्य लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—मुख्यरूप से श्लेष्म निस्सारक औषधियां ही कार्यकर होती हैं, कारण कि फुफ्फुस में रौकड़ाई मिलती है और इसी श्लेष्म को निकालने के लिये बार बार आवेग आते रहते हैं। अतः मैंने निम्नलिखित औषधियों को देकर लाभ उठाया है—

शृङ्ग भस्म ३ रत्ती, अभ्रक भस्म (शत या सहस्र पुटी) ३ रत्ती, प्रबाल भस्म ३ रत्ती, तुलसी और यष्टिमधु समान भाग लेकर बनाया हुआ काथ ३ तोला ३ बार मधु से।

मुखपाक में—

(क) शुद्ध टंकण + मधु का लेप लगाना चाहिये।

(ख) आध्मान में—शुद्ध टंकण १ रत्ती, दूध या मधु से आवश्यकतानुसार।

(ग) बिबन्ध में—हरीतकी चूर्ण २ रत्ती + शुद्ध टङ्कण १ रत्ती प्रतिरात्रि बिबन्ध शमन होने तक मुखोष्ण जल से।

(घ) कास तथा आसकष्ट में—शुद्ध टङ्कण १ रत्ती, नृसार आधी रत्ती मधु से २ बार।

(ङ) वमन में—मयूर पुच्छ भस्म ३ रत्ती मधु से। अगर इसके प्रयोग से वमन आ जाये तो पुनः इसकी दूसरी मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। ३-४ मात्रा प्रयोग करने से वमन अवश्य निवृत्त हो जाती हैं।

—श्री वैद्य अम्बिकादत्त मिश्र

जी. ए. एम. एस. (पटना), एच. पी. ए. (जामनगर)

चिकित्सक-केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था,

जामनगर।



बालकों के कतिपय रोग और उनकी चिकित्सा

प्रोफेसर श्री गङ्गाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य वैद्यमार्तण्ड

कुक्षक—

यह रोग बालकों को ही होता है। इस रोग में बालक के नेत्रवर्त्म में खराश होकर अर्थात् प्रदाह होकर नेत्रवर्त्म में कंड़ होने लगती है जिसके फल-स्वरूप नेत्र से बार बार जलस्राव होता है। इस रोग में बालक ललाट, अक्षिकूट और नासिका को अपने हाथों से या जैसे तैसे रगड़ा करता है। नेत्रों को खोलने और बन्द करने में कष्ट का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त सूर्य का प्रकाश तथा सामान्य प्रकाश भी असह्य हो जाता है इसलिये बालक अपने नेत्र बन्द ही रखता है।

चिकित्सा—क्योंकि यह रोग क्षीर दोष से बालक के उदर में विकार होकर होता है अतः इस रोग में तिल मात्र उसारे रेवन्द हरीतकी के साथ घिसकर बालक को पिला देने से दो तीन दस्त होकर उदरस्थ मलदोष बाहर निकल जाने पर त्रिफला जल या गुलाब जल से नेत्र प्रक्षालन करने से ही रोग जाता रहता है।

पारिगर्भिक—

यह भी केवल बालकों को ही होने वाला रोग है। जब बालक गर्भवती माता का स्तनपान करता है तो उसे गर्भिणी के दूध के प्रभाव से अग्निमांघ, वमन, कास, दुबलापन, तन्द्रा, अरुचि और अमासि सहित उदर वृद्धि हो जाती है।

चिकित्सा—इसमें भी पूर्ववत् सर्वप्रथम कोष्ठ-शुद्धि करके बाद में अग्निदीपक क्रिया करनी चाहिये। कोष्ठ शुद्धि कर लेने पर और स्तनपान छोड़ा देने के बाद बाल चातुर्मासिका चूर्ण भी इसमें अच्छा कार्य करता है। १-१ रस्ती दिन भर में २ या ३ बार देने से या अभयारिष्ट थोड़ी थोड़ी मात्रा में थोड़ा जल मिलाकर देने से अच्छा लाभ होता है।

तालु कंटक—

तालु मांस में क्रुद्ध हुआ कफ वहां पर अर्थात् तालुस्थान में दाने से उत्पन्न कर देता है जो दाने बालक के गले में कांटों के सदृश चुभा करते हैं। इसलिये इस व्याधि को तालुकंटक नाम दिया है।

चिकित्सा—इस रोग में शोधित सौभाग्य में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना ही इस रोग की प्रधान चिकित्सा है।

तालुपात—

तालु कंटक रोग के कारण जब तालु नीचे की ओर झुक जाता है तब उसे ही तालुपात कहने लगते हैं। इस रोग में बालक स्तनपान करता है, मल पतला, तृषा, नेत्र, कंठ और मुख में पीड़ा और गर्दन को संभालने में आशक्त रहता है।

चिकित्सा—इस रोग में सौभाग्य मधु से प्रतिसारण करने के बाद जहरमोहरा (खताई) पिष्टी और प्रवाल पिष्टी मधु और माखन के साथ देना तथा खदिर वटी पीस कर तालु में लगाना लाभदायक चिकित्सा है।

महापत्र नाम विसर्प—

यह प्रायः शंख, हृदय और गुदा में होने वाला बालकों का विसर्प है जो महा भयानक, कष्टसाध्य और कभी कभी मारक भी होता है।

चिकित्सा—इस रोग में प्रवाल पिष्टी, रस-सिन्दूर या चन्द्रोदय मिलाकर देने से विसर्प विष की शांति होती है तथा बाह्य प्रयोगार्थ शुद्ध पारद गन्धक की कज्जली में समान भाग दशांग लेप मिलाकर जल से या शतधौत घृत में मिलाकर लेप करना चाहिये।

अजगह्निका—

शरीर के वर्ण के समान छोटी छोटी चिकनी



शिशुरोगाङ्कः

चिकनी परस्पर गुथी हुई बालकों को पिडिकायें हो जाया करती हैं जो कफ वात के दोष से होती हैं तथा उनमें वेदना नहीं होती।

चिकित्सा—बालक को खूब साबुन लगाकर स्नान कराना और मोटे खदर के वस्त्र से शरीर को पोंछना चाहिये जिससे ये विलुप्त हो जाया करती हैं।

अहिपूतन—

बालक के मलमूत्र कर चुकने पर उसको गुदा या मूत्रेन्द्रिय को धोया न जावे और यदि धोया जावे तो उचित रूप से शुद्धि न की जावे। इसके अतिरिक्त गुदा में जो स्वेद आता है उसे भी न धोया जाने के कारण या बालक को नित्य स्नान न कराने से उसके गुदा स्थान पर मल, मूत्र, स्वेद और रेत मिट्टी लगी रहने से वहां रक्त कफ के दोष से कण्डू उत्पन्न हो जाती है और वहां जब बालक खुजलाता है तो छोटे छोटे स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे स्राव होने लगता है। इस प्रकार पुनः पुनः खुजलाने से गुदा स्थान पर अनेक ब्रण हो जाते हैं इसी को अहिपूतन कहते हैं। भोजन दुष्ट स्तनपान भी इसका कारण बताया है—

दुष्ट स्तन्यस्य पानेन मलस्य प्रस्रावनेन च ।

कण्डूदाह रुजावृद्धिः पिडिकैश्च समाचिताः ॥

सम्भवन्ति तथा दोषं दाह्याह्वहिपूतना ॥

इसीलिए इस रोग में बालक का पेट साफ रखना अत्यावश्यक है इसके बाद बाह्योपचार करें।

शिशु का नाभि नाल शोथ—

बालक की नाभिनाल दो सप्ताह के बाद शुष्क होकर स्वयं रुझ जाती है। मगर कभी कभी इसमें किसी प्रकार के उपसर्ग के कारण प्रदाह होकर पूर्योत्पत्ति हो जाया करती है।

चिकित्सा—दिन में दो तीन बार त्रिफला काथ, न्यग्रोधादि गण क्वाथ, पंचवल्कल क्वाथ, या पोटाश परमैंगनेट के जल से या कार्बोलिक लोशन से धोकर साफ रखना चाहिए और ऊपर से मुर्दा-सूज, रसौत और कवीला को बारीक पीसकर उद्धू-

लन करना या बोरिक एसिड का मरहम लगाना या घृत से गर्म करके लगाना और पट्टी बांधनी चाहिये। यदि मलावरोध भी साथ में हो तो ऐरण्ड तैल दें।

शिशु का उरः शोथ—

बालक की छातियों को स्वच्छ न रखने या उन पर दबाव पड़ने से शोथ हो जाया करता है। छातियों का स्पर्श करने मात्र से बालक रोने लगता है तथा छातियों को दबाने से उनमें से श्वेत वर्ण का स्राव निकलता है।

चिकित्सा—सर्व प्रथम ऐरण्ड तैल से पेट साफ करें और गर्म जल या गर्म दशमूल क्वाथ में स्वेदन करें। तदनन्तर छातियों पर एरण्ड तैल, धोई तिल्ली का तैल, बादाम रोगन या चमेली का तैल लगावें। यदि गर्मी का समय हो तो शीतल जल में बख्ख भिगोकर छातियों पर रखें। और यदि वेदना अधिक हो तो टिंचर बेलाडोना की फुरेरी लगावें अथवा छोटी हरड़ १ तोला, रसौत १ तोला, संधा नमक १ तोला और गेरू (स्वर्णगैरिक) १ तोला इन सबको कूटकर २० तोला स्प्रिट मेथीलेटेड में डाल १ सप्ताह में छान इसकी फरैरी लगावें।

शिशु का श्वेत मुखपाक—

वैसे तो श्वेत मुखपाक बालकों और पूर्ण बयस्कों दोनों को ही होता है अतः इस अधिकार में जहां केवल बालकों को ही होने वाले रोगों का वर्णन अभीष्ट है इस जगह इस रोग का वर्णन नहीं करना चाहिये। मगर यह रोग प्रायः बालकों को ही होता है बयस्कों में तो कदाचित ही देखा जाता है अतः इस रोग का वर्णन भी इस स्थान पर उप-युक्त समझ कर किया जाता है।

यह एक औपसर्गिक व्याधि है। इस व्याधि में मुख के अन्दर छोटे छोटे ब्रण हो जाते हैं जिनके ऊपर श्वेत रङ्ग की दही जैसी तह जमी रहती है जो वस्तुतः एक प्रकार की फफूंदी या काई होती है जो बानस्पति प्रकृति कीटाणु *Oidium Albicans* से बनती है और यही फफूंदी या औद्भिद प्रकृति



कीटाणु इसका कारण होता है।

यह रोग प्रायः दुग्धाशी बालकों को होता है और प्रायः ऐसे बालकों को जिन्हें माता के दूध के बदले में बाजारू दूध पीने को मिलता है। कभी-कभी दूध पिलाने वाली शीशी को भली भांति साफ न करने से उसमें दूध अम्ल हो जाता है जिससे रोगाणु उत्पन्न होकर बालक को रोगाक्रांत कर देते हैं। कदाचित बहुत छोटे बालकों की पाचन क्रिया विकृति से भी यह रोग हो जाया करता है तथा कतिपय क्षीणता उत्पन्न करने वाले रोग जैसे क्षय की अन्तिम अवस्था एवं कतिपय अविसर्गी ज्वरों के कारण भी यह रोग प्रगट हो जाता है।

लक्षण—

प्रारम्भ में तो मुख की अन्दर की कला में रक्त वर्ण के धब्बे पड़ जाते हैं जिन पर श्वेत चिन्ह हो जाते हैं। तदनन्तर में चिन्ह परस्पर मिलकर सफेद सफेद धब्बे या सफेद ब्रण बन जाते हैं जिनके ऊपर दही के सदृश श्वेत पदार्थ चिपका रहता है। यदि उसे उतारा जावे तो वह श्वेत पदार्थ उतरता नहीं है और यदि उसे जोर से रगड़ कर छुड़ाया जावे तो नीचे के ब्रण दृष्टिगोचर होकर रक्तसाव होने लगता है। यह रोग प्रायः होठों के नीचे और कपोलों के अन्दर की ओर तथा जिह्वा के नीचे हुआ करता है। यहां तक तो यह रोग घातक नहीं होता मगर कभी कभी कंठ, भोजन की नली तथा आमाशय तक फैल जाया करता है। उस अवस्था में निगलने, बोलने और श्वासोच्छ्वास में भी कष्ट हो जाया करता है। अति दुर्बल बालकों में यह रोग फैलकर वहां की रचना को भी गला दिया करता है। चूंकि यह औपसर्गिक व्याधि है, अतः दूध पिलाने वाली के स्तनों के अग्रभाग पर भी फफूंदी के लगाने से स्तनों पर भी यह रोग हो जाया करता है।

चिकित्सा—

सर्व प्रथम बालक को और उसके मुख को शुद्ध

तथा स्वच्छ रखना आवश्यक है तदनन्तर उसके भोजन पर उचित रूप से ध्यान देना चाहिये। बालक को दूध पिलाने के बाद प्रति औंस १० ग्रैन टङ्कणाम्ल मिले जल से उसके मुख को साफ करना और कोमल वस्त्र से अन्दर से मुख पोंछ देना चाहिये। मुख को साफ करने और पोंछ देने के बाद बोरिक ग्लिसरीन या सौभाग्य मधु मुख में लगावें। यदि रोगी दुर्बल हो तो उसे पौष्टिक औषधि दें और यदि यह रोग गले तक फैल गया हो तो पोटाश क्लोरेट दें। इसके अतिरिक्त गौदंती की छाल, मौलश्री की छाल और चमेली के पत्ते समान भाग लें, काथ कर उस काथ से बालक का मुख साफ करना और इसी प्रकार बड़ों को उपरोक्त काथ से कुल्ले कराना चाहिए।

कलमी शोरा, कथा सफेद, छोटी इलायची और गुलाब के फूल प्रत्येक २ माशा, कपूर १ माशा, तूतिया भुना हुआ ६ रत्ती सबका अति सूक्ष्म चूर्ण कर छाती पर लगावें। यदि मलावरोध हो तो उसे दूर करें। यदि शरीर में गर्मी बढ़ी हुई हो तो उन्नाव ५ दाने, तुख्म खुरफा ६ माशे, बिहीदाना ३ माशा को आध घंटे जल में भिगोकर तथा लुआव निकाल कर शर्बत नीलोफर २ तोला मिलाकर पिलावें। यह मात्रा पूर्ण बयस्क की है। बालक को उसकी अवस्था के अनुसार मात्रा दें अथवा अमीफल, धनियां, वृ० मंजिष्ठादि अर्क के साथ दें।

स्मरण रहे कि अमीफल, धनियां छोटा बालक नहीं खा सकता। अतः उसे केवल वृ० मंजिष्ठादि अर्क मधु मिलाकर पिलाना चाहिए तथा उपरोक्त योग जिसमें भुना नीला थोथा पड़ा है वह भी छोटे बालकों को न देकर छोटे बालकों पर नीला थोथा रहित औषधि का ही प्रयोग करें।

—श्री प्रोफेसर गंगाचरण शर्मा आयुर्वेदाचार्य

वैद्य मार्तण्ड, भिवानी (हिसार)

बालकों के लिये कुछ अनुभूत योग तथा मिश्रण

श्री वैद्य नन्दनलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

बाल सप्तभद्र

अतिविषा, पिप्पली, मोंथा, हरिद्रा, दालचीनी, और गोदन्ती भस्म समभाग लेकर सबका कपड़छन चूर्ण कर गोदन्ती भस्म मिलाकर ३ घंटे तक पीस कर रखें। मात्रा १ से ३ रत्ती मधु या चतुर्जाता-बलेह के साथ दिन में ४-५ बार देना चाहिये।

ज्वर, अतिसार, उदरशूल, कास में उत्तम है।

लवंग चतुःसम

लवंग, जायफल, जीरा भुना श्वेत और सुहागा भुना समभाग कपड़छन चूर्ण को ३ घंटे पुनः शुष्क ही घोटकर रख लेवें। मात्रा—१ से २ रत्ती यथा आयु दें। बालातिसार और प्रवाहिका में उत्तम है।

विरेचन के लिये एरण्ड तैल आधी चम्मच से २ चम्मच तक देने से अच्छा रेचन होकर शरीर सुधर जाता है। कोष्ठबद्ध में बिना किसी हिचकिचाहट से देना चाहिये। यदि प्रवाहिका होने पर अन्य औषधि देने से प्रथम एरण्ड तैल दिया जाय तो शीघ्र लाभ करता है। गर्म जल या थोड़े से गौदुग्ध में दिया जाता है।

बच्चों के पाण्डु या कामला में

नवायस लौह, सत्वगुडूची और प्रबाल पिष्टी मिश्रण दुग्धानुपान से लाभदायक है। साथ में संश-मनी बटी (गुडूचीघन बटी) १-१ रत्ती की गोली दिन में तीन बार अर्क कासनी से देना चाहिए।

बालपक्ष्मध में

वृ० वातचितामणि १ रत्ती, जवाहर मौहरा १ रत्ती, अश्वगन्ध चूर्ण १ रत्ती, मधु से दिन में ३ बार और अश्वगन्धारिष्ट यथायोग्य दिन में ३ बार मालिश के लिये महानारायण तैल प्रातः सायं कभी कभी अश्वगन्धारिष्ट के साथ बलारिष्ट भी मिलाकर दिया जाता है। कभी नारायण तैल में एरण्ड बीज पीसकर मलहम सी बना लेते हैं और उसकी मालिश करवाते हैं। बद्धकोष्ठ

नहीं रहने देना चाहिए। एरण्ड का शुद्ध तैल थोड़ा प्रतिरात्रि दुग्ध से देना चाहिये।

इस प्रकार की चिकित्सा से बाल पक्षाघात (पोलियो) में अच्छा लाभ होते देखा गया है।

रक्तक्षीणता में

नवायस मण्डूर (नवायस लौह की अपेक्षा बालकों में विशेष है), सत्वगुडूची, प्रबाल पंचामृत मिश्रण या लघुमालती बसंत, अन्नक भस्म, शृङ्ग भस्म और मण्डूर भस्म मिश्रण ये दोनों मिश्रण यथायोग्य मात्रा में विशेष लाभदायक हैं।

बच्चों के मूत्रकृच्छ्र में

संग यहूद पिष्टी तथा यवक्षार का मिश्रण १-१ रत्ती दिन में ३-४ बार देना चाहिये।

वृ० वातचितामणि रस, वात कुलान्तक, जवा-हर मौहरा प्रत्येक चौथाई रत्ती ऐसी तीन मात्रा दिन में मधु से, अश्वगन्धारिष्ट दिन में १ छोटा चम्मच ३ बार दौरे के समय कटफलत्वक् तुलसी पत्र शुष्क, नकल्लिकनी और कर्पूरादि नस्य दे (और द्रव्य समभाग कर्पूर चौथाई भाग लेना चाहिये)।

बच्चों के उन्माद में चतुर्भुज रस १ रत्ती, बच चूर्ण १ रत्ती मधु से दिन में ३ बार दे और जटा-मांसी, अश्वगन्धा, बला तथा खुरासानी अजवायन का काथ दें।

बच्चों के जीर्ण अतिसार में

महागन्धक ४ रत्ती, कर्पूर रस १ रत्ती, कपर्द भस्म ३ रत्ती और जातिफलादि चूर्ण ४ रत्ती मिश्रण कर ४ पुड़िया बना चतुर्जाताबलेह से दिन में चार दें।

सर्दी के लिये

पिप्पली छोटी १ भाग, मिश्री कूजे की १ भाग ३ घंटे घोटकर भर कर रखलें। मात्रा—१-१ रत्ती चटा दें। इस साधारण औषधि से बड़ा भारी —शेषांश पृष्ठ ५०१ पर।

बाल रोगों की अनुभूत चिकित्सा

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव

(१) कफज्वर, कास, श्वास, उदरशूल, आम, अतिसार—हर, पीपल, चीतामूल छाल, कटेली, तुलसी पांचों द्रव्यों को समभाग लेकर चूर्ण या काथ करें। चूर्ण ४ रत्ती तक या काथ ३ माशे तक मधु मिलाकर चटाये या उष्ण जल से दें।

(२) कायफल, काकड़ासिंगी, पीपल, तुलसी सं. एक की विधि से प्रयोग करें। गुण भी वैसे ही हैं चाहें तो कटेली भी मिला लें। मधु मिला मधुर बना शिशुओं को देना चाहिए। यहां ५ वर्ष के शिशु की मात्रा लिखी है।

(३) कास, श्वास, कफ—बासा या अड़सा, गिलोय, मुनक्का, हर, अतीस, पीपर, काकड़ासिंगी, मोथा, कटेली—सबको समान भाग लें। चूर्ण या काथ बना मधु मिला पिलावें। चूर्ण की मात्रा ६ रत्ती तक, क्वाथ ३ माशे तक मधु ६ माशे तक।

(४) कफ ज्वर, उदरशूल, मल सञ्चय, यकृत विकार, पाण्डु, कास, श्वास, मृत्तिकाभक्ष्ण—कुटकी का क्वाथ ३ माशे में १ रत्ती पीपल का चूर्ण मिला ६ मासे मधु मिला पिलावें। १-२ बताशे भी मिला सकते हैं क्वाथ कटु बनता है। मधुर बना कर देना चाहिए। कटुकी का चूर्ण २ रत्ती तक या भून कर दें। मोती ज्वर में कटुकी का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(५) पीपल, रसौत, आम की गुठली—तीनों को समभाग लेकर चूर्ण करें ६ रत्ती तक मधु ३ माशे मिला चटावें। इससे वमन अतिसार दूर होता है। यह श्यामादि चूर्ण है।

(६) बायविडग, अजवाइन, पीपल—तीनों को समभाग लेकर चूर्ण करें। मात्रा ३ रत्ती तक ३ माशे मधु या उष्ण जल से दें। इससे उदर कृमि, शूल, अतिसार, कफ श्वास, वमन दूर होता है। कृमिरोग में गुड़ में मिला खिलावें। बाद में दूसरे दिन १। तोला काष्ठायल दूध में मिला कर दें।

(७) अतिसार, शूल, वायुरोध, प्रवाहिका—भुनी-हींग, भुना जीरा सफेद, सेंधानमक, अतीस, कच्चे बेल की गिरी, आम की गुठली की गिरी, सब द्रव्य १-१ रत्ती लेकर पीस लें, ये ३-४ मात्राये हैं। उष्ण जल से खिलाना ठीक रहता है।

(८) रक्तातिसार—मोच रस, मंजीठ, धाय के फूल, कमल केशर (कमल केशर न मिले तो कमल लें, या कथा लें या नेत्र वाला लें। शूल हो तो सोंठ भी डालें) इनका मिलित ६ रत्ती चूर्ण दूध से सेवन करावें।

रक्तातिसार, शूल, प्रवाहिका—सोंठ, सौफ, पीली हर गुलठी रहित, मिश्री। प्रथम तीनों कूट कपड़-छन करें। बाद में मिश्री मिला पीस रखें। इसे शीतल जल या दूध से ४-६ रत्ती की मात्रा में दें।

(९) आम्रातिसार, अतिसार, प्रवाहिका शूल, कफ शूल—वच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, पिठवन, इन्द्र जौ। इन १० औषधियों को समभाग लेकर यवकुट चूर्ण करें। ३-३ माशे का काथ बना मधु ६-६ माशे मिला शिशु को दें। माता को २-२ तोले का क्वाथ बना कर दें। केवल माता को ही देने से स्तनपायी शिशु ठीक हो जाता है। इस क्वाथ से माता का दुग्ध शोधन होता है।

(१०) कास, मलसञ्चय, काली खांसी—गुलाब के फूल, बनफसा के फूल, उन्नाव, छोटी हरड़, अमल-तास का गूदा, मुनक्का, मुलहठी—सब समभाग लें। यवकुट चूर्ण कर ६ माशे को ४ तोले पानी में काथ करें। २ तोले रहने पर ६-६ माशे बराबर मधु या बताशे मिला दें। चन्द्रामृत रस या कामदुधा रस १-१ रत्ती भी साथ में दें।

(११) उदर शूल, अतिसार, कृमि, अनिद्रा—अजवायन को भूनकर चूर्ण १-३ रत्ती ३-४ रत्ती गुड़ में मिला खिलाना चाहिये।



शिशुरोगाङ्क

(१२) उदर शूल, अतिसार, अपचन, वमन—
माशे सौंठ के चूर्ण को १ छटांक अण्डी के तेल में
पका कर छान लेना चाहिये। इसे १ बार में १०-१५
बूंद उष्ण जल या दुग्ध में बच्चे को पिलायें।

(१३) उदरशूल, ज्वर, अतिसार, वमन—
अमृतधारा १ बूंद बताशे पर ढालकर उसे १ या
२ बार में खिलाना चाहिए। १ बूंद अमृतधारा
उष्ण जल में ढाल उसकी २ मात्रायें बना पिलायें।

(१४) काला नमक सोड़ाबाई कार्ब, गेरु तीनों
समभाग लेकर चूर्ण करें। दूध से देना चाहिये।
इसके भी गुण उपर लिखे अनुसार हैं।

(१५) अजवायन, बायविंडग, नागौरी अश्व-
गन्धा, सोया के बीज सबको १-१ तोला लें। यक्कुट
चूर्ण करें। १२ छटांक पानी में पका ३ छटांक शेष
रहने पर उतारें। १ तोला अन्बुम्मा खाने बाला चूना
उसीमें ढाल दें। और कई बार डंडे से चलाकर २४
घन्टे के बाद केवल उपर का पानी उतार लें। चूना
न आवे। इसमें १ छटांक शक्कर ढालकर शर्बत बना लें।
रोगानुसार ३ माशा की मात्रा में शिशुओं को
पिलाना चाहिए। कृमि, अरुचि, अपचन उदरशूल
वमन, अतिसार, ज्वर आदि रोग निवारक मधुर
पानक है।

(१६) उत्फुल्लिका, डन्बारोग, पसली रोग, ब्रांको
निमोनियां, कफ कास, श्वास, सृगी आक्षेप-कमेड़ा
फुलाया हुआ सुहागा की खील अति लाभकारी है
देकर गुण देखिये।

(१७) शिर के फोड़े में रसौत, और मेंहदी की
पत्ती पीस कर फोड़ों पर लेप कर दीजिये। नीम की
कौपल और गेरु भी मिला सकते हैं। अति लाभ-
कारी है।

(१८) दस्त, मरोड़, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी,
वमन, हैजा—जायफल १॥ तोला, तज ६ माशा, लौंग
फूलदार ६ माशा, छोटी इलायची के बीज
६ माशा, खडिया ३ तोला, चीनी ६ तोला पीस

छान चूर्ण करें। मात्रा ५-१० रत्ती उष्ण जल से
देनी चाहिये।

—श्री जगदम्बा प्रसाद जी, महदेवा
पो० अरौल (कानपुर)

:: पृष्ठ ४६६ का शेषांश ::

लाभ होता है। वायु का अनुलोमन होता है। सर्दी
जुकाम तथा पेट के शूल एवं अरुचि में प्रयोग
करना, माता का दुग्ध न पचता हो तो भी अच्छा
लाभ करती है।

सिद्धास्यादि वटी (अ० २० व०)

यह रक्तातिसार, रक्तस्राव, कफज कास, कफ में
रक्त आना आदि में विशेष लाभप्रद है। अच्छी
निद्रा लाकर बालक को शांतिरहित कर देती है।
मात्रा ३ रत्ती दिन में ३ बार सौंफ के अर्क या मधु
से दे।

काली खांसी (Whooping cough)

शृङ्गभस्म, मधुयष्टी, प्रबाल पिष्टी, सत्वगुडूची,
इलायची छोटी, वंशलोचन समभाग, बांसाक्षार
३ भाग, मिश्री २ भाग मिलाकर रख लें। मात्रा २
से ३ रत्ती बांसा शर्बत से दिन में कई बार दें।

नोट—ये योग अथवा मिश्रण अपने चिकित्साकाल में
अनुभव किये गए हैं। अतः बिना किसी संदेह के प्रयुक्त
करने चाहिये। लिखने का प्रयोजन मात्र अनुभव पर
सबका अधिकार है, यह सिद्धान्त है।

—श्री वैद्य नन्दलाल शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
२/५ सिंध सेवा समिति नगर,
कोलबाड़ा, बम्बई-२२

शिशु रोगों पर शास्त्रीय योग

श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव



बालजीवन वटी—

विधि—गौरोचन ३ माशे, एलुवा ६ माशे, उसारे रेवन्द, केशर, कटेली का जीरा या मूल छाल, जवाखार, सत्यानाशी के बीज प्रत्येक १-१ तोला लीजिये। सबको कूटपीस छानकर अदरख स्वरस में १ घंटे लगातार खरल कर मूंग सी गोलियां बना रखें। छाया में सुखा शीशियों में रखें।

मात्रादि—१ गोली मां के दूध, मधु, गौमूत्र, कुमारकल्याण घुटी १०-१५ बूंद या कुमार्यासव, द्राक्षारिष्ट ३-३ माशे के अनुपान से देवें। १ मात्रा ही रोग को दूर कर देती है। आवश्यकता पर दूसरी मात्रा दें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से शिशुओं का पसली चलना (बाल निमोनियां, उत्फुल्लिका, डब्बा रोग), मलावरोध, आध्मान, आस कासादि, मूत्र-रोध, उदर विकार आदि रोग अवश्य दूर हो जाते हैं। इससे १-२ टट्टियां आती हैं। कभी कभी १-२ वमन भी होते हैं। गले में घरघर करता हुआ कफ निकल जाता है। यदि माता का दूध दूषित हो तो उसे न पिलाना चाहिए। इसको १-२ मात्राओं से अधिक न देना चाहिये। प्रायः आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रोग शमन के बाद कुमारकल्याण १-२ चावल मधु या द्राक्षारिष्ट १५ बूंद देने से शक्ति का संरक्षण होता है और शेष विकार भी शमन हो जाते हैं। प्रयोग करें। अनुपम योग है।

लशुनादि वटी —

विधि—लशुन, जीरा, मुनी हींग, सोंठ चूर्ण छना हुआ, मिर्च, पीपल, शुद्ध गन्धक, सैधानमक इन द्रव्यों को समभाग मिला नीबू के रस में ३ दिन खरल कर १-१ रत्ती की बटियां बना रखें।

मात्रादि—शिशुओं को चौथाई या आधी गोली मट्ठा, मधु, गौमूत्र, मां का दूध, प्याज का रस आदि से दें। विषूचिका में आध आध घंटे पर देते जावें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से कृमि, अजीर्ण, उदरशूल, अफरा, विषूचिका, चर्मविकार, वमन, अतिसार, वात, कफरोग, कास आस दूर होते हैं। माताओं को इसे बनाकर घर में रखना चाहिये। बच्चों को १-२ बटियों की १ मात्रा दें।

मधुरान्तक वटी—

तुलसी पत्र २ तोले, गिलोय सत्व १ तोला, लौंग, बंशलोचन, धनियां, कासनी के बीज, इलायची छोटी के दाने ६-६ माशे सबको कूट कपड़-छन कर तुलसी के स्वरस में १२ घंटे खरल कर उड़द सी बटियां आध आध रत्ती की बना रखें।

मात्रादि—२-४ बटियां जल से अथवा अमृता-रिष्ट ६ माशे सजल से देवें। ज्वर अधिक हो तो प्रबाल भस्म आरम्भिक दिनों में और अन्तिम दिनों में प्रबाल पिष्टी १-२ रत्ती मिलाकर देना चाहिए। अतिसार होने पर लक्ष्मीनारायण रस आधी आधी रत्ती साथ में देना चाहिए।

उपयोग—यह वटी मोती ज्वर के विष को बाहर निकालने के लिए अति उपयोगी है।

विशेष—मधुरा में रोगी को अन्न कभी भी नहीं देना चाहिये। दूध अधिक देने से अतिसार होने लगते हैं तब ज्वर शीघ्र शमन नहीं होता। अधिक ज्वर के कारण मल के पिंड बन जाते हैं। यदि अतिसार न हो तो १ पाव दूध में १ मुनका देना चाहिये। अन्यथा मौसम्बी और संतरे का रस देना चाहिए। अतिसार में संजीवनी वटी (शा. सं.) और लक्ष्मीनारायण रस, आनन्द भैरवी वटी या

शिशुरोगाङ्कः

आनन्द भैरव रस न भूलें। इस चिकित्सा से शत प्रतिशत रोगी ठीक होंगे। बाजी लगाकर रोगी का ठेका लिया गया असाध्य अवस्था में मधुरान्तक वटी सौक्तिक युक्त (र. त. सार) का प्रयोग करें। सैंकड़ों रोगियों की चिकित्सा के बाद जो अनुभव है वह यहां दिया गया है। विश्वास रखकर प्रयोग करें। तापमापक लगाकर सुबह शाम ज्वर देखें। यदि ज्वर बिल्कुल नहीं उतरता तो इन योगों का प्रयोग करें। आपको यश प्राप्त होगा।

मृदुरेचन रस -

विधि—छोटी इलायची के दाने १ तोले, शुद्ध गंधक २ तोले, शुद्ध मुर्दासंग २ तोले, सौंफ ३ तोले लें। सबका महीन कपडछन चूर्ण करें। (र. चं.)

मात्रादि—बालकों को आध आध रत्ती दिन में ३ बार दूध, गौमूत्र या द्राक्षारिष्ट से दें। मृत्तिकाभक्षण करने वाली बड़ी स्त्रियों को ४-४ रत्ती दिन में तीन बार दें।

उपयोग—इस रस के सेवन करने से मृत्तिका भक्षणजन्य पांडु रोग, कृमिरोग आदि शमन हो जाते हैं। यह रस मिट्टी को टट्टी में निकालकर रोगी को ठीक कर देता है। इससे जुलाब लगते हैं, टट्टियां आती हैं। मिट्टी निकल जाने पर इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिये।

कृमिरोग में १-१ रत्ती सेन्टोनीन ६-६ रत्ती शकर या गुड़ मिलाकर दिन में २-३ बार देना चाहिये। फिर दूसरे दिन प्रातः निशोथ मिश्रित नाराच रस आदि का विरेचन देना चाहिये। एरण्ड तैल २॥ तोले भी दे सकते हैं। बड़ों को बड़ी मात्रा देनी चाहिए।

कृमिहर चूर्ण—कपिला, बायबिडंग, भीका-माली, कालानमक सबको समभाग ले मिला चूर्ण कर २-४ रत्ती भोजन के पूर्व देने से कृमि मूर्च्छित हो गिर जाते हैं। रोग पुराना होने पर मृदुविरेचन रस १ दिन के अन्तर से देना चाहिये प्रतिदिन नहीं। इस तरह पाण्डु या कृमिरोग २०-३०-४० दिनों में

दूर हो जाता है।

कंड़, चर्मरोग, विषचिका में यह रस लाभकारी है। निर्बल रोगी में इसका प्रयोग करने के पूर्व कुमारकल्याण रस १-२ चावल दे देना चाहिए। इससे शक्ति का संरक्षण होता है। पुनर्नवा मंडूर, लोहासव, मण्डूर वटी, कुमार्यासव को विवेचना-नुसार सहायक रूप से प्रयोग करना चाहिए। यहां मृत्तिका भक्षणजन्य रोग और कृमिरोग की पूर्ण चिकित्सा है।

कृमिघ्न चूर्ण (१) -

विधि—करंज की गिरी, पलास के बीज, किरमाणी अजवाइन, कबीला, बायबिडंग सबको मिलाकर कपडछन चूर्ण करें।

मात्रा—२-३ माशे चूर्ण ३ माशे गुड़ में मिला दिन में ३ बार देवें ऊपर से उष्ण जल पिलावें। यह एक मात्रा है। दूसरे दिन २॥-५ तोले एरण्ड तैल पिलाने से ढेर के ढेर कृमि निकल पड़ते हैं। उक्त चूर्ण विषम ज्वर आने के पूर्व देने से (उष्णजल से बिना गुड़ के) ज्वर रुक जाता है।

कृमिघ्न चूर्ण (२) -

विधि—सौंठ, मिरच, पीपल, अजवाइन, हर, बहेड़ा, आमला तीनों गुठलीरहित प्रत्येक १-१ तोले लें। कपडछन चूर्ण कर रखें।

मात्रा—३-३ माशे गुड़ में मिला खिलावें। ऐसी १ दिन में ३ मात्रायें दें। दूसरे दिन टट्टी करा दें। धन्वन्तरि सरल भेदी वटी की १ गोली से १ टट्टी निश्चय आती है। शिशु को देने से २-३ टट्टियां आजाती हैं। कृमि गुदा मार्ग से निकल पड़ते हैं। यदि यह चूर्ण शीघ्र लाभ न करे तो विडङ्गारिष्ट ६-६ माशे सजल अनुपान से दीजिए।

हिंवाण्टक चूर्ण -

विधि—सौंठ का छना हुआ चूर्ण, काली मिर्च, पीपल, अजवाइन, सेंधा नमक, जीरा, काला जीरा, और मुनी हींग इन ८ द्रव्यों को समभाग मिला महीन चूर्ण करें।



मात्रा—२-३ माशे भोजन के समय प्रथक कवल में दें। तक्र या उष्ण जल से देवें। कुमार्यासब ३ माशे में जल मिला उसके अनुपान से देवें। शिशुओं को २-४ रत्ती से अधिक न देवें। यह चूर्ण वित्तबर्द्धक है।

उपयोग—अजीर्ण, अपचन, हैजा, दस्त, ग्रहणी, वात कफज सर्व रोग कृमि में लाभकारी हुआ है। पित्त विकार में, शरद ऋतु में न दें।

भागोत्तर वटी-

विधि—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, पीपल ३ तोला, हर गुठली रहित ४ तोला, बहेड़ा ५ तोला, अड़ूसा पत्र या मूल छाल ६ तोला, भारंगीमूल ७ तोले लेवें। सबको यथाविधि बबूल की अन्तर्छाल के क्वाथ की २१ भावनायें देकर २-२ रत्ती की बटियां बना रखें।

मात्रा—३-४ बटियां दिन में देनी चाहिये। आवश्यकतानुसार पान का रस या अदरक का रस दिया जा सकता है। सूखी खांसी में भारङ्गी मूल के बिना जिसे 'अग्नि रस' कहते हैं (र. र. स.) देना चाहिए। भारङ्गी कफ को निकाल देती है।

उपयोग—यह रस कास श्वास, उरः क्षत, फुफ्फुस क्षय में सहायक रूप से अति लाभकारी सौम्य औषधि है। अधिक भार उठाने से उर में चौरा चला जाता है या चोट लग जाने से फेफड़ों से रक्त जाने लगता है। थूक में खांसने से रक्त बिन्दु आते हैं इसे १-२ दिनों में ही ठीक कर देती है। श्वास वाहिनियों से कफश्राव कराती है। कंठ और जिह्वा के छाले आदि में लाभकारी है। यह रस कास श्वास के वेग को शमन करता है। रक्त श्राव होने पर अदरक का रस नहीं देना चाहिए। यह बिलकुल निर्भय योग है। फुफ्फुस सन्निपात में रक्त जाने पर सहायक रूप से इसे देना चाहिये।

हिंगुलादि गुटिका द्वितीय-

विधि—शुद्ध सिंगरफ, जायफल, जावित्री, सोंठ का चूर्ण छना हुआ, तुलसी पञ्चांग, पीपल ये ६

द्रव्य १-१ तोला शुद्ध जमालगोटा ६ तोला लें। न १ के रस में ३ दिन खरल कर मूंग के बराबर की गोलियां बना रखें।

मात्रा—१ गोली जल से देवें।

उपयोगिता—इसके प्रयोग से कफ शमन हो जाता है, १-२ टट्टियां आजाती हैं। डब्बा रोग, कफ श्वास, कास, कफ ज्वर, मलेरिया आदि रोग दूर हो जाते हैं। टट्टियां हो जाने के बाद फिर इसे नहीं देना चाहिए। उक्त रोगों में युवकों को २-२ गोलियां देनी चाहिए। गर्भवती को भी नहीं देनी चाहिए। सि० भै० म० माला में सोंठ, पीपल तुलसी नहीं है इनके स्थान पर १ भाग गोरोचन है।

डब्बा नाशक गुटिका (१)-

विधि—करंजा की गिरी, सोंठ का छना हुआ चूर्ण, शुद्ध जयपाल-तीनों द्रव्यों को समभाग लें। जल, तुलसी स्वरस, करंज, पत्र रस, पान स्वरस या अदरक स्वरस में रगड़कर मूंग जैसी गोली बना रखें।

मात्रा—१ गोली उष्ण जल में घोलकर पिला दें। यदि आवश्यकता समझें तो दूसरी गोली दें। २ से ज्यादा देना ठीक नहीं।

उपयोग—इस गोली से १ टट्टी और कभी कभी १ वमन भी हो जाती है। गले में फंसा हुआ कफ निकल जाता है। ज्वर कफ कास श्वास आनाह उदर-शूल वायुरोध मल सञ्चय आदि विकार दूर हो जाते हैं। उत्फुल्लिका, डब्बा, पसली चलना, बाल निमोनियां इससे दूर हो जाते हैं। इस रोग में कफ को सुखाने वाली दवा नहीं देनी चाहिए।

डब्बा नाशक गुटिका (२)-

विधि—सुहागा चौकिया भुना हुआ २ रत्ती, लौंग फूलदार भुनी हुई १ रत्ती दोनों को घृतकुमारी के रस में घोट कर मूंग जैसी गोलियां बना रखें।

मात्रा और उपयोग आदि ऊपर लिखे अनुसार हैं इससे प्रायः टट्टी नहीं आती। दिन में ४-५ बार तक देना चाहिये।



शिशुरोगाङ्क

हुन्वा नाशक गुटिका (३)-

विधि—सुहागा भुना हुआ, शुद्ध बच्छनाग दोनों समभाग लें। अदरख स्वरस में ७ दिन घोटकर सरसों के समान गोलियां बना रखें।

मात्रा—१ गोली उक्त अनुपान में से किसी से दें या उष्ण जल में घोलकर दें। मां के दूध से दें, दिन में दो गोलियों से अधिक न दें।

उपयोग—इसके प्रयोग से कफ ज्वर तथा पार्श्व चालन दूर हो जाता है। अधिक मात्रा देने से शीतांग हो सकता है। इसमें बच्छनाग की मात्रा अधिक है। सुहागा २-३ भाग रखें तो अच्छा रहेगा। इसके प्रयोग करने के बाद कुमारकल्याण रस २-४ चावल देकर शक्ति का संरक्षण करना चाहिए। पार्श्वशूल में कपूर मिश्रित तारपीन का तैल लगाना लाभकर है।

हुन्वा नाशक गुटिका (४)-

विधि—गोरोचन, रेवन्दसार, सुहागा का फूला क्रमशः १, २, ३ भाग लेकर चूर्ण करें। तुलसी स्वरस की ३ भावनार्यें दें। फिर २ भाग हल्दी और २ भाग सेंधा नमक मिलाकर गोमूत्र की ७ भावनार्यें देकर मृग जैसी गोलियां बनाकर छाया में सुखा शीशी में रखें।

मात्रा—१ गोली पान का रस, तुलसी का रस, गोमूत्र, अदरख का रस, मधु, उष्ण जल १८-२० बूंद में पीसकर मिलाकर पिला दें। यदि जरूरत हो तो दूसरी गोली दें।

उपयोग—इसके सेवन से १ वमन और १ दस्त हो सकता है। अफरा, कास, श्वास, हिक्का, कफ, सन्निपात, पार्श्वशूल, उदरशूल, बाल निमोनियां, मल सञ्चय, वायुरोध, आदि विकार अवश्य दूर हो जाते हैं। आंत्रिक ज्वर, अतिसार में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। पूरे रोग भर में २-३ गोलियां से अधिक (एक बार में) नहीं देना चाहिए।

बाल कासारि चूर्ण—

बनावट—काकडाशिगी २ तोले, पीपल छोटी

१ तोला, कालोमिरच ३ माशे, लौंग १ तोला, यव-चार १ तोला, मुलहठी २ तोला, फिटकरी का फूला ३ माशे। सबको रगड़कर पान के रस और अदरख और तुलसी स्वरस की ३-३ भावनार्यें देकर आधा आधा रत्ती की वटी बना रखें।

मात्रा—१-१ वटी उष्ण जल से घोल कर पिला दें दिन भर में ५-७ दे सकते हैं।

उपयोग—इसके प्रयोग से बालक के वात कफज ज्वर, कास, श्वास, हिक्का दूर होते हैं। मूत्र साफ उतरता है। किसी रोग में कास होने पर इसका प्रयोग सहायक रूप से करना चाहिए। अहानिकारी योग है।

हिङ्वादि गुटिका (१) -

विधि—हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, यवचार, एरण्ड मूल छाल, सेंधानमक सब समभाग लेकर चूर्ण करें। नीबू स्वरस की ३ भावनार्यें देकर आधा-आधा रत्ती की वटियां बना रखें।

मात्रा—उष्ण जल में आधी वटी घोलकर पिलावें। पूर्व लिखित अन्य अनुपानों से दें। या १-२ रत्ती एरण्ड मूल छाल स्वरस या अपामार्ग स्वरस ३ माशे में घोल नाभि पर लेप करें।

उपयोग—इसके सेवन से उदर शूल, वातज कफज शूल, मूत्ररोध, विशूचिका, अजीर्ण, वायुरोध, कास, श्वास, हिक्का, सीहाशूल, अफरा, कफ विकार दूर होते हैं। युवकों को २-३ वटियों की १ मात्रा है।

हिङ्वादि गुटिका (२) -

विधि—हींग, अम्लवेत, सोंठ, मिर्च, पीपल, अजवाइन, सेंधा नमक, काला नमक, नौसादर, यवचार, पोदीना सत्व—सब समभाग लेकर चूर्ण करें। नीबू स्वरस से ३ दिन खरल करें। फिर आधा रत्ती की वटियां बना रखें। हींग भूनकर डालनी चाहिए।

मात्रा—आधा-आधा वटी उष्ण जल में घोलकर दें। अन्य अनुपान पूर्व योगों के साथ लिखे हैं। युवकों को २ रत्ती की मात्रा है।

उपयोग—इस योग के सेवन से वातज शूल अजीर्ण, अफरा, विषूचिका, वायुरोध, मूत्ररोध, उदर कृमि विकार दूर होते हैं। अधिक खाए हुए भोजन को गला देता है। मात्रा अधिक न दें। च० द० में नौसादर, यवच्चार, पुदीना सत्व नहीं है बिड़ नमक और काला नमक है।

कुमारकल्याण रस—

सिन्दूरं मौक्तिकं हेम न्योमायो हेममाक्षिकम् ।
कन्यातोयेन सम्मर्दा कुर्यान्मुद्गमिता वटी ॥
वटिकां वटिकाद् वा वयोऽवस्थां विविच्य च ।
चीरेण सितया साद्धं बालेषु विनियोजयेत् ॥
कुमाराणां ज्वरं श्वासं वमनं पारिगर्भिकम् ।
ग्रहदोषान्च निखिलान् रक्तनस्याग्रहणम् तथा ।
कामलामतिसारञ्च कृशतां वह्निवैकृतम् ।
रसः कुमारकल्याणो नाशयेन्नात्र संशयः ॥

—भै. र.

षडगुण गन्धक जारित रससिन्दूर, मुक्तापिष्टी, स्वर्ण भस्म (२० त० सा० चतुर्थ विधि), शतपुटी अभ्रक भस्म, लोह भस्म हिङ्गुल जारित शतपुटी, स्वर्ण माक्षिक भस्म इन्हें समभाग ले घृतकुमारी के स्वरस से १ दिन (१२ घंटे) मर्दन कर आध-आध रस्ती की टिकिया बना रखें।

मात्रा—बालकों को आधी से एक वटी, बड़ों को २-३ वटी रोगानुसार अनुपान से सेवन करावें। बालकों को दूध मिश्री या कुमारकल्याण घुटी, कासारि (धन्व० का०) से सेवन करायें।

उपयोग—इस वटी के सेवन से बालकों और बड़ों के ज्वर, सन्निपात, श्वास वमन, आक्षेपक, पारिगर्भिक रोग, ग्रह दोष, मातृदुग्ध को न पीना, कामला, पाण्डु, हलीमक, रक्तातिसार, शोष, कृशता यकृत्सीहा के विकार, रक्त क्षय, अग्निविकृति आदि रोग नष्ट होते हैं। यह ओज वर्द्धक है। ड० बा रोग में ३ चावल तुल्य भस्म खिला १ वमन होने पर १ मात्रा इसकी दें।

—श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव, महदेवा
पो० अरौल (कानपुर)

नीम द्वारा बाल रोगों का उपचार

१. बालक के आम निकलने पर कच्ची फिट-करी के पानी से धोकर नीम तेल का फाया लगाने से आम निकलना बंद होता है।

२. नीम तेल सिर में लगाने से जूँ और लीक का नाश होता है।

३. नीम तेल की पट्टी बुखार में सिर पर रखने से शांति मिलती है।

४. असाध्य चर्म रोग पर नीम तेल लगाने से पूर्ण फायदा होता है।

५. नीम तेल कान में किंचित उष्ण करके डालने से फायदा होता है।

६. चेचक के दानों पर नीम तेल लगाने से ब्रण वा दानों के दाह में शान्ति मिलती है।

७. नीम तेल एक तोला, एरंड तेल आधा तोला और मत्स्य तेल आधा तोला तीनों को शामिल कर नासूर पर लगाने से नासूर बन्द हो जाता है।

८. बायबिडंग, नीम की गिरी, अजवायन तीनों समभाग गुड़ में गोली बनाकर ६ गोली देने के बाद विशुद्ध एरंड तेल उम्र अनुसार देने से अन्तर्कृमि का नाश होता है।

९. बाह्य कृमि पर नीम तेल लगावें।

१०. आंख खटकने पर नीम की लुगदी बना कर कपड़े के भीतर लेकर आंख पर बांधने से शूल व लाली में फायदा होता है।

११. नीम के पत्तों को ढककर उबाल लें। साधारण उष्ण रहने पर धोने से तीव्र कीटाणुओं का नाश होता है।

सभी प्रयोग स्वानुभूत और पूर्ण परीक्षित हैं।

— डा० जती चन्द्रशेखर आयुर्वेदाचार्य
एल. एम. एस. एम. डी.
बोलिया (मध्य प्रदेश)

शिशु रोगों पर हमारे सुपरीक्षित अनुभव

न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य श्री पं० चन्द्रशेखर जैन शास्त्री



तालुकण्टक रोग का प्रधान कारण—

पांच माह के बाद जो व्यक्ति गर्भिणी से प्रसङ्ग करता है, वह शिशु इस रोग से ग्रस्त होता है। शैथन में लिंगघर्षण के कारण गर्भस्थ शिशु के तालु पर आघात होता है। इस कमजोरी के कारण वह तभी से रोगग्रस्त रहने लगता है। अतः गर्भिणी बहुत सतर्क रहे और पिता अपने पूर्ण उत्तरदायित्व को निवाहे।

दिन में पैदा हुये बच्चे अधिक सुन्दर होते हैं—

रात में पैदा होने वाले शिशुओं की अपेक्षा दिन में पैदा हुये शिशु सुन्दर और बलिष्ठ होते हैं। अनुभव और ज्योतिष दोनों ही इस विषय में प्रमाण हैं।

पैदा होने पर जो बच्चा रोता नहीं या उस दिन सोता नहीं

वह बच्चा प्रायः जीवित नहीं रहता है। ६६ प्रतिशत ऐसे बच्चे १-२ दिन से अधिक जीवित नहीं रह पाते। ये सर्वाङ्ग पूर्ण सुन्दर और स्वस्थ दीखते हुए भी देखते देखते कूच कर जाते हैं।

यदि बच्चों का मूत्र जम जाता हो तो—

कई बच्चों का मूत्र चूना जैसा जम जाता है। माता पिता घबड़ा कर इधर उधर भागा दौड़ी करते हैं। ऐसे समय में निम्नलिखित उपचार फौरन ही काम करते हैं—

१. बच्चा २ वर्ष का हो तो थोड़ा थोड़ा (१-१ रत्ती) लवणभास्कर या १-१ रत्ती भास्कर-लवण या हिष्वाष्टकचूर्ण दिन में ४-५ बार चटावें।

२. एक वर्ष से छोटा बच्चा हो तो पाव से आधी रत्ती तक उक्त चूर्ण दिन में ४-५ बार ३-३ घन्टे

में चटावें। या पानी में घोल कर दें। एक ही दिन में पेशाब जमना ठीक हो जायगा। जादू जैसा काम करने वाला अनुभव है।

बच्चों के सिर में जू या लीकें हो जाय तो—

बच्चों के सिर में प्रायः सफाई न होने के कारण और उनके कपड़े प्रतिदिन न बदलने के कारण यह स्थिति होती है। तब निम्न उपचार करते हैं—

डी. डी. टी. पाउडर को सरसों के या करंज (कंजी) के तेल में मिलाकर (१॥ माशा पाउडर १ तोले तेल में मिलाओ) बालों की जड़ों में लगा दो और १५ मिनट बाद एक कपड़े से पोंछ कर फिर साबुन मिले पानी से धो दो। ऊपर से नारियल का तेल बालों को सुखाकर लगाओ।

तीसरे दिन पुनः दुबारा यह कार्य करो। उक्त शिकायत मिट जायगी।

बच्चों के पेट के कीड़े या चुनूनों पर—

कंपिल कबीला (असली) २ रत्ती की मात्रा में लेकर उसमें ४ रत्ती बायविडिंग डालकर पीसलो और ४ से ६ मात्रायें बनालें मधु या गुड़ की चाशनी से इसे चटाओ। बच्चा मां का दूध पीता हो और दबा चाटने में आना कानी करे तो मधु में औषध मिलाकर मां के दूध पर लगादो। बच्चे के दूध पीने के साथ ही औषध पेट में पहुँच जायगी। दिन में २-३ बार दो। यदि कज्ज हो अंडी का तेल योग्य मात्रा में देकर पेट साफ कर दो।

—न्यायायुर्वेदाचार्य वैद्य श्री पं० चन्द्रशेखर जैन शास्त्री, जबलपुर



शिशु स्वभाव क्यों नहीं बदलता

श्री वैद्य गोपाल प्रसाद 'विज्ञानभिडु'

कुछ लोगों का ख्याल है कि माता पिता के शारीरिक गुण धर्म संतति में प्रगट होते हैं उस तरह जीव के मानसिक गुणधर्म भी आनुवंशिक ही हैं। इसी विचार के आधार पर "सुप्रजा निर्माण शास्त्र" का प्रवर्तन विदेशों में प्रचलित है किन्तु यह ख्याल गलत है। वैद्यकीय दृष्टी से—
कर्मणानोदितोयेन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ता पूर्व देहे नै तानेव भजते गुणान् ॥

—निबंदु रत्नाकर शरीर

अर्थात् पूर्व जन्मार्जित कर्म से प्रेरित हुये जीव को पूर्व देह में जिस गुण का (शारीर या मानसिक) अभ्यास संस्कार होता है उसी गुण को वर्तमान देह में भी पाकर धारण करता है। तात्पर्य यह कि पूर्व जन्म के गुणकर्मनुसार जीव को इस जन्म में गुणधर्म प्राप्त होते हैं। यद्यत् वृत्त जमीन में से अपने पोषक अनुकूल गुण तत्वों का ही आकर्षण करते हैं उसी प्रकार अपने को अनुकूल रहने वाला ही शरीर आनुवंशिक देह प्राप्ति के नियमों के अनुरूप जीव धारण कर लेता है। पूर्व देह में जिन स्वभाव गुणों का अभ्यास जीव करता है उसके संस्कार स्वभाव बीज के रूप में उसके साथ देहान्तर में जाते हैं। मृत्यु के बारे में समझाते हुये श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को कहते हैं कि—

देहिनास्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तर प्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

—गीता अ० २

अर्थात् चार आश्रम हैं, गर्भाश्रम, बाल्याश्रम, यौवनाश्रम और चौथा है जराश्रम। जराश्रम और बाल्याश्रम की सन्धि में जो प्रकृति के अन्तरालय में बासना का (जीव के स्वभाव बीज का) देहान्तर प्राप्ति के लिये कुछ काल निवास होता है उसे ही गर्भाश्रम यह संज्ञा है न कि माता के गर्भवास को ही। कारण कि "अन्ताद्भवन्ति भूतानि" के प्राणी उत्पत्ति शास्त्र के नियमानुसार जीव का स्वभाव बीज (वासना) पुरुष जो अन्न खाते हैं उस

अन्न के परमाणुओं के साथ प्रथम पुरुषदेह में प्रवेश करता है। कहने का अर्थ है कि जीव के गर्भ की धारणा सत्यतः अन्न सेवन द्वारा प्रथम पुरुष में होती है अनंतर स्त्री पुरुष का संयोग होने पर स्त्री में शुक्र शोणित के मिश्रीकरण से स्त्री में उसका स्थलांतर (Transplant) होता है। वीर्य में जीव के संस्कार रहने से ही वीर्य जीववान है। जीव की नीचे की श्रेणियों में (Lower stages) यद्यपि बीज एक ही देह में निर्माण होता है तथापि ऊंची श्रेणियों में उस क्रिया के लिये स्त्री पुरुषों के संयोग की आवश्यकता रहती है। इस क्रिया में जीव के प्रधान गुणों को पोषक कुछ शरीर गुणधर्म पुरुषों से मिलते हैं तो जो उसमें नहीं होते वे स्त्री गर्भ में मिल जाते हैं। गर्भ की पूर्णवस्था के हेतु इस तरह जीव पुरुष देह में से स्त्री देह में स्थलान्तर पाता है। यह सब क्रियायें प्रकृति के गर्भ में होने से गर्भाश्रम संज्ञा यथार्थ है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अवस्था में जीव जिस प्रकार अन्न में से वही गुण ग्रहण करते हैं जिनसे कि उनका शरीर बना हुआ रहता है उसी प्रकार स्त्री पुरुष सत्यतः वासना बीज का सिर्फ शारीर क्रियाओं को रक्त पोषक वद्धक इत्यादि रूप से अनुकूल रहने वाला अन्न ही है इससे अधिक कीमत या महत्व आनुवंशिकता को नहीं है। जिस तरह किसी बीज और खेत या जमीन का संबंध रहता है उसी तरह यह भी जानना चाहिये। जीव को प्राप्त हुआ आनुवंश (भूमि देह) यदि अच्छा एवं अनुकूल न हो तो सिर्फ गर्भ का देह ही जमीन के अनुसार होता है। कई आनुवंशिक रोगों का प्रादुर्भाव इसी तरह होता है किन्तु जीव के स्वभाव गुणों पर उसका कोई असर नहीं होता। जीव के अपने निजी स्वभाव गुण बदल सकने का समर्थ्य माता पिता के किसी भां क्रिया व साधन में प्राप्त होना असंभाव्य है। 'स्वभावो

—शेषांश पृष्ठ ५१५ पर

बाल रोगों पर चिकित्सानुभव

श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण



उदर रोग डन्वारोग प्रतिबन्धक—यदि नाल छेदन के समय बालक की नाभि से असली कस्तूरी जरा सी लगा दी जाय तो बालक सदैव ही उदर रोग व डन्वारोग से बचा रहेगा। प्रसङ्गवश दूसरे रोगों का प्रतिबन्धक योग भी यहीं लिख देना चाहता हूँ।

मंथरज्वर, माता व सूखारोग प्रतिबन्धक—यदि बच्चे के जन्म लेने के ४० दिन के भीतर १ अनविधामोती उसे निगलवा दिया जाय तो बच्चा माता शीतला, सूखारोग, मोतीभक्ता आदि से सुरक्षित रहेगा, यदि आक्रमण होगा तो हल्का। इसे वैद्य समाज अनुभव करके देखें।

विस्फोटक, शीतला (चेचक) से सुरक्षा—जब बालक गर्भ में हो, तब उसकी माता को २१ दिन तक प्रतिदिन ४-४ माशा शुद्ध रसौत जल में घोल पिलाने से गर्भस्थ बालक को कभी शीतला (चेचक) नहीं निकलती तथा विस्फोटक या विसर्प जैसे फोड़ों से बच्चे की सुरक्षा रहती है। इस योग का उल्लेख पं० विश्वेश्वर दयालु जी वैद्यराज ने अपनी “स्त्री रोग चिकित्सा” में किया है।

नाभि शोथहर योग—यदि नाल छेदन के समय असावधानी से बालक की नाभि में शोथ हो जाय तो मिट्टी के ढेले को आग में तपाकर उस पर दूध छिड़कें। ऐसा करने से जो वाष्प निकले वह वाष्प बालक की नाभि में दिलावें। इससे सूजन मिट जाती है। अथवा—

नाभि शोथ हर लेप—कुलथी को पानी में पीस गरम कर नाभि की सूजन पर लेप करें। ऊपर से गरम कर एरण्ड पत्र बांध दें।

नाभि पाकहर—यदि पक जाय तो जस्ता का फूल नाभि पर चिपकायें या घी में मिला कर लगा दें। अथवा—

नाभि पाक—बकरी की लेंदी दूध में घोल गरम कर लेप करें, अथवा माजूफल पानी में घिसकर लेप करें अथवा बड़, पीपल या गूलर किसी एक वृक्ष की छाल पीसकर घी में मिलाकर लगावें।

आयुवर्द्धक योग—जिनके बच्चे बहुत छोटी उम्र में ही मर जाते हों उनके लिये यह योग अमृत ही है। इस प्रयोग से आप अपने बच्चे दीर्घ जीवी बना सकते हैं। प्रयोग—असली उत्तम मधु लेकर थोड़ा थोड़ा करके बच्चे के प्रत्येक अङ्ग को पैदा होने के दिन ही अर्थात् नाल छेदन के बाद शीघ्र ही बगैर स्नान के मालिश कीजिये। फिर घंटे आध घण्टे बाद रुई से पोंछ डालें। कुछ समय बाद गुन-गुने जल से अङ्ग अंगोछ दें। बस यदि ईश्वर की मर्जी हुई तो फिर बच्चे अल्पकाल (अकाल) मृत्यु से सुरक्षित रहेंगे। यह योग वैद्य घनश्याम दास वर्मा ने ग्राम बड़ागांव जिला भांसी ने पिछले बाल-रोगांक में प्रकाशित किया है।

बिजली ताबीज—तांबे और जस्ते के तारों को सुनार से परस्पर एकत्रित करवाकर रेशम के या मखमली वस्त्र से लपेट कर सावधानी से ताबीज बना लें अर्थात् आगे से सीलें। इसे बच्चों के गले में पहनाने से बच्चों का नजराया जाना, डरना, चौंकना, दांत निकलते समय के रोग, गृहबाधा आदि सब दूर होते हैं। बहुतों ने इसे बना कर पेटेंट करके काफी पैसा कमाया है।

दूध न पीने पर—शिलाजीत शुद्ध २ रक्ती, जावित्री ४ रक्ती दोनों एकत्र पीस शहद में घोट जीभ पर लगा दें। यदि मृत्युवश ही दूध छोड़ दिया हो तो ईश्वर की मर्जी अन्यथा बच्चा तत्काल दूध पीने लगता है। बहुत बार का परीक्षित योग है।

बदहजमी, पेट दर्द, दूध डालना—यह शिका-यत आमतौर से बच्चों को देखी जाती है। प्रयोग—



हरा की छाल १ तोला, भुना सुहागा १ तोला, सेंधा नमक १ तोला, हींग उत्तम घी की भुनी ६ माशा सब यथाविधि पीस कर सहजने के रस में घोट चना प्रमाण गोली बनावें। समय पर उष्ण जल से प्रयोग करें। उत्तम लाभप्रद है।

मुंह फूलने के लिये—अक्सर बच्चों को मुहां की बीमारी हो जाती है जिससे जीभ में छोटी छोटी फुंसियां सफेद रंग की होती हैं। जीभ ओष्ठ वगैरह लाल हो जाते हैं लार गिरती है इसके लिए हमारा सहस्रशः अनुभूत पेटेन्ट योग-पीपल वृक्ष की छाल का कपड़छन चूर्ण बनाकर रखें। इसे जीभ पर बुरकावें शीघ्र लाभ होता है। २ दिन में ही छाले व फुंसियां मिट जाती हैं। कृपया इससे कोई भी वैद्य द्रव्योपार्जन न करें।

बच्चों का रोना—कभी कभी बच्चे अकस्मात् जोर से रोते हैं दूध भी नहीं पीते। इसका कारण एक यह भी है कि अत्यन्त छोटे बच्चों को उठाने व खिलाने की असावधानी से उनकी हंसली टल जाती है। इसकी भी कुछ स्त्रियां विशेषज्ञ होती हैं उनसे इसे ठीक करवा लेना चाहिए तुरंत ही बच्चे चुप हो जाते हैं।

बाल चतुर्भद्रादि चूर्ण—उत्तम श्वेत अतीस, पीपल, काकड़ाशृङ्गी, नागरमोथा चारों का समभाग कपड़छन चूर्ण बच्चों को सदैव देते रहें। इससे उनके स्वास्थ्य में विघ्न डालने वाले तमाम रोग दूर होते हैं जैसे खांसी, ज्वर सरदी, अतिसार आदि पर यह प्रयोग लाभप्रद है ही। मात्रा अवस्थानुसार अनुपान मां का दूध और शहद।

बाल न्यूमोनियां—बच्चों को अक्सर तेज बुखार के साथ पसली चलने की (डब्बा) की शिकायत हो जाती है। इसके लिए निम्न प्रयोग उत्तम है—

(क) उत्तम शृङ्ग भस्म १ रत्ती, मकरध्वज आधी रत्ती दोनों को घोट कर तुलसी रस व शहद से आवश्यकतानुसार ३-३ घण्टे पर दें। पसलियों पर कोई लेप भी लगायें। इससे पेनिसिलीन के प्रयोग

की जरूरत नहीं पड़ती।

(स) घोड़े के अगले पैरों के भीतरी भाग में जो सफेदमैली सी चिट्टें रहती हैं याने उनपर चमड़ा नहीं रहता ऐसा रुपया से कम कुछ लम्बा स्थान होता है उसे तेज चाकू से ऊपरी भाग निकाल लें। ६ माह के बच्चे को राई बराबर मांके दूध में घोट का दें। अधिक उम्र में मात्रा उड़द बराबर भी दें। यह कतूरी से भी अधिक गरम है डब्बा रोग आधा घंटे में दूर हो जाता है। यह गुप्त योग भी प्रगट कर दिया है कृपया इससे द्रव्योपार्जन न करें धर्मार्थ ही बांटें।

(ग) उक्त औषधियों से लाभ की आशा न हो तो पेनिसिलीन इन्जेक्सन २ लाख यूनिट का लगावे पर २४ घण्टे के बाद दूसरा भी जरूर दिये इससे संतोषजनक लाभ निश्चित हो जाता है।

बाल आनन्द भैरव—शुद्ध हिंजूल, काली मिर्च, पीपल, शुद्ध विष, फूला सुहागा प्रत्येक ६-६ माशा, उत्तम शृङ्ग भस्म ५ तोला सबको यथाविधि खरल करके पान के स्वरस में ३ दिन घोट कर १-१ रत्ती की गोली बनालें। इसे बच्चों के ज्वर, कफ विकार, सर्दी जुखाम, दूध डालना आदि अनेक विकारों में बुद्धि पूर्वक प्रयोग करें।

बाल संजीवनी वटी—सौंठ, मिरच, पीपल, हर, बहेड़ा, चित्रक, बायबिडङ्ग, बच, गिलोय, शुद्ध भिलावा, शुद्ध विष। यह समस्त वस्तुयें ६-६ माशा उत्तम और नवीन लें। सबको यथाविधि कपड़छन चूर्ण बना शुद्ध गौमूत्र में १ दिन घोटें। फिर उत्तम मण्डूर भस्म ३ तोला और शुद्ध पारद गन्धक की कजली १ तोला (समभाग वाली) मिला कर घोटें गौमूत्र में ३ दिन घुट जाने पर ३ दिन शृङ्गराज के स्वरस में घोटें फिर १-१ रत्ती की गोली बनालें, छाया में सुखा शीशी में रखें। मात्रा—अवस्थानुसार १/२ गोली से १ गोली तक बच्चों के ज्वर, खांसी, सरदी, अजीर्ण, अपचन, वायुविकार और पेट के तमाम रोग यकृत वृद्धि, सीहा, उदर शोथ आदि में प्रयोग करें। यह अल्प मात्रा में बच्चों को निरन्तर सेवनीय है।



नोट—यदि इसका नियमित प्रयोग कराया जाय तो बच्चों को यकृत सम्बन्धी कोई विकार उत्पन्न न हो ऐसा हमारा विश्वास जमता है। आगे पूर्ण निर्याय परीक्षण ही बनावेगा। यह मेरी निजी कल्पना है, और बहुत ही लाभ-प्रद सिद्ध हुई है।

बालरोगारि—उत्तम गोदंती हरताल भस्म १० तोला, शुद्ध आंवला सार गंधक २ तोला (दुग्ध द्वारा शुद्ध किया हुआ गंधक ही लीजिये) दोनों को अत्यन्त सूक्ष्म घोट लें। मात्रा—१ रत्ती से २ रत्ती तक अनुपान—मां का दूध अथवा शहद दिन में ३ बार दें। गुण—ज्वर, अतिसार, मन्दाग्नि, अरुचि, उल्टी, वायुरोग, कृशता आदि सर्व रोग (बच्चों के) नष्ट करता है। यह योग वैद्य गोपाल जी कुंवर जी ठक्कुर का है और उन्हीं के द्वारा पञ्चनतरि “परीक्षित प्रयोगांक” में प्रकाशित हुआ था। उपयोगी समझ कर यहां दिया है।

कासहर—मीठी बच, अतीस, अड़ूसे की छाल, पीपल, काकड़ासिंगी समभाग का चूर्ण १ से ३ रत्ती शहद से दें। बच्चों की सभी प्रकार की सांसी इसके प्रयोग से दूर हो जाती है।

लवंग चतुःसमचूर्ण—लवंग, जायफल, जीरा भुना हुआ, सुहागा भुना, चारों समभाग घोट लें। मात्रा—१ से ३ रत्ती तक मां के दूध या शहद के साथ। बच्चों के अपचन जनित रोग, दूध डालना, दस्त, आम्रातिसार, आम्र ग्रहणी की प्रथम अवस्था में पेट दर्द दूर करने के लिये अद्वितीय है।

नोट—विशेष शक्तिशाली बनाना हो तो समस्त चूर्ण के चौथाई शंख भस्म और आठवां भाग मकरध्वज मिलाकर घोट लें अति उत्तम रसायन बनेगा।

अतिसारहर अन्य योग—महागन्धक रस पाचन यंत्र की विकृति को दूर कर दस्त बन्द कर देता है। यह बहुत ही उत्तम लाभप्रद योग है। लेख अधिक बढ़ने के भय से प्रयोग लिखा नहीं इसी तरह रक्तातिसार व पक्कातिसार में तुरन्त दस्त रोकने के लिये कर्पूर रस अचूक औषधि है। रोग की अवस्थानुसार समय समय यह दोनों योग अतिसार में सद्यफलप्रद हैं।

बाल संजीवन रस—महागन्धक रस और इस योग में प्रायः समानता है जरा सा ही फर्क है। इसे यहीं अङ्कित कर देना ज्यादा उपयुक्त होगा—

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक १-१ तोला दोनों घोट कर पर्पटी विधि से ढालकर पर्पटी बनालें। जायफल, जावित्री, लौंग, निम्बपत्र, सम्भालूपत्र, इलायची प्रत्येक १-१ तोला महीन पीस पर्पटी में घोट लें। पुनः सबको भृङ्गराज के रस में ३ दिन घोट लें। फिर २ मोती की सीपों में बन्द करके केले के पत्तों में लपेटकर एक हल्की कपड़ मिट्टी करके मृदुपाक में पका लें। शीतल होने पर निकाल घोटकर शीशी में रखलें। मात्रा—३ रत्ती से २ रत्ती तक अवस्थानुसार दें।

अनुपान—मधु। बालकों के समस्त अतिसार, ज्वर, मन्दाग्नि, ग्रहणी, प्रवाहिका, रक्तातिसार, दांत निकलते समय के रोग दूर होते हैं। यह बालकों की रक्षा के लिये उत्तम औषधि है, बल वर्ण को बढ़ाती है। बालकों के ग्रह बाधाजन्य रोग, पिशाच दानव दैत्य इससे दूर भागते हैं। जब कब्ज न हो और अफरा न हो तभी इसका प्रयोग करना चाहिए। यकृत की खराबी में भृङ्गराज के रस व मधु से यह योग उत्तम कार्यकारी है। बालकों के सिवाय यह स्त्री रोगों पर भी उत्तम लाभ करता है।

सर्वौषधि स्नान—बालकों के अनेक रोगों में यह बहुत उपयुक्त होता है—जटामांसी, बच, कूठ, शिलाजीत, हल्दी, दारुहल्दी, कचूर, चम्पा के फूल या छाल, नागरमोथा, सिरस की छाल सबको कुचलकर जल में पकाकर इस जल से स्नान कराइये। बालकों के सूखारोग, निर्बलता, सर्वरोग, ग्रह राक्षस बाधा आदि इससे दूर होते हैं। बालक तन्दुरुस्त हो जाता है।

अष्टादशांग धूप—बाल रोगों के लिये प्राचीन ग्रन्थों में अंजन, धूनी आदि का बहुत प्रयोग मिलता है। प्राचीन वैद्य परम्परा में इसका बहुत ही प्रयोग होता था। हमारे नाना पं० दयाचन्द्र आर्युर्वेदाचार्य

इनका सफलतापूर्वक प्रयोग कराया करते थे उन्होंने इसे कविता रूप में इस प्रकार लिखा है । निःसंदेह यह योग उपयुक्त है—

बालक तरुण क्या वृद्ध सवन को
धूनी अंजन देय कराय ।
खोज अनेकों ग्रन्थ यतन सब
लिखा यहां पर छंद बनाय ॥
कनक बीज बच सुगन्धवाला,
जटामानसी लाख मंगावे ।
बीज कपास मोर की मारक,
गूगल सरसों लहसुन लावे ॥
मूल कटेली बीट माखी की,
हाथी दांत हींग मंजीठ ।
सांप कांचली लाल मिर्च अरु
ईसबंद लीजे समपीस ॥
पीस दवा सब घी मिला-
कर देय आग पर धूनी डार ।
सन्नपात तेरा आठों ज्वर
चित्तभ्रम उन्माद बिडार ॥
भूत प्रेत राक्षस वैताला,
शाकन डाकन बाधा देख ।
अष्टादशांग धूप तब दीजे,
'राम विनोद' ग्रन्थ का लेख ॥

अपराजित धूप—

बच गूगल रौंसा चारा ले
रार नीम के पत्ता ।
अगर आक देवदारु काष्ठ
का चूर्ण कर एकत्रा ॥
सब प्रकार ज्वर नष्ट होत
जो याकी धूनी देवे ।
अपराजित धूनी यह देकर
रोग जीत यश लेवे ॥

ज्वरारि धूप—

नीम छाल बच इन्द्रियब
कूठ लाख मंगावाय ॥

श्वेत सरसवां आंवला
समकर लेय पिसाय ।
घृत मिलाय ज्वर कारने
याकी धूनी देय ॥
बाल वृद्ध सब ज्वरन
को यह उपाग कर देय ॥

बाल सखा तैल—

घमरा, मकोय, ग्वारपाठा, छोटी दुद्धी (नागा-
जुनी), बंगलापान, तालपुखारों, (ताल मखाना
पंचाग) इन सबके २०-२० तोला रस निकाल कर
४० तोला तैल में मन्द अग्नि से पकावें । तैल मात्र
रहने पर छान लें । उष्ण अवस्था में ही दालचीनी
का तैल १ तोला, कपूर १ तोला मिलाकर शीशी
में रखें । बालकों के सर्वाङ्ग में मालिश करें, कानों
में डालें । सूखा रोग, ज्वर, अतिसार, शिरःशूल,
दुर्बलता, अस्थिशोथ आदि समस्त बालरोग दूर
होते हैं, रक्त संचार बढ़ता है । यह बच्चों के लिये
अतिशय लाभप्रद तैल है ।

बालसखा अबलेह—

पुष्करमूल काकडासिंगी पीपल
और अतीस मंगावें ।
लेप जवासा कूट कपड़छन,
शहद संग चूर्ण चटवावें ॥
ज्वर सरदी खांसी की बाधा,
दस्त बन्द कर देवे ।
बाल सखा अबलेह नाम,
यह सकल रोग पर देवे ॥

बाल रोगान्तक चूर्ण—अतीस, लाल फिट-
किरी मुनी, गेरू, काली मिर्च, नौसादर, कलमी
शोरा सब समान भाग चूर्ण करें । मात्रा १ से ४
रत्ती तक उम्र के अनुसार योग्य अनुपान से दें ।
गुण—बच्चों का ज्वर, मलेरिया, अतिसार, बमन,
मूत्रावरोध, यकृत सम्बन्धीरोग, दांत निकलते
समय के रोग, हिचकी, खांसी, श्वास, अफरा
आदि सब दूर होते हैं । इसके अलावा दांत दर्द में



कस्तूरी १ माशा सबको यथा विधि घोट लें। तुलसी रस में ३ दिन निरन्तर घोट कर मूंग प्रमाण गोली बनायें। मात्रा—१ से २ गोली तुलसी रस या पान का रस और शहद दिन रात में ३ बार अवश्य दें। यह मोतीभरा में सब अवस्थाओं में लाभप्रद है। ज्वर, खांसी, श्वास, अतिसार, वमन, दाह, ज्वर का तीव्र वेग, नाड़ी की क्षीणता, प्रलाप आदि सबको दूर कर दाने शीघ्र बाहर कर देती है। बल वर्ण की रक्षा करती है परम अनुभूत है।

यकृत प्लीहान्तक वटी—बालकों की यकृत वृद्धि में यह योग अत्यन्त उपयुक्त है। शु० फिटकरी, अर्थात् फूली फिटकरी, फूला सुहागा, सतगिलोय, लौहभस्म, शंखभस्म प्रत्येक १-१ तोला, शु० एलुवा और शु० गन्धक २-२ तोला घृतकुमारी के रस में ३ दिन घोट कर २-२ रत्ती की गोली बनालें। अवस्थानुसार आधी से १ गोली दिन में २ या ३ बार गरम जल से दें। गुण—यह वटी सीहा वृद्धि में अति प्रभावशाली है। एवं यकृत वृद्धि, उदर शूल, कामला, सीहा वृद्धि से होने वाला ज्वर, मलावरोध आदि को दूर करती है। बालक वृद्ध सबको लाभदायक है। इससे हमारा अनुभव है कि यकृत में निश्चित लाभ होता है। ऐसा ही पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा देहरादून ने अनुभूत योगमाला के “यकृतक” में भी प्रकाशित किया था। हम इस वटी के साथ निम्नलिखित कुमारी आसव देकर कई बालकों पर पर उत्तम लाभ देख चुके हैं—

कुमारी आसव स्पेशल—घृत कुमारी का रस ४ सेर, पुराना गुड आध सेर, मण्डूर भस्म, भुना सुहागा, यवचार, काला नमक, सांभर नमक, सेंधा नमक, समुद्र नमक, बिडनमक, सज्जीचार, नौसादर प्रत्येक ४-४ तोला सब एकत्र कर चीनी मिट्टी के पात्र में रख मुंह बन्द कर धान्यराशि में १५ दिन रखें पश्चात् छान लें। मात्रा—बच्चों को ३ माशा समभाग जल मिला दिनरात में २ बार दें। गुल्म, यकृत वृद्धि, सीहा वृद्धि, उदर शूल, कब्ज आदि में

अत्युत्तम है। यह आसव और उक्त वटी दोनों चालू रखे जाय तो हमारा अनुभव है कि बच्चों के यकृत विकार में निश्चित लाभ होता है।

यकृत वृद्धिहर सरल योग—भृङ्गराज का रस और शहद प्रातः सायं दें। यह सरल योग निश्चित लाभप्रद है यह प्रयोग अनेक रोगियों पर प्रयोग कर लाभप्रद पाया है। इसी तरह अमर बेल का रस भी शहद मिलाकर यकृत वृद्धि अर्थात् लीवर के बढ़ने पर उत्तम लाभ करता है।

माता के दुग्ध की शुद्धिकारक योग—आयुर्वेद के सिद्धांत के अनुसार बालकों के समस्त रोगों में मुख्य कारण स्तन्यदोष ही है अतः इस पर ध्यान देना ज्यादा जरूरी है अतः दोषानुसार लक्षण व चिकित्सा लिखकर लेख समाप्त करता हूँ—

(क) वातविकार—माता का ताजा दूध कांच के ग्लास में रख कर देखें—रङ्ग कुछ सांवला या लाली की मलक लिये, भागों की अधिकता, स्वाद में कसैलापन, पानी में जल्दी न घुलने वाला बल्कि ऊपर रहने वाला हो तो वायु दोष से दूषित दूध समझना चाहिये। ऐसा दूध पीने से बालक का पेट नहीं भरता। मुंह और गले का सूखना, गला बैठ जाना, स्वर का मन्द होना, नींद न आना, पेशाब रुकना, दस्त खुश्क होना, शरीर सूखना आदि वायु रोग उत्पन्न होते हैं। इसमें माता को दशमूल काथ २१ दिन पिलाना सर्वोत्तम है, कब्ज न रहने पाये।

(ख) पित्तविकार—दूध का रङ्ग पीला नीला या तांबे के रङ्ग के समान हो, पानी पर डालने से पीले रंग की लकीर सी दिखाई दे, स्वाद में कुछ खटास, कड़वाहट, या चरपरापन हो सूंघने में मुँह जैसी अथवा खून जैसी गन्ध आती हो कुछ गरम प्रतीत हो तो उसे पित्त दोष से दूषित समझना चाहिए। ऐसा दूध पीने से पतले पीले दस्त आते हैं, दस्तों में खून आता है, प्यास ज्यादा लगती है, बच्चा बेचैन रहता है, पाण्डु पीलिया आदि गर्मी के रोग उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा—गिलोय, सतावर, पटोल पत्र, नीम की छाल, और गौरीसर का क्वाथ



शिवजी

५१५

माता को २१ दिन पिलाने से दूध पित्त दोष से मुक्त हो जाता है।

(ग) कफ विकार—दूध बहुत सफेद, बहुत मीठा, ज्यादा गाढ़ा हो अथवा चिपचिपा हो, उसमें तार भी छूटते हों पानी में डालने से नीचे बैठ जाय उसमें घी तैल चर्बी जैसी गंध हो तो कफ का विकार समझना चाहिये। ऐसा दूध पीने से बच्चों को खांसी जुकाम, आम (पेचिस), बदहजमी, दूध डालना, लार बहना, अधिक नींद आना, आदि कफ के रोग उत्पन्न होते हैं। यह कोई जरूरी नहीं है कि ऊपर के तमाम दोषों के लक्षण सबमें पूरे ही पाये जाय बल्कि दोषों की जितनी न्यूनाधिकता होगी उतने ही कम या ज्यादा लक्षण पाये जायेंगे।

(घ) द्विदोषज—अगर मिले जुले दो दोषों के लक्षण पाये जाय तो द्विदोषज दुग्ध दोष समझना चाहिए। इसके लिए उपाय भी बुद्धिपूर्वक करें।

कफ दोष का इलाज—हर्र, बहेड़ा, आंवला, मोथा, चिरायता, कुटकी इनका काथ माता को पिलावें तो कफ दोष से दूध मुक्त हो जाता है।

दुग्ध शुद्धिकारक योग—पादल, कुटकी, सौंठ, देवदारु चन्दन, मूर्वा, मोथा, गिलोय, इन्द्रजव, चिरायता, गौरीसर इनमें जितनी चीजें मिलें उनका ही काथ बनाकर सुबह शाम पिलाना चाहिये। पथ्य में मूंग की दाल, चावल, खिचड़ी, गेहूँ, यव, दूध, दलिया आदि हल्का भोजन देना चाहिए।

बच्चों के सूखा रोग नाशक—शिवजटा अथवा सहस्र मूर की जड़ का रस १०-१५ बूंद रोज प्रातः सायं मां के दूध और शहद से देना चाहिये। दवा ७ या १५ दिन में सूखारोग को नष्ट कर देती है।

लोकनाथ रस—शास्त्रीय प्रयोग है—शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, अभ्रक १ तोला, ताम्र भस्म २ तोला, लौह भस्म २ तोला, कौड़ी भस्म ६ तोला, धीकुमार के रस में खरल करें। फिर मकोय के रस में खरल करें। गोला बनाकर शराब सम्पुट में रख मध्यम अग्नि दें। शीतल होने पर पीस शीशी

में रखें। मात्रा—आधी रत्ती मधु से दें। यकृत वृद्धि, सीहा वृद्धि, काला आजार व सूखा रोग दूर होते हैं।

नोट—उपरोक्त सभी प्रयोग अनुभव के आधार पर सफलतापूर्वक प्रयोग करके लाभप्रद सिद्ध हो चुके हैं।

—श्री सुन्दरलाल जैन वैद्यभूषण
महाकौशल आयुर्वेद फार्मसी
मु० पो० कुडई (दमोह)

:: पृष्ठ ५०८ का शेषांश ::

निष्प्रति क्रिया' का सिद्धान्त अटल है इसी दृष्टि से यदि "उग्रसेन के कंस" पैदा हो जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। नाड़ी स्वस्थावस्था में एक गुण को प्रधानतया धारण करके ही रहती है वह उसकी प्रकृति कहलाती है और उस प्रकृति स्वभाव (वर्ण) के अनुसार ही उसके गुण धर्म प्रगट होते हैं। वे किसी क्रिया से इसी जन्म के बदले नहीं जा सकते यह निश्चित है। शिगु रोगाङ्क में इस विषय को लेकर लेख प्रस्तुत करने का हमारा अभिप्राय यह है कि आनुवंशिकता संबंध में जो अतिशयोक्ति प्रचलित हैं उनकी व्यर्थता मालूम हो और मातापिता के स्वभाव से प्रतिकूल स्वभाव के होने में आश्चर्यपूर्ण खिन्नता महसूस न हो। इति।

देह की अवस्थाओं को लेख में "आश्रम" संज्ञा देने का मेरा अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य, प्रहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम ईश्वर सृष्टि न होकर कल्पना निमित्त हैं और अनित्य हैं। किन्तु उपर्युक्त आश्रम ईश्वर कृत नित्य हैं यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

लेख की सामग्री विज्ञान नोरा ग्वालियर से प्रकाशित गीतोपनिषद् से ली गयी है।

—वैद्य श्री गोपालप्रसाद "विज्ञानभिक्षु"
आयुर्वेदाचार्य कूदन (सांकर)

एक अभूतपूर्व रोगी बालक

होई। तब ही मैं इस किताब लिख-लिख कर कुमारी इन्दुपुष्प के एक छोटी भतीजी की १२ किताब
लिखी। मैं लिख-लिख कर प्रकाशित कराई।

आज अभी थोड़े दिनों पहले की लाजा बात है एक बालक जिसकी उम्र लगभग तीन वर्ष की थी अज्ञान की ही दीवारों से सुरक्षित होने लगा। बच्चे का लड़कना देखा नहीं जाता था किसी तरह के दर्द से परेशान था। खाना पीना बिल्कुल बंद। आंखें सूजकर कुप्पा हो गई थीं साथ ही पेट भी फूल कर ढोल और बहुत सख्त हो गया था। रोने व चिल्लाने के कारण जरा भी आनन्द नहीं होता था। रोग परीक्षा करना ही दुश्वार हो रहा था। विभिन्न परामर्शियों ने तरह तरह के परामर्श दिये। तरह तरह की चिकित्सा भी चालू हुई पर परिणाम शून्य ही रहा। घर वाले तंग हो गये। चिकित्सकों की राय शीघ्र से शीघ्र बाहर ले जा कर चिकित्सा कराने की हुई। बालक चिकित्सकों के लिए हमारे शोध संस्थान में भेज लाया गया। सेमी परीक्षा करने पर हमारी सम्मति में, इसे तेज सिर, शूल या इसी कारण से बच्चे में दर्द शीघ्र हो गया था। आखिरी किसी तरह खुलती नहीं थी बालक की नाक से लगातार दानियाँ बह रही थीं। अर्ध की परिणाम दैनिक करीब आधा सेर था। पेट की बारीकी से परीक्षा की गई तो सिधा मल की जमाव के और कुछ अलुमिनि न लगा सका।

सबसे पहले बच्चे को अर्ध दुग्ध मिश्रित नस्य दी गई पर कोई खास प्रतिक्रिया नहीं मिली। अंदर से बच्चा थोड़ा खुला हुआ महसूस होने लगा। नीचे की दवाओं का काम में, सूं की दवाई दी। केवल आनन्द की प्रतीति बही नहीं मिली। आयी जो कि हमें अभी पता थी। इस उपचार के साथ ही बच्चे के पेट के मोनों अंगुष्ठों नखों पर अर्ध दुग्ध के फाहे बंधवाये। सिर्फ रात को कानों में नौम के पत्तों का गुस रस टपकाया। साथ ही शूलरिण एक खुराक कूलह में इंजेक्शन भी किया। पल भर खोती बच्चे को पेट भर भी शान्ति न मिली। दूसरे दिन मध्य में थोड़ा धरमंगनेट बारीक पीस

कर मिलावाया और उपचार ठीक उसी भाँति चालू रखा। छोटे आई व खाव लगभग सेर भर हुआ आंखों पर खूब सेंक करवाया। फलतः सूजन कुछ ढीली पड़ी। तीसरे रोज एकएक खाव बंद हो गया इसलिये शुद्ध गोघृत गले गले सुं धवाया ताकि मस्तक की उत्तेजना शांत हो जाय। दर्द बहुत कम हो गया शोथ भी उतर गया। आखिरी अंदर से गहरी रक्त वर्ण हो रही थी। उसमें दारु-हल्दी, कलमी शोरा, फिटकड़ी, मिर्ची का लोशन डलवाया (एक दिन में २० द्रव) वही नस्य सुं धवाया वही अर्ध दुग्ध फाहे बंधवाये व कानों में गुस निम्ब एस पूरा गया। इसके साथ ही पेट की तनीब अपने आप कम बढ़ता पड़ता शांति हो गया जो हमारे विचार में अधिक खेने से हो गया था।

इसके बाद श्वेत खशखश के दानों को पतला हलुआ छोटी इलायची डालकर खिलीया गया एवं खिलीया जा रहा है। बच्चा हवये में सीढ़ी पढ़ाई आने लगी है। दोपैसे भर-सोपसी १२ दिन विमलेशान्ति होना चेमा। भगवान ने दया की और बच्चा धीरे धीरे उपचारी लें ठीक हो गया। चक्की मशीन के पीछों के खोला चक्की तार्य यह इतिवृत्त अपने खेला जा रहा है।

बाल-वमन—

बच्चों की बीमारियों में वमन एक खास बीमारी है। इसके कारण बच्चे के पेट में कुछ ठहरता नहीं फलतः बालक की वृद्धि रुक जाती है। वह दिन दिन कमजोर होता जाता है। अंत में बिल्कुल सूख जाता है और अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। क्योंकि दुग्ध या अन्न जो कुछ वह खाता है वह वमन कर देता है। अब वृद्धि कैसे हो। इसे ही आयुर्वेद में क्षीरालसक कहते हैं। इससे बच्चे को फिर दूसरी व्यर्थिया भी खड़ी हो जाती है।

श्री डा० ताराचन्द्र लोढा

इति हि प्रिष्ठ उप ताहि मरु खड्ग आसकीह में
राचन्द्र लोदा ताहि हि लाय आसकीह फरी की रिक

प्रातः प्राणाग्नौ तद्भुज्यते इति सूत्रम् । तद्भुज्यते
जायते । इस प्रकार चण्डीकृदिनता से वैद्य संघवाया
गंगाजी अगली गर्भस्थिति की सूचना तो दूसरे
माह में ही मिल गई (गर्भस्थिति के) । पर हमने
१२ माह सोल्ल खिलार ही में प्रचार दिये कि कौन
सुकनिष्ठित उपाय किया जावे कि काल को इस
पशविकलीला को नरोका जावे । गर्भ के पांचवे
माहसे हमने ब्रह्मी वाताने । सदापक्ष युक्त स्त्रीए
फरु किया दुग्ध (मूँ का) दोनों वक्त की को
पिलाने लगे जो बड़ापर प्रसव तक जारी रहा । बीच
में कभी दुग्ध के साथ फलघृत भी खिलाया तथा
आठवें माह से नौवें माह तक दोनों वक्त उत्तम
सितामपलादि चूर्ण सहित से पेटाये रहे ।
॥ टीकासमयाप्ररी स्वस्थप्रसवः (पूर्वानुसार ही)
हुथी निषेधोंद्विषं दिनं विवृतो गये तद्वारा और
दम्पास्तिका तथा रोजोत्थो हस्तमुक्ता पूर्वक नतीजे
की प्रतीक्षा अपेक्षार्था किस प्रकार महीले लिङ्गिसा
स्त्वनाश्चे एतेन शब्दको हृदय प्रदीप्ते स्खगाता आठ
माह तक बच्चा तन्दुरुस्त रहा प्रसाधारक में सही अति-
सरिर, जिबेर, कर्क, नेत्रादिप्रत्यक्ष व्युत्पन्न गुणशी हमने भी
उपचार पर मजबूती से कमर कसी । सबसे अधिक
मारक व्याधि असितसार (कभी स्वेत, कभी हरे,
कभी लाल) थी । प्रत्यक्ष हमने प्रथम दो माह में
इसके लिये निम्न दवा बनवा कर सेवन कराई—
खराखश, सफेद कत्या, हल्दी, जीरा, जामुन,
छड़े की छाल, कुंजा, कीड़, सींग, मोचरस, सुखा
मोड़ीना, छुई, लैंग, वेलगुडि, सोक, शकुन्ती,
कोर्ची, पीपल, हल्दी, कै, जीरा, लहसुन, सोंठ, सब्जी,
छोटी इलायची, धाना, अम्रिक १६-१७ टोलों, हींग
उम्दा भुनी ४ माशे, शुद्ध अफीम ५ माशा।
इन्हें सबको बूझकर मढ़ना कारणी १८४ इस्तीमदिन में
कई बार रूकु से ८ दफे चुचीन्द्रणके प्राचीनानुसार
मुख से दवा लाये जाती किंतु अब दिवादेने, १२२३ दि



धन्यवन्तरि

में अतिसार कुछ कम होता, पर उ्यों ही दवा बन्द करते कि फिर अतिसार शुरू हो जाते। ऐसा कई बार हुआ। इसलिये हमने दवा लगातार जारी रखी। साथ में शास्त्रीय लाक्षादि तैल की रोज मालिश कराई जाती थी तथा दिन में ४ बार सितोपलादि चूर्ण भी असली चन्दन के शर्बत में चटाते रहे। कभी कभी अर्क कपूर की एक बूंद भी जल में देते थे। पहले दो माह में अर्थात् दश माह तक तो बालक को कोई लाभ नजर न आया पर बाद में धीरे धीरे लाभ हुआ। यही चिकित्सा लगातार ६ माह तक जारी रही। बालक का मृत्युकाल टल गया। जब बच्चा १४ माह का हो गया तब चिकित्सा बन्द कर दी गई। भगवान की कृपा से बच्चा ठीक हो गया पर थोड़ा दुर्बल ही रहा। सितोपलादि चूर्ण बालक की मां को भी चटाया जाता रहा व बच्चे को मातृ दुग्ध बराबर पिलाया गया। वह बच्चा अब तक हृष्ट पुष्ट है। अभी लेख के लिए सम्पादक जी के आग्रहपूर्णपत्र आ रहे थे तभी उस बच्चे का पिता एक दिन संयोगवश आ निकला तथा यह घटना फिर से स्मृति पट पर आ गई। सम्पादक जी के आग्रह की रक्षा करना आवश्यक था अतः शिशुरोगांक के पृष्ठ सजाने के लिये भेज दी गई।

इसी सितोपलादि चूर्ण से हमने एक ५० वर्ष के आदमी का एक बार का १७ पौंड बजन बढ़ाया था। हम इस चूर्ण को यों बनाते हैं—

मिश्री २० तोला, बंशलोचन १० तोला, छोटी पीपर ५ तोला, छोटी इलायची के बीज २॥ तोला, दालचीनी १। तोला, बुरादा श्वेत चन्दन २ तोला, गुर्च सत्व १ तोला, प्रबाल भस्म या पिष्टी, स्वर्ण बसंत, मुक्ता शुक्ति पिष्टी, अकीक भस्म, कहरवा पिष्टी प्रत्येक ६-६ माशे।

काष्ठादिक को कूट कपड़छन कर पिष्टियां व भस्म व बसंत भली प्रकार घोटकर मिला दें। बस तैयार है। इस बच्चे को हमने यह चूर्ण चन्दन व अनार के समभाग शर्बत में चटाया।

इतना सब कुछ सब कुछ होने पर भी लड़के की स्मरणशक्ति में कुछ निर्बलता रह गई जो अब तक है। एक दूसरा लड़का भी इसी प्रकार मृत्यु से जूझ रहा था। हमने उसे भी लगातार ४ माह तक यही उपरोक्त चूर्ण शर्बत ब्राह्मी के साथ व कभी शर्बत चन्दन के साथ चटाया। फलस्वरूप वह बिलकुल हृष्टपुष्ट हो गया।

—श्री डा० ताराचन्द लोढ़ा
किशनगढ़ (राजस्थान)

:: एक अभूत पूर्व रोगी बालक ::

:: शेषांश पृष्ठ ५१६ का ::

झर, कम्प, मलावरोध भ्रम, अफरा, मूर्च्छा, अजीर्ण आदि।

बे जबान शिशुओं के इस रोग के लिये हम शतप्रतिशत कार्यकारी एक प्रयोग देते हैं जिससे निश्चयपूर्वक यह व्याधि मिटती है अगर रोगोत्पादक कारण क्षीर दोष को भी दूर किया जाय। प्रयोग यह है—

भभके द्वारा खिंचा अजवायन का अर्क ४ बूंद, एलुआ उत्तम १ बूंद, नीम्बू सत्व १ बूंद, तेजाब गंधक २ बूंद सबको बोतल या कांचपात्र में गला

कर एक दिन धूप में रख कर बरखपूत कर लेवें। दबा में चौगुना पानी मिलाकर एक-एक छोटा चम्मच हर आध आध घण्टे पर बच्चे को पिलायें। यदि वमन तेज हो तो १०-१० मिनट में भी दे सकते हैं। निश्चय ही लाभ होगा। एक दिन दो दिन तीन दिन बराबर पिलाये ही जायें। हजारों बच्चों की कय बंद कर चुका है।

—कुमारी इन्दु एम० ए,
इन्दु शोध संस्थान, किशनगढ़ (राज०)

बालरोगनाशक कुछ अनुभूत प्रयोग

पी हकीम गुरुचरन लाल कुशवाहा



१. जिह्वामृत रसायन-

यह दवा तुरन्त असर दिखाने वाली है। मुखपाक कैसा भी हो या मुख में छाले हों, शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

तृतीया भुजा २ माशा, कलमी शोरा १ तोला, दाना इलायची छोटी १ तोला, कत्था सफेद १ तोला, गुलाब के फूल १ तोला, कपूर ६ माशा सबको बारीक पीस कर चूर्ण बना लेवें। इसको मुख में लगाने से कला (मुहां), मुखपाक, छाले आदि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

२. शिशुपाल-

एक्वा एनीसाई १ पौंड, एक्वा एनीथाई १ पौंड, स्प्रिट क्लोरोफार्म आध पौंड, ग्लेसरीन २ पौंड, शक्कर १० पौंड, एक्वा केरोआई आध पौंड, सोडा बैञ्जुयेट ४ औंस, पोटासियम कार्बोनेट आध पौंड, लायमवाटर (चूने का पानी) ५ पौंड।

लाइम वाटर (चूने के पानी) में शक्कर मिला कर शर्बत तैयार कर लो। फिर इस शर्बत में अंग्रेजी दवाओं को मिलाकर बोतल में रख लेवें। एक चाय वाला चम्मच दिन में दो बार बच्चे को पिलावें। गुण—बच्चे का दूध न हजम होना, उबकाई, हर प्रकार के दस्त, पेट में कीड़े पड़ना, काली खांसी, डब्बा रोग, सूखा रोग, दौड़ा पेट फूलना, आँखें आना, दुर्बलता आदि रोग दूर कर बच्चों को तन्दुरुस्त रखता है। अच्छे बच्चे को दूसरे दिन से कोई रोग होने का भय नहीं रहता है।

३. अकसीर मृगी-

ऊदसलीव यह एक पहाड़ी जड़ी है। इसको यूनानी हिकमत में अधिकतर प्रयोग करते हैं। और यह पंसारियों के यहां मिल जाते हैं। इसका एक छोटा टुकड़ा एक नये तागे या महीन

सफेद कपड़े में बच्चे के गले में इतवार या मंगल के दिन बांध दें। और उसी जड़ी को मां के दूध में घिसकर सुबह और सायंकाल को बच्चे को पिला दें। इससे बच्चे की मृगी और हर प्रकार का दौरा शांत हो जाता है।

४. सूखानाशक योग -

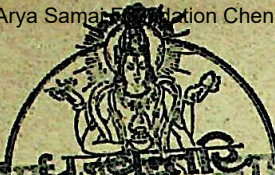
मुक्ता शुक्ती भस्म १ तोला, जहर मोहरा खताई १ तोला, बेर पत्थर १ तोला, दरियाई नारियल १ तोला, बंसलोचन असली १ तोला, दाना इलायची छोटी १ तोला, सब दवाओं को बारीक कूट पीसकर दिन भर सौंफ के अर्क में खरल कर चने के प्रमाण गोलियां बना लेवें। एक गोली प्रातः एवं सायंकाल मां के दूध अथवा गंधी के दूध में पिलावें। बच्चों का सूखा, हरे दस्त, पसली चलना, बराबर ज्वर बना रहना, मुहां हो जाना आदि रोग दूर होकर के बच्चा स्वस्थ एवं तन्दुरुस्त हो जाता है। और इसके साथ ही चन्दनादि बला तेल मालिश करें। और इतवार या मंगल के दिन मृतपेवी (मछेछी) पत्ती उबालकर कपड़ा भिगोकर बच्चे का बदन पोंछ दें।

५. अकसीर सूखा -

केशर असली १ तोला लेकर काली गाय के मूत्र आध पाव को एक शीशी में मजबूत ढाट लगाकर २१ दिन तेज धूप में रख दें। मात्रा—२ से ५ बूंद तक बच्चों को मां के दूध में देने से सूखा रोग अवश्य अच्छा हो जाता है। यह अनुभूत योग है।

६. सूखानाशक तेल -

कंधी बूटी जिसे अतिबला भी कहते हैं की पत्ती का स्वरस आध सेर, काले तिल का तेल आध सेर, आग पर मन्दाग्नि से पका कर तेल मात्र रहने पर छान लेवें। इसकी बच्चे के सारे शरीर में मालिश करवावें।



७. सुगन्धित लाल पाल तेल -

जंगली प्याज जिसे लोग ताल कांदा कहते हैं। इसका स्वरस आधा सेर, हल्दी, देशी ६ माशा, नागरमोथा ६ माशा, देवदारु ६ माशा, रेणुकु ६ माशा, सोमबा ६ माशा, खडीला ६ माशा, सोफ ६ माशा, बालक ६ माशा, सुबका, बारीक चूर्ण सिल पर पानी से पीस कर पिठ्ठी बना लेव। कांदा का स्वरस और पिठ्ठी और आधा सेर तिल का तेल आग पर मन्दान्नि से पका कर तेल मात्र रहने पर छान लेवें। इसमें ६ माशा के पूरु डालें चूने में इस तेल की मालिश करने से बालों का झूठा रोम दूर होता है और शरीर पुष्ट होता है।

(क) बहुधा सीतायें छोटी बच्चों को पड़े ही तूथ पिला देती हैं। इससे बच्चों की आँसु आँकन के पदों में जाकर आँसु को खराब कर देता है और बच्चे लोग तो है अतएव आँसु को चाहिए कि बच्चे को कभी पड़े हुए दूध न पिलावें। यदि कोमल बच्चे लगे तो गन्नी की पत्ती अमेटाकर छान कर इसमें ओढ़ा शहद डाल कर बच्चे के कान में भर दें। फिर कान उल्टा कर रखें तो पोंछ दें। क्लोरो माईसिटिन कैप्सूल २ अदद तोड़ कर इसकी दवा निकाल कर २ डाम ग्लेसरिन में घोल लें। इसकी दो-दो बूँद प्रातः समय डालने से आव रोग ही ठीक हो जाता है।

(ख) शसत्र बाण्डरी १० तोला, कार्जनी नीबू का स्वरस १० तोला, नीम की पत्ती का स्वरस ५ तोला, वावूना का तेल ५ तोला, तिल का तेल ५ तोला, रीछ की चर्बी २॥ तोला, पवार के फूल (चक्र मंदन या चक्रेडा के फूल) १ तोला सबको औंठों पर मन्दान्नि से पकावें तेल मात्र रहने पर छान लें। फिर इस तेल में अफीम २ माशा, सुद्ध सुहागा ६ माशा, कोड़ा मस ६ माशा को खूब बारीक पीसकर तेल

में मिला दो। आवश्यकता पड़ने पर दो-चार बूँद तेल के डालने से कान का दर्द, कान का बहना, बहरापन आदि कान के रोग दूर होते हैं।

—हकीम श्रीगुरुचरणलाल वैद्य

लाल, श्री कृष्णब्राह्म, औषधालय, सफीपुर (बजाव)

बाल संजीवनी शिवा मोदक

हूरद, भमीआमला, मूर्वामूल, सोयादान्त, हूरद, दालचिनी, कौन बीज, बलामूल, बेलगिरी, लोह, शतावरी, मुरमांसी, सोफ, जटामांसी, विदारकिन्द, साठ, सोरबा, आमला, श्यामलता, भारंगी, गजपीपल, पीपल, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, इलायची, मैथी, चांदसुर, कलौजी, अत्र-प्राञ्जल, मन्दन, लाल चन्दन, काली मूसली, असगंध, मोखरस, खर्ब, खमान, द्राक्षा, द्राक्षा, समान, शकरी, जाय, जम्बू, जम्बू, कपड़, चूर्ण करके द्राक्षा मिली के पोंछ लें, फिर शकरी की चूड़नी बनाके मोदक विधि से शहद मिला के १-१ माशे की मोली खाँची या शहद से आबलेह बना लें।

सेवन विधि—दिन में एक बार सुबह मोदक धुप पालतुधुप से सेवन करावें। यह शरीर पुष्ट रखता है। आयुबर्द्धक, बल वर्द्धक, अग्निप्रदीपक है, सर्वरोगनाशक एवं ग्रहदीप-नीशक है।

नोट—इस दवा को बहुत दिन पूर्वन्त बनावना चाहिए। इससे शहद के साथ अकेले रूप में बनाके रखें और उचित मात्रा में सेवन करावें इस दवा शिवा मोदक का अर्थवान शिवशंकर ने लोक मंगल के लिये आविष्कार किया है।

केवल रजिस्टर्ड चिकित्सकों के लिए

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ (अलीगढ़)

का

सूचीपत्र

हम गत ६४ वर्षों से शास्त्रोक्त विधि से अत्युत्तम द्रव्यों द्वारा पूर्ण प्रभावशाली आयुर्वेदीय औषधियों का निर्माण कर भारत के प्रतिष्ठित चिकित्सकों को उचित मूल्य पर सप्लाई कर रहे हैं। आपसे साग्रह निवेदन है कि आप भी हमारी औषधियों का व्यवहार करें।

संस्थापित १८६८

—नियम—

१. कमीशन—

- अ. १०.०० से कम मूल्य की दवा मंगाने पर कोई कमीशन नहीं दिया जायगा।
- आ. २५.०० तक की दवा मंगाने पर १२½ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।
- इ. २५.०० से अधिक मूल्य की दवा मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।
- ई. १००.०० से अधिक मूल्य की दवा मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायगा तथा मालगाड़ी का किराया कार्यालय देगा।
- उ. ५०.०० से अधिक नैट-मूल्य (कमीशन कम करके) के रस-रसायन मूल्यवान् औषधियां मंगाने पर पोस्ट व्यय कार्यालय देगा।

२. आर्डर देते समय—

- अ. आदेशपत्र में औषधियों का नाम, उसका नम्बर, तोल, पैकिंग की तोल तथा मूल्य सभी बातें स्पष्ट लिखें। नीचे मूल्य का जोड़ लगावें तथा उपर्युक्त नियमानुसार जो कमीशन बनता हो उसको भी लिखें। यदि आप एजेंट हैं तो एजेंसी नम्बर भी लिखें।
- आ. हर पत्र में अपना पूरा पता तथा पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।
- इ. पार्सल पोस्ट से भेजी जाय या रेल से, सवारीगाड़ी से भेजी जाय या मालगाड़ी से यह विवरण अवश्य लिखना चाहिए।
- ई. आर्डर देते समय चौथाई मूल्य अथवा कम से कम ५.०० एडवांस मनियार्डर से अवश्य भेजें तथा आदेश-पत्र में मनियार्डर का नम्बर व तारीख दें।

३—दवा भेजते समय पैकिंग करने में पूरा सावधानी रखी जाती है और प्रायः टूट-फूट नहीं होती। किन्तु अगर किसी कारण कोई टूट-फूट हो जाती है तो उसका जिम्मेदार कार्यालय नहीं है।

४—पार्सल मंगाकर बी. पी. लौटाना अनुचित है। एक बार बी. पी. वापस आने पर कार्यालय पुनः उस ग्राहक को बी. पी. नहीं भेजेगा तथा खर्चा लेने का हकदार होगा। यदि बिल में कोई भूल है तो बी. पी. छुड़ाकर पत्र डाल कर उसका सुधार करालें।

५—हमारे यहां उधार का लेना कतई नहीं है। बीजक का रुपया बैंक या बी. पी. से लिया जाता है।

६—हमारे यहां ८० तोले का सेर, ४० सेर का एक मन माना जाता है। द्रव [पतली] औषधि २ औंस की शीशी में एक छटांक मानी जाती है।

७—उत्तर प्रदेश से बाहर के ग्राहकों को अन्तर्प्रान्तीय विक्री कर ७ प्रतिशत देना होगा। सी-फार्म आर्डर के साथ [बाद में नहीं] मिलने पर यह टैक्स नहीं लगाया जायगा।

८—ग्राहकों को पार्सल का बारदाना, पैकिंग व्यय, पोस्ट-व्यय, स्टेशन पहुंचाई आदि सभी खर्च पृथक देने होते हैं।

९—धन्वन्तरि कार्यालय के किसी विभाग का कोई भी झगड़ा अलीगढ़ की अदालत में तय होगा।

१०—नियमों में अथवा औषधियों के भावों में किसी भी समय सूचना दिये बिना परिवर्तन करने कार्यालय को पूरा अधिकार है।

अन्तर्प्रान्तीय विक्रीकर

उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रांतों के ग्राहकों को अन्तर्प्रान्तीय विक्रीकर ७ प्रतिशत होगा। यदि इससे आप छुटकारा पाना चाहें तो अपने क्षेत्र के विक्रीकर कार्यालय में अपने फर्म की रजिस्ट्री करावें और वहां से सी-फार्म की कापी प्राप्त कर लें। आर्डर देते समय उस कापी से एक फार्म भर कर आर्डर के साथ भेज दिया करें। आर्डर के साथ [बाद में नहीं] सी फार्म मिलने पर हम सैलटैक्स नहीं लेंगे। सी-फार्म आर्डर के साथ न मिलने पर ७% सैलटैक्स अवश्य लगाया जायगा।

धन्वन्तरि कूपीपक्षरसायन

हमने कूपीपक्ष रसायन बनाने में एक लम्बे समय में जो अनुभव किया है तथा इसकी वारीकियों को जितना हमने जाना है वह अन्य अनेकों नवीन फार्मों से वाले कदापि नहीं जान सकते। हम उस विशेष अनुभव के आधार पर सर्वोत्तम रसायन निर्माण करते हैं और इसी कारण उनकी उत्तमता का दावा कर सकते हैं। अधिक न लिखते हुए आपसे परीक्षा करने का आग्रह करते हैं।

१ माशा ३ माशा १ तोला

१ माशा ३ माशा १ तोला

सिद्ध मकरध्वज नं. १ ४.३१ १२.५० ४८.००

सिद्ध मकरध्वज नं. १ खूब

वारीक पीसकर १-१ रत्ती

की ८ पुड़ियां १ शीशी में ५.००

सिद्ध मकरध्वज नं. २ २.८१ ८.३१ ३३.००

सिद्ध मकरध्वज नं. ३ २.२५ ६.५० २५.००

सिद्ध मकरध्वज नं. ४ २.२५ ६.५० २५.००

सिद्ध मकरध्वज नं. ५ १.८१ ५.३१ २१.००

सिद्ध मकरध्वज नं. ६ १.२५ ३.६२ १४.००

सिद्ध चन्द्रोदय नं. १ ६.८१ २०.०६ ८०.००

अनुपान मकरध्वज × १.८१ ७.००

रससिद्ध नं. १ १.२५ ३.५० १३.००

रससिद्ध नं. २ ०.८१ २.३१ ६.००

रससिद्ध नं. ३ ०.७५ २.०६ ८.००

मल्ल चन्द्रोदय

४.३१ १२.५० ४८.००

मल्ल सिद्ध

०.८१ २.३१ ६.००

ताल सिद्ध

०.८१ २.३१ ६.००

ताम्र सिद्ध

०.८१ २.३१ ६.००

शिला सिद्ध

०.८१ २.३१ ६.००

स्वर्णबङ्ग भस्म

०.३७ १.०० ३.५०

मृतसंजीवनी रस

०.४४ १.१२ ४.२५

रसकपूर (कर्पूर भाण्डेश्वर)

०.६४ २.५६ १०.००

रस माणिक्य

०.३७ १.०० ३.५०

समीरपन्नग रस नं० १

२.५६ ७.५६ ३०.००

समीरपन्नग रस नं० २

०.८१ २.३१ ६.००

पञ्चसूत रस

०.८१ २.३१ ६.००

स्वर्ण भूपति रस

२.५६ ७.५६ ३०.००

व्याधिहरण रस

१.२५ ३.५६ १४.००

★ भस्म ★

धातु उपधातु की भस्में वही उत्तम होती हैं जो अच्छी प्रकार शोधन करने के पश्चात् भस्म की गई हों तथा जो निरुद्ध हों। आयुर्वेद शास्त्र में ऐसी भस्म जो पारद, हिंगुल, हरताल, मंसिल द्वारा की गई हों और जो पुनः जीवित न हों, सर्वोत्तम मानी गई हैं तथा जड़ी बूटियों से की गई भस्में मध्यम।

भस्मों आयुर्वेदीय शास्त्र के अनुसार (शोधन करने के बाद) किंतु अपनी विशेष क्रिया द्वारा बनाई जाती हैं। इसीलिए जिन्हें इस निर्माण कार्य में अधिक समय व्यतीत हो चुका है वही उत्तम भस्मों बना सकते हैं। इसी प्रकार भस्मों में जितने अधिक पुट लगाये जाते हैं वह उतनी ही अधिक उपयोगी होती हैं। अन्य नवीन फार्मों से वाले केवल बनौषधि द्वारा बहुत ही कम पुट देकर साधारण भस्मों बना लेते हैं। इसीलिये हमारी भस्मों के समान लाभप्रद सिद्ध नहीं होती हैं।

३ माशा १ तोला ५ तोला

३ माशा १ तोला ५ तोला

अभ्रक भस्म नं. १ १०.०६ ४०.०० ×

अभ्रक भस्म नं. २ ०.८१ ३.०६ १५.००

अभ्रक भस्म नं. ३ ०.४४ १.५६ ७.५०

अकीक भस्म १.०६ ४.०० १६.००

कपर्द (कौड़ी) भस्म ०.१६ ०.३७ १.७५

कान्तलौह भस्म

०.५६ २.०६ १०.००

गोदन्ती हरताल भस्म

०.१६ ०.३७ १.७५

जहरमोहरा भस्म

०.८१ ३.०६ १५.००

तबकी हरताल भस्म

२.३१ ६.०० ४०.००

ताम्रभस्म नं. १

१.५६ ६.०० २८.००

ताम्रभस्म नं. २	०.८१	३.०६	१५.००
ताम्रभस्म नं. ३	०.४४	१.५६	७.५०
नागभस्म नं. १	०.८१	३.०६	१५.००
नागभस्म नं. २	०.३७	१.२५	६.००
प्रबालभस्म नं. १	१.५६	६.०६	३०.००
प्रबालभस्म नं. २	०.५६	२.०६	१०.००
प्रबालभस्म नं. ३	०.५६	२.०६	१०.००
प्रबालभस्म नं. ४	०.५०	१.८७	८.००
प्रबालभस्म चन्द्रपुटी	०.५०	१.८७	८.००
बंगभस्म नं. १	०.६२	२.२५	१०.००
बङ्गभस्म नं. २	०.३१	१.००	४.५०
वैक्रान्त भस्म	२.००	७.५०	३५.००
मल्ल (संख्या) भस्म	१.५६	६.००	२८.००
मृगशृङ्ग भस्म (श्वेत)	०.१६	०.६२	२.७५
माणिक्य भस्म	४.००	१५.००	X
मांडूर (कीट) भस्म नं. १			
रक्तवर्ण	०.२५	०.७५	३.७५
मांडूर (कीट) भस्म नं. २			
कृष्णवर्ण	०.१६	०.६२	२.७५
मुक्ताभस्म नं. १	२५.०६	१००.००	X
मुक्ताभस्म नं. २	२१.०६	८४.००	X
यशदभस्म	०.५०	१.७५	८.००
रौप्यभस्म नं. १	३.०६	१२.००	५५.००
रौप्यभस्म नं. २	२.३१	६.००	४०.००

लौहभस्म नं. १	२.०६	८.००	३७.५०
लौहभस्म नं. २	०.५०	१.७५	८.००
लौहभस्म नं. ३	०.२५	०.८१	४.००
स्वर्णभस्म	५१.००	२००.००	X
स्वर्णमाक्षिक भस्म	०.५०	१.७५	८.००
शङ्खभस्म	०.१३	०.३८	१.७५
शङ्कर लौहभस्म	२.०६	८.००	३७.५०
(मोतीसीप) शुक्तिभस्म	०.१६	०.५६	२.५०
संगजराहत भस्म	०.२५	०.८१	४.००
त्रिबङ्गभस्म नं० १	१.२५	४.५०	२२.५०
त्रिबङ्गभस्म नं० २	०.३१	१.००	४.५०



	३ माशे	१ तोला
प्रबाल पिष्टी	०.५६	२.००
मुक्तापिष्टी नं० १	२५.०६	१००.००
मुक्तापिष्टी नं० २	२०.०६	८०.००
अक्रीक पिष्टी	०.६२	२.२५
जहरमोहरा पिष्टी	०.६२	२.२५
कहरवा पिष्टी	२.७५	१०.००
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	०.१६	०.६६
माणिक्य पिष्टी	१.५६	६.००
वैक्रान्त पिष्टी	१.५६	६.००

शोधित द्रव्य

ये द्रव्य शास्त्रोक्त विधि से शोधित हैं औषध निर्माण में निःसंकोच व्यवहार कीजियेगा। इनके द्वारा निर्माण की गई औषधियां पूर्ण प्रभावशाली प्रमाणित होंगी।

१ तोला १० तोला १ सेर

कजली नं० १	२.१२	२०.००	X
शु० गंधक आमलासार	०.५०	४.००	२५.००
शु० बच्छनाग	०.६२	६.००	X
शु० विषबीज	०.७५	७.००	X
शु० ताल (हरताल)	१.२५	१२.००	X
शु० जयपाल	०.७५	७.००	X
शु० भल्लातक	०.६२	६.००	X
शु० ताम्र चूर्ण	X	२.००	१५.००
शु० लौह (फौलाद) चूर्ण	X	०.८१	६.००

१ तोला १० तोला १ सेर

शु० शिला	१.२५	१२.००	X
धान्याभ्रक (शुद्ध बज्राभ्रक)	X	०.८१	६.००
शु० हिंगुल	२.०६	२०.००	X
शु० पारद हिंगुलोत्थ	३.५०	३४.००	X
पारद विशेष शुद्ध	७.००	X	X
शु० मांडूर	X	०.३१	२.००
शु० घतूरा बीज	०.५०	४.००	२४.००
शु० गूल	X	०.५६	१२.००

पर्पटी

आयुर्वेद की औषधियों में पर्पटी का स्थान बहुत ऊँचा है किंतु इनको जितने उत्तम पारद से तैयार किया जायगा, ये उतना ही अधिक गुणप्रद होंगी। हम विशेष रीति से पारद को तैयार करके फिर पर्पटी तैयार करते हैं। इसलिये वे बहुत गुण करती हैं। एक बार नं० १ की पर्पटी व्यवहार करके उनके चमत्कारिक प्रभाव को देखें। सभी के सुभीते के लिए दोनों प्रकार की पर्पटी तैयार कराते हैं।

१ माशा १ तोला ५ तोला

ताम्र पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
ताम्र पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
पंचामृत पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
पंचामृत पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
विजय पर्पटी [स्वर्ण मुक्ता घटित]	३.००	३५.००	X

बोल पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
बोल पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
रस पर्पटी नं० १	०.६२	७.००	X
रस पर्पटी नं० २	०.३४	३.५०	१५.००

१ माशा १ तोला ५ तोला

लोह पर्पटी नं० १	०.६६	८.००	३५.००
लोह पर्पटी नं० २	०.४०	४.००	१७.५०
श्वेत पर्पटी	०.१४	०.४४	२.००
स्वर्ण पर्पटी नं० १	३.००	३२.००	X
स्वर्ण पर्पटी नं० २	२.००	२१.००	X

नोट—नं० १ पर्पटी विशेष शुद्ध पारद से निर्मित हैं तथा नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित हैं। नं० १ की पर्पटी की मात्रा कम और गुण अधिक होने से वैद्य अधिक व्यवहार में लेते हैं।

बहुमूल्य रस-रसायन गुटिका

ये औषधियाँ स्वयं अपनी देखरेख में सर्वोत्तम स्वर्ण वर्क, मुक्ता कस्तूरी आदि बहुमूल्य द्रव्य डालकर बनाई जाती हैं। इनकी प्रामाणिकता एवं गुणों में किसी प्रकार की शंका न करें।

१ माशा १ तोला

आमवातेश्वर रस	१.५०	१६.००
वृ० कस्तूरी भैरव रस	२.००	२२.००
कस्तूरी भैरव रस	१.५०	१६.००
कस्तूरी भूषण रस	१.७५	२०.००
वृ० काम चूरामणि रस	१.३७	१५.००
कामदुधा रस (मौक्तिक-युक्त)	१.०६	१२.००
कामिनी विद्रावण रस	०.८१	६.००
कुमारकल्याण रस	३.५०	४०.००
कृष्ण चतुर्मुख रस	१.५०	१७.००
चतुर्मुख चिन्तामणि रस	२.००	२२.५०
जयमङ्गल रस (स्वर्णयुक्त)	३.०६	३६.००
प्रबाल पंचामृत रस	१.२५	१४.००
पुटपक्क विषमञ्जरांतक लोह	१.५०	१७.००
वृ० पूर्णचन्द्र रस	२.०६	२४.००
बसंत कुसुमाकर रस	३.००	३३.००
वृ० बात चिन्तामणि रस	३.००	३३.००
ब्राह्मीवटी (स्वर्ण मुक्तायुक्त)	३.५०	४०.००
मृगांक पोटली रस	८.०६	६६.००

मधुमेहान्तक रस	१० गोली	२.१६
मधुरान्तक वटी (मौक्तिक वटी)	१ माशा १ तोला	
मन्मथाभ्र रस	०.८१	६.००
महाराज नृपतिबल्लभ रस	१.२५	१४.००
महालक्ष्मी विलासरस	०.८७	१०.००
महाराज बङ्गभस्म	०.८१	६.००
योगेन्द्र रस	४.०६	४८.००
रसरज रस	२.५६	३०.००
राज मृगांक रस	३.००	३३.००
वृ० लोकनाथ रस	०.५०	५.००
श्वास चिन्तामणि रस	१.७५	२०.००
स्वर्ण बसंत मालती नं० १	३.००	३३.००
स्वर्ण बसंत मालती नं० २	१.८१	२१.००
सर्वाङ्ग सुन्दर रस	२.०६	२४.००
संग्रहणी कपाट रस नं० १	३.५०	४०.००
सूतशेखर रस (स्वर्णयुक्त)	१.५०	१७.००
हिरण्य गर्भ पोटली रस	३.००	३३.००
हेमगर्भ रस	३.०६	३६.००

	१ तोला	५ तोला		१ तोला	५ तोला
अग्निकुमार रस	०.६२	३.००	गुड़ पिप्पली	०.५०	२.५५
अजीर्ण कंटक रस	०.८१	३.७५	गुड़मार वटी	०.४४	२.००
अर्शान्तक वटी	१.२५	६.००	ग्रहणी गजेन्द्र रस	३.००	१४.००
अग्नितुण्डी वटी	०.८१	३.७५	ग्रहणी कपाट रस नं० २	१.२५	६.००
आनन्द भैरव रस	१.०६	५.००	ग्रहणी कपाट रस लाल	२.५०	१२.००
आनन्दोदय रस	१.८१	६.००	घोड़ाचोली (अश्वकंचुकी) रस	०.६६	३.००
आदित्य रस	१.३१	६.२५	चन्द्रप्रभा वटी	०.७५	३.५०
आमलकी रसायन	१.०६	५.००	चन्द्रोदय वर्ती	०.७५	३.५०
आरोग्यवर्धिनी वटी	०.८१	३.७५	चन्द्रकला रस	१.२५	६.००
इच्छामेदी रस	०.८१	३.७५	चन्द्रांशु रस	१.००	४.५०
इच्छामेदी वटी (गोली)	०.८७	४.००	चन्द्रामृत रस	१.००	४.५०
उपदंश कुठार रस	०.८१	३.७५	चित्रकादि वटी	०.४४	२.००
उष्ण वातघ्न वटी	२.०६	१०.००	ज्वरांकुश रस	०.७५	३.५०
एकांगवीर रस	५.००	२४.००	जयवटी	१.७५	८.००
एलादि वटी	०.४४	२.००	जलोदरारि वटी	१.००	४.५०
एलुआदि वटी	०.४४	२.००	जातीफलादि रस	१.०६	४.७५
कर्पूर रस	५.००	२४.००	तक्रवटी	१.००	४.५०
कनकसुन्दर रस	०.८१	३.७५	दुर्जलजेता रस	०.७५	३.५०
कफ कुठार रस	१.२५	६.००	दुग्धवटी नं० १	६.००	२८.००
कफकेलु रस	०.८१	३.७५	दुग्धवटी नं० २	०.७५	३.५०
करंजादि वटी	५० गोली	१.००	नवज्वरहर वटी	०.७५	३.५०
कामधेनु रस	२.५०	१२.००	नष्टपुष्पांतक रस	३.५०	१७.००
कामदुधा रस नं० २	२.०६	१०.००	नृपतिबल्लभ रस	१.५०	७.००
कांकायन गुटिका	०.४४	२.००	नाराच रस	०.७५	३.५०
कीटमर्द रस	०.५६	२.५०	नित्यानन्द रस	१.०६	५.००
क्रव्यादि रस	४.५०	२०.००	प्रताप लंकेश्वर रस	०.७५	३.५०
कृमिकुठार रस	०.६४	४.५०	प्रदरारि रस	०.७५	३.५०
खैरसार वटी	०.४४	२.००	प्रदरांतक रस	१.५६	७.५०
गंगाधर रस	२.०६	१०.००	सीहारि रस	०.७५	३.५०
गन्धक वटी	०.४४	२.००	प्राणेश्वर रस	३.००	१४.००
गन्धक रसायन	१.७५	८.००	प्राणदा गुटिका	०.६६	३.२५
गर्भविनोद रस	०.८१	३.७५	पंचामृत रस नं० १ (नासारोग)	०.७५	३.५०
गर्भपाल रस	१.७५	८.००	पंचामृत रस नं० २ (शोथ रोग)	१.००	४.५०
गर्भचिन्तामणि रस	३.५०	१६.००	पाशुपत रस	१.०६	५.००
गुल्म कुठार रस	१.२५	६.००	पीपल ६४ पहरा	३.५०	१७.००
गुल्मकालानल रस	१.२५	६.००	वृं शंख वटी	०.७५	३.५०
			वृद्धि बाधिका वटी	२.०६	१०.००

	१ तो.	५ तो.		१ तोला	५ तोला
धृ. नायकादि रस	०.५०	२.३७	लाई [रस] चूर्ण	०.८१	४.००
बहुमूत्रान्तक रस	३.५६	१७.५०	लीलावती गुठिका	०.७५	३.५०
बहुशाल गुड	०.५६	२.५०	लीलाविलास रस	१.५०	७.००
बालामृत रस	४.५०	२२.००	लोकनाथ रस	१.५६	७.५०
ब्राह्मीवटी (स्वर्णरहित)	२.०६	१०.००	श्यासकुठार रस	०.८१	४.००
वातगजांशुश रस	१.८१	८.७५	शङ्खवटी	०.५०	२.२५
विषमुष्टिका वटी	०.८१	३.७५	शंशमनी वटी	१.२५	६.००
वेताल रस	३.००	१४.००	शिरोबज्र रस	१.००	४.५०
व्यौषादि वटी	०.४४	२.१२	शोतमं त्रा	१.७५	८.००
महामृत्युञ्जय रस (रक्त)	१.०६	५.००	शिलाजीत वटी	१.००	४.५०
मृत्युञ्जय रस (कृष्ण)	१.०६	५.००	शूलवज्रिणी वटी	०.८१	४.००
मकरध्वज वटी	५०० गोली	३०.००	शूलगजकेशरी रस	२.०६	१०.००
महागन्धक रस	०.८१	४.००	शृङ्गाराभ्रक रस	१.७५	८.००
मरिच्यादि वटी	०.४४	२.१२	स्मृतिसागर रस	३.५०	१७.००
महाशूलहर रस	१.२५	६.००	सन्निपात भैरव रस	१.२५	६.००
महावात विध्वंस रस	३.०६	१५.००	संजीवनी वटी	०.६२	३.००
मार्कण्डेय रस	०.८१	४.००	सर्पगन्धा वटी	१.००	४.५०
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस	३.०६	१५.००	समीरगज केशरी	४.५०	२२.००
मेहमुद्गर रस	०.८१	४.००	सिद्धप्राणेश्वर रस	१.००	४.५०
रक्तपित्तान्तक रस	१.०६	५.००	सूतशेखर रस	३.०६	१५.००
रसपीपरी	३.०६	१५.००	सूरण मोदक वृ०	०.४४	२.१२
रामबाण रस	०.८७	४.२५	सौभाग्य वटी	०.८१	४.००
लशुनादि वटी	०.५०	२.२५	हिंवादि वटी	०.४४	२.१२
लघुमालती वसंत	३.०६	१५.००	हृदयार्णव रस	२.०६	१०.००
लक्ष्मीविलास रस	१.७५	८.००	त्रिपुर भैरव रस	१.००	४.५०
लक्ष्मीनारायण रस	२.५०	१२.००	त्रिभुवनकीर्ति रस	०.८७	४.२५
			त्रिविक्रम रस	३.०६	१५.००

धन्वन्तरि लोह मण्डूर

	१ तोला	५ तोला		१ तोला	५ तोला
अम्लपित्तांतक लोह	१.२५	६.००	पुनर्नवादि मण्डूर	०.६२	३.००
चन्दनादि लोह (ज्वर)	१.५०	७.००	विषम ज्वरान्तक लोह	१.५६	७.५०
चन्दनादि लोह (प्रमेह)	१.८१	८.७५	यकृत हर लोह	१.२५	६.००
तप्यादि लोह	३.५६	१७.५०	शोथोदरारि लोह	१.८७	९.००
धात्री लोह	१.२५	६.००	सर्वज्वरहर लोह	१.२५	६.००
नवायस लोह	०.८१	४.००	सप्तामृत लोह	१.२५	६.००
प्रदरारि लोह	१.५६	७.५०	ज्यूषणादि लोह	१.२५	६.००
प्रदरान्तक लोह	१.८७	९.००			



	१ तो.	५ तो.	२० तो.		१ तो.	५ तो.	२० तो.
अमृतादि गुग्गुलु	०.४४	२.००	७.५०	योगराज गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०
कांचनार गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०	रसाभ्र गुग्गुलु	१.२५	६.००	२२.००
किशोर गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०	रास्नादि गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०
गोक्षुरादि गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०	सिंहनाद गुग्गुलु	०.५०	२.२५	८.००
पुनर्नवदि गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०	त्रयोदशांग गुग्गुलु	०.५०	२.२५	८.००
वृ. योगराज गुग्गुलु	१.२५	६.००	२२.००	त्रिफलादि गुग्गुलु	०.३७	१.५०	५.५०

अरिष्ट-आसव

	१ बो.	१ पौ.	१ अद्धा	८ औ.		१ बो.	१ पौ.	१ अद्धा	८ औ.
अमृतारिष्ट	२.६२	२.३७	१.४४	१.२५	द्राक्षादि	२.८५	२.६२	१.५०	१.३५
अर्जुनारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	देवदान्यारिष्ट	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५
अरविन्दासव	३.००	२.५६	१.६२	१.३१	पत्राङ्गासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
अशोकारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	पिप्पल्यासव	२.५०	२.१२	१.३२	१.१२
अभयारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	पुनर्नवासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
अश्वगन्धारिष्ट	२.७५	२.४४	१.५०	१.३०	बल्लभारिष्ट	३.५०	३.१२	१.८८	१.६२
उसीरासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	बबलारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२
कनकासव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	बांसारिष्ट	६.००	५.२५	३.१२	२.७५
कुमारी आसव	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	बालरोगांतकारिष्ट-३.००	२.७०	१.६२	१.४०	
कुटजारिष्ट	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	रक्तशोधिकारिष्ट	२.७५	२.५०	१.५०	१.३१
खद्वारिष्ट	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५	रोहितकारिष्ट	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
चन्दनासव	२.२५	२.००	१.२५	१.०६	लोहासव	२.२५	२.००	१.२५	१.०६
दशमूलारिष्ट नं. १	५.५०	४.८८	२.८८	२.५०	सारस्वतारिष्ट नं. १	×	×	×	६.५०
दशमूलारिष्ट नं. २	२.६२	२.३८	१.४४	१.२५	सारस्वतारिष्ट नं. २	३.५०	३.१२	१.८८	१.६२
द्राक्षासव [विना खिंचा]	२.४०	२.१२	१.३२	१.१२	सारिवाद्यासव	३.००	२.७०	१.६२	१.४०

अर्क

	१ बो.	१ पौ.	१ अद्धा	८ औ.		१ बो.	१ पौ.	१ अद्धा	८ औ.
अर्क उसवा	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६	सुदर्शन अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६
दशमूल अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६	अर्क सौंफ	१.७५	१.५६	१.००	०.८१
द्राक्षादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६	अर्क अजमाइन	२.२५	२.००	१.२५	१.०६
महामंजिष्ठादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६	अर्क पोदीना	२.७५	२.५०	१.५०	१.३१
रास्नादि अर्क	२.५०	२.२५	१.३८	१.१६					

क्वाथ

दशमूल काथ	१ मन ६०.००	१ सेर १.५६	द्राक्षादि काथ	१ सेर २.००	१० तो. की पु.	०.३१
	२ तो. की १०० पुड़िया ६.००		बलादि काथ	१ सेर २.००	"	०.३१
दाव्यादि काथ		१ सेर २.८७	महामंजिष्ठादि काथ	१ सेर २.८७	"	०.३७
	१० तोले की पुड़िया ०.३७		महारास्नादि काथ	१ सेर २.८७	"	०.३७
देवदाव्यादि काथ	१ सेर २.००	" ०.३१	त्रिफलादि क्वाथ	१ सेर २.००	"	०.३१

चूर्ण

	१ सेर	५ तोला		१ सेर	५ तोला
अग्निमुख चूर्ण	१२.००	०.८७	निम्बादि चूर्ण	६.००	०.६६
अविपत्तिकर चूर्ण	१२.००	०.८७	प्रदरान्तक चूर्ण	६.००	०.६६
अजीर्णपानक चूर्ण	१४.००	१.००	पंचसकार चूर्ण	८.००	०.६२
अग्निबल्लभ चार चूर्ण	१७.००	१.१६	प्रदरारि चूर्ण	६.००	०.६६
उदरभास्कर चूर्ण	१२.००	०.८७	पुष्यानुग चूर्ण	६.००	०.६६
शलादि चूर्ण	१४.००	१.००	यवानी खांडव चूर्ण	१०.००	०.७५
कपित्थाष्टक चूर्ण	१०.००	०.७५	लवंगादि चूर्ण	१६.००	१.०६
कामदेव चूर्ण	१२.००	०.८७	लवणभास्कर चूर्ण	८.००	०.६२
गंगाधर चूर्ण	६.००	०.६६	स्वप्नप्रमेहहर चूर्ण	१६.००	१.१२
चन्दनादि चूर्ण	६.००	०.६६	सारस्वत चूर्ण	६.००	०.६६
ज्वर भैरव चूर्ण	६.००	०.६६	सामुद्रादि चूर्ण	१०.००	०.७५
जातीफलादि चूर्ण	२०.००	१.३१	शृंग्यादि चूर्ण	१२.००	०.८७
तालीसादि चूर्ण	१४.००	१.००	सितोपलादि चूर्ण [असली- वंशलोचन से बना]	२०.००	१.३७
दशनसंस्कार चूर्ण	१२.००	०.८७	महा सुदर्शन चूर्ण	८.००	०.६२
धातुस्नावहर चूर्ण	१६.००	१.१२	हिंवाष्टक चूर्ण	१४.००	१.००
नारायण चूर्ण	६.००	०.६६	त्रिफलादि चूर्ण	७.००	०.५६

तैलादि

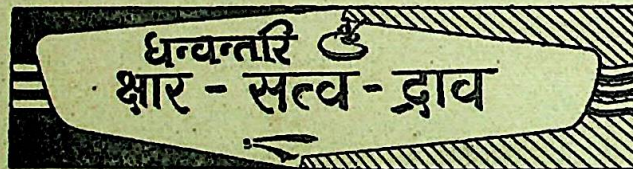
	१ पौंड	४ औंस	२ औंस		१ पौंड	४ औंस	२ औंस
आंवला तैल	६.००	१.५६	०.८१	गुडूच्यादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
हरमेदादि तैल	८.००	२.०६	१.०६	महाचन्दनादि तैल	८.५०	२.१८	१.१५
कपूरदि तैल	१२.००	३.५६	१.६०	चन्दनबलालाक्षादि तैल	८.५०	२.१८	१.१५
कटफलादि तैल	८.००	२.०६	१.०६	जात्यादि तैल	६.००	२.३०	१.१८
कन्दर्प सुन्दर तैल	१०.००	२.५६	१.३१	दशमूल तैल	८.५०	२.१८	१.१५
काशीसादि तैल	८.००	२.१२	१.१२	दाव्यादि तैल	८.५०	२.१८	१.१५
किरातादि तैल	८.००	२.१२	१.१२	महानारायण तैल	८.५०	२.१८	१.१५
कुमारी तैल	८.००	२.१२	१.१२	पिपल्यादि तैल	८.५०	२.१८	१.१५
प्रहणी मिहिर तैल	८.००	२.००	१.१२	पिण्ड तैल	६.००	१.३०	१.१८

Digitized by eGangotri Samajik Sanstha, Chennai and eGangotri

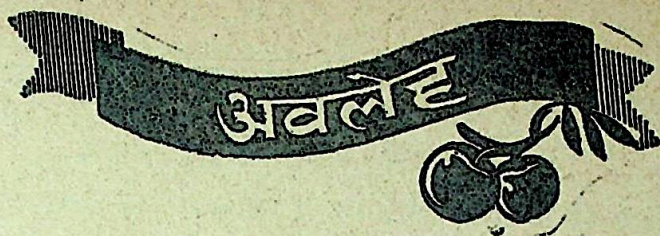
	१ पौंड	४ औंस	२ औंस		१ पौंड	४ औंस	२ औंस	
पुनर्नवादि तैल	८.००		२.१२	१.१२	मोंम का तैल	१५.००	३.८०	१.६६
ब्राह्मी तैल	८.००		२.०६	१.०६	राल का तैल	१२.००	३.०६	१.५६
बिल्व तैल	६.००		२.३०	१.१८	लाक्षादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
विषगर्भ तैल	८.००		२.१२	१.१२	शुष्क मूलादि तैल	८.००	२.१२	१.१२
शृङ्गराज तैल	६.००		२.३०	१.१८	षट्बिन्दु तैल	८.००	२.१२	१.१२
महाविषगर्भ तैल	८.५०		२.१८	१.१५	हिमसागर तैल	८.००	२.१२	१.१२
बैरोजा का तैल	१०.००		२.५६	१.३५	चार तैल	१२.००	३.०६	१.५६
महामरिच्यादि तैल	८.००		२.१२	१.१२	नोट—सभी शीशियां पिल्फर कैप से सुन्दर पैक की जाती हैं।			
महामाष तैल	८.००		२.१२	१.१२				



	१ पौंड	४ औंस	२ औंस		१ पौंड	४ औंस	२ औंस
अर्जुन घृत	८.००	२.०६	१.०६	पञ्चतित्त घृत	८.००	२.०६	१.०६
अशोक घृत	८.००	२.०६	१.०६	फल घृत	८.००	२.०६	१.०६
अग्नि घृत	८.००	२.०६	१.०६	ब्राह्मी घृत	८.००	२.०६	१.०६
कदली घृत	१०.००	२.५६	१.३१	बिन्दु घृत	१०.००	२.५६	१.३१
कामदेव घृत	१०.००	२.५६	१.३१	महात्रिफलादि घृत	६.००	२.३१	१.१६
दूर्वादि घृत	८.००	२.०६	१.०६	शृङ्गोष्ण घृत	८.००	२.०६	१.०६
घात्री घृत	८.००	२.०६	१.०६	सारस्वत घृत	८.००	२.०६	१.०६



	१ सेर	१० तोला	१ तोला		१ सेर	१० तोला	१ तोला
बज्र चार	२०.००	३.००	०.३१	आक चार	२०.००	३.००	०.३१
अपामार्ग चार	२०.००	३.००	०.३१	केतकी चार	२०.००	३.००	०.३१
बांसा चार	३०.००	४.००	०.४४	चना (चणक) चार	३०.००	४.००	०.४४
कटेरी चार	३०.००	४.००	०.४४	यवचार	१४.००	२.००	०.२५
कदली चार	२५.००	३.५०	०.३८	गिलोय सत्व	२८.००	४.००	०.४४
इमली चार	२०.००	३.००	०.३१	भीमसैनी कपूर	×	×	४.००
तिलचार	३०.००	४.००	०.४४	नेत्र बिन्दु	८ औंस १०.००,	आधा औंस	०.८७
मूली चार	३०.००	४.००	०.४४	शंख द्राव	८ औंस १६.००,	आधा औंस	१.०६
ढाक चार	२०.००	३.००	०.३१				



च्यवनप्राश अवलेह १ सेर ६.००	१ पाव शी. में १.५६	२ " ३.०६	विषमुष्टिकावलेह (वातरोगनाशक) ५ तोला ६.००	१ सेर १० तोला
कुटजावलेह ८.००	१ पाव शीशो में २.१२		कन्दर्प सुन्दर पाक १०.००	१.५०
कण्टकारी अवलेह ८.००	२.१२		बादाम पाक १४.००	२.००
कुशावलेह ८.००	२.१२		मूसली पाक १४.००	२.००
बांसावलेह ८.००	२.१२		सुपारी पाक १०.००	१.५०
ब्राह्मरसायन १०.५०	२.७५		सौभाग्यसुंठी पाक १०.००	१.५०
आर्द्रक खण्ड ८.००	२.१२		मधुकावलेह (स्त्रियों को उपयोगी) १५ तो ३.५०	

मलहम

जात्यादि मलहम १ पौंड ८.००	१० तोला २.१२	१ पौंड १० तोला
पारदादि मलहम ६.००	२.३७	दशांग लेप ६.०० १.६२
निम्बादि मलहम १०.००	२.६२	अग्निदग्धव्रणहर मलहम ६.०० १.६२

बहुमूल्य-द्रव्य

कस्तूरी काश्मीरी उत्तम १ तोला ६०.००	गौलोचन १ तोला ४०.००
केशर काश्मीरी मोंगरा १ तोला १८.००	चांदी के वर्क १ तोला ६.००
केशर चूरा १ तोला ८.००	स्वर्ण वर्क— बाजार भाव
अम्बर १ तोला ३६.००	

भस्म निर्माणार्थ

अकीकदाना ५ तोला २.००	नीलम खड़ १ तोला ३.००
अकीक खड़ ५ तोला १.००	पुखराज खड़ १ तोला ३.००
कहरवा १ तोला ५.५०	पिरोजा खड़ १ तोला २.००
जहर मोहरा खताई १ तोला १.००	
खर्पर(खपरिया) १ तोला २.००	
वैक्रान्त खड़ १ तोला २.००	
माणिक्य (याकृत) १ तोला २.००	

नोट—बहुमूल्य द्रव्य एवं भस्म निर्माणार्थ शीर्षक के अन्तर्गत दिए द्रव्यों के भाव नैट हैं। इन पर किसी प्रकार का कमीशन नहीं दिया जायगा। इन भावों में घट-बढ़ होना भी सम्भव है। आर्डर सप्लाई के समय जो भाव होगा वह लगाया जायगा।

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित

अनुभूत एवं सफल पेटेण्ट दवायें

हमारी ये पेन्टेन्ट औषधियां ६४ वर्ष से भारत भर के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैद्यराजों और धर्मार्थ औषधालयों द्वारा व्यवहार की जा रही हैं अतः इनकी उत्तमता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

मकरध्वज वटी

(अर्थात् निराशबन्धु)

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं आशुलाभप्रद महौषधि मकरध्वज नं० १ अर्थात् चन्द्रोदय है। इसी अनुपम रसायन द्वारा इन गोलिएं का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य मूल्यवान एवं प्रभावशाली द्रव्यों को इसमें डाला जाता है। ये गोलिएं भोजन को पचाकर रस रक्त आदि सप्त धातुयें क्रमशः सुधारती हुई वीर्य का निर्माण करतीं और शरीर में नव-जीवन व स्फूर्ति भर देती हैं। जो व्यक्ति चन्द्रोदय के गुणों को जानते हैं वे इसके प्रभाव में सन्देह नहीं कर सकते। वीर्य विकार के साथ होने वाली खांसी जुकाम सर्दी, कमर का दर्द, मन्दाग्नि, स्मरणशक्ति का नाश आदि व्याधियां भी दूर होती हैं। जुधा बढ़ती है, शरीर हट-पुष्ट और निरोग बनता है। जो व्यक्ति अनेक औषधियां सेवन कर निराश हो गये हैं उन निराश पुरुषों को यह औषधि बन्धुतुल्य सुख देती है इसलिए इसका दूसरा नाम "निराश बन्धु" है।

४० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य को अपने में एक प्रकार की कमी व शिथिलता का अनुभव होता है। यह रोग प्रतिरोधक शक्ति (जो हरेक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है।) में कमी आ जाने के फलस्वरूप होती है। मकरध्वज वटी इस शक्ति को पुनः उत्तेजित करती है और मनुष्य को सबल व स्वस्थ बनाये रखती है। मूल्य—१ शीशी (४१ गोलिएं की) २.६२, छोटी शीशी २१ गोलिएं की १.४४, १२ शीशी या अधिक एक साथ मंगाने पर रियायती थोक भाव १२ शीशी (४१ गोलिएं वाली) का २१.५० नैट।

कुमारकल्याण घुटी

(बालकों के लिये सर्वोत्तम व मीठी घुटी)

हमने बड़े परिश्रम से आयुर्वेद में वर्णित और बालकों की रक्षा करने वाली दिव्य औषधियों से घुटी तैयार की है। इसके सेवन करने वाले बालक कभी बीमार नहीं होते किंतु पुष्ट हो जाते हैं। यह बालकों को बलवान बनाने वाली बड़ी उत्तम औषधि है। रोगी बालक के लिए तो संजीवनी है। इसके सेवन से बालकों के समस्त रोग

जैसे ज्वर, हरे पीले दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, दस्त में कीड़े पड़ जाना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ, खांसी, पसली चलना, दूध पलटना, सोते में खौंक पड़ना, दांत निकलते समय के रोग आदि सब दूर हो जाते हैं। शरीर मोटा ताजा और बलवान हो जाता है। पीने में मीठी होने से बच्चे आसानी से पी लेते हैं। मूल्य एक शीशी (आध औंस) ०.३१, ४ औंस की शीशी २.००।

कुमार रक्तक तैल—इस तैल को बच्चों के सम्पूर्ण शरीर पर धीरे-धीरे रोजाना मालिश करें। आध घण्टे बाद स्नान करायें। बच्चों में स्फूर्ति वढ़ेगी, मांसपेशियां सुदृढ़ हो जायंगी, हड्डियों को ताकत पहुंचेगी। यह तैल इसी अभिप्राय से सर्वोत्तम निर्माण किया गया है। मूल्य—१ शीशा (४ औंस) १.५०, छोटी शीशी (२ औंस) ०.८८।

ज्वरारि—कुलीनरहित विशुद्ध आयुर्वेदिक, ज्वर-जुड़ी को शीघ्र नष्ट करने वाली सस्ती एवं सर्वोत्तम महौषधि है। जुड़ी और उसके उपद्रवों को नष्ट करती है। मूल्य—१० मात्रा की शीशी १.००, २० मात्रा बड़ी शीशी १.७५, ५० मात्रा की पूरी बोतल ३.२५।

कासारि—हर प्रकार की खांसी को दूर करने वाली सर्वत्र प्रशंसित अद्वितीय औषधि। वांसा पत्र क्वाथ एवं पिप्पली आदि कासनाशक आयुर्वेदिक द्रव्यों से निर्मित शर्वत है। अन्य औषधियों के साथ इसको अनुपान रूप में देना भी उपयोगी है। सूखी व तर दोनों प्रकार की खांसी को नष्ट करने वाली सस्ती दवा है। मूल्य—२० मात्रा की शीशी १.००, ५ मात्रा की शीशी ०.३७, १ पौंड ३.५०।

कामिनीगर्भ रक्तक—बार बार गर्भस्त्राव हो जाना, बच्चों का छोटी आयु में मर जाना, इन भयङ्कर व्याधियों से अनेक सुकुमार स्त्रियां आजकल पीड़ित हैं। यदि आप कामिनीगर्भ रक्तक को गर्भ के प्रथम माह से नवम् माह तक सेवन करावें तो न गर्भपात होगा और न गर्भस्त्राव। बच्चा स्वस्थ, सुन्दर और सुडौल उत्पन्न होगा। मूल्य २ औंस की शीशी २.००

शिरोविरेचनीय सुरमा—जिनको बार बार जुलाम हो जाता है या पुराना शिर दर्द हो, जुलाम रुकने से उत्पन्न शिर दर्द में इस सुरमा को सलाई से हल्का हल्का नेत्र में आजें। थोड़ी देर में आंख व नाक से बलगम

निकलना प्रारम्भ हो जायगा और सभी कष्ट दूर होंगे। पुराने शिर दर्द में पथ्यादि क्वाथ व शिरोवज्ररस भी साथ में सेवन करावें। मूल्य १ माशे की शीशी ०.३१

वातारि वटी—वातरोग नाशक सफल और सस्ती दवा है। १-१ गोली प्रातः सायं गरम जल और रास्नादि क्वाथ के साथ लेने से सभी प्रकार की वातव्याधियां नष्ट होती हैं। मूल्य १ शीशी (५१ गोली) २.०० मात्र।

करंजादि वटी—‘करंज’ मलेरिया के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके संयोग से बनी ये गोलियां प्राकृतिक ज्वर (मलेरिया) के लिए उत्तम प्रमाणित हुई हैं। सस्ती भी हैं। १ शीशी (५० गोली) १.००

कासहर वटी—हर प्रकार की खांसी के लिए सस्ती व उत्तम गोलियां हैं। दिन में ५-७ बार अथवा जिस समय खांसी अधिक आ रही हो १-१ गोली मुंह में डाल रस चूसें, गला व श्वास नली साफ होती हैं। कफ वन्द हो जाता है। १ शीशी (१ तोला) ०.३१

निम्बादि मलहम—नीम रक्तशोधक व चर्मरोग नाशक है। इसी के प्रयोग से बनी यह मलहम फोड़ा व घावों के लिये अत्युत्तम है। निम्बक्वाथ से घाव या फोड़ों को साफकर इस मलहम को लगाने से वे शीघ्र ही भरते हैं। नासूर तक को भरने की इसमें शक्ति है। मूल्य एक शीशी आध औंस ०.३१, २० तोले का एक पैक ५.००

बल्लभ रसायन—किसी भी रोग से किसी भी प्रकार का रक्तश्राव होता हो यह विशेष लाभ करता है। रक्त को बन्द करने के लिए अव्यर्थ औषधि है। मूल्य १ शीशी [२ औंस] १.००

रक्तबल्लभ रसायन—इससे ज्वर के साथ होने वाला रक्तश्राव बन्द होता है ज्वर को दूर करने और रक्त बन्द करने को उत्तम है। १ शीशी [आध औंस] १.००

सरलभेदी वटी—कब्जरोग तो आजकल इतना फैला हुआ है कि प्रत्येक घर में छोटे बच्चों, जवानों, बूढ़ों सभी को शिकायत बनो रहती है कि दस्त साफ नहीं होता, जिसके कारण भूख भी नहीं लगती, तबियत भी उदास रहती है। कब्ज रहते रहते फिर अनेक रोग आदमी को आ घेरते हैं। वास्तव में रोगों का घर पेट नित्य साफ न होना ही है। जिस मनुष्य को नित्य प्रातः दस्त साफ हो जाता है उसे कोई रोग नहीं हो पाता। हमने यह दवा उन लोगों के लिये बनाई है जिनको नित्य ही कब्ज की शिकायत रहती हो और कई कई बार दस्त जाना पड़ता हो। इसका रात्रि में सेवन करने से नित्य प्रातः दस्त साफ होता है। तबियत साफ हो जाती है तथा कार्य करने में उत्साह बढ़ता है। १ शीशी [३१ गोली] १.००

गोपाल चूर्ण—जिनकी प्रकृति पित्तकी हो उन्हें इसके सेवन से दस्त साफ आता है। जिनको मलावरोध हो उन्हें इनमें से तीन माशे रात को सोते समय गुनगुने जल

के साथ या गर्म दूध के साथ फंका देने से सुबह दस्त हो जाता है। १ शीशी [२ औंस] ०.६२

मृदुविरेचन चूर्ण—यह मृदु विरेचक है। जिन्हें मलावरोध रहता हो और अनेक औषधियों से न गया हो उन्हें भोजनोपरांत ३-३ माशे गुनगुने पानी से फकायें। यदि पेट में खुरचन मालूम पड़े तो थोड़ी सौंफ चटावें। इसके १५ दिन सेवन से मलावरोध नष्ट हो जाता है। १ शीशी ०.६२

आवनिस्सारक वटी—प्रातःकाल गुनगुने जल के साथ १ से ३ गोली सेवन कराने से गुदा के द्वारा आंव निकलने लगती है। जिन रोगियों को आंव का विकार हो या आमवात का रोग हो उन्हें इसके सेवन से विशेष लाभ होता है, आंव निकालने के लिए यह एक ही वस्तु है। यदि पेट में दर्द [एंटन] करे तब चिंता न करें क्योंकि आंव निकलते समय प्रायः ऐसा हो जाता है। मूल्य १ शीशी (१ तोला) १.००

मुंह के छालों की दवा—गर्मी, मलावरोध अथवा किसी भी कारण से मुंह में छाले हो जायं, इसको छालों पर बुरक कर मुंह नीचे कर दें, लार गिरने लगेगी। दिन रात में छाले नष्ट हो जायेंगे। १ शीशी (आध औंस) ०.६२

कर्णामृत तैल—कान में सांय-सांय का शब्द होना, दर्द होना, कान से मवाद बहना आदि कर्ण रोगों के लिये उत्तम तैल है। कान को पिचकारी से स्वच्छ करने के बाद २-३ बूंद दिन में ३ बार डालें। १ शी. (आध औंस) ०.६२

बालापस्मारहर वटी—बालक बेहोश हो जाता है, हाथ पैर एंठ जाते हैं, मुख से लार (फ्लाग) देने लगता है, दांती बन्द हो जाती है। बालक की ऐसी हालत में यह दवा अक्सीर प्रमाणित होती है। १ शी. २.००

मधुमेहान्तक रस—मधुमेह की यह प्रभावशाली उत्तम महौषधि है, बहुमूल्य व सोमरोग में भी विशेष लाभप्रद है। वैद्यों एवं मधुमेह रोगियों से अनुरोध है कि वे इसका व्यवहार अवश्य करें। १० गोली २.१६

पायरिया मंजन—पायरिया रोग बहुत प्रचलित है, अन्य अनेक रोगों को भी पैदा करता है। अतएव हरेक व्यक्ति को चाहिए कि इस रोग की थोड़ी भी उपेक्षा न करें। इस मंजन के नित्य व्यवहार करने से दांत चमकीले होते हैं और दांतों से खून जाना, मवाद जाना, टीस मारना, जल लगना आदि दूर होते हैं। १ शीशी ०.५०

नयनामृत सुरमा—नेत्र रोगों के लिये उपयोगी सुरमा है चांदी या कांच की सलाई से दिन से एक बार लगाने से धुंधला दीखना, पानी निकलना, खुजली चलना आदि शीघ्र नष्ट होते हैं। मूल्य ३ माशे की १ शीशी २.५०

अग्निसंदीपन चूर्ण—अग्नि को उत्तेजित करने वाला, मीठा व स्वादिष्ट चूर्ण है। भोजन के बाद ३-३ माशे लीजिये कब्ज दूर होगा तथा रुचि बढ़ेगी। १ शीशी [२ औंस] ०.५०।

मनोरम चूर्ण—स्वादिष्ट, शीतल व पाचक चूर्ण। एक बार चख लेने पर शीशी समाप्त होने तक आप खते ही रहेंगे। गुण और स्वाद दोनों में लाजवाब है। १ शीशी (२ औंस) ०.५०, छोटी शीशी (१ औंस) ०.३१।

अग्निबल्लभचार—सम्पूर्ण चिकित्सा सार यही है कि जठराग्नि की रक्षा की जाय, चाहे सैकड़ों दोष कुपित क्यों न हों, हजारों रोग शरीर में क्यों न भरे पड़े हों, परन्तु उनकी चिन्ता न करके एक जठराग्नि की रक्षा करे। जब जठराग्नि द्वारा आहार पच जाता है तब ही रस-रक्तादि शारीरिक धातु बनकर शरीर को बलवान बनाते हैं। लेकिन आज जिधर देखिये उधर यही शिकायत सुने में आती है कि हमारी अग्नि कमजोर है, खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं उतरता, भूख नहीं लगती इत्यादि। अग्निबल्लभ चार के सेवन से अग्नि-प्रज्वलित होती है। खाना हुआ खाना हजम होता है, भूख न लगना, दस्त साफ न होना, खट्टी डकारों का आना, पेट में दर्द तथा भारीपन होना, तबियत मचलाना, अपान वायु का विगड़ना इत्यादि सामयिक शिकायतें दूर होती हैं। परदेश में रहकर सेवन करने वालों को जल दोष नहीं सताता, गृहस्थों के लिए संग्रह करने योग्य महौषधि है क्योंकि जब किसी तरह की शिकायत देखो चट अग्निबल्लभ चार सेवन करने से उसी समय तबियत साफ हो जाता है। १ शीशी (२ औंस) का मूल्य १.००

ग्रहणी रिपु—हमने इसे बड़े परिश्रम से बनाया है। यह ग्रहणी रोग के लिए अव्यर्थ है। हजारों रोगियों पर परीक्षा कर देखी है। पुराने दस्तों के लिए चुनी हुई एक ही औषधि है। पाचन-शक्ति को बढ़ाने के लिये इसके समान दूसरी औषधि नहीं है। १ शीशी आध औंस ३.५०

खाजरिपु—खाज बहुत ही परेशान करने वाला तथा घृणित रोग है। अनेक रोगियों पर भली प्रकार परीक्षा करने के बाद 'खाजरिपु' नामक तैल को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। अब तो इसे व्यवहार करने वाले इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। गीली तथा सूखी दोनों प्रकार की खाज के लिये यह अक्सीर है। मूल्य १ शीशी १.००, छोटी शीशी ०.५६।

दाद की दवा—यह दाद की अक्सीर दवा है। दाद को साफ करके किसी मोटे वस्त्र से खुजलाकर दवा की मालिश करें। स्नान करने के बाद रोजाना वस्त्र से अच्छी प्रकार पोंछ लिया करें। १ शीशी ०.५०।

रजःप्रवर्तक वटी—१ शीशी १.००

अण्डवृद्धिहर लेप—इतना बड़ा कपड़ा लें जो बड़े हुये फोते को ढँक सके और उस पर यह लेप लगाकर आग के कोयलों पर सेंक कर सुहाता-सुहाता फोते पर चिपकावें।

दिन-रात में एक बार लगावें, २-१ बार रुई के फाहे से सेंक दिया करें। इस लेप के कुछ दिनों के व्यवहार से फोते ठीक हो जाते हैं। एक शीशी आध औंस १.००।

स्वादिष्ट चटना—अति स्वादिष्ट और पाचक चटना है। यह सड़े-गले द्रव्यों से निर्मित बाजारू सस्ते गीले चूर्ण के समान नहीं सर्वोत्तम और शीघ्र प्रभावकारी द्रव्यों से निर्मित है। एक बार परीक्षा करने पर ही इसके गुणों से आप परिचित हो सकेंगे। मूल्य १ शीशी (१ औंस का) ०.७५।

नेत्रबिन्दु—दुखती आंखों के लिए अत्युपयोगी प्रसिद्ध महौषधि १/२ औंस ०.८०, १/४ औंस ०.५०।

हमारे सफल सैट

क्षीरोगहर सैट—१. क्षी सुधा-क्षियों के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध लाभकारी औषधि मूल्य १ बोतल ३.५०, १ शीशी १.५०। २. मधुकायबलेह—क्षी सुधा के साथ इसे भी व्यवहार करने से शीघ्र लाभ होता है—१ शीशी ३.५०

हिस्टेरियाहर सैट—१५ दिन की तीनों दवाओं का मूल्य ७.००

निर्बलतानाशक सैट—मकरध्वज वटी, तैल व पोटली तीनों दवायें २० दिन व्यवहार करने योग्य मूल्य ६.००

धन्वन्तरि तैल—मुरदार नसों पर मालिश के लिये १ शीशी २.५०

धन्वन्तरि पोटली—सिकाई करने के लिए १ डिब्बा २.५०

श्वेतकुष्ठहर सैट—इसमें श्वेतकुष्ठ हर अवलेह, वटी व घृत तीनों औषधियाँ हैं। इन तीनों औषधियों के विधिवत् अधिक दिन सेवन करने से श्वेत कुष्ठ अवश्य नष्ट होता है। मूल्य १५ दिन की तीनों औषधियों का ५.००

रक्तदोषहर सैट—इसमें धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसा परेला, तालकेशवर रस, इन्द्रवारुणादि काथ-ये तीन औषधियाँ हैं। इनके सेवन से सभी प्रकार के रक्त-विकार जनित विकार तथा चर्मरोग नष्ट होकर शरीर सुडाल बनता है। मूल्य १५ दिन की तीनों दवाओं का ६.००, पोस्ट व्यय ४.५०

अर्शान्तक सैट—इसमें वटी, मलहम तथा चूर्ण तीन औषधियाँ हैं। इनके प्रयोग से दोनों प्रकार के अर्श नष्ट होते हैं अर्श से आने वाला रक्त २-१ दिन में बन्द हो जाता है। मूल्य १५ दिन की तीनों दवाओं का ३.००

वातारोगहर सैट—इसमें वातारोगहर तैल रस एवं अवलेह-ये तीनों औषधियाँ हैं। इन तीनों औषधियों के व्यवहार से जोड़ों का दर्द, सूजन, अङ्ग विशेष की पीड़ा, पक्षाघात आदि समस्त वात-व्याधियों में लाभ होता है। १५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियों का मूल्य १०.०० रु०

शारीरिक चित्र

ये चित्र अनेक रङ्गों में आफसैट प्रेस से बहुत ही आकर्षक तैयार कराये गये हैं। इन चित्रों का साइज एक समान २० इंच चौड़ाई तथा ३० इंच लम्बाई है। ऊपर नीचे लकड़ी लगी है, कपड़े पर मढ़े हैं तथा चिकित्सालय में टांगने पर उसकी शोभा बढ़ाने वाले हैं। सभी विवरण हिन्दी में लिखा गया है—

नं० १—अस्थि पञ्जर—इस चित्र में सिर से लेकर पैर तक की सभी अस्थियों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से दर्शाया गया है। हाथ, अंगुली, रीढ़, छाती की सभी अस्थियां स्पष्ट समझ सकते हैं। मू० ५.००

नं० २—रक्त परिभ्रमण—इस चित्र में शुद्ध-अशुद्ध रक्त की धमनी एवं शिरायें अपने प्राकृतिक रङ्गों में दर्शाई हैं। भ्रूण में रक्तभ्रमण का पृथक् चित्रण किया गया है। एक हाथ और एक पैर में शिरायें दर्शाई गई हैं। मूल्य ५.००

नं० ३—वात नाड़ी संस्थान—इस चित्र में सम्पूर्ण वातनाड़ी मंडल (Nervous System) का सुन्दर व स्पष्ट चित्रण किया गया है। ऊर्ध्वग-वात नाड़ी तथा सुपुम्ना और मस्तिष्क सम्बन्ध का चित्रण पृथक् किया गया है। चित्र अपने ढङ्ग का निराला है। मूल्य ५.००

नं० ४—नेत्र रचना एवं विकृति—इसमें पृथक्-पृथक् ६ चित्र हैं। १—दक्षिण चक्षु-इसमें चक्षु के बाह्य अवयव दर्शाये गये हैं। २—पटलों और कोष्ठों को दिखाने के लिये चक्षु का क्षितिज काट ३—चक्षु से सम्बन्धित नाड़ी ४—नेत्र चालनी पेशियां ५—दृष्टिभेद (दर्शन-सामर्थ्य) ६—साधारण स्वस्थ नेत्र एवं दृष्टि विकृति। इन चित्रों से नेत्र विषयक सम्पूर्ण विवरण स्पष्ट समझ में आएगा। मूल्य ५.००

चारों चित्र एक साथ मंगाने पर मूल्य केवल १६.००

नोट—सादा बिना कपड़ा-लकड़ी लगे चित्र शीशा में मढ़ने के लिये १ चित्र ४.००, चारों मंगाने पर १२.००

वैद्यों के लिये आवश्यक

रोगी रजिस्टर—हर वैद्य के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने रोगियों का विवरण नियमित रूप से लिखे यह चिकित्सक की अपनी सुविधा तथा कानूनी दृष्टि दोनों प्रकार से आवश्यक है। २०० पृष्ठों के ग्लेज कागज के सजिल्द 'रोगी रजिस्टर' हमने तैयार किए हैं जिनमें आवश्यक कालम दिये हैं। मू० ३.५०

रोगी प्रमाणपत्र पुस्तिका—रोगियों को अवकाश प्राप्ति के लिये प्रमाणपत्र देने के फार्म ग्लेज कागज पर दो रङ्गों में तैयार किये हैं। प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मू० १.०० मात्र। अंग्रेजी अथवा हिन्दी में बढ़िया कागज पर बड़े साइज में दो रङ्गों में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

स्वस्थ प्रमाणपत्र पुस्तिका—सरकारी कर्मचारी बीमार होने के कारण अवकाश लेते हैं। स्वस्थ होने पर कार्य पर पहुँचने पर उन्हें वे स्वस्थ हैं। इस विषय का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना होता है। वैद्य इस पुस्तिका को मंगाकर स्वस्थ-प्रमाणपत्र आसानी से दे सकेंगे। ५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मू० १.००, अंग्रेजी अथवा हिन्दी में बढ़िया कागज पर बड़े साइज में छपे ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका का मूल्य १.२५

रोगी व्यवस्थापत्र—रोगी के लक्षण, तारीख, औषधि आदि इन फार्मों पर लिखकर रोगी को दे दीजिये। वे रोगी रोजाना या जब औषधि लेने आयेंगे आपका यह फार्म दिखा देंगे। इससे उनका पहिला पूरा हाल आपके सामने आ जायगा। साइज २०×३०=३२ पेजी। मूल्य ०.३७ प्रति सैकड़ा।

आघात प्रमाणपत्र—चोट लग जाने पर चिकित्सक को प्रमाणपत्र देना होता है। इस फार्म पर आप यह प्रमाणपत्र सुगमता से दे सकेंगे। फुलस्केप साइज के २४ प्रमाणपत्रों की पुस्तिका मूल्य १.००

तापमान चार्ट-टेम्परेचर चार्ट—इससे रोगियों का तापमान अंकित करने में बड़ी सुविधा रहती है। इस चार्ट पर दिन में समय का तापमान १२ दिन तक अंकित किया जा सकेगा। अन्य निदान विषयक आंकड़े भी लिखे जा सकते हैं। मूल्य २५ चार्ट का १.०० मात्र।

पता—धन्वन्तरि कार्यालय, विज (अलीगढ़)

धन्वन्तरि

के

पुराने उपयोगी विशेषांक

वनौषधि विशेषांक [प्रथम भाग]—इस विशेषांक का सफल सम्पादन श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य ने किया है। इस विशेषांक में 'अ से औ' वर्ण तक की सभी वनस्पतियों का विशद विवेचन किया गया है। अनेक वनस्पतियों के चित्र दिये गये हैं। पृष्ठ संख्या ५६०, मूल्य ८.५०

कायचिकित्सांक—आचार्य श्री पं० रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी के सफल सम्पादकत्व में प्रकाशित यह अनमोल विशेषांक है। ५४४ पृष्ठों में १२५ चित्रों सहित विभिन्न रोगों की सफल चिकित्सा विधि, उसके विषय में आयुर्वेद के सिद्धांत एवं चिकित्सा सूत्र बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। राज-संस्करण की थोड़ी प्रति शेष हैं। मूल्य ८.५०।

माधव निदानांक—इसमें सम्पूर्ण माधव निदान सरल हिन्दी टीका सहित प्रकाशित हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में तत्-सम्बन्धित एलोपैथिक समन्वयात्मक विवेचन दिया है। अनेक विशेष वक्तव्य एवं चित्र दिये हैं। पृष्ठ संख्या ६६४, चित्र १४५। मूल्य केवल ८.५०।

पुरुष रोगांक (द्वितीय संस्करण)—इस विशेषांक में पुरुषों के लिये विशेष रोगों पर अनुभवपूर्ण लेख, सफल चिकित्सा एवं प्रयोगादि वर्णित हैं। नपुंसकता, प्रमेह, मधुमेह, स्वप्नदोष, अण्डवृद्धि आदि रोगों पर विस्तृत विवेचन प्रकाशित किया है। मूल्य ६.००।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय संस्करण) प्रथम भाग—इसमें अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त २१६ चिकित्सकों के ५०० सफल एवं सरल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह प्रकाशित किया गया है। प्रयोगों को रोगों की किस अवस्था में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पूज्यपाद आचार्य यादव जी त्रिक्रम जी, स्वामी जयरामदास जी, श्री पं० मस्तराम जी, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं० गोवर्धन शर्मा छागाणी, पं० रघुवरदयाल जी भट्ट आदि

अनुभवी विद्वानों के उत्तमोत्तम प्रयोगारत्न इसमें प्रकाशित हैं। हरेक छोटे बड़े रोग पर २-४ सफल प्रयोग इसमें प्राप्त कर सकेंगे। मूल्य ६.००।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—मूल्य २.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)—समाप्त

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (चतुर्थ भाग)—इसमें २५१

अनुभवी वैद्यराजों के १३०८ उत्तमोत्तम, सरल, पूर्ण परीक्षित प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह है। प्रयोगों की अन्य पुस्तकों तथा इन विशेषांकों में एक मौलिक अन्तर है। जहां पुस्तकें एक लेखक द्वारा ही इधर उधर के प्रयोगों को संग्रह कर तैयार की जाती हैं वहां इसमें भारत के प्रसिद्ध एवं सफल २५१ चिकित्सकों के हृदय में छिपे हुए प्रयोगारत्न बड़े आग्रह से प्राप्त कर प्रकाशित किये गये हैं। मूल्य ८.५०।

मैषज्य कल्पनांक—१७२ परिभाषायें, १८ मूषायें, १० पुट, ३६ यन्त्र, २०० कषाय, ११० चूर्ण, २८ गुग्गुल, १२ पाक्वाबलेह, ३४ पानक, ११६ आसवारिष्ट, ७६ घृत, ३४ तैल के योगों की निर्माण विधि गुण आदि वर्णित हैं। इस विशेषांक में १३ प्रकरण, ४३ लेखों का शृंखलाबद्ध एवं वैज्ञानिकरूपेण समावेश किया गया है। ६८ चित्रों द्वारा विषय को सुबोध बनाया गया है। यह विशेषांक दैद्य, निर्माण-शालाओं के व्यवस्थापकों के लिये अवश्य संग्रणीय है। मूल्य ४.००।

मैषज्य कल्पनांक परिशिष्टांक—इसमें धातुशोधन, मारण, भस्मीकरण, परीक्षा आदि भलीभांति समझाई गई हैं। मूल्य १.०० मात्र।

संक्रामक रोगांक—चिकित्सकों को संक्रामक रोगों से बचने के उपाय, रोगी की सफल चिकित्सा विधि, शास्त्रीय विवेचन सभी कुछ है। मूल्य ४.००

संक्रामक रोगांक परिशिष्टांक—मूल्य १.००

कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक—इस विशेषांक में अनुभवी व्यक्तियों द्वारा कल्प तथा पंचकर्म विधियों

का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। श्री पंडित कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य का ६० पृष्ठ का 'पंचकर्म' शीर्षक लेख अत्यधिक उपयोगी एवं मननीय है। २२० पृष्ठों में विविध कल्पों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य ४.०० मात्र।

यकृत स्त्रीहा रोगांक—मूल्य २.००

चिकित्सा समन्वयांक (प्रथम भाग)—पृष्ठ संख्या ३६४ अनेकों रंगीन एवं सादे चित्र मूल्य ४.००।

चिकित्सा समन्वयांक [द्वितीय भाग]—२.००

प्रसूति विज्ञानांक—प्रसूति तन्त्र पर यह सर्वाङ्ग-पूर्ण साहित्य है। सम्पादक श्री पंडित रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ए० एम० एस० हैं। इसमें ४०५ पृष्ठ तथा १२५ चित्र हैं। प्रसूति एवं प्रसूता को होने वाली

सम्पूर्ण व्याधियों के विषय में क्रमबद्ध सुन्दर सुविस्तृत विवरण दिया है। मूल्य ८.५०।

नारी रोगांक—५०० से अधिक पृष्ठों, २६१ चित्र तथा ११७ (विद्वान लेखकों के लेख युक्त यह विशेषांक सम्पूर्ण नारी रोगों का क्रमबद्ध विवेचन, सफल चिकित्सा विधि एवं अनुभूत प्रयोगों का उपयोगी भंडार है। मूल्य ८.५०।

भगन्दर अंक	१.००
माता अंक	१.००
मधुमेह अंक	१.००
श्वास अंक	१.००
श्वास अंक (थीसिस)	१.५०
ग्रहणी रोगांक	१.००
सूखा अंक	१.००

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा प्रकाशित

✽ आयुर्वेदिक पुस्तकें ✽

वृ० पाक संग्रह—लेखक श्री पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य। श्री त्रिवेदी जी की संकलन योग्यता से जो पाठक परिचित हैं वे इस पुस्तक की उपयोगिता भली प्रकार समझ सकते हैं। इस पुस्तक में ४०० से अधिक पाकों का संग्रह प्रकाशित है। हर पाक की निर्माण विधि मात्रा, सेवन विधि, गुण आदि दिये हैं। प्रयोग कहां से प्राप्त किया यह भी सप्रमाण दिया है। रोगी रोग मुक्ति के पश्चात् रोगजन्य निर्बलता निवारणार्थ कोई ऐसी वस्तु पाने का अभिलाषी होता है जो औषधि होते हुए भी रुचिकर हो तथा निर्बलता एवं रोग निवारण कर सके। ऐसे समय में चिकित्सकों को उस रोग में उपयोगी पाक-निर्माण कर उसे देना चाहिए। प्रायः सभी रोगों पर २-४ प्रयोग इस पुस्तक में आपको मिलेंगे। गृहस्थ स्वयं पाक निर्माण कर स्वादिष्ट भोजन के साथ रोग निवारण कर सकते हैं। पुस्तक हर प्रकार से उपयोगी है। मूल्य सजिल्द का ३.५०

सूर्यरश्मि-चिकित्सा (नवीन संस्करण)—सूर्यरश्मि-चिकित्सा को अंग्रेजी में क्रोमोपैथी (Chromopathy) कहते हैं। अंग्रेज इस चिकित्सा के आविष्कर्ता अमेरिका के डाक्टरों को मानते हैं। पर

वास्तव में यह चिकित्सा अति प्राचीन और हमारे शास्त्रों में यहां तक कि वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसको पढ़कर पाठक देखेंगे कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें हमारे शरीर को कितनी लाभदायक हैं और इसके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं। पुस्तक अपने विषय की पहिली ही है। अनेक रंगीन चित्र हैं। मूल्य ०.७५

उपदंश विज्ञान [द्वितीय संस्करण]—लेखक—श्री कविराज पं० बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में उपदंश (गरमी-चांदी) रोग के वैज्ञानिक कारण, निदान लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया है। पुस्तक के कुछ शीर्षक ये हैं—उपदंश परिचय, प्राच्य पाश्चात्य का साम्यवाद, संक्रमण निदान, सिफलिस के भेद, उपदंश प्राथमिक कील, लिंगार्श, औपसर्गिक सकल रोग, उपदंशज विकृतियां, मस्तिष्क विकार, फिरंग चिकित्सा में पारद प्रयोग, पथ्यापथ्य आदि उपदंश सम्बन्धी सभी विषय इसमें वर्णित हैं। कोई भी आवश्यक विषय छूटने नहीं पाया है। मूल्य १.००

प्रयोग पुष्पावली—संक्षिप्त रूपेण अनेकों सामान्य एवं आश्चर्यजनक वस्तुओं निर्माण करने की विधियां इस पुस्तक में प्रकाशित हैं। आरम्भ में प्रकाशित सफल प्रयोग संग्रह के १-१ प्रयोग से पाठक इस पुस्तक का मूल्य बसूल समझें। ये प्रयोग बहुत समय से परीक्षित हैं और सफल प्रमाणित हो चुके हैं। अनेक उद्योग धंधों का संकेत इसमें मिलेगा जिससे पाठक बहुत लाभ उठा सकते हैं। समष्टि रूप में पुस्तक बेकार मनुष्यों को व्यवसाय की ओर मुकाने वाली है। गृहस्थियों के लिये नवीन और उपयोगी बातों का भंडार है जिससे वे अपने दैनिक कार्यों में पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पहिले दो संस्करण शीघ्र समाप्त हो जाना इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ११२ मूल्य [१.२५]

रसायन संहिता [भाषा टीका सहित]—आयुर्वेद साहित्य के अनमोल रत्न अपनी अलौकिक प्रतिमा के साथ साथ अन्धकार से ढके हुए हैं। अमूल्य पुस्तकें यत्रतत्र पड़ी हुई हैं जिनके प्रकाशन की आवश्यकता है। यह पुस्तक भी एक ऐसा ही रत्न है। अनुभवी और विचारशील लेखक महोदय ने हिमालय पर्यटन के परिश्रम से इसकी खोज की है। उन्होंने के प्रशंसनीय प्रयत्न से वैद्य समुदाय की सेवा में उपस्थित कर सके हैं। इसके अनेक अव्यर्थ प्रयोग, सत्व प्रस्तुत विधि, उपधातु का शोधन मारण प्रभृति अनेक विषय दिये गए हैं। मूल्य १.००

कुचिमार तन्त्र [भाषा टीका]—श्रीमद् कुचिमार मुनि प्रणीत पुस्तक पुरानी और अत्यन्त गोपनीय है। इसमें इन्द्रिय वृद्धि, स्थूलीकरण, कामोद्दीपन लेप, बाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन, संकोचन व केशपात, गर्भाधान, सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भलीभांति बताये गये हैं। इस नवीन संस्करण में प्रमेह, नपुंसकता, मधुमेह आदि रोगों पर स्वानुभूत प्रयोगों का एक छोटा सा संग्रह भी दिया है। ०.५०

दशमूल [सचित्र]—लेखक—लाला रूपलाल जी वैश्य बूढ़ी विशेषज्ञ। दशमूल किसे कहते हैं? किन किन औषधियों से बना है? इन औषधियों की आकृति कैसी है? यह विरले ही जानते हैं। इस पुस्तक में दशमूल की दशां औषधियों का सचित्र वर्णन है। साथ ही उनके पर्याय नाम गुण और प्रयोग भी बतलाये गये हैं तथा दशमूल पंचमूल से

बनने वाले अनेक योगों की विधियां भी दी गई हैं। चित्र इतने स्पष्ट हैं कि देखते ही भट पहिचान सकते हैं। मू० ०.५०

दन्त-विज्ञान [द्वितीय संस्करण]—यह भिषग् रत्न स्वर्गीय श्री गोपीनाथ जी गुप्त की सारपूर्ण रचना है। इसमें दांतों की रचना, आंतरिक दशा, रक्षा के उपाय, अनेक दन्तरोगों के भेद, वर्णन और सरल चमत्कारिक उपचार दिये गए हैं। चार चित्र युक्त। मू० ०.३०

न्यूमोनियां प्रकाश द्वितीय संस्करण]—आयुर्वेद मनीषी स्वर्गीय पंडित देवकरण जी बाजपेयी की यह बड़ी उत्तम रचना है जिस पर धन्वन्तरि पदक मिला था और जो निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन से सम्मान और पदक प्राप्त कर चुकी है। न्यूमोनियां की शास्त्रीय व्युत्पत्ति, कारण निदान, परिणाम, चिकित्सा आदि सभी बातें एक ही पुस्तक में भलीभांति वर्णित हैं। मू० ०.३०

प्राकृतिक ज्वर—लेखक—स्वर्गीय लाला राधा-बल्लभ जी वैद्यराज। मलेरिया (फसली बुखार) का पूर्ण विवेचन है। आयुर्वेदीय अत से मलेरिया कैसा होता है। उसके दूर करने के आयुर्वेदीय प्रयोग, क्विनाइन से हानियां आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। पुस्तक स्वानुभव के आधार पर लिखी होने के कारण महत्वपूर्ण है। मू० ०.२५

वैद्यराज जी की जीवनी—स्वर्गीय लाला राधा-बल्लभ जी की जीवनी बड़ी ओजस्वनी भाषा में लिखी है। इसके पढ़ने से आलसी पुरुष भी उद्योगी और परिश्रमी बनने की इच्छा करता है। मू० ०.१६

वेदों में नैद्यक ज्ञान—लेखक—स्वर्गीय लाला राधा-बल्लभ जी वैद्यराज। वेद के मन्त्र जिनमें आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन है तथा जिनसे आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है, शब्दार्थ सहित दिये हैं। मू० ०.१६

कूपीपक्व रसायन—लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग, प्र० सम्पादक धन्वन्तरि। धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाले कूपीपक्व रसायनों के गुण, मात्रा, अनुपान, सेवन विधि आदि विस्तृत रूप से वर्णित हैं। मू० प्रचारार्थ केवल ०.०६

चन्द्रोदय मकरध्वज [तृतीय संस्करण]—लेखक—स्व० लाला राधाबल्लभ जी वैद्यराज। इस पुस्तक

में पारद शुद्धि, गन्धक शुद्धि, पारद के संस्कार, मकरध्वज बनाने की विधि, भ्राष्टी बनाने की विधि, मकरध्वज के गुण तथा भिन्न भिन्न रोगों में अनुभव सभी बातें स्वानुभव के आधार पर वर्णित हैं। मूल्य ०.२५

भस्म पर्पटी—लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्र० सम्पादक धन्वन्तरि-इसमें धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाली सम्पूर्ण भस्मों और पर्पटियों का विस्तृत रूप से वर्णन है। रोग के लक्षणानुसार औषधियों को किस प्रकार सफलता के साथ व्यवहार किया जा सकता है यह आप इस पुस्तक से जान सकेंगे। मूल्य ६ न० पै०

रस रसायन गुटिका-गूगल—धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक एवं अनुभवी चिकित्सक वैद्य देवीशरण जी गर्ग ने इस पुस्तक में धन्वन्तरि कार्यालय में निर्मित रस-रसायन गुटिका गूगल के गुण, मात्रा,

अनुपान, व्यवहार विधि बड़े ही उपयोगी ढङ्ग से लिखी हैं। चिकित्सकों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी बन गई है। क्योंकि लेखक ने अपने २० वर्ष के चिकित्सानुभव को निचोड़ इसमें रख दिया है। मूल्य २५ न० पै० मात्र।

रक्त (Blood)—इसमें धन्वन्तरि कार्यालय के संस्थापक श्री वैद्यराज राधाबल्लभ जी ने रक्त की बनावट, उपयोगिता एवं रक्त सम्बन्धित सभी मोटी मोटी बातें आयुर्वेद एवं एलोपैथी उभय-पद्धतियों से सरल हिन्दी भाषा में समझाकर लिखी हैं। नवीन संस्करण मू० २५ न० पै०

इन्फ्लुएन्जा (फ्लू)—लेखक—श्री पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य। इसमें इन्फ्लुएन्जा रोग का विस्तृत विवेचन तथा सफल चिकित्सा विधि वर्णित है। फ्लू और इसके सभी उपद्रवों की आयुर्वेदीय चिकित्सा है। मूल्य ५० न० पै०

अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें

आयुर्वेदीय ग्रन्थ रत्न

अष्टांगहृदय (सम्पूर्ण)—विद्योतनी भाषा टीका, वक्तव्य, परिशिष्ट एवं विस्तृत भूमिका सहित टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त मूल्य १६.००, कृष्णलाल भारतीय २०.००, पं० शिव शर्मा १५.००

अष्टांग-संग्रह (सूत्रस्थान)—हिन्दी टीका, व्याख्याकार गोबर्धन शर्मा छांगाणी। मू० ८.००

काश्यप संहिता—टीकाकार श्री सत्यपाल भिषगाचार्य, विद्योतनी भाषा टीका विस्तृत संस्कृत हिन्दी उपोद्घात सहित। ग्रन्थ का मुख्य विषय 'कौमारभृत्य' अष्टाङ्गायुर्वेद का अपरिहार्य अङ्ग है। यह विषय पूर्ण विस्तृत और प्रमाणिक रूप से इस पुस्तक में वर्णित है। मू० १६.००

कौमारभृत्य (नव्य बालरोग सहित)—बाल रोगों पर प्राच्य एवं पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के आधार पर श्री पं० रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी A. M. S. द्वारा लिखित विशाल ग्रन्थ। मूल्य ६.००

गंगयति निदान—लेखक जैन यति गंगाराम जी अनुवादकर्ता आयुर्वेदाचार्य श्री नरेन्द्रनाथ जी शास्त्री। मूल्य ६.००

चरक संहिता (जामनगर प्रकाशित)—हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती अनुवाद के साथ ६ भाग—मू. ७५.००

चरक संहिता (सम्पूर्ण)—श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सरल सुविस्तृत भाषा टीका युक्त, दो जिल्दों में, (षष्ठ संस्करण) मूल्य ३०.००

चरक संहिता (सम्पूर्ण)—तीन भागों में टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त। मूल्य २४.००

चक्रदत्त—भावार्थ संदीपनी विस्तृत भाषा टीका तथा विषद टिप्पणी सहित। परिशिष्ट में पंचलक्षणी निदान, डाक्टरों मूत्र परीक्षा, पथ्यापथ्य सहित। मूल्य १०.००

द्रव्य गुण विज्ञान—(पूर्वार्ध)—छात्रोपयोगी संस्करण। लेखक आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य। द्रव्य, गुण, रस वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म का विज्ञानात्मक विवेचन। मूल्य ४.५०, प्रियव्रत शर्मा लिखित प्रथम भाग ५.५०, द्वितीय तृतीय भाग १२.५०

भावप्रकाश (सम्पूर्ण)—भाषा टीका सहित। दो

जिल्दों में शारीरिक भाग पर प्राच्य पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक वर्णन, निघण्टु भाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरण में प्रत्येक रोग पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों का (समन्वयात्मक) विशेष टिप्पणी से सुशोभित है। मूल्य २६.००, श्री लालचन्द्र कृत २०.००, कान्तिनारायण मिश्र २०.००

भावप्रकाश निघण्टु—भाषा टीका एवं वृहद परिशिष्ट सहित। लेखक—पं० गंगासहाय मू० ६.००, हरीतक्यादि वर्ग लेखक विश्वनाथ द्विवेदी ७.००

माधवनिदान (भाषा टीका युक्त)—पूर्वाद्ध-मधुकोष-संस्कृत टीका विद्योतनी भाषा टीका तथा वैज्ञानिक विमर्श टिप्पणीयुक्त यह माधव निदान बड़ा उपयोगी बन गया है। दो भाग मूल्य १३.००

माधव निदान—मूलपाठ, मूलपाठ की सरल हिन्दी व्याख्या, मधुकोष संस्कृत व्याख्या और उसका सरल अनुवाद। वक्तव्य एवं टिप्पणीयुक्त यह ग्रन्थ विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। पं० पूर्णानन्द शास्त्रीकृत टीका पृष्ठ १०१८, दो भागों में मूल्य १२.०० आयुर्वेदाचार्य सुदर्शन शास्त्री कृत टीका १४.००

माधव निदान—सर्वाङ्ग सुन्दरी भाषा टीका ४.५०

माधव निदान—टीकाकार ब्रह्मशंकर शास्त्री, मधुकोष, संस्कृत व्याख्या तथा मनोरमा हिन्दी टीका सहित। पृष्ठ संख्या ४१२ मू० ६.००

रसायनसार—श्री पं० श्यामसुन्दराचार्य के बीसियों वर्षों के परिश्रम से प्राप्त प्रत्यक्षानुभव के आधार पर लिखित अपूर्व रसग्रन्थ मू० ८.००

रसेन्द्रसार संग्रह—वैज्ञानिक रस चन्द्रिका भाषा टीका परिशिष्ट में नवीन रोगों पर रसों का प्रभाव, मानपरिभाषा, मूषा तथा पुट प्रकरण, अनुपान विधि तथा औषधि बनाने के नियमादि। मूल्य ६.००

रसेन्द्रसार संग्रह (तीन भागों में)—आयुर्वेद वृहस्पति पं० घनानन्द जी पन्त द्वारा संस्कृत टीका और हिन्दी भाषा सहित वैद्यों, विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ११५०। मूल्य ११.००

रसरत्न समुच्चय—नवीन सुरत्नोज्ज्वला विस्तृत भाषा टीका एवं परिशिष्ट सहित मू० १०.००

रसतरंगिणी—चतुर्थ संस्करण—भाषाटीका सहित। रस निर्माण धातु उपधातुओं का शोधन मारणयुक्त यह अनुपम ग्रन्थ है। मू० १०.००

रसरत्न महोदधि (पांच भाग)—वस्तुतः यह आयुर्वेदीय रसों का सागर ही है। प्राचीन ग्रन्थ है तथा सरल भाषा में लिखा, उपयोगी रस ग्रन्थ है। नवीन सजिल्द संस्करण। मू० १०.००

योगरत्नाकर—कायचिकित्सा विषयक उपलब्ध ग्रन्थों में यह सर्वोत्कृष्ट रचना है। चिकित्सक के लिए ज्ञातव्य सभी आवश्यक विषयों को संग्रह किया गया है। माधवोक्त क्रम से सभी रोगों का निदान व चिकित्सा का वर्णन है। मू० १८.००

सौश्रुती—लेखक रमानाथ द्विवेदी। अष्टांग आयुर्वेद के शल्यतन्त्र पर लिखित प्राच्यपाश्चात्य समन्वय से युक्त। मू० ८.५०

शाङ्गधर संहिता—वैज्ञानिक विमर्शोपेत सुबोधिनी हिन्दी टीका, लक्ष्मी नामक टिप्पणी, पथ्या-पथ्य एवं विविध परिशिष्ट सहित मू० ६.००

सुश्रुत संहिता (सम्पूर्ण)—सरल हिन्दी टीका सहित टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यार्थियों के लिये पठनीय है। पक्के कपड़े की जिल्द मूल्य १५.००, कवि० अम्बिकादत्त कृत सम्पूर्ण २४.००

सुश्रुत संहिता—सूत्र स्थान—टीकाकार श्रीयुत वाणेशकर। अब तक की सभी टीकाओं में उत्कृष्ट टीका मू० ६.००, शारीर स्थान मू० ८.००, डा. जे. डी. शर्मा (शारीर स्थान) ५.००

हारीत संहिता—ऋषि प्रणीत प्राचीन संहिता। भाषा टीका सहित, टीकाकार शिवसहाय जी सूद। पृष्ठ ५१२ मूल्य ८.००

हरिहर संहिता—वैद्यराज हरिनाथ सांख्याचार्य नवीन औषधियों का भी समावेश है। सरल भाषा टीका सहित मूल्य ८.००

वैद्य सहचर—लेखक पं० विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य। चतुर्थ संस्करण। इसे वैद्यों का सहचर ही समझें। इसमें लेखक ने अपने जीवन का संपूर्ण चिकित्सानुभव रख दिया है। मूल्य ३.००

चिकित्सा रत्न—रामरतन गंगोले—एक चिकित्सक के लिये सब प्रकार की संचित उपयोगी सामग्री से युक्त सजिल्द मूल्य ५.७५.

चिकित्सा तत्त्व प्रदीप—एक चिकित्सक के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ प्रथम भाग ६.००, द्वितीय भाग ८.००

वनौषधि चन्द्रोदय (१० भाग) — प्रत्येक बनस्पति के पर्याय, परिचय, गुण कर्मादि विवेचनयुक्त श्री चन्द्रराज भंडारी कृत। मू० ४०.०० एक भाग ५.००

बृहदासवारिष्ठ ग्रह — कविराज श्री देवसिंह जी विट्ठल। इस पुस्तक में अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों से आसवारिष्ठों का संग्रह किया गया है। उनके गुणधर्म लिखे गये हैं। सजिल्द मूल्य ३.५०

चिकित्सा चन्द्रोदय (सात भाग)

हिन्दी संसार में अपूर्व और पहला ग्रन्थ बिना गुरु के वैद्यक सिखाने वाला, जो संस्कृत जरा भी नहीं जानते वे भी इस ग्रन्थ को बिना गुरु के पढ़ कर वैद्य बन सकते हैं। जिन्हें शक हो वे केवल चौथा भाग मंगाकर दिल का बहम मिटालें।

चिकित्सा चन्द्रोदय	१ ला भाग	४.५०
" "	२ रा भाग	७.५०
" "	३ रा भाग	५.५०

चिकित्सा चन्द्रोदय	४ था भाग	८.००
" "	५ वां भाग	८.००
" "	६ ठा भाग	५.००
" "	७ वां भाग	१३.००
		५१.५०

नोट—एक साथ ७ भाग खरीदने वाले को किताब रेल पार्सल से मंगानी चाहिए। एक पूरा सैट लेने वालों को ४७.०० रु० देने पड़ते हैं।

स्वास्थ्य रक्षा—ग्रहस्थों के घर की यह रामायण है। हर घर में इसका रहना जरूरी है। इसका नाम ही स्वास्थ्य रक्षा उर्फ तन्दुरुस्ती का बीमा है। तन्दुरुस्ती नहीं तो दुनियां में रहा क्या? मू० ५.००

अभिनव शवच्छेद विज्ञान—ले० हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ-नवीन मतानुसार शवच्छेदन (*Dissection*) विषयक विशाल ग्रन्थ है। विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए अनेक चित्र साथ दिये गए हैं। मूल्य १५.००

एलोपैथिक पुस्तकें हिन्दी में

अभिनव विकृति विज्ञान—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी A. M. S.—विकृति विज्ञान (*pathology*) विषय का हिन्दी भाषा में विशाल ग्रन्थ। अनेक चित्र साथ में दिये गए हैं। प्रत्येक रोग का विकास किस प्रकार होता है एवं उस समय शरीर के किस अंग में क्या क्या रवर्तन होते हैं स्पष्ट रूप से समझाया गया है। अन्त में हिन्दी एवं इंग्लिश शब्दों की विशाल सूची दी गई है। विद्यार्थियों के लिए उपादेय है। मूल्य २२.००

एलोपैथिक पेटेन्ट चिकित्सा—लेखक डा० अयोध्यानाथ पांडेय। अकारादि क्रमानुसार प्रत्येक रोग पर प्रयोग की जाने वाली पेटेन्ट औषधियां दी हैं। तथा प्रत्येक पेटेन्ट औषधि किस किस रोग पर प्रयुक्त हो सकती है यह भी दिया है। मूल्य २.००

अभिनव नेत्र चिकित्सा विज्ञान—लेखक पं० विश्वनाथ द्विवेदी शास्त्री B. A., आयुर्वेदाचार्य। प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों का समन्वय करते हुए नेत्र चिकित्सा पर हिन्दी में विशाल ग्रन्थ। मूल्य १०.००

शल्य प्रदीपिका—लेखक डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा। शल्य (सर्जरी) विषयक हिन्दी में लिखी

हुई है। प्रत्येक प्रकार के शल्य कर्म को विस्तार से लिखा है। अनेक चित्र दिये हैं। मूल्य १२.५०

बाल रोग चिकित्सा—लेखक डा० रमानाथ द्विवेदी एम० ए०, ए० एम० एस०। प्राच्य एवं पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान का विस्तार से समन्वय करते हुये विशद वर्णन युक्त मूल्य ५.०० रु०

अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान—लेखक प्रियव्रत शर्मा—यह पुस्तक हिन्दी में अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। मूल्य ७.५०

धन्त्री विज्ञान—डा० शिवदयाल गुप्त A. M. S. प्रारम्भ में नारी जननेन्द्रिय रचना एवं क्रिया शारीर, गर्भिणी परिचर्या, नवजात शिशु परिचर्या एवं बाल्यकालीन रोगों का संक्षेप में वर्णन किया है। अनेक सम्बन्धित चित्र दिये हैं। मूल्य २.५०

गर्भस्थ शिशु की कहानी—लेखक डा० लक्ष्मी-शङ्कर गुरु। प्रसूति विषयक हिन्दी में उत्तम एवं संचित पुस्तक। सम्बन्धित चित्र हैं। मूल्य २.००

जन्म निरोध—लेखक ए० ए० खां M. Sc.। पुस्तक में जन्म निरोध के लिये अनेक प्रकार की भौतिक, रासायनिक, यान्त्रिक एवं शस्त्र कर्मीय

विधियां दी गई हैं। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। वाली सुप्रसिद्ध पुस्तक, छठा संस्करण मूल्य १२.००

मूल्य ६.००

सामान्य शल्य विज्ञान (सचित्र)—लेखक डा० शिवदयाल गुप्ता A. M. S.। शल्य (सर्जरी) विषयक हिन्दी भाषा में विशाल ग्रन्थ। प्रत्येक विषय को आवश्यकीय चित्रों द्वारा समझाया गया है। पुस्तक अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं चिकित्सकों के लिये अत्यन्त उपादेय है। मूल्य १२.००

आदर्श एलोपैथी मेटेरिया मैडिका—एलोपैथी विज्ञान के अनुसार प्रत्येक औषधि प्रकृति, गुण-धर्म, उपयोग, मात्रा, रोग निदान के अनुसार इसमें वर्णित है। मूल्य ११.००

हिन्दी माडर्न मैडिकल ट्रीटमेंट—(आधुनिक चिकित्सा) लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री एम. एल. गुजराल M. B., M. R. C. P. (लन्दन) द्वारा लिखित एलोपैथी चिकित्सा के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य २०.००

पेटेन्ट प्रेस्क्राइबर या पेटेन्ट चिकित्सा—प्रत्येक रोग पर व्यवहार होने वाली एलोपैथिक पेटेन्ट औषधियों का तथा इन्जेक्शनों का विवरण सुन्दर ढंग से दिया है। मूल्य ७.००

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान—(दो भाग) श्री डा. आशानन्द पंचरत्न M. B. B. S. आयुर्वेदाचार्य। यह चिकित्सा विज्ञान की सुन्दर रचना है। इसमें १६ अध्यायों में रोगों का वर्णन तथा उनकी सफल एलोपैथी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा बड़ी खूबी के साथ दी है। इसकी वर्णन शैली तुलनात्मक दृष्टि से ही महत्व की नहीं वरन् सफल चिकित्सा दृष्टि से भी यह ग्रन्थ चिकित्सकों को उपादेय है। कपड़े की सुन्दर जिल्द—मूल्य प्रत्येक भाग का १०.००

आयुर्वेद एण्ड एलोपैथिक गाइड—लेखक आयुर्वेदाचार्य पं. रामकुमार द्विवेदी। हिन्दी में प्राच्य पाश्चात्य विज्ञान का विस्तृत ज्ञान देने वाली बेजोड़ पुस्तक है। मूल्य १०.००

वर्मा एलोपैथिक निघण्टु—डा० वर्मा जी की द्वितीय कृति। इसमें २००० से अधिक पेटेन्ट तथा साधारण औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त सैकड़ों नुस्खे तथा अन्य उपयोगी बातें दी हैं। मूल्य १२.००

एलोपैथिक गाइड—लेखक डा. रामनाथ वर्मा एलोपैथी की ज्ञातव्य बातें सरल हिन्दी में बताने

एलोपैथिक योगरत्नाकर—श्री वर्मा जी की उप-योगी पुस्तक। इसमें एलोपैथिक मिक्चर तथा प्रयोगों का विशाल संग्रह है पृष्ठ ७४१ मूल्य १३.००

एलोपैथिक चिकित्सा (तृतीय संस्करण)—लेखक डा० सुरेशप्रसाद शर्मा। इसमें प्रायः सभी रोगों का वर्णन; लक्षण निदान आदि संक्षेप में वर्णन करके उन रोगों की चिकित्सा विस्तृत रूप से दी है। योग आधुनिकतम अनुसन्धानों को सथकर और अनुभव सिद्ध लिखे गए हैं। ८२५ पृष्ठों के विशालकाय सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य १२.००

एलोपैथिक पाकेट गाइड—एलोपैथिक चिकित्सा का सूक्ष्म रूप यह पाकेट गाइड है। इसे आप जेब में रखकर चिकित्सार्थ जा सकते हैं जो आपका हर समय साथी का काम देती है। मूल्य ३.००

एलोपैथिक पेटेन्ट मेडिशन—लेखक डा० अयोध्यानाथ पांडेय। कौन पेटेन्ट औषधि किस कम्पनी की तथा किन २ द्रव्यों से निर्मित हुई है किस रोग में प्रयुक्त होती है, लिखा गया है। दूसरे अध्याय में रोगानुसार औषधियों का चुनाव किया है। मू० ४-२५

एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका—(पाश्चात्य द्रव्य गुण विज्ञान) लेखक-कविराज रामसुशीलसिंह शास्त्री A.M.S.। यह पुस्तक अपने विषय की सर्व-श्रेष्ठ पुस्तक है। लेखक ने विषय को आयुर्वेद चिकित्सकों तथा विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। मूल्य सजिल्द का प्रथम भाग १०.००, द्वितीय भाग ३०.००

एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका—लेखक-डाक्टर शिवदयाल जी गुप्ता ए० एम० एस०। इस पुस्तक में अब तक की सम्पूर्ण औषधियां जो एलोपैथी में समाविष्ट हो चुकी हैं, सभी दी हैं। सफल सुबोध भाषा, वैज्ञानिक क्रम से विषय का स्पष्टीकरण, औषधियों के सम्बन्ध में आधुनिकतम सूचना, भिन्न भिन्न औषधियों से सम्बन्धित तथा चिकित्सा में प्रयुक्त योगों का निर्देश पुस्तक की विशेषता है। हिन्दी में सबसे महान और विशाल अद्वितीय पुस्तक जिसमें १३०० पृष्ठ हैं का मूल्य १२.००

एलोपैथिक सफल औषधियां—एलोपैथी की नवीनतम अत्यन्त प्रसिद्ध खास खास औषधियों का

गुण धर्म विवेचन जो आजकल बाजार में बरदान सिद्ध हो रही हैं। सभी सल्फाम्प्रुप आदि औषधियों के वर्णन सहित। मूल्य ४.००

नेत्र रोग विज्ञान—कृष्णगोपाल धर्मार्थ औष. द्वारा प्रकाशित अपने विषय की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। सैकड़ों चित्रों सहित मूल्य १५.००

सचित्र नेत्र विज्ञान—लेखक डा. शिवदयाल गुप्त, पृष्ठ संख्या ५६४, चित्र संख्या १३। मूल्य ८.००

मल मत्र रक्तादि परीक्षा—लेखक डा. शिवदयाल गुप्त, अपने विषय की सर्वाङ्गपूर्ण सचित्र और वैद्यां के बड़े काम की पुस्तक है। मूल्य ३.००

मिश्रचर (छुटा संस्करण)—प्रथम २६ पृष्ठों में मिक्चर बनाने के नियम, औषधियों की तोल नाप व्यवस्थापत्रों में लिखे जाने वाले संकेतों की व्याख्या आदि ज्ञातव्य बातें दी हैं। बाद में उपयोगी इन्जेक्शनों का भी संकेत किया है। अन्त में देशी दवाओं के अंगरेजी नाम दिये हैं। २१७ पृष्ठ की यह पुस्तक चिकित्सकों के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य २.५०

एनीमा और कैथीटर	०.३७
एनीमा टीचर	०.२५
कम्पाउण्डरी शिक्षा	२.५०
कपिङ्ग ग्लास मैन्युअल	०.१६
मलेरिया (एलोपैथिक)	२.२५
कैथीटर गाइड	०.२५
तापमान (थर्मामीटर)	०.२५
थर्मामीटर मास्टर	०.२५
स्टेथिस्कोप तथा नाड़ी परीक्षा	०.७५
स्टेथिस्कोप शिक्षक	१.००
स्टेथिस्कोप	१.००
एलोपैथिक मिक्चर	२.००
एलोपैथिक सार संग्रह	७.००
एनाटोमी (शरीर ज्ञान संग्रह)	५.००
मलेरिया कालाजार	१.७५
मैडीसन (चिकित्सा ज्ञान संग्रह)	५.००

इन्जेक्शन विषयक पुस्तकें

इन्जेक्शन—लेखक—डा० सुरेशप्रसाद शर्मा—अपने विषय की हिन्दी में सचित्र सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। थोड़े समय में ही ६ संस्करण हो जाना ही इसकी उत्कृष्टता का प्रमाण है। इसके आरम्भ में

सिरिज के प्रकार, इन्जेक्शन लगाने के प्रकार तथा उनके लगाने की विधि, रंगीन एवं सादे चित्रों सहित पूरी तरह समझाई गई है। बाद में प्रत्येक इन्जेक्शन का वर्णन, उसकी मात्रा, उसके गुण, प्रयोग करने में क्या सावधानी बतानी चाहिये आदि सभी बातें विस्तार से लिखी गई हैं। अन्त में अकारादि क्रम से समस्त इन्जेक्शनों की सूची तथा पृष्ठ संख्या दी गई है। चिकित्सकों के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। सजिल्द मूल्य १०.००

सचित्र इन्जेक्शन—डा० शिवनाथ खन्ना—प्रस्तुत पुस्तक इन्जेक्शन अर्थात् सूचीवेधन नामक विषय पर विस्तारपूर्वक, सरल, जनप्रचलित भाषा में समझाकर लिखी गई है। चार खण्ड हैं जिसमें प्रथम खण्ड में इन्जेक्शन की विधियां तथा इन्जेक्शन के भेद, द्वितीय खण्ड में विभिन्न इन्जेक्शनों के गुण कर्मादि, तृतीय खण्ड में प्रधान रोगों में लक्षण तथा उनमें दिये जाने वाले इन्जेक्शन और चतुर्थ खण्ड में अन्य आवश्यक जानकारी दी है। पुस्तक अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। मूल्य १०.००

इन्जेक्शन तत्व प्रदीप—लेखक डा० गणपति सिंह वर्मा। सभी इन्जेक्शनों का वर्णन है तथा उनके भेद और लगाने की विधि सरलतया दी है। मूल्य ५.००

सूचीवेध विज्ञान—लेखक डा० रमेश चन्द्र वर्मा डी० आई० एम० एस०। यह पुस्तक भी एलोपैथी इन्जेक्शनों की उपयोगी विस्तृत सामग्री से पूर्ण है। पैनसिलीन, विटामिन आदि का भी विस्तृत वर्णन है। पक्के कपड़े की जिल्द मूल्य ७.५०

सूचीवेध विज्ञान—लेखक श्री राजकुमार द्विवेदी। इस छोटी पुस्तिका में आपको बहुत कुछ सामग्री मिलेगी। गागर में सागर भर दिया है। मूल्य १.५०

होमियो इन्जेक्शन चिकित्सा—आरम्भ में इन्जेक्शनों के भेद तथा उनके लगाने की विधि आदि का सचित्र वर्णन किया है। तत्पश्चात् होमियोपैथिक औषधियों के गुणादि का वर्णन किया है। मूल्य १.७५

आयुर्वेदिक इन्जेक्शन चिकित्सा—ले० डा० श्यामसुन्दर शर्मा। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में इन्जेक्शन लगाने की विधि आदि का सामान्य वर्णन किया है। द्वितीय खण्ड में औषधियों का वर्णन किया गया है। मूल्य २.५०

इन्जेक्शन गाइड—लेखिका सुनीति शर्मा प्रस्तुत पुस्तक में इस विशद विषय को संक्षेप में समझाया गया है। आरम्भ में इन्जेक्शन विषयक साधारण जानकारी देने के पश्चात् हरेक रोग पर किन इन्जेक्शनों का व्यवहार किया जाता है यह भली-प्रकार दिया गया है। सजिल्द मूल्य ५.००

यूनानी पुस्तकें

जर्मी प्रकाश [चारों भाग]—इसमें घाव और ब्रण से सम्बन्धित जर्मी के लिये उर्दू, संस्कृत व डाक्टरों आदि अनेकों ग्रन्थों का सार भाग संग्रह किया गया है। पृष्ठ संख्या २२८ मूल्य ३.५०

यूनानी चिकित्सा सार—इसमें यूनानी मत से सब रोगों का निदान व चिकित्सादि दी गई है। वैद्यराज दलजीतसिंह जी ने यह ग्रन्थ वैद्यों के लिये हिन्दी भाषा में लिखा है जिसमें यूनानी चिकित्सा पद्धति का सभी कुछ दे दिया गया है। यह ग्रन्थ अनेक अरबी फारसी ग्रन्थों का साररूप है छपाई सुन्दर है। मूल्य ४.५०

यूनानी चिकित्सा विधि—इसके लेखक श्री मंसाराम जी शुक्ल हकीम वाइस प्रिन्सीपल यूनानी तिबिया कालेज दिल्ली हैं। इसमें देहली के प्रसिद्ध यूनानी खानदानों हकीमों के अनुभूत प्रयोगों का निचोड़ है जिसके कारण यूनानी हकीमों की चिकित्सा देहली में खूब चमकी और आज तक नाम है। कपड़े की जिल्द मूल्य ५.००

यूनानी चिकित्सा सागर—श्री मंसाराम जी शुक्ल द्वारा लिखा हुआ हिन्दी भाषा में यूनानी का विशाल ग्रन्थ है जो 'रसतन्त्रसार' के ढङ्ग पर लिखा गया है। इसमें पुराने व आधुनिक सभी हकीमों के १००० अनुभूत प्रयोग हैं, औषधियों के नाम हिन्दी में अनुवाद करके दिये गए हैं। जिनके नाम नहीं मिले हैं ऐसी २५० औषधियों का वर्णन परिशिष्ट में दिया है। ५१६ पृष्ठ पक्की सुन्दर कपड़े की जिल्द मूल्य १०.००

यूनानी चिकित्सा विज्ञान—यूनानी चिकित्सा विज्ञान का हिन्दी में अनुपम ग्रन्थ। इस पुस्तक के दो भाग किये गए हैं। प्रस्तुत भाग में यूनानी चिकित्सा और निदान के मूलभूत सिद्धान्तों का

आयुर्वेदिक सफल सूचीवेध (इन्जेक्शन)—ले० वैद्य प्रकाशचन्द्र जैन। इस पुस्तक में आयुर्वेदिक द्रव्यों एवं जड़ी बूटियों के इन्जेक्शनों का विस्तृत वर्णन किया है। स्वानुभव के आधार पर लिखी अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ५.००

विशद विवेचन है। इसमें रोग के लक्षण निदान भेद तथा परीक्षा की सामान्य विधियां हैं। ६६६ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का मूल्य ८.५०

यूनानी सिद्धयोग संग्रह—यह यूनानी सिद्ध योगों का संग्रह है। सभी योग सफल परीक्षित और सहज में बनने वाले हैं, हरेक वैद्य के काम की चीज है। इसके संग्रहकार हैं वैद्यराज दलजीतसिंह जी आयुर्वेद बृहस्पति। मूल्य २.५०

यूनानी वैद्यक के आधारभूत सिद्धान्त—(कुल्लियात) श्री बाबू दलजीतसिंह जी व उनके भाई रामश्रीलसिंह जी ने इस छोटे से ग्रन्थ में इस बात को दिखाने का प्रयत्न किया है कि आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में कितना सादृश्य तथा कितना असादृश्य है। इसका निर्माण दोनों का समन्वय हो सकता है इस आधार पर किया है। मूल्य १.२५

मखजनडल मुफरदात—(निघण्टु विज्ञान)—ले० पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा। मूल्य २.००

कराबादीन सिफाई—यूनानी प्रयोग संग्रह—लेखक पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा मूल्य २.००

कराबादीन कादरी—लेखक जगन्नाथप्रसाद हैड मुदर्रिस—चार भाग मूल्य ८.००

यूनानी द्रव्य गुण विज्ञान—हकीम ठा० दलजीतसिंह-पूर्वार्ध में द्रव्य गुण कर्म आदि का विवेचन किया है। उत्तरार्ध में ५३० यूनानी द्रव्यों के पर्याय उत्पत्ति स्थान, वर्णन, रासायनिक संगठन प्रकृति और गुण के पूर्ण विवेचन दिया है। मूल्य २२.००

यूनानी शब्द कोष—यूनानी दवाओं के हिन्दी पर्याय इसमें मिलेंगे। इससे दवा लेने में बड़ी सहायता मिलेगी। मूल्य ०.३०

सरल सिद्ध प्रयोगों की पुस्तकें

अनुभूत योग प्रकाश—डा० गणपति सिंह वर्मा द्वारा १५ वर्ष के परिश्रम से प्राप्त अनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। प्रायः सभी रोगों पर आपको सफल प्रयोग इस पुस्तक में मिलेंगे पृष्ठ ४४५। मू० ६.२५

अनुभूति—इसमें आयुर्वेदिक सफल प्रयोग तथा लेखक के स्वानुभवपूर्ण १८६ प्रयोगों का अति उप-योगी संग्रह है। मूल्य २.००

गुप्तयोग रत्नावली—डा० नरेन्द्रसिंह नेगी द्वारा लिखित—इसमें भिन्न भिन्न रोगों पर अनुभूत योगों का वर्णन है। मूल्य २.५०

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (प्रथम भाग)—द्वितीय संस्करण—यह वह विशेषांक है जिसके प्रकाशन से धन्वन्तरि की ग्राहक संख्या उसी वर्ष दूनी हो गई थी। इसमें २१६ वैद्यों के ५०० अनुभवी प्रयोग हैं। इसमें हर छोटे बड़े रोगों पर २-४ प्रयोग आपको अवश्य मिलेंगे। मूल्य ६.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—यह धन्वन्तरि का छोटा विशेषांक है। २५० प्रयोगों का उत्तम संग्रह है। मूल्य २.००

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)—द्वितीय भाग के समान ही इसमें भी उत्तमोत्तम योगों का संग्रह किया गया है। समाप्त

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (चतुर्थ भाग)—सन् ५८ का धन्वन्तरि का विशेषांक है। १३२८ प्रयोगों का संग्रह है। उत्तम ग्लेज कागज पर जिल्द बंधा हुआ। ८.५०

पैसे पैसे के छुटकले—सस्ते तथा सफल प्रयोगों का संग्रह। मू० ३.००

राजकीय औषधि योग संग्रह—उत्तर प्रदेश के सरकारी आयुर्वेदिक औषधालयों में व्यवहार आने वाली ४०० से ऊपर औषधियों के प्रयोग, निर्माण विधि, गुण, सेवन विधि आदि श्री रघुबीरप्रसाद जी त्रिवेदी द्वारा लिखित उपयोगी ग्रन्थ। पुस्तक विद्यार्थियों तथा विद्वानों सभी के लिए पठनीय है। मू० ८.००

सिद्ध मृत्युञ्जय योग—इस पुस्तक में ५३ सफल प्रयोगों का वर्णन है। प्रयोग, मात्रा, सेवन विधि, गुण आदि देकर यह स्पष्ट लिख दिया है कि प्रयोग

किस प्रकार प्राप्त हुआ तथा कहां सफलता के साथ व्यवहृत हुआ है। मू० १.००

औषध स्वावलम्बन—कवि. विद्यानारायण शास्त्री तुलसी, पान आर्द्रक आदि सुगमता से प्राप्य औषधियों का प्रारम्भ में संक्षिप्त वर्णन देते हुए बाद में यह समझाया गया है कि वह औषधि किन किन रोगों पर किस प्रकार कार्य कर सकती है। मू० २.००

सिद्ध प्रयोग (दो भाग)—पं. विरवेश्वर दयाल वैद्यराज। इस पुस्तक में अनेक सिद्ध योगों का रोगानुसार वर्गीकरण करते हुए संग्रह किया है। मू० प्रथम भाग १.००, द्वितीय भाग ०.५०

वैद्य जीवनम्—श्री लोलम्बराज कृत संस्कृत में प्रयोगों का संग्रह है। सरल हिन्दी टीका की गई है। टीकाकार पं. किशोरीदत्तशास्त्री मू० ०.७५, पं. कालीचरण पांडेय एम.ए. कृत १.२५, केशवदास जी १.००

वैद्य बाबा का बस्ता—जैसा कि नाम से ही प्रगट है, श्री बंशरीलालजी साहनी द्वारा रोगानुसार वर्गीकरण करते हुए लगभग ६५० प्रयोगों का संग्रह है। पुस्तक का आकार डायरी के समान है। इससे पुस्तक की उपादेयता और बढ़ गई है। सजिल्द १.२५

नित्योपयोगी चूर्ण संग्रह—नित्य उपयोग में आने वाले १३१ चूर्णों का संग्रह विभिन्न ग्रन्थों से किया गया है। उसके बनाने की विधि, मात्रा, अनुपान एवं गुणों का वर्णन किया है मू० १.२५

नित्योपयोगी काथ संग्रह—क्वाथ चिकित्सा आयुर्वेद की प्राचीन, अल्प व्यय साध्य एवं आशुफलप्रद चिकित्सा है। इस पुस्तक में १६६ काथों का संग्रह प्रकाशित किया गया है। मू० १.२५

नित्योपयोगी गुटिका संग्रह—३२३ बूटियों (गुटिकाओं) का उपयोगी संग्रह। मू० २.००

अनुभूत योग चिन्तामणि—डा. गणपतिसिंह वर्मा राजवैद्य। वर्गानुसार रोगों का वर्णन कर तत्पश्चात् उपयोगी नुस्खे दिये गये हैं जो कि सस्ते सुलभ एवं आशुफलप्रद हैं अल्प काल में पांच संस्करण हो जाना ही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। मू० प्रथम भाग ४.२५ द्वितीय भाग ४.००

सिद्ध भैषज्य संग्रह—चूर्ण, वटी, तैल, अबलेह आदि वर्गानुसार अनेक सिद्ध औषधियों का विवेचन किया गया है। अन्त में ज्वर अतिसार आदि रोगों पर प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों की सूची विस्तृत रूप से दी है। सजिल्द मू. ८.००

देहाती अनुभूत योग संग्रह—(दो भाग)—अनुवादक अमोलकचन्द्र शुक्ल—देहाती वस्तुओं से उत्तमोत्तम प्रयोगों को बनाने की विधियां वर्णन की गई हैं। दोनों भागों को मिलाकर लगभग ६५० प्रयोग दिये हैं। सजिल्द मूल्य प्रथम भाग ६.००, द्वितीय भाग ७.००

डाक्टरी नुस्खे—डा. राधाबल्लभ पाठक—अनेक अचूक डाक्टरी नुसखों का संग्रह इस छोटी सी पुस्तक में किया गया है। सजिल्द मू. ५.००

अनुभूत योग चर्चा—लेखक बंसरीलाल साहणी—प्रथम भाग में २०८ प्रयोगों तथा द्वितीय भाग में ४३३ प्रयोगों का संग्रह है। इस पुस्तक में अति सरल प्रयोगों का कष्टसाध्य रोगों पर सफल प्रयोग वर्णित है। पुस्तक हर चिकित्सक के लिए अवश्य

पठनीय बड़े काम की बन गई है। सभी को अवश्य मंगाना चाहिए। मू. प्रथम भाग २.५०, द्वितीय भाग ३.५०

अनुभूत योग—दो भाग में लगभग १५० प्रयोगों की निर्माणविधि, मात्रा, अनुपान एवं उनके गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। मू० प्रत्येक भाग का १.००

सिद्ध योग संग्रह—आयुर्वेद मार्तण्ड श्री यादव त्रिकम जी आचार्य के द्वारा अनुभूत सफल प्रयोगों का संग्रह हर चिकित्सक के लिए उपयोगी पुस्तक है। इसके सभी प्रयोग पूर्ण परीक्षित और सद्यः लाभदायक हैं। मूल्य २.७५

रसतंत्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह—संशोधित अष्टम संस्करण। इस ग्रंथ में रसरसायन, गुटिका, आसव, अरिष्ट, पाक, अबलेह, लेप-सेक, मलहम अर्जनादि सभी प्रकार की आयुर्वेदिक औषधियों के सहस्रशः अनुभूत एवं शास्त्रीय प्रयोग तथा विस्तृत गुणधर्म विवेचन है। प्रथम भाग ६.०० सजिल्द ११.००, द्वितीय भाग ६.०० सजिल्द ७.५०

होमियो-बायोकेमिक पुस्तकें

आर्गेनन—यह होमियोपैथी की मूल पुस्तक है जिसमें इस पैथी के मूल प्रवर्तक महात्मा सैमुएल हैनिमैन के २६१ सूत्र हैं। इस पुस्तक में इन्हीं पर डा० सुरेशप्रसाद शर्मा ने व्याख्या की है। व्याख्या इतनी सुन्दर और सरल है कि हिन्दी जानने वाले इन सूत्रों का मन्तव्य भलीभांति समझ सकते हैं। बिना इस पुस्तक के होम्योपैथी को जानना दुराशा मात्र है। ३८८ पृष्ठ सजिल्द मूल्य ४.००

इन्जेक्शन चिकित्सा होमियो—लेखक डा. सुरेशप्रसाद शर्मा। इसमें होम्योपैथी इन्जेक्शनों का वर्णन है। साथ ही होम्योपैथी औषधियों से इन्जेक्शन बनाना आदि भलीभांति बताया है। १.७५

ज्वर चिकित्सा—नाम से ही विदित है। इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेशीय सरकार से लेखक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसमें सभी प्रकार के ज्वरों की एलोपैथिक आयुर्वेदिक एवं यूनानी मत से चिकित्सा वर्णित है। मूल्य २.००

पशु चिकित्सा होमियो—यह आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दोनों से सम्बन्धित पशु चिकित्सा पर

बहुत उपयोगी साहित्य है। सभी पशुओं के रोगों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है मूल्य ३.१३

प्रिंस मेटेरिया मैडिका [कम्परेटिव]—डा. सुरेशप्रसाद शर्मा—प्रिंस होम्योपैथिक कालेज के प्रिंसिपल द्वारा प्रणीत यह होम्योपैथिक मेटेरिया मैडिका है। औरों से इसमें बहुत कुछ विशेषता है। थेराप्युटिक ही नहीं इसमें फार्माकोपिया भी सम्मिलित की गई है। प्रत्येक प्रमुख औषधियों के मूल द्रव्य, प्रस्तुत विधि, वृद्धि, उपशय, प्रमुख एवं साधारण लक्षणों आदि सभी विषयों का वर्णन किया गया है। चिकित्सकों तथा प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिये यह बहुत ही उपादेय है। साधारण हिन्दी ज्ञाता भी इसको समझ सकते हैं। १३७२ पृष्ठों वाले इस विशाल ग्रंथ का मूल्य केवल ६.००

भैषज्यसार—होम्योपैथी का पाकेट गुटिका इसमें सभी रोगों में दवाओं के प्रयोग व मात्राएँ दी गई हैं। मूल्य २.००

भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेन्ट मैडीशन—डा० सुरेशप्रसाद ने इस पुस्तक में उन औषधियों

को लिया है जो भारतीय औषधियों से तैयार होती हैं। साथ ही बाद में कुछ होम्योपैथिक पेटेन्ट औषधियों को वह किसी रोग में दी जाती है दिया है। मूल्य १.५०

रिलेशन शिप—इस छोटी सी पुस्तक में डा० श्याम सुन्दर शर्मा ने औषधियों का पारस्परिक-सम्बन्ध दर्शाया है। नित्य व्यवहारिक औषधियों का सहायक अनुसरणीय प्रतिषेधक तथा विपरीत औषधियों का संग्रह किया गया है। मूल्य २.००

सरल होमियो चिकित्सा—इसमें सभी स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य नियमों को बताया है तथा उनसे विपरीत होने वाले सभी रोगों की होम्योपैथी चिकित्सा दी गई है। रोग वर्णन तथा चिकित्सा दोनों ही अत्यन्त सरल और समझाकर लिखे गये हैं। ४.५०

रोग निदान चिकित्सा—इस छोटी पुस्तक में १०० पृष्ठों में रोगी की परीक्षा विधि तथा ५० पृष्ठों में होम्योपैथी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा है। मू. २.००

स्त्री रोग चिकित्सा—डा० सुरेशप्रसाद शर्मा लिखित। स्त्री-जननेन्द्रिय के समस्त रोग, गर्भाधान, प्रसव के रोग तथा स्त्रियों को होने वाले अन्य सभी रोगों का निदान व चिकित्सा दी है। मूल्य ४.५०

लेडी डाक्टर—गर्भाधान व प्रसव सम्बन्धी ज्ञान तथा उससे सम्बन्धी होमियोपैथिक चिकित्सा वर्णित है। मूल्य १.२५

होमियोपैथिक मेटेरिया मैडिका—जिन्हें मोटे मोटे ग्रन्थ पढ़ने का समय नहीं है उनके लिये यह मेटेरिया मैडिका बहुत उपयुक्त है। सभी आवश्यक विषयों का वर्णन है। गागर में सागर वाली कहावत चरितार्थ है। सजिल्द ४०० पृष्ठ मू० ३.७५

होमियो मेटेरिया मैडिका—डा. श्योसहाय भार्गव द्वारा रचित। लेखक ने वर्णन करने में व्यर्थ के शब्दों को बढ़ाया नहीं है। सभी आवश्यक विषय हैं कोई छूटने नहीं पाया है। किसी मेटेरिया मैडिका से कम महत्व की नहीं है। ५६१ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक मूल्य ५.००

होमियो चिकित्सा विज्ञान (Practice of medicines)—ले० डा० श्यामसुन्दर शर्मा। होमियोपैथी पर लिखी गई चिकित्सा पुस्तकों में यह पुस्तक सर्वोपरि है। प्रत्येक रोग का खंड-खंड रूप

में परिचय, कारण, शारीरिक विकृति, उपद्रव, परिणाम और आनुषङ्गिक चिकित्सा के साथ आरोग्य चिकित्सा का वर्णन है। डाक्टर तथा साधारण प्रहस्थों सभी को उपयोगी है। सजिल्द मूल्य ३.५०

कालरा या हैजा—इस भयङ्कर महाव्याधि पर सुन्दर सामग्री प्रस्तुत है। प्रत्येक अवस्था पर औषधियों का सुन्दर विवेचन है। मूल्य २.००

बायोकैमिक चिकित्सा—बायोकैमिक चिकित्सा सिद्धान्त के सम्बन्ध में आवश्यक बातें तथा बारहों औषधियों के वृहद् मुख्य लक्षण और किन किन रोगों में उनका व्यवहार होता है सरल ढङ्ग से समझाया गया है। पृष्ठ ४३६ मूल्य ४.००

बायोकैमिक रहस्य—(नवम संस्करण) बायोकैमिक क्या है इस विषय पर पुस्तक सभी आवश्यक अङ्गों की जानकारी देती है तथा बारहों दवाओं का भिन्न भिन्न रोगों पर सफल वर्णन किया गया है। सजिल्द मूल्य ३.००, कैलाशभूषण लिखित १.५०

बायोकैमिक मिक्चर—बारहों चारों का विभिन्न रोगों में मिक्चर रूप व्यवहार करना यह पुस्तक बताती है। मूल्य ०.७५

होमियो पारिवारिक चिकित्सा—लेखक डा. सुरेश प्रसाद शर्मा। प्रत्येक रोग के लक्षण एवं उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा विस्तृत रूप से दी है। आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन भी साथ में दिया गया है। पृष्ठ लगभग १६०० मूल्य ६.००

धाव की चिकित्सा श्यामसुन्दर शर्मा १.००

निमोनियां चिकित्सा डा० बी० एन० टंडन ०.७५

डा० सुरेशप्रसाद ०.७५

होमियो थाइसिस चिकित्सा ०.७५

होमियोपैथिक नुस्खे डा० श्यामसुन्दर १.२५

होमियो टाइफायड चिकित्सा

डा० सुरेशप्रसाद ०.७५

होमियो पाकेट गाइड १.००

ग्रह चिकित्सा २.२५

डा० बी० एन० टण्डन १.५०

भैषज्य रहस्य ४.००

सरल होमियो पारिवारिक चिकित्सा

डा० श्योसहाय भार्गव ५.००

होमियो फार्मेकोपिया डा० बी० एन० टण्डन २.०५

प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तकें

रोगों की सरल चिकित्सा—(तीसरा परिवर्धित संस्करण)—लेखक श्री विट्ठलदास मोदी । १०,००० से अधिक रोगियों पर किये गए अनुभव के आधार पर लिखी गई हिन्दी की यह प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी श्रेष्ठ पुस्तक है अब तक इसकी पन्द्रह हजार प्रतियां बिक चुकी हैं । पृष्ठ संख्या ३५०, बढ़िया पक्की जिल्द मूल्य ४.००

बच्चों का स्वास्थ्य और उनके रोग—बच्चों के पालन पोषण की विधि के साथ साथ उसके रोगी होने पर उन्हें रोगमुक्त करने की विधि इस पुस्तक में विस्तार से दी गई है । मूल्य केवल ३.००

रोगों की नई चिकित्सा—लेखक लूईकूने । यद्यपि प्राकृतिक चिकित्सा का बहुत पहले आविर्भाव हो चुका था पर हिन्दुस्थान में प्राकृतिक चिकित्सा कूने की पुस्तक 'न्यू साइंस आफ हीलिंग' के साथ ही आई । कूने की इस पुस्तक का ही 'रोगी की नई चिकित्सा' भावात्मक अनुवाद है । पृष्ठ २६०, बढ़िया छपाई, दुरङ्गा कवर मूल्य २.००

प्राकृतिक जीवन की ओर—मिट्टी, पानी, धूप, हवा और भोजन की सहायता से नये पुराने सब रोगों को दूर करने तथा स्वास्थ्य बढ़िया बनाने की विधि सिखाने वाली जर्मन पुस्तिका का अनुवाद मू. २.५०

जीने की कला—यह पुस्तक आपका मानसिक बल बढ़ावेगी, चिन्ताओं से मुक्त करेगी तथा आपके सामने वे सारे रहस्य खोलकर रख देगी जिसके कारण मनुष्य बनता है । मूल्य १.२५

स्वास्थ्य कैसे पाया ?—इस पुस्तक में स्वास्थ्य को उन्नत बनाने और लोगों को रोगों से मुक्ति पाने की आत्मकथायें पढ़कर स्वस्थ रहने का सही तरीका जानें । मूल्य १.५०

उपवास के लाभ—उपवास की महिमा, उपवास करने की विधि और रोगों के निवारण में उपवास का स्थान बताने वाली पुस्तक मूल्य १.५०

उठो !—इस पुस्तक को पढ़ें और दुःख, परेशानी और मुसीबतों से छुटकारा पाकर जीवन को सरल बनायें । मूल्य १.००

आदर्श आहार—भोजन से स्वास्थ्य का क्या

सम्बन्ध है और भोजन द्वारा रोग का निवारण कैसे किया जा सकता है बताने वाला एक ज्ञानकोष मूल्य १.००

सर्दी-जुकाम-खांसी—इन रोगों के कारण, उनको दूर करने की सरल घरेलू विधि और उनसे बचने का रास्ता बताने वाली एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक । मूल्य ०.७५

योगासन—लेखक आत्मानन्द । योगासन हिन्दु-स्तान के ऋषियों द्वारा संस्कृत प्राचीनतम प्रणाली है । योगासन की विधियां और योगासन इस सचित्र 'योगासन' द्वारा सीखिये और योगासनों द्वारा रोग निवारण की कला की जानकारी प्राप्त कीजिये । मूल्य केवल २.००

दुग्ध कल्प—दूध शरीर को निर्मल तो करता ही है रग-रग, नस-नस को धोकर शरीर को पुष्ट बना देता है और रोग इसके कल्प से चले जाते हैं । इसकी विधि इस पुस्तक में पढ़ें । मूल्य १.००

दूध चिकित्सा—दूध में क्या गुण हैं । इससे इलाज किस प्रकार किया जाता है । दूध से बनी विभिन्न वस्तुओं का हमारे स्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है आदि वर्णन इस पुस्तक में पढ़िये । ४.००

स्वास्थ्य के लिए शाक तरकारियां [चतुर्थ संस्करण]—शाक तरकारियां जो हम रोजाना खाते हैं इनका मनुष्य के स्वास्थ्य और सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है, कौन कौन सी शाक तरकारियां कब और कैसे खानी चाहिये आदि सभी बातें इस छोटी सी पुस्तक में दी हैं । मूल्य २.००

स्वास्थ्य और जल चिकित्सा [छठा संस्करण]—लेखक केदारनाथ गुप्त एम० ए० । इस में जल चिकित्सा के सारे सिद्धान्तों का बड़ी सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया है । पानी के द्वारा समस्त रोगों की चिकित्सा कैसे करनी चाहिये । यह इस पुस्तक में पढ़िये । मूल्य २.००

दैनन्दिनी रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा—लेखक कुलरंजन मुखर्जी । इस पुस्तक में ज्वर, प्रतिश्याय, अतिसार, प्रवाहिका, फोड़ा, फुन्सी, घाव, सिर दर्द, हैजा, चेचक आदि रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा दी गई है । मूल्य ४.०० मात्र ।

पुराने रोगों की गृह चिकित्सा—लेखक डा० कुल-
रंजन मुखर्जी। इस पुस्तक में अजीर्ण, संग्रहणी,
श्वास, यक्ष्मा, कैसर, मधुमेह, दाद, उन्माद, रक्त-
चाप, अशमरी, नपुंसकता, अण्डवृद्धि आदि सभी
जीर्ण रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा दी गई है। १.००

प्राकृतिक शिशु चिकित्सा—लेखक डा० सुरेशप्रसाद
शर्मा। शिशुओं के विभिन्न रोग किस कारण से
होते हैं। तथा इसका नाम मात्र व्यय में किस प्रकार
उपचार किया जाय। बच्चों को निरोग रखने के
उपाय एवं विविध प्रकार के स्नान इस पुस्तक में
दिये हैं। मूल्य २.००

देहाती प्राकृतिक चिकित्सा—इस पुस्तक में नेत्र,
कर्ण, नासिका, दन्तरोग, मुख तथा कण्ठरोग, श्वास
कास, अजीर्ण, विशूलिका, प्रवाहिका, अतिसार,
संग्रहणी, वृक्कशूल, मूत्रावरोध, दाद, श्वित्र, नपुंस-
कता आदि रोगों में उपयोगी प्रयोग दिये गए हैं।
मू० सजिल्द ५.००

आरोग्य साधन—महात्मा गांधी द्वारा गुजराती
भाषा में लिखित पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है।
आरोग्य का सच्चा अर्थ बताने वाली ऐसी दूसरी
पुस्तक शायद ही मिले। इसमें अटकलपच्चू बातें
नहीं हैं बल्कि महात्मा जी के बीसों वर्ष के अनुभव
संचित हैं। मू० केवल ०.८१

आकृति निदान—आकृति निदान का मूल रूप
जर्मनी भाषा की एक पुस्तक है जिसका कि अनु-
वाद किया गया है। अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ
पुस्तक है। अन्त में ५२ फोटो चित्रों द्वारा विभिन्न
आकृतियों का ज्ञान कराया गया है। बादीपन का
इलाज बहुत विस्तृत रूप से दिया गया है। सजिल्द
मू० २.५०

जल चिकित्सा—श्री राखालचन्द्र चट्टोपाध्याय
बी० एल०। अनुवादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा।
इस पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में मिट्टी,
जल, उत्ताप (आग या धूप), वायु, आकाश की
सहायता से मामूली बुखार से लेकर दुस्साध्य क्षय

कास, कैसर, न्यूमोनियां, डिप्थीरिया, टाइफाइड
इत्यादि बीमारियों की आश्चर्यप्रद फल देने वाली
दवा और बिना चीड़फाइ के ही स्वाभाविक चिकित्सा
दी है। दूसरे भाग में सब तरह के घावों का बिना
नस्तर या दवा के इलाज दिया गया है। तृतीय
भाग में सब तरह के स्त्री रोगों का इलाज दिया
गया है। मू० प्रथम भाग २.२५, द्वितीय भाग
१.७५, तृतीय भाग १.५०

स्वास्थ्य साधन श्री रामदास गौड़-सजिल्द ४.००
दमा-श्वास का इलाज डा. युगलकिशोर चौधरी ०.५०
नवीन चिकित्सा पद्धति " " १.२५
सूर्योदय " " १.००
व्यायाम वा कल्प " " २.००
चिकित्सा सागर " " ०.७५
मैं नीरोग हूँ या रोगी " " ०.६२
क्षपड़ा तथा तंदुरुस्ती " " ०.५६
घरेलू कुदरती इलाज केदारनाथ गुप्त १.००

जल चिकित्सा (पानी का इलाज)

डा. युगलकिशोर चौधरी १.००

दमा श्वास खांसी " " ०.३७
दुग्धकल्प व दुग्ध चिकित्सा " " १.२५
नेत्र रक्षा व नेत्ररोगों की
प्राकृतिक चिकित्सा " " ०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा पथप्रदर्शक " " ०.३७
" " प्रश्नोत्तरी " " ०.५०
" " सागर " " ०.७५
प्राकृतिक चिकित्सा पं० चन्द्रशेखर १.००

बच्चों का पालन और चिकित्सा

युगलकिशोर चौधरी ०.७५

मलेरिया सोतीफरा न्यूमोनियां " " ०.७५
भिन्न भिन्न रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा " " ०.५०
स्नान चिकित्सा " " ०.५०
स्त्री रोग चिकित्सा " " ०.७५
सूर्य रश्मि चिकित्सा वैद्य बांकेलाल गुप्त ०.७५

मिलने का पता—

धन्वन्तरि कार्यालय [पुस्तक विभाग] विजयगढ़ (अलीगढ़)

शैवज्य सार संग्रह—लेखक कविराज 'हरस्वरूप शर्मा'—इसमें सभी प्रचलित आयुर्वेदिक औषधियों की निर्माण विधि, मात्रा, अनुपान, गुण एवं विशेष विवेचन दिया गया है। उत्तम ग्लेज कागज पर सुन्दर सजिल्द पन्ने पृष्ठ की पुस्तक चिकित्सकों, औषधि निर्माताओं के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य १५.००

बृ० रसराज सुन्दर—श्रीदत्तराम चौबे द्वारा संकलित अत्युपयोगी रसग्रन्थ भाषाटीका सहित। सजिल्द मूल्य १२.००

शाङ्गधर संहिता—भाषाटीका सहित। टीकाकार पं० केशवदेव शास्त्री साहित्याचार्य। सजिल्द ८.००

निदान चिकित्सा हस्तामलक—लेखक वैद्य रणजिराय देसाई, विद्वान चिकित्सकों के लिये पठनीय उत्तम पुस्तक। सजिल्द लगभग ७०० पृष्ठ ५.५०

व्याधि मूल विज्ञान (पूर्वार्ध) ले. स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य। पुस्तक अपने ढङ्ग की उत्तम है तथा

पठनीय है। १२.००

हरिहरि संहिता—वैद्यराज हरिहरिनाथ सांख्याचार्य द्वारा रचित एवं पं० ओम्प्रकाश सारस्वत आयुर्वेदाचार्य B. A. द्वारा भाषाटीका। सभी रोगों के लक्षण चिकित्सादि इसमें वर्णित हैं। ८.००

औषधि निर्माण विवेचन—कालेड़ा-बोगला से प्रकाशित अपने विषय की उत्तम पुस्तक पृष्ठ ३०६ मूल्य ३.०० मात्र

जीवित्की विमर्श या विटामिन तत्व—ले० पद्मदेव नारायण सिंह M. B. B. S.—विटामिन विषयक अत्युपयोगी सचित्र पुस्तक ५.००

सचित्र वनस्पति गुणादर्श—प्रथम भाग—लेखक वैद्य हिरामण मोतीराम जंगले। इसमें अश्वगंधा, सारिवा शिवालिंगी, दन्ती, भृंगराज, पुनर्नवा, बाकुची, धत्तूर, विष, वत्सनाभ, दारुहरिद्रा, ऊंटकटारा, गिलाय, १३ वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन, रंगीन सुन्दर चित्र दिये हैं। मूल्य २.००

आयुर्वेद का सर्वोत्तम मासिक पत्र

धन्वन्तरि हिन्दी में प्रकाशित सर्वोत्तम मासिक पत्र है इसे सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इसके प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाले विशेषांक अपने विषय के सर्वोत्तम एवं सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं। सभी वैद्यों को इसका ग्राहक अवश्य बनना चाहिये।

ग्राहक बनने के नियम

- १—धन्वन्तरि का वार्षिक मूल्य ५.५० अग्रिम है। एक वर्ष से कम के लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते।
- २—धन्वन्तरि का वर्ष जनवरी से प्रारम्भ होता है तथा दिसम्बर में समाप्त होता है।
- ३—धन्वन्तरि के ग्राहक वर्ष के प्रारम्भ अर्थात् जनवरी से बनाये जाते हैं। वर्ष में जब भी चाहें ग्राहक बन सकते हैं, लेकिन जनवरी से उस समय तक के प्रकाशित अङ्क भेज कर नवीन ग्राहक को भी जनवरी से ही ग्राहक बना लिया जाता है।
- ४—प्रतिवर्ष एक विशाल सचित्र विशेषांक प्रकाशित किया जाता है। यह विशेषांक ग्राहक को उक्त वार्षिक मूल्य ५.५० के अन्तर्गत ही मिलता है।
- ५—धन्वन्तरि के प्रकाशन में हमको बहुत घाटा रहता है। अतः इसके वार्षिक मूल्य में हम किसी को किसी प्रकार की रियायत नहीं कर सकते। अतएव रियायत के लिये लिखना व्यर्थ होगा।
- ६—वार्षिक मूल्य पहले ही मनीयार्डर से भेजना चाहिये, या जनवरी से उस समय तक के प्रकाशित अङ्क और विशेषांक वार्षिक मूल्य ५.५० की बी. पी. से भेजने की आज्ञा देनी चाहिये।
- ७—विशेषांक का राजसंस्करण प्राप्त करने के लिये १.५० अधिक अर्थात् ७.०० भेजने चाहिये।

एजेंसी



यदि आपके स्थान पर हमारी एजेंसी नहीं है तो आज ही पत्र डालकर एजेंसी नियमादि बिबरण मंगावें और एजेन्सी लेकर थोड़ी लागत से अच्छा लाभ देने वाला कार्य प्रारम्भ करें। धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ की औषधियां विधिवत् निर्मित, पूर्ण प्रभावशाली होती हैं, मूल्य भी उचित होने के कारण उनका शीघ्र प्रचार होता है। अतएव आप थोड़े परिश्रम से ही इसकी एजेंसी में अवश्य सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

- एजेंसी के उदार एवं व्यवहारिक नियम
- पूर्ण प्रभावशाली औषधियां
- सुन्दर पैकिङ्ग
- साइनबोर्ड, कलैन्डर आदि प्रचार सामग्री
- सरल तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार

इन सभी कारणों से आपकी एजेंसी कभी हानिप्रद नहीं हो सकती है। हमारे वे ग्राहक जो स्वयं एजेंसी किसी कारण न ले सकें, अन्य स्थानीय औषधि व्यवसायों को हमारी एजेंसी लेने के लिये उत्साहित करें।

पत्र डालकर आज ही नियम मंगावें।

पता—

धन्वन्तरि कार्यालय [एजेंसी विभाग]

विजयगढ़ [अलोगढ़]

क्या आप रोगी हैं ?

यदि आप या आपके भित्र रोगी हैं और चिकित्सा कराते कराते परेशान हो गये हैं तो अपने रोग का पूरा हाल लिखकर पत्र द्वारा भेजियेगा। धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक श्री वैद्य देवीशरण गर्ग वैद्योपाध्याय अनुभवी और सफल चिकित्सक हैं। आपके पत्र को ध्यान से पढ़ेंगे और विचार कर औषधि-व्यवस्था सुप्त करा देंगे। यदि आप चाहेंगे तो आपके रोगानुकूल औषधियां भी भेज दी जायंगी और आप शीघ्र अपने रोग से छुटकारा पा जायंगे। इस प्रकार पत्र द्वारा औषधियां प्राप्त कर सैकड़ों हजारों रोगियों ने लाभ उठाया है, आप भी वैद्य जी के अनुभव से लाभ उठाइये।

१.०० फायल बनाने का शुल्क

भेजने पर आपके नाम की प्रथक् फायल बनाकर आपका पत्र व्यवहार पृथक् रखा जायगा, जिससे कि पुनः दवा मंगाने पर आपके पूर्व पत्रादि वैद्य जी के समक्ष रखने में तथा आपके पत्र का उत्तर देने में आसानी और शीघ्रता हो सकेगी। अपने रोग की दशा लिखकर भेजते समय ही १.०० मिनियार्डर से भेजना चाहिए। फायल नम्बर लिख दिया करें तो बड़ी सुविधा रहेगी।

नोट—रोग लक्षण संक्षिप्त लिखते हुए पत्र लिखें, अधिक गाथा लिख कर पत्र लम्बा न करें। समयाभाव से लम्बा पत्र पढ़ने तथा उत्तर देने में असमर्थ रहेंगे।

पता - व्यवस्थापक-चिकित्सा विभाग

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़(अलीगढ़)

विजली की मशीन, शारीरिक चित्रावली, पत्थर के खरल

चिकित्सकोपयोगी उपकरण आदि के लिये

दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़

की सेवायें स्वीकार करें।

विवरण एवं मूल्यादि यहां देखें

चिकित्सोपयोगी उपकरण

एक सफल चिकित्सक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह रोगी का सही निदान करे तथा उसकी चिकित्सा में औषधि प्रयोग के साथ साथ आधुनिकतम यन्त्र शस्त्रों का प्रयोग आवश्यकता-नुसार करें। इन आधुनिक यन्त्र शस्त्रों के प्रयोग से आपको तो अपनी चिकित्सा में सफलता मिलती ही है साथ ही रोगी पर भी आपके प्रति बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। हमने अपने स्टोर्स में नवीन नवीन यन्त्र शस्त्रों का विक्रियार्थ विशाल संग्रह किया है। चिकित्सकों को चाहिये कि वे आवश्यकतानुसार इन वस्तुओं को मंगा कर रखें तथा अपने चिकित्सा कार्य में सफलता एवं यश प्राप्त करें।

डाइग्नोस्टिक सैट—इस सैट द्वारा नाक कान तथा गले को अन्दर से देखते हैं। इसमें एक टार्च होती है जिसमें २ सैल डाले जाते हैं। उस टार्च के ऊपर कान देखने का आला, नासिका प्रेक्षण यन्त्र तथा गले व जबान देखने की जीवी तीनों में से कोई सा एक फिट हो जाता है। इसमें प्रकाश की व्यवस्था होने से बहुत सुविधा रहती है, साथ ही रोगी पर प्रभाव भी पड़ता है। इसका प्रत्येक चिकित्सक के पास होना अत्यन्त आवश्यक है। पूरे सैट का मूल्य केवल ३२.००

कान में से दाना निकालने का यन्त्र—कान में यदि कोई अनाज का दाना आदि पड़ गया है तो उसे किसी साधारण चीमटी से निकालने का प्रयत्न कदापि न करें नहीं तो वह आगे सरक जायगा। यह यन्त्र दाने आदि को सुगमता से खींचकर लाता है। मूल्य २.००

नासिका प्रेक्षण यन्त्र—नाक में सूजन है, फुंसी है या किसी और कारण से कष्ट है तो उसे ठीक प्रकार से देखा नहीं जा सकता। यह यन्त्र नाक में डालकर चौड़ा दिया जाता है जिससे नाक चौड़ी जाती है और फिर आप नाक के अन्दर के सभी अवयव स्पष्टतः देख सकते हैं। मूल्य ५.००

चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster)—पीठ, पेट, छाती या किसी अन्य ऐसे स्थान पर घाव हो

जहां पर पट्टी बांधने में असुविधा हो तो आप इसका उपयोग करें। यह उसी स्थान पर काट कर चिपका दी जाती है। मूल्य (१ इन्च × ५ गज) २.००

तीन मार्ग वाला यन्त्र (Three way canula)—किसी रोगी के द्रव पदार्थ अधिक मात्रा में चढ़ाना है तथा आपके पास सिरिज उससे छोटी है तो आप इसका प्रयोग करें। अथवा जो चिकित्सक बड़ी सिरिज द्वारा ठीक प्रकार से इन्जेक्शन नहीं लगा पाते वे इसका प्रयोग करें। प्रत्येक इन्जेक्शन लगाने वाले के लिये आवश्यक यन्त्र है। मूल्य केवल ७.७५

आमाशय में दूध चढ़ाने की नली—जब रोगी की अवस्था इस प्रकार की हो कि वह मुंह द्वारा अपना आहार ग्रहण न कर सके यथा बेहोशी में, पक्षाघात, किसी दौरे आदि में तो आप इस नली द्वारा दूध या अन्य कोई पोष्य द्रव पदार्थ आमाशय में पहुँचा सकते हैं। मू० ३.००

आमाशय प्रक्षालनी नलिका (Stomach washtube)—यह प्रत्येक चिकित्सक के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। किसी विष के खा लेने पर तुरन्त ही आमाशय प्रक्षालन की आवश्यकता होती है जो कि इसी नलिका की सहायता से ही किया जा सकता है। म० ७.००

नमक का पानी चढ़ाने का यन्त्र (Saline

apparatus)---हैजा में नमक का पानी चढ़ाना चिकित्सक के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो कि इसी यन्त्र की सहायता से चढ़ाया जाता है। मूल्य १२.५०

जलोदर में उदर से पानी निकालने का यन्त्र--जलोदर रोग में उदर गह्वर से पानी निकालने के लिये इस यन्त्र का प्रयोग होता है। जलोदर में पेट से पानी निकाल देने से रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करता है तथा उस पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। मूल्य ३.७५

गुदापरीक्षण यन्त्र (Proctoscope)--गुदा की अन्दर से परीक्षा करने के लिये यह एक आवश्यक यन्त्र है। अर्श अथवा अन्य गुद रोगों के शल्य कर्म, चार कर्म, अग्निकर्म में इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे गुदा के अन्दर की स्थिति देखी जाती है। मूल्य १२.००

गर्भाशय प्रक्षालन यन्त्र--यह रबर तथा प्लास्टिक का बना होता है। योनि की रुकावटों तथा गन्दगी को साफ करने के लिये यह यन्त्र उपयोगी है। यदि रक्त प्रदर और श्वेत प्रदर काफ़ी चिकित्सा कराने के पश्चात् भी ठीक न होते हों तो उपयुक्त औषधियों के काथ द्वारा गर्भाशय प्रक्षालन कराने से आशातीत लाभ होता है। सन्ततिनिरोध (Birth control) के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग करना भी आसान है तथा कोई भी व्यक्ति इसका प्रयोग कर सकता है। १२.००

शर्करा मापक यन्त्र--मधुमेह रोग में चिकित्सक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे मूत्र में जाने वाली शर्करा की प्रतिशत मात्रा ज्ञात हो। बिना प्रतिशत मात्रा ज्ञात हुए अनुमान द्वारा Insuline का प्रयोग कभी कभी रोगी की घातक सिद्ध होता है। रोगी स्वास्थ्य लाभ कर रहा है या नहीं यह भी आप इसी यन्त्र द्वारा निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। ५.००

रक्तचापमापक यन्त्र--अनेक रोगों में रोगी का रक्तचाप (Blood pressure) जानना आवश्यक है। शल्य कर्म के पश्चात् तो इसका प्रयोग रोगी की स्थिति ज्ञात रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के आधुनिक यन्त्रों का प्रभाव बहुत अच्छा होता है तथा इससे चिकित्सकों को अपनी चिकित्सा में सुविधा भी रहती है। प्रत्येक वैद्य को यह यन्त्र अवश्य मंगाकर रखना चाहिये। मूल्य केवल १८.००

आंत उतरने पर कमर में बांधने की पेटी (Truss)--आंत्र वृद्धि (Hernia) रोग में इस पेटी को कमर में बांधे रहना आवश्यक है। आंत ऊपर चढ़ाने के बाद यह पेटी बांध दी जाती है तथा रोगी इसको हर समय पहने रहता है। बढ़िया चमड़े से बनी १४.००

आपेक्षिक घनत्व मापक यन्त्र (Urinometer)

मूत्र अथवा किसी अन्य द्रव का आपेक्षिक घनत्व इस यन्त्र द्वारा मापलूम किया जाता है। इसको मूत्र में डाल देते हैं तथा यह मूत्र में तैरता रहता है। स्थिर होने पर जिस नम्बर पर रुकता है वही मूत्र का आपेक्षिक घनत्व समझना चाहिये। मूल्य १.५०, बड़ा (१००० से २००० तक नम्बर वाला) २.००

योनि परीक्षक यन्त्र (Vaginal speculum)--इससे योनि को विस्तृत करके निरीक्षण किया जाता है। योनि में कोई व्रण इत्यादि हो तो उस पर दवा भी इसी यन्त्र की सहायता से लगाई जाती है। मूल्य ८.००

घाव में डालने की सलाई (Probe)--आयुर्वेद में यह एषणी शलाका के नाम से प्रसिद्ध है। घाव की गहराई, उसकी दशा जानने तथा किसी नाड़ी व्रण में अन्दर गौज भरने के लिये इसका चिकित्सक के पास में होना अत्यन्त आवश्यक है। मूल्य ०.३७

आंख धोने का ग्लास--किसी वस्तु का कण या उड़ता हुआ कोई छोटा सा कीड़ा आंख में पड़ जाने पर निकालना कठिन हो जाता है और वह बड़ा कष्ट देता है। इस ग्लास में पानी भर कर आंख में लगा देने पर आसानी से निकल जाता है। मूल्य १.००

गले व जवान देखने जीवी--(Tongue depressure) गला देखने के लिये जब रोगी मुंह खोलता है तब जीभ (जिह्वा) का उठाव गले को ढक लेता है और गले में क्या बाधा है चिकित्सक नहीं देख पाता है। इस यन्त्र से जीभ दबाकर गला तथा अन्दर की जीभ स्पष्ट दीखती है। मूल्य साधारण १.२५, फोल्डिङ्ग १.७५

स्तनों से दूध निकालने का यन्त्र--स्त्री के स्तन में पकाव या फोड़ा हो जाने पर अथवा नवजात शिशु की मृत्यु हो जाने पर स्तनों में भरा हुआ दूध बढ़ा परेशान करता है। इस यन्त्र द्वारा यह आसानी से निकाला जा सकता है। मूल्य २.२५

डूस--इससे फोड़ा आदि धोने में बड़ी सुविधा रहती है। इससे एनीसा लगाया जाता है। मूल्य रबड़ की नली व टॉटनी आदि से पूर्ण २ पिंट का ५.००, ४ पिंट का ७.५०

कान धोने की पिचकारी--घालु की १ औंस की ५.००, २ औंस की ६.००, ४ औंस की ७.५०

कान देखने का आला--कान में फुंसी है, सूजन है या किसी अनाज का दाना पड़ गया है और वह फूल कर कष्ट दे रहा है यह देखना कठिन हो जाता है। इस यन्त्र (आले) से कान के अन्दर का दृश्य साफ दीख पड़ता है। मूल्य १२.००

इन्जेक्शन सिरिज (कम्पलीट)--सम्पूर्ण कांच की २ C. C. की २.७५, ५ C. C. की ४.००, १० C. C. की ६.००,

मंगाने का पता--दाऊ मौडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

२० C. C. की ८.००, रेक्काड सिरिज २ C. C. की १.१०,
१ C. C. की ८.००

इन्जेक्शन की सुई (नीडल) १ नग ०.१०

थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र) जापानी २.१०

एनीसा सिरिज (वस्ति यन्त्र)—इस यन्त्र में पानी या औषधि द्रव्य गुदा में आसानी से चढ़ाया जा सकता है। मूल्य रबड़ का जर्मनी ११.००, भारतीय १.००

रबड़ के दस्ताने—चीड़ फाड़ करते समय संक्रमण से रोगी को और अपने को बचाने के लिये चिकित्सक इन दस्तानों को हाथ में पहनते हैं। मूल्य १ जोड़ी ३.१०

गरम पानी की थैली—ज्वर, पीड़ा, शीथ या अन्य आवश्यक स्थानों पर इस थैली में गर्म पानी भर कर सुगमता से सिकाई को जा सकती है। मूल्य १.००

बर्फ की थैली—तेज बुखार, प्रलापवस्था, सिर की पीड़ा या अन्य व्याधियों में चिकित्सक सिर पर बर्फ रखवाते हैं। इस थैली में बर्फ भर कर रखने से सुविधा रहती है, रोगी को इसकी ठंडक पहुंचती है किंतु उससे वह भीगता नहीं है। मूल्य २.१०

दवा नापने का ग्लास (Measuring glass)—कम्पाउण्डर अनुमान से दवा देकर कभी कभी बड़ा अन्तर्ग कर डालते हैं। अतएव हर चिकित्सक को इन ग्लासों को अवश्य मंगाकर रखना चाहिये। गलती कभी न होगी तथा सुविधा भी रहेगी। मूल्य २ ड्राम का (बूंद नापने के काम में आता है) ०.६६, १ औंस का ०.८७, २ औंस का १.००, ४ औंस का १.२१

स्टेथिस्कोप (वक्त्र परीक्षा यन्त्र)—चिकित्सक ठेपन (ग्रंथली ताड़न) से वक्त्र परीक्षा करते हैं किंतु वह अधिक अभ्यास से समझ में आ सकती है, इस यन्त्र से सुविधा रहती है। साथ ही आजकल के जमाने में चिकित्सक का सम्मान भी इसी में है कि वे इस प्रकार के यन्त्रों को व्यवहार में लाते हुए रोगियों पर अपनी धाक जमायें। मूल्य ८.००, चीन का बनाव (जीन चैस्ट पीस वाला) २०.००, जर्मनी का सर्वोत्तम केवल २२.००

केवल चैस्ट पीस [भारतीय] ४.१०

स्टेथिस्कोप की प्लास्टिक की नली—एक स्टेथिस्कोप के लिये २.००

खरल चीनी का गोल—ये खरल दवा मिलाने के लिये उपयोगी हैं। मूल्य २ इञ्च १.७१, २ १/२ इञ्च २.००, ३ इञ्च २.१०, ४ इञ्च ३.०० तथा ५ इञ्च ४.००

सुजाक की पिचकारी—सुजाक में जो मवाद निकलता है वह मूत्र नली में अन्दर चिपक कर ग्रन्थ पैदा कर देता है। जब तक वह अन्दर से साफ नहीं होता, रोग का

नष्ट होना कठिन हो जाता है। इस पिचकारी से अन्दर दवा पहुँचा कर आसानी से सफाई कर सकते हैं। मूल्य पुरुष के लिये ०.१०, जनानी ०.७१

मूत्र कराने की नली (कैथीटर)—मूत्र रुकने से रोगी को महान कष्ट होता है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है। इस नली की सहायता से मूत्र आसानी से निकाला जा सकता है। मूल्य रबड़ का ०.७१, धातु का स्त्रियों के लिए १.२१, पुरुषों के लिए धातु का २.७१

मोतीभला देखने का शीशा—मोतीभला (Typhoid) के दाने बहुत सूक्ष्म होने के कारण देखने में नहीं आते। इस शीशा के द्वारा वे दाने बड़े बड़े दीख पड़ते हैं। तथा आप आसानी से पहिचान सकते हैं। हर चिकित्सक को अपने पास १ शीशा अवश्य रखना चाहिये। मूल्य छोटा शीशा २.००, बीच का २.७१, बड़िया बड़ा ३.००, धातु का हैंडिल सर्वोत्तम ४.२१

स्प्रिट लैम्प—थोड़ी दवा गरम करनी हो अथवा सूखी दवा से इन्जेक्शन के लिये दवा तैयार करनी हो तब इस लैम्प की सहायता लेनी पड़ती है। मूल्य कांच की २.००, धातु की २ औंस की ३.१०, ४ औंस की ४.००

आंख में दवा डालने की पिचकारी—१ दर्जन ०.६२
कांटे (Scales)—ग्रंथजी बैलेंस की तरह के कीमती दवाओं को सही व आसानी से तोलने के लिए व्यवहार में लाने चाहिए। निकिल पौलिश, लकड़ी के बक्स के अन्दर रखे हैं। मूल्य बाटों सहित ८.००

सिरिज केस निकिल के—सिरिज सुरक्षित रखने के लिए—१ केस २ C. C. की सिरिज के लिए २.००, १ C. C. के लिये ३.००, १० सी. सी. के लिये ४.७१

ग्लेसरीन की पिचकारी (प्लास्टिक की)—गुदा में ग्लेसरीन चढ़ाने के लिए प्लास्टिक की उत्तम क्वालिटी की पिचकारी। मूल्य १ औंस २.१०, ४ औंस ४.००

दांत निकालने का जमूड़ा (Tooth forceps universal)—इससे दांत मजबूती से पकड़ कर उखाड़ा जा सकता है। मूल्य ६.००

मलहम मिलाने की छुरी—स्पेचुला (Spatula) लकड़ी का हैंडिल १.२१, धातु का हैंडिल १.७१

मलहम मिलाने की प्लेट—साइज ६×६ इञ्च १.२१, ८×८ इञ्च ३.००

थर्मामीटर केस—धातु की निकिल किए क्लिप सहित मूल्य केवल १.१०

सन्तति निरोध (Birth control) के लिए—चैक पैसरी (Check passary) जापानी ०.८७ (एक दर्जन

मंगाने का पता—दाऊ मौडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

८.५०) डाइफ्राम पैसरी २.५० (एक दर्जन २५.००), फ्रैच लैदर (पुरुषों के लिए) साधारण ०.५० (एक दर्जन ५.००), बढ़िया ०.७५ (एक दर्जन ७.५०), क्रोकोडायल फ्रैच लैदर (सर्वोत्तम) १.०० (एक दर्जन १०.००)

नोट—उपर्युक्त कोई भी सामान एक दर्जन से कम मंगाने पर एक बग की जो कीमत लिखी है वही लगाई जायगी। डाइफ्राम (डच) पैसरी ६ बग मंगाने पर १२.५० लगाये जायगे।

रिंग पैसरी (रबड़ की) १ पैसरी का मूल्य ०.७५, होज पैसरी (Hodge passery) ०.८७

चीमटी चाकू—चीमटी ५ इञ्ची १.००, ४ इञ्ची ०.८७, दांतों में दवा लगाने की चीमटी २.००, चाकू सीधा ५ इञ्ची १.२५, फोल्डिङ्ग १.५०

कैंची—५ इञ्ची साधारण २.००, कैंची सुड़ी हुई ५ इञ्ची २.२५, कैंची एक ओर को सुड़ी हुई ४ इञ्ची २.५०, ५ इञ्ची ३.००, कैंची सीधी ४ इञ्ची बढ़िया २.००

किडनी ट्रे (Kidney tray)—कान धोने के समय कान के नीचे लगाने के लिए ६ इञ्ची २.२५, ८ इञ्ची २.७५, १० इञ्ची की ३.२५, नायलोन की सुन्दर व हल्की न टूटने वाली ८ इञ्ची ३.२५

स्टेथिस्कोप रखने का थैला—स्टेथिस्कोप की रबड़ नमी आदि से गल जाती है। हमने बढ़िया चमड़े के स्टेथिस्कोप रखने बहुत सुन्दर बेग बनवाए हैं। इसमें एक ओर आप स्टेथिस्कोप रख सकते हैं तथा दूसरी ओर और एक जेब में अन्य आवश्यक सामान। अपने नाम का कार्ड लगाने का स्थान है, हाथ में लटकाया जा सकता है। ५.५०, केवल एक जेब बढ़िया जंजीर लगा ४.५०

नपुंसकता निवारण यन्त्र—यह यन्त्र अति उपयोगी एवं निरापद है। किसी प्रकार की हानि न करते हुए मुरदार नसों में नवीन रक्त का संचार करता और शीघ्र मनुष्य को पुंसत्व प्रदान करता है। एक यन्त्र अनेक रोगियों पर

प्रयोग कर सकते हैं। चिकित्सकों को चाहिए कि वे इस यन्त्र को अपने चिकित्सालय में अवश्य मंगायें तथा अपने रोगियों को औषधि सेवन कराने के साथ साथ इसका प्रयोग भी करावें। मूल्य केवल १४.००

आपरेशन कराने का चाकू—इसमें हैन्डिल प्रथक होता है तथा काटने वाला ब्लेड प्रथक होता है जो कि खराब होने पर बदला जा सकता है। मूल्य १ ब्लेड सहित ३.००, ६ ब्लेडों सहित ४.७५

मसूदे चीरने का चाकू—कीमत सीधा १.३७, फोल्डिङ्ग २.२५

टूर्निकेट—नस का इन्जेक्शन लगाने के लिए आवश्यक—कीमत ०.७५

हीमोग्लोबिन स्केल बुक (Haemoglobin scale book)—बिना किसी यन्त्र की सहायता के हीमोग्लोबिन की प्रतिशत मात्रा ज्ञात करें। मूल्य—२.००

पैन टार्च—यह टार्च जेब में पैन की तरह लगाई जाती है। इसमें बहुत पतले दो सैल पड़ते हैं। चिकित्सकों के लिये गले नाक आदि की परीक्षा करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह टार्च मोटे पैन के बराबर बड़ी होती है। मूल्य दो सैल सहित केवल १.००

इसी टार्च पर गले व जवान देखने, कान तथा नाक देखने की ठोस नली फिट हो जाती है जिनसे इन अङ्गों को आसानी से देखा जा सकता है। कपड़ा मढ़े एक बक्स में रखे पूरे सैट का मूल्य केवल २४.००

तोलने की मशीन—हमारे यहां स्टाक में तोलने की बढ़िया जर्मनी मशीनें आ गई हैं। इनसे आप पौंड तथा किलोग्राम में दोनों प्रकार से वजन ज्ञात कर सकते हैं। रोगी को मशीन पर खड़ा कीजिये और वजन ज्ञात हो जायगा। इनसे आप २८० पौंड तक का वजन ज्ञात कर सकते हैं। मूल्य केवल ६५.०० (यह रेल से ही भेजी जा सकेगी अतः आर्डर के साथ रेलवे स्टेशन लिखें)।

मंगाने को पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

टिकिया बनाने की मशीन

इस मशीन से आप स्वयं टिकिया (टेबलेट) बढ़ी आसानी से बना सकेंगे। इस मशीन की सहायता से आप २ रक्ती, ४ रक्ती, ६ रक्ती, के लगभग की टेबलेट बनाई जा सकती हैं। इसके लिए तीन डाई हैं जिस पर टेबलेट की गोलाई निर्भर करती हैं। टेबलेट की मोटाई आप प्रत्येक साईज में इच्छानुसार कम या अधिक कर सकते हैं। उन चिकित्सकों के लिए जो थोड़ी तादाद में लेकिन एक नाप की टेबलेट बनाना चाहते हैं, यह अत्युपयोगी मशीन है। निकिल की हुई। यह मशीन सस्ती होते हुए भी बड़े काम की है। एक एक घण्टे में २०० टिकिया आसानी से बन सकती हैं। रियायती मू० ११.०० रु. मात्र, पैकिंग एवं डाक खर्च १.२५ पृथक्।

पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

पत्थर के खरल



अब तक हम कसौटी पत्थर के खरलों का प्रचार करते रहे हैं, लेकिन अपने प्रतिनिधि को पत्थरों की खदानों पर जहां इन खरलों का निर्माण होता है, भेजने और छान-बीन करने से पता लगता है कि कसौटी पत्थर से मोतिया पत्थर अधिक कड़ा तथा उत्तम रहता है। मूल्य में अधिक अन्तर नहीं होता। ऐसी दशा में हमने मोतिया पत्थर के खरलों को भी विक्रियार्थ अपने यहां रखने का विचार किया है। मोतिया पत्थर के खरल अवश्य ही कड़े तथा दवा घोटने के लिये सर्वथा उपयोगी हैं, किसी प्रकार की शंका न करते हुये इनका आर्डर दीजियेगा।

मोतिया पत्थर से अधिक कड़ा तथा कम घिसने वाला पत्थर तामड़ा होता है उनको भी हमने विक्रियार्थ संग्रह किया है। विविध पिण्टी घोटने के लिये इनका उपयोग किया जाना चाहिये।

तामड़ा पत्थर से भी अधिक उत्तम व न घिसने वाला हंसराज पत्थर सर्वोत्तम है। इस पत्थर के खरल मूल्यवान हैं तथा छोटे साइज के ही स्टॉक में रखते हैं, बड़े साइज के खरल आर्डर मिलाने पर ११-२ माह में तैयार करा कर ससाई किये जा सकते हैं।

—मूल्य तथा साइज का विवरण—

	हंसराज	तामड़ा	मोतिया	कसौटी
३ इंची	×	×	×	१.००
४ इंची	१२.००	८.००	×	१.२५
५ इंची	१४.००	६.००	×	२.२५
६ इंची	१६.००	११.५०	४.००	३.२५
७ इंची	२३.००	१४.००	५.००	४.५०
८ इंची	२६.००	१७.००	६.५०	६.२५
९ इंची	३३.००	२०.००	८.५०	७.७५
१० इंची	३८.००	२४.००	११.००	१०.००
११ इंची	४४.००	२८.००	१५.००	१४.००
१२ इंची	५०.००	३२.००	१६.००	१८.००
१३ इंची	५६.००	३६.००	२४.५०	२४.००
१४ इंची	६४.००	४२.००	२८.५०	२८.००
१५ इंची	७६.००	४६.००	३५.५०	३५.००

हंसराज पत्थर के खरल १२ इंच तक के बनाकर तैयार रखे जाते हैं। बड़े खरल का आर्डर आने पर तैयार किया जाता है। १५ इंची से बड़े किसी पत्थर के खरल के मूल्य पत्र डालकर कर मालूम कर लें।

खरलों का आर्डर देते समय अपने पास के रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें तथा चौथाई रकम मनियार्ड से पेशगी भेजें।

मंगाने का पता—दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलोगढ़)

औषधि-पेटी

प्रत्येक चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि चिकित्सार्थ या अन्य आवश्यक कार्य निमित्त जाते समय यात्रा में औषधियां साथ रखें। चिकित्सक को हर स्थान पर रोगी मिल जाते हैं उस समय औषधियां पास न रहने पर बड़ी असुविधा होती है। इसलिए औषधि पेटी चिकित्सकों के लिए आवश्यक है। हमने केवल एक प्रकार की सुन्दर टिकाऊ औषधि पेटी तैयार कराई हैं। इस पर मजबूत आइल क्लाय चढ़ाया जाता है। अन्य विवरण निम्न प्रकार हैं—

नाप—ऊँचाई ७ इंच, लम्बाई ६।१ इंच, चौड़ाई ४।१ इंच।

शीशियां—२ ड्राम की २४, ४ ड्राम की १८ तथा ८ ड्राम की ८ शीशी, कुल ५० शीशियां मय कार्क।

वजन—मय शीशियों के लगभग १।१ किलोग्राम, लकड़ी की पार्सल में पैक करने पर ३ किलोग्राम।

पाकेट—१ पाकेट लगी है जिसमें कागज रखे जा सकते हैं। दूसरी ओर सिरिज व थर्मामीटर रखने के लिए स्थान बना है।

मूल्य—कार्क एवं शीशी सहित औषधि पेटी का १८.००, पोस्ट व्यय लगभग ४.०० पृथक्।

नोट—आर्डर के साथ ५.०० एडवांस अवश्य भेजें।

पता-दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

नवीन प्रकार की—

उपकरण एवं औषधि-पेटी



नाप—(बाहर से) ५ इंच × ८ इंच × १२ इंच

शीशियां—२ ड्राम की ४६, ४ ड्राम की २८, ८ ड्राम की १२—कुल ८६ शीशियां मय कार्क।

२ पाकेट लगी हैं जिसमें कागज रखे जा सकते हैं। तथा साथ ही निम्न उपकरणों के रखने की व्यवस्था है—

स्टेथिस्कोप, चीमटी, कैन्डी, चाकू, गले तथा जवान देखने की जीवी, थर्मामीटर, घाव में डालने की सलाई।

स्टेथिस्कोप रखने के स्थान में अन्य आवश्यक सामान तथा सिरिज आदि भी रख सकते हैं।

यह पेटीका सुन्दर टिकाऊ तथा मजबूत निर्माण कराई गई हैं। पेटीका लकड़ी की बनी हैं जिस पर मजबूत एवं सुन्दर बाइडिङ्ग क्लाय (आयल क्लाय) चढ़ाया गया है। बाहर ताला लगा है। मजबूत एवं सुन्दर हैन्डिल लगाया गया है। मूल्य—शीशी एवं कार्क सहित ३०.००

नोट—उपकरण एवं औषधि पेटी में खाली शीशियां लगी हैं औषधि युक्त नहीं हैं। उपकरणों के लिये केवल स्थान बना है, उपाकरण साथ में नहीं हैं। अपने आर्डर में 'नवीन प्रकार की औषधि पेटी' अवश्य लिखें। केवल औषधि पेटी लिखने पर हम अपने यहां पहले से प्रचलित १८.०० वाली औषधि पेटी भेजेंगे। यह रेल द्वारा ही भेजी जा सकेगी क्योंकि इसका वजन लगभग ३ किलोग्राम है। पार्सल बनाने पर वजन लगभग ५ किलोग्राम होगा तथा डाक द्वारा भेजने से लगभग ७.०० पोस्ट व्यय लगेंगे। आर्डर के साथ एडवांस १०.०० अवश्य भेजें।

—पता—

पता-दाऊ मैडीकल स्टोर्स, विजयगढ़ (अलीगढ़)

हृदय की आवाज

इस विशेषांक को देख पढ़कर निश्चय ही आपके हृदय में यह भावना उठेगी कि धन्वन्तरि आयुर्वेद का सर्वोत्तम मासिक पत्र है तथा यह पत्र अल्पतम मूल्य में प्रचुर उपयोगी सामग्री पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता है, अतः इसे भविष्य में अधिक उपयोगी बनाने के लिये

आपका भी कुछ कर्त्तव्य है

हृदय की आवाज को दबाइये नहीं और अपने कर्त्तव्य के प्रति थोड़े जागरूक बनिये। यदि आप प्रयत्न करके दो नवीन ग्राहक बना देते हैं तो निश्चय ही हमको बहुत बल मिलेगा और आपका यह कर्त्तव्य पालनः भविष्य में धन्वन्तरि को बहुत ऊँचा उठाने में सहायक होगा। यह कार्य कठिन कदापि नहीं है। अपने किसी भी सहयोगी अथवा आयुर्वेद प्रेमी को यह विशेषांक दिखाकर धन्वन्तरि का ग्राहक बन जाने का थोड़ा आग्रह कीजिये। इस विशेषांक की सुन्दरता, महानता, उपयोगिता तथा विशालता देखकर कौन आयुर्वेद प्रेमी ऐसा है जो इसका ग्राहक न बनना चाहे।

५.५० वार्षिक मूल्य में

धन्वन्तरि वह अनुपम साहित्य ग्राहकों को देता है जिसे देख पढ़कर आयुर्वेद समाज आश्चर्य में पड़ जाता है। इतने पर भी यदि कोई वैद्य धन्वन्तरि का ग्राहक नहीं बनता तो निश्चय ही वह आयुर्वेद का प्रेमी नहीं अथवा उसे अपने पैसे का सदुपयोग करना नहीं आता।

आशा है आप अपने कर्त्तव्य की ओर अवश्य ध्यान देंगे।

नोट करलें

विशेषांक के रेपर पर पते के साथ आपका उल्लेख लिखा हुआ है उसे नोट कर लीजियेगा। तथा करते समय लिख दिया कीजियेगा।

धन्वन्तरि मकर ध्वज वटी

[विशुद्ध आयुर्वेदिक]

किसी कारण से उत्पन्न अशक्ति
निर्बलता, सुस्ती, रूख की कमी
उत्साह व स्फूर्ति का अभाव आदि
अनेक विकार
शीघ्र नष्ट होते हैं और
शरीर पुष्ट शक्ति सम्पन्न व
कान्तिमय हो जाता है
ताजा रूख पैदा होता, बजन
बढ़ता व खूब मूरब लगती है
कुछ ही दिनों में शरीर में
नवीन शक्ति, उत्साह व स्फूर्ति
उत्पन्न होती है ।

हैं जिन्हें ★

है । मजबूत

नोट—

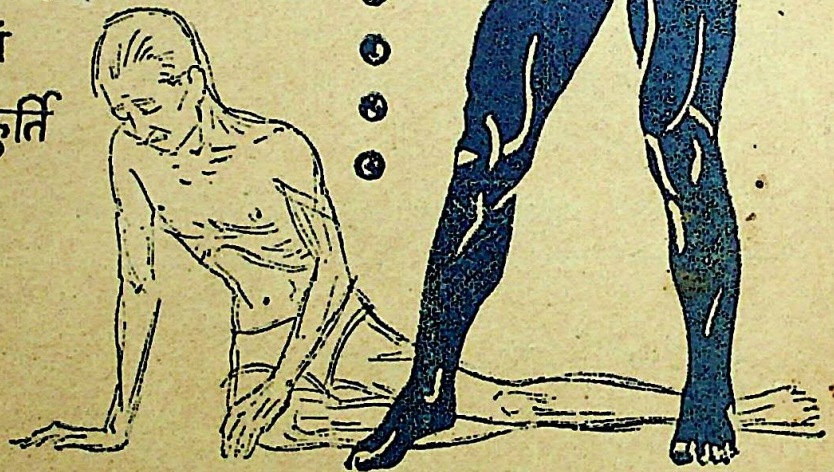
उपकरणों के लिये

औषधि पेटी' अवश्य ।

वाली औषधि पेटी भेजे

किलोग्राम है । पार्सल बना

७.०० पोस्ट व्यय लगेंगे ।



पता—दाऊद

निर्माता धन्वन्तरि कार्यालय
ता. विजयगढ़ (अलीगढ़)